हिन्दी में नीति-काव्य का विकास

हिन्दी में नीति-काव्य का विकास

(सं० १९०० वि० तक)

(दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

डा० रामस्वरूप शास्त्री 'रसिकेश'
एम० ए० (हिन्दी संस्कृत) पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हंसराज कालेज
तथा
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
के निमित्त
दिल्ली पुस्तक सदन,
दिल्ली, पटना, जयपुर
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
दिल्ली पुस्तक सदन,
चेंमसो रोड दिल्ली

•

•

मूल्य : २०.००

•

मुद्रक
रामस्वरूप शर्मा,
राष्ट्र भारती प्रेस
कूचा चेलान दिल्ली।

समर्पण

अकथ्य भावनाओं सहित
पूज्य पिता
श्री मगल सैन जी
के
कर-कमलों में
सादर समर्पित

हमारी योजना

'हिन्दी में गीति-काव्य का विकास-सं० १९०० वि० तक' हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थमाला का उन्तीसवाँ पुष्प है। हिन्दी अनुसंधान परिषद् दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की संस्था है। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिन में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली-विश्वविद्यालय की ओर से पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है; और तीसरे वे जिनका अनुसंधान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद) (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (७) काव्य-कला (होरेस-कृत) (८) सौन्दर्य-तत्त्व (९) हिन्दी अभिनव भारती तथा (१०) हिन्दी नाट्यदर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं— (१) मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास (३) सूफी मत और साहित्य (४) अपभ्रंश-साहित्य (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा (८) मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता (९) हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य (१०) मतिराम: कवि और आचार्य (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त तथा (१२) ब्रज भाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसंधान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध तथा (३) अनुसंधान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का तेरहवाँ प्रकाशन है जिसे हम हिन्दी-काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। इसके लेखक डॉ० रामसरूप शास्त्री हिन्दी-संस्कृत के

नीति की मौलिक काव्य-कृतियों का ही नहीं, अनूदित तथा संग्रहात्मक-रचनाओं का भी संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है जिससे परवर्ती अन्वेषकों को कुछ उपयोगी संकेत मिल सकें।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है—१ भूमिका २ शोध। यद्यपि *भूमिका-खण्ड में भी बहुत सी मौलिक-सामग्री प्रस्तुत की गई है तथापि मेरा वास्तविक* प्रतिपाद्य शोध-खण्ड में ही उपन्यस्त है। भूमिका-खण्ड में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में नीति की परिभाषा प्रकार और नीतिकाव्य के काव्यत्व पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक संस्कृत पालि, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं के साहित्य तथा कोशों के अवलोकन से मुझे 'उचित व्यवहार' ही नीति की सर्वोत्तम परिभाषा प्रतीत हुई। विद्वानों ने राजनीति, धर्मनीति कूटनीति उत्तम नीति आदि नीति के कई सम्भव भेद किये हैं परन्तु मैंने नीति का वर्गीकरण यों किया है—वैयक्तिक, पारिवारिक सामाजिक धार्मिक इतर प्राणि विषयक और मिश्रित नीति। इस वर्गीकरण में व्यक्ति को केन्द्र मानकर क्रमशः उसके व्यवहार-क्षेत्र को विस्तृत किया गया है। पहले तो मेरा विचार था कि धर्मनीति और राजनीति को भी विवेच्य-क्षेत्र में समाविष्ट कर लूँ परंतु जब अपनी साहित्यिक भाषाओं में इन विषयों के विशाल साहित्य को देखा तब विस्तार भय से विषय को संकुचित रखना ही उचित समझा। अब मैंने धर्म राजनीति देश काल मृत्यु पुनर्जन्म मोक्ष आदि का उल्लेख मिश्रित नीति में ही कर दिया है। कई लोग नीतिकाव्य का काव्यत्व ही स्वीकार नहीं करते इसलिए इसी अध्याय में उनके आक्षेपों का भी निराकरण कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में नीति की परम्परा का उल्लेख किया गया है क्योंकि इसके *बिना हिन्दी के नीति काव्य का विकास समझ में नहीं आ सकता।* इसमें क्रमशः वैदिक, संस्कृत पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के नीति-काव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृत तथा अपभ्रंश नीतिकाव्य का परिचय अधिक विस्तार से देना पड़ा क्योंकि प्रथम भाषा ने हिन्दी नीतिकाव्य को सबसे अधिक *प्रभावित किया* और दूसरी तो उसकी जननी ही है।

शोधखण्ड में सात अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में हिन्दी के नीति काव्य का विकास दिखाया गया है। यदि अध्ययन काल की ही दृष्टि से किया जाता तो तीन अध्याय पर्याप्त थे। परन्तु वीर-काव्यों की रचना आदि काल में ही समाप्त नहीं हो गई, परवर्ती कालों में भी होती रही। जहाँ प्रथम अध्याय में नाथों और खुसरो के काव्यों के नीतिकाव्य का विवेचन किया गया है वहाँ द्वितीय अध्याय में समग्र वीर-काव्यों के नीतितत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। भूषण जोधराज सूदन आदि कवियों के नीति काव्य का परिचय आदि काल में देना अनुचित होता अतः सब वीर कवियों को नीति की प्रायिक समता के कारण, एक ही अध्याय में रखा गया है। इसी प्रकार भक्ति काल में जो सन्तकाव्य सूफीकाव्य रामकाव्य और कृष्णकाव्य की धाराएँ प्रस्फुटित हुईं

हमारी योजना

'हिन्दी में गीति-काव्य का विकास-सं० १६०० वि० तक' हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थमाला का छब्बीसवाँ पुष्प है। हिन्दी अनुसंधान परिषद्' दिल्ली-विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग की संस्था है। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं हिन्दी वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिन में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर, विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली-विश्वविद्यालय की ओर से पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है, और तीसरे वे, जिनका अनुसंधान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (७) काव्य-कला (होरेस-कृत) (८) सौन्दर्य-तत्त्व (९) हिन्दी अभिनव भारती तथा (१०) हिन्दी नाट्यदर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं— (१) मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास (३) सूफी मत और साहित्य (४) अपभ्रंश-साहित्य (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा (८) मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता (९) हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम: कवि और आचार्य (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त तथा (१२) ब्रज भाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य-भक्ति। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसंधान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध तथा (३) अनुसंधान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का तेरहवाँ प्रकाशन है जिसे हम हिन्दी-काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। इसके लेखक डॉ० रामस्वरूप शास्त्री हिन्दी-संस्कृत के

हमारी योजना

'हिन्दी में नीति-काव्य का विकास-सं० १९०० वि० तक' हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थमाला का छब्बीसवाँ पुष्प है। हिन्दी अनुसंधान परिषद् दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की संस्था है। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिन में प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है; दूसरे वे जिन पर दिल्ली-विश्वविद्यालय की ओर से पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है, और तीसरे वे जिनका अनुसंधान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ—प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकारसूत्र (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद) (६) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा (७) काव्य-कला (होरेस-कृत) (८) सौन्दर्य-तत्त्व (९) हिन्दी अभिनव भारती तथा (१०) हिन्दी नाट्यदर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं— (१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (२) हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास (३) सूफी मत और साहित्य (४) अपभ्रंश-साहित्य (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य (६) सूर की काव्यकला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा (८) मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य (१०) मतिराम: कवि और आचार्य, (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्यसिद्धान्त तथा (१२) ब्रज भाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसंधान का स्वरूप (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध प्रबन्ध तथा (३) अनुसंधान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का तेरहवाँ प्रकाशन है जिसे हम हिन्दी-काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। इसके लेखक डॉ० रामस्वरूप शास्त्री हिन्दी-संस्कृत के

अत्यन्त अनुभवी प्राध्यापक हैं जो देश विभाजन से पूर्व १५ वर्ष तक डी॰ ए॰-वी॰ कालेज लाहौर, में अध्यापन करते रहे और गत १४ वर्षों से हंसराज कालेज, दिल्ली तथा दिल्ली विश्वविद्यालय में कार्य कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध इनके पाँच वर्ष के अनुसन्धान का निष्कर्ष है जिसमें ११६ कवियों के १२५ गीति-काव्यों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-गीति-काव्य के विकास का सम्यक् विवेचन किया गया है। लेखक ने अपनी लम्बी साहित्यिक यात्राओं में अनेक अप्रकाशित हिन्दी-गीति-काव्यों का अन्वेषण किया है जिनका आलोचनात्मक अध्ययन पहली बार हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। इस अध्ययन के फलस्वरूप निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी-गीति-काव्य दस-बीस रचनाओं तक ही सीमित न था अपितु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से वह अत्यंत विस्तृत, गम्भीर एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप था। डा॰ शास्त्री ने निश्चय ही अपने प्रबन्ध द्वारा हिन्दी के शोधपरक साहित्य को समृद्ध करने में स्तुत्य योगदान किया है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसंधान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय — नगेन्द्र
दिल्ली — अध्यक्ष
कार्तिक-पूर्णिमा २०१२ वि०

प्राक्कथन

जब सन् १९५२ ई० में मैंने 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' पर अध्ययन आरम्भ किया तब विदित न था कि इसी विषय पर कोई अन्य विद्वान् भी अनुसंधान कर रहे हैं या नहीं। दो-एक वर्ष के बाद ज्ञात हुआ कि श्री भोलानाथ तिवारी एम० ए० की शोध का विषय भी लगभग यही है। उस समय मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और अपने निरीक्षक डा० नगेन्द्र एम० ए० डी० लिट् से विषय-परिवर्तन के सम्बन्ध में परामर्श किया। उन्होंने यह सम्मति दी कि विषय व्यापक है अनुसन्धित्सुओं के दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, अतः कार्य जारी रखना चाहिए। सो कार्य चलता रहा।

सौभाग्य से जब डा० तिवारी यहीं आ गये तब उनके प्रबन्ध की हस्तलिखित प्रति देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यह देख कर संतोष हुआ कि उनका और मेरा दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। उनके प्रबन्ध में तो नीति के विभिन्न विषयों पर विभिन्न नीतिकवियों के विचारों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी के नीतिकाव्य का आदिकाल से रीतिकाल की समाप्ति तक कालक्रम तथा प्रवृत्तिक्रम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनका अध्ययन तो अधिकतर प्रकाशित नीतिकाव्यों पर निर्भर है परन्तु मुझे हस्त-लिखित नीतिकाव्य अधिक देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध एक दूसरे के पूरक हैं और आशा है कि उन पाठकों की जिज्ञासा शान्त करने में सहायक होंगे जो नीतिकाव्य के अध्ययन में रुचि रखते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में नीति के लगभग साठ मुख्य और इतने ही सामान्य नीति-कवियों का परिचय दिया गया है। इस संख्या में नाथ-कवि संत सूफी राम-कवि कृष्ण-कवि, शृंगारी कवि और संग्रहकार सम्मिलित नहीं हैं। प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा उनकी कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है और सामान्य कवियों का संक्षिप्त निर्देश कर दिया गया है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर काल-विशेष की समीक्षा भी दे दी गई है।

उपर्युक्त नीतिकवियों में से अधिकतर ऐसे हैं जिनकी अप्रकाशित कृतियाँ मुझे बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय सेठिया जैन ग्रन्थालय अनूप संस्कृत पुस्तकालय तथा श्री मोतीचन्द खजानची के पुस्तक भंडार में जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर वाले छाबड़ों के मंदिरों आमेर शास्त्र भंडार ठोलियों के मंदिर और विनयभूषण पुस्तकालय में उदयपुर के सरस्वती भण्डार और साहित्य-संस्थान में तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सभासंग्रह और याज्ञिक संग्रह में प्राप्त हुईं। उक्त कृतियों में से अधिकांश के नाम और [illegible] भले ही खोज-विवरणों में प्राप्त हो जाएँ परन्तु नीतिकाव्य की दृष्टि से उनका विस्तृत विवेचन अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। इस प्रबन्ध में

अत्यन्त अनुभवी प्राध्यापक हैं जो देश विभाजन से पूर्व १५ वर्ष तक डी० ए०-वी० कालेज लाहौर, में अध्यापन करते रहे और गत १४ वर्षों से हंसराज कालेज, दिल्ली तथा दिल्ली-विश्वविद्यालय में कार्य कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध इनके पाँच वर्ष के अनुसंधान का निष्कर्ष है जिसमें १११ कवियों के १५५ नीति-काव्यों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-नीति-काव्य के विकास का सम्यक् विवेचन किया गया है। लेखक ने अपनी लम्बी साहित्यिक यात्राओं में अनेक अप्रकाशित हिन्दी-नीति-काव्यों का अन्वेषण किया है जिनका आलोचनात्मक अध्ययन पहली बार हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। इस अध्ययन के फलस्वरूप निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी-नीति-काव्य दस-बीस रचनाओं तक ही सीमित न था अपितु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से वह अत्यंत विस्तृत गम्भीर एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप था। डा० शास्त्री ने निश्चय ही अपने प्रबन्ध द्वारा हिन्दी के शोधपरक साहित्य को समृद्ध करने में स्तुत्य योगदान किया है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसंधान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय — नगेन्द्र
दिल्ली — अध्यक्ष
कार्तिक-पूर्णिमा २०१५ वि०

प्राक्कथन

जब सन् १९५१ ई० में मैंने 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' पर अध्ययन आरम्भ किया तब विदित न था कि इसी विषय पर कोई अन्य विद्वान् भी अनुसन्धान कर रहे हैं या नहीं। दो-एक वर्ष के बाद ज्ञात हुआ कि श्री भोलानाथ तिवारी एम० ए० की खोज का विषय भी लगभग यही है। उस समय मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और अपने निरीक्षक डा० नगेन्द्र एम० ए० डी० लिट् से विषय-परिवर्तन के सम्बन्ध में परामर्श किया। उन्होंने यह सम्मति दी कि विषय व्यापक है अनुसन्धित्सुओं के दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हो सकते हैं अतः कार्य जारी रखना चाहिए। सो कार्य चलता रहा।

सौभाग्य से जब डा० तिवारी यहीं आ गये तब उनके प्रबन्ध की हस्तलिखित प्रति देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यह देख कर सन्तोष हुआ कि उनका और मेरा दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। उनके प्रबन्ध में तो नीति के विभिन्न विषयों पर विभिन्न नीतिकवियों के विचारों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी के नीतिकाव्य का आदिकाल से रीतिकाल की समाप्ति तक कालक्रम तथा प्रवृत्तिक्रम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनका अध्ययन तो अधिकतर प्रकाशित नीतिकाव्यों पर निर्भर है परन्तु मुझे हस्त-लिखित नीतिकाव्य अधिक देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध एक दूसरे के पूरक हैं और आशा है कि उन पाठकों की जिज्ञासा शान्त करने में सहायक होंगे जो नीतिकाव्य के अध्ययन में रुचि रखते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में नीति के लगभग साठ मुख्य और इतने ही सामान्य नीति-कवियों का परिचय दिया गया है। इस संख्या में भक्त-कवि सन्त सूफी राम-कवि कृष्ण-कवि शृंगारी कवि और संग्रहकार सम्मिलित नहीं हैं। प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा उनकी कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है और सामान्य कवियों का संक्षिप्त निर्देश कर दिया गया है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर काल-विशेष की समीक्षा भी दे दी गई है।

उपर्युक्त नीतिकवियों में से अधिकतर ऐसे हैं जिनकी अप्रकाशित कृतियाँ मुझे बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय सेठिया जैन ग्रंथालय अनूप संस्कृत पुस्तकालय तथा श्री मोतीचन्द खजानची के पुस्तक भंडार में जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर बाबे छाबड़ों के मंदिरों आमेर शास्त्र भंडार ठोलियों के मंदिर और विद्याभूषण पुस्तकालय में उदयपुर के सरस्वती-भण्डार और साहित्य-संस्थान में तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय और याज्ञिक संग्रह में प्राप्त हुई। उक्त कृतियों में से अधिकांश के नाम और संकेत मात्र भले ही खोज-विवरणों में प्राप्त हो जाएँ परन्तु नीतिकाव्य की दृष्टि से उनका विस्तृत विवेचन अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। इस प्रबन्ध में

अत्यन्त अनुभवी प्राध्यापक हैं जो देश विभाजन से पूर्व १५ वर्ष तक डी० ए०-वी० कालेज लाहौर, में अध्यापन करते रहे और गत १४ वर्षों से हंसराज कालेज, दिल्ली तथा दिल्ली-विश्वविद्यालय में कार्य कर रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध इनके पाँच वर्ष के अनुसंधान का निष्कर्ष है जिसमें ११६ कवियों के १२५ गीति-काव्यों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए हिन्दी-गीति-काव्य के विकास का सम्यक् विवेचन किया गया है। लेखक ने अपनी लम्बी साहित्यिक यात्राओं में अनेक अप्रकाशित हिन्दी-गीति-काव्यों का अन्वेषण किया है जिनका आलोचनात्मक अध्ययन पहली बार हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। इस अध्ययन के फलस्वरूप निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी-गीति-काव्य दस-पाँच रचनाओं तक ही सीमित न था अपितु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से वह अत्यंत विस्तृत गम्भीर एवं परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुरूप था। डा० शास्त्री ने निश्चय ही अपने प्रबन्ध द्वारा हिन्दी के शोधपरक साहित्य को समृद्ध करने में स्तुत्य योगदान किया है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसंधान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय — नगेन्द्र
दिल्ली — अध्यक्ष
कार्तिक-पूर्णिमा २०१६ वि०

प्राक्कथन

जब सन् १९५३ ई० में मैंने 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' पर अध्ययन प्रारम्भ किया तब विदित न था कि इसी विषय पर कोई अन्य विद्वान् भी अनुसन्धान कर रहे हैं या नहीं। दो-एक वर्ष के बाद ज्ञात हुआ कि श्री भोलानाथ तिवारी एम० ए० की खोज का विषय भी लगभग यही है। उस समय मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष और अपने निरीक्षक डा० नगेन्द्र एम० ए० डी० लिट् से विषय-परिवर्तन के सम्बन्ध में परामर्श किया। उन्होंने यह सम्मति दी कि विषय व्यापक है अनुसन्धित्सुओं के दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, अतः कार्य जारी रखना चाहिए। सो काम चलता रहा।

सौभाग्य से जब डा० तिवारी यहीं आ गये तब उनके प्रबन्ध की हस्तलिखित प्रति देखने का अवसर प्राप्त हुआ। यह देख कर सन्तोष हुआ कि उनका और मेरा दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। उनके प्रबन्ध में तो नीति के विभिन्न विषयों पर विभिन्न नीतिकवियों के विचारों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी के नीतिकाव्य का आदिकाल से रीतिकाल की समाप्ति तक कालक्रम तथा प्रवृत्तिक्रम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनका अध्ययन तो अधिकतर प्रकाशित नीतिकाव्यों पर निर्भर है परन्तु मुझे हस्त-लिखित नीतिकाव्य अधिक देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध एक दूसरे के पूरक हैं और आशा है कि उन पाठकों की जिज्ञासा शान्त करने में सहायक होंगे जो नीतिकाव्य के अध्ययन में रुचि रखते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में नीति के लगभग साठ मुख्य और इतने ही सामान्य नीति-कवियों का परिचय दिया गया है। इस संख्या में नाथ-कवि सन्त सूफी राम-कवि कृष्ण-कवि शृंगारी कवि और संग्रहकार सम्मिलित नहीं हैं। प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा उनकी कृतियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है और सामान्य कवियों का संक्षिप्त निर्देश कर दिया गया है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर काल विशेष की समीक्षा भी दे दी गई है।

उपर्युक्त नीतिकवियों में से अधिकतर ऐसे हैं जिनकी अप्रकाशित कृतियाँ मुझे बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय सेठिया जैन ग्रंथालय अनूप संस्कृत पुस्तकालय तथा श्री मोतीचन्द खजानची के पुस्तक भण्डार में जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर काले छाबड़ों के मंदिरों आमेर शास्त्र भण्डार ठोलियों के मंदिर और विद्याभूषण पुस्तकालय में उदयपुर के सरस्वती-भण्डार और साहित्य-संस्थान में तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी के आर्यसंग्रह और याज्ञिक संग्रह में प्राप्त हुईं। उक्त कृतियों में से अधिकांश के नाम और संकेत मात्र भले ही खोज-विवरणों में प्राप्त हो जाएँ परन्तु नीतिकाव्य की दृष्टि से उनका विस्तृत विवेचन अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। इस प्रबन्ध में

नीति की मौलिक काव्य-कृतियों का ही नहीं अनूदित तथा संग्रहात्मक-रचनाओं का भी संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है जिससे परवर्ती अन्वेषकों को कुछ उपयोगी संकेत मिल सकें।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है—१ भूमिका २ शोध। यद्यपि भूमिका-खण्ड में भी बहुत सी मौलिक-सामग्री प्रस्तुत की गई है तथापि मेरा वास्तविक प्रतिपाद्य शोध-खण्ड में ही उपन्यस्त है। भूमिका-खण्ड में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में नीति की परिभाषा प्रकार और नीतिकाव्य के काव्यत्व पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक संस्कृत पालि प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं के साहित्य तथा कोशों के अवलोकन से मुझे 'उचित व्यवहार' ही नीति की सर्वोत्तम परिभाषा प्रतीत हुई। विद्वानों ने राजनीति, धर्मनीति कुटिल नीति चरम नीति आदि नीति के कई उपभेद मत किये हैं परन्तु मैंने नीति का वर्गीकरण यों किया है—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक आर्थिक इतर प्राणि विषयक और मिश्रित नीति। इस वर्गीकरण में व्यक्ति को केन्द्र मानकर क्रमशः उसके व्यवहार-क्षेत्र को विस्तृत किया गया है। पहले तो मेरा विचार था कि धर्मनीति और राजनीति को भी विवेच्य-क्षेत्र में समाविष्ट कर लूँ परन्तु जब अपनी साहित्यिक भाषाओं में इन विषयों के विशाल साहित्य को देखा तब विस्तार भय से विषय को संकुचित रखना ही उचित समझा। अब मैंने धर्म राजनीति देव काम मृत्यु, पुनर्जन्म मोक्ष आदि का उल्लेख मिश्रित नीति में ही कर दिया है। कई लोग नीतिकाव्य का काव्यत्व ही स्वीकार नहीं करते इसलिए इसी अध्याय में उनके आक्षेपों का भी निराकरण कर दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में नीति की परम्परा का उल्लेख किया गया है क्योंकि इसके बिना हिन्दी के नीति काव्य का विकास समझ में नहीं आ सकता। इसमें क्रमशः वैदिक, संस्कृत पालि प्राकृत और अपभ्रंश के नीति-काव्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृत तथा अपभ्रंश नीतिकाव्य का परिचय अधिक विस्तार से देना पड़ा क्योंकि प्रथम भाषा ने हिन्दी नीतिकाव्य को सबसे अधिक प्रभावित किया और दूसरी तो उसकी जननी ही है।

शोधखण्ड में सात अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्यायों में हिन्दी के नीति काव्य का विकास दिखाया गया है। यदि अध्ययन काल की ही दृष्टि से किया जाता तो तीन अध्याय पर्याप्त थे। परन्तु वीर-काव्यों की रचना आदि काल में ही समाप्त नहीं हो गई, परवर्ती कालों में भी होती रही। जहाँ प्रथम अध्याय में नाथों और खुसरो के काव्यों के नीतिकाव्य का विवेचन किया गया है वहाँ द्वितीय अध्याय में समग्र वीर-काव्यों के नीतितत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। भूषण गोरेलाल सूदन आदि कवियों के नीति काव्य का परिचय आदि काल में देना अनुचित होता अतः सब वीर कवियों को नीति की मार्मिक समता के कारण एक ही अध्याय में रखा गया है। इसी प्रकार भक्ति काल में जो सन्तकाव्य सूफीकाव्य रामकाव्य और कृष्णकाव्य की धाराएँ प्रवृत्त हुईं

वे रीतिकाल के अन्त तक प्रवाहित होती रहीं। इस लिए जहाँ तृतीय अध्याय में प्रमुख नीति-कवियों, अकबरी दरबार के नीति-कवियों अनुवादकों और फुटकर नीतिकवियों का कवित्व और कृतित्व परिचय दिया गया है वहाँ चतुर्थ अध्याय में सन्तों, सूफियों रामकवियों और कृष्णकवियों की रचनाओं के नीतितत्व का चार वर्गों में सामूहिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

रीतिकाल में जहाँ आशा से अधिक कवियों ने मौलिक स्वतन्त्र नीतिकाव्यों का प्रणयन किया वहाँ कई एक ने प्राचीन नीतिग्रन्थों के अनुवाद भी किए। फिर शृंगारिक कवियों की रचनाओं में भी स्फुट रूप से नीति पाई जाती है और काव्य-संग्रहों में भी। इनके अतिरिक्त कुछ साधारण नीति-कवियों के स्फुट पद्य या कृतियाँ मिलती हैं। इन पञ्चविध साहित्यकारों का पृथक-पृथक विवरण पंचम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

छठे अध्याय में पूर्ववर्ती नीतिकाव्यों का हिन्दी नीतिकाव्य पर भाव और कला की दृष्टि से प्रभाव दिखाया गया है। चूँकि इस विषय पर डॉ० तिवारी भी सविस्तर लिख चुके हैं और प्रस्तुत प्रबन्ध म भी अनेकत्र प्रकाश डाला जा चुका है अतः इस अध्याय को संक्षिप्त रखना ही उचित प्रतीत हुआ। यद्यपि प्रत्येक काल तथा प्रवृत्ति के नीतिकाव्य का मूल्यांकन उस-उस अध्याय क अंत में किया गया है तथापि सप्तम अध्याय में उपसंहार रूप में अपने समस्त अध्ययन का निष्कर्ष द दिया गया है।

अपने अध्ययन का उपक्रम करते समय मुझे सन्देह था कि इतने नीतिकाव्य उपलब्ध भी होंगे या नहीं जिन पर एक प्रबन्ध लिखा जा सके। परन्तु जब उपर्युक्त स्थानों और पुस्तक-भंडारों में जाकर ग्रंथावलोकन का अवसर प्राप्त हुआ तब संशय निवृत्त हो गया। अब तो ऐसा लगता है कि उत्तर भारत के अन्य भंडारों में भी खोज करने पर नीति-विषयक अनेक उपयोगी काव्य मिल सकते हैं।

इधर जिन काव्यों के अवलोकन का अवसर मुझे मिला है वे भी संख्या कवित्व और उपयोगिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनसे सिद्ध होता है कि हिन्दू सिख जैन मुसलमान स्त्री पुरुष सभी ने स्वतन्त्र काव्यों या स्फुट पद्यों के रूप में ऐसी रचनाएँ की हैं जो सरलता-पूर्वक जन-समुदाय का पथ प्रदर्शन करती हैं।

यह भली भाँति जानते हुए कि आजकल बृहत्परिमाण प्रबन्ध प्रशंसनीय नहीं समझे जाते मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध को अनीप्सित अनावश्यक असंगत और पुनरुक्त सामग्री से बचाने का यथाशक्ति प्रयास किया है। इसी उद्देश्य से अनूदित तथा संग्रहात्मक कृतियों और फुटकर कवियों तथा उनके काव्यों का परिचय भी अतिसंक्षेप से दिया गया है। इतने पर भी यदि यह प्रबन्ध यथेष्ट संक्षिप्त नहीं हो सका तो इसके कई कारण हैं। प्रथम, उन लोगों के मत का निरसन नितान्त आवश्यक था जो नीतिकाव्य के काव्यत्व का ही निषेध करते हैं। द्वितीय प्रबन्ध में हिन्दी के नीति-काव्य का विकास स्पष्ट करना था अतः पूर्ववर्ती भाषाओं के नीतिकाव्यों पर कुछ विस्तृत प्रकाश डालना अनिवार्य था। तृतीय नीतिकाव्य नीति-कवियों की ही कृतियों में प्राप्त नहीं होता,

नाथों वीर-कवियों सन्तों सूफियों रामकवियों, कृष्णभक्तिया और शृंगारी कवियों की रचनाओं में भी विकीर्ण है अत: इस प्रासंगिक नीतिकाव्य की उपेक्षा भी अवांछनीय थी। चतुर्थ तुलसीदास रहीम गंग वृन्द बांकीदास दीनदयाल आदि प्रमुख नीति कवियों के नीतिकाव्य की दृष्टि से विस्तृत अध्ययन के बिना हिन्दी-नीतिकाव्य का विकास दुर्बोध रहता। और अन्त में सबसे बड़ा कारण है यह प्रचुर मौलिक हस्तलिखित सामग्री जो सौभाग्यवश साहित्यिक यात्राओं में मेरे हाथ लगी। इस सामग्री का उपयोग भी मैंने आंशिक रूप से ही किया है। इतने पर भी यदि यह प्रबन्ध उक्त कारणों से कुछ बड़ा हो गया तो विवशता के लिए मैं क्षन्तव्य हूं।

परीक्षक महोदयों ने प्रबन्ध-परीक्षण के पश्चात् कृपा-पूर्वक जो अमूल्य सुझाव दिये थे उनके अनुसार प्रबन्ध में यथा-सम्भव परिवर्तन कर दिये गये हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के पाठों को मैंने कई कारणों से प्राय: अक्षुण्ण रहने दिया है। आशा है विज्ञ पाठक अध्ययनकाल में स्वयं ही उनका संशोधन कर लेंगे।

प्रस्तुत विषय का अध्ययन डॉ० नगेन्द्र डी-लिट् के निर्देशन में संपन्न हुआ। मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचंद नाहटा का मैं विशेष आभारी हूं जिनके अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर, में मुझे एक मास तक अनेक पुस्तकें देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त मैं दिल्ली के श्री पन्नालाल जैन और श्री परमानन्द जैन अलीगंज (एटा), के श्री कामताप्रसाद जैन हापुड़ के डॉ० रामदत्त भारद्वाज वाराणसी के डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल उदयपुर के मुनि कान्तिसागर तथा डॉ० मोतीलाल मेनारिया और जयपुर के मुनि जिनविजय डॉ० मथुरालाल पुरोहित रामगोपाल तथा श्री कस्तूरचंद कासलीवाल का भी कृतज्ञ हूं जिन्होंने प्रत्यक्षत: या पत्र-व्यवहार द्वारा मेरी अनेक प्रकार से सहायता की। यहीं पर मैं उपर्युक्त साहित्यिक तथा धार्मिक संस्थाओं के संचालकों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन भी अपना कर्तव्य समझता हूं जिनकी कृपा से मुझे अनेक हस्तलिखित और प्रकाशित ग्रन्थ देखने की सुविधा प्राप्त हुई। मैं उन विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद देता हूं जिनकी प्रकाशित पुस्तकों की सूची परिशिष्ट में दी गई है और अन्त में दिल्ली पुस्तक सदन के संचालकों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूं जिन्होंने प्रबन्ध के मुद्रकाशन में स्तुत्य सहयोग दिया है।

बोधाम्बिरस्य गुरुण्णु गुरुणमस्या मनीषिणः ।
पांसुलपादस्य अज्ञस्य मन्दरममिवाज्ञयः ।।

डी—१४१
शारदा निकेतन
राजेन्द्र नगर दिल्ली
कार्तिक-पूर्णिमा २०१९ वि०

—रामसरूप

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

नाथों वीर-कवियों सन्तों सूफियों रामकवियों, कृष्णकवियों और शृंगारी कवियों की रचनाओं में भी विकीर्ण है अतः इस प्रासंगिक नीतिकाव्य की उपेक्षा भी अवांछनीय थी। चतुर्थ तुलसीदास रहीम गंग वृन्द बांकीदास दीनदयाल आदि प्रमुख नीति कवियों के नीतिकाव्य की दृष्टि से विस्तृत अध्ययन के बिना हिन्दी-नीतिकाव्य का विकास दुर्बोध रहता। और अन्त में सबसे बड़ा कारण है वह प्रचुर मौलिक हस्तलिखित सामग्री जो सौभाग्यवश साहित्यिक यात्राओं में मेरे हाथ लगी। इस सामग्री का उपयोग भी मैंने आंशिक रूप से ही किया है। इतने पर भी यदि यह प्रबन्ध उक्त कारणों से कुछ बड़ा हो गया तो विवशता के लिए मैं क्षन्तव्य हूँ।

परीक्षक महोदयों ने प्रबन्ध-परीक्षण के पश्चात् कृपा-पूर्वक जो बहुमूल्य सुझाव दिये थे उनके अनुसार प्रबन्ध में यथा-सम्भव परिवर्तन कर दिये गये हैं। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के पाठों को मैंने कई कारणों से प्रायः अक्षुण्ण रहने दिया है। आशा है विज्ञ पाठक अध्ययनकाल में स्वयं ही उनका संशोधन कर लेंगे।

प्रस्तुत विषय का अध्ययन डॉ॰ नगेन्द्र डी॰लिट्॰ के निर्देशन में संपन्न हुआ। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचन्द नाहटा का मैं विशेष आभारी हूँ जिनके अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में मुझे एक मास तक अनेक पुस्तकें देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त मैं दिल्ली के श्री पन्नालाल जैन और श्री परमानन्द जैन अलीगंज (एटा) के श्री कामताप्रसाद जैन हापुड़ के डॉ॰ रामदत्त भारद्वाज, वाराणसी के डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल उदयपुर के मुनि कान्तिसागर तथा डॉ॰ मोतीलाल मेनारिया और जयपुर के मुनि जिनविजय डॉ॰ मथुरालाल पुरोहित रामगोपाल तथा श्री कस्तूरचंद कासलीवाल का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रत्यक्षतः या पत्र-व्यवहार द्वारा मेरी अनेक प्रकार से सहायता की। यहीं पर मैं उपर्युक्त साहित्यिक तथा धार्मिक संस्थाओं के संचालकों के प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन भी अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी कृपा से मुझे अनेक हस्तलिखित और प्रकाशित ग्रन्थ देखने की सुविधा प्राप्त हुई। मैं उन विद्वानों को भी हार्दिक धन्यवाद देता हू जिनकी प्रकाशित पुस्तकों की सूची परिशिष्ट में दी गई है और अन्त में दिल्ली पुस्तक-सदन के संचालकों के प्रति भी आभार प्रकट करता हू जिन्होंने प्रबन्ध के मुद्रण में स्तुत्य सहयोग दिया है।

दोषाभिरस्य पुष्टस्य पुण्यमस्या अभीप्सितः ।
पीयूषपानस्य अत्यर्थो मकरन्दमिवाक्षयः ॥

डी—१४१
शारदा निकेतन
राजेन्द्र नगर दिल्ली
कार्तिक-पूर्णिमा २०१९ वि॰

—रामस्वरूप

शोध-खण्ड (१२६—६४१)

शोध-खण्ड (१२९—६४१)



(१)

भूमिका-खण्ड

नीति की परिभाषा और प्रकार तथा नीति-काव्य का काव्यत्व

(क) नीति की परिभाषा

व्युत्पत्त्यात्मक तथा प्रचलित अर्थ—संस्कृत का शब्द "नीति" प्रापणार्थक धातु 'नी' (णीम्)[1] तथा भाववाचक प्रत्यय "ति" (क्तिन्)[2] के संयोग से निष्पन्न होता है। इसलिए "पीति" (पान) तथा "अधीति" (अध्ययन) के समान 'नीति' का अर्थ भी नयन (ले जाना) या प्रापण (पहुँचाना) ही है। परन्तु आज यह प्रायः उचित (धर्म प्रापक या सत्यसाधक) व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

वैदिक साहित्य में नीति के अर्थ—संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों तथा उपनिषदों में "नीति" शब्द स्वतन्त्र रूप में तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु समासान्त में इसका प्रयोग अनेकत्र मिल जाता है। जैसे—

१—ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।[3]

मित्र और वरुण हमें कौटिल्य-रहित नीति (प्रापण) द्वारा अभीष्ट फल दिलाएँ। यहाँ नीति के पूर्व "ऋजु" का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि प्रायः नीति में कुछ चातुर्य मिश्रित रहता है।

२—वाणो वाणस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता।[4]

हे प्रकम्पित करने वाले मरुत देवताओ, तुम्हारी वाणी हमारे लिए धन सुख लाने वाली हो।

---

१ णीञ् प्रापणे। सिद्धान्त कौमुदी (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३८ ई०) पृष्ठ ४००।

२ स्त्रियां क्तिन्, पाणिनि, अष्टाध्यायी—३।३।९४।

३ ऋग्वेद १।९०।१; प्र०—अरविन्द आश्रम पांडिचेरी। सायणभाष्य—ऋजुनीत्या ऋजुनयनेन।

४ कौटिल्यरहितेनार्जवमार्गेण नयतु अभिमतं फलं प्रापयतु।
सिद्धान्तनारायण भाष्य—कौटिल्यशून्येन नयनेन येनास्मदनुकूलमस्मान् प्रति प्रापणेन।
ऋग्वेद ५।४८।१०, सायण भाष्य—(हे कम्पयितारः मरुतः) युष्मदीया वाक् प्रणीतिरस्तु, अस्माकं धनानां प्रणेत्री भवतु।

प्रथम अध्याय

नीति की परिभाषा और प्रकार तथा नीति-काव्य का काव्यत्व

(क) नीति की परिभाषा

व्युत्पत्तिमूलक तथा प्रचलित अर्थ—संस्कृत का शब्द "नीति" प्रापणार्थक धातु "नी" (णीञ्)[1] तथा भाववाचक प्रत्यय "ति" (क्तिन्)[2] के संयोग से निष्पन्न होता है। इसलिए "प्रीति" (प्यार) तथा "अधीति" (अध्ययन) के समान "नीति" का अर्थ भी नयन (ले जाना) या प्रापण (पहुँचाना) ही है। परन्तु आज यह प्राय उचित (अर्थ प्रापक या अभ्युदयसाधक) व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

वैदिक साहित्य में नीति के अर्थ—संहिताओं ब्राह्मणों आरण्यकों तथा उपनिषदों में "नीति" शब्द स्वतन्त्र रूप में तो उपलब्ध नहीं होता, परन्तु समासान्त में इसका प्रयोग अनेकत्र मिल जाता है। जैसे—

१—ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।[3]

मित्र और वरुण हमें कौटिल्य-रहित नीति (प्रापण) द्वारा अभीष्ट फल दिलाएँ। यहाँ नीति के पूर्व 'ऋजु' का प्रयोग यह ध्वनित करता है कि प्राय नीति में कुछ चातुर्य मिश्रित रहता है।

२—वामी वामस्य धूतयः प्रणीतिरस्तु सूनृता।[4]

हे प्रकम्पित करने वाले मरुत देवताओ तुम्हारी वाणी हमारे लिए धन सुख लाने वाली हो।

---

१ णीञ् प्रापणे। सिद्धान्त कौमुदी (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३८ ई०) पृष्ठ ४७०।

२ स्त्रियां क्तिन्, पाणिनि, अष्टाध्यायी—३।३।९४।

३ ऋग्वेद १।९०।१, प्र०—अरविन्द आश्रम पांडिचेरी। सायणभाष्य—ऋजुनीत्या ऋजुनयनेन।

४ कौटिल्यरहितेनागमनेन नयतु अभिमतं फलं प्रापयतु।
सिद्धाञ्जनाख्य भाष्य—कौटिल्यशून्येन नयनेन मैत्र्ययुक्तस्यार्थं प्रति प्रापणेन।
ऋग्वेद १।४८।२० सायण भाष्य—(हे कम्पयितारः मरुत) युष्माकं वाक् प्रणीतिरस्तु, अस्माकं धनानां प्रणेत्री भवतु।

३—यदा मध्यावयसुनीतिमेतामथ देवानां वशमीर्यताति ।[१]

जब यह प्राणापहारक दमता के पास जा पहुँचता है तब वह देवताओं का वशवर्ती बन जाता है।

४—इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्रमायिनाममिनाद् वर्पनीतिः ।[२]

प्रवृद्ध कर्मों वाले इन्द्र ने वृत्र का वध किया तथा युद्ध में शत्रुओं के प्रहारों के निवारक कर्म करने वाले इन्द्र ने मायावी असुरों का अत्यधिक वध किया।[३] इसी मन्त्र के 'वर्पनीति' शब्द का अर्थ महीधर ने 'नाना रूपधारी' अर्थात् कपटी असुरों को अनेक रूप प्राप्त करके मारने वाला (इन्द्र) किया है। इसस कपटी लोगों के प्रति नीति के व्यवहार की ध्वनि भी निकलती है।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में नीति शब्द चार अर्थों में व्यवहृत हुआ है—

२—प्रापण अर्थात् पहुँचाना
२—लाने वाली
३—ले जाने वाली
४—कर्म व्यवहार

प्राचीन महाकाव्यों में 'नीति' के अर्थ

वैदिक साहित्य में तो समास रहित नीति शब्द का प्रयोग नहीं मिलता परन्तु हमारे महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—में यह और उसका पर्यायवाची 'नय' सहस्रों स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

१—श्री रामचन्द्र के गुणों के उल्लेख में वाल्मीकि कहते हैं—

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः ।[४]

श्री रामचन्द्र बुद्धिमान्, नीति-कुशल सुवक्ता तथा शत्रुनाशक थे। जिन

अथर्व०—१।८।२।१

...ायणभाष्य—असुनीतिम्—असून् प्राणान् नयति लोकान्तरमिति असुनीति ...राणापहर्त्री देवता ताम्।

...ग्वेद १।१४।३

...यणभाष्य—अप प्रवृद्धं नीति कर्म यस्य सः। तथा वपनीति युद्धे परप्रहा...णां निवारककर्मा इन्द्र मायिनो असुरान् प्रकर्षेणावधीत्।

...इति रूपनाम (निघण्टु ३।७)। वर्पं नानारूपं नयति प्राप्नोति वर्पनीति ...रूपधारी) (महीधर भाष्य)।

...मायणम् (तिलकव्याख्यासमेतम्) निर्णयसागर प्रेस १९२ बालकाण्ड, सर्ग ...श्लोक ६। तिलक—नीति कामन्दकादिप्रसिद्धराजनीतिः यही, ११।६।

कात्या व्याख्या के रचयिता राम के मत में इस स्थल पर नीति शब्द राजनीति का वाचक है।

२—वाल्मीकि ने दशरथ के अमात्यों को 'नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः'[१] अर्थात् नीति शास्त्र के विशेष ज्ञाता कहा है। कहना अनावश्यक होगा कि यहाँ नीति का आशय राजनीति से ही है।

३—राम के राजतिलक के प्रसंग में मन्थरा कैकेयी को प्रभावित करती हुई कहती है कि राजा के सभी पुत्र सिंहासनासीन नहीं हुआ करते। क्योंकि—

स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत्।[२]

सभी के अभिषिक्त होने पर बड़ा भारी अनय हो जाएगा। तिलककार ने 'अनय' का अर्थ अन्याय (अनीति अनुचित व्यवहार) किया है।

४—वाल्मीकि रामायण में मन्त्रियों के गुण-वर्णन में 'नय' शब्द का व्यवहार राजनीति के अर्थ में भी दृष्टिगोचर होता है—

हितार्थाश्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा।[३]

वे मन्त्री नरेन्द्र (दशरथ) के हितार्थ तथा नीति के नेत्रों से सदा जागरित रहते थे। यहाँ प्रसंग-वश से 'नीति' शब्द की राजनीतिपरकता असंदिग्ध है।

५—महाभारत के उद्योग पर्व के ३३-४० अध्याय विदुरनीति के नाम से प्रख्यात हैं। इनमें से प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'विदुरनीति'[४] पद वर्तमान है। इस से स्पष्ट है कि इन अध्यायों का विषय नीति है। इन अध्यायों के परिशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि नृप-कर्तव्य और लोक-कर्तव्य दोनों को ही नीति कहा गया है। जैसे—

(१) नृपकर्तव्य—स्त्री-विषयक आसक्ति, जुआ, शिकार, मद्यपान, वचन की कठोरता, अत्यन्त कठोर दंड देना और धन का दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजा को सदा त्याग देने चाहिएँ। इन से दृढ़-मूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं।[५]

(२) लोक-कर्तव्य—मनुष्य दिन में वह काम करे जिस से रात में सुख से रहे और आठ मास के कार्य करे जिन से चौमासा सुख से बीत जाए।[६]

६—महाभारत में नीति शब्द पुष्पिकाओं मात्र में ही नहीं मूलश्लोकों में भी उपलब्ध होता है। जैसे—

१ वही, १।७।११
२ वही, २।८।२३ । तिलक—अनयो अन्याय ईर्ष्यया परस्परप्रजापीडनरूपः।
३ वही, १।७।११
४ इति श्रीमहाभारते, उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये, अध्यायः (चित्रशाला प्रेस पूना, भाग ३ १९३१ ई०)
५. विदुरनीति गीता प्रेस गोरखपुर, २०११ वि० अध्याय १, श्लोक ९९ १०।
६ वही अध्याय १ श्लोक ६७

(१)—दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।[1]

गीता की संस्कृत टीकाएँ अनेक विद्वानों ने की हैं परन्तु इस श्लोक में आये हुए 'नीति' शब्द के अर्थ में कोई वैमत्य लक्षित नहीं होता। स्वामी शंकराचार्य ने नीति शब्द को ज्यों-का-त्यों रहने दिया है।[2] आनन्दगिरि और मधुसूदन ने 'नीति' का अर्थ ऐसा न्याय किया है जो जय के उपाय का प्रकाशक हो।[3] नीलकंठ और धनपति के मत में जय का साधन या हेतु ही नीति है।[4] श्रीधर ने सामादि उपायों को ही नीति कहा है।[5] गीता रहस्य के अंग्रेजी अनुवादक ने 'नीति' का अर्थ कूटनीति (डिप्लोमेसी)[6] महात्मा गांधी ने 'नीति'[7] और डॉ० राधाकृष्णन् ने 'विवेकपूर्ण नीति' (वाइज पालिसी)[8] किया है।

इन टीकाकारों का साम्मत्य इसी बात को सिद्ध करता है कि यहाँ 'नीति', उस उपाय साधन या हेतु को कहा गया है जिस से नरपति स्व शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ होते हैं और यह राजनीति का ही एक अंग है।

(२) नीति शब्द भगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में भी व्यवहृत हुआ है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥[9]

इस श्लोक की टीका में आनन्दगिरि तो मौन रहे हैं परन्तु शेष सभी आचार्यों ने नीति का अर्थ नय (नीतिर्नयः) किया है। लोकमान्य तिलक[10] महात्मा गांधी[11] और डॉ० राधाकृष्णन्[12] ने यहाँ नीति शब्द का अर्थ नीति अर्थात् सदाचार (मोरे

---

१ भगवद्गीता १०।३८

२ नीतिरस्मि जिगीषतां जेतुमिच्छताम् (शंकराचार्य) भगवद्गीता निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९३६ ; पृष्ठ ४६१

३ नीतिर्न्यायो जयस्य उपायस्य प्रकाशक (आनन्दगिरि) वही, पृष्ठ ४६१
नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशकोऽस्मि (मधुसूदन) वही पृष्ठ ४६१

४ जेतुमिच्छतां जयसाधनं नीतिरस्मि (नीलकंठ) वही, पृष्ठ ४६१
जेतुमिच्छतां जयहेतुनीतिरहम् (धनपति) वही पृष्ठ ४६१

५. सामाद्युपायरूपा नीतिरस्मि (श्रीधर) वही, पृष्ठ ४६१

६ गीतारहस्य का बालचन्द्र सीताराम कृत अंग्रेजी अनुवाद, पूना, १९३६ भाग २, पृष्ठ १०७०

७ महात्मा गांधी अनासक्तियोग नई दिल्ली, १९४४ पृष्ठ १४६

८. डा० राधाकृष्णन् भगवद्गीता लंदन, १९४६, पृष्ठ २६७

९. भगवद्गीता १८।७८ ॥

१० तिलक गीता रहस्य अंग्रेजी अनुवाद, भाग २; पृष्ठ १२०६

११ गांधी, अनासक्तियोग; पृष्ठ २४२

१२ राधाकृष्णन्, भगवद्गीता (लंदन, १९४८ ई०) पृष्ठ ३८१

मिटी) किया है।[1]

उक्त कतिपय उद्धरणों से निष्कर्ष यह निकलता है कि नीति या नय शब्द हमारे महाकाव्यों में निम्नांकित अर्थों का प्रतिपादन करता है—

(१) नृप, मन्त्री आदि के शासन-सम्बन्धी कर्तव्य
(२) जय का साधन या हेतु
(३) साम दाम आदि उपाय
(४) कूटनीति (डिप्लोमेसी)
(५) उचित या न्याय्य लोक-व्यवहार
(६) विवेकपूर्ण नीति (वाइज पालिसी)

इनमें से २-४ तक के अर्थ प्रथम में और छठा अर्थ पाँचवें में अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार दो ही मुख्यार्थ अवशिष्ट रहते हैं—राजनीति तथा उचित व्यवहार (सामान्य नीति)।

अभिजात* संस्कृत साहित्य में नीति के अर्थ

वैदिक साहित्य तथा प्राचीन महाकाव्यों के पश्चात् अभिजात संस्कृत साहित्य में भी नीति या नय शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर विभिन्न अर्थों में किया गया है। कालिदास भारवि माघ भवभूति, श्री हर्ष आदि की अमरकृतियों में इन शब्दों के प्रयोग तथा अर्थ द्रष्टव्य हैं—

१—जब रावण द्वारा व्यपकृत विभीषण राम की शरण में पहुँचा, तब कालिदास के शब्दों में—

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥[2]

'राघव ने उस विभीषण को राक्षसाधिपति बनाने की प्रतिज्ञा की। समय पर काम में लाई हुई कूटनीतियाँ[3] आगे चलकर अवश्य फल देती हैं।'

---

१ यहाँ प्रसंगवश यह कह देना भी अयुक्त न होगा कि राजनीति के लिए महाभारत में राजधर्म[1] और दण्डनीति[2] शब्दों का तथा राजनीति-शास्त्र के लिए राजशास्त्र[3] का प्रयोग भी देखने में आता है।

(१) (शान्तिपर्व, १ १३० अध्यायों की पुष्पिका)
(२) (शान्तिपर्व, अध्याय ५९, श्लोक ७८)
(३) (महाभारत आदि पर्व, अध्याय १४०, श्लोक २,४)

*अभिजात=क्लासिकल।

२ कालिदास रघुवंश, १२।६९

३ सं०—सीताराम चतुर्वेदी कालिदास ग्रंथावलि काशी, २००१ वि०, रघुवंश १२।६९ की टीका।

(१)—दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।[१]

गीता की संस्कृत टीकाएँ अनेक विद्वानों ने की हैं परन्तु इस श्लोक में आये हुए 'नीति' शब्द के अर्थ में कोई वैमत्य लक्षित नहीं होता। स्वामी शंकराचार्य ने नीति शब्द को ज्यों-का-त्यों रहने दिया है।[२] आनन्दगिरि और मधुसूदन ने 'नीति' का अर्थ ऐसा न्याय किया है जो जय के उपाय का प्रकाशक हो।[३] नीलकंठ और धनपति के मत में जय का साधन या हेतु ही नीति है।[४] श्रीधर ने सामादि उपायों को ही नीति कहा है।[५] गीता रहस्य के मराठी अनुवादक ने 'नीति' का अर्थ कूटनीति (डिप्लोमेसी)[६] महात्मा गांधी ने 'नीति'[७] और डॉ० राधाकृष्णन् ने विवेकपूर्ण नीति (वाइज पालिसी)[८] किया है।

इन टीकाकारों का साम्मत्य इसी बात को सिद्ध करता है कि यहाँ 'नीति' उस उपाय साधन या हेतु को कहा गया है, जिस से नरपति स्व शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ होते हैं और यह राजनीति का ही एक अंग है।

(२) नीति शब्द भगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में भी व्यवहृत हुआ है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥[९]

इस श्लोक की टीका में आनन्दगिरि तो मौन रहे हैं परन्तु शेष सभी आचार्यों ने नीति का अर्थ नय (नातिनय) किया है। लोकमान्य तिलक[१०] महात्मा गांधी[११] और डॉ० राधाकृष्णन्[१२] ने यहाँ नीति शब्द का अर्थ नीति अर्थात् सदाचार (मोरे

---

१ भगवद्गीता १०।३८

२ नीतिरस्मि जिगीषतां जेतुमिच्छताम् (शंकराचार्य) भगवद्गीता निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३६ ; पृष्ठ ४६१

३ नीतिर्न्यायो जयस्य जयोपायस्य प्रकाशक: (आनन्दगिरि) वही, पृष्ठ ४६१
नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशको ऽहमस्मि (मधुसूदन) वही पृष्ठ ४६१

४ जेतुमिच्छतां जयसाधनं नीतिरस्मि (नीलकंठ) वही पृष्ठ ४६१
जेतुमिच्छतां जयहेतुर्नीतिरहम् (धनपति) वही पृष्ठ ४६१

५. सामाद्युपायरूपा नीतिरस्मि (श्रीधर) वही पृष्ठ ४६१

६ गीतारहस्य का मराठी सीताराम कृत अंग्रेजी अनुवाद, पूना, १९३६ भाग २ पृष्ठ १०७०

७ महात्मा गांधी अनासक्तियोग नई दिल्ली, १९४४ पृष्ठ १४६

८. डा राधाकृष्णन् भगवद्गीता लंदन १९४९, पृष्ठ २६७

९. भगवद्गीता १८।७८ ॥

१० तिलक गीता रहस्य अंग्रेजी अनुवाद, भाग २, पृष्ठ १२०९

११ गांधी, अनासक्तियोग; पृष्ठ २४२

१२ राधाकृष्णन्, भगवद्गीता (लंदन, १९४९ ई०) पृष्ठ ३८३

उपर्युक्त अवतरणों तथा उनकी प्रामाणिक टीकाओं से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अभिजात संस्कृत साहित्य में 'नीति' शब्द निम्नांकित अर्थों का प्रकाशक है—

१—कूटनीति
२—संधिविग्रहादि षाड्गुण्यमयी राजनीति
३—विवेकपूर्वक कार्य-विधि
४—अपनी उन्नति शत्रु की अवनति
५—कार्य-साधक उपाय अथवा युक्ति

उपर्युक्त अर्थपञ्चक पर गम्भीर दृक्पात करने से ज्ञात होता है कि प्रथम तथा द्वितीय अर्थ राजनीति के अन्तर्भूत हो जाते हैं और तृतीय तथा पंचम अर्थ उचित व्यवहार के। चतुर्थ अर्थ वस्तुतः नीति का अर्थ न होकर लक्ष्यमात्र है जो नीति का साध्य है। इस प्रकार नीति के दो ही अर्थ शेष रहते हैं—राजनीति और उचित व्यवहार। इनमें भी द्वितीय अर्थ ही इस प्रबन्ध का विवेच्य विषय है।

संस्कृत के नीति-साहित्य में 'नीति' के अर्थ

पीछे उन्हीं ग्रन्थों में प्रयुक्त नीति शब्द के अर्थ स्पष्ट करने का यत्न किया गया है जिनकी रचना तो हुई थी किसी अन्य उद्देश्य से परन्तु जिनमें नीति शब्द व्यवहृत हुआ प्रसंग-वश। अब नीति शब्द का आशय उन ग्रन्थों में देखना समीचीन होगा जिनकी रचना का लक्ष्य ही नीति प्रतिपादन था।

प्रख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य के नाम से तीन पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—"कौटिल्यार्थशास्त्र, चाणक्य-सूत्र और चाणक्य-नीति। 'कौटिल्यार्थशास्त्र' में कहा गया है—

'नयानयौ दण्डनीत्याम्'[1]

अर्थात् राजा को उचित तथा अनुचित व्यवहार[2] की शिक्षा दण्डनीति से ग्रहण करनी चाहिए।

चाणक्य-सूत्र में कुल ५७१ सूत्र हैं। कुछ सूत्रों में नीति शब्द निस्सन्देह राजनीति का वाचक है परन्तु एक सूत्र में वह सामान्य नीति का द्योतक है। जैसे—

(क) 'राज्यतंत्रायत्तं नीतिशास्त्रम्'[3]

---

१ सं०—शाम शास्त्री, कौटिलीयमर्थशास्त्रम् (मैसूर, १९२४ ई०) अधिकरण १, अध्याय २।

२ नयानयौ—एक्सपीडिएंट एंड इनएक्सपीडिएंट। कौटिलीयमर्थशास्त्रम् का शाम शास्त्री कृत अंग्रेजी अनुवाद (मैसूर, १९२९ ई०) पृष्ठ ९

३ कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् के परिशिष्ट में 'चाणक्यसूत्रम्', सूत्र ४१

२—भारवि ने किरातार्जुनीय में 'नय' शब्द को अनेकशः व्यवहृत किया है। उसके टीकाकार मल्लिनाथ ने अधिकतर स्थलों पर तो 'नय' का अर्थ 'नीति' किया है पर कहीं-कहीं 'राजनीति' तथा 'विवेकपूर्वक कृत कार्य' भी किया है। जैसे, दुर्योधन की गतिविधि का रहस्य जानने के लिए प्रेषित वनवासी किरात लौटकर युधिष्ठिर को सूचित करता है—

तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ।[1]

'यह आपका ही प्रभाव है जिससे मैंने शत्रुओं के रहस्यमय संधिविग्रहादि छह गुणों के प्रयोग[2] को जान लिया है।'

भारवि अन्यत्र कहते हैं—शरीर का अलंकार पवित्र ज्ञान है, पवित्र ज्ञान का अलंकार शान्ति है, शान्ति का अलंकार पराक्रम और पराक्रम का अलंकार विवेक-पूर्वक कार्य-विधि द्वारा सिद्धि-प्राप्ति है।[3]

३—माघ ने शिशुपालवध में—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।[4]

कहकर अपनी वृद्धि और शत्रु की हानि को ही नीति का सार कहा है।

४—श्रीहर्ष-कृत 'नैषध चरित' महाकाव्य में 'न्याय्य व्यवहार' के अर्थ में नीति शब्द का प्रयोग हुआ है। जब नल इन्द्र के कपट को ताड़ गया तब उसने—

आचरत्सु विबुधाधम वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।[5]

कपट के अनुरूप ही वाणी का प्रयोग किया क्योंकि कुटिलों से ऋजुता का व्यवहार नीति नहीं अपितु कपटी के प्रति कपटी होना ही न्याय (नीति) है।'

५—भवभूति-विरचित 'मालतीमाधव' नाटक में 'नीति' शब्द कार्यसाधक उपाय[6] तथा कूटनीति[7] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

---

१ भारवि किरातार्जुनीय, १।६

२ नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोग, किरातार्जुनीय, १।६ पर मल्लिनाथ की टीका।

३ शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः। (किरात० २।३२)
मल्लिनाथ की व्याख्या—स पराक्रमः नयापादिता नीतिसंपादिता, विवेकपूर्वकेति यावत्।

४ माघ शिशुपालवध २।३०, मल्लिनाथ टीका—आत्मनः उदयो वृद्धिः परस्य शत्रोः ज्यानिर्हानिः, इति द्वयम्, इयती एतावती, नीतिर्नीतिसंग्रहः।

५. श्री हर्ष, नैषधचरित, ५।१०३ तथा उस पर नारायण की टीका।

६. अस्त्यारोढुं विषमतनु वा भवतीनीतिविपर्ययं तु वा। सं०—एम० आर० काले, मालती-माधव बंबई १६२८ ई० ५।१; नीति=उपायाः।

७ वयस्य कथं भगवत्याः सुमेधसो नीतिः विपर्यस्यति। वही, ५।३ के नीचे। नीति=डिप्लोमेसी।

उपर्युक्त अवतरणों तथा उनकी प्रामाणिक टीकाओं से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अभिजात संस्कृत साहित्य में 'नीति' शब्द निम्नांकित अर्थों का प्रकाशक है—

१—कूटनीति
२—संधिविग्रहादि षाड्गुण्यमयी राजनीति
३—विवेकपूर्वक कार्य-निर्णय
४—अपनी उन्नति शत्रु की अवनति
५—न्याय-साधक उपाय अथवा युक्ति

उपर्युक्त अर्थपंचक पर गम्भीर दृक्पात करने से ज्ञात होता है कि प्रथम तथा द्वितीय अर्थ राजनीति के अन्तर्भूत हो जाते हैं और तृतीय तथा पंचम अर्थ उचित व्यवहार के। चतुर्थ अर्थ वस्तुतः नीति का अर्थ न होकर लक्ष्यमात्र है जो नीति का साध्य है। इस प्रकार नीति के दो ही अर्थ शेष रहते हैं—राजनीति और उचित व्यवहार। इनमें भी द्वितीय अर्थ ही इस प्रबन्ध का विवेच्य विषय है।

संस्कृत के नीति-साहित्य में 'नीति' के अर्थ

पीछे उन्हीं ग्रन्थों में प्रयुक्त नीति शब्द के अर्थ स्पष्ट करने का यत्न किया गया है जिनकी रचना तो हुई थी किसी अन्य उद्देश्य से परन्तु जिनमें नीति शब्द व्यवहृत हुआ प्रसंग-वश। अब नीति शब्द का वाच्य उन ग्रन्थों में देखना समीचीन होगा जिनकी रचना का लक्ष्य ही नीति प्रतिपादन था।

प्रख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य के नाम से तीन पुस्तकें उपलब्ध होती हैं—"कौटिल्यार्थशास्त्र' चाणक्य-सूत्र और चाणक्य नीति। 'कौटिल्यार्थशास्त्र' में कहा गया है—

'नयानयौ दण्डनीत्याः'[1]

अर्थात् राजा को उचित तथा अनुचित व्यवहार[2] की शिक्षा दण्डनीति से ग्रहण करनी चाहिए।

चाणक्य-सूत्र में कुल ५७१ सूत्र हैं। कुछ सूत्रों में नीति शब्द निस्सन्देह राजनीति का वाचक है परन्तु एक सूत्र में वह सामान्य नीति का द्योतक है। जैसे—

(क) 'राज्यतंत्रायत्तं नीतिशास्त्रम्'[3]

---

१ सं०—शाम शास्त्री, कौटिलीयमर्थशास्त्रम् (मैसूर, १९२४ ई०) अधिकरण १, अध्याय ५।

२ नयानयौ=एक्सपीडियंट एंड इनएक्सपीडियंट। कौटिलीयमर्थशास्त्रम् का शाम शास्त्री कृत अंग्रेज़ी अनुवाद (मैसूर १९२९ ई०) पृष्ठ ९

३ कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् के परिशिष्ट में 'चाणक्यसूत्रम्', सूत्र ४१

(ख) 'नीतिसम्पन्नायुक्तो राजा'[१]

(ग) 'नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत्'[२]

इनमें से पहले दो सूत्रों में 'नीति' राजनीति का और तीसरे में सामान्य नीति का अर्थ देता है। यहाँ यह बात लक्ष्य करने की है कि यद्यपि इस सूत्रग्रन्थ का नामान्तर 'चाणक्य राजसूत्र'[३] भी मिलता है तो भी इसमें सैकड़ों सूत्र सामान्य नीति के हैं। जैसे—

न मीमांस्या गुरवः[४]; विद्यायत्तो बुद्धिविनाशो[५] आदि।

'चाणक्यनीति' सम्भवतः प्राचीनतम पुस्तक है जिसके नाम का नीतिशब्द सामान्य नीति या लोकव्यवहार का वाचक है। इसमें राजनीति के श्लोक नाम-मात्र हैं और इसकी रचना भी राजकुमारों के हितार्थ नहीं 'लोकानां हितकाम्यया'[६] हुई थी।

'शुक्र नीति' के कुल चार अध्यायों में से तृतीय अध्याय का विषय सामान्य नीति है। इस ग्रन्थ में 'नीति' शब्द 'राजनीति' तथा साधारण व्यवहार दोनों का बोधक है। जैसे—

अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः।[७]   (राजनीति)

अथ साधारणं नीतिशास्त्रं सर्वेषु बोध्यते।[८]   (सामान्यनीति)

भर्तृहरि के "नीतिशतक" का विषय निर्विवादरूप से सामान्य नीति है। इसमें—

(क) नीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम्।[९]

(ख) निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।[१०]

में उपलभ्यमान "नय" और "नीति" शब्द क्रमशः सविवेक व्यवहार तथा लोकोचित व्यवहार के अर्थ में आए हैं।

---

१ वही, सूत्र ४८
२ वही, सूत्र ११२
३ चाणक्यराजसूत्रं, प्र०—आर्य प्रकाशन मण्डल लाजपतराय मार्केट दिल्ली।
४ चाणक्य सूत्र, सूत्र ४१२
५. वही सूत्र ४४०
६. चाणक्यनीतिदर्पण, प्र०—गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा; प्रथम संस्करण; अध्याय १ पद्य १।
७ अनु०—मिहिरचन्द्र, शुक्रनीति; वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई १९८२ वि० ३।६
८. वही, ३।१
९. सं०—डी० डी० कोसाम्बी, शतकत्रयम् भारतीय विद्याभवन बम्बई, १९४८ ई० पृष्ठ ११, पद्य १८। संस्कृत टीका 'नयो नीतिः'।
१० वही पृष्ठ ४४।७४। संस्कृत टीका—नीतिनिपुणाः नयविचारकाः।

पंचतन्त्र[1] और हितोपदेश[2] को इन ग्रन्थों में भी 'नीतिशास्त्र'' कहा गया है। यद्यपि इनकी रचना विवेकहीन और उन्मार्गगामी नृपकुमारों के शिक्षार्थ की गई थी तो भी प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ये सामान्य नीति से परिपूर्ण हैं। यही कारण है कि राजाओं ने इन्हें जनता में भी प्रचारित किया। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि नीतिशास्त्रों में सामान्य व्यवहार राजनीति से मिश्रित रहता था। सोमदेव के सूत्रात्मक ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत'' के विषय में भी यह बात सर्वथा सत्य है।[3] यद्यपि उशना और बृहस्पति के सुविख्यात अर्थशास्त्र आज कहीं उपलब्ध नहीं होते तो भी उनके आदिम श्लोकों को 'नीतिवाक्यामृत' के एक अज्ञातनामा टीकाकार ने उद्धृत किया था। उनसे यह तो ज्ञात होता है कि उनकी रचना राजाओं के सुख के लिए हुई थी परन्तु निश्चित रूप से यह बताना असम्भव है कि उनमें भी सामान्य नीति का मिश्रण था या नहीं। चूँकि उक्त टीकाकार ने लिखा है कि 'नीतिवाक्यामृत' प्रायः संग्रहात्मक ग्रन्थ है जो उन तथा अन्य नीति-शास्त्रों पर अवलम्बित है, अतः सम्भावना यही है कि नीति के उन नामशेष अज्ञात ग्रन्थों में भी नीतिवाक्यामृत के समान राजनीति व सामान्य नीति मिश्रित रही होगी।

डा॰ द्विवेदी ने नीतिमंजरी नामक लोकव्यवहार-शिक्षक ग्रन्थ में 'एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः'[4] इन शब्दों में काम करने की उचित रीति को ही नीति कहा है।

चौदहवीं से अठारहवीं शती तक 'राजनीतिरत्नाकर' 'राजनीति मयूख' आदि ग्रन्थों की रचना हुई, जिनका विषय जैसा कि नामों से ही स्पष्ट है राजनीति है, सामान्य नीति नहीं।

उक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—नीति-परक ग्रन्थों में नीति शब्द राजनीति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और सामान्य नीति के अर्थ में भी।

२—नीति-विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थ राजाओं की शिक्षा के लिए लिखे गए।

३—उन ग्रन्थों में प्रसंगवश लोकव्यवहार की भी प्रचुर सामग्री आ गई है।

४—परवर्ती काल में प्रायः सामान्य नीति के लिए नीति शब्द और राजनीति के लिए राजनीति शब्द प्रचलित हो गया।

---

१ अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च। न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन। पंचतन्त्र पण्डित पुस्तकालय काशी, १९५२ ई॰ पृष्ठ ६।१०।

२ हितोपदेश निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई १९४९ ई॰ प्रस्ताविका, पृष्ठ २१।

३ [illegible] इन ए मिरसबर आफ एथिक्स एण्ड पालिटिक्स—के॰ पी॰ जायसवाल, हिन्दू पालिटी, बंगलौर १९५५ ई॰ पृष्ठ ५।

४ डा॰ द्विवेदी नीतिमंजरी; (प्र॰—हरिहरमंडल, काल भैरव, वाराणसी १९१२ ई॰) पृ॰ १।

(ख) 'नीतिशास्त्रानुगो राजा'[1]

(ग) 'नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत्'[2]

इनमें से पहले दो सूत्रों में 'नीति' राजनीति का और तीसरे में सामान्य नीति का अर्थ देता है। यहाँ यह बात लक्ष्य करने की है कि यद्यपि इस सूत्रग्रन्थ का नामान्तर 'चाणक्य राजसूत्र'[3] भी मिलता है तो भी इसमें सैकड़ों सूत्र सामान्य नीति के हैं। जैसे—

न मीमांस्या गुरवः[4] जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ[5] आदि।

'चाणक्यनीति' सम्भवतः प्राचीनतम पुस्तक है जिसके नाम का नीतिशब्द सामान्य नीति या लोकव्यवहार का वाचक है। इसमें राजनीति के श्लोक नाम-मात्र हैं और इसकी रचना भी राजकुमारों के हितार्थ नहीं 'लोकानां हितकाम्यया'[6] हुई थी।

'शुक्र नीति' के कुल चार अध्यायों में से तृतीय अध्याय का विषय सामान्य नीति है। इस ग्रन्थ में 'नीति' शब्द 'राजनीति' तथा साधारण व्यवहार दोनों का बोधक है। जैसे—

अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः।[7] (राजनीति)

अथ साधारणं नीतिशास्त्रं सर्वेषु चोच्यते।[8] (सामान्यनीति)

भर्तृहरि के 'नीतिशतक' का विषय निर्विवादरूप से सामान्य नीति है। उसमें—

(क) प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम्।[9]

(ख) निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।[10]

में उपलभ्यमान 'नय' और 'नीति' शब्द क्रमशः सविवेक व्यवहार तथा लोकोचित व्यवहार के अर्थ में आए हैं।

---

१ वही, सूत्र ४८

२ वही सूत्र ११२

३ चाणक्यराजसूत्रं, प्र०—आर्य प्रकाशन मण्डल, लाजपतराय मार्केट दिल्ली।

४ चाणक्य सूत्र सूत्र ४११

५. वही, सूत्र ४४०

६. चाणक्यनीतिदर्पण प्र०—गोवर्धन पुस्तकालय, मथुरा; प्रथम संस्करण अध्याय १ पद्य २।

७ सम्पा०—मिहिरचन्द्र शुक्रनीतिः; वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, १९८२ वि० १।१

८. वही ३।१

९. सं०—डी० डी० कोसम्बी, शतकत्रयम् भारतीय विद्याभवन बम्बई, १९४९ ई० पृष्ठ १९, पद्य १८। संस्कृत टीका 'नयो नीतिः'।

१० वही पृष्ठ ४४/७४। संस्कृत टीका—नीतिनिपुणाः नयविशारदाः।

पंचतन्त्र[1] और हितोपदेश[2] को इन ग्रन्थों में भी 'नीतिशास्त्र' कहा गया है। यद्यपि इनकी रचना विवेकहीन और उन्मार्गगामी नृपकुमारों के शिक्षार्थ की गई थी तो भी प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ये सामान्य नीति से प्रपूर्ण हैं। यही कारण है कि राजाओं ने इन्हें जनता में भी प्रचारित किया। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि नीतिशास्त्रों में सामान्य व्यवहार राजनीति से मिश्रित रहता था। सोमदेव के सूत्रात्मक ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' के विषय में भी यह बात सर्वथा सत्य है।[3] यद्यपि उशना और बृहस्पति के सुविख्यात अर्थशास्त्र आज कहीं उपलब्ध नहीं होते तो भी उनके आदिम श्लोकों को 'नीतिवाक्यामृत' के एक अज्ञातनामा टीकाकार ने उद्धृत किया था। उनसे यह तो ज्ञात होता है कि उनकी रचना राजाओं के सुख के लिए हुई थी परन्तु निश्चित रूप से यह बताना असम्भव है कि उनमें भी सामान्य नीति का निरूपण था या नहीं। चूंकि उक्त टीकाकार ने लिखा है कि 'नीतिवाक्यामृत' प्रायः संग्रहात्मक ग्रन्थ है जो उन तथा अन्य नीति-शास्त्रों पर अवलम्बित है, अतः सम्भावना यही है कि नीति के उन नामशेष प्रख्यात ग्रन्थों में भी नीतिवाक्यामृत के समान, राजनीति व सामान्य नीति मिश्रित रही होगी।

डा० द्विवेदी ने नीतिमंजरी नामक लोकव्यवहार-शिक्षक ग्रन्थ में 'एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः'[4] इन शब्दों में कार्य करने की उचित रीति को ही नीति कहा है।

चौदहवीं से अठारहवीं शती तक 'राजनीतिरत्नाकर' 'राजनीति मयूख' आदि ग्रन्थों की रचना हुई, जिनका विषय जैसा कि नामों से ही स्पष्ट है, राजनीति है, सामान्य नीति नहीं।

उक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं—

१—नीति-परक ग्रन्थों में नीति शब्द राजनीति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और सामान्य नीति के अर्थ में भी।

२—नीति-विषयक प्रारम्भिक ग्रन्थ राजाओं की शिक्षा के लिए लिखे गए।

३—इन ग्रन्थों में प्रसंगवश लोकव्यवहार की भी प्रचुर सामग्री आ गई है।

४—परवर्ती काल में प्रायः सामान्य नीति के लिए नीति शब्द और राजनीति के लिए राजनीति शब्द प्रचलित हो गया।

---

१ अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च। न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन। पंचतन्त्र पण्डित पुस्तकालय काशी, १९५२ ई० पृष्ठ १।१०।

२ हितोपदेश निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई १९४६ ई० प्रस्ताविका, पृष्ठ ११।

३ इट इज ए मिसलेनी आफ एथिक्स एण्ड पालिटिक्स—के० वी० रंगस्वामी आयंगर, हिन्दू पालिटी बंगलौर १९३५ ई० पृष्ठ ८।

४ डा० द्विवेदी नीतिमंजरी, (प्र०—हरिहरमंडल काल भैरव, वाराणसी १९३३ ई०) पृ० १।

हिन्दी साहित्य में नीति

हिन्दी के कवियों की कृतियों में 'नीति' शब्द का प्रयोग प्रायः उन्हीं अर्थों में हुआ है जिनमें पूर्ववर्ती साहित्य में। निम्नांकित कतिपय उदाहरणों से उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है—

१—परम सरोवर माँहि मीन मन रहत एक रस रीति ।
तुम निरगुन बाक पर आरत 'सूर' कौन यह नीति ॥[१]

सूरदास (उचित या न्याय्य व्यवहार)

२—धर्मधारि असि नीति श्रुति सम्मत सज्जन कहहिं ।
असि सीखहु सब प्रीति करिय जानि हित-परम-हित ॥[२]

तुलसीदास (धर्मसाधक व्यवहार)

३—सुनि सुग्रीवु कहु बचन अनीति । कस न राम तुम्ह राखहु नीति ।[३]

तुलसीदास (मर्यादा)

४—साम दाम अरु दंड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ।
नीति धर्म के चरन सुहाये । अस जिय जानि नाथ पहिं आये ॥[४]

तुलसीदास (राजनीति)

५—सेवक सदन स्वामि आगमनू । मंगल मूल अमंगल दमनू ।
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती । पठइअ काज नाथ असि नीती ॥[५]

तुलसीदास (प्रचलित लोकव्यवहार)

६—नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ।[६]

तुलसीदास (सदाचार)

७—नीति न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि ।
खाएँ खरचैं जौ जुरै तौ जोरियै करोरि ॥[७]

बिहारी (जीवनयापन का ढंग)

---

१ सं०—नंददुलारे वाजपेयी, सूर सागर, (ना० प्र० सभा, काशी, २००७ वि०) द्वितीय खंड पृ० १५१८ ।

२. सं०—श्यामसुन्दरदास, रामचरित मानस, इंडियन प्रेस प्रयाग; पृष्ठ १०११

३ वही पृ० ७०६

४ वही पृ० ८६१

५. वही, पृ० ३२५

६. वही पृ० ४६७

७ सतसई सप्तक पृ० १८।४८१

८—जो जैसो तिहुँ लखियें करियें नीति प्रकास।
कठिन काठ भेदै भ्रमर मृदु अरविन्द निवास॥[1]

वृन्द (पात्रानुसार व्यवहार)

९—सब नीतिन की नीति यह, राज रंक जो कोइ।
समय परखि के अनुसर, अंत सुखी वह होइ॥[2]

प्रताप कवि (समयानुकूल व्यवहार)

उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य अवतरणों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि हिन्दी के कवियों ने प्रायः निम्नलिखित अर्थों में 'नीति' शब्द प्रयुक्त किया है—

१—उचित व्यवहार (देशकालपात्रानुसार व्यवहार)
२—अर्थसाधक व्यवहार
३—प्रचलित व्यवहार
४—जीवनयापन की विधि
५—सदाचार
६—राजनीति

कोशों में 'नीति' के अर्थ—साहित्य रचना के पश्चात् कोशकार उपलब्ध साहित्य तथा शब्दों के प्रचलित अर्थों के आधार पर कोश-संकलन किया करते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी के कोशों में 'नीति' शब्द के जो अर्थ उपलब्ध होते हैं वे नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत-कोशों में 'नीति' शब्द के अर्थ—संस्कृत के विभिन्न कोशों में नीति शब्द जिन जिन अर्थों में व्यवहृत हुआ है प्रायः उन सभी का संग्रह वाचस्पत्य तथा शब्दार्थ चिन्तामणि नामक कोशों में कर दिया गया है। उक्त कोशों में 'नीति' के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं।[3]

१—शुक्रादि द्वारा उक्त राजविद्या (राजनीति)
२—उक्त शास्त्र (राजनीति के ग्रंथ)
३—प्रापण (प्राप्त करना, प्राप्त कराना)
४—नय (उचित व्यवहार)
५—शान्ति की अधिष्ठात्री देवी
६—(युद्ध में) जय का उपाय
७—साम दान आदि उपाय

---

१ वही पृ० १३१। ६८६

२ नागरी प्रचारिणी सभा काशी, याज्ञिक संग्रह ५७४।३१, पृ० १, दोहा १।

३ वाचस्पत्य कोश तथा शब्दार्थ चिन्तामणि कोश।

८—अर्थसाधक व्यवहार[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा सम्बन्ध चौथे तथा आठवें अर्थ से ही है। अर्थात् ऐसा व्यवहार जो देश-काल-पात्र के अनुकूल हो और अर्थ का साधक हो।

प्राकृत भाषाओं के कोषों[2] में 'णीइ' (नीति) शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये गए हैं—

१—राजनीति
२—व्यवहारविधि (समाज नीति)
३—न्याय
४—उचित व्यवहार

प्रस्तुत प्रबन्ध का विशेष सम्बन्ध उपर्युक्त अर्थों में से द्वितीय तथा चतुर्थ अर्थ ही है।

हिन्दी के कोषों[3] में नीति के प्रायः निम्नांकित अर्थ उपलब्ध होते हैं—

१—व्यवहार का ढंग।
२—कामसंचालन का आधारभूत सिद्धान्त।
३—लोक-व्यवहार के निर्वाह के लिए नियत किया गया आचार।
४—लोकाचरण की ऐसी पद्धति जिससे निज कल्याण हो और दूसरे को हानि न पहुँचे।
५—कार्य-विशेष की सिद्धि के लिए काम में लाई जाने वाली युक्ति।
६—चतुराई भरी चाल
७—औचित्य
८—योजना
९—किसी राष्ट्र या संस्था द्वारा स्वकार्य-संचालन के लिए नियत की गई कार्यपद्धति।
१०—ले जाने की क्रिया, भाव या ढंग।
११—राजनीति।
१२—प्राप्ति

---

१ नीति : (स्त्री०) नीयते उन्नीयते अर्थो अनया वा—नी+क्तिन् (वाचस्पत्य कोष १८७३ ई०)

२ १—गुलाबचन्द अर्द्ध मागधी कोष १९३० ई०
२—रत्नचन्द, „ १९२७ ई०
३—हरगोविन्ददास पाइअ-सद्द-महण्णवो कलकत्ता १९८२ वि०

३ १—हिन्दी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी सभा काशी
२—वृहद् हिन्दी कोष ज्ञानमण्डल, काशी।

१३—भेंट देना
१४—सम्बन्ध
१५—सहारा

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध उक्त प्रथम आठ अर्थों से ही है। गहरी दृष्टि से देखने पर ये आठों अर्थ उचित व्यवहार में अन्तर्भूत हो जाते हैं और यही अर्थ हमें भी अभीष्ट है।

(ख) नीति के प्रकार

उचित व्यवहार (कर्तव्य) का नाम नीति है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। परन्तु सर्वसाधारण के लिए व्यवहार के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करना कठिन है। सज्जन तो सदा यही चाहते हैं कि संसार भर के लोग स्वस्थ बुद्धिमान्, परिश्रमी, सदाचारी परोपकारी आदि बनें जिससे संसार स्वर्ग बन जाए। परन्तु पृथ्वी पर सज्जनों का ही नहीं दुर्जनों का भी निवास है। वे दूसरों के हितों की उपेक्षा कर जैसे-तैसे अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। यही कारण है कि विद्वानों को नीति के मुख्य दो भेद करने पड़े—सरल नीति और कुटिल नीति। सरल नीति को ऋजु नीति धर्म-नीति और शिव-नीति तथा कुटिल नीति को घोर-नीति और धाष्ट्र्य-नीति भी कहते हैं। सज्जनों के प्रति सरल नीति से चलना चाहिए और दुर्जनों के प्रति कुटिल नीति से।[1] इसी को दूसरे शब्दों में उचित व्यवहार कहते हैं।

ज्यों ही मनुष्य शैशव को पार करता है त्यों ही उसे कर्तव्य आ घेरते हैं और ऐसे घेरते हैं कि जब तक वह जीवित स्वतन्त्र और अनुमत्त रहता है तब तक उनसे मुक्त नहीं हो सकता। चूंकि ये कर्तव्य उसे अनेक रूपों में रहते हुए पालन करने पड़ते हैं अतः नीति को भी अनेक प्रकारों या भेदों में विभक्त किया जा सकता है। उक्त दृष्टि से नीति के निम्नलिखित सात प्रकार हैं —

१—वैयक्तिक
२—पारिवारिक
३—सामाजिक
४—धार्मिक

---

१ नीति प्रकार—नीतिर्द्विधेरिता धर्माद्धर्माधाम्यभेदतः।
अधर्माद्धर्मे संयक्तो द्विधा सा यथायथम् ॥
शिवा धर्मानुविद्धा स्याद् घोरा कौटिल्यगर्भिता।
साध्वाचारं साधुनेति न्यायाद् योज्या द्वयोर्द्वयोः ॥
(मुद्राराक्षस नाटक पर ढुंढिराज की टीका प्र०—निर्णयसागर प्रेस बम्बई १६१६ ई० उपोद्घात, पृष्ठ ४८ ४६)

५—राजनीति

६—इतर प्राणि-सम्बन्धी

७—मिश्रित

१—वैयक्तिक नीति—व्यक्ति समाज का अंग है। जिरले ही व्यक्ति निर्जन वन या गिरि-गुहा आदि में रहते हैं, शेष का जीवन तो समाज में ही व्यतीत होता है। चाहे कोई मानव वन-पर्वत में रहे या समाज में उसे सम्यक् जीवन-यापन के लिए कुछ वैयक्तिक कर्तव्यों का पालन करना ही होगा।

उन कर्तव्यों के निर्धारणार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) शरीर (ख) मन या बुद्धि (ग) आत्मा। इसी के आधार पर वैयक्तिक नीति के भी निम्नलिखित तीन उपभेद हैं—शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक नीति।

(क) शारीरिक नीति—जीवन में साफल्य-प्राप्ति के लिए स्वास्थ्य और पुष्टि नितान्त आवश्यक है। इसलिए नीरोग तथा हृष्ट-पुष्ट होने के लिए उचित खान-पान व्यायाम आदि की ओर पूरा ध्यान देना मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। भोजन व्यायामादि में जिन बातों का ध्यान रखना चाहिए, उन्हें भोजन तथा व्यायाम सम्बन्धी नीति कह सकते हैं, परन्तु इसमें अधिक विस्तार में जाना हमें अभीष्ट नहीं है।

(ख) मानसिक या बौद्धिक नीति—प्रायः बौद्धिक विकास के कारण ही मानव इतर प्राणी सृष्टि से उत्कृष्ट माना जाता है। इसलिए ज्ञान प्राप्ति द्वारा मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाकर जीवन को अधिकाधिक सुखी तथा समृद्ध बनाना उसका कर्तव्य हो जाता है। इसलिए अध्ययन-अवलोकनादि के विषय मात्रा और विधि की ओर सतर्क रहना प्रत्येक धीमान् मानव के लिए आवश्यक है।

(ग) आत्मिक नीति—शरीर और बुद्धि के वैभव से युक्त होने पर भी जो मनुष्य आत्मिक गुणों से हीन होता है वह अपने तथा समाज के लिए अभिशाप-रूप हो जाता है। हृष्ट-पुष्ट और बुद्धिमान् लोग भी चरित्र-हीन होने की दशा में उपद्रव चोर डाकू बन सकते हैं। इसलिए व्यक्तित्व के सद् विकास के लिए मानव का कर्तव्य हो जाता है कि वह काम क्रोध आदि दोषों को नियन्त्रण में रखे तथा वीरता उदारता जितेन्द्रियता आदि गुण धारण करके बाल्य यौवन तथा वार्धक्य में अपने कर्तव्यों का पालन करे।

२—पारिवारिक नीति—बालक परिवार में जन्म लेता है और वहीं पालित पोषित होता है। वहीं पर वह माता-पिता आदि गुरु-जनों बहिन भाइयों तथा पड़ोसियों से उचित व्यवहार करने के प्रथम पाठ ग्रहण करता है। गृहस्थ बनने पर वह अपने परिवार का निर्माण करता है। तब उपर्युक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त पत्नी सन्तान तथा अन्य परिजनों से भी उचित व्यवहार करके ही वह जीवन-यात्रा को सफल बना सकता है। इन सम्बन्धियों से उचित व्यवहार को पारिवारिक नीति

रहते हैं।

३ सामाजिक नीति—प्रत्येक परिवार एक ऐसे विशाल मानव-समाज का अंग है जो अनेक धर्मों मतों वर्गों जातियों तथा उपजातियों में विभक्त है। सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए समय-समय पर अनेक नियमोपनियम बनते रहते हैं। प्रत्येक धर्म मत वर्ग जाति आदि के लोग अपने सधर्मियों सवर्णों आदि से एक प्रकार का व्यवहार करते हैं और विधर्मियों तथा भिन्न वर्ण वालों से दूसरे प्रकार का। इस प्रकार की नीति को हम सामाजिक नीति कह सकते हैं।

४ आर्थिक नीति—अर्थ (धन) के बिना सम्यक लोक-यात्रा असम्भव है। जन्म से मृत्यु-पर्यन्त आवश्यकताएं मानव को घेरे रहती हैं और जब तक वे अपूर्ण रहती हैं, मनुष्य दुःखित रहता है। उनकी पूर्ति के लिए अर्थ अनिवार्य है और अर्थ की प्राप्ति के लिए नीति परमावश्यक है। सच तो यह है कि नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र का ही एक अंग है। लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ मनुष्य का धनाढ्य होना असम्भव-सा है। धन का महत्त्व तज्जनित सुख-दुःख धन प्राप्ति के उपाय, धन का वितरण समाज के आर्थिक सम्बन्ध दान और उसके पात्रापात्र लोभ कृपणता याचक-निन्दा आदि आर्थिक नीति के अनेक अवान्तर भेद किये जा सकते हैं।

५ राजनीति—जब एक सामान्य गृहस्थ को सुचारुता से गृहस्थी चलाने के लिए पर्याप्त कौशल से काम लेना पड़ता है तब एक शासक को समस्त देश पर सुशासन करने तथा दूसरे देश के साथ सम्यक निर्वाह के लिए कितनी निपुणता की आवश्यकता होती है, यह कहना अनावश्यक है।

शासक और मन्त्रियों को स्वदेश की रक्षा, शान्ति तथा हर प्रकार के अभ्युदय के लिए पग-पग पर नीति-निर्धारण करना पड़ता है। सामान्य जन द्वारा की गई नीति की भूल तो प्रायः उसी व्यक्ति या उसके परिवार का अनिष्ट करती है परन्तु राजनीति की भूल तो सारे राष्ट्र को धूल में मिला देती है। साम दाम दण्ड और भेद नामक उपाय तथा सन्धि विग्रह यान, आसन, संश्रय द्वैधीभाव नामक षड्गुण राजनीति के प्रसिद्ध अंग हैं।

६ इतर-प्राणि-सम्बन्धी नीति—जो मनुष्य जितना ही शिष्ट-सभ्य होता है वह उतना ही दूसरों के सुख-दुःख में सहानुभूति प्रदर्शित करता है। असभ्य मनुष्य मानुषिक मांस को भी भक्ष्य मानता था परन्तु नीतिमान् मानवों ने निरीह और उपकारक पशु पक्षियों को भी अपना अनुज माना है। इसलिए उनकी व्यर्थ *हिंसा* को अनैतिक कार्य माना जाता है। इनसे सम्बन्धित व्यवहार को इतर प्राणि-सम्बन्धी नीति कह सकते हैं।

७ मिश्रित नीति—मनुष्य प्रायः अपने ग्राम या नगर में रहता है परन्तु उसकी दृष्टि वहीं तक सीमित नहीं होती। वह अपने व्यवहार में उन्हीं के हितों का ध्यान नहीं रखता। कभी-कभी स्व-प्रान्त और पर प्रान्त स्वदेश तथा विदेश इह लोक तथा

परलोक का भी ध्यान रख लेता है। समय भी परिवर्तित होता रहता है और ऋतुएँ भी। प्रत्येक कार्य करने का कोई उचित समय या स्थान होता है। कुछ मनुष्य धर्म को प्रधान मानकर स्व कर्तव्य निश्चित करते हैं तो कुछ पुरुषार्थ को। इस प्रकार के विषयों को मिश्रित नीति की कोटि में समाविष्ट कर सकते हैं।

हमारा अभिप्रेत—उक्त सात प्रकार की नीतियों में से राजनीति का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है इसलिए हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में उसका विवेचन समीचीन नहीं समझा। शेष वैयक्तिक, पारिवारिक आदि छह नीतियाँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध जनसाधारण के सामान्य व्यवहार से है। इसलिए हमने अपने विवेचन क्षेत्र को उन्हीं तक सीमित रखा है।

(ग) नीतिकाव्य का काव्यत्व

दो आक्षेप—यदि इतना मान लिया जाय कि उचित व्यवहार का नाम नीति है तो इसे मानने में भी कोई विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए कि उचित व्यवहार के प्रतिपादक काव्य का नाम नीति-काव्य है। परन्तु कुछ लोग इस विचार से सहमत न होकर नीतिकाव्य के काव्यत्व पर दो आक्षेप करते हैं—

(१) नीति-काव्य पद्य या सूक्ति हो सकता है किन्तु काव्य नहीं।

(२) काव्य का प्रयोजन आह्लाद है नीति-काव्य का प्रयोजन कर्तव्य-निदर्शन, अतः नीति-काव्य काव्य नहीं।

प्रथम आक्षेप की परीक्षा—हम पहले पहले आक्षेप को लेते हैं। चूँकि पद्य सूक्ति और काव्य का स्वरूप सम्यक् समझे बिना इस आक्षेप का तात्पर्य अवगत नहीं हो सकता अतः पहले तीनों का भेद जान लेना चाहिए। ताल तुक लय, यति वर्ण मात्रा आदि छन्द के नियम पालन करने वाली रचना पद्य कही जाती है।[1] संक्षेप में कहें तो छन्दोबद्ध रचना-मात्र पद्य है। शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार आदि से उपेत उक्ति को सूक्ति कहते हैं। पद्य तथा सूक्ति में अन्तर यह है कि पद्य के लिए तो संगीत-तत्त्व अर्थात् छन्द अनिवार्य है परन्तु सूक्ति गद्य और पद्य दोनों में हो सकती है। पद्य अपने संगीत-तत्त्व के कारण श्रवण-नामक ज्ञानेन्द्रिय को ही आनन्दित करता है परन्तु सूक्ति जहाँ शब्द-चमत्कार के कारण कर्णमनोहर होती है वहाँ अर्थ चमत्कार आदि के कारण मस्तिष्क को भी प्रभावित करती है। जिस पद्य अर्थात् छन्दोबद्ध रचना में शब्द अर्थ आदि का कोई चमत्कार विद्यमान हो वह पद्य नहीं रहती सूक्ति पद की अधिकारिणी बन जाती है। जैसे पद्य और सूक्ति के स्वरूप के विषय में विद्वानों में वैमत्य नहीं है, वैसे ही काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। जिनमें दो-चार सहस्र

---

१ राजेन्द्र द्विवेदी साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश (आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली १९५५ ई०) पृ० १४०।

वर्षों में देश विदेश के असंख्य विद्वानों ने काव्य को विविध परिभाषाओं में सीमित करने का भरसक उद्योग किया परन्तु दृष्टिकोणों की विभिन्नता और काव्य की व्यापकता के कारण पूर्णतया सफल नहीं हुए। प्रत्येक आलोचक ने 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार काव्य-स्वरूप को समझा और "तुण्ड-तुण्ड सरस्वती" के अनुरूप उसकी परिभाषा बना दी। उन्होंने इतने पर ही संतोष नहीं किया अपनी पूर्ववर्तिनी परिभाषाओं के दोष भी दिखाये और अपनी परिभाषा को निर्दोष सिद्ध करने का यत्न भी किया। परन्तु जैसा व्यवहार उन्होंने पूर्ववर्ती विद्वानों से किया वैसा ही परवर्ती पंडितों से प्राप्त भी किया। इस प्रकार वाद विवाद तो पर्याप्त और पर्याप्त काल तक होता रहा परन्तु काव्य का स्वरूप यथेष्ट रूप से स्पष्ट न हुआ। सच तो यह है कि हृदय-संवेद्य विषयों को परिभाषा-बद्ध करना अति दुष्कर कार्य है। यही कारण है कि कविता-स्वरूप-विषयक प्रश्न के उत्तर में सेंट आगस्टाइन ने कहा था— यदि न पूछो तो जानता हूँ और पूछो तो नहीं जानता।[1] ✓

यहाँ कहा जा सकता है कि यद्यपि काव्य परिभाषा की पकड़ में सरलतया नहीं आता तथापि काव्य को अकाव्य से पृथक करने के लिए प्रचलित परिभाषाओं में से कोई-न-कोई माननी अथवा कोई नई बनानी पड़ेगी। यदि प्राचीनों से ही काम चल जाए तो नव-निर्माण निरर्थक होगा। इसलिए पहले प्राचीन परिभाषाओं पर ही दृष्टि पात करना उचित है।

हमें न भामह के काव्य-लक्षण "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[2] से संतोष होता है न रुद्रट के "ननु शब्दार्थौ काव्यम्"[3] से। कारण काव्य-लक्षण का निर्माण करते समय इनकी दृष्टि शब्द और अर्थ (काव्य का शरीर) के साहचर्य पर रही अन्दर आत्मा में न पैठ सकी। कला-पक्ष की ओर संकेत-मात्र तो निस्सन्देह हो गया पर भावपक्ष नितान्त उपेक्षित रह गया।

मम्मट के काव्य लक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"[4] का हेमचन्द्र ने "काव्यानुशासन"[5] में विद्यानाथ ने "प्रतापरुद्रयशोभूषण"[6] में और द्वितीय वाग्भट ने "काव्यानुशासन"[7] में तन्मय अनुकरण ही किया। इन सभी ने

१ गिरिजाप्रसाद शास्त्री कॉलिज करेंट एसेज [illegible] इम्पोरियल बुक डिपो (दिल्ली १९४५ ई०) पृ० २१८
२ भामह काव्यालंकार (चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी १९८५ वि०) १।१६
३ रुद्रट : काव्यालंकार (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९२८ ई०) २।१
४ मम्मट : काव्यप्रकाश (चौखम्बा विद्याभवन, १९५५ ई०) १।४
५ हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३४ ई०) पृ० १६
६ विद्यानाथ प्रतापरुद्रयशोभूषण (कन्हैयालाल पोद्दार संस्कृत साहित्य का इतिहास १९३८ ई० द्वितीय भाग पृ० २६ पर उद्धृत)।
७ द्वितीय वाग्भट काव्यानुशासन (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९१५ ई०) पृ० १४

दोष रहित गुण-सहित प्रायः अलंकृत शब्दार्थ को काव्य कहकर भामह और रुद्रट के लक्षणों की भांति व्याख्या ही कर दी है। इस लक्षण में कलापक्ष पर तो आचार्यों का ध्यान गया है परन्तु भाव-पक्ष का अभाव लक्षण को अपूर्ण ठहराता है।

कुछ आचार्यों ने काव्य के शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर आत्मा के अन्वेषण का उद्योग किया। आचार्य वामन ने "रीतिरात्मा काव्यस्य"[1] में रीति को काव्य की आत्मा, तथा "विशिष्टा पदरचना रीतिः"[2] और "विशेषो गुणात्मा"[3] कहकर गुण मंडित पद रचना को रीति स्वीकृत किया है।

निस्सन्देह इस लक्षण के निर्माण के समय आचार्य का ध्यान कलापक्ष की ओर इतना अधिक रहा कि भाव-पक्ष विस्मृत हो गया। इसके अतिरिक्त पद-संघटना को काव्य की आत्मा मानना भी उपयुक्त नहीं भले ही अभिव्यंजनावादी इसे अत्यधिक महत्त्व देते रहें। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"[4] कहकर प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा माना है। कहना न होगा कि प्रतीयमान अर्थ भी अर्थ का ही एक भेद है। अतः उनकी दृष्टि भी शब्दार्थ तक ही अवरुद्ध हो गई। यदि इसे काव्य-लक्षण माना जाय तो कहना पड़ेगा कि कलापक्ष आचार्य की दृष्टि से छूट गया।

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि आचार्य वामन तथा आनन्दवर्द्धन काव्य की परिभाषा नहीं प्रस्तुत कर रहे थे काव्य की आत्मा-मात्र की ओर संकेत कर रहे थे। भोजराज प्रथम वाग्भट तथा जयदेव के काव्य-लक्षणों में मम्मट हेमचन्द्र आदि के लक्षणों से कुछ विशेषता उपलब्ध होती है। भोजराज[5] ने काव्य-लक्षण में 'रस', को प्रथम[6] वाग्भट ने 'रस और रीति' को तथा जयदेव[7] ने 'रस, रीति और वृत्ति' को भी आवश्यक ठहरा दिया। माना कि इन आचार्यों की दृष्टि काव्य के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों रूपों पर गई थी परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि इनमें एक तो आह्लादक-तत्त्व पर अपेक्षित बल नहीं दिया गया और दूसरे पारिभाषिक शब्दावली से भरपूर होने के कारण ये लक्षण सुगम नहीं हैं।

विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[8] में काव्य की परिभाषा में रस को आत्मा कहकर एक महान् कार्य किया। यों तो रस के प्रति आदर भाव भरत के काल से चला आ रहा था परन्तु काव्य के लक्षण में उसे आत्मा का स्थान सर्वप्रथम विश्वनाथ

---

१ वामन काव्यालंकारसूत्र वृत्तिः (कलकत्ता १९२२ ई०) १।२।६
२ वही १।२।७
३ वही १।२।८
४ आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोक (चौखंभा संस्कृत सीरीज काशी १९४० ई०) १।१
५. भोजराज : सरस्वती कंठाभरण, (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५ ई०) १।२
६. प्रथम वाग्भट : वाग्भटालंकार (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३३ ई०) १।२
७ जयदेव चन्द्रालोक (प्र० गैसाड़ी लाल एण्ड संस काशी १९२४ ई०) १।७
८ विश्वनाथ साहित्यदर्पण (वाचस्पत्य यंत्र, कलकत्ता १९१४ ई०) १।३

ने ही दिया। परन्तु यह लक्षण भी अव्याप्ति दोष से युक्त है क्योंकि वस्तुगत ध्वनि अलंकारगत ध्वनि, तथा गुणीभूत व्यंग्य से युक्त रचनाएँ इसके अनुसार काव्य-कोटि से बहिष्कृत हो जाएँगी। दूसरे इस लक्षण में काव्य के भावपक्ष पर तो अपेक्षित बल विद्यमान है परन्तु कलापक्ष उपेक्षित रह गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-लक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"[1] का आशय यही है कि लोकोत्तर आनन्दप्रद अर्थ के प्रतिपादक शब्दों को काव्य कहते हैं। इसमें का रमणीयता-तत्त्व अपनी परिधि में वामन के सौन्दर्य, दण्डी के "इष्टार्थ, आनन्दवर्धन के 'लोकोत्तर आह्लाद' तथा काव्य-शास्त्र में बहुल प्रयुक्त 'चमत्कार' शब्द को अपनी परिधि में समाविष्ट कर लेता है। जहाँ 'सौन्दर्य' तथा "चमत्कार" शब्द काव्य के कलापक्ष के महत्त्व पर बल देते हैं, वहाँ 'लोकोत्तर आह्लाद' तथा 'रस' शब्द काव्य के भावपक्ष पर। परन्तु रमणीयता शब्द दोनों पक्षों का समान रूप से सूचक होने के कारण सब से अधिक उपयुक्त है।

पं० जगन्नाथ से पूर्व दिये गये काव्य-लक्षणों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) भामह और रुद्रट के लक्षणों में शब्द और अर्थ का संयोग-मात्र काव्य है इससे अधिक की वहाँ अपेक्षा नहीं।

(२) मम्मट हेमचन्द्र आदि के लक्षणों में निर्दोष सगुण तथा प्रायः अलंकृत शब्दार्थ को काव्य माना गया है परन्तु इनमें रसजन्य लोकोत्तराह्लादकता का स्पष्ट शब्दों में निर्देश नहीं।

(३) भोजराज, जयदेव आदि ने स्व-स्व काव्य-लक्षणों में रीति गुण, अलंकार, वृत्ति के साथ रस की गणना-मात्र का प्रयास कर दी है परन्तु रस के अपेक्षित प्राधान्य का निर्देश नहीं किया।

(४) आनन्दवर्धन कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि वक्रोक्ति तथा रस को काव्य की आत्मा कहकर काव्य-लक्षणों की ओर संकेत किया है परन्तु इनके लक्षण व्याख्यासापेक्ष होने के कारण सुगम नहीं हैं।

पं० जगन्नाथ का काव्य-लक्षण उपर्युक्त सभी दोषों से मुक्त है। वह शब्द और अर्थ के संयोगमात्र को काव्य नहीं कहता। वह रस या लोकोत्तर आनन्द की ओर स्पष्ट निर्देश ही नहीं करता उसे प्रधान स्थान भी देता है। वह पूर्णभूत व्यंग्य चित्र आदि काव्यभेदों को भी अन्तर्भूत कर लेता है जिन्हें आनन्दवर्धन और विश्वनाथ के लक्षण नहीं करते। वह रस अलंकार, गुण, रीति आदि पारिभाषिक शब्दों से नितान्त निर्मुक्त है। अतएव हम पण्डितराज जगन्नाथ के इस कथन से सहमत हैं कि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों को काव्य कहते हैं।

---

१ जगन्नाथ रसगंगाधर (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४७ ई०) पृ० ४

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि छन्दोबद्ध रचना को पद्य चमत्कारी रचना को सूक्ति तथा राग-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व के सहज समन्वय से चम्य आह्लाद प्रदान करने वाली रचना को काव्य कहते हैं। यदि इन परिभाषाओं को स्वीकृत कर लिया जाय तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि अन्य-विषयक रचनाओं के समान नीति-रचनायें भी पद्य, सूक्ति तथा काव्य तीनों हो सकती हैं। जब वे छन्दोबद्ध मात्र होंगी तब पद्य जब कुछ चमत्कारयुक्त होंगी तब सूक्तियाँ और जब रागतत्त्व तथा कल्पनातत्त्व के प्राधान्य के कारण आनन्ददायक होंगी तब काव्य कहलाएँगी। नीचे तीनों के उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत किये जाते हैं—

कहूँ अनादर पाय के, गुनी न करो प्रवेस ।
विद्या है तो करहिये सब कोउ आदेस ॥[1]

इस दोहे में वृन्द कवि ने अनुभव और उपदेश की बात कही है। संसार में कभी-कभी गुणी या विद्वान् व्यक्ति का अनादर भी हो जाता है परन्तु सब मिलाकर देखा जाय तो लोग उसके श्रद्धालु तथा आज्ञानुवर्ती ही होते हैं। इन शब्दों में वृन्द ने उस यथाचित्त अनादर की उपेक्षा तथा सतत विद्योपार्जन करने की प्रेरणा की है। परन्तु इस कथन में दोहे की लय के अतिरिक्त अन्य कोई चमत्कार दिखाई नहीं देता। बात सीधी-सादी है छन्द में कह दी गई है, अतः इसे पद्य या छन्दोबद्ध उक्तिमात्र कहना ही उपयुक्त है। अब सूक्ति को लीजिए—

आदि अन्त 'मथुरा' बरन धरै बिलोम न कोय ।
मध्यम अक्षर तासु मुख-अन्त करो सब कोय ॥[2]

इस दृष्टकूट दोहे का अर्थ यह है कि जो मनुष्य "मथुरा" शब्द के आदिम तथा अन्तिम अक्षरों (म रा) को उलट कर (रा म) नहीं जपता उसके मुख में सब लोग 'मथुरा' का मध्यम अक्षर (थु) करें। भाव यह है कि राम-नाम न जपने वाले व्यक्ति के मुह में थूकें। परन्तु कवि ने इस भाव को सरल रीति से न कहकर चमत्कारी रीति से कहा है। यह चमत्कार "मथुरा" शब्द के अक्षरों पर आधृत है। सकृत् पठन से अर्थ अवगत नहीं होता पर जब माथापच्ची करने पर स्पष्ट होता है तब हम कवि-बुद्धि के चमत्कार की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह रचना वाग्वैदग्ध्य के कारण पद्य-मात्र नहीं है, चमत्कार-युक्त होने के कारण सूक्ति है। अब नीति के काव्य का उदाहरण देखें—

---

१ सं० श्यामसुन्दरदास सतसई सप्तक (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग १९३१) पृ० ३९९, वृन्दसतसई दोहा ४२७

२ अर्जुनदास केडिया : भारतीभूषण (भारतीभूषण कार्यालय, काशी, १९८७ वि०) पृ० ४६

रहिमन अँसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ॥[1]

हम लोग कभी-कभी स्वयं भी रोते हैं और कभी-कभी दूसरों को भी आँसू बहाते हुए देखते हैं, किन्तु अधिकांश में ये घटनायें हमारे हृदयों को वैसे प्रभावित नहीं करतीं जैसे कवियों के, भावुकहृदयों के। रहीम ने नेत्रों से आँसू निकलता देखा और एक सुन्दर नैतिक परिणाम निकाल लिया। वह यह कि जिसे घर से निकालोगे वह तुम्हारे सब रहस्य खोल देगा और उसकी बात जो अधिक मार्मिक है वह सहृदय संवेद्य रहने दी कि भेद प्रकट हो जाने पर तुम्हारी दशा क्या होगी जो विभीषण को निर्वासित कर देने पर रावण की हुई थी। इस आशंका के भाव को कवि ने अभिव्यक्त नहीं किया व्यंग्य ही रहने दिया और इसी कारण यह दोहा और भी सहृदयाह्लादक बन नीति का सच्चा-खरा काव्य बन गया है।

इस प्रकार हमने देखा कि नीति की बात पद्य में भी कही जा सकती है, सूक्ति में भी काव्य में भी। कवि यदि उत्तम होगा तो नीति-काव्य का प्रणयन हो जायगा मध्यम होगा तो नीति-सूक्तियों का और सामान्य होगा तो नीति-पद्यों का। सिद्धान्त रूप से इस कथन में कोई सार नहीं कि नीति विषयक काव्य हो ही नहीं सकता।

द्वितीय आक्षेप की परीक्षा—द्वितीय आक्षेप यह है कि काव्य का प्रयोजन आह्लाद है नीतिकाव्य का व्यवहारोपदेश इसलिए तथाकथित नीतिकाव्य काव्यपद का अधिकारी नहीं। चूँकि इस आक्षेप का सम्बन्ध काव्य के प्रयोजन से है, इसलिए पहले इसी पर विचार कर लिया जाय।

भारतीय आचार्यों का मत—इस विषय में भारतीय आचार्यों में वैसा वैमत्य नहीं है जैसा काव्यस्वरूप के सम्बन्ध में ऊपर दिखाया गया है। नाट्याचार्य भरत का वचन है कि

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि-विवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥[2]

"नाट्य (काव्य) धर्म यश, आयु हित बुद्धि तथा लोकोपदेश देने वाला होगा।" भामह ने सुकाव्य रचना के प्रयोजन निम्नलिखित पद्य में बताये हैं—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥[3]

---

१ सं० ब्रजरत्नदास: रहिमन विलास (प्र० रामनारायण लाल प्रयाग १९८७ वि०) पृष्ठ १८।१७२
२ भरत: नाट्यशास्त्र चौखंभा संस्कृत सीरीज काशी, १।११२–११४
३ भामह: काव्यालंकार १।२

आशय यह कि सुन्दर काव्य का प्रणयन धर्मार्थकाममोक्ष-रूप चतुर्वर्ग फलप्राप्ति, कलाओं में निपुणता, कीर्ति और प्रीति (आनन्द) का देने वाला है। रुद्रट वामन भोज कुन्तक आदि आचार्यों के काव्य प्रयोजन भी लगभग इसी प्रकार के हैं। आचार्य मम्मट ने तो मानो पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-प्रयोजनों की सूची को—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[1]

इस एक श्लोक में समाहृत कर दिया है। उसका भाव यह है कि काव्य यश अर्थ (सम्पत्ति) व्यवहारज्ञान अमंगलनाश तत्काल लोकोत्तर आनन्द तथा कान्तासंमित उपदेश के लिए होता है। उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि भारतीय आचार्यों के मत में काव्य का प्रयोजन आह्लादमात्र नहीं है। वहाँ उससे धर्म अर्थ काम मोक्ष यश आयु बुद्धि कला-कौशल मंगल आदि की प्राप्ति होती है वहाँ लोकोपदेश तथा व्यवहारज्ञान भी उपलब्ध होता है। ये लोकोपदेश तथा व्यवहारज्ञान नीति के ही नामान्तर हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक उपदेश भी काव्य के प्रयोजनों में से एक है।

विदेशीय विद्वानों का मत—यह तो हुआ भारतीय आचार्यों का मत अब कतिपय विदेशीय आलोचकों के मन्तव्य भी द्रष्टव्य हैं। सर फिलिप सिडनी काव्य के लक्षण तथा प्रयोजन एक ही वाक्य में यों कहते हैं— काव्य अनुकरण की एक कला है। रूपकमयी भाषा में कहें तो एक बोलता चित्र है, जिस का लक्ष्य शिक्षा तथा आनन्द देना है।[2] इस उद्धरण में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शिक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है और "आह्लाद" को द्वितीय। ड्राइडन का मत इससे सर्वथा भिन्न है। उनके विचार में यदि आनन्द काव्य का एकमात्र लक्ष्य नहीं तो मुख्य लक्ष्य तो है ही उसमें शिक्षा को स्थान मिल सकता है परन्तु द्वितीय क्योंकि काव्य आनन्द देते हुए ही शिक्षा देता है।[3] तात्पर्य यह है कि ड्राइडन काव्य में शिक्षा की सत्ता अनिवार्य नहीं मानते। उनके मत में आनन्द ही काव्य का एकमात्र अथवा प्रधान प्रयोजन है उसमें शिक्षा यदि होगी भी तो उस का स्थान सर्वथा गौण रहेगा। इस

१ मम्मट: काव्यप्रकाश १।२

२ पोएट्री इज ऐन आर्ट आफ इमिटेशन—टु स्पीक मैटाफोरिकली ए स्पीकिंग पिक्चर: विद दिस एंड टु टीच एंड डीलाइट—सर फिलिप सिडनी: ऐन एपालोजी फार पोएट्री; ए० सी० एस० पृ० ४८

३ "(डीलाइट) इज दि चीफ इफ नाट दि ओन्ली एंड आफ पोएट्री इन्स्ट्रक्शन कैन बी एडमिटेड बट इन दि सेकण्ड प्लेस फार पोएट्री ओन्ली इन्स्ट्रक्ट्स ऐज इट डीलाइट्स" वे० ड्राइडन: डीफेंस आफ ऐन एसे आफ ड्रामेटिक पोएट्री ए० सी० एस० पृ० ५१

प्रकार इनका मत सिडनी के मत से सर्वथा भिन्न है। जानसन काव्य-प्रयोजन के विषय में अपना मत इन शब्दों में व्यक्त करते हैं— "लेखन का लक्ष्य है शिक्षा देना; काव्य का लक्ष्य है आनन्दित करते हुए शिक्षा देना।"[1] तात्पर्य यह कि वे काव्य का ही नहीं, रचना-मात्र का उद्देश्य शिक्षा देना मानते हैं। काव्य में विशेषता यह बतलाते हैं कि वह आनन्द के माध्यम से शिक्षा प्रदान करे नीति शास्त्रों के समान नीरस शब्दों से नहीं। काव्य के साधन तथा प्रयोजन के विषय में ले हण्ट का मत इस प्रकार है—" इस (काव्य) के साधन हैं विश्व भर में विद्यमान समस्त पदार्थ और लक्ष्य है आनन्द तथा उन्नयन।"[2] भाव यह है कि हण्ट केवल आनन्द को काव्य का लक्ष्य नहीं मानते शिक्षा द्वारा उत्थान को भी आवश्यक प्रयोजन मानते हैं। सब मिलाकर कह सकते हैं कि अधिकतर विदेशीय आलोचक काव्य में शिक्षा को आवश्यक तो ठहराते हैं परन्तु उसे प्रधान स्थान न देकर द्वितीय स्थान देने के पक्ष में हैं।

उपर्युक्त पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों के मतों की तुलना करने पर दोनों में वस्तुतः कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता हाँ शब्दों की न्यूनाधिकता अवश्य विद्यमान है। जहाँ भारतीय आचार्य आनन्द अर्थ धर्म काम मोक्ष यश धन आयु बुद्धि, उपदेश, व्यवहारज्ञान आदि अनेक प्रयोजन परिगणित करते हैं, वहाँ विदेशीय आलोचक प्रायः आनन्द और (मंगलकारी) शिक्षा इन दो शब्दों में भिन्न अभीष्ट को पर्यवसित कर देते हैं। वस्तुतः 'शिक्षा' शब्द इतना व्यापक है कि धर्म यश आदि अनेक शब्द उसकी परिधि में सहज ही समा जाते हैं। इस प्रकार काव्य के दो ही प्रयोजन शेष रहते हैं—आनन्द और मंगल। दोनों में से मुख्य कौन है?

काव्य का मुख्य प्रयोजन

विद्वानों ने समस्त वाङ्मय के दो भाग किए हैं—ज्ञानात्मक साहित्य और रसात्मक साहित्य। इतिहास भूगोल दर्शन धर्म आयुर्वेद आदि ज्ञानवर्द्धक विषयों के ग्रन्थ ज्ञानात्मक साहित्य में परिगणित होते हैं और कविता उपन्यास नाटक कहानी आदि रसात्मक साहित्य (काव्य) में। ज्ञानात्मक साहित्य की रचना के समय लेखकों की दृष्टि तथ्यों के यथातथ्य प्रतिपादन द्वारा बोध-संवर्द्धन पर केन्द्रित रहती है, परन्तु रसात्मक साहित्य के प्रणयन-काल में प्रतिपाद्य को अधिकाधिक सरस बनाने पर। यही कारण है कि इतिहासादि विषयों के रचयिता तो अपनी कृतियों में तथ्यों से तिल-मात्र भी इधर-उधर नहीं हो सकते परन्तु काव्य-नाटक आदि के प्रणेता आख्या-

---

१ "दि एंड आफ राइटिंग इज टु इन्स्ट्रक्ट; दि एंड आफ पोएट्री इज टु इन्स्ट्रक्ट बाइ प्लीजिंग" एस॰ जानसन: प्रीफेस टु शेक्सपियर: एस॰ सी॰ एस॰ पृ॰ ५०

२ "इट्स मीन्स आर एवरीथिंग दि यूनिवर्स कान्टेन्स, देयर इट्स एंड्स, प्लेजर एंड एक्सालटेशन" ले हण्ट: व्हाट इज पोएट्री, एस॰ सी॰ एस॰ पृ॰ ६४

सफलता की दृष्टि से निज रचनाओं में पर्याप्त परिवर्तन संशोधन, परिवर्द्धन आदि कर लिया करते हैं। इस प्रकार जब काव्य रसात्मक साहित्य का पर्यायवाची है तो स्पष्ट ही है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन रस या आनन्द ही है लोक-मंगल नहीं। नाट्यशास्त्र में रस-विवेचन तो बहुत किया गया है परन्तु इसका यह तात्पर्य किञ्चित् में भी नहीं है कि आनन्द और मंगल में कोई विरोध है। तथ्य तो यह है कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय आचार्यों की दृष्टि पहले मंगल पर अधिक थी परन्तु धीरे-धीरे उन्हें भान हो गया कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मंगल नहीं है आनन्द है। भरत ने जिस उपर्युक्त सिद्धान्त-श्लोक[1] में नाट्य (काव्य) के प्रयोजनों की गणना की है, उसमें आनन्द का नाम तक नहीं है। भामह के उपरिलिखित श्लोक[2] में 'प्रीति' (आनन्द) का उल्लेख तो है परन्तु सब के अन्त में। इसका कारण सम्भवतः यह है कि भारत का प्राचीनतर साहित्य—वेद ब्राह्मण आरण्यक उपनिषदादि—धार्मिक था अतः उसकी दृष्टि अधिकतर मंगलपक्ष पर थी।[3] धीरे धीरे ऐहिक दृष्टि के प्रबल होने पर आनन्द-पक्ष प्रधान होता गया। जहाँ भामह ने काव्य प्रयोजनों में चतुर्वर्ग को सर्वप्रथम रखा है, वहाँ कुन्तक ने—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ।[4]

कहकर काव्यामृत के रस को चतुर्वर्ग के आनन्द का भी अतिक्रामक कह दिया है। मम्मट ने उक्त कारिका[5] के 'सद्यः परनिर्वृतये' पदों की व्याख्या में 'सकल-प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्' लिख-कर काव्य से तुरन्त प्राप्य अलौकिक आनन्द को ही प्रमुखतम प्रयोजन माना है। इसी कारिका के 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' पद एक अन्य आवश्यक तथ्य की ओर इंगित करते हैं। जहाँ भरत "लोकोपदेशजननम्" मात्र से ही सन्तुष्ट थे वहाँ मम्मट ने प्यारी स्त्री के मनभावन उपदेश कहकर उपदेश का सरस होना अनिवार्य बना दिया है। बात भी यथार्थ है। जब तक रस न होगा तब तक रचना इतिवृत्तमात्र या उपदेशमात्र ही रहेगी काव्य न बन सकेगी। इस प्रकार पश्चिम के समान हमारे यहाँ भी काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द ही है परन्तु इस रस के लिए औचित्य का आधार भी अनिवार्य

---

१ प्रस्तुत प्रबन्ध का २१वाँ पृष्ठ देखें।
२ प्रस्तुत प्रबन्ध का २१वाँ पृष्ठ देखें।
३ रामायण और महाभारत की रचना भी शिक्षा देने के लिए की गई थी काव्यजन्य आनन्द देने के लिए नहीं।
४ वक्रोक्तिजीवित (आत्माराम एण्ड सन्ज दिल्ली, १९५५ ई०) पृष्ठ १२, १।५।
५ प्रस्तुत प्रबन्ध का २४ पृष्ठ देखें।

माना गया है। ध्वन्यालोक के शब्दों में—

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥[1]

अनौचित्य ही रसभंग का एकमात्र कारण है और औचित्य-युक्तता ही रस की परम सहायक है। कहना न होगा कि सब औचित्यों में प्रमुख स्थान नैतिक औचित्य का है क्योंकि उसके अभाव में रस रस-पदवी से च्युत होकर, रसाभास मात्र हो जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि देश विदेश के अधिकतर विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्द है द्वितीय प्रयोजन शिक्षा। अर्थ यश आदि भी प्रयोजन होते या हो सकते हैं परन्तु उन का स्थान इन दोनों के पश्चात् ही है। हमारा भी मत यही है।

नीति-काव्य का प्रयोजन

नीतिकाव्य का लक्ष्य विशुद्ध काव्य से भिन्न है। नीति काव्य का मुख्य लक्ष्य वही है जो नीति-शास्त्र का है अर्थात् मनुष्यों को उचित व्यवहार की शिक्षा देना। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि नीति शास्त्र तो व्यवहार की शिक्षा सामान्य नीरस वाणी में देते हैं और नीति-काव्य काव्य के उपकरणों की सहायता से सरस वाणी में। शुष्क होने के कारण शास्त्रीय कथन उतना प्रभावशाली नहीं होता जितना नीतिकाव्य। अधिक विस्तार में न जाकर एक लोकविश्रुत घटना का उल्लेख मात्र समीचीन होगा। महाराज जयसिंह नीति-शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी नीति को विस्मृत कर नवेली रानी के प्रेम में ऐसे फँसे कि राज-काज की उपेक्षा कर उसी के आवास में पड़े रहने लगे। उनके पास न पंडितों की कमी थी न मन्त्रियों की और न सुहृदों की। परन्तु महाराज को कर्तव्योन्मुख करना सहज न था। अन्त में यह दुष्कर कार्य कविवर बिहारी के नीतिकाव्य ने कर दिखाया। उन्होंने यह दोहा—

> नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकासु इहिं काल।
> अली कली ही सौं बँध्यौ आगे कौन हवाल ॥[2]

लिखकर महाराज के पास पहुँचा दिया। जो काम पण्डितों का पाण्डित्य मन्त्रियों का मन्त्र तथा सुहृदों की सीख न कर पाई वही सुकवि का नीति-काव्य कर गया।

ध्वन्यालोक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी १९४० ई० उद्योत ३ कारिका १४ की वृत्ति में।

सतसई सम्पा०, पृष्ठ ११४।३८

महाराज मोह का परित्याग कर पूर्ववत् कर्तव्यपरायण हो गये और पतनोन्मुख राज्य सँभल गया। कितना महान् लोकोपकार हुआ!

कहा जा सकता है यह दोहा विशुद्ध काव्य है, नीतिकाव्य नहीं है क्योंकि इसमें शिक्षा प्रत्यक्षतः नहीं दी गई, व्यंग्यार्थ से ध्वनित होती है। हम इस विचार से विमत हैं। हमारी दृष्टि से यह दोहा शुद्ध नीति-काव्य है। क्योंकि इस की रचना कवि ने सहज भाव से नहीं की नैतिक उपदेश देने के लिए ही की। नीति-काव्य होता हुआ भी यह विशेष सरस है। दोहे की प्रथम पंक्ति में कवि ने वह भूमिका प्रस्तुत की है जिस से भ्रमर की मुग्धता का भाव सम्यक् ध्वनित हो सके। 'बन्ध्यौ' पद संयोग शृंगार की उत्कटता का सूचक है। चतुर्थ चरण में भावी अनिष्ट की आशंका का संकेत है। इस प्रकार शृंगार रस तथा मुग्धता और आशंका रूपी भावों से युक्त होने के कारण दोहा पद्य या सूक्ति के स्तर से ऊँचा उठकर सु-काव्य बन गया है।

सार यह कि उक्त दोहे का प्रधान प्रयोजन शिक्षा है आह्लादकता नहीं। परन्तु शिक्षा के साथ ही आह्लादकता भी उतनी ही मात्रा में विद्यमान है जितनी किसी सुकवि के किसी अन्य-विषयक काव्य में। इसी कारण इसे नीतिकाव्य का सुन्दर उदाहरण कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कवि कुशल हो तो नीति-विषयक काव्य भी उतना ही सरस हो सकता है, जितना किसी अन्य विषय का। लोक-मंगल की दृष्टि से देखा जाय तो नीति-काव्य का प्रयोजन अन्य काव्यों के प्रयोजनों से उत्कृष्ट है। अन्य काव्य मुख्य रूप से आनन्द के लिए रचे जाते हैं शिक्षार्थ नहीं। उनमें शिक्षा का अभाव भी हो सकता है। रीति-काल में ऐसी रचनाओं की प्रचुरता रही परन्तु उसका नैतिक परिणाम क्या निकला? उच्छृंखलता का कितना विकास हुआ और समाज का कितना ह्रास यह कहने की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य यह कि नीति-काव्य का मुख्य लक्ष्य तो शिक्षा देना है परन्तु साथ ही वह इस बात के लिए सचेष्ट रहता है कि वह शिक्षा यथासम्भव सरस ढंग से दी जाय।

काव्य में नीतिकाव्य का स्थान

ऊपर हमने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि नीति की रचना काव्य-पद की अधिकारी हो सकती है और नीति काव्य के अनेक प्रयोजनों में से एक प्रमुख प्रयोजन है। अब अन्त में इस बात का भी विवेचन अपेक्षित है कि नीतिकाव्य किस कोटि का काव्य है।

त्रिविध काव्य

आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद बताये हैं—उत्तम मध्यम और अवर (अधम)। उन के विचार में उत्तम काव्य वह है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ

१

अधिक चमत्कार-जनक हुआ करता है और जिसे काव्यतत्त्ववेत्ता लोग 'ध्वनि-काव्य' कह चुके हैं।[1] मध्यम काव्य वह है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कारक नहीं होता और इसीलिए उसे "गुणीभूतव्यंग्य" कहा गया है।[2] अवर काव्य उसे कहते हैं जिसमें व्यंग्यार्थ का अभाव रहता है। इसके दो भेद होते हैं—शब्द-चित्र और अर्थचित्र।[3] काव्य के एक भेद को अवर (अधम) कहना खटकता अवश्य है परन्तु इस संज्ञा का तात्पर्य यही समझना चाहिए कि इसके प्रणयन में महाकवि नहीं अपितु काव्य रचना के अभ्यासी प्राथमिक कवि ही प्रवृत्त होते हैं। यहाँ उक्त भेदों को हृदयंगम करने के लिए एक-एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

(क) उत्तम अथवा ध्वनि-काव्य

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धँसतीं
तब नख-ज्योति मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता ॥[4]

मैथिलीशरण गुप्त का यह छन्द ध्वनिकाव्य का सुन्दर उदाहरण है। वाच्यार्थ इतना सुस्पष्ट है कि उसका उल्लेख अनावश्यक है। परन्तु वास्तविक चमत्कार तो व्यंग्यार्थ में है। यहाँ "विशाल कचभार" से केशों की सघनता तथा सुदीर्घता 'एड़ियाँ धँसतीं' से तनुयष्टि की सुकुमारता और भार-वहन की असमर्थता भासमान एड़ियों तथा नखों से फूटने वाली अरुण आभा से शरीर की स्वस्थता ध्वनित हो रही है। वाच्यार्थ से उक्त व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कारक होने के कारण ही यह छन्द उत्तम काव्य है।

(ख) मध्यम अथवा गुणीभूतव्यंग्य काव्य

आज बचपन का कोमल गात जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अंधकार अज्ञात ॥[5]

पन्त जी के इस छन्द से यह व्यंग्यार्थ निःसृत हो रहा है कि संसार में किसी की भी अवस्था एक-सी नहीं रहती। जो आज सुखी तथा संपन्न है वही कल दुखी और विपन्न है। इस पद्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ विशेष चमत्कारपूर्ण नहीं है।

---

१ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ (काव्यप्रकाश १।४)
२ अतादृशि गुणीभूतव्यंग्ये तु मध्यमम्। (काव्यप्रकाश १।५)
३ शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। (काव्यप्रकाश १।५)
४ मैथिलीशरण गुप्त साकेत (१९८८ वि०) अष्टम सर्ग पृ० २०४
५. सुमित्रानन्दन पन्त पल्लव (१९५२ ई०) पृष्ठ ७८

दोनों में चमत्कार समान होने से व्यंग्यार्थ की प्रधानता नहीं रही। इस प्रकार व्यंग्यार्थ गौण हो जाने से यह मध्यम काव्य ही माना जायगा।

(ग) अवर (अधम) काव्य

(१) अर्थचित्र अधमकाव्य

विप्रकोप है घोर अनल ज्वालानिधि का जल है।
विप्रकोप है गरल-वृक्ष, क्षय उस का फल है॥
विप्रकोप है घन । अनल यह तूल-समूह है।
विप्रकोप है सूर्य अनल यह धूकव्यूह है॥[1]

रामचरित उपाध्याय के इस छन्द में श्री रामचन्द्र परशुराम के सम्मुख विप्रकोप की उपमा स्वीकृत कर रहे हैं। इस पद्य की रचना के समय कवि का ध्यान उपमाओं की माला जुटाने पर इतना अधिक केन्द्रित है कि रस ध्वनि आदि की भावना बहुत पीछे छूट गई है। व्यंग्यार्थ का अभाव होने तथा अर्थालंकार मात्र का चमत्कार होने के कारण यह छन्द अवर काव्य के अर्थचित्र नामक प्रभेद में ही गणनीय है।

(२) शब्दचित्र अधमकाव्य

लोल लाल-जी की लखो लोल लली की लाल।
लोल लला की लाडली लोल लली को लाल॥[2]

श्री मर्दुमहान केडिया के उक्त दोहे का अर्थ इस प्रकार है—इधर लाडली राधिका श्री प्यारे कृष्ण की वेणुध्वनि के लिए चंचल हो रही थीं उधर कृष्ण भी राधिका जी के लिए अधीर। (तब एक अन्तरंग सखी उन्हें मिलाकर बोली) हे लाडली जी चंचल कृष्ण जी को लीजिए और हे कृष्ण जी चंचल राधा जी को लीजिए। कहना न होगा कि उक्त दोहे में अधीरता रति आदि भावों के रहते हुए भी न पाठक का मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, न अर्थ की ओर। यह चमत्कृत होता है तो शब्द चमत्कार से क्योंकि समस्त दोहे में एक ही अक्षर का प्रयोग किया गया है। व्यंग्यार्थ के अभाव तथा शब्दचमत्कार मात्र की सत्ता के कारण यह दोहा अवर काव्य है।

गीतिकाव्य की कोटि ?

उपर्युक्त कसौटी पर कसने से विदित होता है कि समग्र गीतिकाव्य को किसी एक कोटि में रखना अयुक्त है। वह अपनी विशेषताओं के अनुरूप उत्तम भी हो

---

१ रामदहिन मिश्रः काव्य-दर्पण (पटना, १९५१) पृष्ठ २११।।
२ मर्दुमहान केडिया भारती भूषण पृष्ठ ५०

सकता है मध्यम भी और अधम भी। जिस नीति-काव्य में रागतत्त्व और कल्पनातत्त्व प्रधान हों तथा बुद्धितत्त्व गौण वह उत्तम काव्य, जिसमें कल्पनातत्त्व तो प्रधान हो और राग-तत्त्व तथा बुद्धितत्त्व गौण वह मध्यम काव्य, जिसमें रागतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का अभाव हो और बुद्धितत्त्व को अलंकारों से चमत्कृत किया गया हो वह अधम काव्य माना जायगा और जिसमें केवल बुद्धितत्त्व हो, राग-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और अलंकारों में से कुछ भी न हो वह काव्य नहीं केवल पद्य कहलायगा। निम्नलिखित उदाहरणों से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है—

उत्तम कोटि का नीति-काव्य

राम-रावण का युद्ध होने का था। रावण रथ पर था, राम भूमि पर। इसलिए भक्त विभीषण भावी अनिष्ट की आशंका से अधीर हो उठा। तब राम उसे ढाढस देने के लिए बोले—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥[1]

चौपाइयों का अभिप्राय यह है कि धातुकाष्ठमय रथ पर आसीन योद्धा विजयी नहीं होता अपितु धर्म-रूप रथ का रथी विजेता होता है क्योंकि धर्म-रथ के अंग, अश्वादि सारथी आदि अधिक पुष्ट तथा चतुर होते हैं। परन्तु इस अर्थ की अपेक्षा यह व्यंग्यार्थ कहीं अधिक चमत्कारक है कि विश्व विजिगीषु मानव को शौर्य धैर्य सत्य शील बल विवेक दम क्षमा कृपा समता आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। यहाँ भाव कल्पना चमत्कार विचार सभी काव्यतत्त्व विद्यमान हैं परन्तु भावतत्त्व और कल्पनातत्त्व की मुख्यता के कारण इसे उत्तम नीति काव्य के अन्तर्गत माना जाएगा।

मध्यम कोटि का नीतिकाव्य

हाथी को नित्य सिर पर मिट्टी डालते देखकर रहीम की कल्पना ने उड़ान ली और परिणाम में इस दोहे का निर्माण हो गया—

धूर धरत नित सीस पै कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पत्नी तरी सो ढूँढ़त गजराज॥[2]

---

1. रामचरित मानस सटीक इण्डियन प्रेस प्रयाग, पृष्ठ ८०७-८
2. रहिमन विलास, प्रयाग १९८७, पृष्ठ ११

पूर्वार्द्ध में प्रश्न है उत्तरार्द्ध में उत्तर। वाच्यार्थ सुस्पष्ट है परन्तु यह दोहा उसकी अभिव्यक्ति के लिए नहीं लिखा गया। व्यंग्यार्थ यह है कि हाथी पशु होता हुआ भी श्रीराम की चरण धूलि का मोक्षार्थ ढूंढ रहा है तुम मनुष्य होते हुए भी प्रभु चरणों में चित नहीं लगाते। परन्तु दोहे की रचना ऐसी है कि इस अभीष्ट व्यंग्यार्थ की अपेक्षा हृदय कल्पना-जनित आनन्द में विभोर हो उठता है। इस प्रकार वाच्यतत्त्व की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व की प्रधानता के कारण इसे मध्यम काव्य ही कहना उचित प्रतीत होता है।

प्रथम कोटि का नीति-काव्य

(क) अर्थचित्र नीति-काव्य

जहँ सज्जन तहँ प्रीति है प्रीति जहाँ सुख ठौर।
जहाँ पुहुप तहँ बास है, जहाँ बास तहँ भौंर ॥[1]

वृन्द ने दोहे की प्रथम अर्द्धाली में सुख का कारण प्रेम तथा प्रेम का कारण सज्जन-सहवास बताया है। दूसरी अर्द्धाली में उक्त नैतिक तथ्य को सुन्दर दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया गया है। ध्वनि के अभाव तथा अर्थालंकार-जनित चमत्कार के कारण यह दोहा प्रथम कोटि का (अर्थचित्र) नीति-काव्य है।

(ख) शब्दचित्र नीति-काव्य

उदर भरन के कारने प्राणी करत इलाज।
नाचै नाचै रन फिरै, राचै काज अकाज ॥[2]

इस दोहे का आशय इतना ही है कि मनुष्य को निज पेट भरने के लिए सब प्रकार के भले-बुरे तथा संकट-जनक कार्य करने पड़ते हैं। अर्थ में कोई रमणीयता नहीं परन्तु कवि ने नाचै नाचै राचै में अनुप्रास द्वारा दोहे को चमत्कृत करने का यत्न किया है। व्यंग्यार्थ के अभाव तथा शब्द-जनित चमत्कार के कारण इसे प्रथम कोटि का (शब्दचित्र) नीतिकाव्य ही मानना पड़ेगा।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि नीति काव्य का उत्तम, मध्यम या अधम होना कवि की प्रतिभा और कौशल पर अवलम्बित है। इसके अतिरिक्त कोई एक कवि भी सदा एक-सी रचनाएं नहीं करता। दीनदयालगिरि की अन्योक्तियों में जो सरसता है वह उनकी दृष्टान्त तरंगिणी के दोहों में नहीं है। वृन्द के अधिकतर दोहे

---

१ सतसई सप्तक, पृष्ठ १९८, दोहा, २२२।
२ वही पृष्ठ १६०, दोहा २२६।

द्वितीय अध्याय

भारतीय साहित्य में नीति-काव्य की परम्परा

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ से पूर्व भारत में एक ऐसे विशाल और भव्य वाङ्मय की सृष्टि हो चुकी थी जिसने हिन्दी-साहित्य को भाव पक्ष, रस छन्द अलंकार आदि की दृष्टि से पर्याप्त प्रभावित किया। यह साहित्य वैदिक संस्कृत, पालि प्राकृत और अपभ्रंश इन पाँच भाषाओं में लिखा गया था। चूँकि इसके नीति सम्बन्धी काव्य ने हिन्दी के नीति-काव्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया है इसलिए पृष्ठ-भूमि के रूप में उसका परिचय प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

१—वैदिक साहित्य में नीति-काव्य

संहिताओं में नीति-काव्य

वेदों (मूल संहिताओं) ब्राह्मणग्रन्थों आरण्यकों तथा उपनिषदों के समुदाय को वैदिक साहित्य कहते हैं। इनमें संहिताएँ प्राचीनतम और प्रायः छन्दोबद्ध हैं। भारतीय वाङ्मय का उपक्रम इन्हीं से होता है। चारों संहिताओं में बीस सहस्र के लगभग मंत्र हैं जिनमें से अधिकतर मंत्रों का सम्बन्ध स्तुति, प्रार्थना उपासना यज्ञादि धार्मिक कृत्यों से है। शेष अंश लोक-व्यवहार आदि से सम्बद्ध हैं और वही हमारे विवेचन के विशिष्ट विषय हैं। नीति के सभी प्रकार[1] संहिताओं में बीजरूप में उपलब्ध होते हैं। यथा—

वैयक्तिक नीति

मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर मन तथा आत्मा के संयोग से निर्मित होता है। यों तो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति दीर्घजीवी, हृष्ट-पुष्ट ज्ञानवान् तथा सदाचारी होने का उद्योग करता है परन्तु प्राचीन आर्य तो इस विषय में विशेष प्रयत्नशील थे। कारण यह कि वे अपने आदिम निवासस्थान से प्रस्थान कर दल-बद्ध रूप में भारत में पहुँचे थे। यहाँ पर पाँव जमाने के लिए उन्हें बहु-संख्यक आदिवासियों से अहर्निश लोहा लेना पड़ता था। उन संग्रामों में विजय-लाभ की आशा तभी सम्भव थी जब वे

---

१ प्रस्तुत प्रबन्ध के पृ० १२ १८ देखिए।

शारीरिक मानसिक तथा चारित्रिक बल में परिपन्थियों से बढ़-चढ़कर हों। कदाचित् यही कारण है कि वेदों में मृत्यु-निवारण की दीर्घायु प्राप्ति की, रोग-नाश की, स्वास्थ्य-लाभ की तथा तनपुष्टि की अनेकानेक प्रार्थनायें ही नहीं मिलतीं उपदेश भी उपलब्ध होते हैं। वे लोग मध्यकालीन लेखकों के समान शरीर को मलागार तथा जीवन को निस्सार न समझते थे। वे देह को देवताओं की पुरी तथा परम ज्योति के दर्शन का मन्दिर मानते थे —

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥[1]

यह शरीर देवताओं की अयोध्यापुरी है जिसमें आठ चक्र और नवद्वार हैं। उसमें सुखदायक स्वर्णमय कोष है जो प्रभु की ज्योति से व्याप्त है।

ज्ञान उनके जीवन का अनिवार्य अंग था। जहाँ मेधा, बुद्धि तथा वाणी के विकास के लिए वेदों में अनेकत्र प्रार्थनायें की गई हैं वहाँ ज्ञान के स्वरूप, महत्त्व तथा अधिकारियों के निरूपण से ऋग्वेद का ज्ञानदेवताक सूक्त[2] परिपूर्ण है। उसमें मित्रों के मानसिक विकास के तारतम्य का उल्लेख यों किया गया है— मित्रों के नयन और कान तो समान होते हैं परन्तु मन की दौड़ पृथक्-पृथक्। (ज्ञान की दृष्टि से) कुछ जल सरोवरों के समान हैं जिनका जल कटि तक पहुँचता है। कुछ उनके जिनका मुख तक और कुछ गहरे सरोवरों के जिनमें मनुष्य पूरा स्नान कर सकता है।[3]

वे आत्मा की अमरता तथा कर्म-फल के सिद्धान्त के विश्वासी थे। उनके विचारानुसार, आत्मा की आवाज के विपरीत आचरण करने वाले लोग मृत्यु के पश्चात् प्रकाश-रहित लोकों को प्रस्थान करते हैं।[4] सब बुराइयों के त्याग के सम्बन्ध में वेद की काव्यमयी भाषा दृष्टव्य है—

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥[5]

अर्थात् जैसे सूर्य अन्धकार से मुक्त हो जाता है, रात्रि को छोड़ देता है और उषाकालीन प्रकाशों को भी त्याग देता है वैसे ही मैं सारी बुराइयों को, हिंसक-कृत हिंसा को छोड़ता हूँ। जैसे हाथी धूल को झाड़ फेंकता है वैसे ही मैं पाप को। सार यह कि दीर्घ जीवन पुष्ट शरीर, उज्ज्वल मस्तिष्क तथा पवित्र चरित्र वैदिक युग की वैयक्तिक नीति थी।

---

१ अथर्ववेद १०।२।३१
२. ऋग्वेद १०।७१
३ ऋग्वेद १ ।७१।७
४ यजुर्वेद ४०।३
५. अथर्ववेद १०।१।३२

द्वितीय अध्याय

भारतीय साहित्य में नीति-काव्य की परम्परा

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ से पूर्व भारत में एक ऐसे विशाल और भव्य वाङ्मय की सृष्टि हो चुकी थी, जिसने हिन्दी-साहित्य को भाव, भाषा, रस, छन्द, अलंकार आदि की दृष्टि से पर्याप्त प्रभावित किया। यह साहित्य वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश इन पाँच भाषाओं में लिखा गया था। चूँकि उसके नीति सम्बन्धी काव्य ने हिन्दी के नीति-काव्य को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया है, इसलिए पृष्ठ-भूमि के रूप में उसका परिचय प्रस्तुत करना उचित प्रतीत होता है।

१—वैदिक साहित्य में नीति-काव्य

संहिताओं में नीति-काव्य

वेदों (मूल संहिताओं) ब्राह्मणग्रन्थों आरण्यकों तथा उपनिषदों के समुदाय को वैदिक साहित्य कहते हैं। इनमें संहिताएँ प्राचीनतम और प्रायः छन्दोबद्ध हैं। भारतीय वाङ्मय का उपक्रम इन्हीं से होता है। चारों संहिताओं में बीस सहस्र के लगभग मंत्र हैं, जिनमें से अधिकतर मंत्रों का सम्बन्ध स्तुति प्रार्थना उपासना यज्ञादि धार्मिक कृत्यों से है। शेष मंत्र लोक-व्यवहार आदि से सम्बद्ध हैं और वही हमारे विवेचन के विशिष्ट विषय हैं। नीति के सभी प्रकार[1] संहिताओं में बीजरूप में उपलब्ध होते हैं। यथा—

वैयक्तिक नीति

मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर, मन तथा आत्मा के संयोग से निर्मित होता है। यों तो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति दीर्घजीवी, हृष्ट-पुष्ट बलवान् तथा सदाचारी होने का उद्योग करता है परन्तु प्राचीन आर्य तो इस विषय में विशेष प्रयत्नशील थे। कारण यह कि वे अपने आदिम निवासस्थान से प्रस्थान कर दल-बद्ध रूप में भारत में पहुँचे थे। यहाँ पर पाँव जमाने के लिए उन्हें बहु-संख्यक आदिवासियों से अहर्निश लोहा लेना पड़ता था। उन संग्रामों में विजय-लाभ की आशा तभी सम्भव थी जब वे

---

१ प्रस्तुत प्रबन्ध के पृ० १४, १८ देखिए।

शारीरिक मानसिक तथा चारित्रिक बल में परिपन्थियों से बढ़-चढ़कर हों। कदाचित् यही कारण है कि वेदों में मृत्यु-निवारण की दीर्घायु प्राप्ति की रोग-नाश की, स्वास्थ्य-लाभ की तथा तनपुष्टि की अनेकानेक प्रार्थनाएँ ही नहीं मिलतीं उपदेश भी उपलब्ध होते हैं। वे लोग मध्यकालीन लेखकों के समान शरीर को असार तथा जीवन को निस्सार न समझते थे। वे देह को देवताओं की पुरी तथा परम ज्योति के दर्शन का मन्दिर मानते थे —

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥[1]

यह शरीर देवताओं की अयोध्यापुरी है जिसमें आठ चक्र और नवद्वार हैं। उसमें सुखदायक स्वर्णमय कोश है जो प्रभु की ज्योति से व्याप्त है।

ज्ञान उनके जीवन का अनिवार्य अंग था। जहाँ मेधा बुद्धि तथा वाणी के विकास के लिए वेदों में अनेकश प्रार्थनाएँ की गई हैं वहाँ ज्ञान के स्वरूप महत्त्व तथा अधिकारियों के निरूपण से ऋग्वेद का ज्ञानदेवताक सूक्त[2] परिपूर्ण है। उसमें मित्रों के मानसिक विकास के तारतम्य का उल्लेख यों किया गया है— मित्रों के नयन और कान तो समान होते हैं परन्तु मन की दौड़ पृथक्-पृथक्। (ज्ञान की दृष्टि से) कुछ उन सरोवरों के समान हैं जिनका जल कटि तक पहुँचता है। कुछ उनके जिनका मुख तक और कुछ गहरे सरोवरों के जिनमें मनुष्य सुखसे स्नान कर सकता है।[3]

वे आत्मा की अमरता तथा कर्म-फल के सिद्धान्त के विश्वासी थे। उनके विचारानुसार, आत्मा की भावना के विपरीत आचरण करने वाले लोग मृत्यु के पश्चात् प्रकाश-रहित लोकों को प्रस्थान करते हैं।[4] सब बुराइयों के त्याग के सम्बन्ध में वेद की काव्यमयी भाषा दृष्टव्य है—

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥[5]

अर्थात् जैसे सूर्य अन्धकार से मुक्त हो जाता है, रात्रि को छोड़ देता है और उषाकालीन प्रकाशों को भी त्याग देता है वैसे ही मैं सारी बुराइयों को, हिंसक-कृत हिंसा को छोड़ता हूँ। जैसे हाथी धूल को झाड़ फेंकता है वैसे ही मैं पाप को। सार यह कि आर्य जीवन पुष्ट शरीर उज्ज्वल मस्तिष्क तथा पवित्र चरित्र वैदिक युग की वैयक्तिक नीति थी।

---

१ अथर्ववेद १०।२।३१
२. ऋग्वेद १०।७१
३ ऋग्वेद १०।७१।७
४ यजुर्वेद ४०।३
५. अथर्ववेद १०।१।३२

पारिवारिक नीति

जीवन की सुखमयता अधिकांश में पारिवारिक शान्ति पर अवलम्बित है। पति तथा पत्नी का, सन्तान तथा जनकों का, भाइयों तथा बहिनों का पारस्परिक वैमनस्य गृहस्थी को नरक बना दिया करता है। इस अवांछनीय स्थिति से बचाव के लिए वेद पारिवारिक नीति का यों प्रतिपादन करता है— 'तुम्हारा पारस्परिक प्रेम ऐसा हो जैसा गाय का नव-जात वत्स से। पुत्र पिता का आज्ञानुवर्ती तथा माता से समंजस्य रखनेवाला हो। पत्नी पति के प्रति मधुर तथा शान्त वाणी का प्रयोग करने वाली हो। न भाई भाई से द्वेष करे, न बहिन बहिन से। सभ्य तथा आचार-व्यवहार समान रखते हुए भली वाणी का व्यवहार करो।'[1]

सामाजिक नीति

सामाजिक नीति के क्षेत्र में वेद भेद भाव को *त्यागकर मिलकर* खान-पान तथा पूजा-पाठ करने का उपदेश इन शब्दों में देता है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥[2]

तुम्हारे जलपान-स्थान समान हों, तुम्हारा भोजन मिलकर हो, तुम्हें समान स्नेहपाश में बाँधता हूँ। ऐसे मिलकर अग्नि की सपर्या करो जैसे कि अरे रथचक्र की नाभि के चारों ओर मिले हुए रहते हैं।

समाज में मित्र तथा उदासीन लोग ही नहीं होते, शत्रु भी होते हैं। उनके दमन के लिए जो तेज अनिवार्य होता है, उसकी कामना इन शब्दों में की गई है—

सिंह में, व्याघ्र में, चीते में, अग्नि में, ब्राह्मण में, सूर्य में जिस शक्ति का प्रकाश हो रहा है, वही मेरे अन्दर भी हो। आघात-गत में दुन्दुभि की गुंजन-ध्वनि में, घोड़े की हिनहिनाहट में, पुरुष की ललकार में जिस शक्ति का प्रकाश हो रहा है, वही मेरे अन्दर भी हो।[3] इसी प्रकार अथर्ववेद के छठे काण्ड के ६२ ६७ सूक्त शत्रु के विनाशन तथा संहार की भावनाओं से पूर्ण हैं।

लोकोपकारी सदाचारी विद्वान् अतिथियों के सम्बन्ध में वेद इस नीति का विधान करता है—जो व्यक्ति अतिथि से पूर्व भोजन करता है, वह अपने घरों के इष्ट और पूर्त, दूध और रस, शक्ति और संपत्ति, संतति और पशु तथा कीर्ति और यश को ही खा जाता है।[4]

---

१ अथर्ववेद ३।३०।१ ३
२ अथर्ववेद ३।३०।६
३ अथर्ववेद ६।३८।१ ४
४ अथर्व —९।६।३१ ३२

व्यक्ति को समाज में रहते हुए मित्र पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करने की शिक्षा काव्यमयी भाषा में इस प्रकार दी गई है—

कृष्या कृषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम।[1]

हे मनुष्य तू कृषक का कृषक मारक का मारक और वज्र का वज्र है। तू बराबर वालों को पीछे छोड़कर उनमें जा मिल जो तुझ से श्रेष्ठ हैं।

आर्थिक नीति

प्राचीन आर्य लोग पुरुषार्थी गृहस्थ थे। साधु-सन्तों का-सा तपोमय तथा भिक्षु जीवन उन्हें पसन्द न था। वे पुत्र पौत्रों के साथ घर में आमोद प्रमोद-पूर्ण जीवन यापन का लक्ष्य अपने सम्मुख रखते थे।[2] इसी कारण वैदिक साहित्य में आर्थिक उपदेश इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं—यहाँ कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवन की इच्छा करो।[3] सौ हाथों से कमाओ तथा हजार हाथों से दान-पुण्य करो।[4] वे विजयी तो थे परन्तु पैसा पुरुषार्थ[5] से उपार्जित करने के पक्षपाती थे जुए[6] या अनीति[7] से नहीं। उपार्जित धन का एकाकी उपभोग उनके मत में नीति-विरुद्ध था अतएव उन्होंने यह कहा "अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है।"[8] वे जीवन यात्रा में जहाँ-के-तहाँ रहना उचित न समझते थे और प्रगतिशील जीवन को ही सुनीति मानते थे— अपनी-सी स्थिति वालों से आगे निकल जाओ तथा उन्नत लोगों से जा मिलो।"[9]

इतर प्राणि-सम्बन्धी नीति

कृषिकर्म और पशुपालन आर्यों के प्रिय व्यवसाय होने के कारण वेद-मंत्रों में पशुओं की प्राप्ति और रक्षा के लिए विशेष कामनाएँ तथा प्रार्थनाएँ की गई हैं।[1]

---

१ अथर्ववेद २।११।१
२ ऋग्वेद १०।८५।४२
३ यजुर्वेद ४०।२
४ अथर्ववेद ३।२४।५
५. यजुर्वेद ४०।२
६ ऋग्वेद १०।३४।१३
७ यजुर्वेद ४०।१
८. ऋग्वेद १०।११७।६
९. अथर्ववेद ६।११।४५
• यजुर्वेद १।१; २३।२२

गौ घोड़ा बैल आदि उपयोगी पशुओं के लिए ही विशेष प्रार्थनाएं नहीं हैं, प्राणि मात्र को मित्र की चक्षु से देखने की भावना तथा जीव-रक्षा में प्रमाद न करने का उपदेश भी उपलब्ध होता है।[1] परन्तु सिंह, सूअर, सर्प आदि घातक जीव-जन्तुओं के विनाश की प्रेरणाएं भी विद्यमान हैं।[2]

मिश्रित नीति

वेद इस लोक को प्रियतम मानता है, दुःखों का घर नहीं।[3] वह वार्धक्य से पूर्व मरने का निषेध तथा दीर्घ जीवन को हँसते और नाचते हुए व्यतीत करने का विधान करता है।[4] पालक-पोषक होने के कारण भूमि और पर्जन्य हमारे माता पिता हैं तथा उपकारक होने के कारण सूर्य, चन्द्र जल आदि पदार्थ हमारे सम्मान्य हैं।[5] वेद पुरुषार्थ का महत्त्व यों प्रतिपादित करता है—जो परिश्रम नहीं करता देवता *उसे मित्र नहीं बनाते।*[6] *हे मनुष्य! तू उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो अवनति के पथ पर नहीं।*[7]

संहिताओं के नीति-काव्य की समीक्षा

रस काव्य की आत्मा है। अतः सहृदयों के हृदय में रस का संचार करने में समर्थ रचना ही काव्य नाम की अधिकारिणी होती है। इस तुला पर तोलने से संहिताओं के अधिकांश नीति-मंत्रों को छन्दोबद्ध होते हुए भी, काव्य मानना कठिन है। *इनके श्रवण और अध्ययन से व्यवहार-सम्बन्धी ज्ञानवृद्धि तो होती है* परन्तु हृदय में रसोद्रेक नहीं होता। कर्तव्य का मार्ग तो निर्दिष्ट हो जाता है परन्तु उस अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं होती जिसमें मन विभोर हो उठे। तो भी यह नीरसता सार्वत्रिक नहीं है; कहीं-कहीं ऐसे भी मन्त्र दिखाई देते हैं जिन्हें पढ़कर हृदय एक या दूसरे रस या भाव में लीन हो जाता है। प्रायः मनुष्य सम्पन्न होने पर इतना अभिमानी हो जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों की ओर आँख उठाकर देखने में भी अपना अपमान मानता है। वेद लक्ष्मी की चंचलता दिखाकर गर्व के त्याग और उदारता के ग्रहण की यों प्रेरणा करता है—

---

१ यजुर्वेद ३६।१८; अथर्ववेद १८।१७
२ अथर्ववेद ४।३।४
३ अथर्ववेद ३।३।१७
४ ऋग्वेद १।१८।३
५. अथर्ववेद १२।१।१२
६ ऋग्वेद ४।३३।११
७ अथर्ववेद ५।३०।७

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥[1]

धनाढ्य को याचकों की कामनाएँ पूर्ण करनी चाहिए । उसे मार्ग की दूरी पर दृष्टि रखनी चाहिए । धन तो रथ के चक्रों के समान घूमते रहते हैं । आज इसके यहाँ कल उसके यहाँ ।

भाषा—वेद के उपदेश वैदिक भाषा में हैं जो संस्कृत से भी प्राचीनतर है । वह सरल स्वाभाविक भाषा है परन्तु उसकी स्वाभाविकता मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियों की भाषा के तुल्य ऊबाने वाली नहीं है । वेद के नैतिक मंत्रों में कहीं-कहीं वह चमत्कार अनायास आ गया है जिसे परवर्ती साहित्य-शास्त्रियों ने अलंकार नाम से अभिहित किया है । यह चमत्कार तीन प्रकार का है—१ शब्दगत २ अर्थगत तथा ३ शब्दार्थगत ।

(१) शब्दगत चमत्कार

(क) पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः ।[2] (वृत्यानुप्रास)

(ख) समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥[3] (लाटानुप्रास)

(२) अर्थगत चमत्कार

(क) भूमि माता है मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ ।[4] (रूपक)

(ख) (ये पासे) कभी नीचे पड़ते हैं और कभी ऊपर । स्वयं तो हाथ नहीं रखते परन्तु हाथ वालों को पराजित कर देते हैं, फलक पर (ये) दिव्य अंगारे स्वयं शीतल होते हुए भी हृदय को जला डालते हैं ।[5] (विरोधाभास तथा रूपकातिशयोक्ति)

(ग) दो समान हाथ समान कार्य नहीं करते समान समय पर प्रसूता दो गौएँ समान दूध नहीं देतीं । दो यमज बच्चों की शक्तियाँ समान नहीं होतीं । एक ही परिवार के दो व्यक्ति समान उदार नहीं होते ।[6] (दृष्टान्त)

---

१ ऋग्वेद १०।११७।५
२ ऋग्वेद ६।७५।१४
३ ऋग्वेद १०।१९१।४
४ अथर्ववेद १२।१।१२
५ ऋग्वेद १०।३४।९
६ ऋग्वेद १०।११७।९

(३) शब्दार्थ चमत्कार

किसी-किसी सूक्त में तो वेद शब्द तथा अर्थ-सम्बन्धी चमत्कारों की मालाएँ प्रस्तुत कर देता है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड का पन्द्रहवाँ सूक्त इस बात का सुन्दर निदर्शन है। इसमें मनुष्य निर्भयता प्राप्ति के लिए अपने प्राण को यों संबोधित करता है—"जैसे द्यौ और पृथ्वी न डरते हैं न हानि उठाते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण तू मत डर। इसी प्रकार पृथक-पृथक मंत्रों में दिन और रात्र सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म और क्षत्र सत्य और अनृत भूत और भविष्यत् की उपमाएँ देकर निज प्राण को निर्भयता का उपदेश दिया है। आधुनिक छायावादी कवियों के समान वेद भी सूर्य चन्द्र आदि प्राकृतिक तथा भूत भविष्यत् आदि अप्राकृतिक पदार्थों में निर्भयता की कल्पना कर उन्हें प्राण के उपमान बनाता है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

छन्द—संहिताओं के नीतिकाव्य में भी उन्हीं गायत्री अनुष्टुप् त्रिष्टुप् आदि वैदिक वर्ण छन्दों का व्यवहार किया गया है जिसका सामान्य मन्त्रों में। वचन प्रकार संख्या पर तो प्रायः दृष्टि रहती है परन्तु गुरु-लघु-विचार पर नहीं।

काव्यविधान—काव्य-विधान की दृष्टि से वैदिक नीतिकाव्य मुक्तक काव्यों की कोटि में ही सन्निविष्ट हो सकता है प्रबन्ध काव्यों में नहीं। दान ज्ञान द्यूत निन्दा अतिथिसेवा, सामंजस्य आदि विषयों पर जो सूक्त दिखाई देते हैं उनका प्रत्येक मन्त्र अपने-आप में पूर्ण है। यद्यपि एक-एक सूक्त के अनेक मन्त्रों का विषय प्रायः एक ही होता है तथापि अर्थाभिव्यक्ति में उन्हें अन्य मन्त्रों का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे भर्तृहरि के नीति-शतक के विषय विभिन्न श्लोकों में विभक्त हैं वैसे ही वैदिक सूक्त भी। अतएव जैसे वे मुक्तक काव्य हैं वैसे ही वे।

गुण—वैदिक नीतिकाव्य में रस का अभाव-सा है अतः उसमें गुणों की विशेष खोज करना भी निरर्थक है। उसमें ओज तथा माधुर्य की विशेष मात्रा न रहते हुए भी प्रसाद गुण की न्यूनता नहीं है। वेद अपने भाव तथा भाषा को सर्वथा स्पष्ट रखता है न भावों में दुरूहता आने देता है न भाषा में। यही कारण है कि मन्त्र पढ़ते ही अर्थ तुरन्त हृदयंगम हो जाता है।

शब्दशक्ति—वेद ने नीति का प्रतिपादन करने के लिए प्रायः अभिधा शक्ति का आश्रय लिया है। परन्तु कहीं कहीं लक्षणा तथा व्यंजना द्वारा विषय को अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है। वास्तविक तथा नाममात्र के ज्ञानियों के भेद को वेद इस प्रकार स्पष्ट करता है—"एक मनुष्य को लोग वाणी की मित्रता में सम्यक प्रतिष्ठित कहते हैं उसे ज्ञानपुरुषों के समाज से बहिष्कृत नहीं करते। परन्तु जिसने फल-रहित और पुष्प-रहित वाणी का श्रवण किया है वह किसी मायामयी गौ के साथ ही

घूमता है।"[1]

वाणी को पुष्प-फल रहित वहन में लक्षणा का प्रयोग हुआ है तथा निदर्शना अलंकार द्वारा यह व्यंग्य है कि निस्सार वाणी का श्रवण नितान्त निरर्थक है।

दोष—वेदों के भाष्यकारों ने वैदिक मन्त्रों में कहीं-कहीं भिन्न क्रमत्व, पुरुष व्यत्यय, विभक्तिव्यत्यय, वचनव्यत्यय आदि की ओर संकेत किया है।[2] परन्तु उक्त स्थलों पर विचार करते समय यह बात स्मरणीय है कि वैदिक भाषा संसार की प्राचीनतम भाषा है। पाणिनि आदि के व्याकरण तथा भामह आदि के काव्य-शास्त्र जिनके आधार पर हम आधुनिक कृतियों की आलोचना किया करते हैं बहुत ही पीछे की रचनाएँ हैं। इतने सुदीर्घ काल में भाषा शैली आदि में परिवर्तन हो ही जाया करते हैं। अतः इनके आधार पर उनकी सूक्ष्म आलोचना करना उचित नहीं प्रतीत होता।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर सहज ही पहुँच जाते हैं—

(१) वेदों के कुछ अंशों में नीतिकाव्य बीजरूप में विद्यमान है।

(२) उसका सम्बन्ध मानव-जीवन के प्रायः सभी अंगों से है।

(३) वैदिक नीतिकाव्य ऐहिक जीवन को विशेष महत्त्व देता हुआ शारीरिक बौद्धिक तथा आत्मिक गुणों के विकास की प्रबल प्रेरणा करता है।

(४) पारिवारिक सम्बन्धों को सत्य मानते हुए उनके निर्वाह का सम्यक् यत्न करना चाहिए।

(५) वेद सबसे मिल-जुलकर रहने का उपदेश देता है परन्तु शत्रुओं के प्रति मृदु व्यवहार का पक्षपाती नहीं है।

(६) वेद धन को तुच्छ नहीं मानता। उसे परिश्रम-पूर्वक उपार्जित करने तथा उदारतापूर्वक व्यय करने की प्रेरणा करता है।

(७) वेद साधारण प्राणियों का हितैषी है परन्तु हिंस्र जीवों के संहार का समर्थक है।

(८) वेद कर्म और पुरुषार्थ को विशेष महत्त्व देता हुआ सुखी जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है।

(९) वैदिक नीतिकाव्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से चाहे सर्वांश में सरस न हो परन्तु उसके कुछ अंश तो अवश्य ही काव्यपद के अधिकारी हैं।

(ख) परवर्ती वैदिक साहित्य में नीतिकाव्य

वेदों की संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुई। कहते हैं कि वेदों की ११३० संहिताओं के समान सभी ब्राह्मण आरण्यक

---

१ ऋग्वेद, १०।७१।५

२ यजुर्वेद, ४०।१।१ पर उव्वट तथा महीधर के भाष्य देखिए।

(३) शब्दार्थ चमत्कार

किसी-किसी सूक्त में तो वेद शब्द तथा अर्थ-सम्बन्धी चमत्कारों की माला प्रस्तुत कर देता है। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड का पन्द्रहवाँ सूक्त इस बात का सुन्दर निदर्शन है। इसमें मनुष्य निर्भयता प्राप्ति के लिए अपने प्राण को यों संबोधित करता है—'जैसे द्यौ और पृथ्वी न डरते हैं, न हानि उठाते हैं, ऐसे ही हे मेरे प्राण तू मत डर। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् मंत्रों में दिन और रात, सूर्य और चाँद, ब्रह्म और *क्षत्र सत्य और अनृत भूत और भविष्यत् की उपमायें देकर निज प्राण को* निर्भयता का उपदेश दिया है। आधुनिक छायावादी कवियों के समान वेद भी सूर्य चन्द्र आदि प्राकृतिक तथा भूत भविष्यत् आदि अप्राकृतिक पदार्थों में निर्भयता की कल्पना कर उन्हें प्राण के उपमान बनाता है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

छन्द—संहिताओं के नीतिकाव्य में भी उन्हीं गायत्री अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि वैदिक वर्ण-छन्दों का व्यवहार किया गया है जिनका सामान्य मन्त्रों में। उनमें अक्षर संख्या पर तो प्रायः दृष्टि रहती है परन्तु गुरु-लघु-विचार पर नहीं।

काव्यविधान—काव्य-विधान की दृष्टि से वैदिक नीतिकाव्य मुक्तक काव्यों की कोटि में ही सम्मिलित हो सकता है प्रबन्ध काव्यों में नहीं। दान ज्ञान द्यूत निन्दा अतिथिसेवा, सामंजस्य आदि विषयों पर जो सूक्त दिखाई देते हैं उनका प्रत्येक मन्त्र अपने-आप में पूर्ण है। यद्यपि एक-एक सूक्त के अनेक मन्त्रों का विषय प्रायः एक ही होता है तथापि अर्थाभिव्यक्ति में उन्हें अन्य मन्त्रों का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे भर्तृहरि के नीति-शतक के विषय विभिन्न शतकों में विभक्त हैं वैसे ही वैदिक सूक्त भी। अतएव जैसे वे मुक्तक काव्य हैं वैसे ही ये।

गुण—वैदिक नीतिकाव्य में रस का अभाव-सा है अतः उसमें गुणों की विशेष खोज करना भी निरर्थक है। उसमें ओज तथा माधुर्य की विशेष मात्रा न रहते हुए भी प्रसाद गुण की न्यूनता नहीं है। वेद अपने भाव तथा भाषा को सर्वथा स्पष्ट रखता है न भावों में दुरूहता आने देता है न भाषा में। यही कारण है कि मन्त्र पढ़ते ही अर्थ तुरन्त हृदयंगम हो जाता है।

शब्दशक्ति—वेद ने नीति का प्रतिपादन करने के लिए प्रायः अभिधा शक्ति का आश्रय लिया है। परन्तु कहीं कहीं लक्षणा तथा व्यंजना द्वारा विषय को अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया है। वास्तविक तथा नाममात्र के ज्ञानियों के भेद को वेद इस प्रकार स्पष्ट करता है—"एक मनुष्य को लोग वाणी की मित्रता में सम्यक् प्रतिष्ठित कहते हैं उसे ज्ञानवृद्धों के समाज से बहिष्कृत नहीं करते। परन्तु जिसने फल-रहित और पुष्प-रहित वाणी का श्रवण किया है वह किसी मायामयी गौ के साथ ही

घूमता है।"[1]

वाणी को पुष्प फल रहित कहने में लक्षणा का प्रयोग हुआ है तथा निदर्शना अलंकार द्वारा यह व्यंग्य है कि निस्सार वाणी का श्रवण नितान्त निरर्थक है।

दोष—वेदों के भाष्यकारों ने वैदिक मन्त्रों में कहीं-कहीं भग्नक्रमत्व पुरुष व्यत्यय विभक्तिव्यत्यय वचनलिंगव्यत्यय आदि की ओर संकेत किया है।[2] परन्तु उक्त स्थलों पर विचार करते समय यह बात स्मरणीय है कि वैदिक भाषा संसार की प्राचीनतम भाषा है। पाणिनि आदि के व्याकरण तथा भामह आदि के काव्य-शास्त्र जिनके आधार पर हम आधुनिक कृतियों की आलोचना किया करते हैं बहुत ही पीछे की रचनाएँ हैं। इतने सुदीर्घ काल में भाषा शैली आदि में परिवर्तन हो ही जाया करते हैं। अतः इनके आधार पर उनकी सूक्ष्म आलोचना करना उचित नहीं प्रतीत होता।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर सहज ही पहुँच जाते हैं—

(१) वेदों के कुछ अंशों में नीतिकाव्य बीजरूप में विद्यमान है।

(२) उसका सम्बन्ध मानव-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से है।

(३) वैदिक नीतिकाव्य ऐहिक जीवन को विशेष महत्त्व देता हुआ शारीरिक, बौद्धिक तथा आत्मिक गुणों के विकास की प्रबल प्रेरणा करता है।

(४) पारिवारिक सम्बन्धों को सत्य मानते हुए उनके निर्वाह का सम्यक् यत्न करना चाहिए।

(५) वेद सबसे मिल-जुलकर रहने का उपदेश देता है परन्तु शत्रुओं के प्रति मृदु व्यवहार का पक्षपाती नहीं है।

(६) वेद धन को तुच्छ नहीं मानता। उसे परिश्रम-पूर्वक उपार्जित करने तथा उदारतापूर्वक व्यय करने की प्रेरणा करता है।

(७) वेद मात्रमात्र प्राणियों का हितैषी है परन्तु हिंस्र जीवों के संहार का समर्थक है।

(८) वेद धर्म और पुरुषार्थ को विशेष महत्त्व देता हुआ सुखी जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है।

(९) वैदिक नीतिकाव्य काव्यशास्त्र की दृष्टि से चाहे पर्याप्त में सरस न हो परन्तु उसके कुछ अंश तो अवश्य ही काव्यत्व के अधिकारी हैं।

(ख) परवर्ती वैदिक साहित्य में नीतिकाव्य

वेदों की संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों तथा उपनिषदों की रचना हुई। कहते हैं कि वेदों की ११३० संहिताओं के समान कभी ब्राह्मण आरण्यक

---

१ ऋग्वेद, १०।७१।५

२ यजुर्वेद, ४०।८ उवट भाष्य तथा महीधर के भाष्य देखिए।

आदि भी इतनी-इतनी ही संख्या में विद्यमान थे परन्तु आज १८ ब्राह्मण ग्रंथ ७ आरण्यक और २२० उपनिषदें ही प्राप्त हैं। शेष काल के गाल में समा गये हैं। ब्रह्म (यज्ञ) के प्रतिपादक होने अथवा यज्ञों के ब्राह्मण-संचालित होने के कारण इन ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रंथ नाम दिया गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में दर्श पौर्णमास पुत्रेष्टि राजसूय सोमयाग आदि अनेक यज्ञों के अनुष्ठानार्थ सविस्तर निर्देश हैं। इनमें मन्त्रों की अर्थ-मीमांसा शब्दों की व्युत्पत्ति, प्राचीन ऋषियों तथा राजाओं की कथाएँ भी हैं। गीति की बातें तो कहीं-कहीं आ जाती हैं परन्तु उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रायः नीरस गद्य में होने के कारण गीति का काव्य अत्यल्प मात्रा में ही उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ, इन्द्र का रोहिताश्व को उद्योग-विषयक उपदेश द्रष्टव्य है—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगः, चरैवेति।[1]

बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य बैठा, खड़े होने वाले का खड़ा सुप्त का सोया तथा चलने वाले का चलता है। अतः तू भी चल।

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्, चरैवेति।[2]

सोया हुआ व्यक्ति कलियुग होता है निद्रा का त्याग करता हुआ द्वापर, खड़ा होता हुआ त्रेता तथा चलता हुआ कृतयुग अतः तू भी चल।

आरण्यक अरण्यवासी वानप्रस्थ लोगों के काम के ग्रंथ हैं। गृहस्थ लोगों के यज्ञों का विवरण ब्राह्मण ग्रंथों में है तो वानप्रस्थों के यज्ञ महाव्रत होम आदि का विवरण आरण्यक ग्रन्थों में। ये मुख्यतः यज्ञों के रहस्यों का प्रतिपादन करते हैं अतएव इन्हें रहस्य ग्रंथ भी कहा गया है।[3] आरण्यकों में विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्यों का उल्लेख तो है परन्तु यह आरण्यकों के ब्राह्मणवत् ही प्रायः नीरस गद्य होने के कारण गीति-काव्य में परिगणित नहीं हो सकता।

उपनिषद् (उप+नि+सद्) शब्द की व्युत्पत्ति से ही प्रतीत हो जाता है कि ये परब्रह्म के समीप बैठाने वाले ज्ञान से पूर्ण ग्रन्थ हैं। ब्रह्म का स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति का उपाय ही उपनिषदों के प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं। आजकल २२० के लगभग उपनिषदें प्राप्य हैं और उनका अधिकांश नीरस गद्य में है। यद्यपि उनमें सत्य त्याग तप तृष्णा दान दम दया अतिथिसेवा आदि नैतिक विषय भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं तथापि प्रायः नीरस गद्य या पद्य में होने के कारण वे काव्य में नहीं गिने जा सकते। हाँ कहीं-कहीं कुछ अंशों को जैसे-तैसे गीतिकाव्य में अन्तर्भावित कर सकते हैं। जैसे मानवीय व्यक्तित्व के विभिन्न अंशों के सापेक्ष सम्बन्ध के विषय में उपनिषद् में यों कहा गया है—

1, 2 ऐतरेय ब्राह्मण (आनन्दाश्रम पूना १९११ ई०) अध्याय ११, खण्ड १।
3 रामगोविन्द त्रिवेदी: वैदिक साहित्य, १९५० ई०, पृष्ठ १९०।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहु विषयांस्तेषु गोचरान्।[1]

आत्मा को रथी समझो और शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जानो और मन को लगाम, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और विषय उनके मार्ग।

अन्त में समग्र वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि मुख्यरूप से धार्मिक, याज्ञिक और आध्यात्मिक साहित्य होने के कारण एक तो इसमें विशुद्ध नीति की मात्रा ही थोड़ी है और दूसरे नीतिकाव्य की तो उससे भी थोड़ी। परन्तु जैसी और जितनी भी है, उसने हमारे परवर्ती साहित्य को कुछ-न-कुछ अवश्य प्रभावित किया है।

(२) संस्कृत का नीतिकाव्य

संस्कृत के जिन ग्रन्थों में नीति-काव्य उपलब्ध होता है वे दो प्रकार के हैं। एक वे जिनका मुख्य विषय तो कोई अन्य है किन्तु जिनमें नीति गौण रूप से समाविष्ट है। दूसरे वे जिनकी रचना का उद्देश्य ही नीति का उपदेश है। विवेचन-सौकर्य के लिए हम इन्हें 'मिश्रित-काव्य' तथा 'नीति-काव्य' नामों से अभिहित करेंगे। मिश्रित-काव्य तीन वर्गों में विभाज्य है—१ प्रबन्ध काव्य २ मुक्तक काव्य ३ दृश्यकाव्य। प्रबन्ध काव्यों के निम्नांकित अवान्तर भेद हो सकते हैं—(क) रामायण और महाभारत (ख) पुराण (ग) महाकाव्य (घ) खण्ड काव्य (ङ) ऐतिहासिक काव्य (च) चम्पू काव्य। मुक्तक काव्य भी तीन वर्गों में विभाज्य है—

(क) शृङ्गार-मुक्तक
(ख) वैराग्य-मुक्तक
(ग) स्तोत्र-मुक्तक।

नीतिकाव्य भी तीन प्रकार का है—

(क) प्रत्यक्ष नीतिकाव्य
(ख) अन्यापदेशात्मक नीतिकाव्य
(ग) सुभाषित-संग्रहों का नीतिकाव्य।

(अ) मिश्रित काव्यों में नीति

१ प्रबन्ध काव्य

क रामायण और महाभारत

रामायण—रामायण हमारा आदि काव्य है। इसका मुख्य विषय राम का चरित्र-चित्रण तथा उनकी रावण पर विजय है। नायक-प्रतिनायक के राजा होने के कारण

---

१ कठोपनिषद्, १।३।३ ४

इस काव्य में राजनीति का निरूपण तो स्वाभाविक ही था, सामान्य नीति भी प्रसंग वश समाविष्ट हो गई है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

सत्यसम्पत्त तथा पुत्रवात्सल्य के कारण जब दशरथ की गति सांप-छछूंदर की-सी हो गई तब कैकेयी ने अभीष्ट-सिद्धि के लिए दशरथ को सत्य-नीति का महत्त्व यों समझाया—

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदा, सत्येनावाप्यते परम् ॥[1]

सत्य ही एकाक्षर ब्रह्म है, सत्य पर ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही शाश्वत वेद है सत्य से ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है। रामायण में पिता को साक्षात् देवता तथा उसके आदेश-पालन को परम कर्त्तव्य माना गया है। पिता को मूर्छित देखकर राम कैकेयी से कहते हैं— मनुष्य का जिस व्यक्ति के कारण पृथ्वी पर प्रादुर्भाव होता है, उस प्रत्यक्ष देवता का वचनपालन वह क्यों न करे।"[2] क्रूर-कर्मा कैकेयी पर भरत और शत्रुघ्न दोनों को असीम क्रोध आ रहा था तो भी सज्जन भरत ने क्रुद्ध शत्रुघ्न को इस नीति द्वारा शान्त किया— किसी भी प्राणी को स्त्री-हत्या नहीं करनी चाहिए, इस लिए इसे क्षमा कर दीजिये।"[3] सीतापहरण के कारण शोक-मग्न तथा हतोत्साह राम को लक्ष्मण इन शब्दों द्वारा प्रोत्साहित करते हैं—"हे आर्य उत्साह में बहुत बल होता है। उत्साह से बड़ा बल कोई भी नहीं होता। लोक-लोकान्तरों में उत्साही व्यक्ति के लिए कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नहीं होता।"[4] लोकापवाद के कारण पति द्वारा निर्वासित दुखिनी भी सीता लक्ष्मण के समक्ष पति का महत्त्व इन शब्दों में प्रतिपादित करती है—

पतिर्हि देवता नार्याः, पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः ॥[5]

स्त्री के लिये तो पति ही देवता पति ही बन्धु और पति ही गुरु है। इसलिए पत्नी को पति की अभीष्ट सिद्धि के लिए प्राणोत्सर्ग करने में भी संकोच न करना चाहिए।

इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं जो आज पर्यन्त हमारे समाज में प्रचलित हैं। जैसे—राजतिलक के स्थान पर वनवास मिलने पर क्रुद्ध लक्ष्मण श्रीराम से कहते हैं—

---

१ वाल्मीकि रामायण निर्णयसागर प्रेस बम्बई, २।१४।७
२ वाल्मीकि रामायण निर्णयसागर प्रेस बम्बई, २।१८।१६
३ वही २।७८।२१
४ वही ६।१।११
५ वही ७।४८।१७, १८

भरतस्याथ पक्ष्यो वा, यो वास्यहितमिच्छति ।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥[1]

जो-जो भी भरत के पक्षपाती और हितैषी होंगे, उन सबको मैं मार डालूँगा । जगत् में जो कोमल स्वभाव का होता है, वह तिरस्कार-पात्र बनता है ।

जैसा-तैसा भी पति पूज्य है इस नीति की शिक्षा अनसूया सीता को इन शब्दों में देती है—

दुःशीलः कामवृत्तो वा, धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां, परमं दैवतं पतिः ॥[2]

दुःशील, व्यभिचारी तथा दरिद्र भी पति आर्य नारियों के लिए परम देवता होता है ।

कन्या के पिता को समाज में झुकना ही पड़ता है, इस बात को सीता अनुसूया के सम्मुख स्वीकार करती है—

सदृशाच्चापकृष्टाच्च, लोके कन्यापिता जनात् ।
प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥[3]

संसार में कन्या के इन्द्रतुल्य पिता को भी अपने तुल्य और अपने से छोटे व्यक्ति के संमुख भी झुकना पड़ता है ।

उपर्युक्त नीत्यात्मक अवतरण तो वाल्मीकि-रामायण के विभिन्न काण्डों से प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु कहीं-कहीं एक स्थल पर नीति के बीसियों श्लोक विद्यमान हैं। जैसे रामनिर्वासन में अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए भरत ने कौशल्या के सम्मुख जो सौगन्धें उठाईं उनसे तत्कालीन नीति का सुन्दर परिचय मिलता है । भरत ने कहा—"जिसकी अनुमति से राम वन को गये हों वह पापियों का प्रेष्य बने । सूर्याभिमुख मूत्रविसर्जन करे सोई हुई गौ को पांव से ठोकर मारे, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले नृप के प्रति विद्रोह करे गुरुओं की निन्दा करे गौओं को पाँव से छुए, मित्र से द्रोह करे परिवार तथा दासों से युक्त घर में अकेला ही बढ़िया भोजन करे राजा स्त्री बाल या वृद्ध की हत्या करे, नौकर को नौकरी से हटा दे, मद्यप व्यभिचारी और द्यूतकार बने काम और क्रोध का शिकार बने प्रात और सायं सन्ध्याकाल में सोता रहे ब्राह्मण के भावी पूजा-सत्कार में विघ्न डाले तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दोहे ।"[4]

महाभारत—रामायण में नीतिकाव्य प्रसंगवश कहीं-कहीं ही उपलब्ध होता है परन्तु महाभारत को तो नीतिकाव्य का भंडार कहना ही उपयुक्त है । छिट-पुट रूप

---

१ वाल्मीकि रामायण निर्णयसागर प्रेस बम्बई २।२१।११
२ वही २।११७।२४
३ वही २।११८।३५
४ वही २।७५।२२, २४ ३० ३१ ३४ ३७ ४१ ५४

में तो नीतिकाव्य महाभारत के प्रत्येक पर्व में प्राप्त होता है परन्तु उद्योग, शांति और अनुशासन पर्व तो नीति के कोष-से ही हैं। इनके अध्ययन से अनुमान होता है कि ये महाभारत की कथा में सहज भाव से नहीं आए, नीति का उपदेश देने के लिए योजना-पूर्वक रखे गये हैं। उदाहरणार्थ उद्योग-पर्व के विदुर-वाक्य नामक संदर्भ (अध्याय ३३-४०) पर दृष्टिपात कीजिये। सामान्यतः "विदुरनीति" नाम से प्रख्यात इस संदर्भ को नीति की अष्टाध्यायी कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि इसका उपदेश पुत्रों तथा भतीजों के पारस्परिक वैमनस्य से विह्वल धृतराष्ट्र को शान्ति प्रदान करने के लिए दिया गया था तो भी इसके अवलोकन से निश्चय हो जाता है कि इसमें मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक विषय पर प्रकाश डाला गया है। निम्नोद्धृत अंशों से महाभारत के नीति-काव्य की बानगी ली जा सकती है—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्॥[1]

किसी धनुर्धर द्वारा फेंका हुआ बाण सम्भवतः एक को भी मारे या न मारे परन्तु बुद्धिमान् द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजा के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर सकती है।

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ॥[2]

हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र जलती हुई लकड़ियाँ पृथक् पृथक् होने पर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होने पर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार बान्धवगण भी विघटित होने पर दुःख और संघटित होने पर सुख प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते॥[3]

हे धृतराष्ट्र जो लोग ब्राह्मणों स्त्रियों सम्बन्धियों और गौओं पर शूरता प्रकट करते हैं, वे ऐसे नीचे गिरते हैं जैसे डंठल से पके हुए फल।

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च॥[4]

बलवान् को निर्बल शत्रु की भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए क्योंकि तनिक-सी भी अग्नि जला डालती है और जरा-सा भी विष प्राण ले लेता है।

---

१ महाभारतम् (चित्रशाला प्रेस पूना, १९३१ ई०) उद्योग पर्व अध्याय ३३, पद्य ४२
२ वही उद्योग पर्व ३६।६०
३ वही, ३७।६१।
४ ई०-सी० वी० वैद्य, संक्षिप्त महाभारतम्। (बम्बई १९११ ई०) पृष्ठ ४२७, पद्य १९१।

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥[1]

दुर्बल मनुष्य मुनि तथा सर्प के नेत्रों का तेज सर्वाधिक असह्य होता है। इसलिए कभी दुर्बल को मत सताओ।

न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ।
तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टेऽपि युक्तो ह्यर्थं परीक्षितुम् ॥[2]

दिखाई देने पर भी न गगन में तल होता है न जुगनू में अग्नि। इसलिए प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु की भी परीक्षा सम्यक् करनी चाहिए।

समीक्षा

रामायण और महाभारत के नीति-अंशों पर विहंगमदृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि रामायण में नीति-काव्य न्यून है महाभारत में अधिक। सत्य प्रतिज्ञापालन, पितृ भक्ति आदि गुणों पर जितना बल रामायण में लक्षित होता है उतना महाभारत में नहीं। रामायण में दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित प्रतीत होती है, महाभारत में व्यावहारिकता पर।

भाषा-शैली

दोनों काव्यों की भाषा तथा छन्दों में विशेष अन्तर नहीं है परन्तु शैली भेद पर दृष्टि अनायास जा पड़ती है। रामायण में नीतिकाव्य फुट-फुट रूप में सन्निविष्ट है। महाभारत में नैतिक गूढ़ मित्र शत्रु शांति कुल वंश पुरुषार्थ आदि अंशों में मिला जित है। महाभारत में पशु-पक्षियों की कथाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। परन्तु रामायण में उसका अभाव है। कहना न होगा कि परवर्ती नीति-साहित्य को ऐसी कथाओं के लिये महाभारत का प्रत्यक्ष या परोक्ष आभार मानना होगा। महाभारत में गणित के एक से लेकर दस तक अंकों का क्रमशः आधार लेकर भी नीतिकाव्य रचा गया है। यह आधार दो प्रकार से लिया गया है —

क—एक ही अंक पर अनेक पद्यों की रचना द्वारा जैसे—देवता पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचों की पूजा से ही मनुष्य लोक में निर्मल यश प्राप्त करता है।[3]

जहाँ-जहाँ भी तू जाएगा वहाँ-वहाँ मित्र शत्रु, उदासीन, आश्रयदाता तथा

---

१ वही पृष्ठ ४४४ । १२८

२ वही पृष्ठ ४४८ । ४०६

३ विदुर नीति, गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २०११ पृष्ठ ११।८०

में तो नीतिकाव्य महाभारत के प्रत्येक पर्व में प्राप्त होता है परन्तु उद्योग शांति और अनुशासन पर्व तो नीति के कोष-से ही हैं। इनके अध्ययन से अनुमान होता है कि ये महाभारत की कथा में सहज भाव से नहीं आए, नीति का उपदेश देने के लिए योजना पूर्वक रखे गये हैं। उदाहरणार्थ उद्योग-पर्व के विदुर-वाक्य नामक संदर्भ (अध्याय [illegible] ४०) पर दृष्टि-पात कीजिये। सामान्यतः "विदुरनीति" नाम से प्रख्यात इस संदर्भ को नीति की अष्टाध्यायी कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि इसका उपदेश पुत्रों तथा भतीजों के पारस्परिक वैमनस्य से विक्षुब्ध धृतराष्ट्र को शान्ति प्रदान करने के लिए दिया गया था तो भी इसके अवलोकन से निश्चय हो जाता है कि इसमें मानवीय व्यवहार से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक विषय पर प्रकाश डाला गया है। निम्नोद्धृत अंशों से महाभारत के नीति-काव्य की बानगी ली जा सकती है—

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥[1]

किसी धनुर्धर द्वारा फेंका हुआ बाण सम्भवतः एक को भी मारे या न मारे परन्तु बुद्धिमान् द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजा के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर सकती है।

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥[2]

हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र, जलती हुई लकड़ियाँ पृथक् पृथक् होने पर धुआँ फेंकती हैं और एक साथ होने पर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी विघटित होने पर दुःख और संघटित होने पर सुख प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥[3]

हे धृतराष्ट्र जो लोग ब्राह्मणों स्त्रियों सम्बन्धियों और गौओं पर शूरता प्रकट करते हैं, वे ऐसे नीचे गिरते हैं जैसे डंठल से पके हुए फल।

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥[4]

बलवान् को निर्बल शत्रु की भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए क्योंकि तनिक-सी भी अग्नि जला डालती है और जरा-सा भी विष प्राण ले लेता है।

---

१ महाभारतम् (चित्रशाला प्रेस पूना, १९२९ ई०) उद्योग पर्व अध्याय [illegible] पद्य [illegible]
२ वही उद्योग पर्व, ३७।६०
३ वही, ३७।६१।
४ सं०-वी० वी० वैद्य संक्षिप्त महाभारतम्। (बम्बई १९११ ई०) पृष्ठ ४१७, पद्य ९६२।

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥[1]

दुर्बल मनुष्य मुनि तथा सर्प के नेत्रों का तेज सर्वाधिक असह्य होता है। इसलिए कभी दुर्बल को मत सताओ।

न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ।
तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थं परीक्षितुम् ॥[2]

दिखाई देने पर भी न गगन में तल होता है न जुगनू में अग्नि। इसलिए प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु की भी परीक्षा सम्यक् करनी चाहिए।

समीक्षा

रामायण और महाभारत के नीति-वर्णों पर विहंगमदृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि रामायण में नीति-काव्य न्यून है, महाभारत में अधिक। सत्य प्रतिज्ञापालन पितृ-भक्ति आदि गुणों पर जितना बल रामायण में लक्षित होता है उतना महाभारत में नहीं। रामायण में दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित प्रतीत होती है, महाभारत में व्यावहारिकता पर।

भाषा-शैली

दोनों काव्यों की भाषा तथा छन्दों में विशेष अन्तर नहीं है परन्तु शैली भेद पर दृष्टि अनायास जा पड़ती है। रामायण में नीतिकाव्य फुट-फुट रूप में सन्निविष्ट है। महाभारत में पंडित मूढ़, मित्र शत्रु ज्ञाति कुल वंश पुरुषार्थ आदि प्रसंगों में विभाजित है। महाभारत में पशु-पक्षियों की कथाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। परन्तु रामायण में उसका अभाव है। कहना न होगा कि परवर्ती नीति-साहित्य को ऐसी कथाओं के लिये महाभारत का प्रत्यक्ष या परोक्ष आभार मानना होगा। महाभारत में गणित के एक से लेकर दस तक अंकों का क्रमशः आधार लेकर भी नीतिकाव्य रचा गया है। यह आधार दो प्रकार से लिया गया है —

क—एक ही अंक पर अनेक पदों की रचना द्वारा जैसे—देवता पितर, मनुष्य सन्यासी और अतिथि—इन पाँचों की पूजा से ही मनुष्य लोक में निर्मल यश प्राप्त करता है।[3]

जहाँ-जहाँ भी तू जाएगा वहाँ-वहाँ मित्र शत्रु, उदासीन आश्रयदाता तथा

---

१ वही पृष्ठ ४६४ । १५८
२ वही पृष्ठ ४४८ । ४०६
३ विदुर नीति, गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २०११ पृष्ठ १६।८०

धायमयापेक्षी ये पाँच तेरा अनुगमन करेंगे ।[1]

ख—एक पद्य में अनेक अर्थों के संयोग द्वारा जैसे—

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥[2]

वाल्मीकि रामायण में भरत के सौगन्धों वाले उपर्युक्त प्रसंग में श्लोक के अन्तिम चरण की आवृत्ति अनेक श्लोकों म देख पड़ती है । प्रतिपाद्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए यहाँ 'यस्यार्यो ऽनुमते गतः' की सभी पदों में आवृत्ति की गई है । यह प्रवृत्ति महाभारत में अनेकत्र देखने में आती है । यहाँ "स वै पण्डित उच्यते नरः पण्डितबुद्धयः' 'समाहुर्दुश्चेतसम्' आदि अन्तिम चरणों को अनेक श्लोकों में दुहराया गया है ।[3]

अलंकार

रामायण की अपेक्षा महाभारत में अलंकारों का प्रयोग कहीं अधिक है । इससे यहाँ नीति-पद्यों की नीरसता में न्यूनता आई है वहाँ प्रतिपाद्य की प्रभावकता में वृद्धि हुई है । अलंकार तीनों प्रकार के उपलब्ध होते हैं । शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा लाटानुप्रास का और अर्थालंकारों में उपमा रूपक तथा आवृत्ति-दीपक की बहुलता है । व्यतिरेक अन्योन्य तुल्ययोगिता आदि अलंकार भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं । प्रायः उपमा का प्रयोग श्लोक के अन्तिम चरण या अन्तिम दो चरणों में हुआ है ।[4]

काव्यत्व की दृष्टि से रामायण का नीतिकाव्य महाभारत से उत्कृष्ट प्रतीत होता है । क्योंकि यहाँ नीति प्रत्यक्षतया उपदिष्ट नहीं है, व्यंग्य है । नीति की यह व्यंग्यता ही पाठक को विशेष भाव में मग्न कर आनन्दित कर देती है । कहीं भरत कुछ इस प्रकार कह देते हैं कि यदि राम के निर्वासन में मेरा हाथ हो तो मुझे नरक में फेंके तो उचित नीरस हो जाती । परन्तु उनका यह कहना कि जिसकी अनुमति से राम वन को गए हों वह परिवार में रहता हुआ भी एकाकी मधुर भोजन खाए तथा बालवत्सा गौ को दोहे हृदय को अनेक रम्य भावों में मग्न कर देता है । ऐसी उक्तियों से भरत के प्रति तो श्रद्धा का जागरित होना स्वाभाविक ही है, अप्रत्यक्ष रीति से नीति के ये उपदेश भी हृदयंगम हो जाते हैं कि हम भी अन्नसेवी बनें बाँट कर खाएँ और बालवत्सा गौ को न दोहें । महाभारत के अविस्तार नीत्यात्मक प्रसंगों

---

१ वही पृष्ठ १ ।८१
२ वही पृष्ठ १२।४१
३ वही, पहला अध्याय श्लोक २०-४१
४ विदुरनीति पृष्ठ ४०।११ ४१ । ४४ ४० । १२ १४१ । २९,४१ । ११ पर प्रस्तुत अलंकारों के उदाहरण देखिये ।

में नीति अभिहित है, व्यंग्य नहीं। इसी कारण वह मस्तिष्क को तो प्रभावित करती है, हृदय को भावविभोर नहीं।

जैसे—"मनुष्य आपत्ति से बचाव के लिए धन की रक्षा करे और धन के द्वारा भी पत्नी की रक्षा करे, तथा स्त्री और धन दोनों के द्वारा सदा अपनी रक्षा करे।"[१] माना कि व्यास जी ने इस उक्ति में सामान्य नीति के तीन उपयोगी उपदेश मिला दिए हैं और उसे आवृत्तिदीपक की सहायता से सूक्ति बना दिया है तो भी यह स्वीकार करना ही होगा कि यह रस-भाव शून्य होने के कारण सत्-काव्य नहीं मानी जा सकती। इसलिए यह मानते हुए भी कि महाभारत में कहीं-कहीं सुन्दर-सरस नीति-काव्य विद्यमान है इस बात का प्रत्याख्यान करना कठिन है कि उसके अधिकतर नीति प्रसंग अपरकाव्य के अन्तर्गत ही स्थान पा सकते हैं।

(ख) पुराण

यद्यपि प्राय अठारह पुराण और इतने ही उपपुराण माने जाते हैं तथापि पुराण नाम से प्रचलित पुस्तकों की संख्या सौ से भी ऊपर ही है। इनमें सृष्टि रचना, लोक-परलोक इतिहास, देव-कथा धर्म, नीति आदि विषयों की सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। इनमें नीति के अनेक विषय दृष्टिगत होते हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—स्त्री पण्डित, मूर्ख सज्जन दुर्जन, दैव-कर्म सुख-दुःख विद्या विद्यार्थी काल महत्त्व सत्य भावशुद्धि, गृहसुख, उत्तम जिव्हा मित्र-शत्रु आदि।

चतुर्वर्ग की सिद्धि शरीर के रहते हुए सम्भव है अतः बुद्धिमान् को प्रेरणा की गई है कि वह महान् प्रयत्न से शरीर की रक्षा करे।[२] अर्थज्ञान बिना अध्ययन की निष्फलता का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

स्वर्गाय बद्धकक्षो यः पाठमात्रेण वाङ्मुखः।
स बालो मातुरंकस्थो, ग्रहीतुं सोममिच्छति ॥[३]

जो द्विज ग्रन्थों के पाठमात्र से स्वर्ग जाने को कटिबद्ध होता है वह उस बालक के तुल्य है जो माता की गोद में बैठकर चन्द्र को पकड़ना चाहता है।" चूंकि बाह्य क्रिया-कलाप मन की वृत्तियों पर आधृत होते हैं, अतः भावशुद्धि पर बहुत बल दिया गया है—कामुक का आलिंगन एक भाव से किया जाता है और दुहिता का दूसरे भाव से।[४] सन्त-साहित्य में निन्दक की प्रशंसा का जो विचार दिखाई देता

---

१ वही, पृष्ठ ६७।१८

२ पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू०—पुराणिक वर्ड्स आफ विज़डम, बम्बई (१६४० ई०) पृ० ६८।८७

३ वही, पृष्ठ ४८।७०।३

४ वही, ,, ३१।७४६

है यह पद्मपुराण में पहले ही व्यक्त किया जा चुका था—

आक्रोशकसमो लोके सुहृदन्यो न विद्यते ।
यस्तु दुष्कृतमादाय सुकृतं स्वं प्रयच्छति ॥[1]

संसार में निन्दक के समान कोई मित्र नहीं क्योंकि वह पाप लेकर अपना पुण्य दे देता है। स्त्रियों को कहीं पर तो जोंक से भी अधम कहा गया है और कहीं पर विप्र से भी पवित्र—

जलौका केवलं रक्तमादत्ते तपस्विनी ।
प्रमदा सर्वमादत्ते वित्तं चित्तं बलं सुखम् ॥[2]
अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः ।
पादमेध्या ब्राह्मणा मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः ॥[3]

बेचारी जलौका तो केवल रक्त चूसती है परन्तु नारी चित्त वित्त बल तथा सुख सब कुछ छीन लेती है। बकरी तथा घोड़े का मुख पवित्र होता है गौओं का पृष्ठ-भाग पवित्र होता है, ब्राह्मणों के चरण पवित्र होते हैं परन्तु स्त्रियों का तो सर्वांग ही पवित्र होता है।

पुराणों में धन की निन्दा और स्तुति दोनों ही पाई जाती है परन्तु निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा की प्रचुरता है। धनाढ्य के दुःखों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥[4]

जैसे मांस को जल में मछलियाँ, भूमि पर हिंस्र पशु तथा आकाश में पक्षी खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को सब लोग सर्वत्र खाने को दौड़ते हैं। इसके विपरीत दरिद्रता-जन्य अपमानना का उल्लेख यों किया है—जैसे पक्षी शुष्क वृक्ष को छोड़ जाते हैं वैसे ही बन्धु-बान्धव उत्तम तथा कुलीन धनहीन व्यक्ति को।[5]

याचक विष्णु के समान प्रभुता को ही प्राप्त नहीं करता[6] उन सभी लक्षणों से युक्त हो जाता है जो मरणासन्न व्यक्ति में दिखाई देते हैं —

---

१ वही ,, ५५।७१४
२ वही, १।७
३ वही, पृष्ठ ५।१५
४ वही ,, ५७।१६९
५ वही, ,, २६।१८३
६ वही, ,, ३३।७८३

मुखभंगः स्वरो दीनो गात्रस्वेदो महद्भयम् ।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ॥[1]

मुख की वक्रता, स्वर में दीनता शरीर पर प्रस्वेद तथा भारी भय—ये सब बातें मरणासन्न मानव तथा याचक में समान होती हैं।

अनेकत्र तो सत्याचरण की प्रेरणा की गई है परन्तु गौ स्त्री तथा द्विजों के रक्षार्थ विवाह-काल में, मित्रों के प्रसंग में प्राण-संकट में तथा सर्वस्व लुटते समय झूठ बोलने को भी पाप नहीं माना गया है।[2]

समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशाल-पुराण साहित्य में नीति के प्रायः समग्र विषय यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। नीति के श्लोक प्रायः किसी व्रत कथा अध्यात्मचर्चा आदि के प्रसंग में दिखाई देते हैं। अनेक श्लोक तो वही हैं जो मनुस्मृति, भगवद्गीता हितोपदेश पञ्चतन्त्र तथा शतकत्रयी में भी उपलब्ध होते हैं। गरुड़ पुराण के पूर्व खण्ड आचारकांड (१०८ ११४ तथा ११५ अध्याय) में बृहस्पति-नीतिसार तथा शौनकीय-नीतिसार भी समाविष्ट हैं। जहाँ उनमें नृपनीति का निर्देश है वहाँ लोकनीति की भी पर्याप्त सुन्दर सामग्री है।

पुराणों में नीति-काव्य की एक अन्य शैली भी दिखाई देती है जिसे नैतिक उपमानों की शैली कह सकते हैं। उसमें प्राकृतिक घटनाओं की उपमा नैतिक अनुभवों से दी गई है। अप्रत्यक्ष रूप से नीति का संकेत करने के कारण यह शैली अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है। जैसे—

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥[3]

थोड़े जल में रहने वाले जीवों को शरत्कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से बहुत दुःख होने लगा—जैसे अविजितेन्द्रिय दरिद्र एवं कंजूस कुटुम्बी को बहुत ताप सताते रहते हैं।

पुराणों का नीति-काव्य विषयों की व्यापकता के विचार से तो प्रशंसनीय है परन्तु उनका अधिकतर भाग पद्यमात्र ही है। तो भी कहीं-कहीं पर शब्दों तथा अर्थों में वह चमत्कार प्राप्त हो जाता है जो उन्हें काव्य की परिधि में समाविष्ट कर देता है। जैसे—

---

१ वही, ,, ११५।८१
२ वही, ,, ११०।६२
३ श्रीमद् भागवत पुराण, १०।२०।३७

है वह पद्मपुराण में पहले ही व्यक्त किया जा चुका था—

नास्ति निन्दकसमो लोके सुहृदन्यो न विद्यते ।
यस्तु दुष्कृतमादाय सुकृतं स्वं प्रयच्छति ॥[1]

संसार में निन्दक के समान कोई मित्र नहीं क्योंकि वह पाप लेकर अपना पुण्य दे देता है। स्त्रियों को कहीं पर तो जौंक से भी अधम कहा गया है और कहीं पर विप्र से भी पवित्र—

जलौका केवलं रक्तमाददाना तपस्विनी ।
प्रमदा सर्वमादत्ते वित्तं चित्तं बलं सुखम् ॥[2]
अजाश्वयोर्मुखं मेध्यं गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः ।
पादयोर्ब्राह्मणा मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः ॥[3]

बेचारी जलौका तो केवल रक्त चूसती है परन्तु नारी वित्त चित्त बल तथा सुख सब कुछ छीन लेती है। बकरी तथा घोड़े का मुख पवित्र होता है, गौओं का पृष्ठ-भाग पवित्र होता है, ब्राह्मणों के चरण पवित्र होते हैं परन्तु स्त्रियों का तो सर्वांग ही पवित्र होता है।

पुराणों में धन की निन्दा और स्तुति दोनों ही पाई जाती है परन्तु निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा की प्रचुरता है। धनाढ्य के गुणों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि ।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥[4]

जैसे मांस को जल में मछलियाँ भूमि पर हिंस्र पशु तथा आकाश में पक्षी खा जाते हैं, वैसे ही धनवान् को सब लोग सर्वत्र खाने को दौड़ते हैं। इसके विपरीत दरिद्रता-जन्य अपमानना का उल्लेख यों किया है—जैसे पक्षी शुष्क वृक्ष को छोड़ जाते हैं वैसे ही बन्धु-बान्धव उत्तम तथा कुलीन धनहीन व्यक्ति को।[5]

याचक विष्णु के समान लघुता को ही प्राप्त नहीं करता[6] वह सभी सद्गुणों से युक्त हो जाता है जो धनसम्पन्न व्यक्ति में दिखाई देते हैं —

---

१ वही ,, १५।७८४
२ वही ,, ११८
३ वही, पृष्ठ ९।१३
४ वही, ,, ९७।१९९
५ वही, ,, ९६।१७३
६ वही, ,, ३३।४८३

मुखभंगः स्वरो दीनो गात्रस्वेदो महद्भयम् ।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ॥[1]

मुख की वक्रता, स्वर में दीनता, शरीर पर प्रस्वेद तथा भारी भय—ये सब बातें मरणासन्न मानव तथा याचक में समान होती हैं।

अनेकत्र तो सत्याचरण की प्रेरणा की गई है परन्तु गौ, स्त्री तथा द्विजों के रक्षार्थ, विवाह-काल में, मित्रों के प्रसंग में, प्राण-संकट में तथा सर्वस्व लुटते समय झूठ बोलने को भी पाप नहीं माना गया है।[2]

समीक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशाल पुराण साहित्य में नीति के प्रायः समग्र विषय यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। नीति के श्लोक प्रायः किसी कथा अथवा अध्यात्मचर्चा आदि के प्रसंग में दिखाई देते हैं। अनेक श्लोक तो वही हैं जो मनुस्मृति, भगवद्गीता हितोपदेश पंचतन्त्र तथा शतकत्रयी में भी उपलब्ध होते हैं। गरुड़ पुराण के पूर्व खंड आचारकांड (१०८ ११४ तथा ११५ अध्याय) में बृहस्पति-नीतिसार तथा शौनकीय-नीतिसार भी समाविष्ट हैं। जहाँ उनमें नृपनीति का निर्देश है वहाँ लोकनीति की भी पर्याप्त सुन्दर सामग्री है।

पुराणों में नीति-काव्य की एक अन्य शैली भी दिखाई देती है जिसे नैतिक उपमानों की शैली कह सकते हैं। इसमें प्राकृतिक घटनाओं की उपमा नैतिक अनुभवों से दी गई है। अप्रत्यक्ष रूप से नीति का संकेत करने के कारण यह शैली अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है। जैसे—

गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥[3]

थोड़े जल में रहने वाले जीवों को शरत्कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से बहुत दुःख होने लगा—जैसे अजितेन्द्रिय दरिद्र एवं कंजूस कुटुम्बी को बहुत ताप सताते रहते हैं।

पुराणों का नीति-काव्य विषयों की व्यापकता के विचार से तो प्रशंसनीय है परन्तु उनका अधिकतर भाग पद्यमात्र ही है। तो भी कहीं-कहीं पर शब्दों तथा अर्थों में वह चमत्कार प्राप्त हो जाता है जो उन्हें काव्य की परिधि में समाविष्ट कर देता है। जैसे—

---

१ वही, ,, ११३।५१
२ वही, ,, १०८।१५
३ श्रीमद् भागवत पुराण, १०।२०।३७

शरत्-पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥[1]

स्त्रियों का मुख-मंडल शरद् ऋतु के कमल के समान प्रफुल्ल होता है, उनकी वाणी कानों के लिए अमृत के तुल्य होती है; परन्तु हृदय छुरे की धार के समान कटीला होता है। उनकी चेष्टाओं को कौन जान सकता है?

(ग) महाकाव्य

संस्कृत में अश्वघोष कालिदास श्री हर्ष आदि महाकवियों ने ऐसे अनेक महाकाव्यों की रचना की है जिनका मुख्योद्देश्य धर्मप्रचार न होकर सुकाव्य-सुगम शास्त्र का प्रदान है। इन ग्रन्थों में गीतिकाव्य अच्छी मात्रा और प्रशस्त रूप में उपलब्ध होता है। जैसे—

जब एक वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ ने अपने सारथी से उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया तब उसने जरावस्था दोषों का इस प्रकार उल्लेख किया—

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम् ।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥[2] (अश्वघोष)

इसका रंग-रूप इस बुढ़ापे ने बिगाड़ दिया है जो रूप का नाशक बल का घातक शोक का कारण आनन्दों का उन्मूलक, स्मृति का ध्वंसक और इन्द्रियों का वैरी प्रसिद्ध है।

जिन विषयों के पीछे संसार पागल बना फिरता है उनकी दुष्परिणामता बुद्ध इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

गीतैर्ह्रियन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति ।
मत्स्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थं विषयाः फलन्ति ॥[3] (अश्वघोष)

गीतों से आकर्षित होकर मृग मारे जाते हैं रूप पर मोहित होकर पतंगे अग्नि में भस्म हो जाते हैं; मांस के लोभ से मछली लोहमय कांटे को निगलकर मर जाती है; इस प्रकार विषयों से तो अनर्थ ही होता है।

स्त्रियों की वाणी और मन में वैषम्य का वर्णन करने के पश्चात् श्रमण नन्द को उनके मन की दुर्ग्राह्यता का यों उपदेश देता है—

प्रवदन् मधुनो ऽपि गृह्यते, विपरीतः परुषोऽपि गृह्यते ।
कुपितो मृदुरपि गृह्यते, प्रमदानां तु मनो न विगृह्यते ॥[4]

---

१ भागवत पुराण ९।१४।३७
२ बुद्धचरित ३।३०
३ ,, ११।३५
४ सौन्दरनन्द ८।३६

बलती हुई अग्नि पकड़ी जा सकती है शरीर रहित वायु पकड़ी जा सकती है क्रुद्ध सर्प भी पकड़ा जा सकता है परन्तु स्त्रियों का मन नहीं पकड़ा जा सकता।

अशोकवाटिका में रहने के उपरान्त सीता को स्वीकार करने के कारण नगर में रामचन्द्र की निन्दा होने लगी। वे दुविधा में पड़ गये सीता को छोड़ें या लोकापवाद की उपेक्षा कर दें। अन्त में कालिदास के शब्दों में—

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं, त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत्।
अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद् यशोधनानां हि यशो गरीयः॥[1]

"यह निश्चय करके कि इस अपवाद की निवृत्ति अन्य उपाय से असम्भव है राम ने पत्नी-परित्याग से ही उसे शान्त करना चाहा क्योंकि यशस्वी लोग इन्द्रियार्थों का तो कहना ही क्या स्व-शरीर से भी यश को मूल्यवान् मानते हैं।"

महापुरुषों की उदारता तथा शरण्यता का उल्लेख कालिदास ने हिमालय-वर्णन में इस प्रकार किया है—

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव॥[2]

हिमालय अपनी गुफाओं में लीन उस अन्धकार की सूर्य से रक्षा करता है जो मानो डरकर वहाँ आ छिपा हो। सचमुच महापुरुष शरण में आए नीचों से भी वैसा ही स्नेह करते हैं जैसा सज्जनों से।

कपटी लोग कपटव्यवहार के ही अधिकारी होते हैं इस नीति को द्रौपदी युधिष्ठिर के सम्मुख यों व्यक्त करती है—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥[3]

जो मूढ़ मानव कपटियों से कपट-व्यवहार नहीं करते वे पराभव को ही प्राप्त करते हैं। धूर्त लोग ऐसे सरल-हृदय लोगों पर अपना विश्वास उत्पन्न कर उन्हें वैसे ही मार डालते हैं जैसे तीव्र बाण कवचरहित लोगों को।

शरद् ऋतु की शोभा के वर्णन में कवि मानिनी के स्वभाव का उल्लेख यों करता है—

प्रातःकाल की वायु से कम्पित आकार वाली कमलिनी खण्डिता नायिका की तरह मानो कुपित होकर कुमुदवती के पराग से रंजित शरीर वाले भौंरे को हटाती है, क्योंकि अभिमानिनी नारी अपने प्रियतम का पराई स्त्री से सम्पर्क सहन नहीं कर

१ रघुवंश, १४।३५
२ कुमारसंभव, १।१२।
३ किरातार्जुनीय, १।३०

सकती ।[1]

बलराम कृष्ण से कहते हैं कि बड़े लोग सदा महत्त्वाकांक्षी होते हैं—

धृतिमोषः परेष्वपि महिम्ना न महत्मनाम् ।
पूर्णेऽप्यम्भोधिकांक्षी हृष्यतीन्दौ महार्णव ॥[2] (माघ)

बड़े मनुष्य प्रभूत संपदा पाकर भी वैसे ही सन्तुष्ट नहीं होते जैसे विशाल सागर जलपूर्ण होता हुआ भी जलवृद्धि के लिए चन्द्रोदय की आकांक्षा करता है ।

अपराध समान होने पर भी दंड निर्बल को ही अधिक मिलता है, इस नीति को बलराम यों स्पष्ट करते हैं—

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ॥[3] (माघ)

सूर्य और चन्द्रमा ने समान अपराध किया था परन्तु राहु सूर्य को तो देर से हड़पता है और चन्द्र को शीघ्र । स्पष्ट है कि यह दंड चन्द्रमा की कोमलता का ही है ।

इन्द्र के याचना करने पर नल दाता का कर्त्तव्य इन शब्दों में स्पष्ट करता है—

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः ॥[4] (श्री हर्ष)

'कुशजल-सहित दान दिलाते हुए शास्त्रज्ञ धन-दान की विधि इस प्रकार बताते हैं कि याचक के लिए केवल धन ही नहीं अपितु प्राण भी तृणवत् दे देने चाहिए ।'

उपर्युक्त कतिपय उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि संस्कृत के महाकाव्यों में प्रतिपादित नीति-काव्य विचार, भाव कल्पना और कला सभी दृष्टियों से सुन्दर है । साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब नीति का निरूपण कुशल कवियों द्वारा किया जाता है तब वह सत्काव्य कहलाने की सहज ही अधिकारिणी हो जाती है ।

(घ) खण्डकाव्य

महाकाव्यों के समान ही संस्कृत के खण्डकाव्यों में भी यत्र-तत्र नीतिकाव्य उपलब्ध होता है । घटकर्पर का 'घटकर्पर' कालिदास का 'मेघदूत' विक्रम का 'नेमिदूत' श्रीकृष्ण कवि का 'ताराशशांक' आदि संस्कृत के प्रसिद्ध खण्डकाव्य हैं । इनके नीतिकाव्य की बानगी निम्नोद्धृत छन्दों में देखी जा सकती है ।

---

१ भट्टिस्वामी : भट्टिकाव्य, २।५४
२ माघ : शिशुपालवध, २।३१
३ वही, २।४९
४ श्रीहर्ष : नैषधीयचरित, ५।८६

जब निर्वासित यक्ष मेघ को देखकर उसके द्वारा प्रियतमा को सन्देश भेजने पर उद्यत हो जाता है तब कालिदास उसकी मनोदशा का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥[1]

कहाँ तो धूम अग्नि जल और वायु के मिश्रण से निर्मित मेघ और कहाँ सन्देश की वे बातें जिन्हें चतुर जन ही पहुँचा सकते हैं। परन्तु उत्सुकता के कारण इस बात पर विचार न कर यक्ष मेघ के समक्ष गिड़गिड़ाने लगा। सच है काम पीड़ित जनों को यह सुध ही नहीं रहती कि कौन जड़ है और कौन चेतन।

जिस प्रकार "मेघदूत" में यक्ष ने मेघ द्वारा सन्देश भेजा उसी प्रकार "नेमिदूत" में विरक्त नेमिनाथ को उनकी रानी राजीमती ने। पर्वत शिखर पर समाधिस्थ नेमिराज तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिए कामार्त राजीमती ने पर्वत को अपना दूत बनाकर यों विनती की—

शरणागतों की रक्षा करना राजाओं का धर्म है। मैं आपके अधीन हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरी रक्षा करें। गुणी के सामने हाथ फैला रिक्तहस्त लौट आना अच्छा है परन्तु अधम से मनोवाञ्छित फल पाना अच्छा नहीं।[2]

ताराशशांक के आरम्भ में कीर्ति की कामना करता हुआ कवि निज नम्रता यों प्रदर्शित करता है—

बालोऽहमपि कविकीर्तिं लोकानां लालनीय एव स्याम् ।
लोके न हासहेतुश्चन्द्रकलाग्रहणचापलं हि शिशोः ॥[3] (श्रीकृष्ण कवि)

मैं कवि-कीर्ति का इच्छुक होता हुआ भी लोगों के लाड़ का पात्र ही बनना चाहता हूँ। जैसे चन्द्रकला को पकड़ने के इच्छुक शिशु की चपलता लोक में उपहास का कारण नहीं होती।

जैसे कि उपर्युक्त उद्धरणों से विदित होता है काव्यकाव्यों में नीति-काव्य संपूर्ण पद्यों के रूप में भी पाया जाता है तथा पद्यांश रूप में भी। अधिकतर पद्यों में यह विषय-विशेष के समर्थन या दृष्टान्त रूप में आया है। ऐसा होते हुए भी यह अर्थान्तरवर्ती रस के सम्पर्क से पर्याप्त सीमा तक आकर्षक बन गया है।

---

१ कालिदास, मेघदूत, पूर्वमेघ ५
२ काव्यमाला, द्वितीय गुच्छक बम्बई १९२९, पृ० ८६
३ काव्यमाला चतुर्थगुच्छक, बम्बई १९३७, पृ० ७२।१

(क) शृंगार-मुक्तक

शृंगारविषयक मुक्तक काव्यों में संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के अतिरिक्त नख-शिख तथा षड्ऋतुओं का वर्णन भी दिखाई देता है। कालिदास (?) का शृंगार तिलक भर्तृहरि तथा जनार्दनभट्ट के शृंगार-शतक मयूर का "मयूरशतक" अमरु या अमरुक का "अमरुशतक" गोवर्धनाचार्य की "आर्यासप्तशती" तथा बिल्हण की "चौरपंचाशिका" संस्कृत के प्रसिद्ध शृंगार विषयक मुक्तक काव्य हैं। माना कि इन काव्यों में नीति की मात्रा अत्यन्त अल्प है परन्तु जितनी भी है वह सुन्दर तथा हृदयस्पर्शी है। जैसे भर्तृहरि स्त्रियों के चांचल्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥[1]

स्त्रियाँ वार्तालाप एक पुरुष से करती हैं सविलास देखती दूसरे को हैं और हृदय में चिन्तन तीसरे का करती हैं। स्त्रियों का प्रिय कौन होता है।

जनार्दनभट्ट पुरुषों की मलिनमनस्कता तथा पाषाणहृदयता को एक विरहिणी के मुख से इस प्रकार व्यक्त करवाते हैं—

यदि मलिन-मन मेघ जोर-जोर से गरजता है तो गरजे क्योंकि ये पुरुष स्वभाव से कठोर होते हैं। परन्तु हे बिजली क्या तू भी विरह-व्यथा से अनभिज्ञ है जो मुझ दुखिनी के सामने सब तरफ नृत्य करती फिरती है।[2]

गोवर्धनाचार्य सज्जनों को दुर्जनविजय का उपाय निम्नलिखित आर्या में बताते हैं—

पिशुनं खलु सज्जनानां खलमेव पुरो विधाय जेतव्यः।
कृत्वा ज्वरमात्मीयं जिगाय बाणं रणे विष्णुः ॥[3]

सज्जनों को दुष्टों पर विजय किसी खल के माध्यम द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए, स्वयं लड़ भिड़ कर नहीं। जैसे—रण में बाणासुर को जीतने के लिए विष्णु ने ज्वर को आत्मीय बना लिया था।

सज्जनों का दुष्टों को आश्रय देना उचित नहीं इस नीति को गोवर्धनाचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रायः मलिन लोग ही मलिनों को आश्रय दिया करते हैं सत्पुरुष नहीं। कालियनाग को शरण कालिन्दी ने दी थी न कि सुरसरिता ने।[4]

---

१ शतकत्रयम् (भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४६ ई०) शृङ्गार शतक, पृष्ठ ७८।५०

२ काव्यमाला, एकादश गुच्छक, शृङ्गारशतकम्, पृष्ठ ११६, पद्य १७

३-४ आर्यासप्तशती (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३४), पृष्ठ १९६, १५७

एकोऽयं चरति भुवि महत्यरण्ये च
सर्वंकष: पुनरयं पतति कृतान्त: ॥[1]

जीवन-रूपी जल को बाहर फेंक कर रिक्तीभूत श्वास अरहट के लोटों के समान पुनः शरीर-रूपी कुएँ में प्रविष्ट होते हैं। यह सर्वग्रासी मृत्यु बूढ़े और जवान तथा लघु और महत् में समान रूप से समदर्शीन दिखाई देती है। सोमदेव के विचार में साहित्य-समालोचक होने के लिए साहित्यकार होना आवश्यक नहीं है—

अशक्तापि स्वयं लोक: कामं काव्यपरीक्षक:।
रसपाकानभिज्ञोऽपि भोक्ता वेत्ति न किं रसम् ॥[2]

लोग स्वयं काव्य रचना में असमर्थ होते हुए भी काव्य-समालोचक हो सकते हैं। क्या जो व्यक्ति रसीले भोजन बनाना नहीं जानता वह उसका स्वाद भी नहीं ले सकता ?

जब द्विजवेषधारी इन्द्र ने कर्ण से कवच कुण्डल की याचना की तब सूर्य देवता ने कर्ण को रोकना चाहा। इस पर कर्ण ने यह सूक्ति कही—

किमसौ ! न भवतु यथा प्रतिभम्
उत्सारसौ भवति नार्थिषु दैन्यम्।
प्रतिपादयेत् स तु कथं पुरुषस्य
प्रतिकूलवर्णनिजनामपदार्थम् ॥[3]

हे सूर्य जो दान (दान) याचकों की दीनता दूर करने को उत्सुक नहीं होता वह मनुष्य को अपने नाम के अक्षरों को उलटने से बने पद (नदा) को नहीं दिला सकता।

विश्वगुणादर्श चम्पू में विश्वावसु और कृशानु नाम के विमानस्थ गन्धर्व विविध प्रदेशों पर विहंगम दृष्टि डालते तथा उनके वासियों के गुण-दोष प्रकट करते हैं। संस्कृत के चम्पू-काव्य रामायण महाभारत श्रीमद्भागवत आदि की कथाओं के आधार पर ही नहीं अनेक स्थानों तथा श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन-चरितों पर भी लिखे गये हैं। उनका नीतिकाव्य जीवन के प्राय: प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डालता है और साहित्यिकता की दृष्टि से भी उपेक्ष्य नहीं है।

(२) मुक्तककाव्यों में नीति

संस्कृत के मुक्तक-काव्यों की रचना, नीति के अतिरिक्त, प्राय: तीन विषयों पर की गई है—शृंगार वैराग्य और स्तोत्र।

---

[1] यशस्तिलकचम्पू, आश्वास २ पद्य १०२
[2] यू० डी० थीसिस एम० ए० पृष्ठ ११२
[3] चम्पूभारतम् (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १६२० ई०), पंचमस्तबक:, पद्य ८८

(क) शृंगार-मुक्तक

शृंगारविषयक मुक्तक काव्यों में संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार के अतिरिक्त नख-शिख तथा षड्ऋतुओं का वर्णन भी दिखाई देता है। कालिदास (?) का शृंगार तिलक, भर्तृहरि तथा जनार्दनभट्ट के शृंगार-शतक मयूर का "मयूरशतक" अमरु या अमरुक का "अमरुशतक", गोवर्धनाचार्य की "आर्यासप्तशती" तथा बिल्हण की "चौरपंचाशिका" संस्कृत के प्रसिद्ध शृंगार विषयक मुक्तक काव्य हैं। माना कि इन काव्यों में नीति की मात्रा अत्यन्त अल्प है परन्तु जितनी भी है, वह सुन्दर तथा हृदयस्पर्शी है। जैसे, भर्तृहरि स्त्रियों के चांचल्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः ।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम् ॥[1]

स्त्रियाँ बातचीत एक पुरुष से करती हैं, सविलास देखती दूसरे को हैं और हृदय में चिन्तन तीसरे का करती हैं। स्त्रियों का प्रिय कौन होता है!

जनार्दनभट्ट पुरुषों की मलिनमनस्कता तथा पाषाणहृदयता को एक विरहिणी के मुख से इस प्रकार व्यक्त करवाते हैं—

यदि मलिन-मन मेघ जोर-जोर से गरजता है तो गरजे क्योंकि ये पुरुष स्वभाव के कठोर होते हैं। परन्तु हे बिजली क्या तू भी विरह-व्यथा से अनभिज्ञ है जो मुझ दुखिनी के सामने सब तरफ नृत्य करती फिरती है।[2]

गोवर्धनाचार्य सज्जनों की दुर्जनविजय का उपाय निम्नलिखित आर्या में बताते हैं—

पिशुनः खलु सुजनानां खलमेव पुरो विधाय जेतव्यः ।
कृत्वा ज्वरमात्मीयं जिगाय बाणं रणे विष्णुः ॥[3]

सज्जनों को दुष्टों पर विजय किसी खल के माध्यम द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए, स्वयं लड़ भिड़ कर नहीं। जैसे—रण में बाणासुर को जीतने के लिए विष्णु ने ज्वर को आत्मीय बना लिया था।

सज्जनों का दुष्टों को आश्रय देना उचित नहीं इस नीति को गोवर्धनाचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रायः मलिन लोग ही मलिनों को आश्रय दिया करते हैं सत्पुरुष नहीं। कालियनाग को शरण कालिन्दी ने दी थी न कि सुरसरिता ने।[4]

---

१ शतकत्रयम् (भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५९ ई०) शृङ्गार शतक, पृष्ठ ७८।१०

२ काव्यमाला, एकादश गुच्छक, शृङ्गारशतकम्, पृष्ठ ११६, पद्य १७

३-४ आर्यासप्तशती, (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३४) पृष्ठ १६६, १६७

(ख) वैराग्य-मुक्तक

वैराग्य भारतीय मुक्तककारों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। भर्तृहरि का वैराग्य शतक तो सुविख्यात है ही, अप्पयदीक्षित जनार्दन नीलकण्ठ शंकराचार्य पद्मानन्द आदि ने भी वैराग्यशतकों की रचना की है। पद्यसंख्या सौ से कुछ न्यूनाधिक होने पर भी ये मुक्तक-संग्रह शतक ही कहे जाते हैं। संसार की नश्वरता शरीर की क्षण-भंगुरता तथा मलिनता विषयों की तुच्छता स्त्रियों की निन्दा मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, मुक्ति की लालसा आदि इन शतकों के प्रधान विषय रहे हैं। निवृत्ति-मार्ग के उपदेशक इन ग्रंथों में भी कहीं-कहीं ऐसी बातें दिखाई दे ही जाती हैं जो लोक व्यवहारोपयोगी हैं। जैसे—

प्रायः मनुष्य चेतता तब है जब समय निकल जाता है। इसलिए भर्तृहरि 'वैराग्यशतक' में समय पर ही सावधान होने की प्रेरणा इस प्रकार करते हैं—

जब तक शरीर स्वस्थ और नीरोग है जब तक जरा दूर है जब तक इन्द्रिय शक्ति अविकल है जब तक आयु का क्षय नहीं होता है, विद्वान् व्यक्ति को तब तक आत्मकल्याण के लिए महान् उद्योग करते रहना चाहिए। जब घर को आग लग गई तब कूआं खोदने से क्या लाभ होगा।[1]

पितृविरोधी तथा परदारगामी गृहस्थ पुरुषों पर अप्पयदीक्षित वैराग्यशतक में यों मीठी चुटकी लेते हैं—

पितृभिः कलहायन्ते पुत्रानध्यापयन्ति पितृभक्तिम् ।
परदाराननुधावन्तः पठन्ति शास्त्राणि दारेषु ॥[2]

लोग पितरों से तो कलह करते हैं और पुत्रों को पितृभक्ति का पाठ पढ़ाते हैं, स्वयं तो पर-स्त्री-गमन करते हैं परन्तु निज पत्नियों में बैठकर (पातिव्रत्य की शिक्षा देने के लिए) शास्त्रों का पाठ करते हैं।

कर्तव्य और अकर्तव्य में भेद न जानने वाला मनुष्य पशु ही है इस नीति को नीलकंठ दीक्षित ने 'शान्तिविलास' में यों व्यक्त किया है—क्या मनुष्य और पशु समय-समय पर प्राप्त भोजन नहीं खाते और जल-पान नहीं करते? क्या दोनों ही रात्रि को निद्रामग्न नहीं होते? क्या स्त्री-सुख नहीं भोगते और अपने-अपने बच्चों का लालन-पोषण नहीं करते? कर्तव्य तथा अकर्तव्य के भेद से अपरिचित मनुष्यों तथा पशुओं में क्या अन्तर है?[3]

साधारणजन तो क्षणभंगुर पदार्थों को रस मानते हैं परन्तु पद्मानन्द ने अपने वैराग्यशतक में वास्तविक रस का निर्देश इस प्रकार किया है—

---

१ शतकत्रयम् वैराग्यशतकम्, पृ० १६६।७८
२ काव्यमाला, गुच्छक १ पृ० ८१
३ काव्यमाला षष्ठ गुच्छक (१९३० ई०) पृ० १२ पद्य १८

नास्त्यसद्भाषितं यस्य, नास्ति भंगो रणांगणात् ।
नास्तीति याचके नास्ति तेन रत्नवती क्षितिः ॥[1]

जो मनुष्य कभी बुरी बात नहीं कहता, जो कभी रणक्षेत्र में पीठ नहीं दिखाता, जो भिखारी को रिक्तहस्त नहीं लौटाता, वही इस भूमि का सच्चा रत्न है।

आयु की अमूल्यता बताने तथा शरीर के प्रति मोह को दूर करने के लिए कोई अज्ञात कवि "प्रबोध-सुधाकर" में इस प्रकार कहता है—

करोड़ों सुवर्णमुद्राएँ देकर भी क्षणमात्र भी आयु नहीं ली जा सकती। यदि वह व्यर्थ ही चली जाए तो बताएँ कि उससे बड़ी हानि क्या होगी। जो शरीर कभी पुष्पों से शोभायमान शय्या पर सोया करता था, हा वही कभी लकड़ी तथा रस्सी से जकड़ा हुआ अग्नि में फेंक दिया जाता है।[2]

(ग) स्तोत्र

इन्द्र, शिव, विष्णु, सूर्य आदि की स्तुतियाँ वैदिक काल में गाई जाती थीं। बाद में राम, कृष्ण, दुर्गा आदि के स्तोत्रों की भी रचना होने लगी। महाभारत, पुराणों आदि में भी कई स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। इन स्तोत्रों में देवी-देवताओं के एकाधिक—ग्राम, शत या सहस्र—नामों का ही उल्लेख नहीं होता, उनके वीर कृत्यों व दयालुता आदि की चर्चा भी होती है तथा अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए पाप-क्षमा कराने के लिए प्रार्थनाएँ भी रहती हैं। कहीं-कहीं पर इन स्तोत्र-काव्यों में नीति की बातें भी दृष्टिगत हो जाती हैं।

इनकी रचना ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों सभी ने की है और अपने-अपने उपास्यों का ही नहीं, गंगा, यमुना आदि देवी-रूपिणी नदियों का भी गुणगान किया है। बाण का चण्डीशतक, मयूर का सूर्यशतक, मेरुतुंग का भक्तामर स्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर का कल्याणमन्दिर स्तोत्र, वज्रमित्र का सग्धरा स्तोत्र, शंकराचार्य का शिवापराध-क्षमापण स्तोत्र, जगन्नाथ की अमृतलहरी, गंगालहरी, यमुनालहरी, करुणालहरी आदि संस्कृत के प्रख्यात स्तोत्र ग्रंथ हैं। इनमें से कतिपय नीतिपद्य उद्धृत किये जाते हैं। काल की गतिशीलता, लक्ष्मी की चंचलता तथा जीवन की क्षणभंगुरता का उल्लेख स्वामी शंकराचार्य अपने 'शिवापराधक्षमापणस्तोत्र' में इस प्रकार करते हैं—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनम् ।
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः ।
लक्ष्मीस्तोयतरंगभंगचपला विद्युच्चलं जीवनम् ।
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ॥[3]

---

१ काव्यमाला सप्तम गुच्छक १९२६ ई० पृ० ७५, पद्य २८
२ ,, प्रथम गुच्छक, १९११ ई० पृ० ११० पद्य १११
३ शंकराचार्य: शिवापराधक्षमापणस्तोत्र, पद्य १३

देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र में शंकराचार्य अपनी भूलों का अप्रत्यक्ष उल्लेख करते हुए कहते हैं—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।[1]

अर्थात् पुत्र कुपुत्र हो सकता है परन्तु माता-कुमाता नहीं।

पण्डितराज जगन्नाथ की 'करुणालहरी' अन्यतम भक्तस्तोत्र है, जिसमें स्तुति तथा नीति का मिश्रण मार्मिक रीति से किया गया है। यथा—

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो॥[2]

हे विभो! गड्ढे में गिरते हुए शिशु को तो अपरिचित पथिक भी दौड़कर बचा लेता है तब आप पिता होकर भी मुझे संसार-सागर में गिरने से क्यों नहीं बचाते?

क्रुद्ध बालक की वाणी क्षम्य होती है इस नीति को पंडितराज यों व्यक्त करते हैं—हे विभो! मुग्ध बालक की अटपटांग बातों पर क्रोध न कीजिए; क्या महाशय लोग कुपित आतुर बालक की बातों पर ध्यान दिया करते हैं?[3]

स्तोत्रों की रचना प्रायः अष्टक, पंचाशिका, शतक, पंचशती, सहस्रनाम आदि के रूपों में की गई है। स्तोत्रों में स्तुतियों तथा संतप्त हृदयों के उद्गारों का प्राधान्य है और नीति की न्यूनता। यह नीति जहाँ कुशल कवि द्वारा व्यक्त की गई है, वहाँ मार्मिक है परन्तु सामान्य रूप से तो सामान्य ही है।

(२) दृश्यकाव्यों में नीति

श्रव्यकाव्यों के समान संस्कृत का दृश्यकाव्य-साहित्य भी बहुत विशाल है। भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति आदि की कल्पनामयी कृतियों से भारत का मस्तक उन्नत हुआ है। इन प्रख्यात नाटककारों ने जहाँ अपने रूपकों से असंख्य नर-नारियों का मनोरंजन किया है वहाँ कर्तव्य-मार्ग दिखाकर उनका असीम कल्याण भी किया है। इनके नाटकों में स्थान-स्थान पर नीति के ऐसे सुन्दर उपदेश मिलते हैं जिनसे आह्लाद के साथ-साथ संतप्त हृदयों को शान्ति तथा पथभ्रष्ट जनों को मार्ग मिल जाता है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य लीजिए— 'स्वप्नवासवदत्तम्' में शोकार्त राजा को ढाढ़स बँधाने के उद्देश्य से कांचुकीय इस प्रकार कहता है—

१ देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र पद्य ४
२ काव्यमाला द्वितीय गुच्छ, १८९५ ई० पृष्ठ ४७
३ ,, ,, ,, ४८

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मा वनानां
काले-काले छिद्यते रुह्यते च॥[1] (भास)

मृत्यु का समय आ जाने पर कौन किसे बचा सकता है ? रस्सी टूट जाने पर घड़े को कौन रोक सकते हैं ? इस प्रकार प्राणी की गति वन के समान है जो समय पर कटता भी है और उगता भी।

अन्य व्यवसायों के लोग तो सुविधा के अनुसार किसी व्यक्ति का सत्कार या तिरस्कार कर सकते हैं परन्तु वेश्या नहीं। 'मृच्छकटिक' का विट इस विषय में वारांगना वसन्तसेना को उसका कर्तव्य इस प्रकार समझाता है—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे,
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज॥[2] (शूद्रक)

'वापी में विद्वान् विप्र भी स्नान करता है और मूर्ख शूद्र भी। जिस कुसुमित वल्ली पर मोर बैठता है, उसी पर कौआ भी। जिस नाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य नदी के पार जाते हैं उसी से शूद्र आदि भी। तू वेश्या है इसलिए वापी वल्ली और नाव के तुल्य ऊँच या नीच सभी को संतुष्ट कर।

सहज-सुन्दर शरीर पर सब प्रकार के वसनाभूषण खिल उठते हैं इस नीति का प्रतिपादन कालिदास ने दुष्यन्त से इस प्रकार करवाया है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥[3] (कालिदास)

सेवार से भी घिरा होने पर कमल कमनीय लगता है चाँद का मलिन धब्बा भी उसका शोभा-वर्द्धक है यह तन्वंगी (शकुन्तला) वल्कल के वस्त्रों में भी बहुत प्यारी लग रही है। सच तो यह है कि सुन्दर शरीर पर सब कुछ खिल उठता है।

गृहस्थी को सुखमयी बनाने के लिए कण्व ने जो उपदेश शकुन्तला को दिया वह आज भी वधुओं को सुगृहिणी पद दिखाने में समर्थ है—

---

१ स्वप्नवासवदत्तम् ६।१०
२. मृच्छकटिकम् १।१२
३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १।१९

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥[1] (कालिदास)

'ससुराल में गुरुजनों की सेवा करना। सह सपत्नियों से प्रिय सखियों का-सा स्नेह रखना। पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी क्रुद्ध होकर विपरीताचरण न करना। निज दास-दासियों को प्यार से रखना तथा अपने भाग्य पर मत इतराना। इस प्रकार के आचरण से तो स्त्रियाँ गृहिणी बनती हैं परन्तु इसके प्रतिकूल चलने वाली कुलकलंकिनी हो जाती है।

दुष्यन्त तो शकुन्तला को सर्वथा भूल चुका था परन्तु शार्ङ्गरव शकुन्तला को वहीं छोड़कर जाना चाहता था। इस पर दुष्यन्त ने परदाराभिगमन को इन शब्दों में अनीति कहा—

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥[2] (कालिदास)

'चन्द्रमा केवल कुमुदों को और सूर्य केवल कमलों को विकसित करता है। इसी प्रकार जितेन्द्रिय लोग परनारीगमन की कामना तक नहीं करते।

एक ही गुरु से अध्ययन करने पर भी कोई छात्र अधिक ज्ञानान्वित होता है तो कोई न्यून। लव कुश को अपनी अपेक्षा कुशाग्रबुद्धि देखकर आत्रेयी उक्त नीति के विषय में वनदेवता से कहती है—

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदां चयः॥[3] (भवभूति)

'गुरु बुद्धिमान् तथा मूर्ख दोनों शिष्यों को एक-सी विद्या देता है। न वह एक की ज्ञानशक्ति उत्पन्न करता है न दूसरे की नष्ट। फिर भी दोनों को जो फल मिलता है, उसमें भारी भेद होता है। सच है, बिम्ब-ग्रहण में निर्मल रत्न ही समर्थ होता है मिट्टी का ढेर नहीं।'

उपर्युक्त पद्यों द्वारा स्थाली-पुलाक-न्याय से, सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृत के रूपकों का नीतिकाव्य विषय की दृष्टि से कितना व्यापक और

---

१ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।१८
२ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५।२८
३. उत्तररामचरित २।४

अनुभूतिपूर्ण तथा कला के विचार से कितना सुन्दर और आह्लादक है।

(आ) नीतिकाव्यों में नीति

हम ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत का नीतिकाव्य तीन वर्गों में विभाज्य है—(क) प्रत्यक्ष नीतिकाव्य (ख) अन्यापदेशिक नीतिकाव्य, और (ग) सुभाषित-संग्रहों का नीतिकाव्य। नीचे तीनों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

(क) प्रत्यक्ष नीतिकाव्य

प्रत्यक्ष नीतिकाव्य से अभिप्राय उन काव्य-ग्रन्थों से है जिनका प्रणयन प्रत्यक्ष रूप से नीति-शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से किया गया। इस प्रकार का प्राचीनतम काव्य 'चाणक्यशतक' कहा जाता है जिसके सत्रह अध्यायों में लगभग बीस-बीस श्लोक हैं। वृद्धचाणक्य लघुचाणक्य चाणक्य-नीति राजनीति-समुच्चय आदि ग्रन्थों में भी प्रायः यही श्लोक कुछ न्यूनाधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। विख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य के नाम से सम्बन्धित होने पर भी इस पुस्तक में राजनीति के श्लोकों की संख्या नगण्य है सामान्य नीति का ही बाहुल्य है। गवेषकों की धारणा है कि ग्रन्थ को गौरव प्रदान करने के विचार से ही चाणक्य का नाम संयुक्त कर दिया गया है। इसमें ज्ञान दान सज्जन दुर्जन वाक्‌माधुर्य परोपकार आदि सैकड़ों विषयों पर सीधी सादी भाषा में लोक-व्यवहार की शिक्षा दी गई है। निम्नांकित उदाहरणों से इसका विषय-वैविध्य सहज ही अनुमित हो जाता है—

मनुष्य को बार-बार देश-काल आय-व्यय मित्र-बन्धु तथा निज शक्ति पर विचार करना चाहिए।[1]

झूठ साहस कपट मूर्खता अति लोभ अपवित्रता और निर्दयता स्त्रियों के सहज दोष हैं।[2]

जब प्राणी गर्भ में ही होते हैं तभी उनकी आयु, कर्म धन विद्या तथा मृत्यु विधि निश्चित कर दी जाती है।[3]

अतिश्रान्त होने पर भी भारवहन करते जाना सर्दी-गर्मी की उपेक्षा करना तथा सदा संतुष्ट रहना—ये तीन गुण गधे से सीखने चाहिएँ।[4]

हे प्यारे, यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो विषयों को विषवत् त्याग कर क्षमा

---

१ चाणक्य नीति (मोहन पुस्तकालय मथुरा) पृ० ११।१८
२ वही, पृ० ७।१
३ वही पृ० १६।१
४ वही, पृ० २६।२१

मृदुता, दया, पवित्रता और सत्य का अमृतवत् पान कर।[1]

यद्यपि पुस्तक का अधिकतर भाग अल्पाकार अनुष्टुप् छंद में है, तो भी कहीं कहीं शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, उपजाति आदि दीर्घाकार वृत्त भी प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश छन्द तो चमत्कार-रहित नीरस पद्य ही हैं, परन्तु कहीं-कहीं अलंकारों का चमत्कार भी देख पड़ता है। उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अर्थालंकारों की अपेक्षा अनुप्रास, लाट आदि शब्दालंकारों का ही बाहुल्य है। जो अन्योक्ति अलंकार परवर्ती नीतिकाव्यकारों का अतिप्रिय बना वह भी एकाध स्थान पर उपलब्ध हो जाता है।[2] स्मरण-सौकर्य के लिए अंकों के प्रयोग की शैली, जो महाभारत आदि के अंगुत्तर निकाय और जैन स्थानांग में दिखाई देती है, इसमें भी व्यवहृत हुई है। जैसे—

एक से तप, दो से अध्ययन, तीन से गान, चार से यात्रा, पाँच से खेती तथा बहुतों से युद्ध सम्यक् सम्पन्न होता है।[3]

दाक्षिणात्य आचार्य सुन्दर पाण्ड्य ने ईसवी पाँचवीं शती से पूर्व आर्या छन्द में 'नीतिद्विषष्टिका' का प्रणयन किया। इसमें नीति-वाक्यों को सुन्दर उपमाओं द्वारा समर्थित किया गया है। पुस्तक की मनोहरता इसी बात से प्रमाणित है कि समकालिक तथा परवर्ती विद्वानों ने इसका पर्याप्त सम्मान किया। उदाहरणार्थ—

सह वसतामप्यसतां जलरुहजलवद् भवत्यसंश्लेषः।
दूरेऽपि सतां वसतां प्रीतिः कुमुदेन्दुवद् भवति॥[4] (सुन्दर पाण्ड्य)

साथ-साथ रहते हुए भी दुर्जन जल और कमल के समान पृथक्-पृथक् ही होते हैं और दूर-दूर रहते हुए भी सज्जन कुमुद तथा चन्द्र के तुल्य प्रेमबद्ध।

ईसवी पाँचवीं शती के मध्य में 'विषयवैराग्यधर्मकाव्य' की रचना बज्रयोगिन् ने की। जब नृप रत्नकीर्ति अपने इस सभाकवि पर रुष्ट हो गया तब कवि ने इस ग्रंथ को पत्र-रूप में ११४ पद्यों में लिखा। सुकवि ने इसमें धन, बल आदि सांसारिक पदार्थों की निस्सारता का ऐसा मार्मिक वर्णन किया कि राजा उसे पढ़कर विरक्त हो गया। काव्य में धर्म के साथ नीति के भी सुन्दर उपदेश हैं। जैसे—

विषस्य विषयाणां हि दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥[5] (बज्रयोगिन्)

विष और विषयों में बहुत दूर का अन्तर है। विष तो भक्षण के पश्चात् ही

---

१ 'चाणक्य नीति' (गोवर्धन पुस्तकालय मथुरा) पृ० ५०।१
२ वही पृ० ३३।५
३ वही पृ० १८।१२
४ 'नीतिद्विषष्टिका' पद्य १०७ एम० कृष्णम् आचार्यरचित हि० सी० एस० एल० (१९३७ ई०) पृ० ३२४
५ हि० इ० ला० पृ० ११८।१११

प्राण लेता है परन्तु विषय स्मरणमात्र से ही मार डालते हैं।"

शान्तिदेव ने 'बोधिचर्यावतार' नामक सुकाव्य में नीति और दर्शन का सुन्दर सम्मिश्रण किया है। ग्रन्थ की लोक-प्रियता इसकी अनेक टीकाओं से ही सिद्ध है। नीति तथा दर्शन जैसे जटिल विषयों पर जितनी सुन्दर कविता इसमें अवलोकित होती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

भर्तृहरि अपनी 'सुभाषित त्रिशती' या 'शतकत्रयम्' (नीतिशतक, शृंगार-शतक, वैराग्यशतक) के ही कारण लोक-विख्यात हैं यद्यपि 'शान्तिपद्धति' नाम से इनका एक चतुर्थ-संग्रह भी बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। नीतिशतक में सुजन-दुर्जन मूर्ख विद्वान् आदि पर शृंगारशतक में स्त्रियों के सौन्दर्य स्वभाव आदि पर और वैराग्य शतक में आशा तृष्णा तथा सांसारिक भोगों की नश्वरता पर सुन्दर काव्य-रचना की गई है। जैसे—

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥[1] (भर्तृहरि)

'पुष्प-गुच्छ के समान मनस्वियों की वृत्ति दो ही प्रकार की होती है। या तो वे सब लोगों के सिर पर स्थान पाते हैं या फिर वन में ही विशीर्ण हो जाते हैं।'

'चाहे जाति रसातल में जाए गुण-गण उससे भी नीचे धंस जाएँ शील सब तट से गिरकर चूर हो जाए, शूरता पर सहसा वज्रपात हो जाए, हमें तो केवल धन की आवश्यकता है जिस एक के अभाव में उपर्युक्त सभी गुण तिनके की तरह तुच्छ हो जाते हैं।'[2]

भर्तृहरि का शतक परिष्कृत मधुर, सरस भाषा में है। इस में अनुष्टुप् छन्दों की संख्या न्यून है शार्दूल० शिखरिणी वसन्ततिलका आदि बड़े-बड़ छन्दों का अधिक व्यवहार हुआ है। स्वामी शंकराचार्य के नाम से प्रचलित मोहमुद्गर शतश्लोकी, प्रश्नोत्तरी आदि पुस्तिकाओं में वैराग्य की प्रधानता होते हुए भी यत्र-तत्र सुन्दर नीति उपलब्ध होती है। जैसे—

फंदा क्या है ? ममत्व का अभिमान।
सुरा-सम संमोहनकारी कौन है ? स्त्री।
निपट अन्धा कौन है ? कामातुर ।
मृत्यु क्या है ? अपना अपयश ।[3]

'सुभाषित रत्न-सन्दोह' जैन साधु अमितगति की विख्यात मधुर व सरस कृति है जिसके ९१५ पद्यों को कवि ने ३२ प्रकरणों में उपनिबद्ध किया है। कवि

---

१ शतकत्रयम् पृ० १५।९५
२ शतकत्रयम् पृ० १८।३१
३ प्रश्नोत्तरी, (गीताप्रेस, गोरखपुर, सं २०१० पृष्ठ ८१६

ने अन्य विषयों के अतिरिक्त मद्य, मांस, मधु, द्यूत, स्त्री-पुरुषदोष, वेश्यागमन, चौर्य, दैव आदि पर तो पृथक्-पृथक् प्रकरण रचना की परन्तु पुरुषार्थ पर पूरे प्रकरण का अभाव है। कवि का भाषा तथा छन्दोलंकार पर प्रभूत अधिकार है। प्रायः प्रत्येक प्रकरण में किसी एक ही छंद का प्रयोग है और कई प्रकरणों के अन्त में छंद परिवर्तित भी कर दिया गया है। इससे अनुमान होता है कि कवि ने इस की रचना संस्कृत के महाकाव्यों की-सी शैली पर की है। शोकप्रकरण के निम्नांकित पद्य से कवि के काव्य कौशल की अच्छी झलक प्राप्त होती है—

परिधावति रोदिति घूर्णति पतति श्वसिति त्यजति वसनम्।
व्यथते स्खलति लभते न सुखं शुचः शोकपिशाचग्रस्तो मनुजः॥[1]

'भारी शोक-रूपी पिशाच से ग्रस्त मनुष्य इधर-उधर दौड़ता है, रोता है, आहें भरता है, गिरता है, लड़खड़ाता है तथा वस्त्र उतार देता है। वह पीड़ित और विह्वल होता है परन्तु उसे किसी प्रकार भी सुखोपलब्धि नहीं होती।

क्षेमेन्द्र ने नीति-विषयक अनेक काव्यों की रचना की। इनके 'चारु-चर्या शतक' में सदाचरण-सम्बन्धी सौ छन्द हैं जिन में प्रतिपाद्य की पुष्टि पौराणिक तथा लौकिक आख्यानों के संकेतों द्वारा की गई है। "चतुर्वर्गसंग्रह" में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्रशंसा और 'सेव्यसेवकोपदेश' में स्वामी तथा सेवकों के कर्त्तव्य का प्रतिपादन है। 'समय-मातृका' में वारांगनाओं तथा कलाविलास में विभिन्न व्यवसायियों की वंचनाओं का विशद वर्णन है। दर्पोत्पत्ति के साथ विभिन्न कारणों तथा उनके दमन के उपायों का उल्लेख 'दर्पदलन' के सात अंकों में किया गया है। निम्नांकित नीति-श्लोकों से क्षेमेन्द्र की काव्यकुशलता, कमनीय कल्पना तथा प्रसादपूर्ण व्यंजना सम्यक् स्पष्ट हो जाती है—

कलमाम्बनिर्यदमषीबिन्दुव्याजेन लेखनाभुक्ता।
कायस्थमुखविमुक्ता रोदिति भिन्नेव राजश्रीः॥[2]

'कायस्थ से छूटी जाती हुई राजश्री छिन्न होकर कलम से निकलने वाली स्याही की बूंदों के बहाने कज्जल-कलित अश्रुकण बरसाती हुई रो रही है।

गुणेषु यत्नः क्रियतां किमाटोपैः प्रयोजनम्।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीर-विवर्जिताः॥[3]

गुण-प्राप्ति के लिए प्रयास कीजिए, आडम्बरों से कुछ भी नहीं बनेगा। दूध रहित गौएं घण्टियों के कारण बिका नहीं करतीं।

---

१ सुभाषित रत्न संदोह, पृष्ठ ८०।७१९
२ जल्हण सूक्तिमुक्तावली, पृष्ठ ३११
३ " , पृष्ठ ४११

वीणेव श्रोत्रहीनस्य लोलाक्षीव विचक्षुषः ।
व्यसोः कुसुममालेव श्रीः कदर्यस्य निष्फला ॥[1]

'जैसे बहिरे के लिए वीणा अन्धे के लिए सुन्दरी और मृतक के लिए पुष्प माला निष्फल होती है वैसे ही कंजूस के लिए धन।

मेरुः स्थितोऽतिदूरे मनुष्यभूमिं परित्यज्य ।
भीतो भयेन चौर्यास्त्वीराणां हेमकाराणाम् ॥[2]

'मेरु पर्वत इस मनुष्य-भूमि से इतनी दूर क्यों स्थित है ? इसीलिए तो कि वह इन सुनार-रूपी चोरों से भीत है।

हेमचन्द्र (१०८८ ११७२ ई०) के 'योगशास्त्र' में जैनो के कर्तव्यों अहिंसा स्त्री निन्दा आदि पर विशेष बल दिया गया है। सरल अनुष्टुप् में लिखा हुआ यह ग्रंथ काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। जल्हण (११६० ई०) ने भोले लोगों को वेश्याओं के जाल से बचाने के लिए 'मुग्धोपदेश' की रचना की जो प्रभाव तथा काव्यत्व दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट है। वेश्याओं के अनुराग की कृत्रिमता का जल्हण ने यों उल्लेख किया है—

कामश्चेदकृपालुतापटः कलियुगं यद्यथ धर्मप्रियं,
निस्त्रिंशो यदि पेशलो विषधरः संतोषदायी यदि ।
अग्निश्चेदतिशीतलः खलजनः सर्वोपकारी स चे—
दायुष्यं यदि वा भविष्यति विषं वेश्यापि रागिण्यपि ॥[3]

'यदि यमराज दयालु, कलियुग धर्मप्रिय, खड्ग कोमल सर्प संतोषदायक अग्नि शीतल दुष्ट उपकारी और विष आयुवर्द्धक बन जाएगा तो वेश्या भी अनुरागवती हो जायगी।'

शिल्हण (१२०२ ई०) ने मन-शान्ति की प्राप्ति के लिए भर्तृहरि के नीति तथा वैराग्य शतकों के अनुकरण पर 'शान्तिशतक' की रचना की। 'शृंगार वैराग्य तरंगिणी' केवल छयालीस छन्दों का छोटा-सा परन्तु सुन्दर काव्य है जिसमें सोमप्रभ ने स्त्री-संसर्ग की हानियों तथा विरक्तजीवन के लाभों को व्यक्त किया है।

दाक्षिणात्य वेदान्तदेशिक (१२६८ १३६६ ई०) ने भर्तृ-कृत 'नीतिशतक' के अनुकरण पर सुभाषित-नीवी की रचना की जिसके १२ १२ श्लोकों के बारह अध्यायों में अहंकार दुष्टता क्षमा आदि का वर्णन है। कुसुमदेव के दृष्टान्तशतक' (१२०० ई० से पूर्व) में व्यावहारिक उक्तियों को उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा अधिक

---

१ दर्पदलन १।२१ सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ६१

२ 'कलाविलास' से, एच० बी० भीड़ा एच०एस०एल०(१६४८ ई०) पृष्ठ २४०।

३ जल्हण- मुग्धोपदेश, पद्य ७ काव्यमाला, भाग ८ (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १६११)

ने अन्य विषयों के अतिरिक्त मद्य मांस, मधु, द्यूत स्त्री-मुखदोष वेश्यागमन चौर्य दैन्य आदि पर तो पृथक-पृथक् प्रकरण-रचना की परन्तु पुरुषार्थ पर पूरे प्रकरण का अभाव है। कवि का भाषा तथा छन्दसंसार पर प्रभूत अधिकार है। प्रायः प्रत्येक प्रकरण में किसी एक ही छंद का प्रयोग है और कई प्रकरणों के अन्त में छंद परिवर्तित भी कर दिया गया है। इससे अनुमान होता है कि कवि ने इस की रचना संस्कृत के महाकाव्यों का-सी शैली पर की है। शोकप्रकरण के निम्नांकित पद से कवि के काव्य कौशल की अच्छी झलक प्राप्त होती है—

परिधावति रोदिति घूर्णति पतति श्वसिति व्यथते मलनम् ।
भ्रमति ताम्यति कम्पते न सुखं शुकशोकपिशाचवशो मनुजः ॥[1]

'सारी शोक-रूपी पिशाच से ग्रस्त मनुष्य इधर-उधर दौड़ता है, रोता है, चाहे गरता है गिरता है, गड़बड़ाता है तथा गरम श्वास देता है। वह पीड़ित और खिन्न होता है परन्तु उसे किसी प्रकार की सुखोपलब्धि नहीं होती।

क्षेमेन्द्र ने नीति-विषयक अनेक काव्यों की रचना की। इनके 'चारु-चर्या-शतक" में सच्चरित्र-सम्बन्धी सौ छन्द हैं जिन में प्रतिपाद्य की पुष्टि पौराणिक तथा लौकिक आख्यानों के संकेतों द्वारा की गई है। 'चतुर्वर्गसंग्रह" में धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्रशंसा और 'सेव्यसेवकोपदेश' में स्वामी तथा सेवकों के कर्त्तव्य का प्रतिपादन है। 'समय-मातृका' में वारांगनाओं तथा कलाविलास में विभिन्न व्यवसायियों की वंचनाओं का विशद वर्णन है। दर्पोत्पत्ति के साथ विभिन्न कारणों तथा उसके दमन के उपायों का उल्लेख 'दर्पदलन' के सात खंडों में किया गया है। निम्नांकित नीति-श्लोकों से क्षेमेन्द्र की काव्यकुशलता, कमनीय कल्पना तथा प्रसादपूर्ण व्यंजना सम्यक् स्पष्ट हो जाती है—

कलमान्तर्निर्गतमषीबिन्दुव्याजेन लोचनाम्बुकणा ।
कायस्थलुण्ठ्यमाना रोदिति खिन्नेव राजश्रीः ॥[2]

'कायस्थ से लूटी जाती हुई राजश्री खिन्न होकर कलम से निकलने वाली स्याही की बूंदों के बहाने कज्जल-कलित अश्रुकण बरसाती हुई रो रही है।

गुणेषु यत्नः क्रियतां किमाटोपैः प्रयोजनम् ।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीर-विवर्जिताः ॥[3]

गुण-प्राप्ति के लिए प्रयास कीजिए, आडम्बरों से कुछ भी नहीं बनेगा। दूध रहित गौएं घंटियों के कारण बिका नहीं करतीं।

---

१ सुभाषित रत्न संदोह, पृष्ठ ८७।७१२
२. जल्हण, सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ४११
३ " " पृष्ठ ४११

वीणेव श्रोत्रहीनस्य लोलाक्षीव विचक्षुषः ।
व्यसोः कुसुममालेव श्रीः कदर्यस्य निष्फला ॥[1]

'जैसे बहिरे के लिए वीणा, अंधे के लिए सुन्दरी और मृतक के लिए पुष्पमाला निष्फल होती है वैसे ही कंजूस के लिए धन ।'

मेरुः स्थितोऽतिदूरे मनुष्यभूमिं परित्यज्य ।
भीतो भयेन चौर्याचार्याणां हेमकाराणाम् ॥[2]

'मेरु पर्वत इस मनुष्य भूमि से इतनी दूर क्यों स्थित है ? इसीलिए तो कि वह इन सुनार-रूपी चोरों से भीत है ।'

हेमचन्द्र (१०८८ ११७२ ई०) के 'योगशास्त्र' में जैनों के कर्तव्यों अहिंसा स्त्री निन्दा आदि पर विशेष बल दिया गया है । सरस अनुष्टुप् में लिखा हुआ यह ग्रंथ काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता । जल्हण (११५० ई०) ने भोले लोगों को वेश्याओं के त्रास से बचाने के लिए 'मुग्धोपदेश' की रचना की जो प्रभाव तथा काव्यत्व दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट है । वेश्याओं के अनुराग की कृत्रिमता का जल्हण ने यों उल्लेख किया है—

कालश्चेत्करुणापरः कलियुगं यद्यत्र धर्मप्रियं,
निस्त्रिंशो यदि पेशलो विषधरः संतोषदायी यदि ।
अग्निश्चेदतिशीतलः प्रशमवान् सर्वोपकारी खलश्चे—
द्वायुश्च स्थिरतां भविष्यति कियत् वेश्यापि रागान्विता ॥[3]

यदि यमराज दयालु, कलियुग धर्मप्रिय, खड्ग कोमल, सर्प संतोषदायक, अग्नि शीतल, दुष्ट उपकारी और स्थिर वायु स्थैर्ययुक्त बन जाएगा तो वेश्या भी अनुरागवती हो जाएगी ।

शिल्हण (१२०५ ई०) ने मनःशान्ति की प्राप्ति के लिए भर्तृहरि के नीति तथा वैराग्य शतकों के अनुकरण पर 'शान्तिशतक' की रचना की । 'शृंगार वैराग्य तरंगिणी' केवल छयालीस छन्दों का छोटा-सा परन्तु सुन्दर काव्य है जिसमें सोमप्रभ ने स्त्री-संगम की हानियों तथा विरक्तजीवन के लाभों को व्यक्त किया है ।

[illegible] वेदान्तदेशिक (१२६८ १३६९ ई०) ने भर्तृ-कृत 'नीतिशतक' के अनुकरण पर 'सुभाषित-नीवी' की रचना की जिसके १२ १२ श्लोकों के बारह अध्यायों में अहंकार, दुष्टता तथा आदि का वर्णन है । कुसुमदेव के 'दृष्टान्तशतक' (१५०० ई० से पूर्व) में व्यावहारिक उक्तियों को उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा अधिक

---

१ दर्पदलन १।२१ सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ६१
२ 'कलाविलास' से, एच० डी० वेल० एम०एस०एम० (१९४८ ई०) पृष्ठ २४० ।
३ जल्हण- मुग्धोपदेश, पद्य ८ काव्यमाला, भाग ८ (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९११)

प्रभावक बना दिया गया है। जैसे—

कलेमल व्याकुलता को सुशील ही सह सकता है, सामान्य जन नहीं। बड़े शाण की रगड़ को रत्न ही सहार सकता है मृत्तिकण नहीं।[1]

द्या द्विवेदी ने 'नीतिमंजरी' (१४९४ ई०) में नीति-सूक्तियों को सायणकृत वेदभाष्य की कथाओं से उपबृंहित किया।

विक्रम की पंद्रहवीं शती के अन्त में जैन कवि धनदराज ने भर्तृहरि के शतक-त्रय के अनुकरण पर 'शृंगारशतक' 'नीतिशतक' और 'वैराग्यशतक' रचे। नीलकण्ठ दीक्षित (सत्रहवीं शती ईसवी) ने कलिविडम्बन सभारंजन शान्ति-विलास आदि कई छोटे-छोटे नीतिकाव्य लिखे। सभारंजन में राज-सभा तथा विद्वन्मंडली को आह्लादित करने के उपाय दिये हैं पद्य और 'कलिविडम्बन' में नीति की व्यंग्यपूर्ण चुभती हुई सूक्तियाँ हैं। जैसे—

शक्तिं करोति संचारे शीतोष्णे मर्षयत्यपि।
दीपयत्युदरे वह्निं, दारिद्र्यं परमौषधम्॥[2]

'घूमने-फिरने का सामर्थ्य देती है, सर्दी-गर्मी सहने की शक्ति प्रदान करती है, जठराग्नि को तीव्र करती है दरिद्रता वस्तुतः सबसे बड़ी दवा है।' 'हाथ में आई हुई पाँच-छः कौड़ियाँ मनुष्य को पागल बना देती हैं, विद्वानों का तिरस्कार करना सिखा देती हैं और स्व-जाति का विस्मरण करा देती हैं।'[3]

गुमानी का 'उपदेश-शतक' तथा वेंकटाध्वर का 'सुभाषित-कौस्तुभ' भी इसी काल की कृतियाँ हैं।

अज्ञात-कालक कवि दक्षिणामूर्ति ने 'लोकोक्ति-मुक्तावली' नामक ६४ पद्यों के काव्य में नीति की प्रत्येक उक्ति को लोकोक्ति से पुष्ट किया है। जैसे—

दारिद्र्यरोगपरिपीडिता अपि हे मनुष्याः,
स्वकृतमेतदखिलं निजकर्मणेति।
संचिन्त्य मा कुरुत दैवमहो प्रतिनिन्दां
किं भिद्यते हि मुकुरो निजवक्त्रदोषात्॥[4]

'हे मनुष्यो यदि तुम दारिद्र्य और रोगों से पीड़ित हो तो भी, यह सोचकर कि यह सब अपने कर्मों का फल है, क्रुद्ध होकर दैव को बुरा-भला मत कहो। क्या अपने मुख की कुरूपता के कारण दर्पण तोड़ दिया जाता है?'

१ ए० बी० कीथ, एच० एस० एल०, पृष्ठ २१४
२ कलिविडम्बन, पद्य १४ काव्यमाला भाग ५, (निर्णयसागर प्रेस, १९०८ ई०)
३ वही, पद्य १८ " " "
४ लोकोक्ति मुक्तावली पद्य ५७ काव्यमाला गुच्छ ११, १९३१ ई०।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि प्रारम्भ में तो प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों की रचना फुटकल विषयों पर नीरस पद्यों में हुई परन्तु क्रमशः स्वामि-सेवक, वारांगना, कला, दर्प, शान्ति, कलिकाल तथा संयम आदि विशिष्ट विषयों पर स्वतन्त्र काव्यों का भी प्रणयन होने लगा जिनमें सूक्तियों और सुन्दर काव्य की भी कमी नहीं।

(ख) अन्यापदेशिक नीतिकाव्य

नीतिकाव्य के इस रूप में उपदेश किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु द्वारा दिया जाता है प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार की सर्वप्रथम रचना भल्लट-कृत 'भल्लटशतक' (नवीं शती ई०) है जो सुन्दर, लोक-प्रिय तथा स्वतन्त्र चिन्तन की परिचायक है। गुणहीन व्यक्ति को बड़ा नाम देना दुष्टों का ही काम है इस भाव को यों व्यक्त किया है—

> सूर्याचन्द्रमसावस्योद्भासितस्य तत्कृतम्।
> खद्योत इति कीटस्य नाम दुष्टेन केनचित् ॥[1]

'जो खद्योत' नाम चन्द्र को भी नहीं केवल सूर्य को सुहाता है वह न जाने किस दुष्ट ने एक कीड़े का दे दिया है।

काश्मीर में ग्यारहवीं शता के अन्त में शम्भु ने 'अन्योक्तिमुक्तालता शतक' की रचना की जिसमें सहृज काव्यत्व का अभाव है।

पंडितराज जगन्नाथ के 'भामिनीविलास' के अन्तिम तीन विलासों—शृंगार करुण शान्त—में भी नीतिकाव्य के कुछ सुन्दर निदर्शन मिलते हैं परन्तु प्रथम—प्रास्ताविक—विलास तो कहलाता ही 'अन्यापदेश शतक' है और यह इस शैली के नीतिकाव्यों की सुन्दरतम रचना है। किसी कृपण धनाढ्य को लक्ष्य बनाकर कवि कासार को कहता है—

> अपारे संपत्तावपि च सलिलानां त्वमधुना
> न तृष्णामार्तानां हरसि यदि कासार सहसा।
> निदाघे चण्डांशौ किरति परितोऽङ्गारनिकरान्
> कृशीभूतः केषामहह परिहर्तासि खलु ताम् ॥[2]

'हे कासार इस अपार जल-सम्पदा के रहते हुए भी यदि तू प्यासों की प्यास तुरन्त शान्त नहीं करता तो फिर जब ग्रीष्म में सूर्य की अंगारवृष्टि से तू क्षीणतोय हो जाएगा तब किसकी प्यास बुझाएगा ?'

'अन्यापदेश शतक' में नीलकण्ठ दीक्षित ने अपनी असाधारण कल्पना का पुष्ट प्रमाण दिया है और यह इस शैली की उत्कृष्ट रचनाओं में अन्य है। वीरेश्वर का

---

१ भल्लटशतक, पद्य १३ उद्धृत : सूक्तिमुक्तावली पृष्ठ ८३

२ भामिनीविलास प्रास्ताविक विलास पद्य ४१

'अन्योक्तिशतक' भी परिनिष्ठित काल की उत्कृष्ट रचना है। 'चातक शतक' भी इसी प्रकार की एक प्रख्यात कृति है जिसमें चातक के चरित्र द्वारा मनुष्य को मान-रक्षा का उपदेश दिया गया है।

यद्यपि प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों की अपेक्षा अन्यापदेशिक नीतिकाव्यों की संख्या न्यून है तथापि नीत्युपदेशों के व्यंग्य होने के कारण जो चारुतावहता तथा मार्मिकता अन्यापदेशिक काव्यों में है, वह प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों में नहीं।

(ग) सुभाषित-संग्रहों में नीतिकाव्य

सुभाषितों या सूक्तियों के संग्रह की प्रथा भारतवर्ष में चिरकाल से प्रचलित है। इन संग्रह-ग्रन्थों में नवरस, षड्ऋतु, नख शिख आदि विषयों के अतिरिक्त नीति काव्य भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। ऐसे संग्रहों में प्राचीनतम संग्रह का नाम 'कवीन्द्रवचन-समुच्चय' है जिस में ईसा की दसवीं सदी के अन्त[1] में किसी अज्ञातनामा व्यक्ति ने ५२५ पद्य संकलित किये। सोमेश्वर ने ईसवी बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध[2] में 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि'[3] का संकलन किया जिसमें अनेक विद्याओं तथा कलाओं का सुन्दर परिचय दिया गया है। श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' या 'सूक्तिकर्णामृत' (१२०५ ई०)[4] में ४८५ कवियों की २३६८ सूक्तियों का संकलन किया। जल्हण ने अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' (१२५७ ई०)[5] में जहाँ २४१ कवियों के २७९० सुभाषित संगृहीत किये हैं वहाँ उनकी विषय-सूची भी दी है। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने ईसवी चौदहवीं सदी में 'सुभाषित सुधानिधि'[6] नामक संग्रह का संकलन किया। लगभग उसी समय[7] शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधरपद्धति' में १६३ शीर्षकों के नीचे ४६८९ सूक्तियाँ संचित कीं। काश्मीरी कवि वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' में ३५२७ सूक्तियों का संग्रह किया। यह संग्रह काश्मीर-नरेश सुलतान जैनुलआबिदीन (१४१७-६७ ई०)[8] के पश्चात् किया गया होगा क्योंकि वल्लभदेव ने उसके सुलतान के समकालीन जोनराज का उल्लेख किया है। सम्भवतः ईसवी सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध[9] में

---

१ एच० सी० एस० एल० पृष्ठ ३८४
२ वही पृष्ठ ८१, ३८४
३ इसी का नामान्तर 'मानसोल्लास' है।
४ एच० एस० एल० पृष्ठ २१२
५. एच० सी० एस० एल० पृष्ठ ३८५
६. वही पृष्ठ ३८६
७ एच० सी० एस० एल० पृष्ठ ३८९
८ वही पृष्ठ ३८७
९. वही पृष्ठ ३८७

दाक्षिणात्य कवि हरिकवि ने 'हारावलि' या 'सुभाषित हारावलि' में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के कवियों की सूक्तियों का संकलन किया। उसने जगन्नाथ के 'भामिनी-विलास' के अतिरिक्त अकबरी दरबार के किसी अकबरीय कालिदास के सुभाषित भी उद्धृत किये हैं। सुभाषितों के संग्रह की यह प्रथा हमारे समय तक चली आ रही है।[1]

उक्त संग्रहों में जहाँ बहुत से सुभाषित सुपरिचित या अल्पपरिचित कवियों के उपलब्ध होते हैं, वहाँ अनेक अज्ञात-नामा कवियों के भी। एक दो अज्ञातकर्तृक तथा अल्पपरिचित कवियों के एक-दो पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

सति पुष्पसमर्थेऽपि श्रीर्नियतं सपुरुषम् ।
किं वणिग्विपणिलिखिता हुम्यपोर्लं हुलीतको ॥[2] (कस्यापि)

'पुष्पों का उदय होने पर भी उद्यम के बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती। क्या वणिक की दुकान पर पड़ी हुई हरड़ से अजीर्ण रोग दूर हो सकता है?

रिक्ताः कुर्वन्ति पटवत्स्तुल्यास्तवलसा भवन्ति ये पुरुषा ।
तेषां मशकानामिव पूर्णानां रिक्तता कार्या ॥[3] (धर्मदत्तस्य)

जो सेवक निर्धनता की अवस्था में व्यापृत रहते हैं और धनी होने पर आलसी हो जाते हैं उन्हें समृद्ध होने पर जोंकों के समान रिक्त कर देना चाहिए।

स्मरण रहे कि सुभाषितसंग्रहों का नीतिकाव्य कदापि सूक्तिकाव्य से निम्न कोटि में नहीं आता। अनेक स्थलों पर तो वह अपनी उत्कृष्ट कल्पना और व्यंजना के कारण उत्तम काव्य में सहज ही परिगणित हो सकता है।

संस्कृत के नीतिकाव्य की आलोचना

वर्ण्य विषय

गौरवपूर्ण पवित्र तथा सफल जीवन व्यतीत करने के लिए वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में शरीर की क्षणभंगुरता सत्यभाषण वाग्मिता वाङ्माधुर्य शम दम विवेक विद्वत्ता विद्या का महत्त्व विघ्न तथा साधन तपस्विता मनस्विता उद्योग परोपकार, धैर्य वीरता श्रम भक्ति विनय क्षमा दया उदारता शील और संतोष की उपादेयता पर विशेष बल दिया गया है। इनके विरुद्ध विश्वासघात अनृत तथा कटु भाषण, पैशुन्य वाचालता अविवेक मूर्खत्व काम क्रोध लोभ मोह अहङ्कार

---

१ गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डॉ० बोटलिंक ने संस्कृत साहित्य की सुन्दरतम सूक्तियों को 'इण्डिशे स्प्रूशे' में संकलित किया। सुभाषित रत्न भाण्डागार नामक प्रसिद्ध सुभाषित संग्रह का संकलन का० पा० परब ने किया जिसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

२ संस्कृत सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४०।११

३ संस्कृत सूक्तिमुक्तावली पृ० ४०।१२

'अन्योक्तिशतक' भी अभिदिष्ट काल की उत्कृष्ट रचना है। 'चातक शतक' भी इसी प्रकार की एक प्रख्यात कृति है जिसमें चातक के चरित्र द्वारा मनुष्य को मान-रक्षा का उपदेश दिया गया है।

यद्यपि प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों की अपेक्षा अन्यापदेशिक नीतिकाव्यों की संख्या न्यून है तथापि नीत्युपदेशों के व्यंग्य होने के कारण जो आह्लादकता तथा मार्मिकता अन्यापदेशिक काव्यों में है वह प्रत्यक्ष नीतिकाव्यों में नहीं।

(ग) सुभाषित-संग्रहों में नीतिकाव्य

सुभाषितों या सूक्तियों के संग्रह की प्रथा भारतवर्ष में चिरकाल से प्रचलित है। इन संग्रह-ग्रन्थों में नवरस, षड्ऋतु, नख-शिख आदि विषयों के अतिरिक्त नीतिकाव्य भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। ऐसे संग्रहों में प्राचीनतम संग्रह का नाम 'कवीन्द्रवचन-समुच्चय' है जिस में ईसा की दसवीं शती के अन्त[1] में किसी अज्ञातनामा व्यक्ति ने ५२५ पद्य संकलित किए। सोमेश्वर ने ईसवी बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध[2] में 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि'[3] का संकलन किया जिसमें अनेक विद्याओं तथा कलाओं का सुन्दर परिचय दिया गया है। श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' या 'सूक्तिकर्णामृत' (१२०५ ई०)[4] में ४८५ कवियों की २३६८ सूक्तियों का संकलन किया। जल्हण ने अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' (१२५७ ई०)[5] में जहाँ २४३ कवियों के १७९० सुभाषित संगृहीत किये हैं वहाँ उनकी विषय-सूची भी दी है। प्रसिद्ध वेद भाष्यकार सायण आचार्य ने ईसवी चौदहवीं शती में 'सुभाषित सुधानिधि'[6] नामक संग्रह का संकलन किया। लगभग उसी समय[7] शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधरपद्धति' में १६३ शीर्षकों के नीचे ४६८९ सूक्तियाँ संचित कीं। काश्मीरी कवि वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' में ३५२७ सूक्तियों का संग्रह किया। यह संग्रह काश्मीर-नरेश सुलतान जैनुलआबदीन (१४१७-६७ ई०)[8] के पश्चात् किया गया होगा क्योंकि वल्लभदेव ने उसके युवराज के समकालीन जोन राज का उल्लेख किया है। सम्भवतः ईसवी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध[9] में

---

१ एच० सी० एस० एल० पृष्ठ १८४

२ वही पृष्ठ ३१३-१४

३ इसी का नामान्तर 'मानसोल्लास' है।

४ एच० एस० एल० पृष्ठ २२२

५. एच० सी० एस० एल० पृष्ठ १८५

६. वही पृष्ठ १८६

७ एच० सी० एस० एल० पृष्ठ १८९

८ वही पृष्ठ १८७

९ वही, पृष्ठ १८७

दाक्षिणात्य कवि हरिकवि ने 'हारावलि' या 'सुभाषित हारावलि' में उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के कवियों की सूक्तियों का संकलन किया। उसने जगन्नाथ के भामिनी-विलास के अतिरिक्त अकबरी दरबार के किसी अकबरीय कालिदास के सुभाषित भी उद्धृत किए हैं। सुभाषितों के संग्रह की यह प्रथा हमारे समय तक चली आ रही है।[1]

सूक्ति संग्रहों में जहाँ बहुत से सुभाषित सुपरिचित या अल्पपरिचित कवियों के उपलब्ध होते हैं वहाँ अनेक अज्ञात-नामा कवियों के भी। ऐसे ही अज्ञातकर्तृक तथा अल्पपरिचित कवियों के एक-दो पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

सति पुण्यप्रकर्षेऽपि श्रीर्विनोद्यमं समुद्यम ।
किं वणिग्विपणिस्थिता हरन्त्यरोगं हरीतकी ॥[2] (कस्यापि)

'पुण्यों का उदय होने पर भी उद्यम के बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती। क्या बनिये की दुकान पर पड़ी हुई हरड़ से अजीर्ण रोग दूर हो सकता है?

रिक्ततः कर्मसु पटवः पूर्णास्त्वलसा भवन्ति ये पुरुषाः ।
तेषां जलौकसामिव पूर्णानां रिक्तता कार्या ॥[3] (धर्मदत्तस्य)

जो सेवक निर्धनता की अवस्था में कार्यकुशल रहते हैं और धनी होने पर आलसी हो जाते हैं उन्हें समृद्ध होने पर जोंकों के समान रिक्त कर देना चाहिए।

स्मरण रहे कि सुभाषितसंग्रहों का नीतिकाव्य कदापि सूक्तिकाव्य से निम्न कोटि में नहीं आता। अनेक स्थलों पर तो वह अपनी उत्कृष्ट कल्पना और व्यंजना के कारण उत्तम काव्य में सहज ही परिगणित हो सकता है।

संस्कृत के नीतिकाव्य की आलोचना

वर्ण्य विषय

गौरवपूर्ण पवित्र तथा सफल जीवन व्यतीत करने के लिए वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में शरीर की क्षणभंगुरता, सत्यभाषण नागिता वाङ्माधुर्य, क्षम दम विवेक विद्वत्ता विद्या का महत्त्व, विनय तथा शासन उत्साहिता मनस्विता उद्योग परोपकार, धैर्य वीरता, धर्म अतिथि विनय क्षमा दया उदारता, शील और संतोष की उपादेयता पर विशेष बल दिया गया है। इसके विरुद्ध विद्वत्वम असत्य तथा कटु भाषण, पैशुन्य याचकता अविवेक मूर्खत्व काम क्रोध लोभ मोह अहंकार,

---

१ गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में डॉ० बोटलिंक ने संस्कृत साहित्य की सुन्दरतम सूक्तियों को 'इण्डिशे स्प्रूशे' में संकलित किया। 'सुभाषित रत्न भाण्डागार' नामक प्रसिद्ध सुभाषित संग्रह का संकलन का० ना० परब ने किया जिसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

२ उद्धृत सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४०४।११

३ उद्धृत सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४०१।१६

मत्सर्य कार्पण्य, आलस्य कृतघ्नता तथा स्वार्थ के परिहार की प्रेरणा की गई है।

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में कहीं तो गृहस्थाश्रम को धन्य कहा गया है और[1] कहीं अधन्य। उसकी यह प्रशस्यता या निन्द्यता सापेक्षों पर अवलम्बित है, निरपेक्ष नहीं। यदि आवास उत्तम, कान्ता मृदुभाषिणी, पुत्र विनयशील, और सेवक आज्ञा-परायण हो तब तो गृहस्थाश्रम के सामने बैकुंठ भी कुंठित है[1] और यदि घर धूमाच्छन्न हो, भार्या कटुभाषिणी हो, स्वामी क्रोधी हो और शिशुओं की चिल्लाहट हो तो गृहस्थी निस्सार है।[2] कन्या की अपेक्षा पुत्र को शुभ माना गया है। कन्या के योग्य वर तथा उसके भावी सुख के सम्बन्ध में जनक चिन्तित हो उठते हैं। पुत्रों तथा पौत्रों का जन्म गृहस्थ की धन्यता का सूचक माना जाता था परन्तु अनेक निर्गुण पुत्रों की अपेक्षा एक ही गुणी पुत्र तथा निर्गुण पुत्र की अपेक्षा निस्सन्तानत्व श्रेष्ठ समझा जाता था।

पुत्रों से जनक-सेवी, विद्वान्, धार्मिक शूर, विनयी धनी दानी तथा यशस्वी होने की आशा की जाती थी। जनकों की आज्ञा न मानने वाला रात को विलम्ब से घर लौटने वाला राह चलती युवतियों से छेड़-छाड़ करने वाला, सम्बन्धियों के हित-कर वचनों पर क्रुद्ध होने वाला साधुओं का निन्दक तथा दुर्जनों को मित्र मानने वाला पुत्र कुपुत्र कहा जाता था।[3]

सामाजिक नीति के क्षेत्र में सज्जन सुमित्र, गुरु, सत्संगति कुलवधू तथा आज्ञा-परायण सेवक विशेष प्रशंसनीय कहे गये हैं और दुर्जन कुमित्र, कुसंगति वेश्यागमन, व्यभिचार तथा परगृहवास निन्दनीय। विद्या विनय आदि सद्गुणों से विहीन हो जाने के कारण स्त्री पहले के समान संमान्य नहीं रही। वैराग्यप्रधान बौद्ध तथा जैनधर्म में उसे विशेष निन्द्य कहा गया। वैदिक काल में सम्राज्ञी[4] मानी जाने वाली नारी धीरे-धीरे पुरानी प्रतिष्ठा से रहित होती चली गई। चरित्र भ्रष्टता के कारण पौराणिक, मलिनता क्रोध हिंसा तथा चोरी के कारण पुरोहित चंचलता, क्रूरता मद्य-मांस भक्षण पर-निन्दा तथा तस्करता के कारण कायस्थ कुत्सित कहे गये हैं।[5] पुरुषों में नाई तथा स्त्रियों में मालिन वैसी ही धूर्त समझी गई जैसे पक्षियों में कौवा और पशुओं में सियार।[6] स्व-स्व व्यवसायों में कुशलता या मूढ़ता तथा अन्य गुणों या दोषों के कारण वैद्य कवि ज्योतिषी पंडित वैयाकरण, मीमांसक,

---

१ सुभाषितरत्नभाण्डागारम् (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १६१२ ई०) पृ० ८६, गृहस्थाश्रमप्रशंसा पद्य ४॥

२ वही, पृ० ८१, गृहस्थाश्रमदूषणम्, पद्य १।

३ पु० २० भा, पृ० ६०, कुपुत्रनिंदा, पद्य ८, ६, १२

४ ऋग्वेद १०।८५।४६

५ पु २० भा० पृ० ४४ ४५

६ चाणक्यनीति पृ० १४, पद्य २१

नैयायिक, तथा छान्दस लोग तुल्य या निन्द्य माने गये। विद्वानों का निर्वाह प्रायः व्यापारियों के आश्रय से हुआ करता था, अतएव वे स्तोतव्य कहे गये हैं।

सांसारिक सुखों तथा समाज में सम्मान के साधन धन का धार्मिक नीति में प्रमुख स्थान है। गुण-गण-भूषित भी मानव धनाभाव के कारण समाज में उपेक्ष्य बन जाता है और दोष-समुदाय से दूषित होने पर धनी सम्मानित[1]। इसी कारण नीति काव्यों में जहाँ धन व धनियों की प्रचुर प्रशंसा उपलब्ध होती है वहाँ दारिद्र्य और दरिद्रों की निन्दा। परन्तु यह बात ऐकान्तिक नहीं है। धन के उपार्जन रक्षण आदि में विविध कष्ट होते हैं और समृद्ध होने पर मनुष्य में अहङ्कार, परिग्रह आदि दोष भी सहज ही आ जाते हैं। अतएव कहीं-कहीं धन और धनियों की निन्दा भी दृष्टिगोचर होती है।[2] लक्ष्मी की चंचलता तथा न्याय से वित्तोपार्जन पर भी यत्र-तत्र सूक्तियाँ मिलती हैं।[3] ऋण भिक्षा, सेवा, सेवकों तथा याचकों को निन्द्य माना गया है और उद्योग द्वारा धनोपार्जन की प्रबल प्रेरणा की गई है।

इतर प्राणियों के प्रति नीति में विशेष परिवर्तन हो गया। बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रभाव के कारण पशु-हिंसा निन्द्य हो गई और प्राणियों के प्रति दया परम कर्तव्य। मांस-भोजन इस प्रकार त्याज्य माना गया—

'न घर में आसक्त व्यक्ति विद्वान् हो सकता है न मांस-भोजी दयालु, न धन का लोभी सच्चा हो सकता है न कामुक मानव पवित्र।"[4]

पशु-पक्षियों की हत्या तो दूर, उनसे अनेक शिक्षाएँ लेने के उपदेश दिये गये।[5] जैन नीतिकारों ने तो मधु-मक्खियों की हत्या व उपघात होने के कारण मधु को भी सर्वथा त्याज्य कहा।

सामान्य विषयों में से कर्म और दैव दोनों ही पर नीतिकाव्यकारों ने रचना की है। जहाँ दैव के प्राबल्य को स्वीकृत किया गया है वहाँ कर्म को उससे भी अधिक बलवान् इस कारण बताया गया है कि पूर्व जन्मों में कृत कर्म ही मनुष्य के भाग्य निर्माता होते हैं। कर्म की महत्ता विधाता से भी अधिक कही गई है क्योंकि वह नियत कर्मों का फल मात्र दे सकता है, अन्य कुछ बिगाड़-सँवार नहीं सकता।[6] संहिता काल की ऐहिकता क्रमशः क्षीण होती गई। उपनिषदों तथा वैराग्यप्रवण जैन और बौद्ध धर्मों के प्रवाह के कारण यह लोक स्पृहणीय स्थान न रहकर दुस्तर सागर-सा प्रतीत

---

१ पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० पृ० २७।६०
२ श्रीमद्भागवत महापुराण ११।२३।४२२ तथा १०।१०।१३
३ पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० पृ० ३१।४६।
४ बार्हस्पत्य नीति, पृ० ४८।४
५ वही, पृ० २८-२९
६ भल्लटशतक, नीतिशतक, पृ० ९९।८।

होने लगा। तप, संयम तथा विषयों का त्याग मनजय के विशेष उपाय माने गये। यद्यपि नीतिकारों का मुख्य उद्देश्य लोक-व्यवहार की शिक्षा देना ही था तो भी परंपरा एवं धार्मिक संस्कार इतने प्रबल थे कि नीतिकार यत्र-तत्र मुक्ति परलोक धर्म आदि विषयों पर लिखने के लोभ का संवरण न कर सके।

इसके अतिरिक्त मानवों को परमार्थ की ओर प्रवर्तित करने के लिए माया की मोहकता का, गर्भवास के विकट दुःखों का तथा काल की प्रबलता का भी बहुत उल्लेख हुआ है। यौवन-सुलभ दोषों को देखते हुए तारुण्य तथा निर्बलता व अनादर की जननी होने कारण जरा भी निन्द्य मानी गई है। आशा स्वार्थ रखवाने तथा अनेकत्र अपमान कराने वाले उदर तथा क्षुधा को भी आड़े हाथों लिया गया। त्याग के महत्त्व का भी अनेक नीतिकाव्यों ने बखान किया है। धन, बुद्धि अनुभव आदि का वर्द्धक होने के कारण प्राय प्रवास प्रशस्य ही माना गया है, परन्तु तत्सम्बन्धी कष्टों तथा कान्ता-वियोग-जनित वेदना के कारण कहीं-कहीं उसकी गर्हा भी की गई है। मनुष्य के आचार-विचार के बिगाड़ का कारण कलियुग को भी स्वीकार किया गया है तथा जीवों और बुद्धि आदि के नाशक होने के कारण मांस मद्य तमाखू, भांग आदि मादक पदार्थों को त्याज्य कहा गया है।

पिछले दो हजार वर्षों के संस्कृत नीति-काव्य की हिंदी नीति काव्य से तुलना करने पर विदित होता है कि जहाँ सत्य मधुरभाषण दान परोपकार, अतिथिसेवा दान पुरुषार्थ आदि पुरातन विषय यथापूर्व चलते रहे वहाँ अनेक नूतन विषयों पर भी नीतिकाव्य की रचना हुई। नूतन विषयों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) स्तुत्य (२) निन्द्य (३) मिश्रित।

१ स्तुत्य विषय—गुरु विद्वान् सुजन व्यापारी राजा अहिंसा वैराग्य आदि।

२ निन्द्य विषय—मूर्ख दुर्जन तारुण्य वार्धक्य मृत्यु, कन्याविक्रय वेश्या गमन व्यभिचार सेवा सेवक पुरोहित याचक कायस्थ, मद्यमांस मद्यपान धूम्रपान लोभ माया देह विषय संसार आदि।

३ मिश्रित—इस वर्ग में वे विषय परिगणित हैं जिनकी कहीं प्रशंसा है तो कहीं निन्दा। सद्गुण-युक्त होने से वे स्तुत्य तथा दुर्गुण-दूषित होने से गर्ह्य कहे गये हैं। जैसे गार्हस्थ्य धन, पुत्र, मित्र वैवाहिक पक्ष करस मीमांसक ज्योतिषी, वैद्य, कवि ब्राह्मण स्त्री प्रवास आदि।

विषय-विस्तार के कुछ सामान्य कारणों का उल्लेख ऊपर यत्र-तत्र किया गया है परन्तु मुख्य कारण है—ऐहिक दृष्टि। पहले लक्ष्य यह था कि देवता कैसे प्रसन्न हों, स्वर्ग कैसे प्राप्त हो ब्रह्मत्व की उपलब्धि क्योंकर हो। परन्तु अब लक्ष्य बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। यद्यपि पारलौकिक तथा आध्यात्मिक विषय नितान्त विस्मृत न किये जा सके तो भी अधिक बल उन विषयों पर दिया गया जिन का ऐहिक जीवन से विशिष्ट सम्बन्ध है जैसे-धन मान चोर मूर्ख पंडित, सज्जन मित्र पशु आदि।

भाव यह कि निःश्रेयस की अपेक्षा अभ्युदय पर दृष्टि अधिक जम गई।

भाषा—

भाषा में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया। वैदिक भाषा के नामों तथा धातुओं के बहुत से रूप लुप्त हो गये। शनैः-शनैः भाषा पाणिनीय व्याकरण के अनुसार चलने लगी और स्वाभाविकता का स्थान लम्बे-लम्बे समासों तथा साहित्यिक परिष्कार ने ले लिया। प्रारम्भिक रचनाएं तो प्रायः अनुष्टुप् और आर्या छन्दों में हुईं परन्तु क्रमशः मालिनी वसन्ततिलका मन्दाक्रान्ता शार्दूलविक्रीडित शिखरिणी उपजाति आदि अनेक बड़े-बड़े वृत्त प्रयुक्त होने लगे। वैदिक गीतिकाव्य में अलंकारों का विशेष प्रयोग न था परन्तु संस्कृत गीति-साहित्य में वैदिक उपमा को उपयुक्त दृष्टान्तों से उपबृंहित करने की तथा विभिन्न अलंकारों के प्रयोग की प्रथा क्रमशः बढ़ती गई।

रस भाव

यह भी निस्संकोच कह सकते हैं कि वैदिक गीति-काव्य की अपेक्षा संस्कृत गीतिकाव्य के द्वारा हृदय में रसों तथा भावों का उन्मेष अधिक होता है। महाभारत चाणक्यनीति आदि में यह क्षमता चाहे अधिक न हो परन्तु सुन्दरपाण्ड्य मम्मट क्षेमेन्द्र जगन्नाथ आदि के गीतिकाव्य नीरस नहीं कहे जा सकते। वेश्याओं की शृंगार-प्रियता का वर्णन हास्यरस की इस उक्ति में देखते ही बनता है—पिता की मृत्यु पर वारांगना 'हा तात! हा तात! हा तात!' ही कहती हुई रोती है जिससे कि चर्वित पान से रंजित अधरों की लाली मिट न जाए।[1] एक मृगी द्वारा कथित और आखेट की निन्द्यता का प्रतिपादक निम्नस्थ श्लोक करुणरसोद्रेक में पूर्णतया समर्थ है—

अरे शिकारी मेरे शरीर का सारा मांस ले जाओ परन्तु मुझे और मेरे स्तनों को छोड़ जाने की कृपा करो। मेरे बच्चे अभी घास के कौर खाना नहीं सीखे हैं, वे दुःखी होकर मेरे मार्ग को देख रहे होंगे।[2]

---

१ पितरि मृते यदि हि वेश्या रोदिति हा तात तात तातेति।
उपभुक्तखदिरवीटिकजनिताधररंगभंगभयात् ॥
(उल्बणस्य जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली, पृ० ३११)
पिता आदि ओष्ठ्य अक्षरों के उच्चारण से लाली के मिटने की आशंका है
अतः अनोष्ठ्य-अक्षर-युक्त शब्द ही बोलती है।

२ आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमंगे
मां मुञ्च वागुरिक यामि कुरु प्रसादम्।
सीदन्ति शष्पकवलग्रहणानभिज्ञा
मन्मार्गवीक्षणपरा शिशवो मदीयाः ॥
(नरदेववर्मण जल्हण-कृत सूक्तिमुक्तावली, पृष्ठ ३११)

इसी प्रकार तेजस्विता मनस्विता क्षमा, उदारता उत्साह, परोपकार आदि भावों का संचार करने में नीतिकाव्य सर्वथा समर्थ है।

इस सरसता का चरम प्रकर्ष अन्यापदेशिक नीति-काव्य में उपलब्ध होता है। जिन प्राणियों तथा वस्तुओं को संबोधित कर अन्योक्तियाँ रची गई हैं उनकी गणना दुष्कर है। देवताओं में इन्द्र शिव राम आदि, मनुष्यों में सुवर्णकार, कर्णधार मालाकार आदि पशुओं में सिंह, गज रासभ आदि पक्षियों में हंस, कोकिल काक आदि भूषणों में हार कंकण वलय आदि, तत्त्वों में पृथ्वी जल आकाश आदि ग्रहों में सूर्य चंद्र मंगल आदि जलाशयों में समुद्र नदी, सर आदि मणियों में रत्न, शंख शालग्राम आदि वृक्षों में कल्प चंदन, अश्वत्थ आदि और पुष्पों में पाटल बकुल पद्म आदि के लिए मनोहर उपदेश दिए गए हैं।

काव्यविधान

काव्यविधान की दृष्टि से संस्कृत का नीति-काव्य दो रूपों में उपलब्ध होता है—प्रबन्ध और मुक्तक। रामायण महाभारत रघुवंश तथा अभिज्ञानशाकुन्तल आदि प्रबन्ध और दृश्यकाव्यों के नीतिकाव्य को प्रबन्ध नीतिकाव्य कह सकते हैं और चाणक्यनीति भर्तृहरि-कृत नीतिशतकादि को मुक्तक नीतिकाव्य। मुक्तकों के भी दो भेद किए जा सकते हैं—गेय मुक्तक और पाठ्य मुक्तक। स्तोत्र-ग्रन्थादि में आने वाले पद्य गेय मुक्तक के अन्तर्गत हैं और शेष पाठ्य मुक्तक में। पाठ्य मुक्तक चार वर्गों में विभाज्य हैं—

१ एक कवि-रचित स्फुट पद्यों का संग्रह जैसे चाणक्यनीति आदि।
२ एक कवि-प्रणीत विषयानुसार संग्रह, जैसे भर्तृहरि-कृत नीतिशतकादि।
३ एक कवि-कृत एक विषय पर संपूर्ण रचना जैसे दर्पदलनादि।
४ सुभाषित संग्रहों के मुक्तक—जैसे सदुक्तिकर्णामृतादि में।

शैली

संस्कृत के नीति-काव्यों में निम्नलिखित शैलियों का प्रयोग किया गया है—

(क) तथ्यनिरूपक शैली
(ख) उपदेशात्मक शैली
(ग) आत्माभिव्यंजक शैली
(घ) प्रश्नोत्तर शैली
(ङ) कथात्मक शैली
(च) संख्यात्मक शैली
(छ) व्याख्यात्मक शैली
(ज) अन्यापदेशात्मक शैली

(झ) नैतिक उपमानों की शैली
(ञ) कूट शैली
(ट) रूपककाव्य शैली

(क) तथ्यनिरूपक शैली—इस शैली में कवि नैतिक तथ्यों का उल्लेख मात्र अपनी ओर से अन्य पुरुष में करता है। अधिकतर नीतिकाव्य इसी शैली में गुम्फित हैं। ऊपर कई उदाहरण दिए जा चुके हैं।[1]

(ख) उपदेशात्मक शैली—कभी-कभी कवि पाठकों को विशेष ढंग का आचरण करने के लिए मध्यमपुरुष द्वारा प्रत्यक्ष उपदेश देते हैं। जैसे तृष्णा को काट क्षमा धारण कर मद को त्याग पाप से प्रेम न कर आदि।[2]

(ग) आत्माभिव्यंजक शैली—इस शैली में कवि अपने अनुभवों का प्रकाशन उत्तम पुरुष में करता है। यथा—न तो मुक्ति पाने के लिए प्रभु के चरणों का ध्यान ही किया न स्वर्ग में स्थान दिलाने वाले धर्म का ही उपार्जन किया न कभी स्वप्न में दाम्पत्य-सुखों का ही अनुभव किया हम तो केवल माता के यौवन-रूपी वन के लिए कुल्हाड़े ही बने।[3]

(घ) प्रश्नोत्तरी शैली—इस शैली के दो उपभेद हैं—(१) दो व्यक्तियों का परस्पर प्रश्नोत्तर जैसे महाभारत में युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर भीष्म और धृतराष्ट्र के प्रश्नों का उत्तर विदुर देते हैं। (२) कवि का स्वयं ही प्रश्नोत्तर, जैसे—हे विप्र बताओ इस जगत में महान् कौन है? तारु के वृक्षों का समूह। दाता कौन है? धोबी जो प्रात वस्त्र ले जाता है और सायं दे जाता है। दक्ष कौन है? सब लोग पराया धन व नारियां हरने में दक्ष हैं। हे मित्र फिर जीते कैसे हो? जैसे विष का कीड़ा विष में।[4]

(ङ) कथात्मक शैली—प्राचीन आख्यानों तथा पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा भी नैतिक तथ्यों का निरूपण हुआ है जैसे विदुरनीति में सुधन्वा तथा प्रह्लाद की कथा[5] द्वारा और महाभारत के शान्ति-पर्व (अध्याय १३७) में तीन मछलियों की कहानी द्वारा।

(च) संख्यात्मक शैली—उपयोगी बातें कण्ठस्थ करने के लिए संख्याएं विशेष सहायक होती हैं। संभवतः इसी कारण से नीतिकाव्यकारों ने उनका बहुत प्रयोग किया है। पालि के अंगुत्तर निकाय जैनों के स्थानांग तथा महाभारत में यह

---

१ 'यथाः सति पुण्यप्रकर्षेऽपि' (प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ ७३)
२ शतकत्रयम्, पृष्ठ ४०।६६
३ „ , पृष्ठ १४२।४६
४ चाणक्य नीति पृष्ठ १७।६
५ विदुर नीति (गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०११), पृष्ठ १८-१२

प्रवृत्ति पर्याप्त विकसित है। जैसे एक से तप दो से पठन तीन से गान, चार से गमन पाँच से खेती और बहुतों से युद्ध सम्यक् संपन्न होता है।[1]

(छ) व्याख्यात्मक शैली—कहीं-कहीं पर कवि एकाध श्लोक में सूत्र-रूप में प्रतिपाद्य विषय का संकेत करता है और परवर्ती अनेक श्लोकों में उसकी व्याख्या देता है। जैसे—सिंह से एक बगुले से एक कुक्कुट से चार कौए से पाँच कुत्ते से छह तथा गधे से तीन गुण ग्राह्य हैं। मनुष्य जिस भी छोटे या बड़े काम को करना चाहे, उसे पूर्ण प्रयत्न से करे यह एक गुण सिंह से सीखना चाहिए, आदि।[2]

(ज) अन्यापदेशात्मक शैली—इस शैली में सम्बोधित तो किया जाता है पशु, पक्षी नदी समुद्र सूर्य, चन्द्र आदि को परन्तु उपदेश का लक्ष्य होता है कोई मानव या मानवसमुदाय। इस प्रकार इस शैली में अन्योक्तियों द्वारा नीति शिक्षा दी जाती है। पीछे कह चुके हैं कि 'भल्लटशतक' आदि काव्य इसी शैली में रचे गए।[3]

(झ) नैतिक उपमानों की शैली—इस शैली में कवि का वर्ण्य विषय तो कोई अन्य ही होता है परन्तु उसका समर्थन या स्पष्टीकरण वह किसी नैतिक उपमान से करता है। पीछे इस शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है।[4]

(ञ) कूट शैली—सम्भवतः अपना बुद्धिचातुर्य प्रदर्शित करने या पाठकों को विस्मय-विमुग्ध करने के लिए कविजन कहीं-कहीं कूटार्थक पद्यों की रचना करते हैं। जैसे बुद्धिमानों का समय प्रातः द्यूतप्रसंग में दोपहर को स्त्रीप्रसंग में तथा रात को चोर-प्रसंग में व्यतीत होता है।[5] टीकाकारों के बिना यह ज्ञान कठिन होगा कि यहाँ द्यूतप्रसंग आदि महाभारत रामायण तथा भागवत का अध्ययन है।

(ट) रूपक काव्य शैली—इस शैली में काम क्रोध लोभ मोह, अहंकार विद्या बुद्धि श्रद्धा आदि मन के भावों को पात्रों का रूप देकर कथाओं या दृश्य काव्यों की रचना की गई है। इस शैली के बीज उपनिषदों और बौद्धसाहित्य में मिलते हैं जिनका विकास सिद्धर्षि की 'उपमिति भवप्रपंच कथा', कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचंद्रोदय' (नाटक) आदि ग्रन्थों में हुआ।

---

१ चाणक्य नीति पृष्ठ १८।१२
२ चाणक्य नीति पृष्ठ ६।१५-२१
३ प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ ७१
४ प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ ५१।
५ चाणक्य नीति पृष्ठ ४२।११
६ छान्दोग्योपनिषद् १।२, जातकनिदानकथा के 'अविदूरे निदान' की मारविजय सम्बन्धी आख्यायिका, 'अपभ्रंश साहित्य' पृष्ठ ३१५।

गुण

काव्यगुणों की दृष्टि से संस्कृत का नीतिकाव्य प्रसाद-गुण-प्रधान है । माधुर्य तथा ओज गुण यथावश्यक प्रधान न होते हुए भी प्रसंगानुसार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते ही हैं ।

संस्कृत-नीतिकाव्य के सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि सैकड़ों-सहस्रों सूक्तियाँ ऐसी हैं जो अनेक ग्रंथों में ज्यों-की त्यों या एकाध शब्द या अक्षर के भेद से उपलब्ध होती हैं । उनके कर्ताओं का निश्चय करना असम्भव-सा ही है । उस युग में जब मुद्रणालयों का अभाव था तथा कवि लोग निज कृतियों में स्वनाम का उल्लेख करना अहंकार-मात्र मानते थे ऐसी बात का होना अस्वाभाविक नहीं । कवि जहाँ अपनी रचनाएँ करते थे वहाँ प्राचीनों के सुवचों को भी अपनी कृतियों में समाविष्ट करना अनुचित न समझते थे । जैसे—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥

महाभारत[1] का यह श्लोक चाणक्यनीति[2] तथा पंचतन्त्र[3] में लगभग इसी रूप में दिखाई देता है । इसी प्रकार मनुस्मृति का 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्'[4] चाणक्य नीति में[5] तथा चाणक्य-नीति का 'लोभश्चेदगुणेन किम्'[6] श्लोक भर्तृहरिकृत नीति शतक[7] में भी विद्यमान है ।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि संस्कृत का नीतिकाव्य अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है । जहाँ यह अन्यविषयक अनेक ग्रंथों में फुटकर रूप से पाया जाता है, वहाँ विशुद्ध ऐहिक व्यवहार के विषय पर संस्कृत में दो-चार नहीं दर्जनों ग्रंथ उपलब्ध होते हैं । उनके विषयों की व्यापकता आश्चर्यजनक है । ऐसा लगता है कि संस्कृत के कवियों की दृष्टि धर्म से सम्बन्धित इने-गिने विषयों तक ही सीमित नहीं रही ऐहिक-जीवन-सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक विषय की तह तक जा पहुँची । फिर उन विषयों का प्रतिपादन भी नीरस पद्यमयी उपदेशात्मक शैली में नहीं किया गया । अधिकांश कवियों ने विभिन्न छन्दों में अनेक शैलियों में विविध रसों में और अलंकृत भाषा में उनका

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ११७।११
२. चाणक्य नीति पृष्ठ ३३।७
३ पंचतन्त्र पृष्ठ १६७।१४७
४ मनुस्मृति अध्याय ६।४६
५. चाणक्य नीति, पृष्ठ ७७।२
६ चाणक्य नीति पृष्ठ ७३।४
७ शतकत्रयम्, पृष्ठ १३।४४

सफलता उन्हीं पर निर्भर है—सदाचारी विद्वान् मधुमक्खी के समान भोगों को संचित कर प्रज्वलित अग्नि के तुल्य चमकता है। उसके भोग वल्मीक की भाँति बढ़ते जाते हैं।[1]

संसार की क्षणभंगुरता तथा जरा-मरण की प्रबलता दिखाते हुए सत्पथ पुण्योपार्जन की प्रेरणा इस प्रकार की गई है—जो इस लोक को बुलबुले और मृग मरीचिका के समान समझता है, उसे यमराज नहीं देख पाता।[2]

जैसे ग्वाला लाठी से गौओं को चरागाह में ले जाता है वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाती है।[3]

वह (पुण्य) मेरे पास नहीं आएगा यह सोचकर पुण्य का तिरस्कार न करना चाहिए। जिस प्रकार पानी की बूँदों के निरन्तर पड़ने से घड़ा भर जाता है इसी प्रकार धीर व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा संचय करता हुआ पुण्य को भर लेता है।[4]

पालि-नीति-काव्य की संक्षिप्त समीक्षा

पालि में महात्मा बुद्ध के वचनों और उन की व्याख्या का ही बाहुल्य है यह हम ऊपर कह चुके हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश समकालीन पूर्वी भाषा में दिए थे, जिन का अनुवाद ई० पू० तीसरी शती के लगभग पश्चिमी भाषा पालि में किया गया। इस भाषा के नीतिकाव्य के अधिकतर वर्ण्य विषय वे ही हैं, जिनका उल्लेख संस्कृत-नीति-काव्य में किया जा चुका है। परन्तु कई भेद ऐसे हैं जिन पर दृष्टि सहसा जा पड़ती है। वैदिक तथा संस्कृत नीति-काव्यों में ईश्वर शिव विष्णु आदि देवताओं की पूजा करने की तथा वेदवाक्य को परम प्रमाण मानने की जो प्रेरणा मिलती है उसका इस काव्य में सर्वथा अभाव है क्योंकि महात्मा बुद्ध इस विषय में उदासीन रहे और सच्चरित्रता पर ही विशेष बल देते रहे। निर्वाण परलोक स्वर्ग नरक आदि का उल्लेख तथा कर्मों के फल रूप में उन की प्राप्ति का वर्णन पालि-नीति-काव्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। इस बात में यह संस्कृत-नीति-काव्य के समान है। यज्ञों में होने वाली जीव-हिंसा को देख दयालु तथागत का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने अहिंसा पर विशेष बल दिया तथा सौ वर्ष तक किए जाने वाले यज्ञों की अपेक्षा मुहूर्त-मात्र की महात्म-पूजा को श्रेष्ठ बताया।[5]

प्राचीनतर काल में वर्ण-व्यवस्था कर्ममूलक थी परन्तु बुद्ध के समय में यह

---

१ सिगालसुत्त पृष्ठ १८ पद १८
२ धम्मपद लोकवग्गो, गाथा ४
३ ,, दण्डवग्गो, ,, ७
४ ,, पापवग्गो, ,, ६
५ ,, सहस्सवग्गो, गाथा ७

जन्ममूलक हो गई थी। इसी कारण न्यायप्रिय बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को कर्ममूलक मानने का उपदेश[1] देकर ब्राह्मण को श्रेष्ठ तथा अवध्य कहा। यद्यपि पालि-साहित्य में माता-पिता, गुरुजन आदि वन्द्य कहे गए हैं तो भी तत्त्वतः परिवार को बन्धरूप ही माना गया है। संसार को अनित्य झूठा मायामय तथा दुखद कहकर उसमें आसक्ति का निषेध ही प्रधान स्वर है। शरीर को मलागार तथा निन्द्य माना गया है और जरा के कष्टों व मृत्यु की प्रबलता का बार-बार उल्लेखकर मोक्षपरायणता का उपदेश दिया गया है। सार यह है कि जिस प्रेय-मार्ग को उपनिषदों के अपकृष्ट[2] कहा था उसे पालिनीति-काव्य में हेयतर[3] रूप से वर्णित किया है। अहिंसा सामाजिक समता अनासक्ति सदाचार आदि द्वारा श्रेय मार्ग पर चलने का अधिक उपदेश दिया है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस नीति-काव्य में आदर्श व्यवहार को ही उत्तम कहा गया है, देश-काल-पात्र के अनुसार यथायोग्य आचरण पर बल नहीं दिया गया।

धर्म विषयों की दृष्टि से उदात्त होता हुआ भी पालिनीति-काव्य काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली नहीं कहा जा सकता। कारण रस तथा भाव ही काव्य की आत्मा हैं और इसकी यहाँ न्यूनता है। माना कि इस काव्य में निर्वेद तथा रता शान्ति क्षमा दया मैत्री आदि के सुन्दर उपदेश हैं परन्तु भाव अस्पष्टतया उपदिष्ट होने के कारण वे काव्य नहीं बन पाये। वे सन्मार्ग दिखाते अवश्य हैं परन्तु हृदय को उन-उन भावों में विभोर नहीं कर पाते। इसका कारण है अभिधा की व्यापकता तथा लक्षणा-व्यंजना की उपेक्षा।

पालि-नीतिकाव्य केवल मुक्तक काव्य के रूप में मिलता है। महात्मा बुद्ध के उपदेशों के सर्वश्रेष्ठ संग्रह 'धम्मपद' में मुक्तकों का सर्वथा संकलन है। 'सुत्तनिपात' का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। उसमें गद्य और पद्य मिश्रित है। 'सिगालसुत्त' में भगवान् बुद्ध के वे सुन्दर नैतिक उपदेश हैं जो उन्होंने एक सेठ के पुत्र को दिये थे। इसमें गद्य पद्य और सूत्र तीनों व्यवहृत हुए हैं। जातकों की पद्यमयी कथाओं में भी इसी प्रकार कहीं-कहीं नीति के मुक्तक आ जाते हैं।

इस साहित्य में अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती आदि वैदिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं अनुष्टुप् छ-छ चरणों के भी दिखाई देते हैं तो कहीं-कहीं पद्यों के चरणों में अक्षर-संख्या भी न्यूनाधिक है।[4]

रस भाव की न्यूनता को पालि-नीतिकाव्य अलंकारों के सुप्रयोग से पूर्ण कर

---

१ ब्राह्मण वग्गो १४
२ कठोपनिषद् १।२।१२
३ धम्मपद देखें मग्गवग्गो तथा तण्हावग्गो
४ " यमकवग्गो गाथा १, २, ७

सफलता उन्हीं पर निर्भर है—सदाचारी विद्वान् मधुमक्खी के समान भोगों को संचित कर प्रज्वलित अग्नि के तुल्य चमकता है। उसके भोग वल्मीक की भाँति बढ़ते जाते हैं।[1]

संसार की क्षणभंगुरता तथा जरा-मरण की प्रबलता दिखाते हुए अवश्य पुण्योपार्जन की प्रेरणा इस प्रकार की गई है—जो इस लोक को बुलबुले और मृग मरीचिका के समान समझता है उसे यमराज नहीं देख पाता।[2]

जैसे ग्वाला लाठी से गौओं को चरागाह में ले जाता है वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाती है।[3]

वह (पुण्य) मेरे पास नहीं आएगा यह सोचकर पुण्य का तिरस्कार न करना चाहिए। जिस प्रकार पानी की बूँदों के निरन्तर पड़ने से घड़ा भर जाता है इसी प्रकार धीर व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा संचय करता हुआ पुण्य को भर लेता है।[4]

पालि-नीति-काव्य की संक्षिप्त समीक्षा

पालि में महात्मा बुद्ध के वचनों और उन की व्याख्या का ही बाहुल्य है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश समकालीन पूर्वी भाषा में दिए थे, जिन का अनुवाद ई० पू० तीसरी शती के लगभग पश्चिमी भाषा पालि में किया गया। इस भाषा के नीतिकाव्य के अधिकतर वर्ण्य विषय वे ही हैं जिनका उल्लेख संस्कृत-नीति-काव्य में किया जा चुका है। परन्तु कई भेद ऐसे हैं जिन पर दृष्टि सहसा जा पड़ती है। वैदिक तथा संस्कृत नीति-काव्यों में ईश्वर शिव विष्णु आदि देवताओं की पूजा करने की तथा वेदवाक्य को परम-प्रमाण मानने की जो प्रेरणा मिलती है उसका इस काव्य में सर्वथा अभाव है क्योंकि महात्मा बुद्ध इस विषय में उदासीन रहे और सच्चरित्रता पर ही विशेष बल देते रहे। निर्वाण परलोक स्वर्ग नरक आदि का उल्लेख तथा कर्मों के फल रूप में उन की प्राप्ति का वर्णन पालि-नीति-काव्य में स्थान-स्थान पर मिलता है। इस बात में यह संस्कृत-नीति-काव्य के समान है। यज्ञों में होने वाली जीव-हिंसा को देख दयालु तथागत का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने अहिंसा पर विशेष बल दिया तथा सौ वर्ष तक किए जाने वाले यज्ञों की अपेक्षा मुहूर्त-मात्र की महात्म-पूजा को श्रेष्ठ बताया।[5]

प्राचीनतर काल में वर्ण-व्यवस्था कर्ममूलक थी परन्तु बुद्ध के समय में यह

---

१ विमानवत्थु पृष्ठ १८ गाथा १८
२ धम्मपद लोकवग्गो, गाथा ४
३ „ दण्डवग्गो, „ ७
४ „ पापवग्गो „ ६
५ „ सहस्सवग्गो, गाथा ७

धर्ममूलक हो गई थी। इसी कारण न्यायप्रिय बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को कर्ममूलक मानने का उपदेश[1] देकर ब्राह्मण को श्रेष्ठ तथा अवध्य कहा। यद्यपि पालि-साहित्य में माता-पिता, गुरुजन आदि वन्द्य कहे गए हैं तो भी उत्पन्न परिवार को बन्धरूप ही माना गया है। संसार को अनित्य झूठा मायामय तथा दुःखद कहकर उसमें आसक्ति का निषेध ही प्रधान स्वर है। शरीर को मलागार तथा मिथ्या माना गया है और जरा के कष्टों व मृत्यु की प्रबलता का बार-बार उल्लेखकर मोक्षपरायणता का उपदेश दिया गया है। सार यह है कि जिस श्रेय-मार्ग को उपनिषदों के अपकृष्ट[2] कहा था उसे पालिनीति-काव्य ने हेयतर[3] रूप से वर्णित किया है। अहिंसा समाधिक समता अनासक्ति सदाचार आदि द्वारा श्रेय मार्ग पर चलने का अधिक उपदेश दिया है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस नीति-काव्य में आदर्श व्यवहार को ही उत्तम कहा गया है, देश-काल-पात्र के अनुसार यथायोग्य आचरण पर बल नहीं दिया गया।

वर्ण्य विषयों की दृष्टि से उदात्त होता हुआ भी पालिनीति-काव्य काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली नहीं कहा जा सकता। कारण, रस तथा भाव ही काव्य की आत्मा हैं और इनकी यहाँ न्यूनता है। माना कि इस काव्य में निर्वेद तथा रता शान्ति क्षमा दया मैत्री आदि के सुन्दर उपदेश हैं परन्तु भाव प्रत्यक्षतया उपदिष्ट होने के कारण वे काव्य नहीं बन पाये। वे सन्मार्ग दिखाते अवश्य हैं परन्तु हृदय को उन-उन भावों में विभोर नहीं कर पाते। इसका कारण है अभिधा की व्यापकता तथा लक्षणा-व्यंजना की उपेक्षा।

पालि-नीतिकाव्य केवल मुक्तक काव्य के रूप में मिलता है। महात्मा बुद्ध के उपदेशों के सर्वश्रेष्ठ संग्रह 'धम्मपद' में मुक्तकों का सर्वांश संकलन है। 'सुत्तनिपात' का स्थान भी अद्वितीय है। उसमें गद्य और पद्य मिश्रित हैं। 'सिगालसुत्त' में भगवान् बुद्ध के वे सुन्दर नैतिक उपदेश हैं जो उन्होंने एक सेठ के पुत्र को दिये थे। इसमें गद्य पद्य और [illegible] तीनों व्यवहृत हुए हैं। जातकों की गद्यमयी कथाओं में भी इसी प्रकार कहीं-कहीं नीति के मुक्तक आ जाते हैं।

इस साहित्य में अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती आदि वैदिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं अनुष्टुप् ४-४ चरणों के भी दिखाई देते हैं तो कहीं-कहीं पद्यों के चरणों में अक्षर-संख्या भी न्यूनाधिक है।[4]

रस भाव की न्यूनता को पालि-नीतिकाव्य अलंकारों के सुप्रयोग से पूर्ण कर

---

१ ब्राह्मण वग्गो १४
२ कठोपनिषद् १।२।१-२
३ धम्मपद देखें धम्मवग्गो, तथा तण्हावग्गो
४ „ यमकवग्गो, गाथा १ २, ७

देता है। पालि-काव्य सुन्दर स्वाभाविक उपमाओं तथा दृष्टान्तों के लिए प्रख्यात ही है। ये उपमाएँ प्रकृति पर आश्रित तथा व्यापक होने के कारण सहज ही पाठक का मन हर लेती हैं। जैसे—

'मूर्ख यदि जन्म भर भी विद्वान् की सेवा करे तो भी धर्म के ज्ञान से वैसे ही शून्य रहता है जैसे करछी सूप के स्वाद से।'[1]

राग के समान आग नहीं है, द्वेष के तुल्य ग्रह (भूत) नहीं है, मोह के सदृश जाल नहीं है और तृष्णा के समान नदी नहीं है।[2]

संध्याभाषी तथा कूट-शैली का महाभारत के समान यहां भी कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है। सम्भवतः तत्कालीन श्रोताओं को आश्चर्य द्वारा नीति की ओर आकृष्ट करने के लिए इनका प्रयोग किया जाता था। जैसे—माता-पिता दो क्षत्रिय राजाओं तथा ससेवक राष्ट्र को मार कर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।[3] उन दिनों के श्रोता भले ही शीघ्रतावश ऐसी गाथाओं का आशय समझ जाते हों परन्तु आज तो हम टीकाकारों की सहायता बिना नहीं जान सकते कि इसमें तृष्णा को माता अहंकार को पिता शाश्वत और उच्छेद दृष्टियों को क्षत्रिय नृपयुगल तथा सांसारिक आसक्तियों को ससेवक राष्ट्र कहा गया है।

जैसे कि संस्कृत-नीति-काव्य की समीक्षा के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि अनेक नीतिपद्य एकाधिक संस्कृत-ग्रन्थों में अक्षरशः उसी रूप में या न्यूनाधिक भेद के साथ उपलब्ध होते हैं वैसे ही यह देखकर भी आश्चर्य होता है कि पालि के अनेक नीति-पद्य संस्कृत के कई ग्रंथों में उपेक्षणीय भेद के साथ विद्यमान हैं। जैसे—

(क) अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।[4]
अभिवादनसीलस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलम्॥[5]

नीति के इन दोनों पद्यों में अभिवादनशील वृद्धसेवी व्यक्ति को प्राप्त होने वाले चार-चार लाभों का उल्लेख है। आयु तथा बल—ये दो लाभ तो दोनों में समान हैं परन्तु मनुस्मृति के विद्या और यश रूप दो लाभों का स्थान धम्मपद में वर्ण और सुख को दे दिया गया है। इस भावसाम्य के अतिरिक्त भाषा-साम्य भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। भाव और भाषा दोनों का यह साम्य निष्कारण नहीं है।

---

१ धम्मपद बालवग्गो गाथा ५
२ ,, वही, मलवग्गो गाथा १७
३ पकिण्णकवग्गो गाथा ५
४ मनुस्मृति २।१२१
५. धम्मपद गाथा १०९

अवश्य ही एक दूसरे का रूपान्तर-सा है परन्तु कौन किस का यह कहना कठिन है। अधिक सम्भावना यही है कि संस्कृत के पद्यों को पालि में रूपान्तरित किया गया है। क्योंकि धम्मपद का वातावरण (जैसे कि निम्नांकित उदाहरण से भी प्रतीत होता है) महाभारत मनुस्मृति आदि की अपेक्षा अधिक शान्त तथा अहिंसामय है।

(क) अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति य।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव सुखी भवेत् ॥[1]
योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥[2]
सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥[3]

महाभारत में कहा गया है कि अपने सुख की इच्छा से अहिंसक प्राणियों को दण्ड से मारने वाला मरकर सुखी नहीं होता। मनुस्मृति में उसी विचार को कुछ बढ़ाकर कहा है कि मरकर ही नहीं जीवन में भी सुखी नहीं होता। धम्मपद में महाभारतवत् मर कर ही दुखी होने का उल्लेख है परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ महाभारत में अहिंसक प्राणियों को मारने का निषेध है वहाँ धम्मपद में सुखकामी प्राणियों अर्थात् प्राणीमात्र को ही मारने का प्रतिषेध है। इस प्रकार भाव विकास के द्वारा अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः उक्त पद्यों में पालि नीति काव्य महाभारत व मनुस्मृति का ऋणी है।

४—साहित्यिक प्राकृतों का नीतिकाव्य

पालि के पश्चात् निम्नलिखित पाँच प्राकृतों में साहित्य रचना की गई—(१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) अर्द्ध मागधी (४) मागधी (५) पैशाची। यद्यपि प्राकृतों में ऐहिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की रचनाएँ की गईं तथापि यह मानना ही पड़ता है कि इनमें अभी तक एक भी काव्य-ग्रन्थ ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जो केवल नीति-विषयक हो। स्फुट रूप में उपलब्ध प्राकृत के नीतिकाव्य को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) ऐहिक साहित्य में नीतिकाव्य
(२) धार्मिक साहित्य में नीतिकाव्य

आगामी पृष्ठों में इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

---

१ धम्मपद,पृ० १०१
२ मनुस्मृति ५।४५
३ धम्मपद गाथा १३१

(२) ऐहिक साहित्य में नीतिकाव्य

ऐहिक नीतिकाव्य के चार भेद हैं—

(क) मुक्तक संग्रहान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

(ख) प्रबन्धकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

(ग) दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

(घ) काव्यशास्त्रान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

क—मुक्तकसंग्रहान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

मुक्तक-शैली के दो संग्रह उपलब्ध होते हैं—'गाहासत्तसई' और 'वज्जालग्ग'। गाहासत्तसई (गाथासप्तशती) का संग्रह राजा सातवाहन ने, जिन्हें हाल भी कहते हैं १०० तथा ७०० ई० के मध्य में किसी समय किया। इस संग्रह में कुछ गाथाएँ, हाल की हैं और शेष अन्य कवियों की। 'गाहा सत्तसई' शृंगार रस की यह अनूठी कृति है जिसने संस्कृत की 'गोवर्धन सप्तशतिका' आदि तथा हिन्दी की 'बिहारी सतसई' आदि अनेक शृंगारिक रचनाओं को प्रभावित किया। इस शृंगार-प्रधान रचना में नीति के अत्यन्त मधुर मुक्तक यत्र-तत्र बिखरे हैं। यथा दुष्ट के स्वभाव की श्लेष तथा उपमा से युक्त सुन्दर अभिव्यक्ति यों की गई है—

वसइ जहिं चेय खलो पोसिज्जन्तो सिणेहदाणेहिं।

तं चेय आलयं दीवओ व्व अइरेण मइलेइ।[1]

स्नेह (प्रेम तेल) के दान से पोषित दुष्ट जिस घर में रहता है, उसीको दीपक के समान शीघ्र ही मलिन कर देता है।

गुणी जनों की गुणैकनिष्ठा ने अनित दरिद्रता पर दारिद्र्य को दिया हुआ उपालम्भ निम्नांकित गाथा में द्रष्टव्य है—

'हे दारिद्र्य तू सचमुच कुचाल है क्योंकि तू गुणियों त्यागियों विदग्धों तथा विज्ञानियों से अनुराग रखता है।'[2]

'वज्जालग्ग' महाराष्ट्री प्राकृत का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसे श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ ने संगृहीत किया। इसके ४८ परिच्छेदों में ७९५ पद्य हैं जो आर्याछंद में उपनिबद्ध हैं। ग्रन्थकार ने यह संग्रह धर्म अर्थ तथा काम की व्याख्या के लिए किया है परन्तु पुस्तक का दो-तिहाई भाग शृंगार-विषयक है तथा हालसत्तसई से कुछ कुछ साम्य रखता है। इसमें भी नीति की कई सूक्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। जैसे, कुलीन के सत्त्वसंरक्षण का प्रतिपादन यों किया गया है—

---

१ गाथा सप्तशती (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३३ ई०) शतक ७ गाथा १८

२ ,, ,, ,, ,, ,, ७ ७१

'कुलीनजन का वाग्बाण लोहे की शृंखलाओं तथा अन्य अनेक प्रकार के पाश-बन्धनों से भी अधिक दृढ़ होता है।'[1] नीति का शुद्ध स्वरूप तो मानो निम्नस्थ भावों में ही यों व्यक्त हुआ है—

अपना हित करना चाहिए और यथासम्भव पराया भी हित करना चाहिए, परन्तु जहाँ प्रश्न अपने और पराये हित में चुनाव का आ पड़े वहाँ अपना ही हित करना चाहिए।[2]

प्राकृत-सुभाषितों के संग्रह की यह प्रथा मध्यकाल[3] से होती हुई हमारे समय तक आ पहुँची है। आधुनिक 'प्राकृत सुभाषित संग्रह'[4] तथा 'सूक्तिसरोज'[5] में प्राकृत नीति काव्य के अनेक सुन्दर निदर्शन उपलब्ध होते हैं। जैसे—

णिहणंति धणं धरणीयलम्मि इय जाणिऊण किविणजणा।
पायालं गन्तव्वं ता गच्छउ अग्गठाणं पि॥[6]

'कृपण जन भूमि खोदकर उसमें अपनी सम्पत्ति गाड़ देते हैं। मानो उन्हें नरक में जाने का निश्चय होता है इसलिए अपनी सम्पदा पहले ही वहाँ पहुँचा देते हैं।'

एकम्मि सह तलाए धेणू सप्पेण पाणियं पीयं।
सप्पे परिणमइ विसं धेणूसु खीरं समुल्लसइ॥[7]

'एक ही सरोवर से पशु और सर्प द्वारा पिया हुआ पानी सर्प में तो विष बन जाता है और गौ में दूध।'

(ख) प्रबन्ध-काव्यान्तवर्ती नीतिकाव्य

प्रवरसेन का 'रावण वहो' (रावण वध) या 'दहमुहवहो' (दशमुखवध), वाक्पतिराज के 'गउडवहो' (गौड़वध) तथा 'महुमहविजय' और 'रामपाणिवाद' का 'कंसवहो' महाराष्ट्री प्राकृत के प्रख्यात महाकाव्य हैं। 'रावणवहो' की रचना

---

१ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल 'प्राकृतविमर्श' (लखनऊ, सं० २००९) चयनिका पृ० ६।२

२ " " ६।३

३ जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में 'सुभाषित गाथा सटीक लिपाठ' (क्रमांक ९४६१) नामक पाँच पत्रों की हस्तलिखित पुस्तक (आकार १०३/४"×४१/२") हमारे देखने में आई थी। पत्रों के मध्य में प्राकृत-सुभाषित हैं ऊपर संस्कृत में टीका और नीचे टिप्पणियाँ। मुख्य विषय भू भार है।

४ सं०, प्रो० बी० एम० शाह प्राकृत सुभाषित संग्रह (नागपुरा सूरत १९१२ ई०

५ सं० मुन विजयचन्द्र सूक्तिसरोज प्र० धर्मलाल जैन मित्र मंडल रितलाम वि० १९६६।

६ प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० ४३।१८९

७ सूक्तिसरोज पृष्ठ ३।१

(१) ऐहिक साहित्य में नीतिकाव्य

ऐहिक नीतिकाव्य के चार भेद हैं—
(क) मुक्तक संग्रहान्तर्वर्ती नीतिकाव्य
(ख) प्रबन्धकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य
(ग) दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य
(घ) काव्यशास्त्रान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

क—मुक्तकसंग्रहान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

मुक्तक-काव्यों के दो संग्रह उपलब्ध होते हैं—गाहासत्तसई और वज्जालग्ग। गाहासत्तसई (गाथासप्तशती) का संग्रह राजा सातवाहन ने, जिन्हें हाल भी कहते हैं, १०० तथा ७०० ई० के मध्य में किसी समय किया। इस संग्रह में कुछ गाथाएँ हाल की हैं और शेष अन्य कवियों की। गाहा सत्तसई शृंगार-रस की वह अनूठी कृति है जिसने संस्कृत की 'गोवर्धन सप्तशतिका' आदि तथा हिन्दी की 'बिहारी सतसई' आदि अनेक शृंगारिक रचनाओं को प्रभावित किया। इस शृंगार-प्रधान रचना में नीति के अत्यन्त मधुर मुक्तक यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। यथा दुष्ट के स्वभाव की श्लेष तथा उपमा से युक्त सुन्दर अभिव्यक्ति यों की गई है—

खलह जहिं चेअ खणो पोसिज्जन्तो सिणेहदाणेहिं।
तं चेअ आलअं दीवओ व्व अइरेण मइलेइ।[1]

'स्नेह (प्रेम तैल) के दान से पोषित दुष्ट जिस घर में रहता है, उसीको दीपक के समान शीघ्र ही मलिन कर देता है।

गुणी जनों की गुणैकनिष्ठता से जनित दरिद्रता पर दारिद्र्य को दिया हुआ उपालम्भ निम्नांकित गाथा में द्रष्टव्य है—

'हे दारिद्र्य तू सचमुच कृतज्ञ है क्योंकि तू गुणियों त्यागियों विदग्धों तथा विज्ञानियों से अनुराग रखता है।'[2]

'वज्जालग्ग' माहाराष्ट्री प्राकृत का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसे श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ ने संगृहीत किया। इसके ४८ परिच्छेदों में ७९५ पद्य हैं जो आर्याछंद में उपनिबद्ध हैं। ग्रन्थकार ने यह संग्रह धर्म अर्थ तथा काम की व्याख्या के लिए किया है परन्तु पुस्तक का दो-तिहाई भाग शृंगार-विषयक है तथा हालसतसई से कुछ-कुछ साम्य रखता है। इसमें भी नीति की कई सूक्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। जैसे कुलीन के सत्यसंधत्व का प्रतिपादन यों किया गया है—

---

१ गाथा सप्तशती (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९११ ई०) शतक ७ गाथा १२
२ „ „ „ „ „ ७ „ ७१

'कुलीनजन का आचरण लोहे की शृंखलाओं तथा अन्य अनेक प्रकार के पाश-बन्धनों से भी अधिक दृढ़ होता है।'[1] नीति का शुद्ध स्वरूप तो मानो निम्नस्थ आर्या में ही यों व्यक्त हुआ है—

'अपना हित करना चाहिए और यथासम्भव पराया भी हित करना चाहिए, परन्तु जहाँ प्रश्न अपने और पराये हित में चुनाव का आ पड़े वहाँ अपना ही हित करना चाहिए।'[2]

प्राकृत-सुभाषितों के संग्रह की यह प्रथा मध्यकाल[3] से होती हुई हमारे समय तक आ पहुँची है। आधुनिक प्राकृत सुभाषित संग्रह[4] तथा सूक्तिसरोज[5] में प्राकृत नीति काव्य के अनेक सुन्दर निदर्शन उपलब्ध होते हैं। जैसे—

निहणंति धणं धरणीयलंमि इय जाणिऊण किविणजणा।
पायालं गन्तव्वं ता गच्छउ अग्गठाणं पि ॥[6]

'कृपण जन भूमि खोदकर उसमें अपनी सम्पत्ति गाड़ देते हैं। मानो उन्हें नरक में जाने का निश्चय होता है इसलिए अपनी संपदा पहले ही वहाँ पहुँचा देते हैं।'

एकम्मि चेव तलाए धेणु भुयंगेण पाणियं पीयं।
सप्पे परिणमइ विसं धेणूसु खीरं समुब्भवइ ॥[7]

'एक ही सरोवर से धेनु और सर्प द्वारा पिया हुआ पानी सर्प में तो विष बन जाता है और गौ में दूध।

(ख) प्रबन्ध-काव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

प्रवरसेन का 'रावण वहो' (रावण वध) या 'दहमुहवहो' (दशमुखवध), वाक्पतिराज के गउडवहो (गौड़वध) तथा 'महुमहविजय' और 'रामपाणिवाद' का 'कंसवहो' महाराष्ट्री प्राकृत के प्रख्यात महाकाव्य हैं। रावणवहो की रचना

---

१ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल: प्राकृतविमर्श (लखनऊ, सं० २००९) भूमिका पृ० ११२
२ „ „ „ „ ११३
३ जयपुर के पुरातत्व मंदिर में 'सुभाषित गाथा सटीक सिपाठ' (क्रमांक ९४६१) नामक पाँच पत्रों की हस्तलिखित पुस्तक (आकार १०¾"×४½") हमारे देखने में आई थी। पत्रों के मध्य में प्राकृत-सुभाषित हैं ऊपर संस्कृत में टीका और नीचे टिप्पणियाँ। मुख्य विषय शृङ्गार है।
४ सं०, प्रो० बी० एम० शाह प्राकृत सुभाषित संग्रह (नानपुरा सूरत १९३५ ई०
५. सं० मुनि विनयचन्द्र सूक्तिसरोज प्र० धर्मदास जैन मित्र मंडल रतलाम, वि० १९९९।
६ प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० ४३।१२९
७ सूक्तिसरोज पृष्ठ ३१३

काश्मीर-नरेश द्वितीय प्रवरसेन ने सातवीं शती ईसवी से पूर्व की थी। 'गउडवहो' (वाक्पतिराज) ने ईसा की आठवीं शती में 'गउडवहो' के १२०९ आर्या छन्दों में अपने आश्रयदाता कन्नौजाधिपति यशोवर्मा द्वारा गौड़नरेश के वध का वर्णन किया है। 'कंसवहो' में आठवीं शती ईसवी के मालाबारी कवि रामपाणिवाद ने श्रीकृष्ण के हाथों कंस के वध का ही चित्रण नहीं कालियमर्दन गोवर्धन धारण रासलीला आदि का भी उल्लेख किया है। इस कवि ने प्राकृत के प्रख्यात छन्द गाथा को सर्वथा त्यागकर वंशस्थ, वसन्ततिलका शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। उपर्युक्त महाकाव्यों में प्रसंगवश नीति की सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। जैसे—

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणन्ता घडेन्ति कज्जालावे।
थोअच्चिअ ते वि दुमा जे अमुणिअकुसुमणिग्गमा देन्ति फलम् ॥[1]

ऐसे सत्पुरुष विरल ही होते हैं जो कार्यकलापों को बिना कहे ही कर डालते हैं। जैसे वे वृक्ष न्यून ही होते हैं जो कुसुमित हुए बिना ही फलित हो जाते हैं।

दुरपत्यता की अपेक्षा निरपत्यता के वरत्व का उल्लेख रामपाणिवाद इन शब्दों में करते हैं—

अवच्चदुक्खे विरसत्तणे वि ते
संहृदि जं णो पिअरा णिरंतरा।
सरीरिणो ता दुरवच्चसंभवो
वरमि सव्वं णिरवच्चदा वरं ॥[2]

कृष्ण अक्रूर से कहते हैं—'हम दो पुत्र तो यहाँ स्वस्थ रूप में विद्यमान हैं और हमारे माता पिता वहाँ घोर नियन्त्रण सह रहे हैं। इसीलिए तो लोग बुरी संतान की अपेक्षा संतान के अभाव को उत्तम मानते हैं।

(ग) दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

इस प्रकार का प्राकृत-नीतिकाव्य दो वर्गों में विभाज्य है—१ संस्कृत-दृश्य-काव्यान्तर्वर्ती २ प्राकृत-दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती।

१ संस्कृत-दृश्य-काव्यान्तर्वर्ती प्राकृत-नीतिकाव्य

संस्कृत के श्रव्य काव्य तो संस्कृत में ही लिखे जाते थे परन्तु संस्कृत के दृश्य-काव्यों में प्राकृत भाषाओं का भी व्यवहार किया जाता था। प्रायः कुलीन पुरुष-पात्र संस्कृत में वार्तालाप करते थे और स्त्रियाँ तथा सामान्य जन विभिन्न प्राकृतों में। भास

---

१ प्रवरसेन सेतुबन्धम् (दहमुहवहो) (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९५ ई०), आश्वासक १ पद्य ९। ('सेतुबन्धम्' रावणवहो का ही संस्कृतानुवाद है)।

२ कंसवहो (हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई, १९४० ई०) सर्ग १, पद्य १९।

कालिदास शूद्रक आदि के रूपक इस बात के प्रमाण हैं। निम्नलिखित पद्य में 'मृच्छकटिक' का भिक्षु नीति की वही बात कहता है जिसे परवर्ती सिद्धों तथा सन्तों ने अनेक बार दुहराया—

'सिर मुँडवा लिया मुख मुँडवा लिया यदि चित्त नहीं मुँडवाया तो सिर और मुख क्या मुँडवाया। परन्तु जिसने मन मुँडवा लिया उसका सिर भलीभाँति स्वयमेव मुँड गया।'[1]

२ प्राकृत-दृश्यकाव्यान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

महाकवि राजशेखर रचित 'कर्पूरमंजरी' सट्टक आद्योपान्त प्राकृत-रचना है। इसमें भी प्रसंगवश नीति की कई मनोहर सूक्तियाँ आ गई हैं। जैसे—

सिहअं णअस्स वि माणुसस्स सोहा समुम्मिलदि भूसणेहिं।
मणीण जच्चाण वि कंचणेण विभूसणे लब्भदि का वि लच्छी ॥[2] (राजशेखर)

'सहज सौन्दर्य से युक्त मनुष्य की भी शोभा भूषणों से वैसे ही बढ़ जाती है जैसे श्रेष्ठ रत्नों की आभा सुवर्णमय आभूषणों में जटित होने से।'

(घ) काव्यशास्त्रान्तर्वर्ती नीतिकाव्य

हमारे यहाँ के काव्य-शास्त्रकारों ने जहाँ अपने ग्रन्थों में काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों का विवेचन किया वहाँ उन प्रतिपाद्य विषयों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत के ही नहीं प्राकृत के भी अनेक सुन्दर पद्य उपन्यस्त किये। ऐसे ५२ पद्य आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में ३५० पद्य भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' में ८० पद्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' तथा उसकी वृत्ति में और अनेक पद्य 'दशरूपक' 'साहित्य दर्पण' और 'रसगंगाधर' में उपलब्ध होते हैं। माना कि उनमें पर्याप्त संख्या अन्य विषयक पद्यों की है तो भी नीति-विषयक सूक्तियों की संख्या भी नगण्य नहीं है। उदाहरणार्थ—

'रात्रि चन्द्र किरणों से सरोवर कमलों से, लता पुष्पों के पुञ्जों से शरद् की शोभा हंसों से तथा काव्यकथा सज्जनों से गुरुत्व प्राप्त करती है।'[3]

णं उअ णरकोमुइअस्सए पुत्ति आउसेवि एमेय।
गुणवज्जिए ण जायइ वंगुप्पसे वि टकारो ॥[4]

---

१ मृच्छकटिकम्, अंक ८ पद्य ३
२ कर्पूरमंजरी जवनिकान्तर २, पद्य ११
३ हेमचन्द्र काव्यानुशासन (प्र० महावीर जैन विद्यालय बम्बई १९३८ ई०) पृ० ३३५, पद्य ५५१
४ सरस्वतीकंठाभरणम् (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३४ ई०), परिच्छेद ३ उदाहरण पद्य ८९

है पुष्पे- सुन्दर मनुष-वक्र में ही नहीं, मनुष्य में भी यह बात चरितार्थ होती है कि रथ (शील कुकुम) से उत्पन्न होने पर जब तक गुण (प्रत्यंचा सद्गुण) न हो तब तक टंकार (धनुष-ध्वनि, ख्याति) नहीं होती।

(२) धार्मिक काव्य में नीति-काव्य

इस काल का अधिकतर श्रेय जैन मुनियों तथा विद्वानों को है कि उन्हों ने अपनी सैकड़ों रचनाओं से प्राकृत भाषा के कोष को समृद्ध किया और अपने धार्मिक तथा नैतिक उपदेशों को जनता तक जनता की ही तत्कालीन भाषा में पहुँचाया। जैन सिद्धान्तों के अपनी रचनाएँ अर्द्धमागधी (आर्ष) शौरसेनी तथा माहाराष्ट्री प्राकृतों में कीं। अर्द्धमागधी में अंग उपांग (उपांग) पइण्णा (प्रकीर्ण) आदि सिद्धांत-ग्रन्थ हैं। दिगम्बर जैनों ने अपनी रचनाएँ प्रायः शौरसेनी में कीं और श्वेताम्बर जैनों ने महाराष्ट्री में। सिद्धान्त-ग्रन्थों में तो नीतिकाव्य की खोज निष्फल है परन्तु सामान्य गृहस्थों के आचार-व्यवहार के निर्देशक विविध ग्रन्थों के नीतिकाव्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। ऐसे ग्रन्थ निम्नलिखित दो वर्गों में विभाज्य हैं—(क) मुक्तक तथा (ख) कथात्मक।

(क) मुक्तक रचनाएँ

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का 'अष्टपाहुड' वट्टकेराचार्य का 'मूलाचार' वसुनंदि का 'वसुनंदिश्रावकाचार' या 'श्रावकाचार' तथा जयवल्लभ द्वारा संकलित 'गाथा सहस्री' आदि ग्रन्थ इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। इन ग्रन्थों में नीति का तो बाहुल्य है, परन्तु काव्य की न्यूनता। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

> [illegible] य सक्को तक्कलनुरो [illegible]।
> एव [illegible] जोवो सक्को [illegible] कामभोगेहि।[1]

[illegible] तथा [illegible] के अग्नि सहस्रों नदियों से प्राप्त समुद्र [illegible] जीवों के [illegible] कभी तृप्त नहीं हो सकता।

तह [illegible] मत्तहत्थी विषयरागमत्तमि
[illegible] [illegible] मत्तहत्थिव
मत्त हाथी के समान मन-रूपी हाथी
[illegible] में ज्ञान रूपी अंकुश से ही वश
[illegible] का आचरण संभव।

---

१ वट्टकेर : मूलाचार (जैनग्रंथमाला [illegible]
२ " " "

अलियं न भासियव्वं अत्थि हु सच्चंपि जं न वतव्वं ।[1]
सच्चंपि होइ अलियं जं परपीडाकरं वयणं ॥

'झूठ नहीं बोलना चाहिए, ऐसा सत्य भी सम्भव है जो न कथ्य न हो। परपीड़ा-जनक सत्य भी झूठ ही होता है।'

(ख) प्रबन्धात्मक रचनाएँ

उपर्युक्त धार्मिक मुक्तक रचनाओं से कुछ अधिक सरस वे अनेक प्रबन्धात्मक कथाकाव्य तथा चरितकाव्य हैं जिन्हें जैन विद्वानों ने धर्म तथा नीति के प्रचारार्थ रचा, परन्तु उनके भी नीति-सम्बन्धी अंशों में राग-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व की कमी ही है। विमल सूरि का 'पउमचरिय'[2] (जैन रामायण) शीलाचार्य का 'महापुरुष चरित'[3] धनेश्वरमुनि का 'सुरसुन्दरी चरिय'[4] महेश्वर सूरि की 'ज्ञानपञ्चमी कथा'[5] जिनेश्वर सूरि का 'कथाकोशप्रकरण'[6] हेमचन्द्र का कुमारपालचरित[7] (अंशत) लक्ष्मणगणि का सुपार्श्वनाथ चरित[8] सोमप्रभाचार्य के 'सुमतिनाथ चरित' तथा 'कुमारपाल प्रतिबोध'[9] (अंशत), तथा जनहर्षगणि की रयणसेहरी कहा[10] इसी वर्ग की प्रमुख कृतियाँ हैं। निम्नांकित उद्धरणों से इनकी बानगी देखी जा सकती है—

कन्या का जन्म पिता के लिए अनेक चिन्ताओं का कारण होता है इस नीति को महेश्वर सूरि यों स्पष्ट करते हैं—

उप्पणाए सोगो वड्ढन्तीए य वड्ढए चिन्ता।
परिणीयाए उ दण्डो जुवइपिया दुक्खिओ निच्चं ॥[11]

कन्या-जन्म पर शोक होता है। ज्यों-ज्यों वह बड़ी होती जाती है त्यों-त्यों

---

१ समयसुन्दर गणि गाथासहस्री (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४० ई०, गाथा १४६
२ चतुर्थ शती या बाद डॉ० रामसिंह तोमर के प्रबन्ध का सार ('आलोचना' जुलाई १९५३ ई०, पृ० ५३)
३ रचनाकाल ८६८ ई० (आलोचना जुलाई १९५३ ई० पृ० ५३)
४ „ १०९५ वि० „ „ „ „ „ ५४
५. समय अनिश्चित „ „ „ „
६ रचनाकाल १२वीं शती वि० का प्रथम चरण, „ „ „
७ जीवनकाल (११४५ १२२९ वि०) „ „ „ „ „
८ रचनाकाल (११९९ वि०) „ „ „ „ „
९. „ वि० तेरहवीं शती का मध्य „ „ „ „ „ „
१० पन्द्रहवीं शती का अन्तिम चरण „ „ „ „ „ „
११ महेश्वर सूरि: णाणपञ्चमी कहाओ (ज्ञानपञ्चमी कथा) (भारतीय विद्याभवन बम्बई १९४९ ई) सर्ग १ पद्य ८८।

चिन्ता भी बढ़ती जाती है। विवाह हो चुकने पर उसकी दशा के सम्बन्ध में चिन्ता रहती है। कन्या का पिता तो नित्य ही दुखी रहता है।

> बिहुवेस्र जा न मुक्का जो न वियारं करेई तारुन्ने।
> सो देवाण वि पुज्जो किमंग पुण मणुयलोयस्स ॥[1]

जो वैभव में दर्पान्ध नहीं होता जो यौवन में विकारग्रस्त नहीं होता वह देवताओं का भी पूज्य होता है मनुष्यों का तो कहना ही है क्या।'

शास्त्रोक्त नरक तो परोक्ष ही है परन्तु प्रत्यक्ष नरक वहीं है जहाँ कुभार्या, दारिद्र्य व्याधि तथा कन्याओं का आधिक्य हो—

> कुकलत्त दालिद्दं वाही तह कन्नयाण बाहुल्लं।
> पच्चक्खं नरयमिणं सत्थुत्ताइं च वि परोक्खं ॥[2]

कामी व्यक्ति विवेक से हाथ धोकर पतन की पराकाष्ठा तक जा पहुँचता है, इस बात को मुनि हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल की परमार्थ चिन्ता के प्रसंग में यों स्पष्ट किया है—

> सोअस्सि मित्त भज्जं रम्भन्ति सुयं बहुं पि पावमति।
> सीसुक्कलिस च गुरु-गेहिणी पि काम-वस-परिसमिसा ॥[3]

'काम के वश में पड़े हुए लोग मित्र की पत्नी अपनी पुत्री बहू तथा गुरु-गृहिणी से संभोग करने में संकोच नहीं करते।

स्त्रियाँ आपातरमणीय होती हैं परन्तु अन्त कटुक इसलिए चित्त मन को सतर्क करता हुआ नृप कुमारपाल कहता है—

> पणसुंडिय-इन्दवारुण-रम्मा रामा अकिहू-कडुयन्ता।
> रे हियय कुड्ड युवतिं कि भम्मा ताहि कुस्संगिमं ॥[4]

'स्त्रियाँ उस अविदीर्ण इन्द्रवारुण फल के तुल्य बाहर से ही रम्य होती हैं जिसकी आन्तरिक कटुता अभी बाहर नहीं आई। इसलिए हे दुर्बोध हृदय तू उनके भुलावे में आकर मार्गभ्रष्ट क्यों होता है? जब तक मन निर्विषय नहीं होता तब तक जीव भव-मुक्त नहीं होता—

> अच्छति रन्ने सिले वि अणाहते बहु-तवं तवन्तो वि।
> ताव न लभेय्य मुक्खं जाव न विसयाण दूरतो ॥[5]

---

1 वही ९।९५
2 महेश्वर सूरि नाणपंचमी कहाओ (ज्ञानपंचमी कथा) (भारतीय विद्याभवन बम्बई १९४९ ई०) सर्ग ७ पद्य ९।
3: हेमचन्द्र : कुमारपालचरित (बाम्बे संस्कृत एंड प्राकृत सीरिज, १९३६ ई०) सर्ग ७।८
4 वही ७।२०
5. वही, ८।१०

'मनुष्य अरण्य में भी बैठता है पर्वत-दरी में भी बैठता है और घोर तप भी करता है। परन्तु तब तक मोक्ष नहीं मिलता जब तक वह विषयों को मन से दूर नहीं करता।

प्राकृतनीतिकाव्य की समीक्षा

जब संस्कृत भाषा सामान्यजनों के लिए सुबोध न रही तब जनसाधारण के काव्यरसास्वादन के लिए प्राकृत में रचनाएँ होने लगीं।[1] लोगों को अपनी बोल-चाल की यह भाषा संस्कृत की तुलना में इतनी कोमल प्रतीत हुई कि उन्हें सम्भवतः लिखना पड़ा—संस्कृत रचना परुष होती है परन्तु प्राकृत-कृति सुकुमार। जितना अन्तर पुरुषों और महिलाओं में होता है उतना ही इन दोनों में दिखाई देता है।[2] कवियों ने इसमें ऐसी सुधामयी सूक्तियों की रचना की कि वह रसिकों को प्रिया के चन्द्रमुख के समान मनोहर लगने लगी।[3] यहाँ तक कि ललित पद रचना में पटु दण्डी भी इसके सूक्ति रत्नों की स्तुति किये बिना न रह सके।[4] यह प्राकृत प्रेम इतना बढ़ा कि प्राकृत की कवियोक्तियों में संस्कृत भाषी बुरी तरह से खटकने लगा—

पाइअकव्वुल्लावे पडिवअणं सक्कएण जो देइ।
सो कुसुम सत्थरं पत्थरेण अवुहो विणासेइ॥[5]

'जो मनुष्य प्राकृत-काव्यालाप में प्राकृत-कविता का उत्तर संस्कृत-कविता द्वारा देता है वह मूढ़ कुसुमों की क्यारी को पत्थरों से नष्ट भ्रष्ट करता है।'

वैयक्तिक नीति

बौद्ध तथा जैनधर्म के प्रभाव के कारण प्राकृत-नीतिकाव्य में मान, तेज वीरता आदि गुणों का उतना महत्त्व दिखाई नहीं देता जितना क्षमा दया तप, भावशुद्धि आदि विषयों का। क्षमा के बिना तो समस्त गुणनिकाय हतप्रभ हो जाता है—

क्षमा-रहित समग्र गुण सौभाग्य-प्रदान में वैसे ही असमर्थ होते हैं जैसे असंस्कृत

---

१ प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० १२।९८८

२ कर्पूरमंजरी सट्टक (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९२७) १।८

३ अहो तत् प्राकृतं हारि प्रियावक्त्रेन्दुसुन्दरम्।
सूक्तयो यत्र राजन्ते सुधानिष्यन्दनिर्भराः॥
[(प्राकृत मञ्जरी) (प्राकृत प्रकाशवृत्ति) में; अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका, पृ० ७५ पर उद्धृत]

४ काव्यादर्श १।३४

५. प्राकृत सुभाषित संग्रह, पृ० १२।९९१

तारों से युक्त चन्द्रकला विहीन रजनी।[१]

प्रत्येक प्रकार की पवित्रता प्रशंसनीय है परन्तु इन सब में मन शुद्धि ही श्रेष्ठ है—

सव्वाणं चि सुईणं मणसुई चेव उत्तमा लोए।
आलिंगइ भत्तारं अण्णेणंगेण पुत्तं च॥[२]

'संसार में सब प्रकार की शुद्धियों में से मन की शुद्धता उत्तम होती है। स्त्री पति का आलिंगन एक भाव से करती है व और पुत्र का दूसरे से।

पारिवारिक नीति

पारिवारिक नीति में स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए शील का पालन आवश्यक कहा गया है परन्तु शीलभंग का अपराध स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखा जाता है, संभवतः इसलिए कवि ने उसके विषय में कटुतर भाषा का प्रयोग किया है—

'जिस युवती का शरीर शील-रूपी रत्न से मंडित नहीं होता, उसका हार भार रूप तड़पी व कंगन-रूप और नूपुर निगड़-रूप होते हैं।'[३]

अणिच्छइ चिय चिय परनारिं परिहरन्ति सप्पुरिसा।
सेवंति सारमेयव्व निग्घिणा जे दुराचारा॥[४]

श्रेष्ठ पुरुष तो पराई नारी को कूड़ा और विष्ठा के समान जानकर उससे दूर रहते हैं परन्तु निर्घृण दुराचारी लोग उसका कुत्ते के समान सेवन करते हैं। परदा-राभिगमन के तुल्य ही वेश्यागमन को भी बहुत बड़ा कहा गया है।

सामाजिक नीति

सामाजिक नीति में सज्जनों को जैसे को तैसा का उपदेश न देकर औदार्य को अंगीकार करने प्रेरणा की गई है।[५] वास्तविक सज्जन तो वह है जो भारी क्रोध की दशा में भी कटु भाषण नहीं करता—

दूरोसकलुसियस्स वि सुयणस्स मुहाहि विप्पियं कत्तो।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमयं चिय मुयन्ति॥[६]

तीव्र क्रोध से तिलमिलाते हुए भी सज्जन के मुख से अप्रिय वचन कहाँ निकलते हैं? और चाहे राहु के मुख में भी पड़ा हुआ हो तो भी चन्द्र की किरणें सुधावृष्टि ही करती हैं?

---

१ सूक्ति सरोज पृष्ठ १५१।७
२ सूक्ति सरोज पृष्ठ ५५।२
३ " " २५।६
४ " " ९६।१०
५ ७२।१
६ गाथा सप्तशती शतक ४ गाथा १६

अभणंता वि नज्जंति सुपुरिसा गुणगणेहिं नियएहिं ।
किं बुल्लंति मणीओ जाओ सहस्सेहिं घिप्पंति ॥[1]

'श्रेष्ठ लोग अपने मुख से कुछ न कहने पर भी निज गुणों के समूह के कारण पहचान लिए जाते हैं। जो रत्न सहस्रों रुपयों से खरीदे जाते हैं क्या वे स्वयं कुछ कहा करते हैं ? इसके विपरीत दुष्ट लोग दूध पिलाने पर भी डसने से नहीं चूकते—

अतितिक्खा कुडिलगइओ परछिद्दरया य भीसणा बहुला ।
पयपाएहि वि पालयन्तस्स मारंति दोजीहा ॥[2]

'अतितीक्ष्ण कुटिल-गति, परछिद्रान्वेषी विषैले दाँतों वाले सर्प (दुर्जन) दूध पिलाने वाले को भी डसकर मार देते हैं।

समाज में दुष्टों और श्रेष्ठों की परस्पर पट नहीं सकती—

चावो सहाव सरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तम् ।
वंकस्स उज्जुयस्स य सम्बन्धो किं चिरं होइ ॥[3]

'धनुष स्वभावतः सरल और गुण (प्रत्यंचा गुण) का आश्रय लेने वाले बाण को भी दूर फेंक देता है। क्या वक्र और सरल व्यक्ति का सम्बन्ध अधिक काल तक ठहर सकता है ?

समाज में गुणों का विकास तभी संभव है जब उसमें गुणग्राही जन विद्यमान हों—

सहृदयों द्वारा गृहीत होने पर ही गुणों का उद्भव होता है। कमल वस्तुतः कमल तभी बनते हैं जब सूर्य की रश्मियाँ उन्हें अनुगृहीत करती हैं अन्यथा नहीं।[4]

प्राकृत-नीतिकाव्य में स्त्रियों की स्तुति और निन्दा दोनों ही पाई जाती हैं परन्तु प्रशंसा की अपेक्षा अवहेलना पर बल अधिक प्रतीत होता है। बार-बार नमस्कार उन्हीं नारियों को किया गया है जो प्रेम प्रिय विरह और विषय-तृष्णा से अनभिज्ञ हैं[5] परन्तु सामान्यतः स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध में तो ऐसे ही उद्गार लक्षित होते हैं—

वेच्चइ अप्पयारण पए भायाणे पवियसी य पगमग्गो ।
एण्हं नवरि य वेच्चइ कुसुमसरो कामिणीहियए ॥[6]

---

1 सूक्तिसरोज पृष्ठ ७५।७
2 सूक्तिसरोज पृष्ठ १०।१८
3 गाथा सप्तशती शतक ५ गाथा २४
4 हेमचन्द्र काव्यानुशासन (प्र० महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९३८ ई०) पृ० २०१। २१५।
5 प्राकृत सुभाषित संग्रह पृष्ठ १०। ७७
6 " " " ९। ७६

तारों से युक्त चन्द्रकला विहीन रजनी ।[1]

प्रत्येक प्रकार की पवित्रता प्रशंसनीय है परन्तु उन सब में मन शुद्धि ही श्रेष्ठ है—

सव्वासुं वि सुद्धीसु मणसुद्धी चेव उत्तमा होइ ।
आलिंगइ भत्तारम् भावेणन्नेण पुत्तं च ॥[2]

'संसार में सब प्रकार की शुद्धियों में से मन की शुद्धता उत्तम होती है। स्त्री पति का आलिंगन एक भाव से करती है व और पुत्र का दूसरे से ।

पारिवारिक नीति

पारिवारिक नीति में स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिए शील का पालन आवश्यक कहा गया है परन्तु शीलभंग का अपराध स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक देखा जाता है, संभवतः इसलिए कवि ने उसके विषय में कटुतर भाषा का प्रयोग किया है—

'जिस युवती का शरीर शील-रूपी रत्न से मंडित नहीं होता, उसका हार भार रूप, तड़ागी बन्धन-रूप और नूपुर निगड़-रूप होते हैं ।'[3]

उच्छिष्टमिव परनारिं परिहरन्ति सत्पुरुषा ।
सेवन्ति सारमेया इव निंदिता वे दुराचारा ॥[4]

श्रेष्ठ पुरुष तो पराई नारी को जूठन और विष्ठा के समान जानकर उससे दूर रहते हैं परन्तु निंदित दुराचारी लोग उसका कुत्ते के समान सेवन करते हैं।' परदारगमन के तुल्य ही वेश्यागमन को भी बहुत बुरा कहा गया है ।

सामाजिक नीति

सामाजिक नीति में सज्जनों को जैसे को तैसा का उपदेश न देकर औदार्य को अंगीकार करने प्रेरणा की गई है ।[5] वास्तविक सज्जन तो वह है जो भारी क्रोध की दशा में भी कटु भाषण नहीं करता—

दूहरोसकलुसियस्स वि सुयणस्स मुहाहि विप्पियं कत्तो ।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमयं चिय मुयन्ति ॥[6]

तीव्र क्रोध से तिलमिलाते हुए भी सज्जन के मुख से अप्रिय वचन कहाँ निकलते हैं ? चाँद चाहे राहु के मुख में भी पड़ा हुआ हो तो भी उसकी किरणें सुधावृष्टि ही करती हैं ?

१ सूक्ति सरोज पृष्ठ १७१।७
२ सूक्ति सरोज, पृष्ठ ९३।२
,, २३।६
३ ,, ,, ९३।१०
४ ,, ,, ७२।१
५ ... वपाती शतक ४ गाथा १६

अभणंता वि नज्जंति सुपुरिसा गुणगणेहिं नियएहिं ।
किं बुल्लंति मणीओ जाओ सहस्सेहिं घिप्पंति ॥[1]

श्रेष्ठ लोग अपने मुख से कुछ न कहने पर भी निज गुणों के समूह के कारण पहचान लिए जाते हैं। जो रत्न सहस्रों रुपयों से खरीदे जाते हैं क्या वे स्वयं कुछ कहा करते हैं ? इसके विपरीत दुष्ट लोग दूध पिलाने पर भी डसने से नहीं चूकते—

मलिणा कुडिलगइओ परछिद्दपया य भीसणा वसणा ।
पयपाणेण वि पालयन्तस्स मारंति दोजीहा ॥[2]

'मलिन कुटिल-गति परछिद्रान्वेषी, विषैले दाँतों वाले सर्प (दुर्जन) दूध पिलाने वाले को भी डसकर मार देते हैं।

समाज में दुष्टों और श्रेष्ठों की परस्पर पट नहीं सकती—

चावो सहाव सरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं ।
वंकस्स उज्जुयस्स य सम्बन्धो किं चिरं होइ ॥[3]

'धनुष स्वभावतः सरल और गुण (प्रत्यंचा गुण) का आश्रय लेने वाले बाण को भी दूर फेंक देता है। क्या वक्र और सरल व्यक्ति का सम्बन्ध अधिक काल तक ठहर सकता है ?

समाज में गुणों का विकास तभी संभव है जब उसमें गुणग्राही जन विद्यमान हों—

सहृदयों द्वारा गृहीत होने पर ही गुणों का उद्भव होता है। कमल वस्तुतः कमल तभी बनते हैं जब सूर्य की रश्मियाँ उन्हें अनुगृहीत करती हैं अन्यथा नहीं।[4]

प्राकृत-नीतिकाव्य में स्त्रियों की स्तुति और निन्दा दोनों ही पाई जाती हैं परन्तु प्रशंसा की अपेक्षा अवहेलना पर बल अधिक प्रतीत होता है। बार-बार नमस्कार उन्हीं नारियों को किया गया है जो प्रेम प्रिय, विरह और विषम-तृष्णा से अनभिज्ञ हैं,[5] परन्तु सामान्यतः स्त्री-स्वभाव के सम्बन्ध में तो ऐसे ही उद्गार लक्षित होते हैं—

पेम्मं मणक्खलं पए मायाए पविक्खणी य वममम्मो ।
एक्कं भणंति न पेम्मं कुलवत्तं कामिणोहिययं ॥[6]

---

१ सूक्तिसरोज पृष्ठ ७८।७
२ सूक्तिसरोज पृष्ठ १०।१२
३ गाथा सप्तशती शतक ५ गाथा २४
४ हेमचन्द्र काव्यानुशासन (प्र० महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९६८ ई०) पृ० २०८। २१४।
५ प्राकृत सुभाषित संग्रह पृष्ठ १०। ८७
६ " " ७९

जल में मछली के और आकाश में पक्षी के पदचिह्न तो पहचाने जा सकते हैं परन्तु नारी-हृदय को पहचानना कठिन और वश में करना असम्भव है।

आर्थिक नीति

आर्थिक नीति के क्षेत्र में लक्ष्मी के महत्त्व को मुक्तकंठ से स्वीकृत किया गया है क्योंकि—

विगुणमवि गुणड्ढं रूवहीणंपि रम्मं
जडमवि मइमंतं मंदसत्तंपि सूरं
अकुलमवि कुलीणं तं पयंपंति लोया
नवकमलदलच्छीजं पलोएइ लच्छी ॥[1]

नवकमलदलशाली लक्ष्मी जिस कृपाकटाक्ष से समाज में निर्गुण को गुणी, कुदर्शन को सुदर्शन मूर्ख को मतिमान्, कातर को शूर तथा कुलहीन को कुलीन बनाने में पूर्णतया समर्थ है।
परन्तु लोभजन्य दुष्परिणामों से पाठकों को यह कहकर सचेत भी किया गया है कि धन का लोभी मनुष्य, माता, पिता पत्नी और मित्र को भी ठगने से नहीं चूकता। वह तो बान्धवों के भी प्राण हर लेता है।[2] इस प्रकार दोनों सीमाएँ दिखाकर मध्यम मार्ग अपनाने की ही प्रेरणा की गई है। दान का गुणगान भी पर्याप्त किया गया है और पात्र-कुपात्र पर दृष्टि रखने का प्रबल अनुरोध भी पाया जाता है।

इतर प्राणि-सम्बन्धी-नीति

जैन तथा बौद्ध विचारों के प्रभाव के कारण जीवहत्या करने वालों को महापापी और अत्यन्त प्रमादी कहा गया है—

खणमित्तसुहकज्जे जीवे निहणंति जे महापावा।
हरिचंदणवणसंडं डहंति ते छारकज्जम्मि ॥[3]

अर्थात् जो महापापी रसनाविषयक क्षणिक सुख के लिए जीव घात करते हैं, वे राख की प्राप्ति के लिए हरिचन्दन के वन को दग्ध करते हैं।

मिश्रित नीति

मिश्रित नीति के अन्तर्गत पुरुषार्थ की अपेक्षा दैव तथा पूर्व कर्मों का बल

---

१ सूक्तिसरोज पृष्ठ १७८।५
२ सक्तिसरोज पृष्ठ १८१।२
३ ,, ,, १४३।६

अधिक माना गया है। लक्ष्य करने की बात है कि प्राकृत नीति-संग्रहों में दान शील तप दैव आदि पर तो पृथक् वर्ग प्राप्त होते हैं परन्तु पुरुषार्थ मान धैर्य आदि पर नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश में धर्म और परलोक की भावना प्राय ऐसी प्रबल रही है कि उसने यहाँ के निवासियों को इस लोक के जीवन को सच्चा समझने और ऐहिक दृष्टि को प्रधान मानकर इसे सम्यक् व्यतीत करने की प्रेरणा ही नहीं दी। शतवर्षीय जीवन की ओर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया गया जितना क्षणिक मृत्यु की विषमता दिखाने और मोक्ष का अक्षय आनन्द पाने की ओर।

कविलज्जइ निज्जिणा ससहरो सुरस्स वि अत्थमणं।
हा दिव्व परिणईए कवलिज्जइ को न कालेण ॥[1]

'दैव चन्द्र को भी खंडित कर देता है, सूर्य को भी अस्त कर देता है। हा! ऐसा कौन है जो दैव के प्रभाव के कारण काल-कवलित नहीं हो जाता।'

सांसारिक सुखों की अपेक्षा विरक्ति को अभिमान दिया गया है। संसारी और वैरागी मनुष्यों की समानता क्रमश मिट्टी के गीले और सूखे गोलों से की गई है जिन्हें दीवार पर दे मारने पर गीला तो चिपक जाता है और सूखा अवश्य गिर पड़ता है। ऐसा कहकर उन काम-कामी जनों को दुर्बुद्धि कहा गया है जो संसार में आसक्त हो जाते हैं।[2]

रस भाव

चूंकि अधिकतर प्राकृत-नीतिकाव्य धर्म-विषयक ग्रंथों में उपलब्ध है इसलिए उसमें स्वभावत शान्त रस का आधिक्य है। करुण रौद्र हास्य और बीभत्स भी उपलब्ध होते हैं परन्तु न्यून मात्रा में। शृंगार वात्सल्य आदि का प्रायिक अभाव स्वाभाविक है क्योंकि इस साहित्य में भी संसार झूठा सम्बन्ध मायिक संबन्धी स्वार्थ परायणता और विषय गर्ह्य कहे गए हैं। अहिंसा सन्तोष दैन्य ग्लानि, मोह, चिन्ता क्षमा औदार्य आदि भावों की व्यापकता है। उपरिलिखित उद्धरणों में उक्त रसों तथा भावों के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं, तो भी एक-दो उदाहरण और प्रस्तुत किए जाते हैं—

'परामर्श कार्यानुष्ठान से पूर्व ही लेना चाहिए, इस नीति की हास्यरसमयी व्यंजना निम्नलिखित पद्य में की गई है—

कारावियरुण खउरं गामउडो मग्गिओ य जिमिओ य।
नक्खत्ततिहिवारे जोइसिअं पुच्छिउं चलिओ ॥[3]

---

१ धम्मिलरोल पृष्ठ १९९।१२
२ " १९८।१९, ११
३ भोज सरस्वतीकंठाभरण (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३४ ई०) परिच्छेद १, उदाहरण-पद्य ११।

'ग्राम का मुखिया सिर मुंडवा, स्नान और भोजन कर, नक्षत्र, तिथि और वार पूछने के लिए चल पड़ा।' क्षमा तथा उदारता के भावों का मिश्रण सज्जनों के स्वभाव में इस प्रकार दिखाया गया है—

अवयारपरे वि परे कुणंति उवयारमुत्तमा पुरिसा।
सुरहेइ चंदणदुमो परसुमुहं छिज्जमाणो वि॥[1]

'उत्तम जन अपने अपकारियों का सदा उपकार ही करते हैं। कटता हुआ भी चन्दन-वृक्ष काटने वाले कुठार के मुख को सुवासित करता ही है।

अलंकार

प्राकृत भाषा की सुकुमारता तथा मधुरता का निर्देश पीछे कर ही चुके हैं। प्राकृत के कवियों ने अपनी वाणी को विविध भूषणों से सुसज्जित किया है। धार्मिक काव्यों की अपेक्षा यह अलंकार-चमत्कार ऐहिक काव्यों में अधिक दृष्टिगत होता है। ऐहिक काव्यों में विरले ही पद्य ऐसे होंगे जो किसी अलंकार के सुप्रयोग द्वारा चमत्कृत न हों। शब्दालंकारों में श्लेष तथा अनुप्रास का और अर्थालंकारों में उपमा उत्प्रेक्षा अर्थान्तरन्यास तथा दीपक का व्यवहार अधिक किया गया है। ये अलंकार कविता पर लादे हुए नहीं अपितु कवियों के गम्भीर निरीक्षण कुशल कल्पना और परिमार्जित रुचि के परिचायक हैं। जैसे—

सरए महद्दहाणं अंतो सिसिराइं बाहिरुण्हाइं।
जायाइं कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाइं सलिलाइं॥[2] (उपमा)

सर्दियों में बड़े सरोवरों के जल क्रुद्ध सज्जनों के हृदय के सदृश बाहर से तो तप्त परन्तु अन्दर से शीतल हैं। कवि ने शीतकाल में सरोवर से उठते हुए भाप्प को देखकर उपमा के माध्यम से क्या ही सुन्दर नैतिक उपदेश दिया है!

चंदमऊहेहि निसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लया।
हंसेहि सरअसोहा कव्वकहा सज्जणेहि कीरइ गुरुई॥[3] (दीपक)

'चन्द्र की किरणों से रात्रि का, कमलों से तरंगिणी का, पुष्प-स्तबकों से वल्ली का हंसों से शरद् ऋतु की छटा का तथा सज्जनों से काव्य-कथा का गौरव बढ़ जाता है।

चूंकि प्राकृत के नीतिकाव्य में अभिधा की अपेक्षा लक्षणा तथा व्यंजना का प्रयोग अधिक है इसलिए उसमें सरसता तथा प्रभावकता अधिक दिखाई देती है। जैसे—

---

१. सूक्तिसरोज पृष्ठ ७२।१
२. गाथा सप्तशती शतक, २ गाथा ८६
३. हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृष्ठ ३२५ : ५५१

जे जे गुणिणो जे जे अ चाइणो जे विअड्ढ विण्णाणा ।
दारिद्द रे वियक्खणाए ताणं तुमं सासुराओसि ॥[1]

कवि दारिद्र्य की व्याज-निन्दा करता है क्योंकि वह गुणियों त्यागियों और विज्ञानियों का पिण्ड नहीं छोड़ता। निर्जीव दारिद्र्य का अनुरागवान् होना असम्भव है। अतः यहाँ लक्षणा द्वारा दो नैतिक तथ्यों की व्यंजना की गई है। प्रथम यह कि विचक्षण मनुष्य वही है जो गुणी त्यागी और विज्ञानवान् मानव की संगति से लाभान्वित होता है। द्वितीय समाज को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि गुणी और विद्वज्जन निर्धनता की यन्त्रणाओं से मुक्त रहें।

छन्द—आर्या या गाहा छन्द का प्रयोग प्राकृत में प्रचुरता से होता था। नीतिकाव्य में भी उसी का बाहुल्य है परन्तु आर्या वसन्ततिलका अनुष्टुप् वंशस्थ आदि भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं।

शैली—संस्कृत-नीतिकाव्य की समीक्षा में निर्दिष्ट शैलियों[2] में से प्राकृत-नीतिकाव्यों में तथ्य-निरूपक और उपदेशात्मक शैलियों का प्रयोग बहुत दिखाई देता है। प्रश्नोत्तर आत्माभिव्यंजक अन्यापदेशिक तथा नैतिक उपमानों की शैलियाँ भी व्यवहृत हुई हैं परन्तु अल्प मात्रा में। तथ्य-निरूपक उपदेशात्मक और नैतिक उपमानों की शैलियों के अनेक उदाहरण पीछे[3] प्रसंगवश आ ही चुके हैं अन्य शैलियों के निदर्शन द्रष्टव्य हैं—

कंटुल्लिसु भमिहिसि कंटयकलियाइं केयइवणाइं ।
मालइ कुसुमेण समं भमर भमंतो न पाविहिसि ॥[4] (अन्योक्ति शैली)

"हे भँवरे, तू काँटों से पूर्ण केतकी के वनों में घूमता हुआ मर जाएगा परन्तु बहुत घूमने पर भी मालती के समान कुसुम तुझे प्राप्त न हो सकेगा। कहना न होगा कि इस अन्योक्ति का वास्तविक लक्ष्य वह नायक है जो स्व-सती-साध्वी पत्नी से विमुख हो अन्योन्मुख हो रहा है।

का विसमा दिव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।
किं सुक्खं सुकलत्तं किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥[5] (प्रश्नोत्तर शैली)

[विषम क्या है? दैवगति। लब्ध (आधार) क्या है? गुणग्राही मानव। सुख क्या है? साध्वी पत्नी। किसे वश करना कठिन है? दुष्ट लोगों को।

कहीं-कहीं पर तो तथ्य-निरूपक और प्रश्नोत्तर शैली का सुन्दर सम्मिश्रण

---

१ संकेत तथा अर्थ प्रस्तुत प्रबन्ध पृष्ठ ८८, टि० २

२ प्रस्तुत प्रबन्ध का पृष्ठ ७८-९ देखिए।

३ प्रस्तुत प्रबन्ध का पृष्ठ ८८-९९ देखिए।

४ हेमचन्द्र : काव्यानुशासन पृष्ठ १४३ पद्य ३०१

५ हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० १६५ पद्य ६५०

कर दिया गया है। यह शैली अन्यत्र देखने में नहीं आई। इसमें पहले जिस तथ्य का निरूपण होता है, ठीक उसके विरोधी तथ्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है और फिर उत्तर दिया जाता है। जैसे—

कोहो विसं, किं अमयं अहिंसा,
माणो अरी, किं हियमप्पमाओ ।
माया भयं किं सरणं तु सच्चं,
लोहो दुहं किं सुहमाहु तुट्ठि ॥[1]

"क्रोध तो विष है फिर अमृत क्या है? अहिंसा।
अभिमान तो शत्रु है फिर मित्र क्या है? अप्रमाद।
माया तो भय है फिर शरण क्या है? सत्य।
लोभ तो दुःख है फिर सुख क्या है? सन्तोष।

संस्कृत-नीतिकाव्य से साम्य

देश में प्राकृत भाषाओं का प्रचलन हो जाने पर भी संस्कृत-वाङ्मय की सृष्टि होती रही। तथ्य तो यह है कि अधिकतर अभिजात-संस्कृत-साहित्य की रचना हुई ही उस काल में जब प्राकृत भाषाएँ देश में प्रचलित हो चुकी थीं। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत साहित्य प्रायः समसामयिक होने के कारण विचार, शैली आदि के क्षेत्रों में थोड़ा-बहुत साम्य रखते हैं। उदाहरणार्थ कन्या-जन्म से जन्य पितृचिन्ता का जैसा उल्लेख प्राकृत-कवि महेश्वर सूरि[2] ने किया है लगभग वैसा ही संस्कृत में भी उपलब्ध होता है।[3] कहीं-कहीं पर प्राकृत-कवियों ने संस्कृत-कवियों के भाव को कुछ परिवर्तित तथा परिवर्द्धित कर दिया है। जैसे संस्कृत में कहा गया है—

"जो पुरुष पराई निन्दा करने में गूंगा, पराई स्त्री को देखने में अन्धा और पराये धन को लेते समय पंगु हो जाता है वह त्रिलोकी में विजय प्राप्त करता है।[4] प्राकृत-कवि का कथन है—

'जो कुकार्य करते समय आलसी, प्राणिवध के समय पंगु, परनिन्दा सुनते समय बहिरा और पर-नारी को देखते समय अन्धा है, वही प्रशस्त है।[5] कहीं-कहीं पर भाव-साम्य होते हुए भी कुछ नवीनता लाने के लिए दृष्टान्त-विपर्यय कर दिया

---

१ प्राकृत सुभाषित संग्रह पृष्ठ ४१।६८१
२ महेश्वर सूरि, नाणपंचमी कहाओ सर्ग १।७८
३ सु० र० भा० पृष्ठ ६०।१
४ वही ४८।१२४
५ प्राकृत सुभाषित संग्रह पृष्ठ ४४।४०२

गया है। जैसे—

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता॥[1]

"मन से किया हुआ पाप ही पाप होता है, केवल शरीर से किया हुआ नहीं। जिस शरीर से पत्नी का आलिंगन किया जाता है उसी से ही पुत्री का भी।"

सव्वाण वि जुत्तीणं मणजुत्ती चेव उत्तमा लोए।
आलिंगई भत्तारं भावेणाण्णेण पुत्तं च॥[2]

"संसार में सब युक्तियों में से मन की युक्ति उत्तम है। स्त्री पति का आलिंगन एक भाव से करती है और पुत्र का दूसरे भाव से।"

इस प्रकार के साम्य का कारण निश्चयपूर्वक बताना अत्यन्त कठिन है। फिर भी संस्कृत के प्राचीनतर होने तथा संस्कृत भावों का विकास प्राकृत में देखे जाने से सम्भावना यही होती है कि प्राकृत कवियों ने संस्कृत-कवियों से भावों के बीज ग्रहण कर उन्हें अपनी बुद्धि और कल्पना के बल से सिंचित कर पल्लवित-पुष्पित किया है। अन्त में इतना ही कहकर समाप्त करते हैं कि प्राकृत का नीतिकाव्य संस्कृत के समान विशाल न होता हुआ भी अपनी विषय-व्यापकता तथा सरसता के कारण अत्यन्त श्लाघनीय है।

अपभ्रंश का नीतिकाव्य

अपभ्रंश भाषा हिन्दी की जननी है। चिरकाल तक इसका अध्ययन उपेक्षित रहा, परंतु अब सौभाग्य से इस का साहित्य क्रमशः प्रकाशित हो रहा है।

उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य दो वर्गों में विभाज्य है—

(१) धार्मिक साहित्य
(२) ऐहिक साहित्य

१ धार्मिक साहित्य

धार्मिक साहित्य का विवेचन दो उपवर्गों द्वारा करना उपयुक्त होगा—

(क) सिद्ध साहित्य में नीतिकाव्य
(ख) जैन साहित्य में नीतिकाव्य

यद्यपि इन दोनों वर्गों का साहित्य मुख्य रूप से स्व-स्व सम्प्रदाय के सिद्धान्तों तथा आचार विचार के प्रचारार्थ लिखा गया था तो भी उस में यत्र-तत्र प्रसंगवश नीतिकाव्य भी समाविष्ट हो ही गया है।

---

१ सुभाषितरत्नाकर, पृष्ठ १०।११
२ सूक्तिसरोज, पद्य ५५।२

सिद्ध साहित्य में नीतिकाव्य

परिस्थितियों के प्रभाव से पुनीत बौद्ध-धर्म क्रमशः विकृत होता गया। उसमें तंत्र मंत्र, जादू टोना मारण मोहन उच्चाटन डाकिनी-शाकिनी आदि का ही प्रचार नहीं हुआ भैरवी चक्र मद्य मैथुन आदि का भी प्रचलन बहुत बढ़ गया। यह यौन-स्वातंत्र्य वस्तुतः उस कठोर संयम की सहज प्रतिक्रिया था जिस की आशा बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों से आचरण की जाती थी। सिद्धों ने सुधार का बीड़ा उठाया और उसके लिए सहज मार्ग या सहजयान की स्थापना की। चौरासी सिद्धों में से अधिकतर तो तथाकथित निम्न जातियों के थे और कुछ तथाकथित उच्च जातियों के। इन्होंने वर्ण और वर्ग के भेद को सर्वथा ठुकरा दिया। नदी-स्नान से निर्वाण केश मुंडन से कल्याण निराहारवाद योग वैराग्य आदि अनेक पाखंडों का जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे सिद्धों ने तीव्र खंडन किया। इन्होंने मंत्र-देवता आदि की निरर्थकता प्रतिपादित की और आचारवादी होते हुए सदाचार-पूर्वक सहज जीवन को सहज ढंग से व्यतीत करने की नीति बताई। इन्होंने आत्मावलम्बन की नीति श्रेष्ठ बताई परन्तु गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा दिया जो परवर्ती काल में अनिष्टकारक सिद्ध हुआ। ये सिद्ध सांसारिक सुख सहज रीति से भोगने का उपदेश देते थे और इसी कारण इनका मार्ग सहजयान कहलाता है। अपनी विद्वता व सच्चरित्रता के कारण सिद्धों में से सरहपा कण्हपा भुसुपा और शान्तिपा विशेष विख्यात हैं। इन की कविताओं के कतिपय उद्धरणों से सिद्ध नीतिकाव्य की बानगी देखी जा सकती है।

उस काल में अनेक साधु नख बढ़ाते विशेष वेष धारण करते मलिन अथवा दिगम्बर रहते शरीर के बाल उखाड़ते तथा मोक्ष को अपने से बाहर खोजते थे।[1] सरहपा इन बातों का सहज भाव से यों खंडन करते हैं—

जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोम उपाडए अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह॥[2]

यदि नंगे रहने से मुक्ति मिलती हो तब कुत्तों और गीदड़ों को भी मिल जाएगी। यदि रोम उखाड़ने से सिद्धि प्राप्त होती हो तो युवतियों के नितंबों को भी प्राप्त हो जाएगी।

जिस शरीर की बौद्ध व जैन नीतिकार निन्दा करते न थकते थे उसी को सरहपा संहिताकालीन ऋषियों के समान अनुपम तीर्थ मानते थे—'सुरसरि व यमुना यहीं (इसी शरीर में) है गंगासागर भी यहीं है प्रयाग तथा बनारस भी यहीं है, सूर्य और चन्द्र भी यहीं है।[3]

१ जे० डी० एल० कलकत्ता, भाग २८ (१९३५ ई०) पृष्ठ १० दोहा ९
२ वही पृ० १०।७
३ वही पृ० १५।४७

इन्द्रियों का निग्रह तथा विषयों से विरक्ति ब्राह्मण बौद्ध और जैन सभी के नीतिकाव्यों के प्रमुख विषय रहे हैं। परन्तु सरहपा ने इन्हें अस्वाभाविक मानकर कहा—

देक्खहु सुणहु परीसहु खाहु। जिग्घहु भमहु बइठ-उट्ठाहु।
आल माल ववहारे पेल्लहु। मण छडु एक्काकार म चल्लहु॥[1]

देखो सुनो छुओ खाओ सूंघो घूमो बैठो उठो तथा क्रय-विक्रय आदि व्यवहार उत्साहपूर्वक करो।

जिन वेद शास्त्र और पुराणों की शिक्षाओं का हिन्दू सम्मान करते थे और बौद्ध तथा जैन उपेक्षा उन्हें वे सिद्ध भी विशेष महत्त्व न देते थे। कण्हपा शास्त्रों तथा पंडितों के सम्बन्ध में यों कहते हैं—"पण्डित लोग अपने वेद शास्त्र और पुराणों पर बहुत मान करते हैं। परन्तु वे वैसे बाहर-ही-बाहर घूम रहे हैं जैसे पके हुए श्रीफल के बाहर भंवरे।"[2]

याचक को निराश लौटाना सिद्धों के मत में बहुत बुरा था। सरहपा कहते हैं—

जो अत्थी अणठीअउ सो जइ जाइ णिरास।
खण्ड सरावें भिक्ख वर च्चयहु ए गिहवास॥[3]

यदि याचक तुम्हारे घर से निराश लौट जाता है तो तुम्हें गृहवास छोड़ देना चाहिए। ऐसी गृहस्थी की अपेक्षा तो टूटे हुए खप्पर में भीख मांगकर जीना अच्छा है।'

परोपकार तथा दान में ही जीवन की परम सार्थकता मानते हुए सरहपा कहते हैं—

'न तो परोपकार ही किया और न ही दान दिया। फिर इस संसार में जीने का लाभ ही क्या है! इससे तो स्वदेह-त्याग ही भला।'[4]

गुरु-महिमा तो भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित है परन्तु सिद्धों ने उसका स्थान वेद-शास्त्रों से भी ऊँचा कर दिया। परिणामतः आगे भक्ति-काल में 'गुरु महिमा' इतनी बढ़ी कि गुरु भगवान से भी अधिक पूज्य बन गए। सरहपा की उक्ति है—

गुरु उवएसे अमिअ रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलहि तिसिए मरिअउ तेहि॥[5]

---

१ वही पृ० १६।६३
२ वही पृ० ९४।२
३ वही पृ० ९३।१११
४ वही पृ० ९३।११२
५. वही, पृ० १६।६८

'जिसने गुरु के उपदेश रूपी अमृत के रस का पान छोड़कर न किया वह शास्त्रों के अर्थ रूपी मरुस्थल में प्यासा ही मर गया।'

महासुख की प्राप्ति के साधन चित्तस्थैर्य का प्रतिपादन सरहपा नाव रूपक द्वारा इस प्रकार करते हैं—यह काया सुन्दर नौका है मन नौकादंड है। सद्गुरु के वचनों से पतवार को धारण करो। चित्त को स्थिर कर इस नौका को दबा कर बैठो। यह किसी अन्य उपाय से पार नहीं जा सकती।[1]

सिद्धों ने अपनी रचनाएं मगही (मागधी) अपभ्रंश में की जिसे संध्या भाषा भी कहते हैं। इन रचनाओं में किसी रस का विशेष परिपाक तो नहीं फिर भी इन से उत्साह तथा आशा का संचार होता है और मन कठ तप-त्याग तथा घोर विषयासक्ति की सीमाओं को त्यागकर मध्यम सहज मार्ग पर चलने की स्वच्छ प्रेरणा प्राप्त करता है यद्यपि सिद्धों ने राग-युक्त गीतों, सोरठा छप्पय आदि का प्रयोग भी किया तथापि नीति-रचना प्राय: दोहा तथा सोलह मात्राओं के पज्झटिका और अडिल्ल छन्दों में है। इन की रचनाएं सरल सुबोध स्वाभाविक भाषा में हैं परन्तु कहीं-कहीं सुन्दर रूपक उपमाएं, दृष्टान्त सहज भाव से आ गये हैं। सार यह कि कवित्व की दृष्टि से सिद्धों का नीतिकाव्य विशेष महत्व न रखता हुआ भी भावों की मौलिकता तथा परवर्ती हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करने के कारण अपना विशेष स्थान रखता है।

(ख) जैन-साहित्य में नीतिकाव्य

जैन मुनियों तथा श्रावकों ने अपभ्रंश भाषा में अनेक सुन्दर रचनाएं प्रस्तुत कर प्राचीन हिन्दी के उद्भव तथा विकास में स्तुत्य सहयोग दिया। अपभ्रंश-नीति-काव्य के दो रूप हैं—(क) प्रबन्ध (ख) मुक्तक।

(क) प्रबन्ध काव्यों में नीति

जैन कवियों ने अपने धर्म के प्रचारार्थ अनेक सुंदर चरित-काव्यों कथा-काव्यों और पुराणों का प्रणयन किया जिनमें पउमचरिउ[2], रिट्ठणेमिचरिउ[3] णायकुमारचरिउ[4] तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार[5] जसहरचरिउ[6] भविसयत्तकहा[7] सुदंसणचरिउ[8] कुमार-

१ वही भाग १० (१६१८ ई०) पृष्ठ ८१, चर्यापद १८

२ ३ प्रणेता स्वयम्भू (रचनाकाल ८-९ वीं० शती हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य (भारतीय साहित्य मंदिर दिल्ली) (सं० २०१३) पृष्ठ ४०६

४ ६ प्रणेता पुष्पदंत (रचनाकाल १०१६ १०२२ वि),

७ प्रणेता धनपाल (१००० ई०) हि० का आ० पृष्ठ २६०

८ प्रणेता नयनंदी (रचनाकाल ११०० वि०) अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ १६०

पासचरिउ (पंचल)[1] तथा णेमिणाहचरिउ[2] आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों में २४ तीर्थंकरों, १२ चक्रवर्तियों ९ वासुदेवों और ९ बलदेवों के चरितों के अतिरिक्त जैन-रामायण व जैन-महाभारत की कथाओं तथा जैन नरेशों आदि का काव्यमय वर्णन ऐसी रीति से किया गया है कि पाठक जैन धर्म तथा नीति से प्रभावित हो। इन सरस काव्यों में आनुषंगिक रूप से आई हुई नीति के कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं। स्वयम्भू मानव शरीर की नश्वरता तथा निस्सारता यों व्यक्त करते हैं—

रंभा-गब्भेण व णीसारें। पक्क-फलेण व सउणाहारें।
कुसुम्भ हरेण'व विहडिय-बंधें। चम्महरेण'व अइदुग्गंधें॥[3]

काया कदली-वृक्ष के मध्य भाग के समान निस्सार है पक्व फल के तुल्य पक्षियों का आहार है, धूप घर के समान शिथिल बंधनों वाली है और चर्मालय के सदृश दुर्गन्ध का भंडार है।

कार्य की शोभा उसकी सफल सम्पन्नता पर ही निर्भर है इस नीति का उल्लेख पुष्पदंत के शब्दों में यों हुआ है—

सोहइ पाउसु सास-समिद्धिए। सोहइ णिहउ स परियण रिद्धिए।
सोहइ माणुस गुण संपत्तिए। सोहइ कज्जारंभु समत्तिए॥[4]

'वर्षा ऋतु की शोभा सस्यों की समृद्धि से भवन की भव्यता निज परिजनों की वृद्धि से मनुष्य की शोभा गुण-रूपी संपदा से और कार्यारम्भ की शोभा उस की सफल समाप्ति से होती है।

जैसा बोओगे वैसा काटोगे की नीति धनपाल के शब्दों में यों व्यक्त हुई है—

जहा जेण दत्तं तहा तेण पत्तं इमं सुव्वए सिट्ठलोएण वुत्तं।
सु पायन्नवा कोद्दवा जत्त माली, कहं सो नरो पावए सत्तसाली॥[5]

जिस ने जैसा दिया उस ने वैसे पाया शिष्ट लोगों ने यह सत्य ही कहा है। जो माली कोदव बोयगा वह शाली कहां से प्राप्त करेगा?

संसार के लोग विविध अभावों से पीड़ित हैं इस अनुभव को लखमदेव ने यों व्यक्त किया है—

जसु गेह अण्णु तसु णत्थि होइ जसु भोज सत्ति तसु असु ण होई।
जसु दाण छाहु तसु दविणु णत्थि जसु दविणु तासु गइ लोहु अत्थि
जसु मयणु राउ तसु णत्थि भाम जसु भाम तासु उच्छवण काम॥[6]

---

१ प्रणेता हेमचन्द्र (११४५-१२२९ वि०) अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ १२१-२२।
२ प्रणेता लखमदेव (१५१० वि० से पूर्व) अपभ्रंश साहित्य पृ० २१२।
३ पउमचरिउ (रामायण) ७७।४ हि० का० धा० पृष्ठ १२१।
४ आदिपुराण पृष्ठ ४०७ " पृष्ठ २१२।
५. भविसयत्तकहा (सं० दलाल पूना १९२३ ई०) पृष्ठ ८४ अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ १०२.
६ णेमिणाह चरिउ (अप्रकाशित) ३।२ अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ २११

'जिस के घर में अन्न है उसे भूख ही नहीं लगती और जिस में भोजन पचाने की शक्ति है, उस के पास अन्न ही नहीं। जो दान देने में उत्साही है उस के पास द्रविण का अभाव है और जिसके पास धन है वह अति लोभी है। जिस में काम का आधिक्य है वह भामा-रहित है और जिसके पास भामिनी है उसका काम ही शांत हो चुका है।

अपभ्रंश के 'जीवमनःकरण संलाप कथा'[1] 'मयणपराजय चरिउ'[2] 'मयण जुज्झ'[3] आदि प्रबंध-काव्य कथात्मक रूपक शैली में लिखे गये जिस का प्रयोग, उपनिषदों[4] तथा बौद्ध-साहित्य[5] में भी किया गया था। इस शैली का प्रयोग परन्तु नाटक के रूप में कृष्ण मिश्र 'प्रबोधचन्द्रोदय' में इन कवियों से कुछ पूर्व कर ही चुके थे। जैसा कि इन काव्यों के नामों से अनुमित होता है इनकी रचना मन इन्द्रियों काम आदि को वश में करने का उपदेश देने के लिए की गई थी। प्रत्यक्षोपदेश की अपेक्षा कथात्मक उपदेश के अधिक प्रभावशाली होने के कारण ही कवियों ने इस शैली को स्वीकार किया। इसमें मन इन्द्रिय काम मोह, राग द्वेष आदि को पात्रों का रूप देकर कथा के ढाँचे में बैठाया गया है। उपदेश-वृत्ति की प्रधानता के कारण यद्यपि काव्यत्व की दृष्टि से इन कथाओं का महत्व उपयुक्त प्रबन्ध-काव्यों का-सा नहीं है तो भी कहीं-कहीं विशेष चमत्कार मन को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। जैसे—

पहु ! अप्पहु नरिंदहो कुम्मंती कुणए कुलक्खयं।
एक्कंपि कुंभिणीए बीयं नासेइ कुलसारं ॥[6]

'हे प्रभो ! कुमन्त्री राजा के कुल-समूह को ऐसे दूषित कर देता है जैसे कुम्भिनी का एक ही बीज सारे लता गुल्म को ढाँप लेता है।

कहना न होगा कि इस रूपक-काव्य-शैली ने परवर्ती हिन्दी काव्य को प्रभावित किया। सूफी कवियों के प्रेम-काव्य तथा जयशंकर प्रसाद की कामायनी इसी परम्परा में सन्निविष्ट होती हैं।

(ख) जैन मुक्तक काव्य में नीति

जैन मुक्तक काव्य दो धाराओं में प्रवाहित हुआ। रहस्यवादी धारा और उपदेशात्मक धारा।

---

१ रचयिता सोमप्रभाचार्य (१२४१ वि०) „ पृष्ठ ३११
२ रचयिता हरिदेव (१२-१३वीं शती विक्रमी) अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ ३१८
३ रचयिता बुच्चराय (१५८९ वि० „ , पृष्ठ ३१६
४ बृहदारण्यकोपनिषद् १।३, छान्दोग्योपनिषद् १।२
५ जातक निदान कथा के 'अविदूरे निदान' की मारविजय-सम्बन्धी आख्यायिका अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ ३१४।
६ अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ ३१८

(१) रहस्यवादी धारा

इस धारा की काव्य-कृतियों में आत्मा परमात्मा योग मोक्षादि के विवेचन का प्राधान्य होते हुए भी कहीं-कहीं नैतिक उपदेश उपलब्ध हो जाते हैं। जोइन्दु (योगीन्दु) का परमात्मप्रकाश[1] और योगसार[2] मुनि रामसिंह का पाहुडदोहा[3], सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार[4] इसी कोटि के मुक्तक काव्य हैं। इनमें सूक्तियाँ तो बहुत हैं परन्तु उपयुक्त प्रबन्ध-काव्यों की-सी सरसता का प्रायः अभाव है। निदर्शनार्थ एकाध उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

पंचहं णायकु वसि करहु जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरुवरहं अवसहिं सुक्कहिं पण्ण ॥[5] (योगीन्दु)

'पाँच इन्द्रियों के नायक (मन) को वश में करो जिससे अन्य भी अधीन हो जाते हैं। वृक्ष का मूल नष्ट होने पर पत्ते अवश्य सूख जाते हैं।

(२) उपदेशात्मक धारा

कई जैन विद्वानों ने कतिपय ऐसे मुक्तक काव्यों का भी सर्जन किया जिनका उद्देश्य ही व्यावहारिक उपदेश देना था। ऐसे ग्रन्थों में देवसेन का 'सावयधम्म दोहा' सर्वप्रथम हमारे समक्ष आता है। मंगलाचरण और दुर्जन स्मरण के अनन्तर कवि ने दोष-त्याग अहिंसा-पालन, इन्द्रिय-निग्रह मनवचकाय-शुद्धि आदि विषयों पर सुन्दर अनुभव-पूर्ण मुक्तकों की रचना की है। जैसे—

भोयहं करहि पमाणु जिय इन्दिय म करि सदप्प।
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें काला सप्प ॥[6]

'हे जीव भोगों का सीमित उपभोग कर। इन्द्रिय को सदर्प मत होने दे। दूध से कृष्ण-सर्प का पोषण भला काम नहीं।

जं दिज्जइ तं पाविअइ, एउ ण वयणु विसुद्ध।
गाइ पइण्णइ खडभुसइं, किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥[7]

'क्या यह बात सत्य नहीं है कि जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है? गाय को खली भूसा खिलाने पर क्या वह दूध नहीं देती?

---

१ २ (रचनाकाल ८-९ वीं शती) अपभ्रंश साहित्य पृ० ४०९
३ (रचनाकाल १०२७ वि० लगभग) " "
४ (रचनाकाल ११ १२ वीं शती) " ४१०
५. सं० राहुल सांकृत्यायन, हिन्दीकाव्यधारा पृष्ठ २४८।२४९
६ सं० राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ १७०।१५
७ सावयधम्मदोहा, नामवरसिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग (प्रयाग, १९५४) पृष्ठ १२६।१७

जिनदत्त सूरि[1] का 'उपदेश रसायन रास' ८० पद्धटिका छन्दों का अनुकाय मुक्तक काव्य है। इसमें जहाँ उपयुक्त जैनप्रिय नैतिक विषयों का वर्णन है वहाँ धर्मकार्यार्थ की गई हिंसा की प्रशंसा भी है—

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ,
पर मारइ कीवइ जुज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परम पइ निवसइ सो सासइ ॥[2]

'यदि कोई धार्मिक मनुष्य धर्मकार्य की सिद्धि के निमित्त युद्ध करता हुआ दूसरे को मार भी डालता है तो भी वह धर्मच्युत होकर नष्ट नहीं होता, अपितु परम पद प्राप्त करता है।'

'काल स्वरूप कुलक' या 'उपदेश कुलक' सूरि जी की केवल ३२ पदों की रचना है परन्तु उसमें नीति के उपदेश सुन्दर दृष्टान्तों से समर्थित हैं। जैसे—

कज्जउ करइ बुहारी बद्धी
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी।
जइ पुण सा वि जुयं जुय किज्जइ
ता कि कज्जसिद्धि साहिज्जइ ॥[3]

'कंघी [illegible] बुहारी कार्य करती है। वह घर को स्वच्छ और समृद्ध करती है। परन्तु यदि उसकी सींकियाँ पृथक्-पृथक् कर दी जाएँ तो उससे क्या काम सिद्ध हो सकता है?'

महेश्वर सूरि[4] की 'संयम मंजरी' के वर्ण्य विषय का अनुमान पुस्तक के नाम से ही हो जाता है। ३५ दोहों की इस पुस्तिका में कवि ने १७ प्रकार के संयमों का निरूपण कर जीवहिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह आदि को पातक कहा है। इन्द्रिय-दोष-जन्य आयु विनाश का उल्लेख कवि इस प्रकार करता है—

गय मय महुयर झस सलह निययविसय विसय पसत्त।
इक्किक्केण इ इंदियण दुक्ख निरंतर पत्त ॥
इक्किक्कि इंदिय मुक्कलिण लब्भइ दुक्खसहस्स।
जस पुण पंचइ मुक्कला कह कुसलत्तण तस्स ॥[5]

अर्थात् गज, मृग, मधुकर, मीन और शलभ स्व-स्व विषय में आसक्त होकर

---

१ जीवन-काल सं० ११३२ १२१० अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ १८८ १८९।
२ अपभ्रंश काव्यत्रयी' में संकलित उपदेशरसायनरास पद्य २५।
३ कालस्वरूप कुलक, पद्य १७ अपभ्रंश काव्यत्रयी पृष्ठ ७८ पर उद्धृत
४ सं० १५६१ से पूर्व: अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ २६५
५ संयममंजरी, दोहा १७-१८ अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ २६५

एक-एक इन्द्रिय द्वारा ही निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं। एक-एक इन्द्रिय की सहायता से जब सहस्र दुःख प्राप्त होते हैं तब जिसकी पाँचों ही इन्द्रियाँ उच्छृंखल हों उसका क्षेम कहाँ।

'चूनड़ी'[1] की रचना भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य भट्टारक विनयचन्द्र ने की थी। वैसे तो चूनड़ी स्त्रियों के रंग-बिरंगे दुपट्टे को कहते हैं किन्तु इस कृति में एक कामिनी जिनचन्द्र से ऐसी चूनड़ी की प्रार्थना करती है जिसे ओढ़कर वह जिन शासन में विचक्षण हो जाए। इसी बात को ध्यान में रखकर कवि ने धर्म और सदाचारमयी चूनड़ी ओढ़ने का उपदेश दिया है।

वीरचन्द्र के शिष्य महचन्द्र की कृति 'बारक्खरी दोहा' (बारह खड़ी दोहा) के रचना-काल के विषय में कुछ कहना कठिन है किन्तु ब्रह्मसाल्हा के शिष्य चाहड़ सोगाणी ने सं० १५९१[2] में इसकी प्रतिलिपि की, अतः यह उससे पूर्व की ही रचना हो सकती है। १२ पत्रों की यह अप्रकाशित रचना जयपुर के तेरहपंथी बड़ा मन्दिर में[3] विद्यमान है। रचना का महत्त्व विषय की अपेक्षा शैली के कारण अधिक है। इसमें वर्ण-माला के एक-एक अक्षर से कई-कई दोहों का प्रारम्भ होता है। एक दोहा द्रष्टव्य है—

कुड चित्त तिय लंपडा, गुरु वयणं कुरु वत्त।
भमहि कोल्हुव बसहु जिम, एउ संसारि भमंत ॥[4]

'कूर चित्त स्त्रीलंपट तथा गुरु के वचन खंडित करने वाला व्यक्ति संसार में पुनः पुनः ऐसे भ्रमता है जैसे कोल्हू का बैल।

मुक्तकों का यह वर्ग निम्नलिखित कारणों से पाठकों का ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित कर लेता है—

(१) चूंकि यह सामाजिक जीवन के उत्थानार्थ लिखा गया है और सामाजिक जीवन की इकाई गार्हस्थ्य है इस लिए इसमें न गृहस्थाश्रम की अनुचित महत्ता है न नारी का।

(२) विधर्मी होने पर भी माता-पिता की सेवा करना तथा बन्धु-बान्धवों से मिल-जुलकर रहना इस काव्य के विशेष उपदेश हैं।

---

१ इस पुस्तिका की रचना गिरिपुर में, सं० १५७६ से पूर्व की गई। देखें 'सिद्ध साहित्य' पृ० २९६

२ पुस्तक के अन्त में यह पाठ है—'इति बारक्खरी दोहा महचन्द्र कृत समाप्ता'। संवत् १५९१ वर्षे पौष सु ११ बृहस्पति वासरे, रोहतिग नगरे लिख्यत 'चाहड़ सोगाणी' लिखतं कर्मक्षय निमित्त।

३ वेष्टन संख्या १५५१, प्रति का क्रमांक १८२५।

४ बारक्खरी दोहा, पत्र १।१२॥

(३) सांसारिक भोगों की अनुचित निन्दा नहीं है, त्याग-भाव से सुख भोगने तथा दानादि द्वारा समाजोत्थान की प्रेरणा प्राप्त होती है।

(४) गृहस्थों के पूजा-स्थानों के विधि-विधानों का भी पर्याप्त निर्देश किया गया है।

२. ऐहिक साहित्य में नीतिकाव्य

ऊपर कह चुके हैं कि सिद्धों तथा जैनों की अपभ्रंश रचनाओं का मुख्य उद्देश्य ऐहिक न होकर आध्यात्मिक, धार्मिक व पारलौकिक था। तो भी अपभ्रंश में कुछ ऐसी भी कृतियों का प्रणयन हुआ जिन का लक्ष्य केवल ऐहिक था। उनके भी दो रूप हैं—(क) मुक्तक (ख) प्रबन्ध।

(क) ऐहिक मुक्तक काव्य

इस वर्ग के पद्य न संख्या में बहुत अधिक हैं और न उनका कोई स्वतंत्र संग्रह ही उपलब्ध होता है। ये प्रबन्धों तथा व्याकरण छंद अलंकार आदि के ग्रंथों में छिट-पुट रूप से बिखरे हुए हैं। नीति, वीरता शृंगार, वैराग्य आदि विषयों के ये पद्य चंड के 'प्राकृत लक्षण' भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' 'प्राकृत पैंगल' प्रबन्ध चिन्तामणि और सब से अधिक हेमचन्द्र के 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' नामक व्याकरण-ग्रंथ में उपलब्ध होते हैं। ये मुक्तक संख्या में अल्प होते हुए भी साहित्यिक सौन्दर्य से चमक रहे हैं। इनकी विविधता तथा सरसता हेमचन्द्र के व्याकरण से उद्धृत निम्नांकित दोहों से भली भांति अनुमित की जा सकती है—

कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु।
दूर ठिआहं वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु॥[1]

'चन्द्र कहां है और समुद्र कहां, मेघ कहां है और मोर कहां। सज्जन एक-दूसरे से चाहे दूर रहें, उनका अनुराग तो निराला ही होता है।

गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजन्ति।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति॥[2]

गुणों से सम्पत्ति नहीं, कीर्ति प्राप्त होती है। मनुष्य भाग्य के लेखानुसार फल भोगता है। सिंह के लिए कोई कौड़ी भी नहीं देता और हाथी लाखों रुपयों से खरीदे जाते हैं।

(ख) ऐहिक प्रबन्ध काव्य

अभी तक दो ही ऐहिक अपभ्रंश प्रबन्ध काव्य उपलब्ध हुए हैं—अद्दहमाण

---

१ हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण (प्र० मोतीलाल लुद्दाजी, पूना १९२८ ई०) ८।४।४२२
२ वही, ८।४।३३५

(अब्दुल रहमान) का 'संनेहरासय' (संदेशरासक) तथा विद्यापति की 'कीर्ति लता'। 'संनेहरासय' एक सन्देश-काव्य है जिसमें कवि ने अत्यन्त मार्मिक भाषा में प्रोषित पतिका की वेदना का वर्णन किया है। वह अपने प्रियतम को किसी पथिक द्वारा शीघ्र लौटने का संदेश भेजती है और अन्त में युगल का मिलन हो जाता है। विरह वेदना से पूर्ण यह काव्य नीतिकाव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता फिर भी प्रसंगवश आए हुए कुछ नीति-पद्य यत्किंचित चमत्कार रखते ही हैं। ग्रंथ ग्रन्थारम्भ में कवि विनय-प्रदर्शन करता हुआ कहता है—'दिवानाथ के उदय पर क्या नक्षत्र नहीं चमकते? यदि तरु-शिखर पर आसीन कोयल सुमधुर कूजन करती है तो क्या कौए कांव-कांव करना त्याग देते हैं? यदि त्रैलोक्य-पावनी सागराभिमुख बहती है तो क्या अन्य सरिताएँ बहना बन्द कर देती हैं? यदि चतुरानन ब्रह्मा ने वेदों का प्रकाश किया तो क्या अन्य कवि काव्य रचना त्याग दें? नहीं जिसमें जो शक्ति हो उसका प्रकाशन करना ही चाहिए।'[1]

'कीर्तिलता' में विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह के पराक्रम व कीर्ति का वर्णन किया है। पुस्तक आद्यन्त छन्दोबद्ध नहीं है बीच-बीच में गद्यांश आने के कारण चम्पू-सी लगती है। नीति के पद्य कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं, जैसे—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन।
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुंजिओ धुमो॥[2]

पुरुषत्व से ही पुरुष की सार्थकता है, जन्म-मात्र से पुरुष पुरुष नहीं बनता। जल-दान से ही मेघ जलद कहलाता है पुंजित धूएँ को जलद नहीं कहते।

सो पुरिसओ जसु मानो सो पुरिसओ जस्स अज्जने सत्ति।
इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूना पसू होइ॥[3]

'पुरुष वही है जो मानवान् है, पुरुष वही है जिसमें धनोपार्जन की शक्ति है। शेष तो पुच्छहीन पशु ही हैं आकार पुरुष का हुआ तो क्या!

अपभ्रंश नीतिकाव्य की समीक्षा

यद्यपि अभी तक अपभ्रंश भाषा में विशुद्ध नीतिपरक काव्य-ग्रंथ कोई उप-लब्ध नहीं हुआ तथापि उपयुक्त धार्मिक और ऐहिक काव्य-ग्रन्थों में नई [illegible]

---

१ सं० मुनि जिनविजय व हरिवल्लभ भायाणी: संदेशरासक (प्र० भारतीय विद्याभवन, बम्बई वि० २००१) ११८ १०।

२ सं०—डा० बाबूराम सक्सेना: कीर्तिलता (प्र० इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२९ ई०) पृष्ठ ९।

३ वही पृष्ठ ९।

सामग्री बिखरी पड़ी है जो निस्सन्देह नीतिकाव्य के अन्तर्गत मानी जा सकती है। उस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश-कवियों ने कहाँ प्रकार की नीति से सम्बद्ध काव्य-रचना की है।

वैयक्तिक नीति

शरीर के सम्बन्ध में अपभ्रंश के नीतिकाव्य में दो प्रकार के विचार दिखाई देते हैं। कहीं तो शरीर को तीर्थतुल्य और देवस-सदृश कहा है और कहीं पर उसे अत्यन्त मलिन और घृणास्पद। सिद्धों ने तो काया की निंदा नहीं की परन्तु जैन मुनियों ने निंदा-स्तुति दोनों की है। कारण यह कि सिद्ध तो जीवन के सुखों को सहज भाव से भोगने के पक्षपाती थे[1] और महासुख की प्राप्ति भी शारीरिक साधनाओं द्वारा ही सम्भव थी परन्तु जैनों का दृष्टिकोण विरक्ति प्रधान ही रहा। उन्होंने काया को देवल-तुल्य इसीलिए कहा है कि उसी में आत्मसाक्षात्कार की सम्भावना है। जहाँ शरीर को दुर्गंधागार या मल-भंडार कहा है वहाँ इसलिए कि लोग शारीरिक भोगों को ही चरम लक्ष्य मान कर परम ध्येय से पराङ्मुख न हो जायें। निम्नांकित उद्धरणों से उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोण का समर्थन होता है—

(१) जम' देहादेवलि सिव वसइ तुहु देवलइ णिएहि।[2]
(२) देहा देवलु सरिसया सित्त, मई तुहु अप्प स विहुमो।[3]
(३) जैनः जोव्वणु गंजहों असुहर मारउड। सिव लालिमर-करक-समारउड।[4]

कहना न होगा कि प्रथम दो अवतरणों में काया की पवित्रता और तृतीय में गह्यता का उल्लेख है। परन्तु यहाँ यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि सुख-भोगों में 'रति' अर्थात् सीमोल्लंघन और आसक्ति को सरहपा बुरा समझते थे—

> जिम आसत्ति म बन्ध कर अरे बढ़! सहुँ जुत्त।
> मीण-पअगम-करि-भमर, पेक्खह हरिणहुं जुत्त॥[5]

'सरह कहते हैं—अरे मूढ़ विषयासक्ति-रूपी बंधन में मत फँसो। देखो उस बंधन में फँसने से मछली पतंग गज भँवर और मृग की क्या दशा हुई।

अधिकतर अपभ्रंश-साहित्य की रचना बौद्ध-सिद्धों तथा जैन-मुनियों द्वारा होने के कारण उस में ऐहिक विद्याओं के उपार्जन पर बल नहीं दिया गया। धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से मनुष्य प्राय आध्यात्मिक जीवन से विमुख हो जाता है जो इन

---

१ सरहपा दोहाकोष जे० डी० एल० कलकत्ता भाग १८ पृष्ठ ११।२४।
२ रामसिंह : पाहुड़ दोहा (कारंजा १९३३) पृष्ठ ३३।
३ सरहपा : दोहाकोष ज० डी० एल० कलकत्ता भाग २८ पृष्ठ ११।४८।
४ स्वयम्भू रामायण १४।१०, हि० का० धा पृष्ठ ११२ पर उद्धृत।
५. सरहपा दोहाकोष, जे० डी० एल कलकत्ता, भाग २८, पृष्ठ ११।७१।

सिद्धों और मुनियों का मुख्य लक्ष्य था। इसीलिए इस साहित्य में प्रायः पोथी-पत्रे की उपेक्षा ही देखी जाती है। कण्हपा का कथन है—

आगम-वेअ-पुराणे (हिं), पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति ॥[1]

'पंडित लोग शास्त्र, वेद और पुराण पढ़कर अभिमानी बन जाते हैं। वास्तव में उनकी दशा उन भौंरों की-सी है जो पके हुए श्रीफल के बाहर ही मँडराया करते हैं।'

योगीन्दु भी शास्त्राध्ययन-जन्य अहंत्व का उल्लेख करते हुए आध्यात्मिकता पर ही अधिक बल देते हैं—

सत्थु पढंतु वि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥[2]

'जो मनुष्य मन के विकल्पों का नाश नहीं करता तथा शरीर में वर्तमान निर्मल आत्मा को परमात्मा नहीं मानता वह शास्त्र पढ़ता हुआ भी मूर्ख ही है।'

धार्मिक नीति के क्षेत्र में अपभ्रंश-कवियों का योगदान प्रशंसनीय है। प्रायः सभी लेखकों ने सदाचार, परोपकार, संतोष, धर्माचरण, व्यसन-त्याग आदि सद्गुण अपनाने तथा दुर्गुणोत्सर्ग पर विशेष बल दिया है। सरहपा दान और परोपकार में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं—

पर उआर ण कीअउ अत्थि ण दीअउ दाण।
एहु संसारे कवण फलु वरु छड्डहु अप्पाण ॥[3]

देवसेन के विचार में मदिरापान सर्वपुण्यों का नाशक है—

महु आसायउ थोडउवि णासइ पुण्णु बहुत्तु।
वइसाणरहं तिडिक्कडउ काणणु डहइ महत्तु ॥[4]

अर्थात् थोड़े से भी मदिरापान से बहुत पुण्यों का ऐसे ही नाश होता है जैसे अग्नि की चिनगारी से भारी जंगल का।

पारिवारिक नीति

जहाँ अपभ्रंश-कवियों ने पारिवारिक जीवन की जड़ों पर कुठाराघात करने वाले वेश्यागमन[5] परकलत्रानुराग, दासी प्रेम आदि व्यसनों की तीव्र आलोचना

---

१ सरहपा : दोहाकोश, वही पृष्ठ १४।२।
२ योगीन्दु : परमात्मप्रकाश हि० का० धा० पृष्ठ २४८।२०६।
३ सं० वियोगी हरि : संत सुधासार पृष्ठ ६।१२।
४ देवसेन : सावयधम्मदोहा, २१ हि० का० धा०, पृष्ठ १६८।२१।
५ जिनदत्तसूरि : उवएसरसायण, हि० का० धा० पृष्ठ ३२४।

मण-वय-कायहि दय करहि, जेम ण दुक्कइ पाउ ।
उरि सण्णाहि बद्धएण, अवसि न लग्गइ घाउ ॥[1]

मिश्रित नीति

मिश्रित नीति के अन्तर्गत अपभ्रंश-काव्यों में मनुष्य-जन्म को बहुत दुर्लभ तथा गर्भवास और आवागमन को दुःखों का मूल कहा गया है। पूर्व कर्मों की महिमा भी पर्याप्त वर्णित है। अधिकतर कवियों ने संसार को तुच्छ मानकर उसके भोगों को हेय तथा वैराग्य को उपादेय माना है। धर्माचरण पर बहुत बल दिया गया है तथा भाग्य की रेखाओं को अमिट कहा है। जिनदत्त सूरि का कथन है—

मणुयत्तु माणुस-जम्मु महारहु । अप्पा भवसमुद्दि गउ तारहु ।
अप्पु म अप्पहु रायहु रोसहु । करहु निहाणु म सव्वहु दोसहु ॥[2]

(जिनदत्त सूरि)

जब कुलीन और धर्मात्मा युधिष्ठिर-से भी संकट-मुक्त न रह सके तब भाग्यलेख को अमिट ही समझना चाहिए—

पंडव-वंसहि जम्म करीजे । संपय अज्जिअ धम्मक दिज्जे ।
सोउ जुहुट्ठिर संकट पावा । दैवक लिक्खिअ केण मेटावा ॥[3] (अज्ञात कवि)

अधिकतर अपभ्रंश-काव्य की रचना सामन्त-काल में हुई जब विभिन्न प्रदेशों के वीर तथा योद्धा तनिक-सी बात पर कुनककर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते थे। अतएव इस साहित्य में राजाओं मंत्रियों उनकी पत्नियों रण-यात्राओं, युद्धों युद्ध में छल आदि पर तो पर्याप्त लिखा गया परन्तु जन सामान्य-सम्बन्धी नीति यहीं तक सीमित रही कि वे राज-हित के निमित्त प्राणों को वीरता-पूर्वक न्योछावर करने के लिए बद्ध-परिकर रहें। युद्ध से विजेता के रूप में लौटना अप्रतिम सम्मान माना जाता था। रण क्षेत्र में प्राण-विसर्जित करना भी कम गौरवास्पद न था परन्तु जीते-जी कीर्ति की प्राप्ति उत्कृष्टतर समझी जाती थी—

---

१ मन वचन और कर्म से दया करो जिससे कि पाप पास न फटकने पाए। जब छाती पर कवच बाँध लिया जाता है, तब घाव से अवश्य बचाव रहता है।
सावय धम्म दोहा ६० हि० का० धा० पृष्ठ ११८ पर उद्धृत।

२ अत्यन्त पुण्यवान् मनुष्य-जन्म प्राप्त करने के बाद अपने को संसार-सागर के पार पहुँचाओ।
राग और रोष तथा अन्य समस्त दोष अपने में न घुसने दो। (उपदेश रसायन २ हि० का० धा० पृष्ठ ३२६ पर उद्धृत)।

३ प्राकृत पैंगल में संगृहीत हि० का० धा०, पृ० ४६४ पर उद्धृत।

कित्ती सा सप्पुरिसह जा सुणीइ अप्पणेहिं कण्णेहिं ।
पच्छा मुयस्स सुन्दरि ! सा कित्ती होउ मा होउ ॥[1] (अज्ञात कवि)

रस और भाव

यद्यपि अधिकतर अपभ्रंश-साहित्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्यों की पुष्टि के लिए रचा गया तो भी सरहपा कण्हपा आदि कतिपय सिद्धों की विदग्धता तथा अधिकतर जैन व अन्य कवियों की काव्य-कुशलता के कारण उसका नीतिकाव्य पर्याप्त अंश तक नीरस होने से बच गया । नीति-काव्य में शान्त शृंगार तथा वीर रस का बाहुल्य है और बीभत्स तथा हास्य-रस की न्यूनता । कवियों की सूक्तियों में यथास्थान और यथा-अवसर प्रसाद ओज तथा माधुर्य भी लक्षित होते हैं । निम्नांकित पद्य में नीति तथा शृंगार का अनुपम प्रधान मिश्रण द्रष्टव्य है—

फोडेंति जे हियडउं अप्पणउं ताहं पराई कवण घण ।
रक्खेज्जहु लोअहो अप्पणा बालहे जाया विसमथण ॥[2]

युद्ध-वीर तथा दान-वीर का सुन्दर निदर्शन निम्नलिखित दोहे में देखा जा सकता है—

जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णि वि अवसर निवडिअइं, तिण सम गणइ विसिट्ठु ॥[3]

'जीवन किसे प्यारा नहीं लगता और धन कौन नहीं चाहता ? परन्तु, श्रेष्ठ लोग अवसर आ पड़ने पर दोनों को तिनके के समान तुच्छ ही मानते हैं ।

निर्वेद श्रद्धा तथा हास्य का मिश्रण निम्नोद्धृत दोहे में अवलोकनीय है—

संता विसय जु परिहरइ, बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥[4] (योगीन्दु)

जो विद्यमान भोगों को त्याग सकता है, मैं उस पर बलि-बलि जाता हूँ । जिस का सिर दैव ने ही गंजा बना दिया है उसे मुण्डी बनने का श्रेय कहाँ !"

कहीं-कहीं नीति की एक ही बात को हृदयंगम कराने के लिए ऐसे अनेक सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किये गए हैं जिनसे कई नैतिक उपदेश स्वतः एव हृदयांकित हो जाते हैं । जैसे—

---

१ हे सुन्दरि ! कीर्ति वही श्लाघ्य है जो अपने कानों से सुनी जाती है । मृत्यु के बाद कीर्ति का होना न होना समान ही है । (हि० का० धा० पृ० ४०८ पर उद्धृत)

२ जगन्नाथराय शर्मा अपभ्रंश दर्पण (पटना सं० १९९८) पृ० १ ।

३ हेमचन्द्र सूरि : प्राकृत व्याकरण हि० का० धा०, पृष्ठ ४८२ पर उद्धृत ।

४ योगीन्दु परमप्पपयासु (परमात्मप्रकाश) पद्य २७० अपभ्रंश काव्यत्रयी भूमिका-पृष्ठ १०१ पर उद्धृत ।

णिरुम्मोमिहसे संचिय दविणं । णिप्पणेहे वरमालिणि रमणं ।
अविय अपत्ते दिण्णं दाणं । मोह-त्तंधे धम्म-वखाणं ।।[1] (पुष्पदन्त)

"मोह-रूपी धूलि से अन्धे हुए व्यक्ति को धर्मोपदेश ऐसे ही व्यर्थ है जैसे कंजूस के लिए संगृहीत धन, स्नेह रहित के लिए सुन्दरी-समोग तथा अपात्र को दिया हुआ दान।"

बीभत्स रस की व्यंजना देह की दुर्गन्धमयता के प्रकरण में पीछे देख ही चुके हैं।[2]

यह रस-परिपाक मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्यों में अधिक देखने में आता है। सीता की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग में राम ने स्त्रियों को 'अशुद्ध निर्लज्ज कुटिल मति धृष्ट गुणहीन कुल-कलंकिनी' आदि कहा था।[3] इस पर सती सीता ने वीर रसमयी वाणी में राम के आक्षेप का प्रतिवाद करते हुए पुरुषों से स्त्रियों को इस प्रकार उत्कृष्ट बताया—

ससि सकलंकु तहि वि पहु-णिम्मल । कालउ मेहु तहि वि तडि उज्जल ।
उवलु अपुज्जु ण केण वि छिप्पइ । तहि पडिम चदणेण विलिप्पइ ।
दीवउ होइ सहावें कालउ । वट्टि-सिहए मंडिज्जइ आलउ ।
णर-णारिहिं एवडउ अंतरु । मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु ।।[4]

"चांद कलंकी होता है और उसकी प्रभा निर्मल, मेघ काला होता है और विद्युत् उज्ज्वल, पत्थर अपूज्य होता है उसे कोई छूता भी नहीं परन्तु उसीसे बनी हुई प्रतिमा को चन्दन चर्चित किया जाता है। दीपक स्वभाव से श्याम होता है परन्तु उसकी बत्ती की लौ से घर जगमगा उठता है। नर और नारी में यही अन्तर है कि मरने पर भी वल्ली वृक्ष से विलग नहीं होती।"

काव्य विधान

काव्य-विधान के विचार से अपभ्रंश का नीतिकाव्य द्विविध रचनाओं में उपलब्ध होता है—प्रबन्ध और मुक्तक। मुक्तक रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—पद तथा छन्दोबद्ध। प्रबन्ध-काव्यों तथा छन्दोबद्ध मुक्तकों की रचना जैन-कवियों ने की और पदों तथा छन्दोबद्ध मुक्तकों की रचना सिद्धों ने। सिद्धों के चर्यागीतों में रहस्यमय भावनाओं का आधिक्य है और नीति की न्यूनता। हाँ उनके दोहों में नीति का निस्सन्देह प्राचुर्य है। सिद्धों के ५० पद उपलब्ध हुए हैं जिनमें से लुईपा भुसुकुपा कान्हूपा सरहपा और कमलाम्बरपा के आठ[5] पदों में स्पष्ट रूप से नीति पाई जाती है।

---

१ पुष्पदन्त 'जसहरचरिउ (पृ० १६)' हि० का० धा०, पृष्ठ २१२ पर उद्धृत।
२ देखें 'जैन प्रबन्ध-काव्यों में नीति' (पीछे)।
३ त्रिभुवन स्वयंभू : सिरिपउमचरिउ अपभ्रंश पाठावली (अहमदाबाद सं १९९२) पृष्ठ २१ पर उद्धृत।
४ वही पृष्ठ २४ पर उद्धृत।
५ डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य (प्रयाग १९५५), पृष्ठ २११।

प्रत्येक पद के साथ भैरवी, गुंजरी आदि विशिष्ट राग का नाम भी निर्दिष्ट है और उनकी कुल संख्या १८ है।

भाषा

जैन विद्वानों ने अपनी कृतियों में पश्चिमी (शौरसेनी) अपभ्रंश का प्रयोग किया है, परन्तु सिद्धों की समस्त कृतियों की भाषा एकरूप नहीं है। चर्यापदों की भाषा पुरानी बंगाली है। दोहा कोषों की पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश है किन्तु पूर्वी प्रान्तों में लिखी जाने के कारण उसमें अनेक पूर्वी रूप तथा वाग्धाराएँ समाविष्ट हो गई हैं।[1] चूंकि पश्चिमी अपभ्रंश में दोहों की परम्परा पहले से प्रचलित थी इसलिए सिद्धों ने दोहा रचना में उसी भाषा को अपनाना उचित समझा। अपभ्रंश-नीतिकाव्य की भाषा प्रसाद-पूर्ण और भाव व्यंजना में समर्थ है। संस्कृत के समान उसमें लंबे-लंबे समास नहीं हैं। दो से अधिक शब्दों के समास कदाचित्-क्वचित् ही दिखाई देते हैं। भाषा में लोकोक्तियों तथा वाग्धाराओं की मात्रा भी अच्छी है। उनमें से कुछ तो निस्सन्देह पुरानी हैं और कुछ प्रचलित भाषा से ली गई प्रतीत होती हैं। जैसे—

> चक्खुय दिक्खेसि कंखसि वर मुत्तिए।
>
> जं जि वाविज्जए तंजि (ति) जसु लुज्जए।[2] (जयदेव)
>
> 'देखते हो धने और चाहते हो मोती! मनुष्य जो बोता है वही काटता है।'
>
> उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लंक।
>
> हाथेर कंकण मा लेहु दप्पण। अपणे आपा बुज्झतु-निअ-मण॥[3] (सरहपा)

छन्द

जैसे अपभ्रंश भाषा अपने नीतिकाव्य के अनेक भावों के लिए संस्कृत प्राकृत आदि पूर्ववर्ती भाषाओं की ऋणी है वैसे ही भारतीय वाङ्मय दोहा सोरठा चौपाई, पद्धड़िया छप्पय कुंडलियां रूला (रोला) उल्लाला आदि अनेक छन्दों के लिए अपभ्रंश का। नीतिकाव्य के लिए उक्त छन्दों में से दोहा का प्रयोग हिन्दी के समान ही, सर्वाधिक हुआ है। उसके बाद पद्धटिका (पज्झटिका पद्धड़िया) अरिल्ल पत्ता,[4] छप्पय

---

१ डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ओरिजन एण्ड डिवेलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज खंड १ पृष्ठ ११२।

२ जयदेव भावना संधि प्रकरण पद्य १२ अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २१४ पर उद्धृत

३ सरहपा, चर्यापद ३२ हि० का० धा०, पृष्ठ १८ पर उद्धृत।

४ 'सप्पयाओ कडवकान्ते ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा। सा त्रेधा षट्पदी चतुष्पदी, द्विपदी च॥' हेमचन्द्र छन्दोऽनुशासन षष्ठाध्याय के आरम्भ में 'अपभ्रंश पाठावली' पृष्ठ ९ की पादटिप्पणी में उद्धृत।

छप्पय कुंडलिया आदि छंदों का। दोहे के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उस काल में दोहे का रूप स्थिर न था। १४+१२ १३+१२ १३+११ मात्राओं के दोहों का भी प्रचलन था। जब चौदहवीं शती में "प्राकृत पैंगलम्" में १३+११ के क्रम को मान्य ठहराया गया तब शेष रूप क्रमशः त्यक्त एवं विस्मृत हो गए।[1] अपभ्रंश-कवियों ने मात्रिक छन्दों के प्रयोग में पर्याप्त स्वतन्त्रता से काम लिया है। उन्होंने चतुष्पदी छन्दों को कहीं द्विपदी के रूप में तो कहीं अष्टपदी के रूप में भी प्रयुक्त किया है।[2] कहीं-कहीं पर चरणों के अन्त में ए, उ आदि एकाध निरर्थक अक्षर का प्रयोग भावाभिव्यक्ति में सहायता या पादपूर्ति के लिए भी कर लिया गया है। जैसे—

घरि पुलित्तहिं करिए सकइ को दुक्ख ए।
बुड्ढ कालहि पुत्त ललिहि निय हत्थ ए।।[3]

"घर में आग लगने पर कौन क्या कोर सकता है। बुढ़ापे में फिर अपने हाथ मलोगे।"

शैली

अपभ्रंश के गीतिकाव्य में मुख्य रूप से निम्नलिखित शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं—

(क) तथ्यनिरूपक शैली
(ख) उपदेशात्मक शैली
(ग) कथात्मक शैली
(घ) अन्यापदेशात्मक (अन्योक्ति) शैली
(ङ) रूपक काव्य शैली
(च) चर्चरी शैली
(छ) कड़वक शैली
(ज) शब्दावर्तक शैली
(झ) व्यंग्यात्मक शैली
(ञ) कविनामनिर्देश शैली

कविनाम-निर्देश शैली में कवि अपना नाम का निर्देश 'भूषण भनत' 'कह गिरधर कविराय' आदि के समान करता है। उक्त शैलियों में से अनेक के स्वरूप का स्पष्टीकरण संस्कृत-गीति-काव्य की समीक्षा के प्रसंग में किया जा चुका है। कड़वक शैली में कुछ षोडश-मात्रिक छन्दों के पश्चात् घत्ता का प्रयोग 'रामचरित मानस' की

---

१ डॉ० धर्मवीर, सिद्ध साहित्य पृष्ठ २१७-१८।
२ हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य पृष्ठ ४०६।
३ जयदेव मुनि भावना संधि प्रकरण अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ २११।

दोहा-चौपाई शैली के समान किया जाता है। कथात्मक शैली कड़वक शैली तथा कविनाम निर्देश शैली के बिना प्रायः सभी शैलियाँ संस्कृत में प्रयुक्त हो चुकी थीं। संस्कृत की आत्माभिव्यंजक प्रश्नोत्तर संख्यात्मक, व्याख्यात्मक तथा नैतिक उपमानों की शैली का अपभ्रंश के नीतिकाव्य में प्रभाव-सा दिखाई देता है। उपर्युक्त शैलियों में से अधिकतर के उदाहरण ऊपर प्रसंगवश आ ही चुके हैं कुछ के निम्नस्थ उद्धरणों में देखे जा सकते हैं—

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु ॥[1]

(अन्यापदेशात्मक शैली)

हे भँवरे, जब तक घने पत्तों तथा घनी छाया से युक्त कदम्ब का वृक्ष पुष्पित नहीं होता तब तक कुछ दिन इस नीम के वृक्ष पर ही विश्राम करो।

सोहइ कमलहु सुरयणु-आयए। सोहइ सुर-वइ सच्चए वायए।
सोहइ कइ-यणु कइए सुबद्धए। सोहइ साहणु विज्जए सिद्धए ॥[2]

(पुष्पदन्त शब्दावर्तक शैली)

कमलवर इन्द्रधनुष से सुशोभित होता है श्रेष्ठ मनुष्य सत्यवाणी से सुशोभित होता है कवि-जन सु-रचित कथा से सुशोभित होते हैं और साधक विद्या सिद्ध होने पर शोभा देता है।[2]

सुप्पइ भणइ मा परिहरहु पर उवयार (यार) चरत्थु ।
ससि सूर दुहु अंथवणि अण्णहं कवण थिरत्थु ॥[3]

(सुप्रभाचार्य कविनाम-निर्देश शैली)

'सुप्रभ कहते हैं कि परोपकार-मय आचरण का परित्याग मत करो। जब चन्द्र और सूर्य भी स्थिर नहीं हैं तो यहाँ अन्य कौन स्थिर रह सकता है।'

सरहपा,[4] सुप्रभाचार्य आदि ने इस शैली का अनेकश प्रयोग किया है।

अलंकार

अपभ्रंश-नीतिकाव्य के अलंकारों के विषय में संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि स्वयम्भू पुष्पदन्त आदि महाकवियों के प्रबन्ध-काव्यों के नीतिविषयक पद्यों में इनका प्रयोग अत्यन्त सुरुचिपूर्वक हुआ है। सिद्धों तथा जैन आचार्यों के जिन काव्यों की रचना धार्मिक और नैतिक उपदेशों के लिए ही हुई है उनमें इनका प्रयोग उतना

---

१ हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ८।४।३८७।
२ पुष्पदन्त आदिपुराण (पृ० ४०७) हि० का० धा० पृ० ११२ पर उद्धृत।
३ सुप्रभाचार्य, वैराग्यसार पद्य ३ अपभ्रंश साहित्य पृ० २७६ पर उद्धृत।
४ सरहपा, चर्यापद १२ १८ १६, हि० का० धा० पृ० १८।

प्रभावशाली नहीं दिखाई देता। इसकी अपेक्षा ऐहिक स्फुट पद्यों में आलंकारिक चमत्कार कुछ अधिक प्रतीत होता है। अपभ्रंश-गीतिकाव्यों में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों पर अधिक बल दिया गया है जिसका कारण संभवतः यह है कि कवियों का ध्यान पाठकों के हृदय पर गीति के आशय को अंकित करना था पाठकों को नाद-सौन्दर्य से प्रभावित करना नहीं। फिर भी अपभ्रंश गीतिकाव्य में तीनों प्रकार के भाषाभूषण लक्षित होते हैं—

(क) शब्दालंकार

पुष्पदन्त मानव-शरीर की क्षणभंगुरता, मलिनता, दुर्गन्धता और निर्बलता के सम्बन्ध में कहते हैं—

माणुस-सरीरु दुह-पोट्टलउ। धोवेउ धोवेउ अइ विट्टलउ।
वासिउ-वासिउ णउ सुरहि मलु। पोसिउ-पोसिउ णउ धरइ बलु॥[1] (वीप्सा)

भाग्य और पुण्य-कर्मफल के सम्बन्ध में पुष्पदन्त का कथन है—

सिरिकाम सिरिधाम सिरिभाम सिरिणाम। एंतय सिरिपाल चंडाल ते बाल।
ते झीण कंकाल मंजधि खीवाल। बाहाल ते बोल ते सीह-सद्दूल॥[2]
(छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास)

(ख) अर्थालंकार

अग्नि और लोहे के उदाहरण द्वारा योगीन्दु कुसंगति-जन्य विनाश को यों बताते हैं—

भल्लाहं वि णासंति गुण जहं संसग्गु खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ तें पिट्टियइ घणेहिं॥[3] (अर्थान्तरन्यास)

मुनि जिनदत्त सूरि के मत से सुगुरु और कुगुरु में बाह्य साम्य होते हुए भी वही भेद है जो गौ और आक के दूध में—

दुद्धु होइ गो-अक्किहिं धवलउ
पर पेज्जंतहं अंतरु बहलउ।
एक्कु सरीरि सुक्खु संपाडइ,
अवरु पियउ पुणु मंसु वि साडइ॥[4] (यथासंख्य)

---

१ पुष्पदन्त (पुप्फयन्त), जसहरचरिउ हि० का० धा० पृ० २१४।
२ पुष्पदन्त जसहरचरिउ, हि० का० धा०, पृ० २१६।
३ योगीन्दु परमात्मप्रकाश पद्य २०५, अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका पृ० १०३ पर उद्धृत।
४ जिनदत्त सूरि कालस्वरूप कुलकम्, पद्य १० अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ७१।

प्रत्येक असमर्थ से माँगना उचित नहीं होता, इस नीति की व्यंजना किसी अज्ञात कवि ने चातक व समुद्र के दृष्टान्त से इस प्रकार की है—

बप्पीहा कइँ बोल्लिअएण निग्घिण वार इ वार।
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार॥[1]

(अप्रस्तुत-प्रशंसा)

(ग) उभयालंकार

भवसागर में मनुष्य की एकाकिता का उल्लेख स्वयम्भू ने इन शब्दों में किया है—

एक्कल्लु भमेव्वउ भवसमुद्दे। कोवि ण कोइ सयण-जणे।
एक्कहो जे दुक्खु एक्कहो जे सुक्खु एक्कहो जे बन्धु एक्कहो जे मोक्खु॥[2]

(लाटानुप्रास, यमक रूपक की संसृष्टि)

जिस अन्त्यानुप्रास या तुक का संस्कृत तथा प्राकृत के साहित्य में प्रायः अभाव था उसका प्रायः प्रत्येक पद्य में प्रयोग इन अपभ्रंश-कवियों ने किया। इसके कारण जो नाद-सौन्दर्य भारतीय भाषाओं में आया उसका श्रेय अपभ्रंश-कवियों को ही है।

नीतिकाव्य परम्परा का निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी भाषा के उद्भव तथा विकास के पूर्व वैदिक, संस्कृत पालि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में पर्याप्त और व्यापक नीतिकाव्य का सृजन हो चुका था। यद्यपि संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश में थोड़ी-बहुत साहित्य रचना बाद की शताब्दियों में भी होती रही तथापि यह स्वीकृत करना ही पड़ता है कि उनके यौवन के दिन समाप्त हो चुके थे और वे हिन्दी के आरम्भ के बाद ह्रासोन्मुख हो गई थीं।

वैदिक नीतिकाव्य

पर कुछ शताब्दियों में उक्त भाषाओं में जो नीतिकाव्य रचा गया उसका स्वरूप सर्वत्र समान नहीं है। वैदिक संहिताओं के नीति-विषयक मंत्रों में पर्याप्त ऐहिकता है। उनमें दीर्घ जीवन स्वस्थ शरीर तथा सांसारिक सुखों की उत्कट अभिलाषा व्यक्त होती है और पारिवारिक जनों तथा सामाजिक सज्जनों से प्रेम-पूर्वक निर्वाह करने की पुनीत प्रेरणा मिलती है। न संसार मिथ्या है, न सम्बन्धी स्वार्थी हैं, न धन-सम्पदा हेय है। मित्र काम्य हैं, तटस्थ उपेक्ष्य हैं, शत्रु ताड्य हैं। ज्ञान उपयोगी

१ हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण, ८।४।३८३।

२ स्वयम्भू, रामायण, ५४।७ हि० का० धा० पृ० ११० पर उद्धृत।

है इसलिए प्रशंसनीय और ग्राह्य है, अविद्या अन्धकार है इसलिए अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना श्रेय है। सत्य, मैत्री, वदान्यता, प्रेम, दान आदि प्रशंसनीय गुण हैं, जिन्हें ग्रहण करने की अनेकश शिक्षा दी गई है। ईश्वर और परलोक को भी विस्मृत नहीं किया गया है परन्तु इस जीवन को काम्य कहा गया है, उपेक्ष्य नहीं।

प्रतीत होता है यह ऐहिक दृष्टिकोण चिरकाल तक बना नहीं रहा। भारत की उर्वरा वसुन्धरा ने आर्यों की सुखाभिलाषाओं को शीघ्र ही पूर्ण कर दिया। ऐहिक भोगों की यहाँ कमी न थी कि ध्यान उन्हीं की ओर लगा रहता। परिणाम यह हुआ कि विचारशील महात्मा लोग परमात्मा, आत्मा मन, सृष्टि आदि के स्वरूप और कार्यों के चिन्तन में मग्न हो गए। यमराज ने नचिकेता से वर माँगने को कहा तो उसने भोग्य पदार्थ नहीं माँगे, प्रेत्य भाव या पुनर्जन्म का स्वरूप समझने की कामना की।[1] जब इस शरीर की आशा थोड़ी है और आत्मा की अनन्त तब ऋषियों ने यही निश्चय किया कि इस शरीर और इस जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। वास्तविक जीवन तो वही है, जो निधन के अनन्तर उपलब्ध होगा। अपरा विद्याओं की अपेक्षा परा विद्या जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, श्रेष्ठ मानी जाने लगी।[2] दान, तप, दया, दमन आदि गुणों पर विशेष बल दिया गया। जन्म देने के कारण माता-पिता विद्या देने के कारण आचार्य और उपदेश देने के कारण संचरणशील अतिथि तो देवता कहलाए, परन्तु वहिन-भाइयों तथा अन्य सम्बन्धी-पड़ोसियों के विषय में विशेष निर्देश अनावश्यक ही माने गए। जब ब्रह्म ही एक वास्तविक सत्ता है अन्य कुछ है ही नहीं जो है वह आभास-मात्र है, तब न लौकिक उपदेशों की आवश्यकता रहती है न अब काव्य। इसलिए परवर्ती वैदिक काल की नीति परमार्थ की साधन-रूप है, शुद्ध ऐहिक नहीं।

संस्कृत नीतिकाव्य

अधिकतर संस्कृत-नीतिकाव्य की रचना तब हुई जब बौद्ध व जैनधर्म के वैराग्य-प्रधान विचारों का प्रचार हो चुका था। संहिताओं के विचार भी ब्राह्मण धर्म के प्रचार के कारण चले आ रहे थे। अतएव दोनों विचार-धाराओं के मिश्रण के फलस्वरूप संस्कृत-नीतिकाव्य में कहीं तो शरीर की क्षण भंगुरता निन्दा आदि का उल्लेख है, तो कहीं स्त्री और सम्पत्ति को न्योछावर करके भी उसकी रक्षा का। इस साहित्य में विद्योपार्जन की प्रचुर प्रशंसा है और मूर्खों की निन्दा। गार्हस्थ्य-जीवन सिद्धान्ततः धन्य है यद्यपि सन्तान के आधिक्य व धन के अभाव के कारण कहीं-कहीं उसकी निन्दा भी की गई है। स्त्री का सम्मान पूर्ववत् नहीं रहा। कई नातियाँ नीच

1 कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय प्रथम वल्ली।
2 मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुंडक, प्रथम खंड।

मानी गई है। धन की अधिकतर प्रशंसा ही दिखाई देती है। इतर प्राणी पहले से प्रियतर हो गए हैं। पुरुषार्थ के महत्त्व का पर्याप्त बखान है परन्तु पूर्व जन्म के कर्मों तथा दैव के प्राबल्य को भी स्वीकृत किया गया है। सम्भवतः परवर्ती जीवन की आर्थिक कठिनाइयों के कारण क्षुधा और उदरदरी की दुष्पूरता का भी पर्याप्त उल्लेख है। संसार संहिता-काल के समान काम्य नहीं रहा दुस्तर सागर बन गया है जिसे भक्ति तप त्याग संयम से ही पार किया जा सकता है।

पालि, प्राकृत व अपभ्रंश का नीतिकाव्य

पालि की रचनाएँ बौद्धों द्वारा और प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाएं प्रायः जैन मुनियों और सिद्धों द्वारा की गई हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म किसी सृष्टि-कर्ता ईश्वर में विश्वास नहीं रखते परन्तु परलोक, मोक्ष आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यधिक उद्योगशील दिखाई देते हैं। दोनों ही धर्म वैराग्य प्रधान हैं। इनमें दुर्गन्धमय मलिन अस्थिचर्ममय होने के कारण शरीर की प्रायः निन्दा की गई है परन्तु कहीं-कहीं मोक्ष प्राप्ति का साधन होने के कारण प्रशंसा भी। धर्म-ग्रंथों के स्वाध्याय के उपदेश तो मिलते हैं परन्तु अधिक पठन-पाठन आध्यात्मिक मार्ग में बाधक होने के कारण अपेक्ष्य ही ठहराया गया है। माता-पिता आदि की सेवा को तो कर्त्तव्य कहा गया है परन्तु सिद्धान्त रूप से गार्हस्थ्य बंधन रूप है। पालि में जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था का तो खंडन है परन्तु परवर्ती जैन काव्यों में जाति-पाँति, ब्राह्मण-धर्म के प्रबल प्रभाव के कारण पुनः आ जुटी। स्त्रियों की निन्दा इन साहित्यों का प्रिय विषय रहा है।

धन बंधन-रूप है और अहिंसा परम धर्म है। त्याग शम क्षमा दया, परोपकार सत्य अस्तेय आदि का महत्त्व बहुत वर्णित है परन्तु मान शौर्य पराक्रम आदि की उपेक्षा है। दृष्टि आदर्श व्यवहार पर अधिक लगी दिखाई देती है यथायोग्य व्यवहार पर नहीं। संसार झूठा है मायामय है निर्वाण और स्वर्ग काम्य सत्य हैं। पुरुषार्थ की अपेक्षा दैव पर बल अधिक प्रतीत होता है। कहीं-कहीं पर कभी कुछ व्यावहारिक बातें भी आ जाती हैं जैसे पर-पीड़ा-जनक सत्यभाषण न करना चाहिए, धर्मार्थ किये गए युद्धों में की गई हिंसा पाप नहीं होती धन बिना सम्मान नहीं मिलता इत्यादि।

सिद्धों की रचनाएँ तथा ऐहिक अपभ्रंश-काव्य उक्त कथन के अपवाद माने जा सकते हैं। सिद्धों ने न शरीर की निंदा की न गार्हस्थ्य की, न संसार की। धर्म को वर्जित करते हुए उन्होंने सांसारिक सुख सहजभाव से भोगने और सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा की। उन्होंने तन्त्र-मन्त्र जादू-टोना, तीर्थ-स्नान व्रत मुंडन मंत्रदेवता केशलुंचन भिक्षा-वेश पोथी-पत्रा जात-पात आदि का प्रबल खंडन किया। अपभ्रंश का ऐहिक काव्य भाषा में अत्यल्प होता हुआ भी नीति शृंगार और वीरता के भावों से ओत प्रोत है।

कलापक्ष की दृष्टि से भी प्राचीन भारतीय नीतिकाव्य महत्त्वशून्य नहीं है। यह नीरस पद्यमयी रचना नहीं है जिसे कवियों ने शिक्षामात्र देने के उद्देश्य से छन्दोबद्ध कर दिया हो। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं अनेक विद्वानों ने इसे यथाशक्ति सरस और भावपूर्ण बनाने का उद्योग किया है। कहीं किसी विशिष्ट शैली से कहीं शब्द-चमत्कार से कहीं अर्थ-चमत्कार से और कहीं दोनों चमत्कारों के सम्मिश्रण से, उन्होंने इसे हृदयहारी बनाने की भरसक चेष्टा की है। जो रचनाएँ अन्योक्ति-शैली में की गई हैं वे विशेष मनोहर हैं। यही कारण है कि नीति की शत-सहस्रों सूक्तियाँ जनता के हृदयपटल पर अंकित होती पाई हैं। यह होते हुए भी मानना पड़ता है कि अधिकतर नीतिकाव्य राग-तत्त्व तथा कल्पना तत्त्व की कमी और शाब्दिक या आर्थिक चमत्कार के अभाव के कारण अवरकोटि के काव्य में ही परिगणनीय है।

एक दृष्टि से भारत का उपयुक्त नीतिकाव्य प्रशंसनीय है क्योंकि उसमें मानव को काम क्रोध लोभ मोह अहंकार हिंसा अनृत स्तेय कामुकता परिग्रह आदि दोषों से बचाकर संयम शान्ति सन्तोष विवेक नम्रता श्रम सत्य ब्रह्मचर्य आदि का पाठ पढ़ाया है। सत्य संयम त्याग दमन दान, परोपकार आदि ऐसे सद्गुण हैं जो मनुष्य को देवता बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। यदि इन गुणों का सार्वभौम प्रचार हो जाए तो संसार निस्सन्देह देवलोक बन जाए। परन्तु अति तो सबकी वर्जित होती है। इन गुणों का यहाँ इतना अधिक प्रचार हुआ कि लोग मनुष्यता को भूल देवता बन बैठे। वैरागियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। गृहस्थ लोग भी बाहर से गृहस्थ होते हुए अन्दर से विरक्त हो गए। प्रत्येक व्यक्ति शरीर को तुच्छ, जीवन को निस्सार संसार को मायामय मान बैठा। जीवन के प्रति वह उत्साह, वह उमंग वह ललक न रही जो जीवन को सुखमय बनाती। शरीर धरती पर रहने लगा मन आकाश पर। वीरता पराक्रम, पुरुषार्थ आदि की कमी हो गई। सन्तोष दया क्षमा भाग्यवाद आदि प्रधान बन बैठे। मनुष्य मनुष्य न रहकर देवता बन बैठे। परन्तु यह पृथिवी मर्त्यलोक है, देवलोक नहीं है। यहाँ पर सुख-सम्मानपूर्वक निवास के लिए देवोचित गुणों की ही आवश्यकता नहीं मानवोचित गुणों की भी है। सांसारिक जीवन की सफलता के लिए जीवन को सच्चा संसार को काम्य सम्बन्धों को वास्तविक जीवन को उपभोग्य मानना आवश्यक है। परन्तु हमारा अधिकांश नीतिकाव्य इन भावनाओं से शून्य है। वह व्यक्ति को सांसारिक जीवन में उतना सफल नहीं बना सकता जितना कि उसे आन्तरिक शान्ति दे सकता है और मोक्ष के पथ पर चला सकता है।

(२)
शोध-खण्ड

आदिकाल का नीति-काव्य (सं० १०५०-१३७५ वि०)

संवत् १०५० से १३७५ वि० तक का समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आदि-काल माना जाता है। यह वह काल था जिसमें आक्रान्ता मुसलमान तो भारत पर अपना शासन जमाने का उद्योग करते रहे और भारत के हिन्दू उन्हें देश से बहिष्कृत करने का। कभी एक विजयी होता तो कभी दूसरा। चूंकि राजपूत नरेश क्षत्रियों की फूट और पारस्परिक विग्रहों के कारण पर्याप्त निःशक्त हो चुके थे अतः अन्ततः विजय मुसलमानों की हुई और यह विशाल देश उनके अधिकार में चला गया। युद्ध-विग्रहों के इस काल में नीति की एक भी स्वतन्त्र रचना दिखाई नहीं देती। जो भी नीति-काव्य उपलब्ध होता है वह अन्य-विषयक काव्यों में प्रकीर्ण रूप से ही समाविष्ट है। ऐसे अन्य-विषयक ग्रन्थ चार वर्गों में विभाज्य हैं—अपभ्रंश काव्य, नाथ काव्य, वीरकाव्य और खुसरो के काव्य।

इस वर्ग चतुष्टय में से अपभ्रंशान्तर्वर्ती नीतिकाव्य का परिचय गत अध्याय में दिया जा चुका है। वीरकाव्यों की रचना चन्द बरदाई जगनिक आदि आदिकालीन कवियों ने ही नहीं की केशवदास भूषण गोरेलाल जोधराज पद्माकर सूदन आदि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन कवियों ने भी की। चूंकि प्रवृत्ति की दृष्टि से ये सभी कवि एकवर्गीय हैं, इसलिए हमने इनकी वीरतामयी रचनाओं का विवेचन एक पृथक् ही अध्याय में करना उचित समझा है। नाथों और खुसरो के काव्यों के नीति-तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

(क) नाथकाव्य में नीतितत्त्व

चौरासी सिद्धों के समान नाथों की संख्या भी चौरासी गिनाने का यत्न किया जाता है परन्तु वस्तुतः वे ७४ या ७८ से अधिक नहीं हैं। उनमें से मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ एक महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने नाथ-सम्प्रदाय को संगठित किया था। अभी तक नाथ-सम्प्रदाय का थोड़ा ही साहित्य प्रकाशित हुआ है। गुरु गोरखनाथ के नाम से संस्कृत की दो दर्जन से अधिक तथा हिन्दी की चालीस कृतियाँ मिली हैं। यद्यपि इनकी प्रामाणिकता के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है[1] तो भी डा०

---

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य पृ० ३४

प्रथम अध्याय

आदिकाल का नीति-काव्य (सं० १०५०-१३७५ वि०)

संवत् १०५० से १३७५ वि० तक का समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आदि-काल माना जाता है। यह वह काल था जिसमें आक्रान्ता मुसलमान तो भारत पर अपना शासन जमाने का उद्योग करते रहे और भारत के हिन्दू उन्हें देश से बहिष्कृत करने का। कभी एक विजयी होता तो कभी दूसरा। चूंकि राजपूत नरेश [illegible] की फूट और पारस्परिक विग्रहों के कारण पर्याप्त निःशक्त हो चुके थे अतः अन्ततः विजय मुसलमानों की हुई और यह विशाल देश उनके अधिकार में चला गया। युद्ध-विग्रहों के इस काल में नीति की एक भी स्वतन्त्र रचना दिखाई नहीं देती। जो भी नीति-काव्य उपलब्ध होता है, वह अन्य-विषयक काव्यों में प्रकीर्ण रूप से ही समाविष्ट है। ऐसे अन्य-विषयक ग्रन्थ चार वर्गों में विभाज्य हैं—अपभ्रंश काव्य, नाथ काव्य, वीरकाव्य और खुसरो के काव्य।

इस वर्ग-चतुष्टय में से अपभ्रंशान्तर्वर्ती नीतिकाव्य का परिचय गत अध्याय में दिया जा चुका है। वीरकाव्यों की रचना चंद बरदाई जगनिक आदि आदिकालीन कवियों ने ही नहीं की केशवदास, भूषण गोरेलाल जोधराज पद्माकर सूदन आदि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन कवियों ने भी की। चूंकि प्रवृत्ति की दृष्टि से ये सभी कवि एकवर्गीय हैं इसलिए हमने इनकी वीरतामयी रचनाओं का विवेचन एक पृथक ही अध्याय में करना उचित समझा है। नाथों और खुसरो के काव्यों के नीति-तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

(क) नाथकाव्य में नीतितत्त्व

चौरासी सिद्धों के समान नाथों की संख्या भी चौरासी निश्चित करने का यत्न किया जाता है परन्तु वस्तुतः ये ७४ या ७८ से अधिक नहीं हैं। इनमें से मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ एक महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने नाथ-सम्प्रदाय को संगठित किया था। अभी तक नाथ-सम्प्रदाय का थोड़ा ही साहित्य प्रकाशित हुआ है। गुरु गोरखनाथ के नाम से संस्कृत की दो दर्जन से अधिक तथा हिन्दी की चालीस कृतियाँ मिली हैं। यद्यपि इनकी प्रामाणिकता के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है[1] तथापि डा०

१ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य, पृ० ३४

बड़थ्वाल ने चौदह ग्रन्थों[1] को विश्वसनीय मानकर गोरखबाणी[2] में प्रमुख स्थान दिया है। शेष अनेक पुस्तकों को परिशिष्टों में स्थान दिया गया है।

गोरखनाथ के हिन्दी-ग्रन्थों के अवलोकन से यह बात तुरन्त स्पष्ट हो जाती है कि ये साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं जो शिष्यों को योगमार्ग की शिक्षा देने के लिए रचे गये हैं। यही कारण है कि इनमें से अनेक ग्रन्थों की पुष्पिका में पुस्तक के नाम के अनन्तर 'जोग ग्रन्थ शास्त्र सम्पूरण समाप्त' आदि शब्द दिखाई देते हैं।[3] यौगिक क्रियाओं तथा अनुभवों की प्रचुरता होते हुए भी गोरखनाथ की हिंदी-कृतियों में नीति की अनेक लोकोपयोगी उत्तमोत्तम बातें प्रसंग-वश आ गई हैं जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

वैयक्तिक नीति—जिस प्रकार प्राचीन जैन कवियों ने रज-वीर्य से उत्पन्न होने तथा मल-मूत्रादि दूषित वस्तुओं का समुदाय होने के कारण शरीर को अमेध्य माना था उसी प्रकार नाथ-संप्रदाय में भी उसे अपवित्र और नाथ-पद की प्राप्ति में व्यवधान रूप माना गया है। जैसे—

मन मुखि जाता गुर मुखि लेहु। लोही मास अगनि मुख देहु।
मात पिता की मेटो बात। ऐसो होइ बुलावै नाथ।[4]

'मन की ओर जाती हुई (बहिर्मुखी) वृत्ति को गुरु की ओर (अन्तर्मुख) करो। रक्त-मांस की काया को ब्रह्माग्नि में भस्म करो। माता-पिता की बात को मिटा डालो अर्थात् मोह को बुद्धि में न लाओ। ऐसे व्यक्ति को परब्रह्म स्वयं बुलाते हैं।"

परन्तु आत्म-कल्याण तब तक असम्भव है जब तक मनुष्य मिताहारी नहीं होता। अधिक भोजन से उत्पन्न इन्द्रियों की प्रबलता ज्ञान का नाश मैथुन की इच्छा निद्रा की अधिकता क्षीण आयु आदि दोषों का उल्लेख इस पद्य में द्रष्टव्य है—

अति अहार यंद्री बल करै नासै ग्यांन मैथुन चित धरै।
व्यापै न्यंद्रा झंपै काल ताके हिरदै सदा जंजाल।[5]

रसना-लौल्य के कारण जहाँ मनुष्य उक्त दोषों का भाजन बनता है वहाँ वाचालता पर-निंदा मिथ्याभाषण आदि द्वारा समाज में निन्द्य हो जाता है। ऐसे संय-मी व्यक्ति को गोरखनाथ साक्षात् ब्रह्मा और जितेन्द्रिय व्यक्ति को उत्तम सत्पुरुष कहते हैं—

---

१ ये चौदह ग्रन्थ ये हैं—सबदी, पद, शिष्यादरसन, प्राणसंकली, नरवै बोध, आतमबोध (१), अभैमात्रा जोग, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछींद्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यान-तिलक, ग्यान चौंतीसा, पंचमात्रा।

२ गोरखबानी प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन २००३ वि०।

३ 'गोरखबानी' पृष्ठ १६१, १६८ इ०।

४ वही पृष्ठ ६१, पद १८०।

५ वही, पृष्ठ १४, पद ३१।

यहो का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा । गोरष कहै ते परतषि चूहड़ा ।
काछ का जती मुष का सती । सो सतपुरुष उतमो कथी ॥[1]

इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता के ही कारण लोग मांस मदिरा भांग आदि मादक द्रव्यों का सेवन किया करते हैं । इन द्रव्यों के दोष दिखाते हुए गोरखनाथ उनके सेवन का इस प्रकार निषेध करते हैं—

अवधू मांस भषत दया धरम का नास । मद पीवत तहाँ प्राण निरास ।
भांगि भषंत ग्यान ध्यान षोवंत । जम दरबारी ते प्राणी रोवंत ॥[2]

इस साहित्य में मन की पवित्रता तथा दृढ़ता और काम क्रोधादि के दमन पर विशेष बल दिया गया है । यदि चित्त दृढ़ हो तो फिर व्यवहार में चाहे जितना हँसो-खेलो कोई हानि नहीं—

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग । काम क्रोध न करिबा संग ।
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत । दिढ़ करि राषि आपनां चीत ॥[3]

पवित्र और दृढ़ मन पर जितना बल दिया गया है उतनी ही बौद्धिक विकास की उपेक्षा दिखाई देती है । कारण यह कि मुमुक्षुओं के लिए पुस्तकी ज्ञान व्यर्थ होता है—

पढ़ि पढ़ि पढ़ि केता मुवा कथि कथि कथि कहा कीन्ह ।
बढ़ि बढ़ि बढ़ि बहु घट गया पारब्रह्म नहीं चीन्ह ॥[4]

नाथों की दृष्टि में तो विद्वत्ता की अपेक्षा धैर्य शान्ति शील नम्रता आदि गुण अधिक आवश्यक हैं जो सज्जनों के लक्षण होते हैं—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा, धीरे धरिबा पांव ।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा, भणत गोरष रांव ॥[5]

कई लोग बातचीत से तो अत्यन्त सज्जन प्रतीत होते हैं परन्तु उनकी रहन सहन कथन के विपरीत होती है । इस दो-रंगी चाल का निषेध गोरखनाथ ने इस प्रकार किया है—

कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी ।
पढ़्या गुण्या सूवा बिलाई खाया पण्डित के हाथ रह गई पोथी ॥[6]

पारिवारिक नीति—स्त्री-संग का सर्वथा परित्याग ही नाथ-नीति का आदर्श

---

१ 'गोरखबानी', पृष्ठ ५२ पद १५९
२ " , पृष्ठ ५६ " १६५
३ " , पृष्ठ ३, " ७
४ " , पृष्ठ ७० " २४८
५ " पृष्ठ ११ २७
६ पृष्ठ ४२ ११९

था। वे तो उसके साथ पानी पीना तक हेय समझते थे और मैथुन को मृत्यु का मार्ग—

कामणि भागी सोइबा जम का मोचरा सबै न पीवला पाणी।
इमतो अजरावर होइ अभिअम्बर, बोल्यौ गोरख बाणी॥[1]

गृहस्थी को सर्वथा बाहे और स्त्री को बाघिन इस कारण कहा गया है कि उससे मति भ्रमण हो जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है, बाल बगुले के पंख-से बन जाते तथा मनुष्य निर्वीर्य और निकम्मा हो जाता है—

गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला सिर बगुला की पंखियाँ।
अमी महारस बाघणीं सोख्या, घोर मथन जैसी अखियाँ॥[2]

इस विषय में 'यति' को भी प्रशस्त मानते हुए गोरखनाथ शेष बातों में मध्यम मार्ग को ही सुनीति बताते हैं—

खायें भी मरिये, अणखायें भी मरिये। गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये।
मधि निरन्तर कीजै बास। निहचल मनुवा थिर होइ सास॥[3]

नाथ-साहित्य में पारिवारिक नीति न होने के तुल्य ही है। जहाँ नारी को बाघिन कहा गया और उसके संसर्ग को दूषण वहाँ गृहस्थों को मित्र और ज्ञान का मथान ही माना जा सकता है—

चिरही को ध्यान कामनी को, ध्यान। जुवा को काम वेश्या को नाम।
बरतो घर माया ज्यूं हाथ या चौरां को एको साथ॥[4]

सामाजिक नीति—जब तक गुरु न मिले तब तक ज्ञान नहीं होता और जब तक ज्ञान न हो तब तक अन्य उपाय करने पर भी, सद्गति नहीं होती। इस तथ्य को गोरखनाथ रूपकातिशयोक्ति द्वारा यों स्पष्ट करते हैं—

गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला,
गुरु बिन ग्यांन न पायला रे भाईला।
दूधे धोया कोइला उजला न होइला
कागा कंठै पहुप माल हंसला न भैला॥[5]

निगुरा व्यक्ति चातुर्य अर्थात् कृत्रिम व्यवहार भले ही जान जाए परन्तु सुनीति का ज्ञान और गुणों की प्राप्ति गुरु-कृपा से ही सम्भव है—

साध का सबद सीता का रैप निगुरां कों बाराह, सगुरां कौं उपदेस।
गुर का मुहुगा गुण में रहै, निगुरा भ्रमै औगुण गहै॥[6]

---

१ 'गोरखबानी' पृष्ठ ६९ पद ४
२ " " पृष्ठ ११८ " २
३ " पृष्ठ १ " १४६
४ " पृष्ठ ७८ १६२
५ " पृष्ठ १२८ सबद ६
६ " " " ३१ १४६

गुरु का गुरुत्व ज्ञान के आधिक्य के कारण होता है, वयोवृद्धत्व से नहीं। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् शिष्य स्वेच्छानुसार गुरु के साथ भी रह सकता है या अकेला भी।[1] शिष्य को ज्ञान उसकी योग्यता के अनुसार ही देना उचित है, क्योंकि अधिक वस्तु भरने से पात्र के फूटने का भय रहता है—

आपि भरे तो बासण फूटै आरै रहै तो सीजै।
बलत अलोरी बासण बोपा, कहो गुर क्या कीजै ॥[2]

समाज में मूर्ख भी होते हैं और पण्डित भी। गोरखनाथ जहाँ मूर्खों की सभा में बैठना उचित नहीं समझते वहाँ पण्डितों से विवाद करना भी।[3] विकलांग व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा की जो भावना आज के समाज में भी कुछ-न-कुछ विद्यमान है, वह गोरखनाथ के 'सबदों' में भी उपलब्ध होती है—

हसि हसि बोलै गोरख राणा।
तीनि बरले का संग निवारी]नकटा बूचा काणा ॥[4]

इसके अतिरिक्त सांड कबाड़ी विश्वचित सभा आतुर नारी निरक्षर ब्राह्मण और गृहस्थ योगी की संगति भी त्याज्य कही गई है।[5]

तत्कालीन समाज में धर्म के तत्त्व पर लोगों की उतनी श्रद्धा नहीं थी जितनी बाह्य आडम्बरों पर। हिन्दू मूर्ति-पूजा तीर्थयात्रा आदि को मुसलमान नमाज बांग आदि को जैन उपवास केशलुंचन आदि को कल्याण का साधन मान रहे थे। गोरखनाथ ने इन सब कार्यों का अनौचित्य निर्भीकता से निदर्शित किया है। पत्र-पुष्प आदि द्वारा प्रतिमापूजन का खंडन इन शब्दों में किया गया है—

पत्रे ब्रह्मा डाली बिसना फूल भये महादेवा।
तीनि देव का छेद किया तुम्हे करहु कौन की सेवा ॥
चौबसियों में पूनमियों जैन सतधारी हुवा।
अरहंत को छिन पार न पायी केस लौंचि-लौंचि मूवा ॥
पैक कुरानम् बोइ कुरानम् ग्यारह पुरसाणी हुवा।
अल्लह, को छिन पार न पायी बंग देइ-देइ मूवा ॥[6]

समाज के विभिन्न वर्गों के लोग अयोग्य होते भी जनता को ठग रहे थे। गोरख ने उनसे सचेत रहने का इस प्रकार उपदेश दिया—

---

१ 'गोरखबानी', पृष्ठ ५५, पद १६१
२ „ ७८ „ २२५
३ „ ४३ १२१
४ „ ७७ २४६
५ „ , ८० २६१
६ „ १६२।१ १६३।५, ६

त्रिया न स्वमिति (सांति?), वैद न रोगी रसायणी और व्याधि जाय।
बूढ़ा न जोगी सूरा न पीठ पावै घाव पातकी न माने श्री गोरखनाथ ॥[1]

अर्थात् जो स्नेह हीन हो वह नारी नहीं जो रोगी हो वह वैद्य नहीं जो सोना बनाना जानता हो वह भिखारी नहीं जो बूढ़ा हो वह योगी नहीं और जिसकी पीठ पर घाव हो वह वीर नहीं। इसी प्रकार मंत्र-मंत्र-तंत्र आदि का और जड़ी बूटियों से अमरत्व प्राप्ति का खंडन किया गया है—

जड़ी बूटी भूले मत कोइ पहली रांड वैद की होइ।
जड़ी बूटी अमर जे करै, तौ वैद धनंतर काहे मरै ॥[2]

इन पाखंड-पूर्ण बातों से दूर रहकर सच्चे सत आचरण की शिक्षा दी गई है। जैसे—

एक सत जो हेरी नहि बूड़ा सत राम गुण कहि।
तीजा सत मिथ्या नहि भाख, चौथा सत दया मनि राखै ॥[3]

धार्मिक नीति—इस क्षेत्र में मन को निग्रह और आशा को त्याज्य कहा गया है तथा विविध रूपधारिणी माया से मुक्त रहने की प्रेरणा की गई है। यथा—

जे आसा तो आपदा, जे संसा तो सोग।
गुर मुखि बिना न भाजसी (गोरष) ये दून्यो बड़ रोग ॥[4]

हत्याप्रतिषेधविषयक नीति—दूसरे प्राणियों को अपना ही सम्बन्धी समझकर उनका वध न करने की सुन्दर शिक्षा भी दी गई है—

जीव सीव संगे बासा, बधि न खाइबा मांस मासा।
हंस घात न करिबा गोतं, कहंत गोरष निहारि पोतं ॥[5]

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति में मृत्यु की आकस्मिकता का उल्लेख कर उससे भीत होने[6] का तथा जीवन इस ढंग से व्यतीत करने का उपदेश दिया गया है जिससे न पुनर्जन्म हो न पुनः स्तन्यपान करना पड़े।[7]

भाषा—नाथों का अधिकतर नीतिकाव्य सीधी-सादी पूर्वी भाषा में लिखा गया है। वस्तुतः इसे भाषा न कहकर पुरबी कहना ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि

---

१ 'गोरखबानी' पृष्ठ ६६, पद १२०
२ " , १०७ आत्मबोध पद १७
३ , २५२ परिशिष्ट २ (घ) २
४ " " ७४ पद २३५
५ " , " ७१ " २२७
६ " " २६ ७४
७ , ८१ " २७५

उसमें बुद्धितत्त्व का प्राधान्य है और भावतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का प्राय अभाव। बात को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया गया है। जैसे—

गर्दे न सोम सुन्दरी सनकादिक के साथि।
जब तन कलक लगाइलो कालो हाँडी हाथि ॥[1]

कहीं-कहीं तो अनुप्रास का प्रयोग हास्यजनक ही प्रतीत होता है। जैसे माया के विभिन्न रूपों के निम्नांकित वर्णन में—

कुम्हरा कै घरि हाँडी आछ, अहीरा कै घर साँडी।
बमना कै घरि रांडी आछ रांडी सांडी हांडी ॥[2]

इसी प्रकार आगामी चरणों में 'तेल, बल खल' और 'होंम स्यंम स्यंम' आदि के अनुप्रास हैं।

छन्द—छन्दों के विषय में इतना ही कथन पर्याप्त है कि प्राय दोहा, चौपाई, चौपई, हरि सार आदि मात्रिक छन्दों का प्रयोग करने का यत्न किया गया है। बहुत थोड़े पद ऐसे होंगे जो मात्रा, गति, यति आदि की दृष्टि से निर्दोष हों। सबदों में प्राय सार छन्द के दो-दो ही चरणों से सन्तोष किया गया है। पदों के ऊपर रामश्री असावरी आदि रागों का उल्लेख हुआ है। मछीन्द्र गोरख बोध' में गोरखनाथ के प्रश्न 'स्वामी' से और मछीन्द्र के उत्तर 'अवधू' सम्बोधन से आरम्भ होते हैं। इन शब्दों को यदि पदों का अंश न माना जाय तो छन्दों की दशा कुछ सुधर जाती है। प्रतीत होता है रचयिता का ध्यान विषय के तुक-युक्त प्रतिपादन-मात्र पर था छन्दों की चारुता की ओर नहीं।

शैली—उपर्युक्त ग्रन्थों में प्राय निम्नलिखित शैलियों का प्रयोग दिखाई देता है—

१ तथ्यनिरूपक शैली
२ उपदेशात्मक शैली
३ प्रश्नात्मक शैली
४ संवाद शैली
५ प्रश्नोत्तर शैली
६ विविधशैली
७ भाव शैली

१ तथ्यनिरूपक शैली में नीति की बात सामान्य रूप से कही जाती है। इसका प्रयोग अन्य शैलियों से अधिक किया गया है। इस शैली के अनेक पद पीछे उद्धृत किये गये हैं।[3]

२ उपदेश शैली में कर्तव्य-विधान करने का साक्षात् निर्देश किया जाता है।

---

१ 'गोरखबानी', पृष्ठ ७७ पद २५०
२ ,, १९६, पद ५२
३ ११२ पृष्ठ पर पाँचवीं पादटिप्पणी द्वारा संकेतित पद देखिए।

इस शैली के कई उदाहरण पीछे देखे जा सकते हैं।[1]

३ संख्याशैली में एक, दो, तीन आदि संख्याओं की सहायता से उपदेश्य बातों का उल्लेख किया जाता है।[2]

४ संवादशैली में दो व्यक्तियों के नामों ('गोरखोवाच', 'मछिन्द्र उवाच') का पद्यों के पूर्व उल्लेख रहता है। 'मछीन्द्र गोरख बोध' रचना इसी शैली की है।

५ प्रश्नोत्तरशैली संवादशैली का ही रूपान्तर है। इसमें लेखक कल्पित प्रश्न-कर्त्ता का स्वयं उत्तर देता है। जैसे—

स्वामी बन खंडि जाऊँ तो खुध्या व्यापै नग्री जाऊँ त माया।
भरि भरि खाऊँ त बिन्दे बियापै क्यों सीझति जल ब्यंद की काया॥
खाये न खाइबा भूखे न मरिबा अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा यूं बोल्या गोरख देवं॥[3]

यहाँ पहले पद्य में वनवास, नगरवास तथा अमिताहार के दोष बताकर शरीर को समस्थावस्था में लाने के सम्बन्ध में प्रश्न किया है और दूसरे में मध्यम मार्ग का रहस्य उत्तर-रूप में बताया गया है।[4]

६ 'पन्द्रह तिथि' शैली में अमावस्या, प्रतिपदा आदि सभी तिथियों का आधार लेकर उपदेश दिये गए हैं। इसी कारण कुल सत्रह पद्यों की पुस्तिका का नाम भी पंद्रह तिथि रख दिया गया है। इस शैली में प्रत्येक पद्य तिथि के नाम से आरम्भ होता है और प्रायः उसके आगे ऐसा शब्द रखा जाता है जो छेकानुप्रास का साधक हो। चतुर्थी को लेकर यों कहा है—

चौथे चंचल निहचल करौ। काल बिकाल [illegible] पचूरौ।
अस-चौरा का मर्दौ मान। सतगुर कहिया सब निरबान॥[5]

स्मरण रहे कि तिथियाँ शुक्ल-पक्ष के क्रम से बढ़ती हैं और पूर्णिमा तक पहुँचती हैं, इसके विपरीत नहीं।

७ 'सप्तवार शैली' में सप्ताह के दिनों का आधार लेकर उपदेश दिये गए हैं। आठ पद्यों की पुस्तिका का नाम भी 'सप्तवार' रखा गया है। क्रम आदित्यवार से शनैश्चर तक चलता है। जैसे—

बृहस्पति वार बिषम मन मरौ। पाँचों इन्द्री निग्रह करौ।
सपतो मैं व व्या नव द्वार। तो गुर पावौ मुकतिदुवार॥[6]

---

१ पाँचवीं पादटिप्पणी द्वारा संकेतित पद्य देखिए
२ पाँचवीं ,, ,, ,,
३ 'गोरखबानी' पृष्ठ १२ पद १० [illegible]
४ ,, ग्यानतिलक पृष्ठ २११ पद २१
५ ,, पन्द्रह तिथि ,, १८१ ५
६ ,, सप्तवार, ,, १८४ ५

इस शैली में प्रायः वार और वर्ण्य विषय के प्रथम अक्षरों को समान रखा गया है।

प्राय: उपर्युक्त सभी शैलियों का प्रयोग प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। विशेष ऋतुओं तथा तिथियों में कृत्य-विशेषों के अनुष्ठान का विधान प्राचीन धर्मग्रंथों में मिलता ही है। सम्भवत: उसी को विकसित कर प्रत्येक तिथि और वार को कुछ-न कुछ शुभ कृत्य करने का आदेश सिद्धों ने दे दिया है। सवादशैली भी पहले से ही प्रच-लित थी परन्तु दो साधकों के प्रश्नोत्तर रूप में सिद्धान्त प्रतिपादन की जिस शैली की प्रधानता नाथ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलती है वह नई ही है।

वाक्संयम मधुर तथा सत्यभाषण मन की शुद्धि तथा दृढ़ता मांसभक्षण-निषेध आदि नैतिक विषय प्राचीन साहित्य में भी विद्यमान थे। विषयों की दृष्टि से नाथ-साहित्य में दो ही बातें विशेष दिखाई देती हैं—ब्रह्मचर्य-आग्रह और हिन्दू मुसलमानों के बाह्याचारों का खण्डन। सम्भवत: तत्कालीन परिस्थितियों ने इन विषयों को नाथ-साहित्य में समाविष्ट कराया। नाथ-मार्ग के प्रचार और हिन्दू-मुसलमानों के कृत्रिम आचार की प्रतिक्रिया ही इन उपदेशों में लक्षित होती है। साधना-मार्ग की दुरूहता ने इस मत के लिए 'गोरखधंधा' शब्द को प्रचलित किया और गार्हस्थ्य के नितान्त बहिष्कार ने इस पंथ को क्षयिष्णु बना दिया। फिर भी इस बात का प्रत्याख्यान असम्भव है कि नाथपंथी नीति ने परवर्ती सन्त-साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। सन्त-साहित्य में चारित्र्य-शुद्धि तथा बाह्याडम्बरहीनता पर जो बल दिया गया है उसका उपक्रम नाथों की नीति में सहज लभ्य है।

(ख) खुसरो के काव्य में नीतितत्त्व

अमीर खुसरो आदि-काल के कवियों में अपनी हास्य-विनोदमयी रचनाओं के कारण एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये अरबी फ़ारसी, तुर्की और हिन्दी भाषाओं के पंडित थे और संस्कृत भी जानते थे। ये फ़ारसी-कवियों के सिरमौर थे।

हिंदी में इनके नाम से जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं न तो वे अपने मूल-रूप में हैं और न सब-की-सब प्राचीन। जो हो निम्नांकित कृतियाँ इनकी कही जाती हैं—बूझ पहेलियाँ बिन-बूझ पहेलियाँ कह मुकरियाँ दो सखुना हिन्दी निस्बतें अर्थात् सबंध दो सखुना फ़ारसी और हिन्दी अनमेलियाँ या ढकोसला ग़ज़ल और फुटकर पद्य।

उक्त पुस्तिकाओं में न नीति प्रधान है और न इनकी रचना उपदेश देने के लिए की गई थी। इनके प्रणयन का उद्देश्य था जन-साधारण का शब्दों की खिलवाड़ द्वारा मनोरंजन। फिर भी इनके कई पद्यों में से कुछ-न-कुछ शिक्षा अनायास निसृत होती हुई प्रतीत होती है और उसी की ओर संकेत हमारा अभिप्रेत है। नेत्रों का सुरक्षा की शिक्षा इस बिन-बूझ पहेली से मिलती है—

द्वितीय अध्याय

वीर-काव्य में नीतितत्त्व

(प्रथमोत्थान सं० १०५०-१३७५, द्वितीयोत्थान सं० १३७५-१९००)

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वीर-काव्यों के दो उत्थान माने जाते हैं। प्रथमोत्थान के चंद बरदाई, जगनिक आदि कवियों ने अपनी रचनाएं आदिकाल में कीं और द्वितीयोत्थान के केशव, पृथ्वीराज भूषण, गोरेलाल, सूदन आदि कवियों ने अपने वीर-काव्य भक्ति-काल तथा रीति-काल में प्रणीत किए। भिन्न-भिन्न विभिन्न परिस्थितियों ने दोनों उत्थानों के कवियों को अपनी रचनाएं प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी इसका विवरण प्रस्तुत अध्याय में ही आगे दिया जायगा। यहाँ इतना स्मरणीय है कि ये कवि राजाश्रित थे और अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम विजय, विवाह, आखेट दान-पुण्यादि के वर्णन द्वारा उनकी यश-कीर्ति को अमर बनाने के लिए ही अपने काव्यों का सर्जन करते थे, नीति के उपदेश देने के लिए नहीं। यही कारण है कि इन रचनाओं में नीति की मात्रा अल्प है। ऐसी स्थिति में भी इन काव्यों का महत्त्व अत्यधिक इस कारण से है कि इनमें वर्णित अधिकतर नीति ऐहिक है, धार्मिक और आमुष्मिक नहीं। अस्तु, किसी भी प्रकार की समीक्षा करने से पूर्व इनके षड्विध नीति-काव्य का परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा।

१ वैयक्तिक-नीति

(क) शारीरिक नीति—पूर्वोक्त जैन और बौद्ध साहित्यों के अनुसार शरीर को इन कवियों ने भी विशेष महत्त्व नहीं दिया परन्तु दोनों के कारण पृथक्-पृथक् हैं। जहाँ पूर्वोक्त कवि लोगों को परमार्थ की ओर प्रवर्तित करने के लिए काया को मल मूत्र का आगार और घृणित कहते थे वहाँ वीर-काव्यकारों ने इसे परिस्थितियों से प्रेरित होकर हेय माना है। यदि ये कवि शरीर को अधिक महत्त्व देते तो लोग शरीर की रक्षा में संलग्न हो जाते और युद्धों के लिए प्राणों को हथेली पर रखने की जो भावना अनिवार्य होती है उसका लोप हो जाता। ये तो दुर्लभ और क्षण-भंगुर मानुष-देह की सार्थकता इसी बात में समझते थे कि उसे युद्ध में उत्सृष्ट कर अक्षय कीर्ति का उपार्जन किया जाए। 'आल्हखंड' में जयचन्द अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं—

मानुष देही बहु दुर्लभ है जैसो जन्म न बारबार ।
तुम ना भजियो समर भुम्मि ते बहु फिरि कहै वीर चौहान ॥[1]

एक तो शरीर और यौवन वैसे ही क्षण भंगुर और अस्थायी हैं और दूसरे जब युद्ध-दुन्दुभि की धुधुन-ध्वनि चारों ओर से कर्णकुहरों में प्रविष्ट होती रहती हो तब यौवन में दाम्पत्य-सुखों की उपेक्षा सु-नीति नहीं मानी जा सकती। इस बात का उल्लेख जगनिक माल्ह ने यों किया है—

जाई जोबन मन मलम हाथ। जोबन नहि फिराइ बीहु ते राति।
जोबन राख्यो न रहई। जोबन प्रिय बिरह होलीय धार ॥[2]

यद्यपि वीर कवियों की वाणी में कुछ गर्व और प्रखरता का होना अस्वाभाविक नहीं तथापि य गोप तो है ही। यही कारण है कि इन काव्यों में भी कटु भाषण तथा सदर्प-वचनों ■ बचने की ही प्रेरणा की गई है। राजमती के पाणिग्रहण के पश्चात् एक दिन जब बीसलदेव अपने अजमेर-राज्य की सम्पत्ति पर गर्वित होकर बोला—'मो सरीसा नहीं डर भुवाल' तब राजमती ने उसे गर्वित रावण के पतन तथा उत्कल नरेश की महती संपदा का वृत्त सुनाकर नम्रता धारण करने का संकेत किया—

गरब न बोलो हो भो भरतार। आजा आगे राजा लखिन हुआर।
सकाजति रावण बली। सात समंद जिह बस्सो फेर।
लंक विभु नी बावरी। पै काइ अरज्ही राजा गढ़ अजमेर ॥[3]

वीर पति को पत्नी की उचित शिक्षा भी अनुचित प्रतीत हुई और वह उत्कलाधिपति को पराजित करने ■ लिए उद्यत हो गया। जब भावी वियोग की आशंका से राजमती ने व्याकुल होकर क्षमा-याचना की तब बीसल ने कहा—

कहुया बोल न बोलीइ नारि। तु मो मेल्हसी चित्त विसारि॥
जीभ न जीभ बिगोयनो। दव का दाधा कुपली मेल्ही।
जीभ का दाधा नु पांगुरई। नाल्ह कहइ सुणाजइ सब कोई ॥[4]

परन्तु वाणी-विषयक इन सामान्य नीतियों पर वीर-काव्यों म उतना बल नहीं दिया गया जितना कि मुख से निस्सृत वचन को पूर्ण करने पर। पुरुष सत्पुरुष और सरदार वही है जिसका वचन कभी नहीं टलता और जो तन-मन-धन अर्पित कर भी अपनी वाणी को सत्य सिद्ध कर दिखाता है—

सूर समस्त चढ़ रन ऊपर, ते पुनि कोटि करी विचलें ना।
धाम मड़े सिरदारन की मुंह ते कढ़ि के कबहूं बदलें ना ॥[5] (जगनिक)

---

१ सं०—डी० ए० इलियट असली आल्हखंड (फर्रुखाबाद सं० २००६) पृष्ठ १८
२ बीसलदेव रासो ((ना० प्र० स० काशी सं० १६८२) पृष्ठ ४३।१४
३ वही पृष्ठ ३२-३३
४ वही पृष्ठ ३७।१८
५. आल्हखंड, पृष्ठ २३

या दल बचन धार श्रुति गावै। तब मन मन है बचन जु राखै ॥
तब मन भ्रात पुत्र धन मारो। हरि बिनु त्याग बचन प्रतिपारो ॥[1]

(जोधराज)

सिंह गमन सुपुरुष बचन कदलि फलै इक बार।
तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार ॥[2] (चन्द्रशेखर वाजपेयी)
सतपुरुष बैन मुख्ख न सहि सुख सुरत्तह उर धारि यहि।
रस किये रहहि रस राखिये अरस हृती सरसावियहि ॥[3] (मान)

(ख) मांगलिक नीति—कवियों के युद्ध विवाहादि से सम्बन्धित इन काव्यों में यद्यपि विद्या, विवाहादि के महत्त्व और उनकी प्राप्ति के साधनों की विशेष चर्चा नहीं मिलती तो भी देवों वेदज्ञ विप्रों ज्योतिषियों और ज्योतिष ग्रन्थों के प्रति आस्था अवश्य विद्यमान है। कारण यह कि मांगलिक अवसरों पर और युद्धादि के लिए प्रस्थान करते समय शुभ मुहूर्त का ध्यान रखना प्रायः आवश्यक माना जाता था। शिवाजी ने कमलाल की जो उपेक्षा किया था उसमें उक्त नीति की झलक सहज ही देखी जा सकती है—

सुजनि की यह मुख्य बड़ाई। सदा देव की चाह कमाई ॥
गाइ वेद विप्रन प्रतिपालै। धरम धुरन्धरि मैं चालै ॥[4] (गोरेलाल)

(ग) धार्मिक नीति—इन काव्यों में धर्म, कीर्ति, आत्मसम्मान, दृढ़ संकल्प (हठ टेक) तेजस्विता वीरता आदि अभिप्रेत गुणों की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है। मोहादि के परित्याग की प्रेरणा इनमें भी लक्षित होती है परन्तु सन्त काव्यों और भक्तों से भिन्न है। जहाँ सन्त-महात्मा लोग मोहममता के त्याग के उपदेश प्रभु प्रेम में प्रवृत्त करने के लिए दिया करते हैं वहाँ इस प्रकार के उपदेश इन काव्यों में अक्षय यश की प्राप्ति आदि के लिए दिए जाते हैं।[5] यश की प्राप्ति को ही इन काव्यों में अजर और अमर तथा असार संसार का सार कहा गया है। उसकी उपलब्धि के लिए सुख-दुःख की चिन्ता न करनी चाहिए क्योंकि वे तो स्वप्नवत् अस्थायी हैं—

अजरामर जस एक, जस रहु जावै जगत में
दुख सुख दोनु देह, सुपन समान प्रताप सी ॥[6] (दुरसा जी)

---

१ हम्मीर रासो (प्र०-ना० प्र० स०, सं० २००५) पृष्ठ ११८
२ हम्मीर हठ, पृष्ठ १९, उदयनारायण तिवारी, वीर-काव्य, पृष्ठ ४०८ पर उद्धृत
३ मान राजविलास वीर-काव्य, पृष्ठ ४२६
४ गोरेलाल छत्रप्रकाश, वीर-काव्य पृष्ठ ११७ पर उद्धृत
५. पत्तनो प्रासहुवइ, पृष्ठ ४५
६ दुरसा जी : विरदछहत्तरी, मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीर रस पृष्ठ ५५ पर उद्धृत।

सुनहु तो कहूँ कवित्त, सुथिर जीवन जग मांही ।
यह संसार असार, सार किति कछु मांही ॥[1] (चंदबरदाई)

यश और कीर्ति की प्राप्ति के साधन तो अनेक होते हैं परन्तु विशेषतः उल्लेख वीरत्व प्रदर्शन शत्रु पर विजय वीर-गति की प्राप्ति, स्वाधीनता की रक्षा दान-पुण्य आदि का किया गया है । जैसे—

हम्मीर राव हँसि यों कही, सदा कौन जग थिर रहै ।
फिर मग पंथ मानस कहा, सुजस एक जुग-जुग रहै ॥[2] (जोधराज)

दीर्घतह कीरति सुलभ, मरन अपच्छर हूर ।
यो पान लहहु मिलें, ज्याय करै बर सूर ॥[3]

पराधीन व्यक्ति यशस्वी नहीं हो सकता क्योंकि प्रायः उसके वीर-कार्यों से अर्जित यश का भागी उसका स्वामी बन जाता है । जब छत्रसाल ने शिवाजी के साथ रहकर मुगलों से लोहा लेने की कामना प्रकट की तब शिवाजी ने उसे उक्त नीति का इस प्रकार उपदेश दिया—

तुम हो महावीर मरदाने । करिहौ भूमि भोग हम जाने ।
जो इतही तुम को हम राखैं । तो सब सुजस हमारे भाखैं ॥[4]

आत्म-सम्मान की रक्षा इन काव्यों का अत्यन्त प्रिय विषय है । जो व्यक्ति तेज साहस प्रताप और पराक्रम से रहित है उसका आत्म-सम्मान स्थिर नहीं रह सकता। दूसरे की अधीनता स्वीकृत कर लेने तथा टेक को त्याग देने से भी आत्म सम्मान नष्ट होता है । इसलिए इन रचनाओं में तेजस्विता आदि गुणों तथा टेक की रक्षा करने की प्रेरणा अनेक स्थलों पर की गई है । जैसे—

भाजि न जैओ तुम मोहरा से कुरिहै सात सातिको नाम ।
कहु दिन काहुक को रहि जाई, यारो लाज तुम्हारे हाथ ॥[5] (जगनिक)

हठ तो राव हमीर को औ रावण को टेक ।
सत राजा हरिचंद को अमृत वाक्य अनेक ॥[6]

२ पारिवारिक नीति

वीर-काव्यों में पारिवारिक जीवन को सुखद तथा प्रशंसनीय कहा गया है,

---

१ पृथ्वीराज रासो भाग १, (उदयपुर सं० २०११) पृष्ठ १६६
२ जोधराज: हम्मीर रासो (ना० प्र० स० काशी सं० २ ०५) पृष्ठ ११५
३ विपिन बिहारी त्रिवेदी: रेवातट (लखनऊ, १९५३ ई०) पृष्ठ २१
४ मोतीलाल: 'छत्रप्रकाश, वीरकाव्य' पृष्ठ ११७ पर उद्धृत
५. असली आल्हखंड पृष्ठ ७७
६ हमीर रासो पृष्ठ ११६।१६०

अधिकतर जैन और बौद्ध काव्यों के समान हेय नहीं। वीरों को सदा इस बात की चिन्ता दिखाई देती है कि कोई काम ऐसा न किया जाए जिससे परिवार का सुनाम डूब जाए।[1] जहाँ परिवार के सदस्यों की रीति-नीति एक-दूसरे से भिन्न होती है वहाँ परिवार की मर्यादा संकट में पड़ जाती है इस नीति को सूदन ने सुजान और सलाबतखाँ के युद्ध-वर्णन में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

बाज बिन बाजे भया सनमुख राखै देखि
वासन में राखै बस बास जासी सबनै।
मृत्यु के धैया आसपास के रखैया
और काली के नचैया हु के ध्याइबू ते न चलै।
देख काय वाहन बसन कौं चर्बर लाज
भाग कौं बगुरे कौं पसार देतु सबनै।
घर को हवास पहूँ संकर की बात कहूँ,
लाज रहै कैसे पूत लोभक को मचलै॥[2]

जब कभी परिवार का कोई प्रियजन घर से प्रस्थान करे तब अश्रुपात उचित नहीं होता यह नीति बीसलदेव राजमती को इस प्रकार समझाते हैं—

पाछिली है जी तोहरा लागी धर्ई बाय।
मलोय नै कोई असवि जाई॥[3]

कभी-कभी पारिवारिक प्रेम वीरों के कर्तव्य-मार्ग में विघ्न-रूप भी बन जाता है। युद्ध के लिए सन्नद्ध क्षत्रियों के पथ में तीन विकट बाधाएँ सहज ही उपस्थित हो जाती हैं—सन्तान-स्नेह दाम्पत्य-सुख और मृत्यु की आशंका। चंद बरदाई ने मेवाती मुंगल द्वारा सोमेश्वर को लिखित पत्र में इनका इस प्रकार उल्लेख किया है—

तिमु हंसी सम्हौ फिरयौ समय काम वध घोर।
जौ मुक्क त्रिय अवम हुव तो रन छंडि सरीर।[4]

भाव यह कि जब कर्तव्य का आह्वान कानों में आ पहुँचे तब पारिवारिक मोह का परित्याग कर संग्राम के लिए प्रस्थान ही उचित है।

माता पिता और पुत्र—माता का मुख्य कर्तव्य यह निर्दिष्ट किया गया है कि वह उस वीरवर प्रताप के समान गुणों को जन्म दे जिसके नाम के श्रवण-मात्र से अकबर-सा तेजस्वी सम्राट् भी सोते-सोते ऐसे उचक उठता था जैसे उपधान पर सर्प

---

१ मसनी अरहदास, पृष्ठ ८३
२ सुजान चरित तृतीय जंग और शाम्य पृष्ठ १६१ पर उद्धृत
३ बीसल देव रासो पृष्ठ ४२।८१
४ पृथ्वीराज रासो भाग १ (जयपुर) पृष्ठ १७७

जा बठा हो।[1] वह माता धन्य मानी जाती थी जिसकी धर्म-महीत शिक्षा से सद्योजात शिशु नाल काटने की छुरी को पकड़ने के लिए झपट उठता हो—

हूं बलिहारी राणियां, भ्रूण सिखावण भाव।
नाली वाढ़ण री छुरी, झपटै बालियो साव ॥[2]

जिन बच्चों में वीरता की कुछ कमी देख पड़ती थी उन्हें अपने उत्तेजक वचनों से वीर बनाना भी माता का ही कर्तव्य था। वीर हम्मीर के रणोत्साह को द्विगुणित करने के लिए उसकी माता कहती है—

तीरां ऊपर तीर सहि, सेलां ऊपर सेल।
खग्गां ऊपर खग्ग सहि रन सम्मुख सुत खेल ॥
मुख मुख छाती सामुहैं, धावें ऊपर धाव।
पलक न झंपै पुत्त की, बढ़ चौगुनो चाव ॥[3] (चन्द्रशेखर)

ऐसी वीर सन्तान अपने माता पिता का सम्मान करना अपना कर्तव्य मानती थी। पुत्र युद्ध में विजय-लाभ के लिए माता का आशीर्वाद लेकर ही प्रस्थान करना उचित समझते थे। माड़ो की लड़ाई पर जाते समय ऊदल ने अपनी जननी से यह विनती की—

पैंया परि देहु मैरि पीठि पर माड़ौ लेवें बाप के दावें।
दूजी धुनि के माता देव तब अँगियाँ में लगो उठाय ॥[4] (जगनिक)

पिता के अपकार या हत्या का प्रतिशोध लेना पुत्र का प्रमुख कर्तव्य था। यौवन में प्रविष्ट होने से पूर्व ही वह बदला चुकाने के लिए लालायित हो उठता था—

रण खेती रजपूत री वीर न भूलै बाल।
बारह बरसां बापरौ, लहै वैर लंकाल ॥[5] (कविराजा सूर्यमल्ल)

जब ऊदल को पहले-पहल विदित हुआ कि उसके पिता की हत्या माड़ो-नरेश जम्बे ने की थी तब वह क्रुद्ध होकर माता के पास पहुँचा और कमर से कटार खींच उसे अपने वक्षस्थल से लगाकर माता से पूछने लगा—

को है मारे बाप हमारे माता हमें देउ बतलाय ?
को है राजा माड़ौ वारो की वाको है जिनको नाम ?

---

१ हिन्दी में वीर रस पृष्ठ ४१
२ सूर्यमल्ल : वीर सतसई पृष्ठ १३।६४
३ चन्द्रशेखर हम्मीर हठ पृष्ठ ४३ वीर-काव्य पृष्ठ ४८० पर उद्धृत
४ दसखी आल्हखण्ड पृष्ठ ४०
५ सूर्यमल्ल वीर सतसई (प्र० बंगाल हिन्दी मंडल कलकत्ता सं० २००५) ६६।११८

ऐसी सूर्पनखा मेरे साथ को हमरे औरैं को धिरकार।
हाल बतावो हम को सांचो नाहीं पेट्ट मारि मरि जाउँ ॥[1]

पुत्री—पुत्री के सम्बन्ध में प्रायः दो नीतियों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। प्रथम, उसके कारण बड़े से बड़े अभिमानी का सिर झुक जाता है[2] और द्वितीय सयानी कन्या को अविवाहित रखना अनुचित है।[3]

पति-पत्नी—पति का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह कायरता का कोई कार्य न करे जिससे उसकी पत्नी को समाज में लज्जित होना पड़े। पत्नी समरांगण में अपने पति की वीरगति का समाचार सुन फूले नहीं समाती और उल्लास उसके शव के साथ सती हो जाती है। परन्तु, जब वह युद्ध में पीठ दिखाकर घर आता है तब वह अपनी चूड़ियों को सज्जित नहीं देख सकती। वह सधवा होती हुई भी अपने को विधवा मानकर व्यथित से कहती है कि मेरे लिए विधवाओं के पहनने की लम्बी आस्तीनवाली कुर्तियाँ सीकर लाना वर सिलाई में तुम सधवाओं के वस्त्रों के समान बुनी ही दे दिया करोगी। इसी प्रकार वह मनिहारिन को अपने घर में आने का निषेध कर देती है क्योंकि विधवाओं को शृंगार की वस्तुओं की अपेक्षा नहीं होती—

दरजण लंबी चोलियाँ आणीजे पच मूक।
सब होते कोयूँ वया, कुए सिलाई चूक ॥
मणिहारी जा री सखी, अब न हवेली आव।
पीव मुवा घर आविया विधवा किसा बणाव ॥[4] (सूर्यमल्ल)

यद्यपि राजाश्रित कवियों में इतना साहस तो न था कि बहुपत्नी-प्रथा का प्रत्यक्ष और प्रबल प्रतिषेध करें तथापि इस बात का उल्लेख उन्होंने कर ही दिया है कि स्त्री के लिए सापत्न्य का क्लेश असह्य होता है अतएव समझदार पति को पत्नी की प्रसन्नता के लिए एक पत्नीव्रती बनना ही उचित है।

जिमपात सों धन मिले, और बर मिट जाइ।
सौति बैर अगर बसम, दिन प्रति दीपम जाइ ॥
सुप मिहठी जित्ती करै, मन में बैत सराप।
बैठे प्रभ मु प्रीय की, अन्तर बम्भुके ताप ॥[5]

उन दिनों पत्नी द्वारा पति के परित्याग का तो प्रश्न ही न उठता था, पति अपनी उद्दण्डता या पत्नी की मूर्खता के कारण उन्हें परित्यक्ता बनाकर दुखी कर देते थे। ऐसी दुखप्रद स्थिति के परिहार के लिए पत्नी का गुणवती होना कितना

---

१ प्रभाती प्रभातहुलास पृष्ठ ३७
२ ३ द्वारका प्रसाद आल्हा (प्र० इण्डियन प्रेस, प्रयाग), पृष्ठ १०
४ सूर्यमल्ल : वीर सतसई पृष्ठ ४८।८९, ९७
५. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (इलाहाबाद, १९५२ ई० पृष्ठ १९५

आवश्यक है, इस बात की शिक्षा राजमती को उसकी सखियाँ इन शब्दों में देती हैं—

पंच सखी मोती बइठी हुई आई।
निपुणी ! गुण होई तो प्रीव क्यूं काई ?
फूल पगर कू पाहुणाई।
धारउ औषध-कथ्यो नाह कू जाई ॥[1] (नरपति नाल्ह)

इसके अतिरिक्त स्वयं सिंहासन पर आसीन होने के लिए पिता को कैद, भाइयों की हत्या और सपोलों के संहार करने का निरूपण भी इन काव्यों में किया गया है।[2]

३ सामाजिक नीति

वीरकाव्यों की सामाजिक नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—(क) क्षत्रिय (ख) स्वामी (ग) सेवक (घ) स्त्री (ङ) पुरुष (च) हिन्दू मुसलमान (छ) मित्र शत्रु (ज) कुटुम्ब।

(क) क्षत्रिय—मनुस्मृति और भगवद्गीता में क्षत्रियों के निम्नलिखित ग्यारह कर्तव्य निर्दिष्ट हैं—

१ प्रजारक्षा	६ शौर्य
२ दान	७ तेज
३ यज्ञ	८ धैर्य
४ अध्ययन	९ दक्षता
५ विषयों में अनासक्ति	१० युद्ध में पीठ न दिखाना

११ शासन।[3]

उक्त कर्तव्यों में से यज्ञ अध्ययन और विषयों में अनासक्ति का विशेष प्रतिपादन तो वीरकाव्यों में लक्षित नहीं होता शेष कर्तव्यों का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में किया गया है। प्रजा की रक्षा के लिए क्षत्रिय को भी परीक्षा देनी पड़ती है। खड्ग को कस कर बाँधने और अकड़ कर चलने से ही क्षत्रिय को परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं माना जा सकता। उसकी परीक्षा तो तब होती है जब युद्ध की दुन्दुभियाँ गगन भेदी नाद करती हैं। कविराज सूर्यमल्ल का कथन है—

कसु बांधे पाग-खग नहिं कस बाँध करवाल।
परख घड़ी पर कायरां, जद उहिदां जवाल ॥[4]

क्षत्रिय के लिए सबसे अधिक अपमान-जनक कार्य था युद्ध से पलायन। इसलिए

---

१ बीसलदेव रासो, पृष्ठ ३८

२ भूषण ग्रंथावली (हिन्दी भवन लाहौर, १९३८), शिवाबावनी, पद्य १२, १३

३ मनुस्मृति १।८९, भगवद्गीता १८।४३

४ सूर्यमल्ल वीर सतसई, पृष्ठ ८७।१६९

उससे बचने की प्रेरणा इन काव्यों में स्थल-स्थल पर पाई जाती है। राजा अपने सैनिकों को और क्षत्राणियाँ अपने पतियों को इस अक्षम्य कार्य से बचने की अनेक बार प्रेरणा करती दिखाई देती हैं। क्षत्रिय वीर भी इस कर्तव्य को कभी विस्मृत नहीं करते। माडों की लड़ाई के पूर्व जब परमाल ने ऊदल को माडो के अत्याचारी शासक से सतर्क रहने को कहा, तब—

हाथ जोरिके ऊदनि बोलें दादा सुनो हमारी बात।
हम ना भजिहैं अरि सम्मुख से चाहीं प्राण रहैं की जायँ॥[1] (वमनिक)

इसी नीति को ऊदल बौरीगढ़ की लड़ाई के प्रसंग में अपने योद्धाओं के सम्मुख यों व्यक्त करते हैं—

खडा न जाता कर में राखें, मारो कदम न बारम्बार।
पीठ दिखाय तुम मत भगियो, बुड़िहैं सात साख को नाम॥[2] (वमनिक)

क्षत्रियों को अपनी वीरता और बाहुबल पर विश्वास होता है। वे किसी कार्य को गुप्त-छिप कर करना अपमान-जनक मानते हैं। वे प्रत्येक कार्य को खुले मैदान करते हैं। जिसमें साहस हो सामने आए और उन्हें रोके। जब ऊदल ने माडों के बाजार से अपने पुराने घोड़े को चुपके से उड़ा ले जाने का प्रस्ताव आल्हा के सम्मुख रखा तब मलिखे ने प्रतिरोध करते हुए कहा—

कुहनी मारी तब मलिखे ने ऊदनि बछिया भई तुम्हार।
चोरी चोरा जो लै जैहो कलि में चोर कहैहो नाम।
लाज लागिहै रजपूतो को यो जातीपन जाय नसाय॥[3] (वमनिक)

इसी प्रकार जब विजमा ने ऊदल से गुप्त-रूप से विवाह कर लेने का प्रस्ताव किया तब ऊदल बोले—

चोरी चोरा ब्याहु न करिहैं, ना हम करैं चोर का काम।
जाता राखे रजपूती को, धौ तलवार पढ़े की लाज॥[4] (वमनिक)

इन क्षत्रियों को प्राणों का तनिक भी मोह न था। ज्यों ही बारह वर्ष के होते वे युद्ध-विग्रहों में भाग लेना आरम्भ कर देते थे और पीठ न दिखाने के कारण कुछ ही वर्षों में वीरगति के भागी बनते थे। यही कारण है कि इन काव्यों में दीर्घजीवी क्षत्रियों को घृणा की दृष्टि से देखा गया है—

बारह बरिस लै कूकर जीयें, औ तेरह लै जियें सियार।
बरस अठारह क्षत्री जीयें आगे जीवन को धिक्कार॥[5] (वमनिक)

१ असली आल्हखंड पृष्ठ ८१।
२ द्वारका प्रसाद आल्हा, पृष्ठ ५४।
३ असली आल्हखंड पृष्ठ ४६।
४ „ „ , पृष्ठ ५८।
५. द्वारका प्रसाद, आल्हा, अपनय पृष्ठ २।

ठीक है, जब युद्धों में मरने से स्वामी का ऋण उतरता हो, अमर यश-कीर्ति की प्राप्ति होती हो, स्वर्ग में सुन्दर अप्सराएँ मिलती हों, तब सच्चे वीर जीवन का मोह क्यों रखें, क्षात्र-धर्म से विचलित क्यों हों ?

इन क्षत्रियों में सच्चरित्र, उदारता, स्वामि-सेवा आदि के भाव भी लक्षित होते हैं। कौमार्य की अवस्था में किसी स्त्री की शय्या पर पाँव रखना राजपूती-धर्म के विरुद्ध माना जाता था। जब बिजमा हाथ जोड़ कर ऊदल से कहने लगी कि मैं सतखंडे महल पर सेज बिछा कर तुम्हें पंखा झलूँगी तब वीरवर ऊदल ने उत्तर दिया—

ऐसी बातें तुम मत बोलो रानी बीर बसी मन माहिं।
क्वाँरे पाँव धरों तिरिया पर तौ रजपूती धर्म नसाय ॥[1] (जगनिक)

प्रायः सच्चे वीर शत्रु पर पहले शस्त्र प्रहार नहीं करते अपितु उसे ही प्रथम आक्रमण करने की अनुज्ञा देते हैं। इस उदार नीति के लिए महोबे के वीर विशेष रूप से विख्यात हैं—

(क) कहनि चौंडिया तब उठि बोलो, ऊदल ! सुनो हमारी बात।
रीत हमारे में चलि आई पहिले चोट करत हम नाहिं ॥[2]
(ख) तब फिरि कहनि बोलत लाखन सूरज ! सुनो हमारी बात।
जो कोई जनमत अमर महोबे पहिले चोट करत सो नाहिं ॥[3]

(ख) स्वामी—

इन काव्यों में स्वामी या राजा की इच्छा को सर्वोपरि माना गया है। प्रजा की रक्षा करने को तो वह अपना कर्तव्य समझता था परन्तु शासन-कार्य में उसके विपरीत आचरण करना प्राणों को संकट डालना था। ऐसे भी शासक विद्यमान थे जो किसी सुन्दर राजकुमारी से विवाह के लिए निमन्त्रण के बिना भी जा पहुँचते थे। उदाहरणार्थ जब राजा परमाल बिना किसी निमन्त्रण के मालवंत की पुत्री मछला देवी को ब्याहने के लिए ससैन्य जा पहुँचा तब वृद्ध मालवंत के प्रश्न के उत्तर में उसने कहा—

"हम लोग बुलाने की बाट नहीं जोहते। भला सिंह को भी कोई न्योता देकर बुलाता है ! वह तो जहाँ अच्छा शिकार देखता है वहीं जा कर मारता और खाता है। इसी तरह हम लोग जिसकी अच्छी बेटी देखते हैं उसे जबर्दस्ती ब्याहते हैं।"[4]
रासो की हुसेन-कथा से यह बात सम्यक स्पष्ट हो जाती है। अभिमानी पृथ्वीराज

---

१ जगनी आल्हखंड, पृष्ठ २६।
२ वही, पृष्ठ ७२।
३ वही, पृष्ठ ७८।
४ द्वारका प्रसाद, आल्हा, पृष्ठ ८।

शरणागत की रक्षा तत्कालीन राजाओं का मुख्य कर्तव्य था। पृथ्वीराज इधर तो म्लेच्छ का मुख-दर्शन अमांगलिक मानता था और उधर शरणागत रक्षा अपना कर्तव्य। उसकी दशा सांप-छछूंदर की-सी हो गई। स्वामी को दुविधा में डूबते देख कर चंदबरदाई ने शंकर और सागर के दृष्टान्तों से उसे यों कर्तव्योपदेश दिया—

संकर गर विष कंठ जिम, बडवा अगनि समंद ।
तैं रक्खौ चहुआन तिम, कौं सुजन कहि चंद ॥[1]

'हम्मीर रासो' के अनुसार अलाउद्दीन के रणथम्भौर पर आक्रमण का कारण हम्मीर का महिमा शेख को शरण देना था। जब दीर्घकालीन घेरे से हम्मीर का हृदय भी एक बार व्याकुल हो गया तब उसकी क्षत्राणी रानी ने उसे यों उत्साहित किया—

सरण राखि सेख न तजौ, तजो सीस गढ़ देस ।
रानी राव हमीर को, यह दीन्हौ उपदेस ॥[2] (जोधराज)

रानी के वचनों ने हम्मीर के हृदय को वैसे ही प्रभावित किया जैसे जनार्दन के उपदेश ने पार्थ के मन को। वे क्षणिक दौर्बल्य का परित्याग कर बोले—

राखि सेख सरनौं रहौं, तुम जावौ चहुंवाण ।
तुम साखो यह कीजियो, विरचि साहु मीरान ॥[3] (जोधराज)

कविवर भूषण ने भी शिवाजी की शरणागत-वत्सलता की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

साहि तनै तब कोप कृसानु तें बैरि गरे सब पानिप वारे ।
एक अचम्भव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥[4]

(ग) सेवक—

सेवक का मुख्य कर्तव्य यह है कि स्वामी के प्रति सदा कृतज्ञ रहे और उसके कार्य की सिद्धि के लिए प्राणों तक को भी अर्पित करने में संकोच न करे। 'नमक-हलाली' या स्वामी के प्रति कृतज्ञता की भावना वीर-काव्यों में पग-पग पर दिखाई देती है। 'नमक-हलाली' की यह भावना सेवा-निवृत्ति के साथ ही समाप्त नहीं होती, बाद में भी बनी रहती है। जब महिमा शाह ने अपने बाणों से अलाउद्दीन के प्राण तो न लिये परन्तु सिर का छत्र गिरा दिया तब बादशाह का वजीर बोला—

पिछली निमक की दोस्ती, करी आज बकसीस ।
जो दूजी सर संधिहै, हनिहै निरखाधीस ॥[5]

---

१ पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग (उदयपुर), पृष्ठ २४७ ।
२ हम्मीर रासो पृष्ठ ११८ ।
३ वही, पृष्ठ १२० ।
४ भूषणग्रंथावली, पृष्ठ ११६ ।
५ हम्मीररासो, पृष्ठ १११ ।

कभी-कभी युद्ध की भयंकरता या पुत्र-कलत्रादि के मोह के कारण योद्धा लोग साहस खो बैठते थे। ऐसी विकट घड़ी में भी जब उन्हें स्वामी के नमक का ध्यान आ जाता था तो उन के डगमगाते पग पुनः स्थिर हो जाते थे। आल्हखंड की निम्नलिखित पंक्तियों में एक ऐसा ही दृश्य प्रस्तुत किया गया है। ऊदल बोला—

जिनहि पियारो है घर तिरियाँ, यारी तलब लेउ घर जाउ।
जिनहि पियारी परम भगौती है सब चलौ हमारे साथ।
इतनी सुनि के सब री सौहे औ ऊदनि को नायो माथ।
निमक चँदेले को खायो है हम ना धरें पिछाड़ पाँव॥[1]

(जगनिक)

सच्चा सेवक वही है जो अपने अन्तिम श्वास तक स्वामी के हित-साधन में तत्पर रहे। यदि युद्ध में मूर्छित स्वामी के नेत्रों को चील कौए से नोचने लगें तो पास ही घायल पड़ा सच्चा सेवक अपना कलेजा काट कर चीलों के आगे फेंक देता है जिस से स्वामी के नेत्रों की रक्षा हो जाए। संजमराय की ऐसी अपूर्व स्वामिभक्ति का उल्लेख चन्द बरदाई ने पृथ्वीराज रासो के महोबा खंड में इस प्रकार किया है—

मोह लागि चहुँवान परे मुरछा ह्वै धरतिय।
जब गीधनि चाँच क चुंच वाहंति विरत्तिय॥
देख्यौ संजमराय नृपति दृग बाहंति पंछिय।
अपने तन को मांस काटि अप्पु दियो तत्तच्छिन॥
अपने सुभचिन देख्यो नृपति अन्त समै भ्रम परिसंयव।
आये विमान बैकुंठ के देह सहित चढ़ि चल्लियव॥[2]

सत्य है यदि ऐसे कर्तव्य-निष्ठ सेवकों की भी सद्गति न होगी तो और किसकी होगी! कदाचित् इसी घटना को स्मरण करते हुए कविराजा सूर्यमल्ल ने स्वामि-भक्त सेवकों की यों स्तुति की है—

भड़ जो हो पहलां पड़ै, धीरह विसरणा धड़।
भड़ सबाई भाहरा, साथ कसेवो खेड॥[3]

गुणी सेवक का कर्तव्य है कि गुण-ग्राही और विवेकी स्वामी की ही सेवा करे। कारण मूर्ख तथा विवेक-हीन स्वामी गुण के महत्त्व को नहीं पहचानता और इसीलिए गुणवान् सेवक को कुछ काल बाद 'निराश होना पड़ता है। जब वीरवर अमरदास को असाधारण वीरकृत्य करने पर भी वीरपत्नज द्वारा उचित सम्मान प्राप्त न हुआ तब वे बोले—

---

१ असली आल्हखंड, पृष्ठ ४२।
२. कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ १२८।
३ सूर्यमल्ल और सतसई पृष्ठ ८६ ।

शरणागत की रक्षा तत्कालीन राजाओं का मुख्य कर्तव्य था। पृथ्वीराज इधर तो म्लेच्छ का मुख-दर्शन अमांगलिक मानता था और उधर शरणागत रक्षा अपना कर्तव्य। उसकी दशा साँप-छछूंदर की-सी हो गई। स्वामी को दुविधा में डूबते देख कर चंदबरदाई ने शंकर और सागर के दृष्टान्तों से उसे यों कर्तव्योपदेश दिया—

शंकर गर विष कंठ जिम, बडवा अग्नि समंद।
तें रक्खौ चहुआन तिम, कहाँ हुसेन कहि चंद॥[1]

'हम्मीर रासो' के अनुसार अलाउद्दीन के रणथम्भौर पर आक्रमण का कारण हम्मीर का महिमा शेख को शरण देना था। जब दीर्घकालीन घेरे से हम्मीर का हृदय भी एक बार व्याकुल हो गया तब उसकी क्षत्राणी रानी ने उसे यों उत्साहित किया—

सरस्सु राखि सेख न तजौ, तजौ सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर को, यह दीन्हौ उपदेस॥[2] (जोधराज)

रानी के वचनों ने हम्मीर के हृदय को वैसे ही प्रभावित किया जैसे जनार्दन के उपदेश ने पार्थ के मन को। वे क्षणिक दौर्बल्य का परित्याग कर बोले—

राखि सेख सरणौ तजौं, कुल लाज चहुंआण।
तुम ताको यह कीजियो, निरखि साहु नीसाण॥[3] (जोधराज)

कविवर भूषण ने भी शिवाजी की शरणागत-वत्सलता की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

साहि तनै तब कोप कृपान तें बैरि गरे सब पानिप वारे।
एक अचम्भव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न मारे॥[4]

(ग) सेवक—

सेवक का मुख्य कर्तव्य यह है कि स्वामी के प्रति सदा कृतज्ञ रहे और उसके कार्य की सिद्धि के लिए प्राणों तक को भी अर्पित करने में संकोच न करे। 'नमक-हलाली' या स्वामी के प्रति कृतज्ञता की भावना वीर-काव्यों में पग-पग पर दिखाई देती है। 'नमक-हलाली' की यह भावना सेवा-निवृत्ति के साथ ही समाप्त नहीं होती, बाद में भी बनी रहती है। जब महिमा शेख ने अपने बाण से अलाउद्दीन के प्राण तो न लिये परन्तु सिर का छत्र गिरा दिया तब बादशाह का वजीर बोला—

पिछले निमक की दोस्ती, करी जान अफसोस।
जो दूजी सर छाँड़िहै, हनिहै बिस्वावीस॥[5]

---

१ पृथ्वीराज रासो, प्रथम भाग (उदयपुर), पृष्ठ २४७।
२ हम्मीर रासो, पृष्ठ ११८।
३ वही पृष्ठ १२०।
४ भूषणग्रंथावली, पृष्ठ ११६।
५ हम्मीररासो, पृष्ठ १११।

कभी-कभी युद्ध की भयंकरता या पुत्र-कलत्रादि के मोह के कारण योद्धा लोग साहस खो बैठते थे। ऐसी विकट घड़ी में भी जब उन्हें स्वामी के नमक का ध्यान आ जाता था तो उन के डगमगाते पग पुनः स्थिर हो जाते थे। आल्हखंड की निम्नलिखित पंक्तियों में एक ऐसा ही दृश्य प्रस्तुत किया गया है। ऊदल बोला—

जिनहिं पियारो है घर तिरया, मारी तलब सेत घर जाउ।
जिनहिं पियारी परम भगौती ते सब चलो हमारे साथ।
इतनी सुनि के सबरे लौटे औ ऊदलि को नायो माथ।
नियक खैसे को खायो है, हम ना धरैं पिछारू पाउ॥[1]

(जगनिक)

सच्चा सेवक वही है जो अपने अन्तिम श्वास तक स्वामी के हित-साधन में तत्पर रहे। यदि युद्ध में मूर्छित स्वामी के नेत्रों को चीलें चोंच से नोचने लगें तो पास ही घायल पड़ा सच्चा सेवक अपना कलेजा काट कर चीलों के आगे फेंक देता है जिस से स्वामी के नेत्रों की रक्षा हो जाए। संजमराय की ऐसी अपूर्व स्वामिभक्ति का उल्लेख चंद बरदाई ने पृथ्वीराज रासो के महोबा खंड में इस प्रकार किया है—

मोह लागि चहुँआन परे मुरछा ह्वै धरनिय।
उड़ चीलनि चांहि चष चुंच चाहंति विरत्तिय॥
देख्यो संजमराय नृपति दृग चाहंति पंछिन।
अपने तन को मांस काटि प्रभु दियो तत्छिन॥
अपने गुनयन देख्यो नृपति अग्ग सबै भय पच्छिपत।
लाये विसाल बकुंठ के देह सहुत धरि अस्तितव॥[2]

सत्य है, यदि ऐसे स्वाम्य-निष्ठ सेवकों की भी सद्गति न होगी तो और किसकी होगी! कदाचित् इसी घटना को स्मरण करते हुए कविराजा सूर्यमल्ल ने स्वामि-भक्त सेवकों की यों स्तुति की है—

भड़ तो हो पहलां पड़ चीलहु विलम्मा चैक।
भड़ उबारै नाहरा आप कलेजो फेंक॥[3]

गुणी सेवक का कर्तव्य है कि गुण-ग्राही और विवेकी स्वामी की ही सेवा करे। कारण मूर्ख तथा विवेक-हीन स्वामी गुण के महत्त्व को नहीं पहचानता और इसीलिए गुणवान् सेवक को कुछ काल बाद निराश होना पड़ता है। जब वीरवर छत्रसाल को असाधारण पराक्रम करने पर भी औरंगजेब द्वारा उचित सम्मान प्राप्त न हुआ तब वे बोले—

---

१ असली आल्हखंड पृष्ठ ४६।
२ कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ १२८।
३ सूर्यमल्ल, वीर सतसई, पृष्ठ ८६।

सूरज के आगे दुम पायो । अंधा बीन बजाइ रिझायो ।
बहर के अंग सुगंध लगायो । कायर की चमत्कार बुझायो ॥
बधिर कान में गंध सुनायो । सूरदास को चित्र दिखायो ।
अविवेकी को सेइ के, को न हिये पछिताइ ।
बीजा बवै बबूर के, कहा आम फल खाइ ॥[1] (गोरेलाल)

इन कवियों ने, विवेक तथा गुणज्ञता से शून्य स्वामियों के समान ही उन स्वार्थपरायण सेवकों को भी आड़े हाथों लिया है जो उदर-पूर्ति के समय तो स्वामी के संमुख रहते हैं और उसके संकट-ग्रस्त होने पर अपने प्राण बचाने के लिए घर में जा घुसते हैं । चंदबरदाई ने इस नीति को पाहरराय के मुख से वृक्ष और पक्षियों की उपयुक्त उपमा द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—

यहु न अंग सेवक प्रमान, वृक्ष पछी केरहिं हुअ ।
फेर सरण संमुह फलंति, पुहुमी भी भार फलहिं अब ।
ते नहिं अभिगि उड़, अप्पु तिन तजिय जाहीं ।
स्वामी संकरे छांडि, जीवन रक्खन पर जाहीं ।[2]

(घ) स्त्री

स्त्री के सम्बन्ध में वीरकाव्यों में दो प्रकार के विचार प्रकट किये गए हैं—निंदात्मक और प्रशंसात्मक । निंदा के प्रायः चार कारण प्रस्तुत किये गए हैं—छल-कपट, विनाशकारिणी वाणी, भीरुता और दुस्साहस । स्त्री के चरित्र की गहनता और उसके मुख से निःसृत शब्दों की विध्वंसकता का संकेत नरपति नाल्ह ने इस प्रकार किया है—

इस्त्री-चरित-गति को लहइ ? एकइ बोलइ रच सबद विलास ।[3]

नारी की भीरुता और पुरुष की आत्मश्लाघा का उल्लेख जोधराज ने उस प्रसंग में किया है जिस में अलाउद्दीन और उसकी बेगम के आमोद प्रमोद का वर्णन है । रात्रि के समय दोनों रंगमहल में हास-विलास में मग्न थे कि दैवयोग से वहाँ एक चूहा आ कूदा । यह देख जहाँ बेगम कांप उठी वहाँ बादशाह बाण से चूहे के प्राण हरकर अपनी वीरता का बखान करने लगा । दम्पती के संवाद रूप में जोधराज कहते हैं—

कायर जाति तिया तुम जानी । तातें यह तुम भ्रममहिं ठानी ।
यह करनी अद्भुत तुम देखी । जिय डर करी सु तुम अवरेखी ।

---

१ गोरेलाल छत्रप्रकाश पृष्ठ ७७ वीर-काव्य, पृष्ठ ३११ पर उद्धृत ।
२ पृथ्वीराज रासो प्रथम भाग, (उदयपुर), पृष्ठ २६४ ।
३ बीसलदेव रासो, पृष्ठ ५१३ ।

हँसी हुरम सुनि हुलसति बानी । पुरुषन की तौ पकरच कहानी ।
मारैं सिंह तो न मुख मारैं । जाके नाहिं प्राण पै राखैं ।[1]

कायरता के साथ ही इन काव्यों में नारी की प्रबलता का भी उल्लेख किया गया है। परन्तु स्मरण रहे कि यह प्रबलता उस के शारीरिक या आत्मिक बल पर नहीं उसके सौन्दर्य पर आश्रित है। जैसा कि किसी नीतिज्ञ का कथन भी है कि पुरुष का सौन्दर्य उस के बल में और स्त्री का बल उस के सौन्दर्य में निहित है। स्त्री अपने लावण्य से प्रतापी नरेशों को अपने चरणों में झुका सकती है और तेजस्वी महर्षियों को पथ भ्रष्ट कर सकती है। जब वह अपनी बात पर अड़ जाए तब अत्यन्त दुःसाहस-पूर्ण कार्य करने से भी नहीं झिझकती। उर्वशी द्वारा पद्म ऋषि के तपोभंग के प्रकरण में जोधराज ने लिखा है—

का नहिं पावक जरि सकै, का न समुद्र समाय ।
का न करै अबला प्रबल, किहिं जग काल न खाय ।[2]

हमारे विचार में स्त्रियों की उपयुक्त प्रकार की निन्दा परम्परा का पालन मात्र है। पूर्ववर्ती साहित्य में इसी प्रकार की नारी-निन्दा अनेक कवि कर चुके थे और इन कवियों ने प्रसंगवश उन्हीं मतों की पुनरावृत्ति कर दी है।[3] वस्तुतः इन काव्यों का वातावरण नारी की प्रशंसा से पूर्ण है। इन में उन राजा-महाराजाओं के चरित का वर्णन है जिन्हें मोक्षानन्द की अपेक्षा ऐहिक सुख अधिक प्रिय थे। ऐहिक सुख के प्रधान साधन दो हैं—कामिनी और कंचन। यही कारण है कि इन रचनाओं में कामिनी की स्तुति ही अधिक की गई है। स्त्री दाम्पत्य सुखों की दायिका होने के कारण ही पुरुष की प्रशंसा पात्र न थी पुत्र-दान और सहगामिनी होने के हेतु भी श्लाघनीय थी। इसी लिए चंद बरदाई ने स्त्री-स्नेह की स्तुति इस प्रकार की है—

पूरन संपत्ति बिलास रस, सरस पुत्र फल दान ।
अंत होइ सहगामिनी नेह नारि को मान ।[4]

यह वीरांगना युद्ध में हत वीर पति के साथ सहर्ष सती होकर जहाँ अपने अद्वितीय प्रेम तथा वीरता का परिचय प्रस्तुत करती थी, वहाँ वीरपुत्रा और वीर पत्नी होने में उचित गर्व का भी अनुभव करती थी। कवि लोग भी उन नारियों पर बलिहारी जाते थे जो अपनी अबोध बालिकाओं को ऐसी शिक्षा देती थीं जिस से सद्योजाता कन्याएँ प्रसूतिका-गृह की तापने की अंगीठी को देखकर इस लिए हर्षित

---

१ जोधराज हम्मीर रासो, पृष्ठ ४८ ।
२. वही, पृष्ठ २८ ।
३ चाणक्य नीति पृष्ठ ७।१, शतकत्रय, पृष्ठ ६६।१०, सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृष्ठ १४८ आदि, रामचरितमानस, सुन्दर पृष्ठ २६१ ।
४ कविता कौमुदी, भाग १ (१९४६ ई०), पृष्ठ ११५ ।

होती थी कि बड़ी हो कर वे वीर पति के साथ इसी अग्नि की ज्वालाओं का आलिंगन करेंगी। कविराजा सूर्यमल्ल कहते हैं—

हूं बलिहारी राणियां, जाचा गरभ सिधाय।
जावां हुवे आपणां, हुरकें ही धण साथ।[1]

पुरुष तो युद्ध में बच भी सकता है इसलिए युद्ध के लिए प्रस्थान करने में उतनी वीरता अपेक्षित नहीं होती जितनी पीछे की चिता पर चढ़ने के लिए। जो पुरुष होकर भी रणभूमि से भागने से भीत मस्त होते हैं उन पर व्यंग्य कसती हुई कोई वीरांगना कहती है कि तुम भूलकर भी अग्नि पर पांव न रखना। ऐसा करने से तो राख ही शेष रहेगी। इस का आलिंगन करने में तो स्त्रियां ही समर्थ हैं।

धूम न धीजै ठाकुरां, पावक नाम पाय।
राख रहीजै राजियां सिरां जरीजै जाय।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन काव्यों में अनेक गुणों से सुभूषित होने के कारण स्त्री की प्रशंसा ही अधिक है। इस पर भी यदि कोई उन्हें कायर कहने का साहस करता है तो कवि उस के लिए नारी को दोषी नहीं ठहराता उस वंश को ही दूषित कहता है जिसके कुसंस्कारों के कारण वह वीरता से वंचित रह जाती है—

नरां न ठीणों नारियां, दैखो संगत एह।
सूरां घर सूरी बहू, कायर कायर गेह।[3] (सूर्य मल्ल)

(ख) पुरुष

यदि स्त्री अपने पातिव्रत और वीरता का प्रमाण जौहर द्वारा देती थी तो पुरुष ढाल-तलवार के जौहर दिखाकर। जगनिक आल्ह-खण्ड के प्रारम्भ में दुर्गा देवी का स्तवन करते समय जहाँ गायक के लिए स्वर, नर्तक के लिए नयन और वादक के लिए ताल की याचना करते हैं वहाँ पुरुष के लिए ढाल और करवाल की—

गाउन वारे को स्वर दीजो औ बजवैये दीजो ताल।
नाचन वारे को नैना देउ मर्द को देउ ढाल तलवारि।[4]

उन का सिद्धान्त यह था कि जो व्यक्ति तेग बांधने में समर्थ है, उसका घर पर बैठे रहना अनुचित है।[5] पुरुष का कर्तव्य है कि युद्ध में लड़ भिड़ कर जीवन को अपमानित करे, न कि शीत ज्वरादि से पीड़ित होकर आर्त-नाद करता हुआ खाट पर

१ सूर्यमल्ल वीरसतसई पृष्ठ ५३।६५।
२ वही पृष्ठ २१।६३।
३ वही पृष्ठ ८६।१८१।
४ असली आल्हखण्ड, पृष्ठ ५६।
५ सं० सत्यप्रिय सुजान-गणावली, पृष्ठ ९६।

प्राण दे। खाट पर मरने वाला तो उस पुण्य से भी वंचित रह जाता है जो काक-गिद्धों को अपने मांस के प्रदान से प्राप्त होता है। युद्ध में ऊदल अपने सैनिकों को उत्तेजित करते हुए पुरुष के कर्तव्यों का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

मर्द बनाये मरि जावे को, खो खटिया पर मरें बलाय।
जो मरि जैहौ रन खेतन में तुम्हरो नाम अमर ह्वै जाय।[1] (जगनिक)

दाम्पत्य सुखों का उपभोग तथा रण भूमि में युद्ध-विग्रह यौवन में ही किया जा सकता है। कभी-कभी पुरुष इस कारण असमंजस में पड़ जाते हैं कि उधर तो युद्ध की रणभूमि रणांगण में जूझने को निमन्त्रित करती है और इधर नवोढ़ा का सान्निध्य आमोद प्रमोद के लिए। ऐसी स्थिति में वीरकाव्यों के रचयिता यह शिक्षा देते हैं कि वर को नगाड़े की ध्वनि सुनते ही वधू का आंचल-छोर छुड़ा कर घोड़े को रण-भूमि की ओर बढ़ाना चाहिए—

जब सुणायो वीर तू, पैंजां पर पाया।
अंचल छाड़ै चालियो चंचल चढ़ धुड़ाय।[2] (सूर्यमल्ल)

पुरुष पराई नारी को माता बहिन और पुत्री के समान समझता था परन्तु जब कलुषित वासना का विकार पहले पर-नारी द्वारा ही व्यक्त किया जाता था तब रति-दान न करने वाला व्यक्ति पुरुषत्व हीन भी समझा जाता था। अलाउद्दीन की पत्नी रूप-विचित्रा ने महिमा शाह को निर्जन वन में इसी दुविधा में डाल दिया था। उसके कुत्सित प्रस्ताव पर शाह बोला—

मैं अब लौं तिय जग मैं जानत। अपनी मात सुता सम मानत।
तातें कहा कहूँ मैं हारूँ। यह तो कबहुं चित्त न विचारूं।[3] (जोधराज)

महिमा शाह तो पतिता को पावन करने का इच्छुक था परन्तु रूपविचित्रा ने पावन को पतित करने के ढंग से यह उत्तर दिया—

तिय तजि लाज कहत रति चाहन। जो नहिं धर्म जो पुरुष अराधन।
पुरुष धर्म यह भूप न होई। तिय चाहत को नाहत कोई।[4]

अबला का सबला रूप विजयी हुआ। शाह की सीखें किरकिरी हो गईं। वह मोह के कारण अधर्म को भी धर्म मान बैठा और मन में कहने लगा—

साँची है यह नारि धन जग जस नहिं प्रगट।[5]

परन्तु कवि की दृष्टि में परकीया-गमन यदि नैतिक कृत्य होता तो न शेख

---

१ सतसई शाह्नखंड पृष्ठ ७७-७८।
२ सूर्यमल्ल-वीरसतसई पृष्ठ ७२।१११
३ हम्मीर रासो, पृष्ठ ३६ ४०
४ वही पृष्ठ ४०
५ वही „ पृष्ठ ४०

को दिल्ली छोड़नी पड़ती न हम्मीर की शरण में जाना पड़ता और न अलाउद्दीन का रणथंभौर पर आक्रमण होता। हमारे मत में भी परनारी की याचना पर एकाग्र नीति-विरुद्ध है। पतित व्यक्ति तो दूसरे को अपने सुख के लिए, अनैतिक कार्य करने की प्रेरणा ही नहीं करता प्रोत्साहन भी देता है परन्तु नीतिमान् व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि नीतिभ्रष्ट को सत्पथ पर लाने का उद्योग करे। यदि वह अपने इस उद्योग में सफल न भी हो सके तो भी स्वयं पथभ्रष्ट होकर समाज को अनैतिकता के गर्त में गिराना तो किसी प्रकार भी नीति-संगत नहीं माना जा सकता।

(च) हिंदू, मुसलमान

हिन्दू इस भूमि पर सुदीर्घ काल से निवास कर रहे थे। मुसलमानों ने आ कर इन्हें राज्य-वैभव से ही वंचित नहीं किया इनके धर्म पर भी प्रहार किया। दोनों की संस्कृतियों में भी अन्तर स्पष्ट है। मुसलमान पश्चिमाभिमुख नमाज पढ़ा करते हैं और हिन्दू पूर्वाभिमुख सन्ध्या-वन्दन। वे मूर्तिभंजक हैं तो ये मूर्तिपूजक। वे गौ को एक भक्ष्य और बलि के योग्य पशु-मात्र मानते हैं तो ये उसे माता के समान मान्य। वे सूअर को देखना तक हराम समझते हैं तो ये उसे एक भक्ष्य प्राणी। वे गैर-मुस्लिमों को काफ़िर कहते हैं तो ये मोमनों को म्लेच्छ। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दू और मुसलमान शासकों में प्रायः सामंजस्य न रहा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वीर-काव्यों के रचयिता हिन्दू और हिन्दू राजाओं के आश्रित थे। इसलिए यदि इन्होंने मुसलमानों को अविश्वसनीय अविवेकी अत्याचारी आदि कह डाला है तो क्षम्य ही है। यहाँ यह भी विस्मरण न करना चाहिए कि इन के प्रति कटूक्तियों का प्रयोग भी विवेक-पूर्वक ही किया गया है। जसे कवि भूषण ने जहाँ औरंगजेब की निन्दा उसकी मदान्धता के कारण की है वहाँ उसके पूर्वजों की प्रशंसा भी उनके न्याय्याचरण के कारण की ही है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भूषण ने अन्याय के पक्षपाती जसवन्त-सिंह उदयभान[1] आदि हिन्दू नरेशों को भी आड़े हाथों लिया है। उपर्युक्त नीतियों से सम्बन्धित कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं।

पठानों की युद्ध प्रियता

सौ भूमि महमद खाँ का कहना सब पठान चढ़ि धाए।
जो पठान तिस की तो मरना ऐसे वचन सुनाए।[2] (सूदन)

---

1 भूषण ग्रन्थावली (लाहौर १६३७ ई०) पृष्ठ १०८।२८६
2 सुजानचरित्रावली, पृष्ठ ६१

तुर्कों की अविश्वसनीयता

सुनि अलेस पठान वही करतो या की संग।
पै इन तुरकन तो कछु बुझ्यो नहीं प्रसंग।
जो यह भेज्यो साह को चल्यो पठानन पास।
तो तोहू को पातुकी पै न करो बिसवास।[1] (सूदन)

न्यायप्रिय मुसलमान शासकों की प्रशंसा

जाति को न जानो देवी-देवता न मानो सांच
कहू जो पिछानो बात कहत हौं अब की।
बब्बर अकब्बर हिमायूँ हद बाँधि गए,
हिन्दू औ तुरक की कुरान बेद ढब की।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती
जहाँगीर साहजहाँ साख पूरें तब की।
कासीहु की कला गई मथुरा मसीत भई,
सिवाजी न होतो तो सुनति होती सब की।[2] (भूषण)

परन्तु जो यवन शासक वेद स्मृति और पुराणों के प्रचार के विरोधी थे यज्ञोपवीत माला तिलक और चोटी को मिटाना चाहते थे हिन्दुत्व की रक्षा के लिए उन से लोहा लेने की प्रेरणा ही इन काव्यों की नीति है।[3]

(ख) मित्र, शत्रु

युद्ध प्रधान इन काव्यों में मित्र-विषयक नीति की अपेक्षा शत्रु-सम्बन्धी नीति की प्रधानता दिखाई देती है। युद्ध में सहायक मित्र दुर्लभ हो होते हैं मित्रों के प्रति हमारा व्यवहार सुधा के समान होना चाहिए और शत्रुओं के प्रति पावक के तुल्य बैरी के वचन विश्वसनीय नहीं होते शत्रु बाहर से प्रेम भी करे तो भी हृदय में द्वेष रखता है शत्रु के संहार से ही वीरों की कीर्ति का प्रसार होता है, आदि अनेक उपयोगी नीतियों का इन काव्यों में उल्लेख किया गया है। जैसे—

रिपु जन के रस कहाँ कहु तिन वचन विसासहु।
कहा पिशुन सुमतीत कहा अरि कोई कृपासहु।
महुरे का कहा मीठ कहा हितकारक होत बाय।
कहा स्व प्रगटित अगनि कहा पय पोषित पन्नग।[4] (मान)

---

१ वही पृष्ठ २९।
२ भूषण ग्रन्थावली शिवाबावनी पृष्ठ ७४।१९
३ ,, पद ३०२१
४ मान राज विलास वीरकाव्य पृष्ठ २५४ पर उद्धृत।

(ख) फुटकल

उपर्युक्त मुख्य सामाजिक नीतियों के अतिरिक्त छिटपुट रूप से अन्य अनेक उपयोगी सामाजिक बातों का वर्णन भी इन काव्यों में जहाँ-तहाँ दिखाई देता है, जैसे योगियों को याचकों की वन्दना वाम हस्त से करनी चाहिए दाहिने से नहीं क्योंकि दाएं हाथ से तो वे सुमरनी के द्वारा सर्वेश का स्मरण करते हैं बहता पानी और रमते योगी कहीं रुका नहीं करते, सबल लोग निर्बल को खा जाते हैं, राजा को, चाहे वह शतरंज का भी हो न मारना चाहिए ।[1]

४ आर्थिक नीति

शासक लोग तो वैभव और भूमि के लोभी होते ही हैं, इसलिए इन काव्यों में संचय की कुत्सा का अभाव-सा ही । प्रायः धनाढ्य लोग सम्पत्ति को स्थिर मान कर धनमद से मत्त हो कर, मनमाने कार्य करने लगते हैं जिनका दुखद परिणाम उन्हें बाद में भोगना पड़ता है । इस कटु स्थिति से बचाने के लिए इन कवियों ने कई स्थलों पर लक्ष्मी की चंचलता और आवश्यकता का उल्लेख किया है । चंद बरदाई का कथन है—

को गहुड़े कोटेसि जो कैं विलस करि लेव ।
माया छाया मध्य दिन, ज्यों विनया बलदेव ।[2]

जहाँ सन्त और भक्त कवियों ने द्रव्य से दूर रहने की शिक्षा दी है, वहाँ इन कवियों ने उसे दान करने और भोगने की । इन काव्यों में समृद्ध व्यक्तियों के द्वारों पर 'दान की दुन्दुभि' और 'भिक्षुक भीर' का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है ।

यद्यपि क्षत्रिय नरेश खूब ठाट-बाट से रहते थे तथापि स्वाम धर्म की तुलना में वे सम्पत्ति को तुच्छ मानते थे । धन का प्रलोभन उन्हें कर्तव्यपथ से विचलित करने में प्रायः असमर्थ रहता था । जब औरंगजेब ने महाराज जसवन्तसिंह को धन का प्रलोभन देना चाहा तो जोधपुराधीश ने उत्तर दिया कि हमारी यही (जीवका-साधन) और अक्षय कोष तो बहुत ही—

येही हम कुल धम्म, धम्महम धम्म धराम्महु ।
धम्म करत बड़ धराक, नाम हुम धम्म निवाम्महु ।
धन बल न डग धग्ग खेत इक्कह हुम धम्महु ।
क्षिति रक्खन भूमि धम्म, प्रसिध धम्मो हुम धम्महु ।

---

१ भासुवंस पृष्ठ ४८, १४ 'वीरकाव्य' में 'यशप्रकाश' पृष्ठ २६१ 'वीरकाव्य' में 'हम्मीर हठ' पृष्ठ ४८२

२ पृथ्वीराज रासो भाग १, (उदयपुर), पृष्ठ २०९

यम मार तिल्य तामी धरम आयागमनहि अपशुरन।
सो पाण्डव हम सूर सब धरम न साहि पलान मन।[1] (मान)

शास्त्रों और नीतिकाव्यों में तो प्रायः द्यूत क्रीड़ा को निन्द्य कर्म ही कहा गया है परन्तु वीरकाव्यकार इसे निषिद्ध नहीं कहते। उनके मत में तो क्षत्रिय को युद्ध और द्यूत का निमंत्रण कभी अस्वीकृत न करना चाहिए। राजपूतों के कर्तव्य का उल्लेख करते हुए पद्माकर कहते हैं—

[illegible] धर्म क्षत्रिन को प्रमान, पुरान वेद सदा कहैं।
द्विज गऊ पालहिं रिपु घालहिं शस्त्र धारहिं तन रहैं।
रन जुआ जुद्ध हु को कबहु, सपने हु नहिं नाहीं करैं।
ऐसे परम रजपूत कों रन विपत्त आरंभन करैं।[2]

५ इतर प्राणिविषयक नीति

उपर्युक्त पद्य से ही स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग परंपरा के अनुसार, द्विज और वेद की रक्षा के समान गो-रक्षा के लिए भी सर्वदा सन्नद्ध रहते थे। गजों और अश्वों के प्रति भी आदर भाव दिखाई देता है क्योंकि वे युद्ध में विशेष रूप से उपयोगी थे। घोड़ियों को भी का दूध भी पिलाया जाता था।[3] यह आदर भाव अपने ही पक्ष के गजाश्वों तक सीमित था क्योंकि विजय प्राप्ति के लिए शत्रुपक्षीय हाथी-घोड़ों के वध में इन्हें कोई संकोच न होता था। वीरकाव्यों के क्षत्रिय शासकों का अन्य हिंस्र और निरीह प्राणियों के प्रति कोई स्नेह नहीं दिखाई देता। वे अपनी वीरता की परीक्षा के लिए, लक्ष्यवेध के अभ्यास के लिए तथा मनोविनोद और भोजन के लिए विविध वन्य पशुओं का निस्संकोच वध करते थे। माताएँ अपने बच्चों को आखेट के लिए उत्साह-पूर्वक भेजती थीं। इससे उनके हृदय में कुछ कठोरता भी उत्पन्न होती थी जो शस्त्राजीवियों के लिए अभिशाप-सी है। जहाँ वे योद्धा लोग शरीर की पुष्टि और रसना की लोलुपता की शान्ति के लिए वन्य पशुपक्षियों का मांस खाने में संकोच न करते थे वहाँ रणभूमि में अपना मांस उन्हें अर्पित करने में भी हर्षोल्लास का अनुभव करते थे। वे तो उस शरीर को निरर्थक-सा ही समझते थे जिसका हाड़-मांस वन में जीव-जन्तुओं का भक्ष्य न बनता था। युद्ध में प्राण देने और लेने के लिए सज्जित वीरों को जिस निर्भयता, साहस और पराक्रम की आवश्यकता होती है मद्यपान उनके लिए उसमें सहायक होता था। यही कारण है कि इन काव्यों में योद्धा सुरा-प्रेम

---

१ मान: राजविलास पृष्ठ ८।१६०

२ सं० विश्वनाथ प्रसाद 'पद्माकर पंचामृत' में हिम्मत बहादुरविरदावली पृष्ठ १७। १०१

३ रासो सारहुपंड पृष्ठ ४३६

करते दिखाई देते हैं। उक्त कथन के समर्थक कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

अस्त्र का सम्मान

> कर चुमकारे पल्ल कहि, चाला चली री भैल।
> भीराजल आभाविपो, हूं बलिहार कुमैत ।[1] (सूर्यमल्ल)

आखेट की प्रेरणा

> भोर से बेटा आज ब्याबर में सो जाबेन में करो शिकार।
> लै शिकार पाओ ब्याबर से महतारी के करो प्यार।
> जो शिकार लै है ब्याबर से सो जनकपिता पूत हमारा ।[2] (जगनिक)

कटक में मांस-भक्षण

> बारह कोसी के लिरचा में खोंग नाहीं बनाकर क्यार।
> बड़ो रघुवंशी जमध्यान की बतुमन चढ़े हिरन के मांस ।[3] (जगनिक)

मुमुक्षु का मद्यपान

> काय उतावली कंकली, भै मन भीबरा भेल।
> कंत समप्पे हेकली, कटका काढ़ि कलेव ।[4] (सूर्यमल्ल)

६ मिश्रित नीति

वीरकाव्यों की मिश्रित नीति का वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है—

(क) मृत्यु (च) भवितव्यता
(ख) समय (छ) शकुन, ज्योतिष
(ग) कलिकाल (ज) राजनीति
(घ) स्थान चरिता (झ) धर्म।
(ङ) पुरुषार्थ

---

१ सूर्यमल्ल : वीरसतसई पृष्ठ १०।१६। अर्थ—पति की विजय का पुत्र सुनकर स्त्री ने पति के भाल की आरती उतारी और हाथ से थपथपा कर कहा—हे प्राण, मैं तुम पर बलिहारी जाती हूं।
२ भडली पाण्डुलेख, पृष्ठ १०
३ वही पृष्ठ ४४
४ सूर्यमल्ल वीरसतसई पृष्ठ ११६।११८। अर्थ—अरी भोली इतनी आतुरता क्यों? केवल युद्ध-यात्रा की देर है, फिर तो आते ही मेरे पति शत्रु-कन्ध काट कर उनके कलेजे मुझे अर्पित करेंगे।

(छ) मृत्यु—मृत्यु की चर्चा पूर्ववर्ती धर्म-ग्रंथों और नीतिकाव्यों के समान इन वीरकाव्यों में भी बहुत की गई है परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भारी अन्तर है। धर्मग्रंथ मनुष्यों को ब्रह्म प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रायः मृत्यु का भय दिखाते आये हैं और नीतिकाव्यकार उन्हें उत्तम आचार और व्यवहार में प्रवर्तित करने के लिए। परन्तु वीरकाव्यों ने मृत्यु का भय नहीं दिखाया उससे निर्भय बनाने का यत्न किया है। युद्ध में भाग लेने वालों के दोनों हाथों में लड्डू हैं। विजयी हुए तो सांसारिक सुखों के भोग और वीरगति पाई तो स्वर्गीय सुखों के। सूर्यलोक आदि में स्थान पाने की चर्चा भी की गई है परन्तु अधिकतर ध्यान अप्सरा आदि से प्राप्य सुखों की ओर है। इन वीरों की धारणा है कि यदि आयु शेष है तो न कोई प्राणा-पहरण कर सकता है और न मनुष्य भूखा मरता है, और यदि जीवन के दिन पूरे हो चुके हैं तो लाख उपाय करने पर भी कुछ नहीं बन सकता। मृत्यु के समय के समान, वे उसके स्थान को भी निश्चित मानते हैं। युद्ध में पमार अर्जुनसिंह अपने सैनिकों को उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

(क) जिन की लरी है मीच जब तिनको न हत-जत बचाहुगो।
जिनकी नहीं है लिखि रखो तिन के न तन कों तचाहुगो।[1]

(ख) भेद अन्तर-ते जु भव, जु यो अनेक जिवें मरें।
पर काल है जिहि को जहाँ तिहि को तहाँ ते नहि टरे।[2] (पद्माकर)

जब मृत्यु का स्थान और समय निश्चित है तो अवसर आने पर कायरता क्यों दिखाई जाय? जो लोग अवसर पर वीरतापूर्वक प्राणोत्सर्ग करते हैं, उन्हें तो लोक में सुयश और परलोक में अप्सरा प्राप्त होता है परन्तु जो घर में ही रोग से घुल-घुल कर प्राण देते हैं उन्हें तो यम-दूत नरक में ही ले जाते हैं—

मठे मुकत अपूठा उठे अवसर मरियाँ आय।
मरणो घर रे मांझियाँ, जम नरकां ले जाय।[3] (सूर्यमल्ल)

(ज) समय—दिनों के अच्छे और बुरे होने में इन कवियों का विश्वास है। जब दिन अच्छे आते हैं तो सब काम स्वयमेव सुधरते जाते हैं और जब बुरे, तब सब पुरुषार्थ विफल हो जाते हैं।[4] सब का समय भी सदा समान नहीं रहता। जो मनुष्य आज धनी, युवक और सुखी है वही कल निर्धन जीर्ण और दुखी दिखाई देता है—

धन जोबन नर की दसा सदा न एक निहाय।
पाक पीत ससि की कला घटत-बढ़त रहि जाय।[5] (जोधराज)

१ पद्माकर पंचामृत हिम्मतबहादुर बिरदावली पृष्ठ १९
२ वही, पृष्ठ १७
३ सूर्यमल्ल वीरसतसई पृष्ठ ७१।११०
४ पृथ्वीराज रासो (उदयपुर) प्रथम भाग पृष्ठ १२८।६१
५ जोधराज हम्मीर रासो पृष्ठ ११८।६७४

करते दिखाई देते हैं। उक्त कथन के समर्थक कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

अश्व का सम्मान

> कर पुचकारे पाण कहि, आरत पली री बीत।
> तोराजस बापाधिवी, हूं बलिहार कुमैत।[1] (सूर्यमल्ल)

आखेट की प्रेरणा

> ओर से बेटा आज भ्रातर में भी जाकर वे करो शिकार।
> मैं शिकार खायो भ्रातर से बहुतारी के करो प्रचार।
> जो शिकार में है भ्रातर से ही तलवारसिंह कुल हमारा।[2] (जगनिक)

कटक में मांस-भक्षण

> भाग्य कोली के सिरसा में भेजा गाड़ी लगाकर प्रचार।
> वहीं रसुइयाँ समरायन को बहुधन चढ़े हिरन के मांस।[3] (जगनिक)

युयुत्सु का मद्यपान

> काय उतावली कंथड़ी, वे मद पोवण बेम।
> कोव समम्मे हेकलो, काढ़ेला काढ़ि कलेज।[4] (सूर्यमल्ल)

६ मिश्रित नीति

वीरकाव्यों की मिश्रित नीति का वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है—

(क) मृत्यु (ख) पतिव्रता
(ग) समय (घ) शकुन, ज्योतिष
(ङ) कामिकाम (च) राजनीति
(छ) स्वाम सरिता (ज) धर्म।
(झ) पुरुषार्थ

---

१ सूर्यमल्ल : वीरसतसई पृष्ठ १७।१६। अर्थ—पति की विजय का वृत्त सुनकर स्त्री ने पति के अश्व की आरती उतारी और हाथ से थपथपा कर कहा—हे अश्व, मैं तुझ पर बलिहारी जाती हूँ।
२ आल्हखण्ड पृष्ठ १०
३ वही पृष्ठ ४४
४ सूर्यमल्ल : वीरसतसई, पृष्ठ ११६।११८। अर्थ—अरी भील इतनी आतुरता क्यों? केवल युद्ध-पान मात्र की देर है, फिर तो अकेले ही मेरे पति शत्रु-कलेजे काट कर उनके कलेजे मुझे अर्पित करेंगे।

(क) मृत्यु—मृत्यु की चर्चा पूर्ववर्ती धर्म-ग्रंथों और नीतिकाव्यों के समान इन वीरकाव्यों में भी बहुत की गई है परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भारी अन्तर है। धर्मग्रंथ मनुष्यों को ब्रह्म प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रायः मृत्यु का भय दिखाते आये हैं और नीतिकाव्यकार उन्हें उत्तम आचार और व्यवहार में प्रवर्तित करने के लिए। परन्तु वीरकाव्यों ने मृत्यु का भय नहीं दिखाया, उससे निर्भय बनाने का यत्न किया है। युद्ध में भाग लेने वालों के दोनों हाथों में लड्डू हैं। विजयी हुए तो सांसारिक सुखों के भोग और वीरगति पाई तो स्वर्गीय सुखों के। सूर्यलोक आदि में स्थान पाने की चर्चा भी की गई है परन्तु अधिकतर ध्यान अप्सरा आदि से प्राप्य सुखों की ओर है। इन वीरों की धारणा है कि यदि आयु शेष है तो न कोई प्राणा-पहरण कर सकता है और न मनुष्य भूखा मरता है और यदि जीवन के दिन पूरे हो चुके हैं तो लाख उपाय करने पर भी कुछ नहीं बन सकता। मृत्यु के समय के समान, वे उसके स्थान को भी निश्चित मानते हैं। युद्ध में पमार अर्जुनसिंह अपने सैनिकों को उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

(क) जिन की बदी है मीच रन तिनको न इत-उत बचाहिगी।
जिनकी नहीं है विधि रची, तिन के न तन कों तचाहिगी।[1]

(ख) खेद चकत्तन-के सु सब, सु यों अनेक किये करें।
पर काल है जिहि को जहां, तिहि को तहीं ते नहिं टरै।[2] (पद्माकर)

जब मृत्यु का स्थान और समय निश्चित है तो अवसर आने पर कायरता क्यों दिखाई जाय? जो लोग अवसर पर वीरतापूर्वक प्राणोत्सर्ग करते हैं, उन्हें तो लोक में सुयश और परलोक में अमरत्व प्राप्त होता है परन्तु जो घर में ही रोग से घुल-घुल-कर प्राण देते हैं उन्हें तो यम-दूत नरक में ही ले जाते हैं—

घटै सुजस अघता बढ़ै, अवसर चरियौ जाय।
मरणो घर रै माझियां, जम नरकां ले जाय।[3] (सूर्यमल्ल)

(ख) समय—दिनों के अच्छे और बुरे होने में इन कवियों का विश्वास है। जब दिन अच्छे आते हैं तो सब काम स्वयमेव सुधरते जाते हैं और जब बुरे, तब सब पुरुषार्थ निष्फल हो जाते हैं।[4] मन का समय भी सदा समान नहीं रहता। जो मनुष्य आज धनी युवक और सुखी है, वही कल निर्धन क्षीण और दुखी दिखाई देता है—

धन जोवन नर की दसा सदा न एक दिखाय।
पाख पाख तिथि को कला, घटत-बढ़त वहि जाय।[5] (जोधराज)

१ पद्माकर पंचामृत हिम्मतबहादुर विरदावली पृष्ठ १६
२ वही पृष्ठ १०
३ सूर्यमल्ल : वीरसतसई पृष्ठ ७।।१०
४ पृथ्वीराज रासो (उदयपुर) प्रथम भाग पृष्ठ १८८।६२
५. जोधराज हम्मीर रासो पृष्ठ ११८।६०४

(ग) कलिकाल—ब्राह्मण-ग्रंथों के समय से ही कलियुग में अधर्म अनाचार आदि की अधिकता का उल्लेख हमारे साहित्य में किया जाता रहा है। आशा की जा सकती थी कि वीरगाथाओं के वीर पात्र इस विचार में परिवर्तन लाने का उद्योग करते परन्तु ऐसा हो नहीं पाया। वे भी बुद्धिविनाशादि दोष कलि के माथे मढ़ते ही दिखाई देते हैं—

ज्यों-ज्यों कलि प्रकट भयो, त्यों-त्यों घटि गई बुद्धि ।
सब के कवि भाषा बहुत तऊ न समझत बुद्ध ।[1] (सूदन)

कविवर भूषण ने अपने समय के पापमय वातावरण के लिए कलियुग को दोषी तो ठहराया है परन्तु कुशल इतनी है कि उन्होंने इसके प्रभाव को क्षीण करने के लिए शिवा जी के हाथ में खड्ग दे दिया है।[2]

(घ) स्वाम भक्ति—भूपतियों के काव्य होने के कारण वीरकाव्यों में भूमि की वह उपेक्षा नहीं पाई जाती जो सन्तों और भक्तों की वाणियों में प्राय दिखाई देती है। सन्त भक्त तो शरीर के लिए दो गज भूमि ही पर्याप्त समझते हैं परन्तु वीरकाव्यों में माता पुत्र को पालने में ही यह शिक्षा देती हुई दिखाई पड़ती है कि प्राण भले ही अर्पित कर दो भूमि किसी को मत छीनन दो—

रहत न देखी आपणी, हालरियाँ हुलराय ।
पूत सिखावे पालणे मरण बड़ाई माय ।[3] (सूर्यमल्ल)

भूमि को माता मानने की जो भावना वैदिक युग में विद्यमान थी[4] और मध्यवर्ती काल में गुप्त-सी दिखाई देती थी इन काव्यों में आकर पुनर्जागरित हो गई। लोभ के कारण इस भावना को अनेक भारतीय नृप विस्मृत कर चुके थे परन्तु राणा प्रताप के हृदय में यह सदा स्फुरित रही—

धिर नृप हिन्दुस्थान, आतर पग भग लोभ लग ।
माता भूमि समान, पूजै राण प्रताप को ।[5] (दुरसा जी)

वीरकाव्यों में गंगा जी के प्रति विशेष श्रद्धा लक्षित होती है। किसी बात का विश्वास कराने के लिए गंगाजी की शपथ ली जाती है। उसके दर्शन स्नान और पान से पुण्य प्राप्त होता है। रण में स्नान करने से जो योद्धा उसे डुबकी का अभिप्राय समझता है और स्नान करके जो दान किया जाता है वह विशेष रूप से पाप नष्ट करता है। युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व योद्धा लोग गंगाजल का अत्यन्त श्रद्धा से पान

१ सूदन रत्नावली पृष्ठ ३।१२
२ र जनारायण शर्मा : भूषण ग्रंथावली पृष्ठ ८०।६१
३ सूर्यमल्ल : वीरसतसई पृष्ठ ११४।२३४
४ माता भूमि : पुत्रो अहं पृथिव्या अथर्ववेद १२।१।१२
५ मोतीलाल मेनारिया डिंगल में वीर रस पृष्ठ ५५

करते हैं।[1] जब ऊदल पन्नी के प्रासाद से कुछ विलम्ब से लौटा तो भावज के कारण पूछने पर बोला—

> बैठी तिलसिलि रंग महलों को हमको नेपुरत गई पहिचानि ।
> गंगा हम सों यों करवाई तुम मेरे संग करो बियाहु ॥[2] (जगनिक)
> पद हुलैबे को को बरनै को बुढ़ती की लेय मसराय ॥[3] (जगनिक)

(क) पुरुषार्थ—इन काव्यों का वातावरण पुरुषार्थ की भावना से परिपूर्ण है। कहीं राजा शत्रु को पराजित करने का उद्योग कर रहा है कहीं पुत्र पिता के बैर का प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध हो रहा है कहीं माता पुत्र को परहस्तगत भूमि को लौटाने के लिए उत्तेजित कर रही है और कहीं स्त्रियाँ अपने पतियों को युद्ध से विजयी होकर लौटने को प्रोत्साहित कर रही हैं। आलस्य अकर्मण्यता संतोषादि की चर्चा इन काव्यों में दिखाई नहीं देती। ऐसे लगता है कि जैसे प्रत्येक वीर अपने और अपने स्वामी के ऐहिक तथा आमुष्मिक जीवन को सुखपूर्ण बनाने की शपथ ग्रहण किये हुए हो। उपरिलिखित अनेक उदाहरणों में पुरुषार्थ की भावना झलकती हुई देखी जा सकती है।

(ख) भवितव्यता—प्रायः यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति पुरुषार्थ में अधिक आस्था रखते हैं वे भाग्य में कम और जो भाग्य में अधिक श्रद्धा रखते हैं वे पुरुषार्थ में कम। परन्तु इन काव्यों में आश्चर्यजनक बात यह दिखाई देती है कि इन के पात्र भवितव्यता में अटल विश्वास रखते हुए भी पुरुषार्थ में कमी नहीं आने देते। वे भी, कीर्ति स्त्री आदि की प्राप्ति के लिए हर समय हथेली पर सिर रखे दिखाई देते हैं, परन्तु उनकी जिह्वा से भाग्यरेखा की अमार्जनीयता पूर्वसंचितकर्मों के फल की अनिवार्यता होनहार की प्रबलता आदि शब्द भी निकलते ही रहते हैं। वाणी और कर्म के इस बाहरी वैषम्य का कारण दुरूह नहीं है। वस्तुतः पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला मनुष्य न भाग्य का विरोध कर सकता है, न पुरुषार्थ का परित्याग। उसे विश्वास होता है कि पूर्वजन्म के अवशिष्ट कर्मों का फल भी वैसे ही मिलेगा जैसे कि इस जन्म के। इसलिए वह भाग्य और पुरुषार्थ दोनों में आस्था रखता हुआ जीवन-पथ पर निर्भयता पूर्वक अग्रसर होता है। भाग्य की प्रबलता का अनेक स्थानों पर उल्लेख वीरों में निर्भयता के संचार के लिए भी आवश्यक था। यदि कहीं वीरों में इस भावना का संचार हो जाए कि युद्ध में भाग न लेने से मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकेंगे और विविध सांसारिक सुखों का निर्बाध भोग कर सकेंगे तो अधिकतर लोग एक या दूसरे प्रकार से युद्ध से दूर ही रहने के उपाय सोचेंगे। परन्तु

---

१ वचनिकारतनराठौड़ामृत, हिम्मतबहादुर विरदावली पृष्ठ ११।१११
२ परमाल रासो पृष्ठ २६
३ वही , पृष्ठ २४

इसके विपरीत यदि यह भावना बनी रहे कि होनी हो कर ही रहेगी तो उन में निस्सं- देह अदम्य साहस, पराक्रम और वीरता का संचार होगा और वे संकटमय समय में भी पथ पीठि हटाने का विचार तक मन में न लावेंगे। यही कारण है कि इन युद्धप्रधान काव्यों में भी भाग्य प्रबलता की प्रतिपादक उक्तियाँ भी जहाँ-तहाँ मिलती ही हैं। जैसे—

> अवसि वस्त जो होय सो न मिटहि कहा नाहि ।
> अवतव्य बात मिटे न को होइ जु कहा तिरजायी ।[1] (चंद बरदाई)
> जग में जु जन्म बियाहु जीवन मरन रिन धन धाम वे ।
> लिखिकों जहाँ लिखि दियो प्रभु तिहि को जुरत तिहि ठाम वे ।[2] (पद्माकर)
> अनहोनी नहिं होय, होय होनी है सोइय ।
> रिवत मोहि हरि हुक्म डर मु मानव क्यों कोइय ।[3] (जोधराज)

(ख) शकुन ज्योतिष—यद्यपि संस्कृत के नीतिकाव्यों में शकुनों तथा ग्रहों की विभिन्न गतियों के प्रभाव की चर्चा न होने के तुल्य ही है तथापि भारतवासियों का इन बातों पर चिरकाल से विश्वास चला आता है। अपभ्रंश के काव्यों में शकुनों के शुभाशुभ प्रभाव का उल्लेख किया गया है। हिन्दी के वीरकाव्यों के अध्ययन से विदित होता है कि क्षत्रियेतर जातियाँ तो इन पर अधिक आस्था रखती थीं परन्तु क्षत्रिय लोग कम। यह सत्य है कि युद्धादि के लिए प्रस्थित होते समय क्षत्रिय लोग भी 'समरसार की पोथी' से गमन मुहूर्त निकलवाया करते थे तथापि जब स्थिति संकटमयी होती थी तब न ग्रह-नक्षत्रों की चिन्ता करते थे और न शुभाशुभ शकुनों की। किन्तु थोड़ा युवती स्यामा पक्षी आदि के शकुन शुभ समझे जाते थे और छींक सर्प-दर्शनादि अशुभ।

'आल्हखंड' में जब ऊदल ने पिता का प्रतिशोध लेने के लिए माड़ो पर आक्र- मण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया तब प्रस्थान के लिए शुभ मुहूर्त सोचा जाने लगा—

> मन के पोथी समरसार को देखा सगुन विचारन लाग ।
> सामवेद रिगु वेद अथर्वन बांचै यजुर्वेद महाराज ।
> सगुन हमारो नी बोलत है माड़ो काम सिद्धि हुइ जायं ।[4]

इसी प्रकार 'सुजानचरित्र' में सूदन ने सुजानसिंह की युद्ध-यात्रा के समय में भी लगन-मुहूर्त देख जाने का उल्लेख किया है।[5]

---

१ पृथ्वीराज रासो प्रथम खंड पृष्ठ ८४ ६०
२ पद्माकर पंचामृत हिम्मतबहादुर विरुदावली, पृष्ठ १७
३ हम्मीर रासो पृष्ठ ९०
४ असली आल्हखंड, पृष्ठ १९
५. सूदन रसावली पृष्ठ ४२।७

ध्यान देने की बात है कि वीरकाव्यों के निर्भय योद्धा जब रणक्षेत्र में आ पहुँचते थे तब तो न उन्हें प्राणों का मोह रहता था न यम का भय परन्तु संग्राम के आरम्भ में यदि कोई अपशकुन हो जाता तो इन के हृदय भी एक बार तो व्याकुल हो ही जाते थे। यह बात दूसरी है कि वे क्षण भर बाद अपने क्षत्रियत्व को स्मरण कर इन अपशकुनों की उपेक्षा कर देते थे। जब महोबे के वीर माड़ो आ पहुँचे तब करिया उनके सांमुख्य के लिए अपने गज पर आरूढ़ होने को ही था कि अकस्मात् अपशकुन हो गया—

छिद्री जमाई तब होदा में बहिने पहुँचि गयो हरनाथ।
पहिले डंका पर पग धरतैं टूटी गई सड़ाका छींक॥[1] (जगनिक)

करिया ने काँपते हुए कलेजे से तत्काल पंडित को बुलाया। पंडित ने 'समरसार' की पोथी और चारों वेद देखकर कहा—

राहु बारहीं पड़ै बेहड़े उतरो दृष्टि शनीचर आय।
यात्रा जनमी दसयों परिगौ तुम न धरौ अगाड़ पाँय॥
सायति नीको ना बनै की अब तुम लौटि जाउ महाराज॥[2] (जगनिक)

इसी बीच में करिया कुछ सँभल गया। भूमि के अपशकुनों से भी जो हृदय काँप उठा था वह आकाशीय ग्रहों की विषम गति से भी विचलित न हुआ। करिया कहने लगा—

सगुन विचारें बनियों के लड़िका, जो नित करें बनिज व्यापार।
सगुन विचारें रँगतिरेया जो धरि गौर बियाहन जायँ।
सगुन विचारें तुम जैसे हुइ, जो रन लड़िके लोह चबायें?
डू न कराय दयो करिया ने आगे डंका दयो बजाय॥[3] (जगनिक)

यहाँ यह निर्देश करना भी असंगत न होगा कि शुभ शकुन ले कर चलने वाले महोबा के वीरों की तो विजय हुई और अपशकुन की उपेक्षा करने वाले करिया की पराजय। परन्तु ये शकुन सदा सत्य ही सिद्ध होते हों ऐसी बात नहीं। हिन्दी काव्यों में इन से भी बलवती कर्मगति मानी गई है। यद्यपि वशिष्ठ ने शुभ लग्न-मुहूर्त में ही श्रीराम का राज्याभिषेक किया था तथापि कर्मगति के अधीन उन्हें वनवास के दुःख सहने पड़े।[4]

---

१ असली आल्हखंड, पृष्ठ ८१
२ असली आल्हखण्ड पृष्ठ ८१
३ वही पृष्ठ ८१
४ कबीर, सूरदास, मीरां आदि अनेक कवियों ने लग्न-मुहूर्त की अपेक्षा कर्मगति को बलवती माना है। देखें कविताकौमुदी, पृष्ठ १७५, १९२ सूरसागर, पृष्ठ ८४।२९४

इसके विपरीत यदि यह भावना बनी रहे कि होनी हो कर ही रहेगी तो उन में निर्भय देह अदम्य साहस पराक्रम और वीरता का संचार होगा और न संकटमय समय में भी पग पीछे हटाने का विचार तक मन में न लावेंगे। यही कारण है कि इन ओजप्रधान काव्यों में भी भाग्य-प्रबलता की प्रतिपादक उक्तियां भी जहां-तहां मिलती ही हैं। जैसे—

जबहि बत्त जो होय सो न मिटहि कहूं नाहिं।
भवितव्य बात मिटै न जो होय जु कहा सिरजवी।[1] (चंद बरदाई)
जग मैं जु जन्म विवाहु जीवन मरन दिन पग पाय ये।
विधिहूँ कहूं लिखि दियो प्रभु तिहि को मुरत लिहि तत्व दे।[2] (पद्माकर)
अनहोनी नहिं होय होय होनी है सोइय।
रिनक मोहि दुरि कृष्ण दर सु भावत क्यों सोइय।[3] (जोधराज)

(७) शकुन ज्योतिष—यद्यपि संस्कृत के नीतिकाव्यों में शकुनों तथा ग्रहों की विभिन्न गतियों के प्रभाव की चर्चा न होने के तुल्य ही है तथापि भारतनिवासियों का इन बातों पर चिरकाल से विश्वास चला आता है। अपभ्रंश के काव्यों में शकुनों के शुभाशुभ प्रभाव का उल्लेख किया गया है। हिन्दी के वीरकाव्यों के अध्ययन से विदित होता है कि क्षत्रियेतर जातियां तो इन पर अधिक आस्था रखती थी परन्तु क्षत्रिय लोग कम। यह सत्य है कि युद्धादि के लिए प्रस्थित होते समय क्षत्रिय लोग भी 'समरसार की पोथी' से लगन मुहूर्त निकलवाया करते थे तथापि जब स्थिति संकटमयी होती थी तब न ग्रह-नक्षत्रों की चिन्ता करते थे और न शुभाशुभ शकुनों की। किन्तु भौंरा युवती श्यामा पक्षी आदि के शकुन शुभ समझे जाते थे और छींक सर्प-दर्शनादि अशुभ।

आल्हखंड' में जब ऊदल ने पिता का प्रतिशोध लेने के लिए माड़ो पर आक्रमण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया तब प्रस्थान के लिए शुभ मुहूर्त खोजा जाने लगा—

लै कै पोथी समरसार की देखा सगुन विचारन लाग।
सामवेद रिगु वेद अथर्वन बांचै यजुर्वेद महाराज।
सगुन हमारो यों बोलत है माड़ौ काम सिद्धि हुइ जायँ।[4]

इसी प्रकार 'सुजानचरित' में सूदन ने सुजानसिंह की युद्ध-यात्रा के समय में भी लगन-मुहूर्त देखे जाने का उल्लेख किया है।[5]

---

१ पृथ्वीराज रासो प्रथम खंड पृष्ठ ८८ ६०
२ पद्माकर पंचामृत हिम्मतबहादुर विरुदावली, पृष्ठ १७
३ हम्मीर रासो पृष्ठ ५०
४ असली आल्हखंड, पृष्ठ ३६
५. सूदन रत्नावली पृष्ठ ४२१०

ध्यान देने की बात है कि वीरकाव्यों के निर्भय योद्धा जब रणक्षेत्र में पहुँचते थे तब तो न उन्हें प्राणों का मोह रहता था न यम का भय, परन्तु संग्राम के प्रारंभ में यदि कोई अपशकुन हो जाता तो उन के हृदय भी एक बार तो व्याकुल हो ही जाते थे। यह बात दूसरी है कि वे क्षण भर बाद अपने क्षत्रियत्व को स्मरण कर उन अपशकुनों की उपेक्षा कर देते थे। जब महोबे के वीर माड़ो जा पहुँचे तब करिया उनके सामुख्य के लिए अपने गज पर आरूढ़ होने को ही था कि अकस्मात् अपशकुन हो गया—

सिंदी लगावें तब होदा में दहिने पहुँचि गयो हुरबाय।
पहिले डंका पर पग धरतैं दुरके माई तड़ाका छींक॥[1] (जगनिक)

करिया ने काँपते हुए कलेजे से तत्काल पंडित को बुलाया। पंडित ने 'समर सार' की पोथी और चारों वेद देखकर कहा—

राजू बारहों मर्दे देहुरु उठरो वृश्चिक लमीचर आय।
काल जगामो दसवों परिगो तुम न धरौं अगाड़ पाँवें॥
सामलि मोपो मा बैठ की अब तुम लौटि जाव महाराज॥[2] (जगनिक)

इसी बीच मे करिया कुछ सँभल गया। भूमि के अपशकुनों से भी जो हृदय कांप उठा था वह आकाशीय ग्रहों की विषम गति से भी विचलित न हुआ। करिया कहने लगा—

सगुन विचारें बनियें के लड़िका, जो नित करें बनिज बैपार।
सगुन विचारें रैयतिरैया जो मरि मौर कियाहुन जायें।
सगुन विचारें हम काहे हू, जो रन चढ़िके लोह बजायें?
हुकुम कराय दयो करिया ने, मारु डंका दयो बजाय॥[3] (जगनिक)

यहाँ यह निर्देश करना भी असंगत न होगा कि शुभ शकुन मे कूच करने वाले महोबा के वीरों की तो विजय हुई और अपशकुन की उपेक्षा करने वाले करिया की पराजय। परन्तु ये शकुन सदा सत्य ही सिद्ध होते हों ऐसी बात नहीं। हिन्दी काव्यों में इन से भी बलवती कर्मगति मानी गई है। यद्यपि वसिष्ठ ने शुभ लग्न-मुहूर्त में ही श्रीराम का राज्याभिषेक किया था तथापि कर्मगति के अधीन उन्हें वनवास के दुःख सहने पड़े।[4]

---

१ असली आल्हखंड, पृष्ठ ८१
२ असली आल्हखंड, पृष्ठ ८१
३ वही पृष्ठ ८१
४ कबीर, सूरदास मीरां आदि अनेक कवियों ने लग्न-मुहूर्त की अपेक्षा कर्मगति को बलवती माना है। देखें, कविताकौमुदी, पृष्ठ १०५, ११२, सूरसागर, पृष्ठ ८३।२६४

बाहुबल साहस पराक्रमादि से युक्त होते हुए भी वीरकाव्य के वीर यंत्र, तंत्र मंत्र, गुटिका कवचादि के टोनों-टोटकों में विश्वास रखते थे। उनके विश्वास के अनुसार ये वस्तुएँ संकटमय समयों में मनुष्य की कुछ-न-कुछ सहायता करती ही थीं। पद्माकर वीरदेव का वर्णन करते हुए कहते हैं—

तहँ जंत्र-मंत्र अनेक दुर्गा भागवत गीतान के।
गुटिका धरे सिर सोहहीं, जे करत काम पवमान के ॥[1]

(ख) राजनीति—न वीरकाव्य राजनीति के काव्य हैं और न राजनीति प्रस्तुत प्रबन्ध के विषयक्षेत्र के अन्तर्गत है तो भी इतना स्पष्ट करना असंगत न होगा कि इन काव्यों में प्रसंगवश राजा मंत्री दूत सेना साम दाम दंड भेद आदि कई राजनीतिक विषयों की चर्चा की गई है। जैसे बायें हाथ से प्रणाम करने पर राजा क्रुद्ध होते हैं युद्ध में सैनिकों को सेवक नहीं भाई-बन्धु समझना चाहिए, प्रजा रंजन ही राजा का मुख्य कर्तव्य है स्वामि-रहित सेना से युद्ध करना निःशस्त्र व्यक्ति पर प्रहार के समान नीतिविरुद्ध है इत्यादि।[2]

(ग) धर्म—राजनीति के समान धर्म भी हमारे विवेच्य क्षेत्र से बहिर्गत है तथापि संक्षेप में यह कहना अनुचित न होगा कि इन काव्यों में ईश्वर धर्म और परलोक में श्रद्धा पाई जाती है। इनका विश्वास है कि राम के माहात्म्य से बिगड़ते काम भी बन जाते हैं। योद्धा लोग राम और गणेश का पूजन करके युद्ध में सम्मिलित होते हैं जिससे वीरशिरोमणि श्रीराम की कृपा से विजय-लाभ हो और विनायक के अनुग्रह से विघ्न विनाश। धर्म के निमित्त देहत्याग के लिए इनमें पर्याप्त उमंग है। ईश्वर में विश्वास और हाथ में कर्म इन वीरों का कर्तव्य है। मोक्ष सूर्यलोक, स्वर्ग आदि में भी इनकी श्रद्धा है परन्तु मोक्षादि की अपेक्षा स्वर्ग प्रियतर है क्योंकि वहाँ के सुख सांसारिक सुखों से मिलते-जुलते हैं जिनके इच्छुक ये लोग तो हैं ही परन्तु युद्ध-विग्रहों के कारण अधिक उपभोग नहीं कर पाते। इन विषयों के कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) राखि हिये रघुनाथ को हाथ लिये तरवार।
ये रक्षा करिहैं सदा, यह जानो निरधार ॥[3] (भोरैलाल)

(ख) राम कहैं तो कवि कहैं बिगरी बनत बनत बनि जाय ॥[4] (जयसिंह)

---

१ पद्माकर ग्रंथावली हिम्मतबहादुर विरुदावली पृष्ठ २०

२ देखें असली आल्हखण्ड पृष्ठ ११ ४२, हम्मीर रासो, पृष्ठ १२१।१६०, पृथ्वीराज रासो (उदयपुर) प्रथम भाग पृष्ठ ४११। १६

३ 'छत्रप्रकाश' में छत्रसाल को शिवाजी का उपदेश 'वीरकाव्य' पृष्ठ ११७

४ असली आल्हखंड पृष्ठ ४६

वीरकाव्यों के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

नवीन विषय—पूर्वलिखित विवरण से विदित होता है कि वीरकाव्यों का नीतिकाव्य चर्वित-चर्वण मात्र नहीं है। उसमें ऐसे अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है जो प्रायः पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती नीतिकाव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होते। उदाहरणार्थ मानव-जन्म की सार्थकता युद्धों द्वारा अक्षय कीर्ति की प्राप्ति में है न कि मोक्ष व आत्म-साक्षात्कार में, युद्धक्षेत्र में अपना मांस पशु-पक्षियों को खिलाने से पुण्य-लाभ, वेद, शास्त्र, पुराण, ज्योतिषादि में श्रद्धा, स्वाधीनता की रक्षा, पराधीन व्यक्ति यशस्वी नहीं होता, पारिवारिक जीवन की प्रशस्यता, कायरता के कलंक से कुटुम्ब की रक्षा, प्रियतम के प्रस्थान पर अश्रुपात का अनौचित्य, पिता के अपकार का प्रतिशोध लेना पुत्र का प्रथम कर्तव्य, माता द्वारा गर्भस्थ शिशुओं को वीरता की शिक्षा, वीरप्रसविनी जननी की वन्दना, स्त्री के लिए सापत्न्य सबसे बड़ा दुःख, दीर्घायु को धिक्कार, संकटमय कार्य प्रकट रूप से करणीय, गुप्त रूप से नहीं, प्राणपण से शरणागत की रक्षा, पुरुषों का जन्म ही वीरगति प्राप्त करने को हुआ है, स्वामि-धर्म के पालन में प्राणों को सहर्ष बलि चढ़ाने का व्यवसाय ही युद्ध है, तुर्कों की विश्वासघातकता, अन्यायी यवनशासकों की निन्दा, क्षत्रिय युद्धाह्वान का प्रत्याख्यान नहीं करते, युद्ध में निधन बैकुण्ठ प्राप्ति, धार्मिक स्थानों की प्रेरणा, मातृभूमि के रक्षणार्थ प्राणोत्सर्ग की कामना, ईश्वर-विश्वास तथा हाथ में खड्ग, शकुन विचार क्षत्रिय नहीं किया करते इत्यादि।

उपेक्षित विषय—जहाँ वीरकाव्यों में उपर्युक्त नवीन विषयों का उल्लेख दिखाई देता है वहाँ कई प्राचीन विषयों की विशेषतः वीरोपयोगी न होने के कारण उपेक्षा-सी कर दी गई है। जैसे उदर-पूर्ति के दूषण, कन्या-निन्दा, मांस मद्य मधु और सुरा के सेवन की निन्दा, जप तप क्षम दम दया क्षमा आदि, काम मोह और विषयों की महत्ता, विद्या का महत्त्व, विद्या प्राप्ति के साधन और विघ्न, तारुण्य-निन्दा, ब्राह्मण पुरोहित पौराणिकादि की निन्दा। तात्पर्य यह है कि इन काव्यों में क्षत्रियों के व्यवहारों का ही अधिक वर्णन किया गया है और इतर वर्णों तथा जैन, बौद्धादि की नीति को उपेक्षित-सा कर दिया गया है।

पूर्ववर्ती प्रभाव—इन काव्यों पर पालि और प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत और अपभ्रंश का तथा बौद्ध और जैन नीति की अपेक्षा हिन्दू नीति का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। चूँकि इन रचनाओं का सम्बन्ध युद्ध-विग्रहादि से अधिक है अतः इन पर महाभारत का और अपभ्रंश के वीरतापूर्ण स्फुट पद्यों का अधिक प्रभाव पड़ा है। जैसे—

(क) संस्कृत काव्यों का प्रभाव

कुरुक्षेत्र में हतोत्साह अर्जुन को कृष्ण इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥[1] (महर्षि व्यास)

हे अर्जुन युद्ध में वीरगति पाने पर तू स्वर्ग प्राप्त करेगा और विजयी होने पर राज्य-सुख। इसलिए युद्ध का निश्चय करके खड़ा हो जा।

खेतधार में जो तन छूटै तो रविमंडल भुक्त मुक्त हुई ।
खेतपत्र जो रन में पावै तो पुहुमी के नाथ कहावै ॥[2] (गोरेलाल)
जीतै तो घर भुगिवै भुम्मिहं सुरपुर बास ।
दोऊ बात जितौ समर तजौ मोह अप आस ॥[3] (जोधराज)
रनधीर छत्रिय जो जुरत में जूझें आतिम है भली ।
जौरी सु अरि-गन मारि तो जीवें धरनि धसी-धसी ॥
जूझै जु युद्ध विरुद्ध ही, स्वर्गापवर्गहि पावही ।
तहँ कर मनमाने विहार न कबहुँ इत अब आवहिं ॥[4] (पद्माकर)

धृतराष्ट्र की आज्ञा से जब विदुर पांडवों को द्यूत क्रीड़ा के लिए निमंत्रित करने को गये तब युधिष्ठिर ने कहा कि मैं अपनी इच्छा से तो शकुनि के साथ जुआ न खेलूँगा परन्तु यदि मुझे सभा में ललकारा गया तो अपने व्रत के अनुसार पीछे भी न हटूँगा—

न चाकामः शकुनिना देवितास्मि
न चेन्मां धृष्ट आह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥[5]

इसी नीति को परमाल अर्जुन अपने सैनिकों के सम्मुख यों व्यक्त करते हैं

जम सूका युद्ध हू को कबहुँ सपने हु नहिं नाहीं कर ।
ऐसे परम रजपूत जो रन गिरत आरोगन करें ॥[6] (पद्माकर)

(ख) अपभ्रंश का प्रभाव—

(१) भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥[7] (अज्ञात कवि)

---

१ भगवद्गीता अध्याय २।३७
२ गोरेलाल: छत्रप्रकाश गोरेलाल पृष्ठ ११७ पर उद्धृत
३ जोधराज हम्मीर रासो पृष्ठ १२१ ॥
४ पद्माकर पद्मामृत हिम्मत बहादुर विरुदावली पृष्ठ १८
५ पी० पी० वैद्य संक्षिप्तमहाभारतम् (बम्बई १९१२ ई०) पृष्ठ ७३
६ पद्माकर पंचामृत हिम्मत बहादुर विरुदावली पृष्ठ १७
७ नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृष्ठ ३३९

मोखा की बर मानियौ, बात न पहुंई पेख।
बीछी बीठो कुल बहू मोखा करसी मेख ॥[1] (सूर्यमल्ल)

(२) जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिम डेण ॥[2] (अज्ञात कवि)
जें दल भग्गा तो सखी मोताहल सब पाल।
निज भग्गा तो नाहरो साथ न सूतो हाल ॥[3] (सूर्यमल्ल)

उपयुक्त पद्यों की तुलना से विदित होता है कि वीर काव्यकारों ने संस्कृत के पद्यों का तो अनुवाद-सा ही कर दिया है परन्तु अपभ्रंश के भावों को कुछ पल्लवित भी किया है।

परिस्थितियों का प्रभाव—वीरकाव्यों की नीति तत्कालीन परिस्थितियों से भी पर्याप्त प्रभावित है। यह प्रभाव तीन वर्गों में विभाज्य है—

(क) राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव
(ख) सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव
(ग) धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव

(क) राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव—विक्रमी सं० ७ ४ में सम्राट् हर्षवर्द्धन के ससार से उठते ही उत्तरापथ से सुख-शांति का साम्राज्य भी उठ गया। केन्द्रीय शासन के अभाव में देश छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित हो गया। दिल्ली में तोमर, कन्नौज में राठौर अजमेर में चौहान धार में चालुक्य और कालिंजर में चंदेल राजपूत शासन करने लगे। प्रत्येक राज्य का शासक अपनी सीमा का विस्तार करने तथा अपने को सर्वाधिक शक्तिशाली बनाने को बद्धपरिकर हो गया। परिणाम यह हुआ कि आए दिन के पारस्परिक युद्धों के कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई। गजनी के महमूद ने भारत के इन आन्तरिक विग्रहों से लाभ उठाने का संकल्प किया। उसने अपने सत्रह आक्रमणों में देश की कलात्मक कृतियों को ध्वस्त किया मन्दिरों को धराशायी बनाया अपार धन-सम्पत्ति को लूटा और सहस्रों स्त्री-पुरुषों को दास बनाकर गजनी ले गया। अब इतना कुछ हो जाने पर भी यहां के शासकों की आँखें न खुलीं तो मुहम्मद गौरी ने इस देश पर आधिपत्य जमाने के लिए अनेक आक्रमण किये। पृथ्वीराज ने कुछ अन्य नरेशों की सहायता से गौरी को कई बार नाकों चने चबवाए परन्तु अपनी उदारता के कारण उसका प्राणापहरण न किया। अन्तिम बार जब विजेता परास्त हुआ तो गौरी ने उसे जीवित न छोड़ा। इसके पश्चात् यवन आक्रमणकारियों ने भारत में अपने पाँव फैलाने आरम्भ किए। हिन्दू राजाओं ने उनका भरसक प्रति-

---

१ सूर्यमल्ल वीर सतसई पृष्ठ ९२।११६
२ हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग पृष्ठ ३४६
३ सूर्यमल्ल : वीर सतसई, पृष्ठ १०।१५

आदि की तृप्ति का उल्लेख किया है।[1] यंत्र मंत्र गुटिका कवच आदि द्वारा आत्म रक्षा तथा अनिष्टनिवारण की भावना बौद्धों के प्रभाव से प्राप्त प्रतीत होती है। युद्धों में मरने से मनुष्य स्वर्गलोक में निवास पाता है और स्वर्गलोक समग्र सुखों का सदन है, यह भावनाएँ भगवद्गीता पुराण आदि में उल्लिखित हैं। हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के प्रभाव से वीरकाव्यों में इनकी चर्चा बहुत अधिक की गई है। अप्सराएँ विमानों में रणक्षेत्र के ऊपर इसी विचार से उड़ती रहती हैं कि जो योद्धा पीठ दिखाए बिना प्राण देगा उसे इन्द्रपुरी ले जाएँगी।[2]

यदि वीरकाव्यों में हिन्दू और मुसलमान शासकों में प्राय: वैमनस्य ही चित्रित किया गया है तो उसका मुख्य कारण राजनीति ही नहीं धर्म भी है। अकबर आदि कुछ उदार शासकों को छोड़ प्राय: मुसलमान शासक हिन्दू धर्म और संस्कृति की अवहेलना ही करते रहे। यही कारण है कि हिन्दुत्व-प्रेमी राजाओं तथा हिन्दुत्व-विरोधी यवन शासकों में वैमनस्य बना रहा। भोरै लाल को औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के विरोध में लिखना ही पड़ा—

हिन्दू तुरक दीन है गाये तिन सों बैर सदा चलि आये।
जब ते साह तखत पर बैठे तबतें हिन्दुन सौं उर ऐंठे।
महँगे कर तीरथन लगाये बेद देवाले निदरि ढहाये।
घर घर बांधे जजिया लीनें अपने मन भाये सब कीनें॥[3]

यदि कवि भूषण ने औरंगजेब की उपरिलिखित नीति से खिन्न होकर शिवाजी की प्रशंसा करते हुए यह लिखा—

काल करत कलि काल में नहीं तुरकन को काल।
काल करत तुरकान को, सिव सरजा करवाल॥[4]

तो इसे भी धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव ही मानना होगा यवन-मात्र के प्रति सहज द्वेष का परिणाम नहीं। यहाँ इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि यह द्वेष हिन्दुत्वविरोधी शासकों और सैनिकों के प्रति ही है यवन-मात्र के प्रति नहीं। क्योंकि इन्हीं काव्यों में हिन्दू नरेशों द्वारा मीर हुसैन महिमा शेख आदि विपन्न यवनों की रक्षा का वर्णन भी किया गया है।

अस्तु, उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वीर काव्यों की नीति पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है।

रस और भाव—वैसे तो वीरकाव्यों में हास्य और शान्त रसों को छोड़ सभी

---

१ पदमावती आल्हखण्ड पृ० ४४७ भूषण ग्रंथावली, पृ० २१०
२ आल्हखंड पृ० ४३१
३ छत्रप्रकाश पृ० ७८ वीरकाव्य पृ० ३१२
४ भूषण ग्रंथावली शिवराज भूषण पृ० ११।८६

रसों की यथास्थान और यथाप्रसंग न्यूनाधिक अभिव्यक्ति हुई है तथापि उनके नीति सम्बन्धी अंशों में वीर रस और उसके भी भेदों में युद्धवीर मुख्य है। जिन स्थलों पर पर सैनिकों को सेनापति पुत्रों को माताएँ और पतियों को पत्नियाँ संग्राम करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं जिनमें क्षात्र धर्म का प्रतिपादन किया गया है जिनमें योद्धागण पग पीछे न हटाने की पीठ न दिखाने की पैतृक भूमि को हाथ से न जाने देने की बात पर प्राण-त्याग न करने की और इसी प्रकार की अन्य वीरत्वपूर्ण प्रतिज्ञाएँ करते हैं उनमें वीर रस की इतनी हृदय-स्पर्शी अभिव्यक्ति की गई है कि पढ़कर मृतप्राय मनुष्य की भी धमनियों में रक्त खौलने लगता है। विपद्ग्रस्त शरणागतों की रक्षा के प्रसंग में दयावीर की वीरों के विवाहों के वर्णन में शृंगार की, भीत सैनिकों के चित्रण में भयानक की क्रोध से बिफरते भटों के कार्य-कलाप में रौद्र की विधवाओं आदि के शोक की अभिव्यक्ति में करुण की सैनिकों के लोकोत्तर वीरता-प्रदर्शन में अद्भुत की तथा रक्त-मांसादि से आच्छादित रणभूमि के चित्रण में बीभत्स रस की व्यंजना भी अच्छी हुई है। इन रसों के अतिरिक्त ईर्ष्या द्वेष हठ, मद उग्रता चिन्ता विषाद वितर्क उदारता, मानरक्षा स्वामिभक्ति पातिव्रत आदि भावों का प्रकाशन भी बहुत सुन्दर रीति से किया गया है।

भाषा—अधिकतर वीरकाव्यों की रचना व्रजभाषा में की गई है। प्रथम उत्थान के वीरकाव्यों में अपभ्रंशाभास और डिंगल की शब्दावली का प्रचुर प्रयोग दिखाई देता है। पंजाबी मारवाड़ी पूर्वी, बुन्देलखण्डी, बैसवाड़ी खड़ी बोली आदि के रूप भी कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। फ़ारसी अरबी तुर्की आदि के शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त है जैसे—लिफाफा तकबीर, दुआ-सलाम खिदमतगार आदि। अनुस्वार, रेफविपर्यय तथा व्यंजन-द्वित्व का व्यवहार भी प्राचीन वीरकाव्यों में अत्यधिक है जैसे गणपति को गनपति निर्भय को निब्भय राजवर को राजं वर सम्मुख चंद को सम्मुख चर्द मर्यादा को मज्जादा धर्म को ध्रम्म आदि। यह हेर-फेर कुछ तो प्राकृत के प्रभाव से, कुछ छन्दों को अक्षुण्ण रखने के विचार से और कुछ भाषा को अधिक ओजस्वी बनाने के लक्ष्य से किया है। नादात्मक शब्दावली भी प्रायः सभी काव्यों में न्यूनाधिक मात्रा में व्यवहृत हुई ही है। अभिव्यक्ति को अधिक सबल और स्पष्ट करने के लिए कई कवियों ने रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। जैसे—

(क) परो सनाका है सिरसा में नाहीं मचा तलक भन्नाय।[1] (जगनिक)

(ख) दव का दाधा कुपली मेल्है जीभ का दाधा न पांगुरई।[2]

(नरपति नाल्ह)

---

१ असली आल्हखंड पृष्ठ ४४१

२ बीसलदेव रासो पृष्ठ १७

(ग) सौ-सी पूंछे पाइके बिलारी बैठी लप कै।[1] (भूषण)

(घ) कोटिहू किये कसाय [illegible] पद्रो न होय कपि।[2] (मान कवि)

काव्य विधान—काव्यविधान की दृष्टि से वीर-काव्य चार प्रकार के दिखाई देते हैं—१ महा काव्य या चरित-काव्य, २ खंडकाव्य ३ गद्य काव्य या वीरगीत ४ मुक्तक। पृथ्वी-राज रासो हम्मीर रासो छत्रप्रकाश सुजान चरित्र आदि प्रबन्ध-काव्य हैं गोराबादल की कथा खंग-नाम्ना हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि खण्डकाव्य हैं बीसलदेव रासो तथा आल्हखंड वीरगीत या गेय काव्य हैं और शिवराज भूषण, शिवाबावनी वीर छत्रसई आदि मुक्तक काव्य हैं। नीति के उग्र और पक्तियाँ तो स्फुट रूप से उपर्युक्त सभी ग्रंथों में दृष्टिगत होती हैं परन्तु पृथ्वीराज रासो आल्हखंड तथा वीरसतसई में वे अपेक्षाकृत अधिक हैं।

शैली—इन काव्यों में नीति के विषयों के निरूपण के लिए तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक संवादात्मक अन्यापदेशात्मक तथा प्रवर्त्तक शैलियों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। इनमें कुछ कथक कवका बारहमासा गद्यात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियों का प्रयोग हमारे देखने में नहीं आया। तथ्यनिरूपक प्रवर्त्तक तथा उपदेशात्मक शैलियों के निदर्शन तो ऊपर आ ही चुके हैं। कुछ अन्य शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

संवादात्मक शैली—केशवदास ने वीरसिंह देव चरित' तथा 'रतन बावनी में इस शैली का प्रयोग सर्वाधिक किया है। 'रतन बावनी' में गोपाल विप्र-वेष धारण कर रत्नसेना के समीप आते हैं तथा आत्मरक्षा के लिए नीति की अ क बातें बताते हैं, परन्तु कुमार रत्नसेन मर्यादा की रक्षा को ही सर्वोत्तम नीति मानते हुए युद्ध से विचलित नहीं होते। 'वीरसिंह देव चरित म दान और लोभ के तर्क-वितर्क भी इसी शैली में निबद्ध हैं। उदाहरणार्थ—

विप्र उवाच—द्विज माँगै सो देय, विप्र को वचन न लोपिय।
द्विज बोलै सो करिय विप्र को मान न खंडिय॥
परमेश्वर अरु विप्र एक सम जानि सु लिखिय।
विप्र-बैर नहिं करिय विप्र कहँ सवसु दिखिय॥
सुनि रतन सेन मधुशाह सुव विप्र बोल दिन लिखियहु।
कहि केशव' तन मन वचन करि, विप्र कहयो सोइ किजयहु॥[3]

---

1 भूषण ग्रंथावली, शिवाबावनी पृष्ठ १६।१६
2 राजविलास पृष्ठ १५७
3 केशवग्रंथरत्न रतनबावनी, पृष्ठ ७

कुमार उवाच—

पतिहि भएँ मति नाश भएँ मति नाश गए प्रिय ।
प्राण घरे गुन घरे, घरे गुन लाज घरे हिय ।।
लाज घरे जस भखो भखो जस धरम जाइ छय ।
धरम गए सब करम करम गए पाप बसे तब ।।
पाप बसे नरकन परे, नरकन 'केसव' को सहै ।
यह जानि देहुँ सरबसु तुम्हें सुपौठ भए पति ना रहै ।।[1]

अन्यापदेशात्मक शैली—

जिस वीर की उपस्थिति में बड़े-बड़े योद्धा भी चूँ तक न कर सकते थे उसके स्वर्ग सिधार जाने पर सामान्य सियार भी ऊधम मचा रहे हैं, इस भाव की अभिव्यक्ति सूर्यमल्ल ने सिंह की अन्योक्ति से इस प्रकार की है—

जिण बन भूल न जावता गैंद गवय गिड़राज ।
तिण बन जंबुक ताखड़ा, ऊधम मंडै आज ।।[2]

छंद—

पृथ्वीराज रासो में दूहा (दोहा), कवित्त (छप्पय), पद्धरी भुजंगप्रयात भुजंगी त्रोटक मोतीदाम कुंडलिया चौपाई अरिल्ल, आर्या गाहा (गाथा), श्लोक आदि छन्दों का प्रयोग अधिक किया गया है। इनमें से नीति-विषयों के लिए दूहा कवित्त (छप्पय) श्लोक और गाहा का व्यवहार अधिक किया गया है। नीति-सम्बन्धी विषयों के लिए संस्कृत में श्लोक (अनुष्टुप्) का प्राकृत में गाथा का और अपभ्रंश में दोहे का प्रयोग पूर्व काव्यों में होता ही था। अतः इन कवियों ने इन छन्दों का नीति विषयों के लिये प्रयोग परम्परा से ही ग्रहण किया। जगनिक ने तो वीर या आल्हा छंद में ही आल्हखंड की रचना की थी परन्तु उनकी कृति में कुछ कुंडलिया भी दिखाई देती हैं जिन पर 'कहु गिरधर कविराय' की छाप ही उन पद्यों का प्रक्षिप्त होना प्रमाणित कर रही है।[3] द्वितीय उत्थान के केशव जटमल भूषण मान जोर लाल सूदन, पद्माकर जोधराज सूर्यमल्ल आदि कवियों ने अपने वीर-काव्यों में चौपही (चौपई) दोहा छप्पय, सवैया मोतीदाम, चकोर, गीतामालती पुष्पवेलि दंडमाली निशानी पद्धरी तोमर हुलास मड़का अरिल्ल त्रिभंगी हिल्ला भुजंगप्रयात, हनूफाल लघु

---

१ वही पृष्ठ ७

२ सूर्यमल्ल 'वीरसतसई' पृष्ठ ११३।२८२

३ असली आल्हखंड, पृष्ठ ११२ और गिरिधर राय कृत कुंडलिया, पृष्ठ १०।३१

करै पोथी समर सार की देखा सगुन विचारन साथ ।
साम बेद रिपु बेद अथर्बन कथि धनुर्वेद महाराज ॥[1]
समर-सार की पोथी लेके, पंडित सगुन विचारन लाग ।
यजुर बेद ऋगवेद अथर्वन गावें सामवेद महाराज ॥[2]

निष्कर्ष

यद्यपि वीरगाथाओं के अन्तर्वर्ती नीतिकाव्य की मात्रा अधिक नहीं है तथापि नीति-तत्त्व और नीतिकाव्यत्व की दृष्टि से यह विशेष महत्त्वपूर्ण है। पालि प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के नीतिकाव्यों में वह ऐहिकता प्रायः नहीं दिखाई देती जो नीति का प्राण है। उनका लक्ष्य ऐहिक जीवन की सफलता न होकर आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता है। इसका लक्ष्य संस्कृत के अधिकतर नीतिकाव्यों के समान इस जीवन को सुखी समृद्ध यशस्वी तथा सफल बनाना है। जीवन को सफल बनाने के लिए जिस वीरता, साहस और पराक्रम की आवश्यकता होती है उसकी प्राप्ति की इसमें प्रबल प्रेरणा की गई है। भूमि ही वस्तुतः वसुधा है इस तत्त्व को इन कवियों ने सम्यक् पहिचाना था। इसीलिए इन्होंने पैतृक भूमि की रक्षा और 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की भावनाओं का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। पारिवारिक जीवन की प्रशस्तता स्त्री का सम्मान स्वामि धर्म शरणागतरक्षा शत्रु-संहार आदि इन काव्यों की अन्य उल्लेख्य विशेषताएं हैं।

इन काव्यों के अध्ययन-काल में पाठक की दृष्टि कुछ अभावों और त्रुटियों पर भी अनायास ही जा पड़ती है। उदाहरणार्थ इनमें क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का तो पर्याप्त उल्लेख किया गया परन्तु अन्य वर्णों के कर्त्तव्यादि उपेक्षित-से रह गये हैं। वेश्यागमन सुरापान द्यूतक्रीड़ा कन्यापहरण बहुपत्नी विवाह आदि अनैतिक कृत्यों का निषेध दिखाई नहीं देता। विद्या के महत्त्व और प्राप्ति का अनाग्रह शकुन ज्योतिष यंत्र मंत्र जपादि पर विश्वास कलियुग का प्रभाव और भवितव्यता पर दृढ़ आस्था आदि बातें भी इन तथाकथित ग्रंथों में कुछ अखरती ही हैं। जो हो इन अपूर्णताओं की स्थिति में भी वीरगाथाओं का नीतिकाव्य जहां हमें वीरों के समान प्रतिष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा करता है वहां अपनी भूमि मान प्रतिष्ठा आदि की रक्षा के लिए हंसते-हंसते प्राणोत्सर्ग के लिए भी प्रोत्साहित करता है। जहां अधिकतर भारतीय नीतिकाव्य पाठकों को जीवन-विमुख तथा मोक्षोन्मुख करते हैं वहां ये काव्य उन्हें जीवन की दौड़-धूप के लिए समर्थ बनाते हैं और यह इन की महती विशेषता है।

---

१ असली धनुर्वेद, पृष्ठ १९

२ वही पृष्ठ ८१

तृतीय अध्याय

भक्तिकाल का नीति काव्य (सं० १३७५-१७०० वि०)

नीतिकाव्यकी दृष्टिसे हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल आदिकालकी अपेक्षा कहीं महत्त्वपूर्ण है। आदिकाल में एक भी ऐसी स्वतन्त्र कृति दिखाई नहीं देती जो पूर्णत: नीति पर आश्रित हो। नाथों ने योगपंथियों के उपयुक्त कुछ नैतिक तत्वों का उल्लेख भर किया दूसरी ओर मनोविनोदार्थ कुछ काव्यरचना की और वीर-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का यशोगान किया। इनकी कृतियों में स्फुट रूप से जो कुछ नीति विषयक पद्य प्रसंगवश आ गये हैं, उन्हीं से तत्कालीन नीति-काव्य का कुछ आभास उपलब्ध होता है। परन्तु भक्ति-काल का महत्त्व अपना ही है। यह तो इस काल के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका प्रमुख विषय भक्ति है नीति नहीं। तथापि संतों सूफियों रामभक्तों और कृष्णभक्तों ने जिन भक्ति-काव्यों की रचना की वे भक्ति की दृष्टि से ही नहीं नीति के विचार से भी अपना महत्त्व रखते हैं। परन्तु उनकी चर्चा अगले अध्याय का विषय है प्रस्तुत अध्याय का नहीं। इस अध्याय में तो हमें उन कृतियों का विवरण प्रस्तुत करना है जिनकी रचना का लक्ष्य ही नीति का प्रतिपादन था। उक्त प्रकार की रचनाओं के प्रणेताओं का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) भक्तिकाल के प्रमुख नीति-कवि
(२) अकबरी दरबार के कवि
(३) अनुवादक कवि
(४) फुटकर नीतिकवि

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन कवियों की चर्चा की गई है जिन्होंने आत्मतुष्टि तथा लोकोपकार की दृष्टि से सुन्दर और संपूर्ण मौलिक नीति-काव्यों का प्रणयन निश्चिन्ततापूर्वक किया। द्वितीय वर्ग में उन कवियों के नीतिकाव्य का विवरण दिया गया है जो अकबरी दरबार के शोभावर्धक थे तथा अपनी रचनाओं को सम्राट् तथा उसकी सभा की कामवृत्ति के लिए प्रस्तुत करते थे। इन्हें अपनी रचनाओं में राजकीय मर्यादाओं का भी ध्यान रखना पड़ता था। तृतीय वर्ग अनुवादकों का है और चतुर्थ वर्ग फुटकर नीति-कवियों का जिनकी कृतियां या स्फुट नीति पद संख्या और काव्यत्व की दृष्टि से सामान्य हैं।

१—भक्ति काल के प्रमुख नीतिकवि

प्रमुख कवियों की सूची पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि नीतिकाव्य के प्रणयन में यद्यपि जैन, हिन्दू, मुसलमान, सन्त, भक्त, राजा, मंत्री सभी ने सहयोग दिया है तथापि जैन कवियों की संख्या सर्वाधिक है। कारण, जैन तथा बौद्धधर्म आचार प्रधान धर्म हैं। वे लोग सर्वव्यापक, सृष्टिकर्ता तथा कर्म-फलदायक ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। उनका पथभ्रष्ट हो जाना आस्तिकों की अपेक्षा सहज है। इसी लिए उनको हितकर मर्यादाओं में स्थिर रखने के लिए आचार-व्यवहार, सन्मार्ग का उपदेश देना परमावश्यक होता है। पद्मनाभ, ठक्कुरसी, उदैराज, बनारसीदास आदि जैन कवियों ने अपनी रचनाओं में जूआ, मांस, सुरा, वेश्यागमन, आखेट, स्तेय, व्यभिचारादि का उग्र खंडन तो किया ही है, इन्द्रियनिग्रह, इन्द्रियसंयम, धनोपार्जन, कर्मफल, उद्यम-कर्म आदि विषयों पर भी सुन्दर रचनाएं प्रस्तुत की हैं। अधिकतर रचनाएं बत्तीसी, बावनी आदि मुक्तक-संग्रहों के रूप में हैं और कुछ प्रबन्धात्मक कथाओं के रूप में। अधिकतर जैन कृतियां मुनियों और यतियों द्वारा प्रणीत हैं, इसलिए उनमें ऐहिकता का स्वर यथेष्ट मुखर नहीं हो पाया। परन्तु राज-सम्पर्क के कारण उदैराज के काव्य अपवाद माने जा सकते हैं। रामभक्तों के नीतिकाव्यों में तुलसीदास जी की दोहावली अग्रतिम है और रत्नावली का "लघुदोहा संग्रह" तो स्त्रियों की गीता है। सन्त कवियों में से सुन्दरदास अपने सुन्दर-विलास, पंचेन्द्रियचरित्र, सद्गुरु-महिमा आदि सुन्दर नीतिकाव्यों के कारण तथा कादिर अपने सुन्दर कवित्तों के कारण प्रमुख नीतिकाव्यों में परिगणित किये गये हैं। देवीदास के कवित्तों तथा जान कवि के ग्रन्थों में ऐहिकता तथा राजनीति की अधिकता स्वाभाविक ही है क्योंकि एक राजमन्त्री थे तो दूसरे नवाब। जान ने कलि-चरित्र को अपने काव्य का विषय बनाया है और लाल (?) ने रूप तथा गुण की होड़ को। यहां यह स्मरणीय है कि उक्त सभी कवि किसी न किसी धर्म में आस्था रखते ही थे। इसलिए यह कहना अनुचित होगा कि इन की कृतियाँ आमूलचूल नीतिविषयक हैं। इन में आध्यात्मिक तथा धार्मिक पुट विद्यमान है, परन्तु अधिकता नीति की ही है। अब उपर्युक्त कवियों का काल क्रमानुसार परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

१ पद्मनाभ

कवि पद्मनाभ की एक ही अप्रकाशित मुक्तक कृति प्राप्त हुई है "डूंगर बावनी"।[1] इसकी रचना कवि ने अपने आश्रयदाता डूंगर सेठ के नाम पर की थी। डूंगर

---

१ हस्तलिखित प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में विद्यमान है।

सेठ ओसवाल कुल के फोफलिया गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनकी माता का नाम बाल्हेदेवी था और पिता का नाम धंघ। उनके गुरु का नाम हीणायर था और गुरु का नाम प्रम सूरि। 'डूंगरबावनी' की रचना सं० १५४ विक्रमी में हुई थी।[1] बावनी में कवल ५३ छप्पय हैं जो दया, कोप यश की रक्षा प्रति, गर्व, नम्रता धन दान कर्म-फल जीवन-साफल्य सप्तव्यसन (जुआ मांसभोजन सुरा-पान वेश्यागमन आखेट, चोरी परदारागमन) आदि विषयों पर लिखे गये हैं। कवि जैन है परन्तु ब्राह्मणों के इतिहास-पुराणों से भी सुपरिचित है। वह प्रतिपाद्य की पुष्टि में जैनों तथा ब्राह्मणों की अनेक कथाओं की ओर संकेत करता है। कवि की कल्पना अच्छी है और वह विषय को प्रभावक बनाने के लिए प्रकृति से अनेक उपमाओं को प्रस्तुत करता है। काव्य की भाषा राजस्थानी है और अपभ्रंश के परिलक्षित प्रभाव से युक्त है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की मात्रा भी नगण्य नहीं है। ओज की सृष्टि के लिए कवि एक या अनेक शब्दों की आवृत्ति करता है। प्रसाद ओज और माधुर्य तीनों ही गुण यथास्थान उपलब्ध होते हैं। काव्य के अध्ययन से दया दया उदारता नम्रता, वदान्यता आदि की पुनीत भावनाएं मन में जागरित होती हैं।

> जस कारणि बलिराय दिन्न बावन्न महीयर।
> जस कारणि दधिवदनहु कर्णि अप्पउ कवचमर।
> जस कारणि करि समर कप्पि अप्पीयउ कलेवर।
> जस कारणि जनमेय करमहि कढ़ाय दियउ सिर।
> जस कज्जि कज्जि मुक्ख मणण मिल्ह मुक रिख रंग रसु।
> सो दुक्खि सुखि डूंगर कहइ तिम किज्जइ जिम होइ जसु॥[2]

२ ठकरसी या ठक्कुरसी

घेल्ह या घेल्ह के पुत्र कवि ठकरसी के दो नीतिकाव्य— कृपणचरित तथा "पंचइंद्रीवेलि —प्राप्त हुए हैं और दोनों ही अप्रकाशित हैं। 'कृपण चरित्र" की हस्त-लिखित प्रति दिगम्बर मन्दिर बम्बई के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है और 'पंचेन्द्री बेलि"[3] को देखने का अवसर हमें जयपुर के बधीचन्द के मन्दिर में मिला। 'कृपण चरित्र" की रचना की प्रेरणा कवि को एक आंखों-देखी घटना से हुई—

> "जिसी कृपण इक दीठ बीत तिसो गुण तासु बखाण्यो।"

कृपण चरित्र (रचना १५८० वि०) एक लघुकाय निबन्ध-काव्य है जिसमें केवल ३५ छप्पय हैं। संक्षेप में कथा इस प्रकार है—एक कृपण सेठ की उदार

---

१ संवत पनरह तीनि बाल प्रगल (डूंगर बावनी ४०वां छप्पय)
२ डूंगर बावनी छप्पय ५६
३ गुटका सं० ११७ पृ १०६ १२६ तक

पत्नी ने पति के सम्मुख गिरिनार की यात्रा का प्रस्ताव रखा। सेठ के विरोध करने पर विवाद हुआ। पत्नी ने दान और भोग को ही सम्पत्ति का सदुपयोग बताया परन्तु सेठ ने उसका खंडन किया। खिन्न सेठ कुछ काल के लिए घर से बाहर चला गया। लौटकर उसने पत्नी को मायके भेज दिया। व्यापारियों का यात्रि-समूह जलयात्रियों पर गया और मार्ग में कुछ व्यापार भी करता गया। प्रत्येक यात्री पहले से अधिक सम्पन्न होकर लौटे। सेठ अपनी भूल पर हाथ मलने लगा और बहुत बीमार हो गया। लोगों ने दान-पुण्य करने की प्रेरणा की तो बोला—मैं समग्र सम्पत्ति साथ ले जाऊंगा। उसने लक्ष्मी से साथ चलने को कहा तो वह बोली—मैं दान पुण्य करने वालों के साथ ही जाती हूँ। इधर सेठ मर कर नरकगामी हुआ। उसकी मृत्यु पर लोग प्रसन्न होकर और सम्बन्धियों ने उसके धन से गुलछर्रे उड़ाये। अन्त में कवि कहता है—

"खरचियो त्याहूं जीत्यो जनमु
जिह संचयो तिह हारियो जनमु।"[1]

काव्य में कथा का निर्वाह सुचारु रूप से हुआ है और हास्यरस की सफल व्यंजना हुई है। जैसे—

कुप तौ धोठि न करै देव देहुरी न देखै।
मांगणहि मुठि न देइ धालि मुठि रहै अलेखै।।
सगो भतीजो भुवा बहिहिणि भाणिजो न ल्याव।
रहै रूसणो माहि बाप ज्यौसो कप ताव।।
पाहुणो सगो आयो सुणे रहइ छिपिउ मुह राखि करि।
जिम जाय तबहि घरि भीतरइ हम धनु संच्यौ कृपण करि।।[2]

कथा-विषय कोई नवीन नहीं है। भारतीय साहित्य में काल्पनिक कृपण सदा ही उपहासास्पद बनाये गये हैं। फिर यहाँ तो एक सत्य घटना ही कवि के समक्ष उपस्थित हो गई थी जिसे कवि रोचक ढंग से प्रस्तुत करने में सफल हुआ है।

'पंचेन्द्री वेलि' की रचना सं० १५८५[3] वि० में की गई। इन्द्रियनिग्रह ब्राह्मण जैन बौद्ध सभी सम्प्रदायों के साहित्यकारों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। प्राचीनतर काव्यों में प्रायः मुक्तक पद्यों में गज मृग भ्रमर आदि के उदाहरणों द्वारा इन्द्रिय विकार-जन्य दोषों का उल्लेख मिलता ही है। ठकुरसी ने यहीं से बीज लेकर उसे कथा-रूप में पल्लवित किया है। कवि पहले एक दोहे में किसी एक इन्द्रिय के वशीभूत

---

१ कामता प्रसाद जैन: हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (काशी १९४७ ई०) पृष्ठ ९८

२ ,, ,, ,, पृष्ठ ९९

३ 'संवत् पंद्रह सै रे पिच्यासे। तेरसि सुदि कातिग मासे।' (उपर्युक्त हस्तलिखित प्रति के अन्त में,

प्राणी का संकेत करता है और तत्पश्चात् अनुप्रासात्मिक प्राय: पाँच सखी-छन्दों में उसका कुछ विस्तृत वर्णन करता है। समस्त काव्य इसी शैली में रचा गया है। जैसे—

दोहा—वन तरुवर फल खातु फिरि पय पीवतौ सुछंद।
परसण इंद्री प्रेरियौ, बहु दुख सहै गयंद॥
छंद—बहु दुख सहै गयंदो। तसु होइ गई मति मंदो॥
कागल के कुंजर काजै। पड़ि खाडै सक्यो न भाजै॥
तिहि सहै घणी तिस भूखो। कवि कौन कहइ तस दूखो॥
रखवाला वलयी आण्यौ। बेसा सिराय घरि आण्यौ॥
बंध्यो पग संकुल घालै। सो कियौ महावत चालै॥
परसण प्रेरै दुख पायो। निति अंकुस घावा आयौ॥
परसण रस कीचक पूर्यौ। गहि भीम सिलातल चूर्यौ।
परसण रस रावण नामै। मार्यौ लंकेश्वर रामै॥[1]

जैसे उपर्युक्त अवतरण में स्पर्शेन्द्रिय-विकार से गज की दुर्दशा वर्णित है वैसे ही रसना, घ्राण, नेत्र और श्रवण के विकारों से मीन, भ्रमर, पतंग और मृग पर आने वाली आपत्तियों का उल्लेख है। कवि ने इन पशु-पक्षियों के उदाहरणों तक ही काव्य को सीमित नहीं रखा। इतिहास-पुराणों के आख्यानों से भी वर्ण्य विषय का समर्थन किया है। रचना में प्रवाह और प्रसाद की कमी नहीं परन्तु रागात्मक तत्त्व का अभाव-सा ही है। काव्यत्व की दृष्टि से 'कृपण चरित्र' का स्थान इससे ऊँचा है।

३ छीहल

अभी तक कविवर छीहल का विशेष परिचय अन्धकार में ही है। बावनी से विदित होता है कि इनका जन्म नाल्हिग वंश के अगरवाल कुल में नाथू के घर में हुआ था।[2] यह अप्रकाशित बावनी जयपुर में सुगणकरण पांडे के मंदिर के शास्त्रभंडार के एक गुटके[3] में हमें लिपिबद्ध मिली थी। कृति का रचना काल कार्तिक शुक्ला अष्टमी सं० १५८४ है और लिपिकाल सं० १७११ वैशाख सुदि ५

---

१ पंचेन्द्री वेलि प्रथम दोहा तथा उसके अधोवर्ती छंद।

२ चउरासी आगला सइ जु पनरह संवछर।
सुकल पख्य अष्टमी मास कातिग गुरु वासर।
हृदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु का लीन्हउ।
सारदा तणइ पसाइ कवित्त संपूरण कीन्हउ।
नाल्हिग वंसि नाथू सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी वसुधा विस्तरी कविकंकण छीहल कवि॥ (छीहल बावनी छप्पय ५३)

३ वेष्टन सं० ९२ गुटका सं० १४ पत्रांक ६४८ गुटके में ९'×४½ आकार के ५७ पत्र हैं।

अधिकार है।[1] श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके "पंच सहेली रा दूहा" का उल्लेख किया ही है[2] इधर इनके चार अन्य ग्रंथों का भी पता चला है—पंथीगीत, बावनी, उदरगीत कृष्णकर गीत।

छीहल बावनी उपर्युक्त गुटके के प्रारम्भ में ही है परन्तु उसके पहले पांच पद्य लुप्त हैं। छठे से तिरपनवें पद्य तक ही कृति उपलब्ध है और उसमें २२ से ५१ तक पद्य विद्यमान हैं। समग्र कृति में केवल छप्पय छंद ही व्यवहृत हुआ है और उसे कवि ने कवित्त कहा है।

बावनी में अनेक व्यावहारिक विषयों का सुन्दर निरूपण किया गया है जैसे—संसार की स्वार्थपरायणता काम अवसर पर ही किया हुआ अच्छा है, नृप, स्त्री, सर्प सुनार तथा वारांगनाओं की अविश्वसनीयता कृपणनिंदा आदि। कृपणता के विरोध में लिखा हुआ निम्नलिखित छप्पय इनकी सुन्दर कल्पना का परिचायक है—

धरनु गाडि धन धरहु धरी तिहु काढि न खायहु।
बिलसहु जत कर काढि न तरि पीछे पछितावहु॥
नर मंदिर नर सुखहि संचि अपइ ते मूवा।
ते बहुरु थामहि महुरि जनम कुकर के हूवा॥
धन काज प्रयोगुप बसन सिंह धरणि बिदारहि रयण दिन।
छीहल कहै सोपत किरह किही न पावै पुनि बिण॥[3]

अनेक उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा वर्ण्य नीति का समर्थन छीहल की प्रशस्य विशिष्टता है। निम्नांकित पद्य से विदित होता है कि दृष्टान्त-चयन के समय उनकी दृष्टि विशाल क्षेत्र में संचरण करती थी—

समय जु छीत विलीत तृषा बरसत बहु पावै।
धीन पुष्प्या मंदि गई तृषा पंचामृत पाय॥
तृषा सुपत संजोग रमनि कह प्रति सुखिरजय।
तृषा सलिल सीतल सुवास बिन तृषा जु पीजइ॥
चातक कपोत जलधर मुए तृषा मेघ जल बहु बए।
सो बातु तृषा छीहल कहइ जो दीजइ अवसर गए॥[4]

---

१ इति छीहल कृत बावनी सपूर्ण समाप्त। संवत् १७१६ लिखितं पांडे जीव लिया-पित व्यास हरिदास पहुना मध्ये राव श्री सीवसिंघ जी राज्ये। संवत् १७१६ का वर्षे मिती वैशाख सुदि ५ शनीसुरवार। शुभ भवतु श्री॥ श्री॥

२ मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य प्रयाग २००८ वि० पृष्ठ १४२ ई०

३ छीहल बावनी, छप्पय [illegible]

४ छीहल बावनी छप्पय ५१॥

सामान्य मूर्खों से तो सब परिचित हैं अतिमूर्खों का परिचय छीहल ने इस प्रकार दिया है।

ठाकुर मित्त जु जाणि मूढ हरखई जे चित्तह ।
निज तिय तणउ विसास करहिं तियमंहि जे मित्तह ॥
सरप सुनार जु पारस-रस जे प्रीति मणावहिं ।
वेस्या धणरी जाणि द्रव्य जे द्रव उठावहिं ॥
चिरचत थार इमणहु नहीं मूरिख भर न रखिया ।
छीहलु कहै संसार महि ते नर अति विगूचिया ॥[1]

बावनी में विषय तो पुरातन ही हैं परन्तु प्रतिभा-सम्पन्न और वर्णन कुशल होने के कारण कवि उन्हें सजीव बनाने में सफल हुआ है। कई पद्यों पर संस्कृत काव्य का प्रभाव इतना अधिक है कि वे छायानुवाद से ही लगते हैं।[2] भाषा बोल चाल की राजस्थानी है, अलंकारों का प्रयोग युक्तिपूर्वक हुआ है प्रसाद और माधुर्य पर्याप्त है। सार यह कि विभिन्न भावों तथा कल्पनाओं से भूषित होने के कारण कृति सामान्य काव्य कोटि में परिगणनीय है।

४—गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवनचरित और कृतियों से समग्र हिन्दी-संसार इतना सुपरिचित है कि इन विषयों का सविस्तर उल्लेख पिष्ट-पेषण मात्र प्रतीत होता है। यद्यपि उनकी रचनाओं में से रामचरितमानस विनयपत्रिका कवितावली और वैराग्य-संदीपनी में नीति-काव्य पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है तथापि ऐसा लगता है मानो दोहावली का संग्रह तो किया ही नीति के उपदेश के लिए गया हो।

दोहावली कोई निबद्ध ग्रन्थ नहीं है, और न यह कवितावली आदि के समान काण्डों में विभाजित है। इसमें ५२१ दोहों तथा २२ सोरठों का संग्रह है[3] और वे भी सब नवीन नहीं है। उन में ७५ दोहे 'मानस' से ३५ 'रामाज्ञा प्रश्न' (दोहावली रामायण) से, १३२ 'तुलसी सतसई' से और ७ वैराग्यसंदीपिनी से उद्धृत किए गये हैं।[4]

---

१ छीहल बावनी छप्पय ११

२ उदाहरणार्थ बावनी का २६वां छप्पय संस्कृत के इस श्लोक का अनुवाद-सा ही है—

दुर्जनः सर्वं सत्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥

(सु० र० भा० पृ०५५)

३ तुलसीदास दोहावली गीताप्रेस गोरखपुर सं० २ ००

४ रामनरेश त्रिपाठी तुलसी और उनका काव्य (दिल्ली १९५१ ई०) पृष्ठ ३१६

दोहावली किस समय संगृहीत की गई, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। कुछ विद्वान् इसे सं० १६८० का संग्रह मानते हैं और कुछ, कुछ पीछे का। परन्तु संग्रह जिस समय भी और जब भी किया हो इस में सन्देह नहीं कि नीतिकाव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इस के विषय में कुछ विस्तृत चर्चा करने से पूर्व ही यह स्पष्ट कह देना उचित होगा कि नीति की हमारी परिभाषा के अनुसार यह विशुद्ध नीतिकाव्य नहीं है। जिस संग्रह के ५७३ पदों में से पहले २४२ पदों का सम्बन्ध राम, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, शंकर, हनुमान्, ध्यान, प्रार्थना आदि विषयों से हो और परवर्ती भाग में भी ऐसे ही विषय छिटपुट रूप से समाविष्ट हों उसे पूर्णतया नीतिकाव्य कहना समीचीन नहीं प्रतीत होता। परन्तु तुलसीदास की दृष्टि में तो राम भक्ति, राम नाम-स्मरण आदि विषय सर्वोत्कृष्ट नीति थे इसीलिए उन्होंने इन का प्रमुख उपदेश दिया है। परन्तु हम अपने विवेचन को लगभग उन्हीं तीन सौ दोहों तक सीमित रखेंगे जिनमें तुलसीदास जी ने धर्म और अध्यात्म की अपेक्षा लोक-व्यवहार की ही चर्चा मुख्य रूप से की है।

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में गोस्वामी जी ने काया को पुष्ट निरामय तथा चिरस्थायी बनाने पर कहीं बल नहीं दिया। इस विषय में उनकी नीति संतकवियों की सी ही थी। वस्तुतः जिन संतों और भक्तों का ध्यान सर्वदा भगवान् की ओर ही लगा हो उनकी कृतियों में शारीरिक रक्षा पर बल दिये जाने की आशा नहीं की जा सकती। यही बात ऐन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में भी सत्य है। इसलिए, जिन की आशा को भी दुःखों का मूल कहा गया है—

> तुलसी अद्भुत देवता आशा देवी नाम।
> सेयें सोक समर्पई विमुख भये अभिराम॥[1]

तुलसीदास जी ने शारीरिक सुखों की जितनी उपेक्षा करने की प्रेरणा की है, उतना ही अधिक बल वाणी के सुप्रयोग पर दिया है। कारण यह है कि सामाजिक व्यवहारार्थ जितना प्रयोग वाणी का होता है उतना किसी अन्य इन्द्रिय का नहीं। इसलिए उन्होंने विवेक-पूर्ण अभिमानरहित और मिथ्या-विहीन वचनों के प्रयोग पर बहुत बल दिया है—

> पेट न फूलत बिनु कहें कहत न लागइ ढेर।
> सुमति बिचारें बोलिए, समुझि कुफेर सुफेर॥[2]
> बचन कहे अभिमान के, पारथ पेखत सेतु।
> प्रभु तिय लूटत नीच भर जय न मीचु तेहि हेतु॥[3]

---

१ दोहावली पृष्ठ ८८।२६८

२ दोहावली पृष्ठ १४८।४३७।

३ रामेश्वर के सेतुबंध को देख अर्जुन ने दर्प कहा था, यदि धन किसी से होता तो

तुलसी जे कीरति चहहिं पर की कीरति खोइ।
तिन के मुँह मसि लागिहै मिटिहि न मरिहै धोइ॥[1]

तुलसीदास मानव-जीवन की सार्थकता इन दो बातों में मानते थे—नीति-मार्ग का अनुसरण और राम चरण में स्नेह—

चलब नीति मग राम पग नेहु निबाहब नीक।
तुलसी पहिरिय सो बसन जो न पखारें फीक॥[2]

नय-पथ पर चलने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता सबसे अधिक होती है वे हैं बुद्धि और विवेक। यही कारण है कि तुलसी ने इनका आश्रय लेने की प्रेरणा अनेक दोहों में दी है—

कर बिचार चलु सुपथ भल आदि मध्य परिनाम।
उलटि जपे 'जारा मरा' सूधें 'राजा राम'॥[3]
देस काल करता करम बचन बिचार बिहीन।
ते सुरतरु तर दारिदी सुरसरि तीर मलीन॥[4]

विवेक और बुद्धि को विध्वस्त करनेवाला मुख्य दोष है क्रोध जिसका परिणाम प्रायः दुःख और पश्चात्ताप होता है। गोस्वामी जी ने सत्य ही कहा है कि यदि भाटों द्वारा उत्तेजित भट युद्ध-भूमि को चल पड़ेंगे तो या पीठ दिखा आएँगे या बन्दी बन जाएँगे—

बरुआए भट भाट के उपरि चढ़े संग्राम।
कै वे जाहिं भागहिं कै बाँधे परिनाम॥[5]

जहाँ उपर्युक्त बातों में तुलसीदास भी सन्तों से सहमत हैं वहाँ वेद-शास्त्रों के सम्बन्ध में भिन्न। वे वेद-पुरान और पोथी-ज्ञान की उपेक्षा या निन्दा नहीं करते उन्हें महामहिम मानते हुए तदनुसार आचरण का परामर्श देते हैं—

लोगों से ही युद्ध मोल लेता। उसे इस उक्ति का फल यह भुगतना पड़ा कि भील भरों ने भी कृष्ण के परिवार की स्त्रियों को अर्जुन के सामने ही लूट लिया। उन्हें जीतने में असमर्थ अर्जुन की इस अपमान के कारण ही मृत्यु हो गई थी (दोहावली, पृष्ठ १५०।४४०)॥

१ वही, पृ० १११।४८९
२ ,, पृ० १११।४६६
३ वही, पृ० १२६।३६७, और भी देखें दोहा-संख्या ३६६ ३७४, ४१५ ४२१,४६८
४ वही पृ० १४२।४१४
५ वही, पृ० १४५।४२२

दोहावली किस समय से इस संग्रह को यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। कुछ विद्वान् इसे सं० १६८० का मानते हैं और कुछ कुछ पीछे का। परन्तु यह जिस समय भी और जब भी लिखा हो इस में सन्देह नहीं कि नीतिकाव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इस के विषय में कुछ विस्तृत चर्चा करने से पूर्व ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि नीति की हमारी परिभाषा के अनुसार यह विशुद्ध नीतिकाव्य नहीं है। जिस ग्रन्थ के ५७३ पदों में से केवल ५०८ पदों का सम्बन्ध राम लक्ष्मण सीता कौशल्या दशरथ, हनुमान् ध्यान प्रार्थना आदि विषयों से हो और परवर्ती भाग में भी ऐसे ही विषय विस्तृत रूप से समाविष्ट हों उसे पूर्णरूपेण नीतिकाव्य कहना समीचीन नहीं प्रतीत हुआ। परन्तु तुलसीदास की दृष्टि से तो राम भक्ति, राम नाम-स्मरण आदि विषय सर्वोत्कृष्ट नीति थे इसीलिए उन्होंने इस का बहुत् उपदेश दिया है। परन्तु हम अपने विवेचन को सर्वथा उन्हीं दोहों तक सीमित रखेंगे जिनमें तुलसीदास जी ने धर्म और अध्यात्म की अपेक्षा नीति व्यवहार की ही चर्चा मुख्य रूप से की है।

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में गोस्वामी जी ने शरीर को पुष्ट नीरोग तथा दीर्घायु बनाने पर कहीं बल नहीं दिया। इस विषय में उनकी नीति संन्यासियों की सी ही थी। वस्तुतः जिस व्यक्ति का ध्यान सर्वदा भगवान् की ओर ही लगा हो उसकी कृतियों में शारीरिक रक्षा पर बल दिये जाने की आशा नहीं की जा सकती। यही बात ऐन्द्रिय विषयों के सम्बन्ध में भी सत्य है, इसलिए, विषयों की आशा ही को दुःखों का मूल कहा गया है—

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेवे सोक समर्पई बिमुख भये अभिराम॥[1]

तुलसीदास जी ने शारीरिक गुणों की जितनी उपेक्षा करने की प्रेरणा दी है उतना ही अधिक बल वाणी के सुप्रयोग पर दिया है। कारण यह है कि सामाजिक व्यवहारार्थ जितना प्रयोग वाणी का होता है उतना किसी अन्य इन्द्रिय का नहीं। इसलिए उन्होंने विवेक-युक्त अभिमानरहित और मिथ्या-विहीन वचनों के प्रयोग पर बहुत बल दिया है—

पेट न फूलत बिनु कहें कहत न लागइ ढेर।
सुमति बिचारें बोलिए, समुझि कुफेर सुफेर॥[2]
वचन कहे अभिमान के, पारथ पेखत सेतु।
प्रभु तिय लूटत नीच भर जय न मीचु तेहि हेतु॥[3]

---

१ दोहावली पृष्ठ ८८।२५८
२ दोहावली पृष्ठ १४८।४३७।
३ रामेश्वर के सेतुबंध को देख अर्जुन ने गर्व कहा था, यदि उन दिनों मैं होता तो

तुलसी जे कीरति चहहिं पर की कीरति खोइ।
तिन के मुँह मसि लागिहै मिटिहि न मरिहै धोइ॥[1]

तुलसीदास मानव-जीवन की सार्थकता इन दो बातों में मानते थे—नीति-मार्ग का अनुसरण और राम चरण में स्नेह—

प्रणय प्रीति नय राम पद नेह निबाहब नीक।
तुलसी पहिरिय सो बसन जो न पखारें फीक॥[2]

नय-पथ पर चलने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता सबसे अधिक होती है, वे हैं बुद्धि और विवेक। यही कारण है कि तुलसी ने इनका आश्रय लेने की प्रेरणा अनेक दोहों में दी है—

करि बिचार चलु सुपथ भल आदि मध्य परिनाम।
उलटि जपे 'जाग मरा' सूधे 'राजा राम'॥[3]
बेद काम करता करम बचन बिचार बिहीन।
ते सुरतरु तर दारिदी सुरसरि तीर मलीन॥[4]

विवेक और बुद्धि को तिलांजलि दे डालना मुख्य दोष है जिसका परिणाम प्रायः दुःख और पश्चात्ताप होता है। गोस्वामी जी ने सत्य ही कहा है कि यदि भाटों द्वारा उत्तेजित भट युद्ध-भूमि को चल पड़ेंगे तो या पीठ दिखा आएँगे या बन्दी बन जाएँगे—

बरहाए भट भाट के बगरि बरे संग्राम।
के न भाजे आइहैं के बाँधे परिनाम॥[5]

जहाँ उपर्युक्त बातों में तुलसीदास जी सन्तों से सहमत हैं वहाँ वेद-शास्त्रों के सम्बन्ध में विमत। वे वेद-पुराण और पोथा-पत्र की उपेक्षा या निन्दा नहीं करते उन्हें महामहिम मानते हुए तदनुसार आचरण का परामर्श देते हैं—

चोरों से ही लुट जाने देता। उसी इस उक्ति का दृष्टान्त यह सुनाया गया कि भील अहीरों ने भी कृष्ण के परिवार की स्त्रियों को अर्जुन के सामने ही लूट लिया। उन्हें जीतने में असमर्थ अर्जुन की इस अपमान के कारण ही मृत्यु हो गई थी (दोहावली, पृष्ठ १५०।५५०)॥

१ वही पृ० १११।३८९
२ ,, पृ० १११।४५६
३ वही, पृ० १२१।३६० और भी देखें दोहा-संख्या ११६ १०४, ४१२ ४२८,४६८
४ वही पृ० १४२।४१४
५ वही, पृ० १५४।४२२

अतुलित महिमा वेद की तुलसी किएँ बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥[1]

इनके मत से जो विद्वान् विनम्र हैं वे मनोहर हैं और विभिन्न मतमतान्तर भेद हैं। उन मतों के उपदेशकों का अनुमान उनके उत्पन्न समय से सहज ही हो जाता है।[2] दोहावली में लौकिक और लोक नीति की अपेक्षा पारलौकिक नीति पर अधिक बल दिया गया है। काम क्रोध लोभ मोह अभिमान ईर्ष्या आदि दुर्गुणों के परित्याग और क्षमा प्रेम परोपकार अहिंसा विवेक शान्ति आदि गुणों के उपार्जन की प्रेरणा पाई जाती है। निम्नलिखित दोहे में कामादि के सहायक तत्त्वों का उल्लेख द्रष्टव्य है—

लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥[3]

अभिमान के कारण मानव उसी प्रकार परवश होकर दुःख पाता है जिस प्रकार तोता, रेशम का कृमि और बन्दर—

हम हमार आचार बड़ भूरि भार धरि सीस।
हठि सठ परबस परत जिमि कीर कोस कृमि कीस॥[4]

काम क्रोध आदि में एक भी दोष मनुष्य का अनर्थ करने में समर्थ है परन्तु यदि ये एकत्र हो जाएँ तब तो बचाव का कोई उपाय ही नहीं रहता—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥[5]

ऊँची पदवी पर रहकर आज्ञा देना और सेवा कराना तो सभी चाहते हैं परन्तु सज्जन वही है जो शरण, आज्ञा-पालन और सेवा करता है—

सासु ससुर गुर मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ।
होनो दूजो औरको सुजन सराहिय सोइ॥[6]

'दोहावली' में चारित्रिक गुणों में सर्वोच्च स्थान अनन्य प्रेम को दिया गया है। सच्चा प्रेमी वही है जो प्रतिकूलताओं से विचलित नहीं होता तथा प्रेम-पात्र या अन्य कहीं से या उसके दिये कष्टों या मृत्यु को भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है परन्तु अपने स्नेह में कोई कमी नहीं आने देता। सत्य स्नेही के स्वरूप को दोहावली में भानु, मृग, सर्प, कमल आदि अनेक पदार्थों के प्रेम से स्पष्ट किया गया है परन्तु चातक के प्रेम द्वारा जो अनन्य प्रेम की शिक्षा दी गई है वह हिन्दी-काव्य में अत्यन्त दुर्लभ है—

१-५. दोहावली दोहा ४६७, ४६२, २६१, २५१, २७१

६. वही, दोहा ३११

बरषि परुष पाहन पयद, पख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहिं चूक॥[१]
बध्यो बधिक पर्यो पुण्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥[२]

पारिवारिक नीति—जो सन्त भक्त संसार का ही झूठा समझते हैं वे परिवार को कैसे सत्य मान सकते हैं? यही कारण है कि जो सन्त गार्हस्थ्य की स्पष्ट निन्दा नहीं भी करते वे भी उसमें आसक्ति को सर्वथा त्याज्य कहते हैं। तुलसीदास जी की भी नीति ऐसी ही है। वे *विषयासक्त साधु की अपेक्षा विरक्त गृहस्थ को श्रेष्ठ* बताते हैं—

सीस उघारन किन कहेउ बरजि रहे प्रिय लोग।
घर ही सती कहावती जरती नाह वियोग॥[३]

उनके विचार में गार्हस्थ्य प्रभु प्रेम में बाधक नहीं है, उसमें आसक्ति अवश्य अनिष्टकर है अतः उस आसक्ति से दूर ही रहना चाहिए—

घर कीन्हें घर जात है घर छाँड़ें घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच हीं राम प्रेम पुर छाइ॥[४]

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए पूज्य गुरु-जनों की सेवा शुश्रूषा में प्रमाद किया जाय। ऐसा करना तो जीवन ही व्यर्थ खोना होगा—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर न तरु जनमु जग जाय॥[५]

तुलसीदास की दृष्टि केवल आदर्श पर केन्द्रित नहीं रहती। सांसारिक तथ्यों से वे पलायन नहीं करते। जो बात साक्षात् देखने सामने आती है उसे स्पष्टतया स्वीकृत करने में उन्हें संकोच नहीं होता। सज्जनों के घरों में कुसन्तान का होना वे असंभव नहीं मानते—

होइ भले के अनभलो होइ दानि के सूम।
होइ कपूत सपूत कें, ज्यों पावक में धूम॥[६]

गृहस्थ और विरक्त के विषय में तुलसीदास की नीति का सार यह है कि मोह के वश में हो कर आत्मोन्नत कृत्यों का अनुष्ठान न करने वाला गृही और वैराग्य-विवेक-हीन तथा प्रपंचलीन संन्यासी दोनों ही निन्द्य हैं।[७]

---

१ २ ३ दोहावली २८२, ३०९ २५४
४ वही , दोहा २५६
५. वही , दोहा ५६०
६ वही दोहा ३६८
७ वही ,, ५८०

अतुलित महिमा बेद की तुलसी किएँ बिचार।
जो निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥[1]

उनके मत में तो विद्वान् किसान हैं, वेद सरोवर है और विभिन्न मतमतान्तर खेत हैं। इन खेतों के उत्कर्षापकर्ष का अनुमान उनमें उत्पन्न सस्य से सहज ही हो जाता है।[2] 'दोहावली' में शारीरिक और बौद्धिक नीति की अपेक्षा कहीं अधिक बल मानसिक नीति पर दिया गया है। काम क्रोध लोभ मोह अभिमान ईर्ष्या आदि दुर्गुणों के परित्याग और क्षमा प्रेम परोपकार ममता विश्वास शान्ति आदि गुणों के उपार्जन की प्रेरणा पाई जाती है। निम्नांकित दोहे में कामादि के सहायक पदार्थों का उल्लेख द्रष्टव्य है—

लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥[3]

अभिमान के कारण मानव उसी प्रकार परवश होकर दुःखभागी बनता है जिस प्रकार तोता रेशम का कीड़ा और बन्दर—

हम हमार आचार बड़ भूरि भार धरि सीस।
हठि सठ परबस परत जिमि कीर कोस कृमि कीस॥[4]

काम क्रोध आदि में से एक भी दोष मनुष्य का अनर्थ करने में समर्थ है परन्तु जहाँ वे एकत्र हो जाएँ वहाँ तो बचाव की कोई सूरत ही नहीं रहती—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥[5]

ऊँची पदवी पर रहकर आज्ञा देना और सेवा कराना तो सभी चाहते हैं परन्तु सज्जन वही है जो सहर्ष आज्ञा-पालन और सेवा करता है—

सासु ससुर गुर मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ।
होनी दूजी ओर को सुजन सराहिअ सोइ॥[6]

'दोहावली' में आत्मिक गुणों में सर्वोच्च स्थान अनन्य प्रेम को दिया गया है। सच्चा प्रेमी वही है जो प्रलोभनों से विचलित नहीं होता तथा प्रेम-पात्र या अन्य कहीं से आ पड़ने वाले कष्टों या मृत्यु को भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है परन्तु अपने स्नेह में कोई कमी नहीं आने देता। सत्य स्नेही के स्वरूप को दोहावली में मीन मृग सर्प कमल आदि अनेक पदार्थों के प्रेम से स्पष्ट किया गया है परन्तु चातक के प्रेम द्वारा जो अनन्य प्रेम की शिक्षा दी गई है वह हिन्दी-काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है—

१-५. दोहावली दोहा ४६४, ४६५, २६५, २४१, २७१

६. वही, दोहा ३११

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक॥[1]
बध्यो बधिक पर्यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥[2]

पारिवारिक नीति—जो सन्त-भक्त संसार को ही झूठा समझते हैं वे परिवार को कैसे सत्य मान सकते हैं? यही कारण है कि जो सन्त गार्हस्थ्य की स्पष्ट निन्दा नहीं भी करते वे भी उसमें आसक्ति को सर्वथा त्याज्य कहते हैं। तुलसीदास जी की भी नीति ऐसी ही है। वे विषयासक्त साधु की अपेक्षा विरक्त गृहस्थ को श्रेष्ठ बताते हैं—

सीस उघारन किन कहेउ बरजि रहे प्रिय लोग।
घर ही सती कहावती जरती नाह वियोग॥[3]

उनके विचार में गार्हस्थ्य प्रभु प्रेम में बाधक नहीं है, उसमें आसक्ति अवश्य अनिष्टकर है, अतः उस आसक्ति से दूर ही रहना चाहिए—

घर कीन्हें घर जात है घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेम पुर छाइ॥[4]

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए पूज्य गुरु-जनों की सेवा-शुश्रूषा में प्रमाद किया जाय। ऐसा करना तो जीवन ही व्यर्थ खोना होगा—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर, न तरु जनमु जग जाय॥[5]

तुलसीदास की दृष्टि केवल आदर्शों पर केन्द्रित नहीं रहती। सांसारिक तथ्यों से वे पलायन नहीं करते। जो बात साक्षात् देखने सुनने में आती है, उसे स्पष्टतया स्वीकृत करने में उन्हें संकोच नहीं होता। सज्जनों के घरों में कुपात्र का होना वे असंभव नहीं मानते—

होइ भले के अनभलो, होइ दानि के सूम।
होइ कपूत सपूत के ज्यों पावक में धूम॥[6]

गृहस्थ और विरक्त के विषय में तुलसीदास की नीति का सार यह है कि मोह के वश में हो कर शास्त्रोक्त कृत्यों का अनुष्ठान न करने वाला गृही और वैराग्य-विवेक-हीन तथा प्रपंचलीन संन्यासी दोनों ही निन्द्य हैं।[7]

१, २, ३. दोहावली २८२, ३०२, २५४
४. वही, दोहा २५६
५. वही, दोहा ५४०
६. वही दोहा ३५८
७. वही ,, ४८०

सामाजिक नीति—'दोहावली' में सर्वाधिक बल मित्र और मित्रता, कपट और कपटी, सज्जन और दुर्जन, दर्शन और कुसंग, परोपकारी जनों की दुर्लभता, त्याज्य बातें, निरादरयोग्य व्यक्ति, संगठन आदि सामाजिक विषयों पर दिया गया है। वैदिक युग के पश्चात् स्त्रियों का सम्मान उत्तरोत्तर क्षीण होता गया। तुलसीदास जैसे वेद-भक्त भी उन्हें प्राचीन आसन पर न बैठा सके। इस विषय में उन की नीति सन्तों जैसी ही रही। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। स्त्री अपने मधुर रूप में परमार्थ में प्रत्यवाय रूप सिद्ध होती है और स्वकृत होने की दशा में उग्र रूप धारण कर क्रूरतम और निम्नतम कार्य करने में भी संकोच नहीं करती—

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ॥[१]

उज्ज्वलता और सरलता निस्सन्देह स्तुत्य गुण हैं परन्तु इन की भी कोई सीमा होनी चाहिए। जो इस नीति की उपेक्षा करता है वह सूर्य चन्द्र के समान विडंबना का पात्र बनता है क्योंकि वे सदा सरल चाल चलते हैं शेष ग्रहों के समान वक्रगति का आश्रय नहीं लेते—

सरल बक्र गति पंच ग्रह चपरि न चितवत काहु।
तुलसी सूधे सूर ससि, समय बिडंबित राहु॥[२]

इस संसार में सदा भले का फल भला ही नहीं मिलता। भलाई का प[illegible]
बुराई मिलने पर सज्जनों को हताश न हो जाना चाहिए—

लोक बेद हूँ लौं दगो, नाम भले को पोच।
धर्मराज जम गाज पवि कहत सकोच न होच॥[३]

कवितावली आदि में श्रीराम तथा हनुमान् की 'सरनि'[४] का ओजस्वी [illegible] करने वाले तुलसीदास 'दोहावली' में सहायक दशशीशो से युद्ध करना तो दू[illegible] पत्र-पुष्पो द्वारा युद्ध को भी निषिद्ध कहते हैं—

सुमति बिचारहिं परिहरहिं दल सुमनहुँ संग्राम।
सकुल गए तनु बिनु भए, साखी जादौ काम॥[५]

उन्होंने सामान्य रूप से कलह की कुत्सा के पश्चात् समर्थ बैरी से बैर को तो मृत्यु मोल लेना कहा है।[६]

तुलसीदास के भगवान् शरणागतवत्सल हैं। संस्कृत के धर्मशास्त्रों में भी शरणागत-रक्षा का पुण्य कहा है। आदिकाल के राजपूत-नरेश भी शरणागत के रक्षार्थ

---

१ २ ३ दोहावली २६७ ३८० ३७२

४ कवितावली लंकाकाण्ड पद ४

५ दोहावली पृष्ठ १२६।४२५

[illegible] दोहा ४२९

स्वप्राणों को संकट में डालते आए थे अतएव तुलसीदास भी इस नीति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे—

तुलसी मृग जल मूल को निरखत मिलत निकाज।
के राखे क संग चले बाँह गहे की लाज।[1]

तुलसीदास जी नीति-पालन का महत्त्व मुक्तकण्ठ से स्वीकृत करते हैं क्योंकि उसी के कारण श्रीराम ने खग मृग तक को अभिन्न मित्र बना लिया था और उसी के अभाव के कारण रावण ने स्व सहोदर को भिन्न काल।[2] परन्तु कोई यह कहे कि संसार को नीति के उपदेश से सुधारा जा सकता है तब गोस्वामी जी उससे सहमत नहीं हैं।[3]

आर्थिक नीति—दोहावली में धन के महत्त्व का उल्लेख नहीं है। कारण तुलसीदास का लक्ष्य सांसारिक सुख न होकर आत्मशान्ति की प्राप्ति है। यही कारण है कि उन्होंने संतोष के बिना शान्ति प्राप्ति को वैसा ही असम्भव कहा है जैसा भूमि पर नाव का चलना।[4] उन्होंने धन की भर्त्सना ही अधिक की है क्योंकि यह मान अभिमान निर्लज्जता आदि दुर्गुणों का उत्पादक है—

तुलसी निरभय होत नर सुनियत सुरपुर जाइ।
सो गति लखियत प्रकट तनु सुख संपति गति पाइ॥[5]

दान देना तो स्तुत्य है परन्तु कपट पूर्वक दिया हुआ दान किसी का भी हित नहीं करता। न दाता का न प्रतिग्रहीता का। तुलसीदास मत्स्यग्राही के दृष्टांत से उक्त नीति का उपदेश यों देते हैं—

तुलसी दान जो देत हैं जल में हाथ उठाइ।
प्रतिग्राही जीवै नहीं दाता नरकै जाइ॥[6]

इतर प्राणि विषयक नीति—तुलसीदास ने अनन्य पदार्थों के निषेध* द्वारा जीवदया की व्यंजना अनेक दोहों में की है। सिंह गर्दभ आदि पशु-पक्षियों के चरित्र से शिक्षा लेने की जिस प्रवृत्ति को हम चाणक्य-नीति में देख चुके हैं वह दोहावली में भी दुर्लभ नहीं है।[7] दोहावली में तुलसीदास जी ने चातक चकोर मृग आदि की प्रशंसा के द्वारा उनसे अनन्य प्रेम का पाठ पढ़ने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार दोहावली की प्राणि-सम्बन्धी नीति उनके प्रति दयालुता तथा उनसे कुछ सीखने की है।

विविध नीति—विविध नीति के अन्तर्गत तुलसी ने जिन अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—संसार की स्वप्न-सदृशता कलियुग जनित सामाजिक विपर्यय अवसर की महत्ता तिथि-नक्षत्रों तथा शकुनों का प्रभाव आचार की अपेक्षा वस्तु की प्रधानता अति सर्वत्र वर्जयेत् भाग्य के साथ-साथ पुरुषार्थ का महत्त्व रूप कूपों तथा बड़ों के आश्रय से महत्त्वप्राप्ति जीवन का क्षणभंगुरत्व आदि। जैसे—

१ ५. दोहावली ५५८ ४४१ २७४ ५०५ ४६७
६ ८. वही दोहा ५११, ५४६ ४०, ४१८

प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों का कुछ-न-कुछ ऋणी होता है। कुशल कवि तो प्राचीन कृतियों से तनिक-सा भाव-संकेत लेकर उसको ऐसा नवीन रूप देते हैं कि उन की कृति मौलिक-सी बन जाती है परन्तु सामान्य कवियों में इस कौशल का अभाव रहता है। वे समग्र प्राचीन भाव का अपनी भाषा में अनुवाद-सा प्रस्तुत कर देते हैं। 'दोहावली' में तुलसीदास ने कहीं-कहीं भाव संकेत-मात्र ले कर उन्हें ऐसा नया परिधान पहनाया है कि दोहे मौलिक-से लगते हैं। जैसे, स्थान का माहात्म्य बताते हुए संस्कृत के किसी कवि ने यों कहा है—

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ।
इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत् ॥[1]

'दांत बाल नख और मनुष्य स्व-स्व स्थान से पृथक हो जाने पर अच्छे नहीं लगते। इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि अपने स्थान का त्याग न करे।' तुलसीदास जी ने 'दांत' की बात तो यहां से ली परन्तु उसे प्रस्तुत किया ऐसे रूप में कि विषय भी दूसरा हो गया और अभिव्यक्ति भी नई—

हित पुनीत सब स्वारथहि अरि असुद्ध बिनु चाड़ ।
निज मुख मानिक सम दसन भूमि परे ते हाड़ ॥[2]

जब तक स्वार्थ रहता है तब तक पदार्थ हितकर और पवित्र प्रतीत होते हैं और स्वार्थ पूर्ण हो जाने पर शत्रु और अपवित्र। मुख में स्थित दांत रत्न-तुल्य लगते हैं और गिर पड़ने पर हड्डियां। स्थान-माहात्म्य में कही गई बात को किस कौशल से स्वार्थ-प्रसंग में उचित कर दिया गया है! अन्यत्र भी दोहावली में प्राचीनों का प्रभाव इसी प्रकार का है।

रस और भाव—इसमें सन्देह नहीं कि दोहावली में अनेक दोहे ऐसे भी हैं जिनमें बुद्धितत्त्व का ही प्राधान्य है और अत एव उनको काव्य की अपेक्षा पद्य ही कहना समीचीन है तो भी अधिकतर दोहे तो ऐसे ही हैं जिनके अध्ययन से हृदय में उथल-पुथल मचाने वाले ईर्ष्या काम क्रोध लोभ मोह क्रूरता कपट आदि अधम्य भावों का नाश होता है और वीरता सत्यता अनन्यता निरभिमानता मैत्री समता निष्कपट प्रेम अनन्य प्रेम संतोष क्षमा गुणों के प्रति आदर सहिष्णुता निःस्वार्थता परोपकार, संगठन आज्ञाकारिता विवेक आदि उदात्त भावों का उन्मेष होता है। निदर्शन रूप में कुछ दोहे देखिए—

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप ।
बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रताप ॥[3] (क्रूरता)

---

१ सु० र० भां० पृष्ठ ८६, स्थान-माहात्म्यम्, श्लोक ६
२ दोहावली पृष्ठ ११६ ११०
३ वही दोहा ४३९

चरम चपु नत चातकहि मेघ प्रम की पीर ।
तुलसी पर बस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर ॥[1] (अनन्य प्रेम

झपटन सरहि न देत कुछ, कुएहुँ न मागत नीच ।
तुलसी सज्जन की रहनि, पावक पानी बीच ॥[2]

(परगुणप्रकाशकता व आत्मसमान)

सास ससुर गुरु मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ ।
होनी दूजी ओर को, सुजन सराहिय सोइ ॥[3]

(निरभिमानता)

कल्पना—काव्य में सरसता लाने के लिए कल्पना का विशिष्ट स्थान है। दोहावली के अनेक दोहों में कवि-कल्पना ने इतनी ऊँची उड़ान भरी है कि पाठक मुग्ध हो जाता। जैसे—

बसि कुसंग चह सुजनता ताकी आस निरास ।
तीरथहू को नाम भो गया मगह के पास ॥[4]

कुसंगति के विषम दुष्परिणामों का उल्लेख तो अनेक कवियों ने किया है परन्तु विष्णु-पद तीर्थ का नाम गया (गया-बीता) इस कारण पड़ा है कि उसने मगध की संगति की यह बात अन्य किसको सूझी? चातक के मेघ-जल के प्रति अप्रतिम प्रेम का वर्णन तो अनेक कवियों ने किया है परन्तु अपने घायक के अण्ड जिसके तक को भी नदी-नीर का स्पर्श न होने देना तुलसी दास की ही अनूठी कल्पना है —

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्यो नीर निहारि ।
गहि चंगुल चातक चतुर, डार्यो बाहिर बारि ॥[5]

भाषा—'दोहावली' में प्राय: सरल ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। कुछ दोहों में अवधी का भी व्यवहार मिलता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की मात्रा पर्याप्त है। लक्षणा और व्यंजना के प्रचुर प्रयोग से काव्य में सरसता आ गई है। मुहावरों का प्रयोग भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है। जैसे—

तुलसी बैर सनेह दोउ, रहित बिलोचन चारि ।
सुरा सेवरा आदरहिं, निंदहिं सुरसरि बारि ॥[6]

इस दोहे में बैर और स्नेह को शारीरिक तथा मानसिक नेत्रों से रहित होना कहा गया है, अतः लक्षणा है।

पाट कीट तें होइ, तेहि तें पाटंबर रुचिर ।
कृमि पालइ सबु कोइ, परम अपावन प्रान सम ॥[7]

१-७ दोहावली दोहा ३०१, ३३५, ३६१, ३६२ ३०३, ३२६, ३७०

उक्त सोरठे में मनुष्य की स्वार्थपरायणता की व्यंजना है जिसके कारण वे अन्यान्य अपवित्र जीवों को प्राण-समान मानते हैं।

लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास ॥[1]

उक्त दोहे में 'गगन का गेंडुआ (तकिया) करना' इस मुहावरे का प्रयोग किया गया है। दोहावली में तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग बहुत है। उपदेशात्मक[2] तथा अन्योक्ति[3] शैलियाँ कहीं-कहीं प्रयुक्त हुई हैं। व्यंग्यात्मक शैली[4] भी एकाध स्थल पर दिखाई दे जाती है।

'दोहावली' का प्रत्येक दोहा किसी-न किसी चमत्कार से सुशोभित दिखाई देता है। शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास अन्त्यानुप्रास तथा यमक का प्रयोग अधिक दिखाई देता है और अर्थालंकारों में से उपमा रूपक दृष्टान्त, यथासंख्य विशेषोक्ति तथा निदर्शना का। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि ॥[5]
(वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास)

(ख) मानी काक उलूक बक दादुर से भए लोग।
भले ते सुक पिक मोर से कोउ न प्रेम पथ जोग ॥[6] (मालोपमा)

(ग) वेद नाम कहता करम वचन बिचार बिहीन।
ते गुर तब तर दारिदी सुरसरि तीर मलीन ॥[7]
(निदर्शना तथा विशेषोक्ति)

(घ) उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर बितिक्रम जानि ॥[8] (यथासंख्य)

'दोहावली' में प्रसाद तथा माधुर्य का प्राचुर्य है। चातक-सम्बन्धी अन्योक्तियों में ओज की मात्रा भी पर्याप्त है। खटकते हैं, तो वे ज्योतिष-सम्बन्धी नीरस पद्य जिनमें तिथियों और नक्षत्रों के शुभाशुभ फल बताये गए हैं और जो अप्रतीतत्व दोष से युक्त हैं।[9]

मिलाकर कह सकते हैं कि दोहावली के नीति-विषयक भाग का पर्याप्त
।।८ में परिगणनीय है।

---

१ दोहावली दोहा ४६१
२-४ वही, दोहा ४३५, ३०२ ४०४ ४०६, ४०८
५-८ वही, दोहा २८६, ३३१, ४१४, ३६१
९. वही दोहा ४५६-४६२

५ रत्नावली

गोस्वामी तुलसीदास जी की पत्नी रत्नावली के सम्बन्ध में इतना तो प्रमाण ही है कि वे दीनबन्धु पाठक की पुत्री थीं तथा उनके दो दोहों से प्रभावित होकर गोस्वामी जी विरक्त हो गये थे परन्तु उनका संक्षिप्त जीवन-वृत्त उस पद्य-बद्ध जीवन चरित्र[1] 'रत्नावली' में मिलता है जो सोरों (एटा) के मुरलीधर नाम के कवि ने लिखा था। मुरलीधर के वंशवासी रामवल्लभ मिश्र ने उसकी प्रतिलिपि संवत् १८९४ वि० में की थी अतः रचना-काल उससे कुछ पहले ही माना जा सकता है। इस ग्रंथ के अनुसार रत्नावली का संक्षिप्त जीवन वृत्त इस प्रकार है—

रत्नावली ने बचपन से जन्म से जन्म लेकर पिता तथा भाइयों से वाल्मीकि-रामायण तथा छन्दशास्त्र पढ़ा। वे पार्वती-परमेश्वर की उपासिका थीं तथा काव्यरचना किया करती थीं। तुलसीदास के पिता का नाम आत्माराम था और माता का नाम हुलासो।

तुलसी आतम राम सुत। उदर हुलासो के प्रसूत।
गये दोउ तै अमर लोक। दासी पोसहि करि ससोक ॥[2]

जब अनाथ तुलसी बड़े होकर विद्वान् भी बन और प्रतिष्ठित भी तब रत्नावली से उनका विवाह हुआ। रत्नावली के तारापति नामक पुत्र भी हुआ परन्तु शीघ्र ही परलोक गामी हो गया। विवाह के पन्द्रह वर्ष पश्चात् रत्नावली पति की अनुमति से श्रावण मास में भाई के साथ रक्षाबन्धनोत्सव के सम्बन्ध में मायके बदरिया[3] (बदरिका) गाँव में चली गई। ग्यारह दिन बाद जब गोस्वामी जी कथा बाँचकर घर लौटे तो सूने भवन में मन न लगा और रात में ही चढ़ी हुई गंगा को पार कर ससुराल जा पहुँचे। वहाँ रत्नावली ने उन्हें फटकारा नहीं अपितु उनके प्रेम के साथ-साथ प्रभु प्रेम की प्रशंसा इन शब्दों में की—

मो सम को बड़ भाग नारि। मो सम को तिरपति हिं प्यारि॥
सीन प्रम तुम करो पार। नाम प्रम के तुम आधार॥
मम सु प्रम मिस हिये धार। उतरे प्रिय सुर सरित पार॥
जम अपार पद प्रम धार। जात मनुज भव जलधि पार॥[4]

---

१ 'रत्नावली' तथा 'रत्नावलि-लघुदोहा-संग्रह' की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियाँ पं० गोविन्द वल्लभ भट्ट शास्त्री, सोरों निवासी के यहाँ सुरक्षित हैं। 'रत्नावली', सं० माहरसिंह सोलंकी सं० १९९५, पृ० १५

२ वही पृष्ठ १८

३ सोरों के पश्चिम में गंगा-तट पर बदरिया गाँव स्थित है और वाराह पुराण में इसे सुक्षेत्र कहा गया है। (वही पृष्ठ ८)

४ वही, पृष्ठ २१

रत्नावली के शब्द प्रभावशाली थे—मेरे प्रेम के कारण आप गंगा पार कर आये, प्रभु-पद प्रेम से मनुष्य भवसागर तर जाता है। भवितव्यता प्रबल थी। गोस्वामी जी का मन विषयों से विरक्त हो विरक्ति पर अनुरक्त हो गया। वे उसी रात खिसक गये और बहुत ढूंढने पर भी न मिले। विरहिणी रत्नावली तपस्विनी की भांति रहने लगी और संवत् १६२१ की मार्ग कृष्णा अमावस्या को स्वर्ग सिधारीं। रत्नावली दोहा संग्रह में कुल १११ दोहे हैं। कुछ दोहों में रत्नावली के पश्चात्ताप की तीव्र वेदना है तो कुछ में मन को उच्च फटकार। जैसे—

हाय सहरिका बन गई हों जाना पिय मेलि।
रत्नावलि हों नाम की रसहि लियो पिय मेलि॥
दीनबंधु कर घर पलो दीन बंधु कर छांह।
तोउ भई हों दीन अति पति त्यागी मो बांह॥[1]

अधिकतर दोहों में पातिव्रत धर्म की महिमा तथा उपदेश है। इनमें सीता दमयन्ती सावित्री आदि को भी उदाहरण रूप में स्मरण किया गया है। इन्होंने ग्राम की प्रवसता को ध्यान में रखते हुए समीपी सम्बन्धियों तक से एकान्त में न मिलने की नीति कही गई है—

पुत्र जनक जामात सुत ससुर पितर सब भ्रात।
इनहूं की एकांत बहु कामिनि मुनि बनि जात॥[2]

आज-कल प्रायः स्त्री को अग्नि और पुरुष को मोम बताया जाता है परन्तु रत्नावली ने स्त्री होने के कारण रूपक को विपरीत रूप में रखा है—

घी को घट है कामिनी पुरुष तपत अंगार।
रत्नावलि घी अग्नि को उचित न सग विचार॥[3]

पुस्तक में पातिव्रत के महत्व के अतिरिक्त अनेक ऐसी बातों का भी वर्णन है जो नारी जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जैसे—

तन मन धन साजन वसन भोजन भवन पुनीत।
जो राखति रत्नावली तेहि लागत सुर मीत॥[4]

भाभी भाभी स्त्रियां बहुत ही चर्चा जाती थी तब रत्नावली उन्हें सावधान करती है—

बनिक फेरवा सिच्छुकन, जनि कबहुं पतिआइ।
रत्नावलि भेद रूप धरि ठग जग ठगत भ्रमाइ॥[5]

इसी प्रकार पड़ोसियों तथा सम्बन्धियों से व्यवहार, जीवन की सफलता,

---

१ र० दो० पृष्ठ १४ दोहा ३ ६
२-३ वही पृष्ठ २० दोहा ४१ ४४
४ ५ वही दोहा ७ ७५

सुमित्र-कुमित्र, धन की विविध गति धन-यौवन आदि से जनित मद दीर्घ-सूत्रता की निन्दा, दुःख को पाप का फल समझ कर दुःखी न होना और उसे निर्मलता का साधन मानना आदि अनेक सामान्य नीतियाँ भी उपदिष्ट हैं।

विषय की दृष्टि से प्रशस्त होता हुआ भी यह संग्रह साहित्यिकता की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। अधिकतर दोहे तो पद्य-मात्र हैं परन्तु कुछ एक में साहित्यिक छटा सराहनीय है। जैसे—

रत्नावलि भवसिन्धु मधि, तिय जीवन की नाव।
पिय केवट बिन कौन जग, यह किनारे लाव॥[1]

अधिक तिलपात से घन-पूर्ति का दृष्टान्त तो प्रायः कर्णगोचर होता ही है परन्तु रत्नावली ने एक नवीन दृष्टान्त द्वारा धर्नै धर्नै धर्मसंचय का उपदेश दिया है।

एक-एक आंचर लिखे, पोथी पूरति होइ।
नेक धरम तिमि नित करें रत्नावलि गति होइ॥[2]

दोहे सुबोध ब्रज भाषा में हैं जिस में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। सब कुछ देखते हुए इस लघुकाय काव्य को 'स्त्री-वराग्य-गीता' कह सकते हैं जिसका प्रात्यहिक पारायण गृहस्थी को सुखमयी बनाने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

६ देवीदास—मारवाड़ के निवासी तथा तुलसीदास के समकालीन कवि देवी दास के वंश जन्म-स्थान जन्म निधन-काल आदि के विषय में अभी तक कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं हुई है। जीवन के इतिहास से इतना विदित हुआ है कि वे पेथा बटी के राव सुरणकरण के मंत्री तथा जाति के भाट थे। धन से बुद्धि को श्रेष्ठ मानते थे तथा आत्मसम्मान का पूरा ध्यान रखते थे। उनके कवित्त नागरी प्रचारिणी सभा काशी तथा राजस्थान के कई पुस्तक-भंडारों में विद्यमान हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने उनके कवित्तों का जो संग्रह जोधपुर में देखा था उसका नाम था 'देवी दास जी रा कवित'।[3] नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में सुरक्षित प्रति का नाम है "राजनीति के कवित्त"।[4] इस प्रति का प्रथम तथा अन्तिम भाग लुप्त है। इसलिए निश्चय पूर्वक कहना कठिन है कि रचयिता ने इसे क्या नाम दिया था। प्रत्येक पत्र के हाशिये पर० आदि लिखा है। यदि 'नी' भांग नीति नि

नी० ना
नी
११

क हो और 'नी' नीति के कवित्त का संक्षिप्त रूप हो तो सम्भवतः संग्रह का नाम 'नीति के कवित्त' होगा। अस्तु संग्रह का नाम कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं कि नीति-काव्यों में यह संग्रह रत्न-तुल्य है।

---

१ २ वही दोहा, ३३ ६५

३ सं० रामनरेश त्रिपाठी: कविताकौमुदी पहला भाग आठवां संस्करण पृष्ठ ३६६

४ नागरी प्रचारिणी सभा याज्ञिक संग्रह काशी प्रति संख्या ६६२।१२

नागरी प्रचारिणी सभा में जो अपूर्ण संग्रह हमें देखने का अवसर मिला उस में २ से ४७ तक ही पद्य हैं। जोधपुर के उपर्युक्त संग्रह में कवित्त-सवैयों की संख्या १०० है और नागरी प्रचारिणी वाले संग्रह की ११२। सम्भव है देवीदास ने कुछ और भी पद्य रचे हों और अनुसन्धान करने पर मिल जाएं। जो उपलब्ध हैं वे भी देवीदास को एक कुशल कवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

संग्रह में राजनीति और सामान्य नीति दोनों ही संस्कृत के प्राचीन नीति-ग्रन्थों के समान घुली-मिली हुई हैं। प्रथम कवित्त में कवि, नीति का महत्त्व और उसकी सर्व साधारण के लिए उपयोगिता का यों वर्णन करता है—

नीति ही तें धरम (और) धरम तें सकल सिद्धि,
नीति ही तें आदर समाज बिच पाइयै।
नीति तें अनीति छूटै नीति ही तें सुख लूटै,
नीति लिये बोलै बड़ो वक्ता कहाइयै।
नीति ही तें राज राजनीति ही तें पातसाही,
नीति ही को जानें पद बड़ो जस पाइयै।
छोटेन कूं बड़ो करे बड़ो महा बड़ो करे
तातें सब ही कूं राजनीति ही सुनाइयै ॥[1]

यहाँ कई कवित्तों में कवि ने राजा के गुण प्रजा के प्रति उसका व्यवहार सेवकों के कर्तव्य आदि का सुन्दर वर्णन किया है वहाँ सर्व-सामान्य के लाभार्थ मित्रता की रक्षा के उपाय कौन किस का मूल पुरुष का वास्तविक शृंगार, भले और बुरे लोग उपहासास्पद जन किस से किस वस्तु का नाश, दानी-कृपण-संवाद सेमर। आपात-रमणीयता आदि विषयों को बहुत ही मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया है। कीर्ति धर्म अभ्युदय ज्ञान स्वास्थ्य शान्ति धन विजय चातुर्य आदि अनेक पदार्थों प्राप्ति के उपाय कवि ने एक ही पद्य में इस प्रकार समाहृत किये हैं—

कीरति को मूल एक देन दिन दान देबो
धर्म को मूल एक जीव पहिचानिबो।
बढ़िबे को मूल एक ऊंचो मन राखिबो है,
जानिबे को मूल एक भलो बात मानिबो।
व्याधि यहु भोजन उपाधि मूल हांसी,
'देवी' शान्ति को मूल एक अगरत बखानिबो।
हारिबे को मूल एक आतुरी है एन मांक,
चातुरी को मूल एक बात कहि जानिबो ॥[2]

---

१ वही पद्य १
२ वही, पद्य ८

आजकल जब कि प्रायः प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपना लक्ष्य राजकीय सेवा ही मान बैठा है देवीदास का यथोल्लिखित कवित्त उस व्यवसाय में साफल्य-प्राप्ति के लिए मार्ग-दर्शक का काम करता है—

बिनु कहे सब जाने सासन सिर पै मानै
साहस की भीर मान मन भाइयतु है।
सुख दुख को न माने चोर हो रहै सयान
कमी काजे प्रान देइ लेई पाइयतु है।
निडर मैं डर राखे डर में निडर होय,
लाज सों लपेटो रहै अति चाहियतु है।
घरी घरी घरकी न कछु घरकी न होय,
ऐसे चाकर तो पूरे पुन्य पाइयतु है।।[1]

अभ्युदय प्राप्ति के लिए ग्राम आदि के मोह का त्याग तथा साहस आदि से सम्पन्न होना आवश्यक है। जिन कायर पुरुषों में उक्त गुण नहीं होते वे घर में ही बैठ कर सड़ा करते हैं—

जिनके उदार चित्त धाव धीर चित्त पूरे
गुनवंत सब हो क 'देवी' सुघरात हैं।
रूप के उजारे मन तारन में राखि सीस
कोमल में मोल लेत ऐसे सुख पात हैं।
साथ भावें सुख फिरें निराधार दुख फिरें,
भाग खुले जहां को तहां ही चलि जात हैं।
कापुरुष गुनहीन दीन मन भीच नर
बाप को तलाई बीच बठे कीच खात हैं।।[2]

भिन्न-भिन्न बातों से मनुष्य की जग हँसाई होती है इसका उल्लेख देवीदास ने विलक्षण ही रीति से किया है—

भारत गुमान कर हारिदो हू सोच धरै
सुख्री थोर मनुहारै ऐसे मूढ़ बीर है।
मानी हू अपन राख त्यागी हू सूमो को साथ
राजा हूँ हरिजनता क सूम सिर भार है।
धनिका कुरूप धनवान हू फकीरो धरै,
चोरि के सिथिल भयो रात दिन चोर है।
जग में जो बसिये तो हँसिये न काहू 'देवी',
हँस्योई जो चाहै तो ये हँसिबे को ठौर है।।[3]

---

१ कविता कौमुदी, भाग १ पृष्ठ १६६।८
२ ३ कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ १६६।१०; १६२।७

देवी दास न संत थे, न मुनि थे एक राज के मन्त्री थे। यही कारण है कि इन का नीति-काव्य ऐहिकता से प्रपूर्ण है। यह निवृत्ति-मार्ग का उपदेशक नहीं प्रवृत्ति मार्ग पर अग्रसर करने वाला है। इनके पद्यों के अध्ययन-काल में पाठक का मन सहसा ही वैदिक संहिताओं के नीति-काव्य की ओर चला जाता है जिनमें जीवन के संघर्ष में वीरवत् आचरण की शिक्षा है।

यद्यपि कवि की कृति पर्याप्त अंशों में मौलिक है तथापि निम्नस्थ अवतरणों से अनुमित होता है कि भर्तृहरि के नीतिशतक तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों का ऋण उसे कुछ अंश तक स्वीकार करना ही होगा। जैसे—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्॥
सौजन्यं यदि किं निजैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥[1] (भर्तृहरि)

लोभ सौ न और गुन पिसुनता सौ पातकु न
साँच सौ न तप नाहिं ईरषा सौ दहनौं।
सुचि सौ न तीरथ सुजनता सौ हितू न
चाहु सौ न रोग तीनि लोक माहुं कहनौं।
धरम सौ मीत न दुरित जीवघातक सौ
काम सौ प्रबल नाहिं (?) सौ लहनौ।
चिंता सौ न साल 'देवीदास' तीन्यों लोक कहुँ
सन्तोष सौ सुख नाहिं कीरति सौ गहनौ॥[2]

देवी दास ने भर्तृहरि के श्लोक की आठ बातों में से लोभ पिशुनता सत्य, शुचिमन सौजन्य और यश—इन छह बातों को ही ग्रहण नहीं किया कवित्त में ईर्ष्या, चाह, धर्म जीवघात काम चिन्ता और सन्तोष को अपनी ओर से भी जोड़ दिया है। इस परिवर्तन के कारण उनकी मौलिकता बहुत-कुछ अक्षुण्ण रही है।

देवी दास मारवाड़ी थे परन्तु उन्होंने अपने काव्य के लिए स्वप्रान्तीय भाषा को न अपना कर ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। सम्भव है इसका कारण परिष्कृत पिंगल साहित्य का अध्ययन हो। उनकी रचना में मारवाड़ी के शब्दों की संख्या नगण्य सी है। विदेशी शब्द भी ढूंढने पर ही कहीं मिल सकते हैं। कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है और वह शब्दचयन में पर्याप्त सतर्क है। यद्यपि लक्षणा और व्यंजना की अपेक्षा अभिधा वृत्ति का प्रयोग अधिक है तथापि प्रसाद-पूर्ण भाषा का प्रवाह और अलंकारों का सुप्रयोग उस ओर ध्यान जाने ही नहीं देता। विषय और भाषा के

१ शतकत्रयम् पृष्ठ २१।४४
२ नीतिकसंग्रह, प्रति सं ११२। १२, पत्र ८८

विचार से ही नहीं भावों की दृष्टि से भी देवी दास की रचना उत्कृष्ट है। उसके अध्ययन से सन्मार्ग का ज्ञान ही नहीं होता, हृदय में साहस गाम्भीर्य धृति औदार्य उदात्तता आदि के भावों का भी उद्रेक होता है।

इन्होंने अपने कवित्तों में प्रायः उपमानिरूपक शैली का प्रयोग किया है। उपदेशात्मक, संवादात्मक तथा अन्यापदेशात्मक शैलियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं परन्तु कदाचित्-क्वचित्।

संक्षेप में कह सकते हैं कि देवी दास विषयों की उपयोगिता, भावों की तीव्रता, अनुभव की व्यापकता, भाषा की स्वच्छता आदि के कारण नीति-कवियों की अग्रपंक्ति में स्थान पाने के अधिकारी हैं।

७ उदैराज—खरतर गच्छ के भद्रसार जी के शिष्य यति उदैराज बीकानेर नरेश महाराज रायसिंह (शासन काल १६३०—६८ वि०) के यहाँ निवास करते थे।[१] ये कविता में अपना नाम उदराज, उदै, उदय, ऊदम और ऊदो भी लिखते थे। इन्होंने सं० १६६० में नीति के दोहों की रचना की[२] और सं० १६७६ में 'गुणबावनी' की। इनके अतिरिक्त इनका एक नाम रहित "स्फुट पद संग्रह" भी विद्यमान है जिसमें नीति की अपेक्षा धर्म-विषयक सामग्री प्रचुर है।

इनके नीति के दोहे "उदैराज रो दूहा" में उपलब्ध होते हैं। ये दूहे "जस रा दूहा", "जवानी रा दूहा" आदि अनेक शीर्षकों में विभक्त हैं। इस अप्रकाशित ग्रन्थ की प्रतिलिपि हमें बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखने का अवसर मिला। यह प्रतिलिपि स्वामी नरोत्तमदास ने फुलस्केप आकार के पत्रों पर की है और इसमें साढ़े तीन सौ के लगभग दोहे हैं। इस पुस्तक में नीति का आधिक्य तो है ही, शृंगार की मात्रा भी पर्याप्त है। नीति-काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है इसलिए कुछ विस्तृत परिचय देना उचित जँचता है।

प्रायः जैन मुनियों की कृतियों में काया उपेक्षित-सी हो रहती है, परन्तु उदराज सम्भवतः राज-संसर्ग के कारण अच्छे खान-पान और रहन-सहन को अच्छा समझते हैं—

> आछा खावै सुख सुवै, आछा पहिरै सोइ।
> यति आछो रहणी रहै, मरै न बूढ़ा होइ॥[३]

उक्त दोहे के "मरै न बूढ़ा होइ" का आशय यही समझना चाहिए कि सम्यक् जीवन-यापन से जरा और मृत्यु का प्रभाव विलम्ब से पड़ता है क्योंकि आगे यति जी ने स्वयं कदाचित् अपना ही अनुभव कहा है—

---

१ २ कामता प्रसाद जैन: हि० जै० सा० सं० इ० (काशी, १९४७ ई०) पृष्ठ ११२
३ उदैराज रा दूहा, पृष्ठ १ दोहा १३

मन छूटे जोबन गयो हाथ पाँव थहराय ।
मार्यो जरा प्रहार को तब ते उठ्यो न जात ।।[1]

जरा और मृत्यु धर्म शास्त्रों तथा धर्म प्रचारकों के अमोघ अस्त्र हैं। इन्हीं की सहायता से वे मोह-ग्रस्त जीवों को सत्पथ पर अग्रसर किया करते हैं। उदैराज जी ने भी 'जरा रा दूहा' प्रसंग में जरा और केशों पर अति सुन्दर दोहे रचे हैं—

स्याम हुते त्यों स्याम वे मन अब भैरे प्राण ।
वे उज्जल उज्जल किया उदयराज रहिमाण ।।[2]

निम्नलिखित दोहे में कवि ने 'जवानी' और 'जरा' का क्रमशः प्रगल्भा और पतिव्रता नारियों से साम्य दिखाने में अति कमनीय कल्पना से काम लिया है—

गी ज्वानी ज्यों नारि ज्यूं रस लेवा कर छांड़ि ।
रही जरा दृढ़ पतिव्रता ज्यौं सूं नाता मांड़ि ।।[3]

लोग अपने वैयक्तिक लाभ के लिए कितना झुक जाते हैं इस नीति का निदर्शन ग्रामीण-जीवन के एक अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण द्वारा किया गया है—

स्वारथ प्यारो जगि सबै नहीं बड़े छो छोट ।
जल लेवा न कारणी नमत कूप ज्यूं कोट ।।[4]

गुणी मनुष्य को भविष्य की चिन्ता न करनी चाहिए। देखिए, समुद्र-रूपी आश्रय से वंचित हो जाने पर भी चन्द्रमा को शिव जी महाराज अपने शीर्ष पर धारण कर लेते हैं—

हर सिर पर सिरहर कियौ विरत लियें उडराज ।
समुद्र तज्यौ त कहा भयौ गुण करि लहियतु लाज ।।[5]

इस ग्रंथ में पारिवारिक नीति पर मुनि जी का विशेष ध्यान लक्षित नहीं होता। प्रसंगवश चंचला और पतिव्रता नारियों के लक्षण ऊपर आ ही चुके हैं। सामाजिक नीति के क्षेत्र में इन्होंने अत्यन्त उपयोगी बातें बहुत सुन्दर ढंग से कही हैं। जैसे मलिनता दुर्जन का लक्षण है तो स्वच्छता सज्जन का—

जी मैलो तो दुरजण जाण जो उज्जल तो सैण ।
वास भभायी नासिका रूप भभावे नैण ।।[6]

संसार में सज्जन-संयोग कितना सुख-प्रद होता है और उनका वियोग कितना दुखप्रद, इस बात का प्रतिपादन अत्यन्त उपयुक्त दृष्टान्तों द्वारा किया गया है—

सज्जन मिलण समान कछु, जग न दूजी बात ।
सित पीत चूनौ हरद मिलत लाल हुँ जात ।।[7]

दोनों परस्पर वियोग से ही चूना और हल्दी रंगहीन हो रहे थे ज्यों ही मिले,

---

१-२ ,, ,, ,, ,, , २४।१, २५।१०, २।१२, ७ हाशिये में, २१।१
३-७. उदैराज रा दूहा पृष्ठ १४, २६।११

चेहरों पर लाली चमक उठी। कितनी सुन्दर कल्पना है!

सज्जनों का अन्यतम गुण होता है—अंगीकृत की लाज या "बांह गहे की टेक।" इस नीति का उपदेश तत्कालीन सम्राट् के जीवन में प्रस्तुत कर कवि ने निज सुन्दर सूझ का भी परिचय दिया है—

जइ पोसु जाएँ कहा, जब अंगीकृत नाहि ।
जानी हुए जहाँगीर से गहे हाथ निबाह ॥[1]

जब सांमुख्य शत्रु से हो जाए तब केवल बल काम नहीं देता। उस समय तो छल और बल दोनों का ही प्रयोग समीचीन होता है—

जहँ सबीरो शत्रु नहीं धीरो रहसी लाज ।
छल देखी बल कीजिये, छल बिण बल बेकाज ॥[2]

इसी प्रकार कपटी के स्नेह की कणेरवत् कोमलता[3] लोक-संग्रह की दुष्करता[4] सरल व्यक्ति का सब को सरल[5] और कुटिल का सब को कुटिल समझना[6] आदि नीतियों का मार्मिक रूप से प्रतिपादन किया गया है।

सामान्य गृहस्थों की अपेक्षा सन्त-मुनि लोग भवितव्यता और ईश्वर में अधिक विश्वास रखते हैं। मुनि उदराज का निम्नांकित दोहा जहाँ होनहार की अनिवार्यता का उल्लेख करता है, वहाँ भाषा की दृष्टि से भी चमत्कारक है—

हुई हुए है जब हुसी जं जं गुणहार ।
तं तं तं न मिट कहं, जं जं जं न विचार ॥[7]

ब्राह्मण बौद्ध जैन प्रायः सभी धर्मों में संसार को दुःखमय कह कर उससे मुक्त होने की प्रेरणाएँ की गई हैं। परन्तु उदराज जी उन धर्माचार्यों से भिन्न हैं। वे जगत् में दुःख और सुख की मात्रा को बराबर-बराबर मानते हैं। राजाश्रय की प्राप्ति इस मतभेद का कारण हो तो आश्चर्य नहीं—

सुर दुल्ह सब दुल्ह को, तोल सम गिणी विचार ।
जैसो दुख मंह आंवरों, तेसी सख प्रमार ॥[8]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा और सामन्तों के संरक्षण में रहने के कारण उदैराज की कृति में अन्य मुनि-कवियों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता आ गई है। वे अपनी रचना सामान्य जनों के लिये ही नहीं राजकीय योद्धाओं के लिए भी करते थे। निम्नलिखित पंजाबी-मिश्रित दोहों में चारणात्मक काव्यों की-सी विजय के बाद अपने कानों से स्व-यश सुनने की या मर कर स्वर्ग-सुख लूटने की इच्छा व्यक्त होती है—

लड़ीय तो मरीय भाजीये तो लाज ।
हियड़ी पड़ियो खीजड़ो वेड़ मारा काज ॥[9]

१-९. वही पृष्ठ ६।२, १५।१३ २९।६, १३।१८ ७।१३, ७।१४ २९।३ ९८।१, २।१०

लड़िके ओछाने उद तो सुराणे अस काम ।
मरांवे तो सुमता है कछु सोचणो न असण ।।[1]

पाखण्डी लोग विभिन्न वेष बना कर भोले भाले लोगों को सदा से ठगते आ रहे हैं। महात्मा सिद्धों नाथों सन्तो और जैनों सभी सुधारकों ने जनता को उनसे सावधान करने का यत्न किया है। कवि उदयराज ने भी इसी उद्देश्य से सच्चे वैष्णव पंडित दरवेश जोगी जंगम वेद ज्योतिषी आदि के लक्षणों को लिपिबद्ध किया है। कहीं तो वे लक्षण-मात्र हैं परन्तु किन्हीं में कुछ चमत्कार भी है। जैसे—

सब कोऊ सिरखा सबहु है कछु भीतर भल ।
सिख न कछु हो रहि सखा, ता तें कहियें सेज ।।[2]

उदैराज गृहस्थ न होते हुए भी साधारण जनों की मनोवृत्ति खूब पहचानते थे। नीति-काव्य की रचना में तो वे दोष न देखते थे परन्तु व्यक्तिगत रूप से दिये उपदेशों की प्रायिक व्यर्थता से वे अनभिज्ञ न थे—

कहै सीख कहि वस्तु दिये सीख दियां दुख होइ ।
सबको करणी आपणी, बुरी न देख कोइ ।।[3]

मनुष्य-जीवन का सार उदैराज के मत में यह है—

जसराज जैसो हसी मनिखा देही सार ।
इह समयरा जिवतव मिलल बहुरि न दूजी बार ।।[4]

उदैराज अपने विषयों की दृष्टि से बहुत कुछ मौलिक हैं। वे प्राचीन कवियों का शब्दानुवाद या छायानुवाद नहीं करते अपनी पैनी दृष्टि से समाज के अन्तस्तल तक जा पहुँचते हैं और सुन्दर भाव-मुक्ता निकाल लाते हैं। जहां कहीं उन्होंने कहीं कुछ प्राचीन विचार लिया भी है वहाँ उसे ऐसे ढंग से संजोया है कि भावापहार का विचार भी मन में उदित नहीं होता। जैसे संस्कृत के निम्नलिखित पद्य में अन्न को परम दान कहा गया है और विद्यादान को उससे भी श्रेष्ठ—

अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम् ।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं च विद्यया ।।[5]

इसमें से विद्यादान की बात को छोड़ कर, कवि जी ने अन्न-दान की महिमा को ले लिया है परन्तु उसका वर्णन इस प्रकार से किया है कि दोहा नितान्त मौलिक देख पड़ता है—

---

१ २ वही पृष्ठ ५१६, ५१०

३ ४ वही पृष्ठ ५१५ ५१६

५. सु० र० भां० पृष्ठ १२५।२१७

सहस कोटि कुंजर दिये एक चरण गोवाल।
कन्या कोटि विवाह व तवनि म धम्म समान ॥[1]

उदैराम के अधिकतर दोहे तो हितकारी विचारों के कारण ही ग्राह्य हैं परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो रस और भावों के उद्रेक में पूर्णतया समर्थ हैं। वीर-रस के दो दोहे पाठ उद्धृत कर हो चुके हैं, एक हास्यरसात्मक दोहा भी द्रष्टव्य है—

हति के भर ताली दियैं, या जुग के उदराज।
और कहा सिर फोड़िहैं, पलक पीछ के काज ॥[2]

गुणी जनों का गुण देख-सुन कर केवल तालियाँ बजा देने वालों पर कितना तीव्र व्यंग्य किया है!

दूहों की भाषा राजस्थानी है। कई दूहों में पंजाबी का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। महिरबान मावर, रहिमाण, रिजक आसम्न (आसान) आदि विदेशी शब्द भी पर्याप्त हैं। छन्दों की गति ठीक रखने के लिए कहीं-कहीं कुछ शब्द विकृत भी कर दिये गये हैं जैसे "मन" को "मन्न" 'आसान' को आसम्न' दुर्जन को 'दुरज्जन' अपभ्रंश भाषा की द्वित्व व्यंजनों की प्रवृत्ति भी पर्याप्त पाई जाती है जो सम्भवतः वीरगाथात्मक रचनाओं के अध्ययन का फल हो। एकाध स्थल पर वाग्धारा का भी प्रयोग दिखाई देता है जैसे ऊपर जहाँगीर के सम्बन्ध में "हाथ बिक जाना" का प्रयोग किया गया है।[3]

दोहे कई शैलियों में लिखे गये हैं। प्रधानतः तथ्य-निरूपक शैली की है। कहीं-कहीं सम्बोधनात्मक[4], आत्माभिव्यंजक[5] और करपल्लवी[6] शैली का प्रयोग दिखाई देता है। उँगलियों के संकेतों से शब्द या भाव प्रकट करने को करपल्लवी कहा जाता है। सम्भवतः करपल्लवी में रचे दोहों के साथ उँगलियों से संकेत भी किये जाते थे।

उदैराम जी के थोड़े ही दोहे ऐसे होंगे जिनकी गणना नीरस पद्यों में की जा सकी है। शेष सब में अलंकारों का चमत्कार विद्यमान है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और लाटानुप्रास तथा अर्थालंकारों में उपमा रूपक, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, दृष्टान्त और श्लेष का प्रयोग अधिक दिखाई देता है।

सार यह है कि "उदैराज रा दूहा" सुन्दर विचारों गम्भीर अनुभवों मनोरम भावों, कोमल कल्पनाओं तथा सरस भाषा से युक्त ऐसी रचना है जिससे हिन्दी नीति काव्य की श्रीवृद्धि हुई है।

स्फुट-पद्य-संग्रह—अभय जैन ग्रन्थालय में हमें उदैराज जी का एक अन्य प्रामाणक

---

१ उदैराज रा दूहा पृष्ठ १३।४
२ ६. वही, पृष्ठ ८।१, ३।२, १४।१ १३।१८
३ पीछे २०७ पृष्ठ पर सातवीं पद-टिप्पणी द्वारा संकेतित दोहा देखिए।

हस्त-लिखित काव्य[1] मिला जो कवित्त सवैया भूलणा छप्पय कुंडलिया आदि छन्दों में रचा गया है। काव्य में अणगार धर्म मुनि-सेवा, तीर्थंकर-स्तुति आदि धार्मिक विषयों का बाहुल्य है परन्तु परदारागमन-निन्दा दान जीवदया मन की गति चित्त का महत्त्व रूप-गुण-संवाद आदि प्रचलित नैतिक विषय भी न्यून नहीं हैं। इस कृति की एक विशेषता यह है कि पद्यों के ऊपर शीर्षक पर्याप्त रूप में दिये गये हैं। ऐसे लगता है मानों उस शीर्षक को समस्या मान कर उसकी पूर्ति की गई हो। जैसे—

"पार की ही नारि सेती प्यार ही न करिये" ।

"एक एक घड़ी लाख लाख टका की" ॥

अधिकतर रचना तो तथ्य-निरूपक शैली में है परन्तु कुछ पद्यों में दूती इस को विणजारी विलजारे को और नारी नाह को सम्बोधित कर कुछ शिक्षा देती है। "रूप गुण-संवाद" के छह पद्यों में रूप और गुण दोनों के महत्त्व का पृथक्-पृथक् वर्णन करने के पश्चात् मान कवि के 'रूप-गुण-संवाद' के समान ही यह निष्कर्ष दिया गया है कि दोनों के एक स्थान पर होने से ही शोभा-वृद्धि होती है—

एक ग्यानवान फेर सिया होय जहे कवि ।

त्यों ही रूप गुण दोनों एक ठौर है सही ॥[2]

भाषा राजस्थानी है परन्तु उसमें खड़ी बोली और पंजाबी का पुट भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। जैसे— 'मन की गति मारुत तें चू चली

मन की गति हाथ न आवदी है।'[3]

उक्त और इसी प्रकार के अन्य दुर्मिल सवैया (८ सगण) छन्द वाले पद्यों को कृति में 'भूलणा' कहा गया है। काव्य में अनुप्रास उपमा हेतु अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार तो विद्यमान है परन्तु रागतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व की न्यूनता और बुद्धितत्त्व को प्रधानता के कारण कृति सामान्य कोटि के काव्य में ही गणनीय है। कविता इस प्रकार की है—

(क) पार की ही नारि सेती प्यार कियो रावण नै

ताही को हवाल देखि मन माँहि डरिये ।

फेर किए कीचो प्यार सोह तो खुवार हुवो

मिले नहीं ठौर तो जंजाल माँहि पड़ीये ।

तन मन देवी नाम ताही की ती हारणी हार,

फेर वाँकै सूं विमुख पद ठौर धरीये ।

---

1 यह काव्य स्फुटी कापी के ४१ पृष्ठों पर नकल किया हुआ है और इसमें पद संख्या क्रमबद्ध नहीं चलती, क्रम-परिवृत्ति के साथ परिवर्तित होती जाती है।

2 1 स्फुट पद", पृष्ठ १२।८ १११

'सदर्थ' कहत मीत बार बार कहीं तोहि,
पार की ही नारि सेती प्यार ही न करीये ॥[1]

(ख) कौड़ी से दिवकर पावे ही दौलत कौड़ी से काम करें सब कौड़ी ।
कौड़ी से कायर सूर सों होवत जालिमो पावें रहें हुए कौड़ी ॥
कौड़ी से नृत्य वालिम चले सब, कौड़ी से राव करें पाव पौड़ी ।
"अलस" एक कहूँ सब कौं, यात्र तोई बड़ी जाकी गांठि है कौड़ी ॥[2]

: जानकवि[3]

पर्याप्त काल तक फतहपुर (शेखावटी) के नवाब अलफखां तथा जान कवि
जो एक ही व्यक्ति समझा जाता रहा परन्तु जब श्री अगरचन्द नाहटा को अलफखां
की पैड़ी और कायम रासों नामक प्राचीन ग्रन्थ अपनी एक साहित्यिक यात्रा में
प्राप्त हुए तब यह बात सिद्ध हो गई कि जान कवि का वास्तविक नाम न्यामत खाँ
था और वे अलफखां के पुत्र थे। 'कायम रासों' में जानने दो-तीन स्थानों पर अपना
नाम' लिखा है और ग्रन्थ के प्रारम्भ में पिता का नाम अलिफ खाँ—

कहत जान अब बरनिहौं अलिफ खाँ की बात ।
पिता जानि कछु न कहीं, भाखौं साची बात ॥

दूसरे "अलफ खाँ कीपैड़ी" में अलफखां के गुणों का वर्णन इतना अतिरंजना
पूर्ण है कि कोई व्यक्ति अपने शौर्य का ऐसा वर्णन नहीं कर सकता।

'कायम रासो" में पहले कायमखानी नवाबों का इतिहास तो संक्षेप में दिया
गया है परन्तु अलफखां का सविस्तर। अलफखां के पाँच पुत्रों में से न्यामत द्वितीय
थे। न्यामत खाँ सं० १६७१ से सं० १७२१ तक साहित्य-सर्जन करते रहे और आज
हमें उनके ७५ ग्रन्थों के नाम प्राप्त हैं। जान कवि ने इतने अधिक प्रेमाख्यानक काव्य
लिखे हैं कि कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समता नहीं कर सकता है।

जान आशु-कवि थे। कुछ ग्रन्थ इन्होंने केवल दो-ढाई पहर में और कुछ दो-
तीन दिन में ही लिख डाले। ये अरबी फारसी और संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान्
थे और इन्हें मुसलमान होने पर भी अपने चौहान पूर्वजों[4] पर बड़ा अभिमान था।

---

१ २ वही पृष्ठ, १०।७ २१।२

३ जान कवि का प्रस्तुत वृत्त राजस्थान भारती (भाग १, अंक १ अप्रैल १९४६) में प्रकाशित श्री अगरचन्द नाहटा के "कविवर जान और उसके ग्रन्थ" शीर्षक निबन्ध के आधार पर दिया गया है।

४ कायम खानी वंश के मूल पुरुष करमसी चौहान को फीरोजशाह तुगलक के पदाधिकारी सैयद नासिर ने सं० १४४० में मुसलमान बनाया और उसका नाम कायम खाँ रखा। जान इसी वंश के आठवें नवाब थे। (मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० २०१)

हस्त-लिखित काव्य[1] मिला जो कवित्त सवैया झूलणा छप्पय कुंडलिया आदि छन्दों में रचा गया है। काव्य में सदाचार धर्म, मुनि-सेवा तीर्थंकर-स्तुति आदि धार्मिक विषयों का बाहुल्य है परन्तु परदाराभिगमन-निन्दा दान जीवदया मन की गति, मित्र का महत्व रूप-गुण-संवाद आदि प्रचलित नैतिक विषय भी न्यून नहीं हैं। इस कृति की एक विशेषता यह है कि पद्यों के ऊपर शीर्षक पद्यांश रूप में दिये गये हैं। ऐसा लगता है मानों उस शीर्षक को समस्या मान कर उसकी पूर्ति की गई हो। जैसे—

"पार की ही नारि सेती प्यार ही न करिये"।
"एक एक घड़ी जाय लाख लाख रुपयों की" ॥

अधिकतर रचना तो तथ्य-निरूपक शैली में है परन्तु कुछ पद्यों में हंसी हंस को विलासी विलासी को और नारी नाह को सम्बोधित कर कुछ शिक्षा देती है। "रूप गुण-संवाद" के छह पद्यों में रूप और गुण दोनों के महत्व का पृथक्-पृथक् वर्णन करने के पश्चात् लाल कवि के 'रूप-गुण-संवाद' के समान ही यह निष्कर्ष दिया गया है कि दोनों के एक स्थान पर होने से ही शोभा-वृद्धि होती है—

एक ज्ञानवान नर दिया होइ नर कवि।
त्यों ही रूप गुण दोनों एक ठयो है यही ॥[2]

भाषा राजस्थानी है परन्तु उसमें खड़ी बोली और पंजाबी का पुट भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। जैसे— 'मन की गति मारुत से वी बड़ी,
मन की गति हाथ न आवदी है।'[3]

उक्त और इसी प्रकार के अन्य दुर्मिल सवैया (८ सगण) छन्द वाले पद्यों को कृति में 'झूलणा' कहा गया है। काव्य में अनुप्रास उपमा, हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का चमत्कार तो विद्यमान है परन्तु रागतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व की न्यूनता और बुद्धितत्त्व की प्रधानता के कारण कृति सामान्य कोटि के काव्य में ही गणनीय है। कविता इस प्रकार की है—

(क) पार की ही नारि सेती प्यार किये रावण ने,
ताही को हवाल देखि मन माँहि डरिये।
फेर किस कीजी प्यार खोट तो गुनाह हुवो,
मिले नहीं जोय तो जंजाल माँहि पड़िये।
तन धन लेवी नाम ताही की भी हुस्ती होत,
फेर साँई सूं विमुख एह जीव मरिये।

१ यह काव्य स्कूली कापी के ४६ पृष्ठों पर नकल किया हुआ है और इसमें पद संख्या क्रमशः नहीं चलती, छन्द-परिवृत्ति के साथ परिवर्तित होती जाती है।
२ १ 'स्फुट पद्य', पृष्ठ १।२।८,२।११

'मदन' कहत मीत बार बार कहौं तोहि,
यार की ही नारि सेती प्यार ही न करीयै ॥[1]

(ख) कौड़ी से मिलकर आवे ही दौलत कौड़ी से काम करे सब दौड़ी।
कौड़ी से कायर सूर सौं होवत, जानिमो प्राणी रहै हुन कौड़ी ॥
कौड़ी से नृत्य नाचिन पजे मद, कौड़ी से राग करै गान जोड़ी।
"मदन" एम कहै सम की, प्राज कोई बड़ी बाकी गाँठ है कौड़ी ॥[2]

८ जानकवि[3]

पर्याप्त काल तक फतहपुर (शेखावटी) के नवाब अलफखां तथा जान कवि को एक ही व्यक्ति समझा जाता रहा परन्तु जब श्री अगरचन्द नाहटा को 'अलफखां की पैड़ी' और 'कायम रासौ' नामक प्राचीन ग्रन्थ अपनी एक साहित्यिक यात्रा में प्राप्त हुए तब यह बात सिद्ध हो गई कि जान कवि का वास्तविक नाम न्यामत खाँ था और वे अलफखां के पुत्र थे। 'कायम रासौ' में जानने दो-तीन स्थानों पर [illegible] नाम' लिखा है और ग्रन्थ के आरम्भ में पिता का नाम अलिफ खां—

कहत जान अब बरनिहौं अलिफ खां की बात।
पिता जानि कहि न कहौं, भाखौं साची बात ॥

दूसरे "अलफ खां की पैड़ी" में अलफखां के युद्धों का वर्णन इतना [illegible] पूर्ण है कि कोई व्यक्ति अपने शौर्य का ऐसा वर्णन नहीं कर सकता।

'कायम रासो' में पहले कायमखानी नवाबों का इतिहास तो [illegible] दिया गया है परन्तु अलफखां का सविस्तर। अलफखां के पाँच पुत्रों में से [illegible] थे। न्यामत खाँ सं० १६७१ से सं० १७२१ तक साहित्य-सृजन करते रहे और अब [illegible] उनके ७५ ग्रन्थों के नाम प्राप्त हैं। जान कवि ने इतने [illegible] लिखे हैं कि कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समता नहीं कर सकता है।

जान आशु-कवि थे। कुछ ग्रन्थ इन्होंने केवल [illegible] तीन दिन में ही लिख डाले। ये अरबी फारसी और संस्कृत [illegible] के [illegible] थे और इन्हें मुसलमान होने पर भी अपने चौहान [illegible]

---

१ २ वही, पृष्ठ, १०१० २११२

३ जान कवि का प्रस्तुत वृत्त राजस्थान भारती ([illegible]) में प्रकाशित श्री अगरचन्द नाहटा के "[illegible]" निबन्ध के आधार पर दिया गया है।

४ कायम खानी वंश के मूल पुरुष [illegible] पदाधिकारी सेयद नासिर ने सं० १४४० में [illegible] कायम खाँ रखा। जान इसी वंश के [illegible] राजस्थानी भाषा और साहित्य [illegible]

इनका वंश धार्मिक कट्टरता से रहित था और सुप्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवयित्री ताज इसी वंश की भूषण थी। हमें अपनी साहित्यिक यात्रा में इनके दो मौलिक अप्रकाशित नीति-काव्यों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ-सतवंती सत और सिप्पसागर। "सतवंती सत" की प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय[1] बीकानेर, में सुरक्षित है। इस काव्य का रचना-काल सं० १६७८ है—

सोरह से अठहत्तरै सनि सहस इकबीस।
सतवंती सत नाम कवि जाम्पी जिनवा बीस॥[2]

उक्त प्रति की प्रतिलिपि सं० १७२६ में महाराजा अनूपसिंह के शासन-काल में, बीकानेर में श्वेताम्बर जैन मोहन ने की थी।[3]

'सतवंती सत' एक कथात्मक नीतिकाव्य है जिस की रचना में दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया गया। ढाई चौपाइयों के बाद एक दोहा या सोरठा छन्द प्रयुक्त हुआ है। समग्र पुस्तक तेरह पत्रों पर लिखी हुई है। परन्तु पत्रों के साथ पद-संख्या नहीं है। कथा-सार इस प्रकार है—हिरवाने में मंसूर नाम का एक सौदागर रहता था जिस की पत्नी का नाम सतवंती था। एक बार जब सेठ मनसूर व्यापारार्थ विदेश गया तब सतवन्ती उसके वियोग में अत्यन्त व्याकुल रहने लगी। यह देख एक पापी उसे धर्म च्युत करने का प्रयास करने लगा। उसने सतवन्ती को बहकाने के लिए पनचारन जोगिन मालिन आदि अनेक कुचल कुटियां भेजीं परन्तु सतवन्ती चट्टान के समान अडिग रही। तब वह कामुक मंसूर का रंग-रूप बनाकर सतवन्ती के पास जा पहुँचा परन्तु सतवंती को कुछ सन्देह हो गया। इसलिए वह उसके साथ वार्तालाप आदि तो करती रही परन्तु रति-दान देने को उद्यत न हुई। इतने में मनसूर भी लौट आया। दोनों समरूप पुरुष झगड़ पड़े। उसी समय एक राजा वहीं आ निकला। राजा ने दोनों को इस प्रश्न का उत्तर लिखने को कहा कि उनका विवाह किस मास में और गौना किस वार को हुआ था। मंसूर और सतवंती के उत्तर तो समान थे परन्तु उस दुष्ट का भिन्न। राजा ने सतवन्ती मंसूर को सौंप दी और दुष्ट को चौक में फाँसी लगवा दी।

आधुनिक दृष्टि से देखने पर कथा-वस्तु की अनेक घटनाएं अस्वाभाविक लगती

---

१ प्रतिसंख्या ११८।११८

२ " पत्र १३

३ इति श्री सतवंती सत सम्पूर्ण समाप्त। संवत् १७२६ वर्षे फागुन मासे शुक्ल पक्षे सप्तमी ७ तिथी बुध दिने लिखतं मोहन श्वेताम्बर। श्री श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री अनूपसिंह जी विजय राज्ये श्री बीकानेर मध्ये। वही पत्र, १३

है, फिर भी नीति की अनेक बातें सुन्दर ढंग से कही गई हैं। कवि रूप और शील के संयोग की प्रशंसा यों करता है—

रूपवन्त जो सत में लहिये, सोना और सुगन्ध सु कहिये ।
सत बिन रूपवन्त को नाहि इंद्रायन फल सो ताहि ।।[1]

जब पनमारन दूती सतवन्ती को कुपथ पर प्रवृत्त करना चाहती है तब सतवन्ती यों कहती है—

जो मेरे पीय नाहि संग । तौ काहे करिहौं अधर सुरंग ।।[2]

विरहिणी के लिए अधर रंजन के समान नेत्रांजन भी उचित नहीं है—

जैसे ससि में देखिये परगट कालिम अंक ।
तैसे पीय बिन लाल कहि, काजर नैन कलंक ।।[3]

दूती यौवन की अस्थिरता दिखाती हुई सतवन्ती को पातिव्रत से विचलित करने के लिए कहती है—

जोबन रतन अमोल किमि जातहु फिरि नाह है ।
करि सो कोटि अमोल हिलन मिलन खेलन हसन ।।[4]

परन्तु सतवन्ती को सन्मार्ग से भ्रष्ट करना असम्भव था। वह बोली—

जो पर पुरुषन को मुख जोवै ।
वह तिय अपनौ जोबन खोवै ।।[5]

कथा रोचक है और साहित्यिक भाषा में लिखी हुई है। जान कवि ने "शीलवन्ती की कथा, और 'कुलवन्ती' की कथा भी लिखी है। शीर्षकों से अनुमान होता है कि ये भी लगभग इसी प्रकार की रचनायें होंगी परन्तु ये हमारे देखने में नहीं आई, इस लिए निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

सिष्यासागर—

यह जान कवि-कृत नीति का उत्तम मुक्तक अप्रकाशित काव्य है। इसकी हस्त-लिखित प्रति हमें बीकानेर में अभय जैन ग्रन्थालय में प्राप्त हुई थी।[6] ग्रन्थ का रचना काल कवि ने सं० १६९५ लिखा है—

सोलै से पैंच्यानवै ग्रन्थ कर्यौ यहु जान ।
सिष्यासागर नाम धरि बहु बिध कर्यौ बखान ।।[7]

---

१ २ वही पत्र १ ३
३. ४ वही, पत्र, ३ ४
५. वही, पत्र, ४
६ प्रति संख्या ७३४० पत्र १—५, पूर्ण।
७. वही पत्र, ५, पृष्ठ १, दोहा २७१—(५।२।२४१)

उक्त प्रति को पं० भुवानीदास ने मारवाड़ के रिणीपुर गाँव में ई० १७८६ की फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को लिपिबद्ध किया था।[1]

पाँच पत्रों की इस प्रति में कुल २८७ दोहे हैं जो शरीर की नश्वरता, पत्नियों की वास्तविक सेवा, हराम और हलाल का मसला, गुरुजन कोप, यौवन गर्विष्ठ, गुरुसेवा, जाति-स्वभाव दुष्ट, मूर्ख मन का भेद उपदेश, रामकृष्ण, कर्म और फल आदि विषयों पर लिखे गये हैं। ग्रन्थ में व्यावहारिक नीति की प्रमुखता है क्योंकि लेखक कोई सन्त कहलाने का भूखा नहीं है, एक गृहस्थ का शासक है। उसे भले-बुरे सभी प्रकार के लोगों से वास्ता पड़ता है, इसीलिए जीवन के साफल्यार्थ वह जिन बातों को आवश्यक तथा उपयोगी समझता है उन्हें निःसंकोच लिखता है।

प्रायः मनुष्य यौवन के प्रमाद-निद्रा में सुप्त रहता है और वार्धक्य में उससे जागृत होता है, इस मनुष्य को कवि अपनी कमनीय कल्पना द्वारा यों लिखता है—

> जोबन निसि सोवत रह्यो स्वप्न काम अधिकार।
> जागि देख दुखपन भयो सेत केस अधिकार॥[2]

सत्कर्मों के अनुष्ठान तथा दुष्कर्मों के वर्जन की प्रेरणा सभी नीति-कवियों ने की है परन्तु जिस कौशल से जान ने काम लिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

> दरपन में मुख देखिये, जो नीकी छबि होइ।
> कहि भी थापे बदन सों काजु करै जनु कोइ॥
> जो लखिये मोके कछु मुख कुरूप भी होइ।
> एक और फिर कीजिये, कहो बराई कोइ॥[3]

क्रोध को सभी ने चण्डाल आदि कहकर उससे दूर रहने का उपदेश दिया है परन्तु क्रोध शान्त करने का निम्नलिखित व्यावहारिक उपाय जानने ही बताया है—

> ठाढ़ो हू तो बैठ हू बैठो जो है लेटि।
> लेट्यो हूँ तो करवट लै ज्यों-त्यों रिस को मेटि॥[4]

गुरु-सेवा भारतीय नीति-कवियों के प्रिय विषयों में से है, परन्तु बहुगुरु-सेवा और बहुलघु-सेवा की तुलना इन्हीं की कृति में दिखाई देती है—

> बहु गुरु सेवा जाहि लघु, निवाहत नाहिं निवाज।
> बहु लघु सेवा जाहि गुरु, नित निवाहत कीह काज॥[5]

---

१ इति श्री कवि जान कृत सिख्यासागर संपूर्णं संवत् १७८८ वर्षे फाल्गुन मासे कृष्णपक्षे १२ कर्मवासरे लिखितं पं० भुवानीदासेन श्री रिणीपुरे। (उक्त प्रति की पुष्पिका देखें)

२ ३ वही ११२।७८ ११२।१४–१५

४ ५ वही, १२।१६६, ११२।१७

सहज स्वभाव में परिवर्तन सुकर नहीं होता, इस नीति का उल्लेख परम्परागत उपमान की सहायता से किया गया है—

मुक्ता खारो कीजिये मिल रखिये मधि तात ।
काग तऊ कबि जान कहि नाहिन होत रसाल ॥[1]

जो मनुष्य साक्षात्कार होने पर प्रशंसा करता है और पीठ पीछे निन्दा, उसके मुख पर धूल ही पड़ती है—

सनमुख उज्जल मुख मिल पीठि दियें अपियार ।
दुविधा तजत न आरसी, तऊ परत मुख छार ॥[2]

अपना रहस्य दूसरों पर प्रकट करना अनुचित है, इस बात का उल्लेख कितनी स्वाभाविकता और मर्मस्पर्शिता से करते हैं—

अपने मन को भेद तु जिन काहूँ सूं भाव ।
वह जैसे रावत कुयों को तूं सपनों न दाव ।[3]

अपने को बलवान् जानकर निबल को भी शत्रु बनाना उचित नहीं, इस नीति का समर्थन एक अति सुन्दर दृष्टान्त द्वारा किया गया है—

अपने बल पर निबल की दुश्मन कर न भूल ।
जो अमृत हुइ पीठ में, तो रिपु पाय न मूल ।[4]

जैसे कर्म वैसे फल की नीति का जानने मूढ व्यक्ति के आचरण द्वारा भी उल्लेख किया है—

मूरिख सीरहि देख दुख, रावत सुख अभिलाष ।
ब इनायत बलि को पायो चाहत दाव ।[5]

उक्त विषयों के अतिरिक्त कवि ने आस्तिक होने के कारण हराम-हलाल भक्षण को और शासक होने के कारण राजकर्तव्यों को भी अपने काव्य का विषय बनाया है । यद्यपि इन से पूर्व तथा इनके समय में पर्याप्त संत-काव्य की रचना हो चुकी थी और उसमें जाति-मूलक महत्त्व का पर्याप्त खण्डन किया जा चुका था फिर भी इनकी कृति में उसका समर्थन कुछ विचित्र-सा लगता है । परन्तु आश्चर्य की कोई बात नहीं । जिसका जन्म सद्योग से उच्च कुल में हो जाता है, वह प्रायः अपनी कुलीनता का मान करता ही है और, पवित्रतर धर्मों के समान जिनका सम्बन्ध अपेक्षाकृत हीन कुलों में होता है वे जन्ममूलक अभिमान का प्रत्याख्यान करें तो क्या विस्मय !

उपरिलिखित दोहों से स्पष्ट है कि प्रायः प्रचलित नैतिक विषयों के उल्लेख में

१ २ वही ३।३।८१, ३।३।१०४
३ ४ ५. वही ३।३।११०, ३।३।१२८, ३।३।११४॥

पर मुग्ध थे। सम्राट् अकबर के ये प्रशंसक थे, जहाँगीर के दरबार में भी एक बार उपस्थित हुए थे।

"आमी बादशाह ताको मेरी तसलीम है"

और शाहजहाँ के साथ तो इन्हें प्रतिदिन ही शतरंज खेलनी पड़ती थी जिससे इन्हें कठिनाई से ही मुक्ति मिली।

बनारसीदास का उपरिलिखित संक्षिप्त जीवन-वृत्त उनके "अर्धकथानक" नामक आत्मचरित के आधार पर लिखा गया है। शेष जीवन-वृत्त अभी तिमिराच्छन्न है।

बनारसीदास ने पांच पुस्तकों की रचना की थी—नवरसपद्यावलि, नाटक समयसार बनारसी विलास नाममाला और अर्द्धकथानक। नाटक समयसार आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत-ग्रन्थ "समयसार" का हिन्दी-पद्यों में उत्तम अनुवाद है और जैन साहित्य में अध्यात्मविषय का बेजोड़ काव्य है। नाम-माला "धनंजय के इसी नाम के संस्कृत-कोष का पद्यबद्ध अनुवाद है।" "बनारसी-विलास' में कवि की छोटी-मोटी ५७ स्फुट कृतियों का संग्रह है, जिन्हें कवि के निधन के पश्चात् पं० जगजीवन राम ने १७०१ वि० में संगृहीत किया था।[1] इस संग्रह के अधिकतर ग्रन्थ तो जैन सिद्धान्तों और आध्यात्मिक विषयों पर ही रचे गये हैं परन्तु निम्नलिखित की गणना नीतिकाव्य में करना उचित है—

(१) तेरह काठिया (२) नवरत्न कवित्त, (३) वैद्यादि के भेद (४) प्रास्ताविक फुटकर कविता। इनके अतिरिक्त इन की एक अनुवादात्मक सुन्दर नीतिकृति 'भाषा सूक्तिमुक्तावली' भी है। जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

१ तेरह काठिया[2]

गुजरात में बटमारों को 'काठिया' या "काठिया चोर" कहते हैं। इस पुस्तिका में मानव-जीवन को लूट लेने वाले तेरह नैतिक दुर्गुणों को काठिया कहा गया है और उनसे सावधान रहने की प्रेरणा की गई है। कुल पद्य-संख्या सत्रह है। प्रारम्भ में तीन तथा अन्त में एक दोहा है और मध्य में १३ चौपाई छन्द हैं। कृति की रचना व्याख्यात्मक शैली में की गई है। पहले एक दोहे में तेरह काठियों के नाम गिना दिये गए हैं और तदनन्तर एक-एक चौपाई में उनके स्वरूप तथा तज्जनित हानियों का उल्लेख है—

---

१ सत्रहसै एकोत्तरे, समय चैत सित पाख।
द्वितिया में पूरन भई, यह बनारसी भाख। वही, पृ ८४

२ बनारसी विलास : पृष्ठ १२७—२९

जूआ आलस सोक भय कुकथा कौतुक कोह।
कृपणबुद्धि अज्ञानता भ्रम निद्रा मद मोह।।
प्रथम काठिया जूआ जान, जामें पंच वस्तु की हान।
प्रभुता घटै बढ़ै अशुभ कर्म मिटै सुजस विनसै धन धर्म।।
द्वितीय काठिया आलसभाव जासु उदै नासै विवसाव।
बाहिर शिथिल होंहि सब अंग, अंतर अमवासना भंग।।
कृपण बुद्धि अष्टम बटमार जामें प्रगट लोभ अधिकार।
लोभ माँहि ममता परकाश ममता करै धर्म को नाश।।[1]

पुस्तक धार्मिक लोगों के प्रात्यहिक पाठ के लिए तो उपयोगी है परन्तु काव्यत्व की दृष्टि से रस-शून्य।

२ नवरत्न कवित्त

पुण्यश्लोक महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेक कथाएँ भारत भर में लोकरूढ़ कही-सुनी जाती हैं। कहते हैं, उनकी सभा धन्वन्तरि आदि नौ पंडित-रत्नों से सुशोभित थी। इसी प्रकार इस पुस्तिका में भी कवित्त-रत्न हैं। पुराने दिनों में छप्पय छन्द को कवित्त कहा जाता था इसी कारण कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इसी कृति का नाम 'नवरत्नषट्पदानि' मिलता है। पुस्तिका के प्रारम्भ में दो दोहे हैं और तदनन्तर नौ छप्पय छन्द। पुस्तिका व्याख्यात्मक शैली में उपनिबद्ध है। प्रथम दोहे में विक्रम के नव रत्नों का नामोल्लेख है और दूसरे में प्रत्येक छप्पय के प्रारम्भिक पद का। इस शैली से मूलग्रन्थ की स्वरूप रक्षा में सहायता मिलती है किसी परवर्ती कवि को उसमें कमी बेशी करने का साहस नहीं हो सकता। विषय और कवित्व दोनों दृष्टियों से पुस्तक इतनी बढ़िया है कि कृति को आद्यन्त उद्धृत करने को चित्त चाहता है परन्तु प्रबन्ध के कलेवर का ध्यान रखते हुए दो चार पद्यों से ही संतुष्ट होना पड़ता है—

धन्वन्तरि क्षपणक अमर सह खर्पर वैताल।
वर कवि शंकु वराहमिहि (र) कालिदास नव लाल।।[3]
विमलचित्त याचक शिथिल मूढ़ तपस्वी भ्रात।
कृपणबुद्धि तियनरपति ज्ञानवंत नव बात।।[4]

संसार में किसे कैसे वशीभूत करना चाहिए, इस नीति का उल्लेख यों किया गया है—

---

१ बनारसी विलास पृष्ठ १३८ पद्य १४५,११
२ बनारसी विलास पृष्ठ १७१—१७६
३, ४ बनारसी विलास नवरत्नकवित्त पद्य १, २

(ख) देव छिलाय पढ़ें के पुतुया, वे कोसतों के पीछे।
ठौर-ठौर नाम धराये, पुन सरिया के मांड॥[१]
इनके पुस्तक बाँचिये, बेहु पढ़ें विशेष।
एक वस्तु के नाम द्वय, जसे "सीमा, खेत" ॥[२] (बनारसीदास)

ऐसे प्रतीत होता है कि बनारसीदास जी ने समय-समय पर नीति तथा धर्म के विषय पर जो फुटकल दोहे रचे थे उन्हें इस पुस्तिका में संग्रहीत कर दिया गया है। नवाल-कवित" में तो कवि ने लिखा है—

"गुरुपति मंडन विपुल धन।"[३]

परन्तु इसमें लिखते हैं—

माया पाप एक है पढ़े सब दिन माहि।
इनको संवत बे लगें तिनहिं कहीं सुख नाहि॥[४]

पुस्तक के अधिकतर दोहे सन्तों की साखियों की शैली में लिखे गये हैं। प्राय एक दोहे में एक ही नैतिक तथ्य का प्रतिपादन है और उसका समुचित दृष्टान्त द्वारा समर्थन। जैसे—

ज्ञानहीन करनी करै, यों शिव मन आमोद।
ज्यों चेरी निज कुचहि तें छुरी निकासे कोय॥[५]

एकाध दोहे से तो इनके सामान्य वैद्यक ज्ञान का भी परिचय मिलता है—

राज ऋद्धि सुख सोभवें ऐसे मूढ़ अजान।
महा सन्निपाती करहि जसे अरचत पान॥[६]

अनेक दोहे विशुद्ध नीति के हैं। जैसे—

कामी तन मंडन करै, तृष्ण बढ़ै अधिकार।
नारकाल मारहिं पिता असति हने भरतार॥[७]

कथित वसन सुवसित असन ललित पान सुख सैन।
बड़ी नीति लघु नीति सों होय सबल को चैन॥[८]

पुस्तक में नीति और उपदेश की बातें पर्याप्त हैं, भाषा में भी कहीं-कहीं यमक अनुप्रास आदि का सुन्दर चमत्कार है परन्तु बुद्धितत्त्व की बहुलता और कल्पना तथा रागतत्त्व की न्यूनता के कारण इसे सत्काव्य कहने में संकोच ही होता है।

४ प्रास्ताविक फुटकर कविता[९]

केवल २२ पद्यों की इस पुस्तिका में नीति धर्म अध्यात्म जैन-सिद्धान्त सब

---

१ सन्तगुणातार पृष्ठ ११०
२ ६ बनारसी विलास पृष्ठ १०४।६, १०६।१ २०३।१६ २०६।१२, २०६।११
७. ८. बनारसी विलास पृष्ठ २०६। ११ २८
९. बनारसी विलास में पृष्ठ १९९—२०२ पर मुद्रित

निमित्त है परन्तु नीति के पद्यों की प्रचुरता है अतः हमने इसका परिचय यहीं देना समीचीन समझा है। कामिनी और कांचन का त्याग जीवहत्या और आखेट का निषेध, जूआ परधनहरण मांस भक्षण और सुरापान का विरोध पाप-दृष्टि से परनारी को देखना, परनिन्दा सिखाने के जती और ढोंगी मुनि कर्मपाश के भग होने पर मरत-त्रास से मोक्ष त्याग्य व्यवसाय विभिन्न अवस्थाओं में शरीर की दशा चौदह विद्याएँ तथा छत्तीस छोटी जातियों का वर्णन है। पुस्तिका में १ मनहरण १ मत्तगयंद, १ छप्पय, ५ दोहे और १ वस्तु छन्द प्रयुक्त हुआ। दोहे धर्म और अध्यात्मक विषयक हैं। नीति के लिए मनहर, मत्तगयंद और छप्पय छन्द प्रयुक्त हुए हैं। अधिकतर कवित्त सवैये तो अच्छे सरस हैं परन्तु कुछ एक में वस्तुओं के नाम भर गिना दिये गये हैं। दोनों का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

जीव के बधया धामबिधा के सधया धामा-
नन्द के बधैया धन 'धावेटक करनी।
जुआरी लबार परधन के हरनहार,
चोरी के करनहार दारी के परसनी।
मांस के भखैया सुरापान के करैया
परबधू के भखैया जिनके हिय न परनी।
रोष के गहैया पर-दोष के कहैया, पचे,
पापी नर नाक गिरते महा अघरनी॥[1]

छत्तीस पुवनियाँ (नेमी)

सीसगर दरजी तमोली गवाल ग्वाल,
बढ़ई संगतरास तेली धोबी धुनियाँ।
कंदोई कहार काछी कुलाल कलाल माली,
कुंदीगर कागदी किसान पट बुनियाँ।
चितेरा बंधेरा बारी लखेरा ठठेरा राज,
पटुवा छपरबंध नाई भार-भुंजियाँ।
सुनार लोहार सिकलीगर हवाईगर
धीवर चमार एही छत्तीस पवुनियाँ॥[2]

रस भाव रहित होने पर भी यह कवि के भाषाधिकार और शब्द विन्यास के पटुत्व का अच्छा प्रमाण है। संभवतः ऐसे पद्यों की रचना कवि ने इस कारण की है कि मांगलिक अवसरों पर लोग पौनियों का भरण-पोषण भूल न जाएँ। संस्कृत के

---

१ बनारसी विलास में प्रास्ताविक फुटकर कविता पृष्ठ १९७।५
२ बनारसी विलास में प्रास्ताविक फुटकर कविता पृष्ठ, २०१।१५

धर्मों में मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष और पूर्णायु एकसौ बीस वर्ष अभिहित है परन्तु बनारसीदास जी ने एकसौ दस वर्ष मान कर प्रत्येक दशक की एक-एक विशेषता की और मनुष्य का ध्यान, सम्भवतः उसे सावधान रखने के लिए, इस प्रकार खींचा है—

बालक दसा की मरजाद दस बरस लौं
            बीस लौं बढ़ति तीस लौं पुष्टि रही है।
चालिस लौं चतुराई पचास लौं पूरनताई
            साठ सब जोबन की हानि लहलही है।
सत्तर लौं मन्द अस्सी लौं पुरुषारथ छिन्न,
            नब्बे लग इन्द्रिन की शक्ति थकही है।
सौ लौं १०० मेत एक सौ बत्तीसर लौं आयु,
            मानुष जनम याकी पूरी थिति कही है॥[1]

समीक्षा—

बनारसीदास के ग्रन्थों के उपरिलिखित दिग्दर्शन से विदित होता है कि वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने शारीरिक पुष्टि स्वास्थ्य दीर्घायुष्य आदि पर कोई बल नहीं दिया। कारण स्पष्ट है कि अध्यात्मी मनुष्यों की दृष्टि में शरीर विशेष महत्त्व नहीं रखता। वे स्वयं विद्वान् थे अतः उनके नीति-काव्य में विद्या की विशेष प्रशंसा तथा अनेक विद्याओं की परिगणना उपलब्ध होती है। उनका सर्वाधिक बल तो निर्लोभता, अहिंसा, शील, अपरिग्रह सत्य अक्रोध, नम्रता आदि गुणों पर ही है।

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में उन्होंने मैं युवती को प्रेम से अधीन करने[2] का तथा कुलीन ललना के लिए लज्जाशील[3] होने को प्रशस्त कहा है परन्तु गार्हस्थ्य जीवन का विशेष महत्त्व प्रतिपादित नहीं किया। कारण यह कि परिवार मोक्षमार्ग में प्रायः विघ्न-रूप-सा सिद्ध होता और दूसरे बालविवाह[4] तथा विलास-मय जीवन के कटुफलों के वे स्वयं भी भुक्तभोगी थे। कंचन-कामिनी के संग त्याग का उपदेश उन्होंने इस प्रकार दिया है—

---

१ बनारसी विलास में ज्ञानवाविन फुटकर कविता पृ० २००।११
२, ३ बनारसी विलास, पृष्ठ १७०।३ १७२।१०
४ ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम् ।
    यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
    जातो वा न चिरं जीवेद् जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः ।
    तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥
    (समार्तC सुश्रुत, शरीर स्थान, अ० १०।५७ ५८

कंचन भण्डार पाय रंच न मगन हूजे,
पाय नवयोवना न हूजे जोबनारसी।
काल असिधारा जिन जगत बनाए सोई
कामिनी कनक पुत्र हूजे को बनारसी।
लोक विनाशी सरीर तू है अविनाशी जीव,
या जगत-कूप बीच मैं ही डोबनारसी।
इनको तू संग त्याग कूप सों निकसि भाग
प्राणी मेरे कहे लाग कहत 'बनारसी'।[1]

तत्कालीन समाज में हिन्दू मुसलमान वैष्णव, जैन ब्राह्मण शूद्र आदि अनेक जातियों में परस्पर अपेक्षित प्रीति न थी। बनारसी दास-से अध्यात्मी कवि की दृष्टि में इस वैषम्य का खटकना स्वाभाविक था। अतएव उन्होंने सन्त कवियों के समान, सब में एक ही "राम" का निवास प्रतिपादित कर सबको परस्पर स्नेही बनाने का सदुद्योग किया—

तिनकी दुविधा जर्ने, जे रंग विरची नाम।
मेरे नैनन देखिए, घट घट अन्तर राम॥[2]

इन्होंने "गृहपति मंडन विपुल धन"[3] लिखकर सफल गार्हस्थ्य के लिए धन का महत्व तो स्वीकृत किया है परन्तु—

कंचन भंडार पाये रंच न मगन हूजे।[4]

कह कर उसमें आसक्ति का निषेध भी किया है। इस विषय में उनकी नीति वैदिक संहिताओं-सी ही प्रतीत होती है जिनमें "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्"[5] का सुवर्णमय उपदेश देखने में आता है। इनके काव्य में कृपणता से धन का नाश कुव्यसनों में धन-व्यय की निन्दा तथा दारिद्र्यजन्य सम्मान-क्षय का भी उल्लेख किया गया है[6]। चूँकि बनारसीदास एक व्यापारी धार्मिक गृहस्थ थे अतः इनके नीतिकाव्य में संपत्ति के महत्व, उपयोगिता तथा वास्तविक स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन स्वाभाविक ही है।

जीव दया जैन धर्म तथा नीति का अत्यन्त प्रिय विषय है। वस्तुतः सम्य संस्कृत मानव पर प्राणों को भी स्व प्राणों के समान ही मूल्यवान् समझते हैं परन्तु जैन नीतिकारों में तो यह दया चरम सीमा तक पहुँच जाती है। बनारसीदास उन व्यवसायों से ही दूर रहने का उपदेश नहीं देते जिनमें प्राणि-हत्या की सम्भावना

---

१ बनारसी विलास पृष्ठ १६७।४
२ ४ बनारसी विलास पृष्ठ २०४।१० १७६।१० १६७।४ ॥
५ यजुर्वेद अध्याय ४०।१ ॥
६ बनारसी विलास पृष्ठ १७६।७

हो वरन् हिंसक जीवों की हत्या का भी निषेध करते हैं। हाँ इतना अवश्य कहा है कि उनका पोषण न करना चाहिए—

> नाज पान मिष्ठान मोम मादक नवनिज्जे ।
> लवण हींगु पुत लस [?]वनिज कारण नहि किज्ज ॥
> पशुभाड़ा पशु वणिज सस्त्र विक्रय न करिज्ज ।
> जहाँ निरन्तर अग्नि करम सो वणिज न किज्जे ॥
> मधु लोन साथ विष वणिज तज, कूप तलाव न सोखिए ।
> लहिए न वरम गृह वास बस, हिंसक जीव न पोखिए ॥[1]

बनारसी दास की दृष्टि में सांसारिक जीवन दुःखमय है इसके सुख स्वप्नवत् झूठे हैं, इसमें भी मानव-जीवन तो चपला-विलास के समान क्षणिक है अतः इसमें मग्न न होना ही सच्ची नीति है।

> जा में सदा उतपात रोगन सौं छीजै गात,
> कछु न उपाय छिन-छिन आयु खपनो ।
> कीजे बहु पाप औ नरक दुख चिन्ता व्याप,
> आपदा-कलाप में बिलाप ताप तपनो ॥
> जा में परिग्रह को विषाद मिथ्या बकवाद
> विषैभोग सुख की सवाद जैसो सपनो ।
> ऐसो है जगत वास जैसो चपला विलास,
> ता में तू मगन भयो त्याग धर्म अपनो ॥[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बनारसीदास मानवीय व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित नीति पर पर्याप्त बल देते हैं परन्तु पारिवारिक, धार्मिक तथा सामाजिक नीति के क्षेत्र में उस उत्साह का अभाव है जो वैदिक तथा संस्कृत नीति-काव्य में दिखाई देता है।

यद्यपि बनारसीदास के नीतिकाव्य में पर्याप्त मौलिकता है तथापि एकाध स्थल पर तो उन्होंने भर्तृहरि के नीति-शतक का अनुवाद भी कर दिया है। जैसे, भर्तृहरि के निम्नवर्ती पद्य—

> लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
> सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
> सौजन्यं यदि किं निजैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः
> सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥[3]

---

1 बनारसी विलास पृष्ठ १६८।११
2 बनारसी विलास पृष्ठ १६८।१८
3 शतकत्रयम्, पृष्ठ २४।४८

का सरूप अनुसार बनारसीदास के परवर्ती कवित्त में देखा जा सकता है—

लोभवन्त मानुष जो औगुण अनन्त ता में,
जाके हिये दुष्टता सो पापी परधान है।
जा के मुख सत्य बानी सोई तप को निशानी,
जा की मनसा पवित्र सो गौरव धाम है।
जा में सज्जन की रीति ताको सब ही सों प्रीति,
जा को भली महिमा सो आभरणवान है।
जा में है सुविद्या सिद्धि ताही के प्रभूत रिद्धि,
जाको अपजस सो तो मृतक समान है।[1]

बनारसीदास के काव्य में रसों का विशेष परिपाक तो दिखाई नहीं देता, परन्तु निर्वेद विशेष, दया, औदार्य भक्ति श्रद्धा, ममता आदि भावों की अच्छी व्यंजना हुई है।

कवि का प्रत्येक पद्य उनके भाषाधिकार तथा सुन्दर शब्दचयन का समर्थक है। उन्होंने सर्वत्र ही परिष्कृत और समर्थ भाषा का व्यवहार किया है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द पर्याप्त प्रयुक्त हुए हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रायः अभाव है। फ़ारसी आदि के भी इलाज फरमावै मुसल्ला साहिब तहकीक खालिस आदि कुछ शब्दों का प्रयोग किया गया है। एकाध स्थल पर तो संस्कृत और फ़ारसी के मिश्रण से नवशब्द-निर्माण कर लिया गया है जैसे—

जुआरी लबार पर-धन के हरनहार।
चोरी के करनहार यारी के अजरमी॥[2]

में "अजरमी" शब्द संस्कृत के (नञ्) तथा फ़ारसी 'जर्म' के संयोग से निर्मित है।

बनारसीदास का नीतिकाव्य केवल मुक्तक रूप में प्राप्त होता है। उसमें अधिकतर प्रयोग तो तथ्यनिरूपक शैली का किया गया है परन्तु उपदेशात्मक[3], व्याख्यात्मक[4] और संवादात्मक[5] शैली भी कहीं-कहीं दिखाई देती है। पद्यों में यद्यपि दोहा चौपाई, सोरठे, वस्तु छप्पय मनहर मत्तगयंद आदि कई छन्द प्रयुक्त हुए हैं परन्तु कवित्त अधिकतर अथवा छप्पय मनहर और मत्तगयंद में है। इन्होंने नीति के दो-चार पद भी लिखे हैं, जिनमें इनका स्वर अपनी प्रांजल मधुरता छोड़ कर कुछ कर्कश हो गया है, परन्तु यह कर्कशता भी उस स्नेही पिता की सी है जो पथभ्रष्ट होते हुए सुत को देख कुछ क्षुब्ध हो उठता है—

---

१ बनारसी विलास, पृष्ठ, १६७।१
२-५ „ „ „ १६८।२, १६८।४, १६८।४ १२ २००।१६,

औंधू भाई ! अमृत ग्रन्थ यह मेरा ।
जो तू देखे इन आँखिन सों तामें कछु न तेरा, औंधू० ।
ए आँखें भ्रम ही सों उपजीं, भ्रम ही के रस पागीं ।
जहँ जहँ भ्रम तहँ-तहँ इनको श्रम तू इन ही को रागी औंधू०॥[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास जी के सम्बन्ध में जिन पाँच शैलियों[2]—छप्पय-पद्धति गीतपद्धति कवित्त-सवैया-पद्धति, दोहा-पद्धति—का उल्लेख किया था वे सभी बनारसीदास ने भी प्रयुक्त की हैं।

कवि ने अपनी कृतियों में अलंकारों का प्रयोग युक्तिपूर्वक किया है। शब्दालंकारों में वीप्सा[3] अनुप्रास यमक पादान्तयमक[4] तथा अर्थालंकारों में उपमा दृष्टान्त रूपक अर्थान्तरन्यास दीपक, समुच्चय और निरुक्ति अलंकार विशेष उल्लेख्य हैं। जैसे—

(क) जो हरि घट में हरि लखै हरि बाना हरि बोइ ।
हरि छिन हरि सुमरन करै, विमल बनारसि सोइ ॥[5]

(अनुप्रास यमक)

(ख) ऐसो है जगवास जैसो चपला-विलास ॥[6] (उपमा)

(ग) जो मन मूसे आपनो साहिब के वश होय ।
ज्ञान मुसल्ला गह टिकै मुसलमान है सोय ॥[7] (निरुक्ति)

(घ) धीरज तात क्षमा जननी परमारथ मीत महारुचि मासी ।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा मति पुत्रवधू समता प्रतिभासी ॥
उद्यम दास विवेक सहोदर बुद्धि कलत्र शुभोदय दासी ।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग यों मुनि को कहिये गृहवासी ॥[8]

(सांग रूपक)

बनारसीदास के गीतिकाव्य में प्रसाद और माधुर्य तो प्रचुर है परन्तु ओज की कमी है।

सब मिला कर कह सकते हैं कि इस कवि का अधिकांश गीतिकाव्य सन्तों के गीतिकाव्य के समान है। वह व्यक्तियों को शुद्ध पवित्र, धर्मात्मा बनाना चाहता है, समाज में सुख-शान्ति की स्थापना का इच्छुक है प्राणिमात्र के प्रति दया भावना के प्रचार का आकांक्षी है। परन्तु जीवन और परिवार को झूठा तथा संसार को

---

१ २१४।१८
२ रामचन्द्र शुक्लः हि० सा० इ० २००६ वि० पृष्ठ १३३ १३४
३ बनारसी विलास पृष्ठ २०४।१०
४ प्रस्तुत प्रबन्ध के पृ० २९३ पर "कंचन भण्डार" आदि पद्य देखिए।
५-८ बनारसी विलास, पृष्ठ २०४।४ १६६।६, २०७।५, १६८।७

निस्सार बताने के कारण मानव में भाषा उत्साह वीरता पराक्रम, सघर्ष शक्ति आदि उत्पन्न करने का यत्न नहीं करता। फिर भी सामान्य सतों के काव्यों से वह भाषा छन्द अलंकार, गुण आदि की दृष्टि से कहीं ऊँचा है। हिन्दी नीतिकाव्य बनारसीदास का विशेष आभारी रहेगा।

१० सुन्दरदास

दादू जी के शिष्य सुन्दरदास जी (जन्म संवत् १६५३) केवल सन्त नहीं थे सत्कवि भी थे। बचपन में ही दादू जी का शिष्यत्व स्वीकार कर ये वाराणसी चले गये थे और वहाँ लगभग बीस वर्ष तक वेदान्त, साहित्य आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन करते रहे। यही कारण है कि इनकी कविता अधिकतर सन्तों के समान तुकबन्दी मात्र नहीं है सरस और साहित्यिक है। इन के ग्रन्थों की संख्या ४० के लगभग है जिनमें समस्त पद्य-सख्या ३७८७ है।[1]

यों तो इनके ग्रन्थों में योग-साधना, वेदान्त और नीति का सम्मिश्रण है परन्तु पंचेन्द्रिय-चरित्र, अद्भुतोपदेश सतगुरु महिमा नीसानी भ्रमविध्वंस अष्टक गुरु वैराग्य बोध, तर्क चितावनी सवैया (सुन्दर विलास) और साखी में नीति-काव्य बहुत अधिक है।

"पंचेन्द्रिय चरित्र" में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उच्छृंखलता से जन्य कष्टों का पाँच कथाओं में उल्लेख है। प्रत्येक इन्द्रिय का प्रतिनिधित्व वह पशु या पक्षी करता है जिसमें उस इन्द्रिय का प्राबल्य देखा जाता है। इस प्रकार गज, भ्रमर मीन पतंग और मृग, त्वचा, घ्राण रसना नेत्र और श्रवणेन्द्रिय की प्रबलता के कारण कष्ट पाते और नष्ट हो जाते हैं। प्रायः कथाएँ चंचकै[2] छन्द में हैं बीच-बीच में दोहा भी व्यवहृत हुआ है। निदर्शनार्थ एक कथा का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

गज चरित्र। चम्पक छन्द

गज फीरत अपने रंगा, बन में अरमल अनंगा।
इक मनुष तहाँ कोउ आवा तिहिं कुंजर देख न पावा॥
तब कह्यौ नृपति सौं जाई इक गज बन मांझ रहाई।
को ले आवै गज जाई, वहीं तब बहुत बधाई॥
तब बुद्धि विधाता दीन्ही, कागद की हथनी कीन्हो।
तहाँ खंदक खोदा जाई, पतरे तृण दीन छवाई॥
हथनी को देखि स्वरूपा सठ धाय परयो अंध कूपा।

---

१ सं० श्यामसुन्दर दास, "सुन्दरसार" (ना प्र० स० काशी, १९१८ ई) भूमिका पृ० १

२ १४ मात्राओं का छन्द "चंचक"।

दोहा

काम किया गुरु बहुत ही मन तजि संग्रह धाम ।
तब सद्गुरु की यो कही, विरह नचाया काम[1] ।।

इसी प्रकार भ्रमर, मीन मृग आदि के चरित्रों के उल्लेख के पश्चात् समाहार में इन्द्रियों के वशीकरण का उपदेश दिया है—

मन अलि मीन पतंग मृग, इक-इक दोष विनाश ।
जाके तन पंचों बसैं, ताकी कैसी आस ।।[2]
पंचों विगरू न केरिया, बहुते करहिं उपाइ ।
सर्व सिद्ध मन बसि करै, इन्द्रिय बहुरि न जाइ ।।[3]

"सद्गुरु उपदेश" ६७ दोहों का एक छोटा-सा कथा-काव्य है जिसका विषय मन और इन्द्रियों का विग्रह है । परमात्मा का पुत्र आत्मा है, आत्मा का पुत्र मन । मन के पाँच कुपुत्र पाँच इन्द्रिय हैं जो रस-रस विषयों में पड़ कर सुख-दुख भोगते हैं । अन्त में वे सद्गुरु के शरण से विषय-रूपी ठगों के जाल से बच जाते हैं ।

'सद्गुरु महिमा बावनी' का विषय नाम से ही स्पष्ट है । इसमें ५० त्रोटकी छन्दों[4] में गुरु के उपकारों का वर्णन अत्यन्त श्रद्धापूर्वक तथा अलंकृत शैली में किया गया है । जैसे—

रवि ज्यों प्रगट प्रकाश में, तिम तिमिर मिटाया ।
शशि ज्यों शीतल है सदा, रस अमृत पिलाया ।।
अति गम्भीर समुद्र ज्यों तरुवर ज्यों छाया ।
वाणी बरसे मेघ ज्यों, आनन्द बढ़ाया ।।[5]

"भ्रमविध्वंस अष्टक" में आठ त्रिभंगी छन्द हैं । पुस्तक का प्रारम्भ दो दोहों से तथा समापन दो छप्पयों से होता है । इसमें मत-मतान्तरों में प्रचलित बाह्य आडम्बरों का खंडन है । आठों त्रिभंगी छन्दों का चतुर्थ चरण समान ही है और उसमें दादू-भक्त ज्ञान-ध्यान द्वारा ब्रह्मनाद का उल्लेख है । जैसे—

हो भक्त न भावै दूरि बतावै तीरथ जावै फिरि आवै ।
कौ कृत्रिम गावै पूजा लावै झूठ दिखावै बहिकावै ।।
अरु माला नावै तिलक बनावै क्यों पावै गुरु बिन गैला ।
दादू का चेला भरम पछेला सुन्दर न्यारा ह्वै खेला ।।[6]

---

१ सुन्दर सार, पृष्ठ १२ ११

२, ३ सुन्दरसार पृष्ठ १७।१, ७२।११

४ मात्रा १६; १६, १० पर यति, अन्त में गुरु, नामान्तर इन्दव ।

५, ६ सुन्दरसार, पृष्ठ ८२।६ १० पद्य १५-२१

"वैराग बोध" में गृही और वैरागी का रोचक संवाद है। गृही गार्हस्थ्य जीवन के गुणों तथा विरक्त जीवन के दोषों का वर्णन करता है और वैरागी इसके विपरीत। गृहस्थ अपने पक्ष की पुष्टि में जनक वसिष्ठ आदि के उदाहरण प्रस्तुत करता है और विरक्त ऋषभ देव भरत आदि के। अन्त में दोनों में समझौता हो जाता है कि कोई बड़ा-छोटा नहीं दोनों घोड़े के कानों की भाँति समान हैं। गृहस्थ की सहायता से ही विरक्त का निर्वाह होता है और विरक्त के उपदेश से ही गृहस्थ का उद्धार। पुस्तक में कुल २४ रविरा[1] छन्द हैं। बानगी द्रष्टव्य है—

गृही कहै जु त्रिया सुतमती, करि देहुरि मन वासा जू ।
अपर काज जिन कीयो नाहीं तिनको काज न भासा जू ॥
बरागी कहै हाड़ चाम सब भजन भरकत पानी जू ।
मज्जा मेद उदर में विष्ठा तहाँ न मूर्ख जानो जू ॥
विरक्त धर्म रहै जु गृही तें गृही को विरक्त ऐसा जू ।
ज्यों तन कर शिर को रखा शिर सुतनहिं उबारै जू ॥[2]

'तर्क चितावनी' २६ चौपाइयों का छोटा-सा काव्य है जिसमें मनुष्य के जन्म, बचपन कौमार, यौवन प्रौढ़ता वृद्धत्व और मृत्यु का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन है। ग्रन्थ के अध्ययन से पवित्र जीवन सत्कर्म सत्संग प्रभुभक्ति वैराग्य आदि की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। प्रत्येक चौपाई के चतुर्थ चरण में पाठक को चेतावनी दी गई है। जैसे—

बहुरि कुमार अवस्था आई, तातू माँहि नहीं सुधि काई ।
पाइ देखि हँसि रोइ पुकारो अइया मनुषहुँ बुद्धि तुम्हारी ॥
भयो किशोर काम जब जाग्यो परदारा को निरखन लाग्यो ।
ब्याह करन को मन माँहि धारो अइया मनुषहुँ बुद्धि तुम्हारी ॥
कबहु न कियो साधु की संगा जिन के मिले राम हरिरंगा ।
कलाकन्द तजि जमयो बारी अइया मनुषहु बुद्धि तुम्हारी ॥[3]

'विवेक चितावनी' नामक ४० चौपाइयों के लघुकाव्य में निधन की निश्चितता, निधन-काल की अनिश्चितता आदि का उल्लेख करते हुए विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश है। प्रत्येक चौपाई का अन्तिम चरण "समुझि देखि निरखै करि मरना' है। जैसे—

---

१ रविरा के द्वितीय प्रकार में विषम चरणों में १६ समर्में १४ मात्राएँ होती हैं। (वही पृष्ठ ११४ पादटिप्पणी)

२ सन्त सुधासार खण्ड २, पृष्ठ ४६८-६६

३ सुन्दरसार, पृष्ठ ११७।४ ५, पृष्ठ १२०।४९

वेद पुरान कहै समुझाय बसा करे सु तैसा पावै ।
तातें देखि-देखि पग धरना समझि देखि निश्चय कर मरना ॥[१]

उपर्युक्त ग्रन्थों में नीति की प्रचुरता होते हुए भी काव्यत्व अधिक नहीं है। वस्तुतः काव्यत्व की दृष्टि से 'सवैया' ही सुन्दरदास का, सुन्दरतम ग्रन्थ है। इसमें आध्यात्मिक विषयों के साथ साथ व्यावहारिक विषयों का भी सरस प्रतिपादन हुआ है। विवेकपूर्ण मधुर वाणी का प्रयोग ही प्रशस्त है, अनाप-शनाप बोलने से तो मौन ही भला—

काग अरु रासभ उलूक जब बोलत हैं,
तिनके तो वचन सुहात कहि कौन कौं।
कोकिला अरु सारी पुनि सुवा जब बोलत हैं,
सब कोऊ कान दे सुनत रव रौन कौं।
ताही तें सुवचन विवेक करि बोलियत,
यों ही आंक बांक बकि तोरिये न पौन कौं।
सुन्दर समुझि कै वचन कौं उचार करि,
नाहिंतर चुप ह्वै पकरि बैठि मौन कौं ॥[२]

प्रायः पेट के कारण ही मनुष्य दीनता दिखाता, पाप कमाता और बन्दर के समान नाना नाच नाचता है। उसे बनाने वाले प्रभु को सुन्दरदास यों उपालम्भ देते हैं—

पेट ही कारन जीव हते बहु।
पेट ही मांस भखै र सुरापी ॥
पेट हि लै कर चोरि करावत।
पेट हि कौं पकरी महि कापी ॥
पेट हि पासि परे नहिं छारत।
पेट हि डारत कूपहु वापी ॥
सुन्दर काहि कौ पेट दियो प्रभु।
पेट सौ और नहीं कोउ पापी ॥[३]

जिन प्रख्यात उपमानों से समता दिखाते हुए शृंगारी कवि नारी को मनोहारिणी बताते हैं उन्हीं की सहायता से सुन्दरदास ने नारी के तन को भयंकर बना बताया तथा उससे दूर रहने की प्रेरणा की है—

---

१ २ सुन्दरसार, पृष्ठ १२२, १२३
३ ,, ,, १७।१२

कामिनि को तन मानौं कहिये सघन बन,
जहाँ कोऊ जाइ सु तौ भूलिकैं परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरी को भय या मैं,
बेनी कारी नागनीऊँ फन कौं धरतु है।
कुच है पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ
साधि कैं कटाक्ष बान प्रान कौ हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
राक्षस बदन खाउँ खाउँ ही करतु है॥[1]

सिंह सर्प बिच्छू आदि प्राणी उतने भयंकर नहीं होते हैं जितना दुष्ट मानव—

सर्प डसै सु नहीं कछु तालक, बीछु लगे सु भलौ करि मानौं।
सिंह हु खाइ तौ नाहिं कछू डर, जौ गज मारत तौ नहिं हानौं॥
आगि जरौ जल बूड़ि मरौ गिरि, जाइ गिरौ कछु मैं भति मानौं।
सुन्दर और भले सब ही दुख, दुर्जन संग भलौ जनि जानौं॥[2]

अनैतिक उपायों से धन-संचय करना और दरिद्रता-पूर्वक जीवन-व्यतीत करना अच्छी नीति नहीं है। ऐसे धन का भोग तो प्रायः अग्नि चोर और शासक ही करते हैं—

तूं ठगि कैं धन और को ल्यावत तेरेउ तौ घर औरइ फोरें।
आगि लगै सब ही जरि जाय सु तू दमरी-दमरी करि जोरैं॥
हाकिम कौ डर नाहिन सूझत सुन्दर एक ही बार निचोरैं।
तू खरचै नहिं आपुन खाइसु तेरिहि चातुरि तोहि लै बोरैं॥[3]

समीक्षा—

सुन्दरदास का नीतिकाव्य अन्य विषयों की दृष्टि से प्रायः अन्य सन्तों के काव्य-सा ही है। हाँ इस विलक्षणता पर दृष्टि अनायास जा पड़ती है कि जहाँ अन्य सन्तों ने वेद पुराण, कुरान तथा पुस्तकी ज्ञान की उपेक्षा की है वहाँ सुन्दरदास इनका महत्त्व स्वीकार करते हैं। कारण अन्य सन्त प्रायः निरक्षर थे और ये वाराणसी में वर्षों के विद्याभ्यास के कारण उक्त ग्रन्थों के महत्त्व से परिचित हो चुके थे। इन्होंने अपने "वेद विचार" ग्रन्थ में "वेद प्रगट ईश्वर वचन" कहा है और उसका सुन्दर रूपकमय वर्णन किया है—

कर्म पत्र करि जानिये, मंत्र पुष्प पहिचानि।
अन्त ज्ञान फल रूप है कांड तीन यों जानि॥[4]

१-४ सुन्दरसार पृष्ठ १७७।१, १७६।५, १९१।२५, ७७।६

सम्प्रदाय प्रवर्तक ग्रन्थों के अध्ययन के तो ये पक्षपाती थे परन्तु "रसिकप्रिया" "रस मंजरी" आदि शृंगारमयी रचनाओं के विरुद्ध थे। कारण इन्होंने निम्नलिखित कुंडलिया में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगार हि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषय बनाई आनि॥
विषै बनाई आनि लगत विषयिन कौं प्यारी।
जागे मदन प्रचंड सराहैं नखसिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्टान्न खाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जु तौ रसिक प्रिया धारै॥[1]

उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट है कि सुन्दरदास जी स्वच्छ ब्रजभाषा लिखने में पूर्ण समर्थ थे। उनकी रचनाओं में खड़ी बोली राजस्थानी पूर्वी पंजाबी, फारसी आदि का पुट भी कहीं-कहीं लक्षित होता है। सम्भवतः इसका कारण उनका विस्तृत देशाटन है। स्वामिन्, धीमि आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग भी पर्याप्त हैं। कहीं-कहीं पारसीय क्रियापदों का मधुर प्रयोग भी दिखाई देता है। जैसे गुरु-महिमा के प्रतिपादक एक छप्पय के अन्त में 'विरच्यौ' तथा 'विरच्यौ' का प्रयोग इस वाक्य में किया गया है—

पुनि विरच्यौ हरि चरित्र कौं विरच्यौ सब संसारं।
कहि सुन्दर सो चतुर्भुज सही, विरतामन मन निम्नयं॥[2]

सम्भवतः, ऐसी खिचड़ी भाषा का व्यवहार साधु-सन्त किया करते थे और उसी का अनुकरण सुन्दरदास ने किया है। इन्होंने "पंजाबी भाषा अष्टक" और पूर्वी भाषा बरवै" नामक लघु ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें क्रमशः पंजाबी तथा पूर्वी भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं।

इन्होंने दोहा चौपाई छप्पय कुंडलिया मनहर चम्पक इन्दव आदि ५२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है तथा २७ रागों में पदों की रचना की है। इनकी रचना प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक शैली में अधिक है। बारह मासा सप्तवार, बारह राशि चित्रकाव्य विपर्यय (उलटबांसी) आदि के रूप में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। निम्नलिखित छप्पय में बारह राशियों के द्वारा दिया गया सुन्दर नैतिक उपदेश देखते ही बनता है—

मीन स्वाद सौं बंध्यौ मेष मारन कौं धायौ।
वृष पूछ्यौ तत्काल मिथुन करि काम बढ़ायौ॥
कर्क पर्यौ डर माहिं सिंघ आवतौ न जान्यौ।
कन्या चंचल भई तुलत मनतूल चढ़ान्यौ॥

१, २ सुन्दरसार पृष्ठ, १७८।५, ६।१२

वृश्चिक विकार विष डंक लगि, सुन्दर मन मिथुन न भयौ।
परि मकर न छाड्यो मूढ़ मति, कुम्भ फूट भर तन गयौ।।[1]

चित्रकाव्य विपर्यय आदि के सिवा सुन्दरदास की रचना प्रसाद-पूर्ण है। उस में माधुर्य गुण भी पर्याप्त है और ओज का भी अभाव नहीं।

सुन्दरदास ने अलंकारों के प्रयोग में परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है। वे पद्यों में बलात् ठूँसे नहीं गये भाव को तीव्रतर करने के लिए ही आए हैं। अनुप्रास के अतिरिक्त उपमा रूपक उत्प्रेक्षा और निदर्शना इनके विशेष प्रिय अलंकार हैं।

इनके काव्य में शान्त रस प्रधान है। वीर, बीभत्स और भयानक रस की झलक भी कहीं-कहीं दिखाई देती है परन्तु उनका वास्तविक लक्ष्य पाठक को शान्त रस की ओर ही अग्रसर करना होता है।

सार यह कि सुन्दरदास का नीतिकाव्य पर्याप्त व्यापक और सरस है। उसका अध्ययन विभिन्न क्षेत्रों में कर्तव्य-शिक्षा ही नहीं देता पाठक को रस या भाव में मग्न भी कर देता है।

११ वाजिन्द (वाजिद)

दादू जी के अनुयायी वाजिद जी पठान मुसलमान थे। बन्दा बैरागी के समान इनके हृदय में भी हरिणी के आखेट के समय विराग जाग उठा। ये धनुष-बाण तोड़ घर लौटे बिना ही दादू जी के शिष्य बन गये। सुनते हैं इन्होंने पूरी "बाणी" रची थी परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रन्थ प्रेमनामा ग्रन्थ मरननामा आदि इनके छोटे-छोटे चौदह ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो प्रायः दोहा-चौपाई छन्दों में हैं। नीति-काव्य की दृष्टि से इन का 'अरिल' बहुत मार्मिक रचना है। इसमें दान दया वात्सल्य कृपणता साधु-संगति, दुष्ट-स्वभाव मनोनिग्रह, मेष आदि विषयों पर भावपूर्ण छन्द हैं।

न्यायकारी प्रभु के दरबार में दीन बकरे की पुकार हृमारे भी सुनने योग्य है—

साहिब के दरबार पुकार्यो बाकरा
काजी लीयौ आय कमर सों पाकरा।
मेरा लीया सीस असी का लीजिए,
हरिहां वाजिद, राव रंक का न्याव बराबर कीजिये।।[2]

वाणी के सुप्रयोग के विषय में वाजिद कहते हैं—

काहू-काहू वचन कठोर एक ठ नाहि दोसिये

---

१ सुन्दरसार पृष्ठ १४१।११ (भूप=भूप कक=कर्मो)।
२ सं० स्वा० मंगलदास पंचामृत (प्र० स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, १९४८) पृष्ठ १५

सन्मार्ग प्रवर्तक ग्रन्थों के अध्ययन के तो ये पक्षपाती थे परन्तु "रसिकप्रिया" "रस मंजरी" आदि शृंगारमयी रचनाओं के विरुद्ध थे। कारण इन्होंने निम्नलिखित कुंडलिया में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगार हि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि॥
विषै बनाई आनि लगत विषयिन कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहैं नखशिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्टान्न खाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जु तो रसिक प्रिया धारै॥[1]

उपर्युक्त पदों से स्पष्ट है कि सुन्दरदास जी स्वच्छ ब्रजभाषा लिखने में पूर्ण समर्थ थे। इनकी रचनाओं में खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी पंजाबी, फारसी आदि का पुट भी कहीं-कहीं लक्षित होता है। सम्भवतः इसका कारण उनका विस्तृत देशाटन है। स्वामिन् ग्रंथि आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग भी पर्याप्त हैं। कहीं कहीं पारसीय क्रियापदों का प्रचुर प्रयोग भी दिखाई देता है। जैसे गुरु-महिमा के प्रतिपादक एक छप्पय के अन्त में "मिटान्दे" तथा "छिदान्दे" का प्रयोग कर्तृ वाच्य में किया गया है—

पुनि मिटान्दे हृदि ग्रन्थि कौं छिदान्दे सब संशयं।
कहि सुन्दर सो सद्गुरु सही, चिदानन्द घन चिन्मयं॥[2]

सम्भवतः ऐसी खिचड़ी भाषा का व्यवहार साधु-सन्त किया करते थे और उसी का अनुकरण सुन्दरदास ने किया है। इन्होंने "पंजाबी भाषा अष्टक" और पूर्वी भाषा बरवै" नामक लघु ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें क्रमशः पंजाबी तथा पूर्वी भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं।

इन्होंने दोहा चौपाई छप्पय कुंडलिया मनहर चम्पक, इन्दव आदि ५२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है तथा २७ रागों में पदों की रचना की है। इनकी रचना प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक शैली में अधिक है। बारह माशा सप्तवार, बारह राशि चित्रकाव्य विपर्यय (उलटवांसी) आदि के रूप में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। निम्नलिखित छप्पय में बारह राशियों के द्वारा किया गया सुन्दर नैतिक उपदेश देखते ही बनता है—

मीन स्वाद सौं बंध्यौ मेष मारन कौं धायो।
वृष चूको तत्काल मिथुन करि काम बढ़ायो॥
कर्क रही घर माहिं सिंह आवतो न जान्यो।
कन्या चंचल भई तुलत अनतूल बखान्यौ॥

---

१ २ सुन्दरसार पृष्ठ १८८।५, ९।१५

वृश्चिक विकार विष डंक लगि, सुन्दर मन मिल न भयो ।
परि मकर न छाड्यो मूढ़ मति, कुम्भ फूट नर तन गयो ॥[1]

चित्रकाव्य विपर्यय आदि के सिवा सुन्दरदास की रचना प्रसाद-गुण है । उस में माधुर्य गुण भी पर्याप्त है और ओज का भी अभाव नहीं ।

सुन्दरदास ने अलंकारों के प्रयोग में परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है । वे पदों में बलात् ठूँसे नहीं गये भाव को तीव्रतर करने के लिए ही आए हैं । अनुप्रास के अतिरिक्त उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और निदर्शना इनके विशेष प्रिय अलंकार हैं ।

इनके काव्य में शान्त रस प्रधान है । वीर, वीभत्स और भयानक रस की झलक भी कहीं-कहीं दिखाई देती है परन्तु उनका वास्तविक लक्ष्य पाठक को शान्त रस की ओर ही अग्रसर करना होता है ।

सार यह कि सुन्दरदास का नीतिकाव्य पर्याप्त व्यापक और सरस है । उनका अध्ययन विभिन्न क्षेत्रों में कर्तव्य-शिक्षा ही नहीं देता, पाठक को रस या भाव में मग्न भी कर देता है ।

११ वाजिन्द (वाजिद)

दादू जी के अन्तेवासी वाजिद जी पठान मुसलमान थे । बन्दा वैरागी के समान इनके हृदय में भी हरिणी के आखेट के समय विराग जाग उठा । ये धनुष बाण तोड़, घर लौटे बिना ही दादू जी के शिष्य बन गये । सुनते हैं इन्होंने पूरी "वाणी" रची थी परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है । ग्रन्थ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रन्थ प्रेमनामा ग्रन्थ मरणनामा आदि इनके छोटे-छोटे चौदह ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो प्रायः दोहा-चौपाई छन्दों में हैं । नीति-काव्य की दृष्टि से इन का "अरिल्ल" बहुत मार्मिक रचना है । उसमें दान, दया वात्सल्य कृपणता साधु-संगति, दुष्ट-स्वभाव मनोनिग्रह, भेद आदि विषयों पर भावपूर्ण छन्द हैं ।

श्यामधारी प्रभु के दरबार में दीन बकरे की पुकार हमारे भी सुनने योग्य है—

साहिब के दरबार पुकार्यो बाकरा
काजी लीयो आय कसार सौं पाकरा ।
मेरा लीया सीस उसी का लीजिए,
हरिहां वाजिद, राव रंक का न्याव बराबर कीजिये ॥[2]

वाणी के सुप्रयोग के विषय में वाजिद कहते हैं—

कहि-कहि वचन कठोर खरुठ नहिं छोलिये,

---

१ सुन्दरसार पृष्ठ १४।।११ (कूप=कूप कर्क=कर्मी) ।
२ सं० स्वा० मंगलदास- मंगलामृत (प्र० स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, १९४८) पृष्ठ ६५

लिया। प्रत्येक चतुर्युगी या महायुग में कलियुग के ४३२००० वर्ष द्वापर युग के ८६४००० वर्ष, त्रेता युग के १२ ९६,००० वर्ष और सत्ययुग या कृतयुग के १७ २८,००० वर्ष अर्थात् कुल मिलाकर ४३ २० ००० वर्ष होते हैं।[1] यह विश्वास भी पाया जाता है कि सत्ययुग में धर्म अपने चारों चरणों पर, त्रेता में तीन, द्वापर में दो और कलियुग में एक चरण पर टिका हुआ होता है।[2] आशय यह है कि सत्ययुग से कलियुग की ओर आते-आते धर्म क्रमशः क्षीण होता जाता है और कलियुग में केवल २५ प्रतिशत रह जाता है। इस विश्वास का मूल उस श्लोक में देखा जा सकता है जिसे हम ब्राह्मण ग्रन्थों की नीति के प्रसंग में उद्धृत कर चुके हैं।[3]

इस विश्वास की सत्यता या असत्यता का विवेचन तो विषयान्तर हो जायगा परन्तु इस विश्वास का एक कड़वा फल यह हुआ है कि हम पहले से भी अधिक भाग्य-वादी बन बैठे हैं। दैवयोग से हम कलियुग में (जिसका आरम्भ ३१०२ ई० पू० में हुआ) उत्पन्न हुए हैं और कलियुग में ही समाप्त हो जाएँगे। आज जन-साधारण की मानसिक अवस्था ऐसी हो गई है कि जब कोई पाप या अनाचार की विचित्र बात सुनी जाती है तभी लोग कह उठते हैं—भाई, कलियुग चल रहा है इस में जो हो जाए, थोड़ा अभी आगे देखिये क्या-क्या होता है। इस विश्वास के कारण हम सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए बद्धपरिकर नहीं होते कलियुग को प्रबल और अपराजेय मानकर हार मान बैठे हैं। 'कलिचरित' सरीखे ग्रन्थों की रचना इसी मनोवृत्ति का परिणाम है।

"कलिचरित" अपने ढंग की प्रथम कृति नहीं है। इससे पूर्व पुराणों में कलि-राज के महत्त्व का वर्णन हो चुका था। नीलकंठ का 'कलिविडम्बन" भी "कलिचरित" का लगभग समकालीन ही दिखाई देता है। परवर्ती काल में तो इसी विषय के कई काव्य-नाटक लिखे गये[4] जिन में कलि के अनेक कुत्सित कर्मों का व्यंग्यात्मक उल्लेख है।

---

१ दयानन्द ग्रन्थमाला (शताब्दी संस्करण, १९२५ ई०) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृ १८२ ८७

२ श्रीमद्भागवत पुराण द्वादश स्कंध, अध्याय २ ३

३ प्रस्तुत प्रबन्ध का ४२ पृ० देखिए।

४ यथा रसिकगोविन्द का कलियुग रासो (हिन्दी) नारायण शास्त्री का कलिविधूनन (संस्कृत नाटक) लक्ष्मणराम शास्त्री का कलिविलासमणिदर्पण (संस्कृत) आदि।

"कलिचरित्र" को प्रस्तुत प्रतिलिपि[1] में कुल ४५ पद्य हैं। प्रारम्भ में मंगल दोहा है और उसके बाद के तीन पद्यों में कवि का परिचय। दूसरा पद्य चौपाई छन्द में और शेष सब पद्यों के छन्द को कवि ने चौबोला कहा है—

"च्यार अधिक चालीस चौबोला मैं इतने ईं कीने"।[2]

परन्तु आज के चौबोला[3] या इसी छन्द के लक्षण इन पद्यों पर ठीक नहीं बठते। आजकल तो इस काव्य के पद्यों में 'सार' छन्द माना जायगा जिसके प्रत्येक चरण में १६, १२ की यति से २८ मात्राएँ होती हैं।[4]

कवि ने इस लघ्वाकार मुक्तक-काव्य में अनेक अनुचित बातों पर छींटे कसे हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं : सत्योक्ति की कटुता और मृषोक्ति की मधुरता, बाचाल का सम्मान और मितभाषी का अपमान, कुलीना का परित्याग तथा दासी से अनुराग, दम्पती में सच्चे प्रेम का अभाव, आवारा पुत्र प्यारा और सज्जन पुत्र मूर्ख, सेवक की अपेक्षा चाटुकार सेवक को अच्छा समझना, अन्त्यजों द्वारा भगवन्मूर्ति की पूजा, राजाओं की निर्धनता और संन्यासियों का धन-संचय, धार्मिक जनों की अविश्वसनीयता और चोरों पर विश्वास, राजा की अपेक्षा दीवान का बड़प्पन, सज्जनों की दुर्बलता और दुष्टों का दुष्टस्थापन, दानी नगले और कृपण बुद्धिमान्, धन की प्रधानता और कुलमर्यादा आदि की उपेक्षा, फुक्कड़ों का सम्मान और पंडितों की अवज्ञा, वर्णव्यवस्था में विपर्यय पर भारी से प्रेम, वैद्य ज्योतिषी सिद्ध वैरागी आदि। उक्त विषयों में से कुकवि कुवैद्य ज्योतिषी आदि तो संस्कृत-काव्यों में भी उपहासास्पद बनाये गये हैं परन्तु कुछ कवि-कालीन सामाजिक परिस्थिति के परिचायक प्रतीत होते हैं जैसे—संन्यासियों का धन-संग्रह अन्त्यजों का मूर्ति-पूजन आदि। यह रचना सामान्य नीतिकाव्यों की अपेक्षा अधिक सरस है। कारण यह कि इसमें अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना का प्राधान्य है। अनुचित व्यवहार करनेवाले को दोषी नहीं कहा गया सारा दोष कलि

---

१ 'संवत् १७५२ मार्गकृष्णाष्टम्यां (८) बुधवारे संपूर्ण।
लि० भईया प्रजोध्याराम नगर गढ मध्ये।" ये शब्द उस गुटके के अन्त में हैं 'कलिचरित्र' के अन्त में नहीं। अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर, गुटका सं० ७० ॥

२ वही पुस्तक के अन्त में।

३ त्रिपि कलपुत हंसी अति सजें,
अन्त लघू गुरु सुपमा भजें॥ (परमेश्वरानन्द : छन्दप्रभा लाहौर १६४१, पृष्ठ ११६)

४ वही पृष्ठ ११८

युग के माथे मढ़ दिया गया है। काव्य के अधिकतर पद्यों का चतुर्थ चरण यह है"

"ए कम काल समासे तेरे, पुर थाय अब हांसी।

काव्य में प्रवाह-पूर्ण ओजस्व व्रजभाषा प्रयुक्त की गई है जिस में अनुप्रास की छटा विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। अलंकारों की प्राय: उपेक्षा की गई है। परन्तु अलंकार-जनित चमत्कार के अभाव की पूर्ति हास्य-रस-पूर्ण व्यंग्यात्मक शैली से स्वतः ही हो जाती है। जैसे—

जो सेवक साहिब कौं रहूबे सो सेवक पशु नामें ।
जो सब भाँति साहिबहि सेवै सो न साहबहि भाव ।
कुल की मिहरी मनहि न भावे चित्त चोरत बासी ।
ए कम काल समासे तेरे पुर भासे अब हांसी ।।[1]
आवतदार पुनी बिन दीसे ताहि न जनी पतीज ।
चोरहि सरवस सौंपि आपनौं जागरि पुन्यो न कीजे ।
दुग्धिया के शिवरत्त के सेवक दुग्धिया रावल करे के ।
[illegible] पूछे जोग जोड़े कसि बरसत हंसी के ।।[2]
मावर जोर सुकवि कहावे पंडित भी कहांनी ।
करै संवारि जोरि जी पोथी छोरि बेद अप्रवानी ।।
पना बांचि होय ज्योतिषी धड़कट प्रश्न मिलावे ।
विद्या-हीन रासि नय-डाढ़ी बसि पै सिद्ध कहावे ।।[3]

२१—राजसमुद्र

विक्रम की सत्रहवीं शती में बीकानेर में बोथरा कुल के धर्मसी शाह अपनी पत्नी धारल देवी सहित निवास करते थे। इन्हीं के घर में सं० १६४७ की वैशाख शुक्ला सप्तमी बुधवार को जिस शिशु ने जन्म लिया उसका नाम खेतसी रखा गया। बालक खेतसी परिश्रमपूर्वक विद्याध्ययन करता और पिता के साथ जैन-धर्मस्थलों में जाया करता था। जब सम्राट् अकबर द्वारा सम्मानित मुनि जिनसिंह सूरि बीकानेर पधारे तब बालक खेतसी उनके प्रवचनों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने विरक्त होकर सं० १६५६ में उनसे दीक्षा ले ली। अब इस बालक का नाम राजसिंह रखा गया परन्तु कुछ काल पीछे इन्हें जिनचन्द्र सूरि ने बड़ी दीक्षा दी और नाम राजसमुद्र कर दिया। जिनसिंह जी के दिवंगत होने पर ये गच्छनायक बनाये गये और राजस्थान सिन्ध आदि प्रान्तों में धर्मप्रचार करने लगे। आगरे में शाहजहाँ से आपकी भेंट हुई थी और वहीं ब्राह्मणों से धर्मविषयक शास्त्रार्थ भी हुआ था। इनकी रचनाएं निम्न लिखित हैं—

१-३। कर्मचरित्र १।१।। १।२।।६ ४।१४० ।।

शालिभद्र चौपाई गज सुकुमाल चौपाई चौबीसी, बीसी प्रश्नोत्तर रत्नमाला कर्म बत्तीसी शीलबत्तीसी बालावबोध स्फुट आदि पद।[1]

हमें उक्त ग्रन्थों में से केवल 'कर्मबत्तीसी' की हस्तलिखित प्रति[2] बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में देखने का अवसर प्राप्त हुआ है। विषय तथा ग्रन्थ के परिणाम का संकेत नाम से ही मिल जाता है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी सम्प्रदायों में पूर्वकृत कर्मों का भारी प्रभाव एक स्वर से स्वीकृत किया जाता है। इस विषय पर सब सम्प्रदायों के कवियों ने काव्य-रचना की है। 'कर्मबत्तीसी' की रचना मुनि राजसमुद्र जी ने सं० १६६६ में राजस्थानी भाषा में की थी। सावनी छन्द में बद्ध बत्तीस पद्यों की इस कृति में पूर्व कर्मों को ही उन सामाजिक तथा आर्थिक भेदों का कारण बताया गया है जो जगत् में दिखाई देते हैं। काव्यत्व की दृष्टि से रचना में कोई सौष्ठव लक्षित नहीं होता हाँ सस्वर गाने से मन को सन्तोष तथा शान्ति अवश्य मिलती है। कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

करम तणी गति अलख अगोचर। कहिइए कोण पार को।
मांड वस जोनीसर चौक। के कारणै करतार को॥
पूरब करम लिखित जो सुख दुख जीव नहीं निरधार को।
उद्यम कोपि करीजै तो रिद्ध न लाभ अधिक लिगार को॥
एक जनम लगि फिर भुयारा एटो रे बोट भारि को।
एक उदरंभर जग ते कहीयै एक सहस आधार को॥
काम लिखित सुख संपति लहीये, अधिक न कोय लोक को।
धान कमाया कम धार्मीक और न बोझे लो (दो ?) ए को॥[3]

१४—कुशलधीर

जैन कवि कुशल-धीर सोजत नगर के निवासी थे और खरतरगच्छ के जिन माणिक्य सूरि शाखा के श्री कल्याणलाभ के शिष्य थे। इन्होंने जोधपुर सोजत किशनगढ़ सांचोर आदि में भ्रमण किया था। श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया—१ "वेलि क्रिसन रुकमणीरी" की टीका २ केशवदास कृत 'रसिक प्रिया' की टीका ३ लीलावती रासो[4]। इनमें से टीका ग्रन्थ तो गद्य में हैं

---

१ ऐतिहासिक काव्य संग्रह (सं० शंकरदान शुभैराज नाहटा सं० १९९४ वि०) पृष्ठ २२-२६

२ प्रति-संख्या ८१०७, कुल पत्र २ पृष्ठ

३ वही पद्य-संख्या १ ५, ३ २८॥

४ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृष्ठ २१५

और "लीलावती रासो" पद्य में। इधर इनके पांच अन्य ग्रन्थों का भी पता लगा है—१ मोक्ष-चौपाई, २ लीलावती रास ३ कर्म चौपाई, ४ धर्मसंग्रह, ५ उद्यम कर्म संवाद। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ नीतिविषयक है।

उद्यम कर्म संवाद—कुशलधीर जी का साहित्य-सर्जनकाल सं० १६९६ से १७२९ तक है। 'उद्यम-कर्मसंवाद' की रचना किशनगढ़ में सं० १६९९ में की गई थी—

संवत सोल निनाणवइ, किसनगढ़ बुधवार।
उद्यम कर्म संवाद इम कहइ धीर अणगार॥[1]

काव्य के अन्तिम दोहे से विदित होता है कि मुनि जी ने इसकी रचना श्रावक सबीदास के आग्रह पर की थी। केवल १८ पद्यों के इस लघुकाय काव्य में दोहा, कवित्त (छप्पय) पद्धड़ी आदि छन्द प्रयुक्त किये गए हैं। भाग्य और उद्यम नीति काव्यकारों के प्रिय विषय रहे हैं। इनमें से कौन श्रेष्ठ है, इस विषय की भी चर्चा अनेक कवियों ने की है। इसी विषय का संवादात्मक शैली में वर्णन मुनि जी ने इस रचना में किया है। मंगलाचरण के पश्चात् उद्यम और कर्म (भाग्य) आकर त्रिलोकी में अपने-अपने को सबसे बड़ा कहते हैं। वे अपने-अपने महत्त्व को सिद्ध करने के लिए प्राचीन इतिहास-पुराणों के उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं और एक-दूसरे की युक्तियों का ओजस्वी भाषा में खंडन भी। अन्त में 'उद्यम' के प्रस्ताव पर "कर्म" विवाद का निर्णय किसी पंच से करवाने पर सहमत हो जाता है। तब वे दोनों श्री जिन महाराज की सेवा में पहुँचते हैं। वे दोनों को ही परस्पर पूरक कहकर उन्हें हिलमिल कर रहने का उपदेश देते हैं और ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। रचना राजस्थानी भाषा में है और संवाद ओजपूर्ण है। यथा—

उद्यम उवाच— यम तूं बोलि गमार करम तूं मुज्झ न लागइ।
मुज्झ बलहि श्रीराम बलधि लंघि सीता आणइ॥
मुज्झ बलहि मधुपती वेधि पुहवी तावइ।
मुज्झ बलहि अतिमल बारा चिहु पुरा बहइ॥
सुर असुर विद्या साधक सकल आदर दे श्री आदरइ।
कायर करम । तुलि है कवण सबूं मुज्झ समवडि तूं करइ॥[2]
करम उवाच— श्रीक-तुरी भव नेव मही मंडि भोप महीपति।
गौरव पंच प्रसिद्ध गमवा पह तासु हरें मति॥
रंक नक हू राव रावण हूं एक नक पिण्ड।
तिव साधक सुर असुर करम सुं न चलइ किहि पिण्ड।

---
१ उद्यमकर्मसंवाद पद्य १७
२ वही, पद्य ४

करतार करम शुभ अशुभ का साखइ सौ लिहुआ भुगतए।
रहिम मशूर, कहइ करम हम, कहइ मुज्झ समवड़ि कवरा ॥[1]

१५—साल (?)

"रूप गुण संवाद" नाम के अप्रकाशित नीतिकाव्य की हस्तलिखित प्रति[2] बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह प्रति एक गुटके के चार पत्रों (७५-७८) पर लिपिबद्ध थी परन्तु ७७वां पत्र, जिस पर ११ ४६ दोहे थे लुप्त है। समग्र कृति की दोहा-संख्या ६४ थी परन्तु उपलब्ध पत्रों में ४७ दोहे ही प्राप्य हैं। यह काव्य दो अधिकारों में विभाजित है—रूपाधिकार और गुणाधिकार। प्रथम ४६ दोहे रूपाधिकार में हैं और अन्तिम १८ गुणाधिकार में। ग्रन्थ का नाम भी भ्रामक है। वस्तुतः यह संवादात्मक कृति नहीं है कवि ने ही दोनों के स्वरूप का विवेचन करने के अनन्तर गुण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कवि का नाम संदिग्ध है और परिचय तिमिराच्छन्न अन्तिम दोहे में साल नाम आया है जो सम्भवतः कवि का नाम है—

योग काय मन धर्म बिनु। अमित बिना गृह कूप ॥
कह्यो साल कविराइ कहा। गुन बिनु सुन्दर रूप ॥[3]

पुस्तक का रचना-संवत् अज्ञात है। जिस गुटके में यह संगृहीत है उसमें बिहारी-सतसई (रचना काल सं० १७०४ के लगभग)[4] भी लिपिबद्ध है और उसकी समाप्ति पर यह पंक्ति लिखी हुई मिलती है— 'श्रीमन् महाराज कुमार श्रीमदनूपसिंह पठ्यमानमिदं पुस्तकं चिरं नंदतात्' अर्थात् श्रीमान् महाराज कुमार अनूपसिंह द्वारा पढ़ी जाती हुई यह पुस्तक चिरस्थायी रहे। महाराज अनूपसिंह का जन्म सं० १६९५ में हुआ था और शासनकाल वि० १७२६-५५ था। इससे अनुमान है कि यह रचना अठारहवीं शती के आरम्भ या उस से पूर्व की है।

मनुष्य की दृष्टि पहले किसी वस्तु या व्यक्ति के रूप पर पड़ती है, पीछे गुणों पर। सामान्य जन रूप से इतने आकर्षित होते हैं कि जैसे-तैसे रूपवान् पदार्थ को प्राप्त करने के लिए हठ करने लगते हैं। परन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि रूपवती वस्तु विशेष गुणवती नहीं होती। उसे प्राप्त करने के पश्चात् अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता है। इसी अनुभव के आधार पर अनेक नीति-कवियों ने भिन्न कृतियों में रूप धन, वंश आदि पर गुण को महिमान्वित किया है। जैसे—

---

१ वही पद ६
२ प्रति संख्या ७७।७७ ग ॥
३ वही पत्र ७८ पृष्ठ २, दोहा ६४
४ मोतीलाल मेनारिया: राजस्थान का पिंगल साहित्य पृष्ठ ८६

प्रदर्शित किया है। कुशलधीर कृत "उद्यम कर्म संवाद" में उद्यम और भाग्य दोनों अपने को दूसरे से बड़ा मानकर गर्व करते हैं। परन्तु अन्त में दोनों को एक दूसरे का पूरक कहा गया है। इस प्रकार उद्यम को भी दैव के समान स्वीकृत करना एक उल्लेख्य विशेषता है क्योंकि अधिकतर सन्त और भक्तजन उद्यम की अपेक्षा दैव को ही अधिक महत्त्व दिया करते हैं। सुन्दरदास कृत "भ्रमविध्वंस अष्टक" में साम्प्रदायिक आडम्बरों का खण्डन है और "विवेक चितावनी" में मृत्यु की अनिवार्यता का वर्णन। बांका कवि ने "कलिचरित्र" में सभी सामाजिक विषमताओं के लिए कलियुग को उत्तरदायी ठहराया है। यह बात लक्ष्य करने की है जिन नैतिक विषयों पर स्वतन्त्र काव्यों का अभाव है, प्रायः उनका उल्लेख भी इन कवियों ने अपनी बावनी छत्तीसी आदि में किया ही है।

रस-भाव—रसपरिपाक की दृष्टि से उपर्युक्त कृतियाँ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। मुनियों तथा सन्तों द्वारा रचित होने के कारण अधिकतर कृतियों में शान्तरस का प्राधान्य है। ठक्कुरसी का "कृपणचरित्र" तथा बांक के "कलिचरित्र" में हास्य की व्यंजना अच्छी हुई है। सुन्दरदास के ग्रन्थों में शरीर के वर्णन में भयानक और बीभत्स लक्षित होता है। कुशलधीर के "उद्यमकर्म संवाद" में वीर रस की भी झलक दिखाई दे जाती है। भावों में से दैन्य मति दया नम्रता औदार्य क्षमा आत्मसंमान निष्कपटता धृति आदि की व्यंजना अच्छी दिखाई देती है।

गुण-दोष—वैसे तो तीनों ही गुण उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में लक्षित होते हैं परन्तु प्राधान्य प्रसाद का है। माधुर्य प्रसाद से कम है और ओज माधुर्य से भी कम। ओज की इस न्यूनता का कारण इन काव्यों में क्षात्र-नीति की कमी है। उपर्युक्त कवियों में से अधिक संख्या सुपठित विद्वानों की थी अतः उन्होंने अपनी रचनाओं को काव्य दोषों से मुक्त रखने का भरसक प्रयत्न किया। फिर भी कहीं-कहीं अक्षर-मात्रा की न्यूनाधिकता शब्द-विकृति आदि दोष दिखाई दे ही जाते हैं।

भाषा—परमानन्द ठक्कुरसी सीहा उदयराज और राजसमुद्र ने अपनी रचनाएँ राजस्थानी में की हैं। सुन्दरदास देवीदास और जानकवि तो राजस्थान के थे परन्तु उनकी कृतियाँ सुन्दर ब्रजभाषा में उपलब्ध होती हैं। जाजिद की भाषा में खड़ी बोली का पुट है तो उदयराज की भाषा में पंजाबी का। व्यापक पर्यटन तथा विस्तृत अध्ययन के कारण सुन्दरदास की रचनाओं में खड़ी बोली पंजाबी पूर्वी आदि का भी प्रभाव लक्षित होता है। तुलसीदास रत्नावली बांक तथा माल ने अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। उनमें कहीं-कहीं अवधी का भी प्रभाव लक्षित होता है। राजस्थानी की रचनाओं में द्वित्व व्यंजनों तथा विदेशी शब्दावली की अधिकता अपभ्रंश तथा मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव की सूचक है।

काव्य-विधान—काव्यविधान के विचार से उक्त कृतियाँ दो वर्गों के अन्तर्गत आती

हैं—मुक्तक और निबन्ध। पदमनाभ तथा छीहल की बावनियाँ तुलसीदास की दोहावली देवीदास के कवित्त उदयराज के दूहे आदि मुक्तक काव्यों के अन्तर्गत आते हैं और ठकुरसी का कृपणचरित्र तथा पंचेन्द्रीवेलि सुन्दरदास का पञ्चप्रिय चरित्र बाल का कलिचरित्र और माघ (?) का रूपगुणसंवाद आदि निबन्धकाव्यों में।

शैली—उपर्युक्त कृतियों में सर्वाधिक प्रयोग तथ्यनिरूपक शैली का किया गया है। इसके अतिरिक्त उपदेशात्मक व्याख्यात्मक संख्यात्मक अन्यापदेशात्मक समस्यापूर्ति भावाभिव्यंजक चमत्कारक ऐतिहासिकादि शैलियों का भी यत्र तत्र व्यवहार हुआ है। सुन्दरदास ने मधुमुओपदेश में रूपककाव्यशैली का तथा गृहवैराग्यबोध में संवादात्मक शैली का प्रयोग किया है।

छन्द—दोहा तथा छप्पय इन कवियों को अन्य छन्दों से अधिक प्रिय रहे हैं। कथात्मक कृतियों में कुछ चौपाइयों अथवा या सभी छन्दों के पश्चात् दोहे का प्रयोग दिखाई देता है। इनके अतिरिक्त मनहरण मत्तगयन्द नीसानी, त्रिभंगी कवित्त अरिल्ल आदि छन्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है।

अन्त में इन कवियों का महत्व इस बात में है कि इन्होंने ही सर्वप्रथम ऐसे स्वतन्त्र नीतिकाव्यों का निर्माण किया जो विषयों की व्यापकता तथा उपयोगिता की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही कला की दृष्टि से भी उपेक्ष्य नहीं हैं।

२. अकबरी दरबार के कवि

मुगल सम्राट् अकबर का शासन-काल (१५५६ १६०५ ई०) पठान-शासन से खिन्न भारतवासियों के लिए वरदान रूप था। जो कट्टरता मतान्धता भारतीयता-विद्रूप आदि पठान-शासन की तीन शताब्दियों (१३ १५ वीं ई) में पाये जाते थे उनका अकबरने समूल उन्मूलन कर दिया। पठान-शासन में हिन्दुओं पर जो जजिया कर, तीर्थकर, धार्मिक प्रतिबन्ध आदि लगाये गये थे उनको नीति-निपुण अकबर ने हटा दिया और सभी धर्मों के लोगों को समानाधिकार तथा योग्यतानुसार निज दरबार में पद प्रदान किये। उसकी उदारता, गुणग्राहकता, सर्वधर्म-समभाव तथा प्रेम आदि के कारण देश-विदेश के अनेक गुणज्ञ साहित्यकार चित्रकार वास्तुकार संगीतज्ञ आदि उसकी सभा में एकत्रित हो गये। अकबर उन्हें वृत्तियों, पुरस्कारों उपाधियों आदि से संमानित करता था तथा अपने व्यक्तित्व और शासन को उनकी योग्यता से समृद्ध बनाता था। उपर्युक्त गुणों के कारण जो हिन्दी-कवि उसकी सभा के प्रति आकर्षित हुए, वे वर्ग-द्वय में विभाज्य हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी कवि तो वे थे जो सभा कवि या किसी अन्य पद पर आसीन होने के कारण दरबार से स्थायी वृत्ति पाते थे, जैसे—रहीम गंग नरहरि, राजा बीरबल (ब्रह्म) तानसेन चतुर्भुजदास ब्रह्मण, राजा टोडरमल, राजा पृथ्वीराज, सूरदास मदन मोहन और मनोहर कवि। अस्थायी कवियों का सम्राट् से सम्पर्क तो था परन्तु वे दरबार में यदा-कदा ही आया करते थे।

जगन्नाथ व्यास करनेस कुम्भनदास महात्मा सूरदास सूरसा जी और होमराय ऐसे ही अस्थायी कवि थे। उक्त कवियों में से नरहरि टोडरमल ब्रह्म गंग और रहीम गीतिकाव्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखते हैं, अतः वे ही हमारे आलोच्य विषय के अन्तर्गत आते हैं।

१ महापात्र नरहरि

अकबरी दरबार के वयोवृद्ध कवि नरहरि का जन्म पखरौली (जिला रायबरेली) में हुआ। बाल्यकाल वहीं व्यतीत करने के पश्चात् ये असनी में आकर बस गये। ये सरयूपारीण ब्रह्मभट्ट कुम्भमणि (बालकवि) के पुत्र थे और 'साहित्य दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ की चतुर्थ पीढ़ी में सं० १५६२ में उत्पन्न हुए थे। इन की रचनाओं से प्रमाणित होता है कि इन्होंने संस्कृत फारसी और हिन्दी भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया था। हुमायूँ और अकबर के दरबारों में इनका सम्मानित होना तो निर्विवाद है ही कुछ लोग इनका बाबर की राजसभा में प्रतिष्ठित होना भी स्वीकृत करते हैं। वयोवृद्ध नरहरि अकबर के अत्यन्त विश्वसनीय तथा श्रद्धेय सभाकवि थे। ये भी सच्चे हृदय से सम्राट् की हितकामना और पथ प्रदर्शन करते थे। अकबर इनके चरित्र और गुणवत्ता पर इतना मुग्ध था कि उसने केवल इन्हें ही महापात्र की उपाधि दी थी और अनेक गाँव आदि भी प्रदान किये थे। परवर्ती कवि गणेश के कथनानुसार तो अकबर ने इनकी पालकी को कंधा भी दिया था—

भनत गनेस महापात्र की सिताब है कै
पालकी चढ़ाय लै अकबर कंधाते हैं।[1]

नरहरि के तीन (कुछ विद्वानों के अनुसार चार) पुत्र थे और एक पुत्री। इनके ज्येष्ठ पुत्र हरिनाथ के वंशजों में आजकल वृजेश जी और लाल जी प्रसिद्ध और सम्मानित कवि हैं। नरहरि का स्वर्गवास सं० १६६७ में असनी में हुआ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने नरहरि की तीन कृतियों—रुक्मिणी मंगल छप्पय नीति कवित्त संग्रह का उल्लेख किया है।[2] इनमें से रुक्मिणी मंगल ही १२ पृष्ठ की दोहा-चौपाई में लिखी अव्यवस्थित रचना है शेष दोनों ग्रन्थ-रूप में उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः इनके फुटकल छप्पयों और कवित्त-सवैयों के संग्रहों के उपर्युक्त नाम रख दिए गये हैं। नरहरि की फुटकल रचनाएं नागरी प्रचारिणी सभा काशी के एक हस्तलिखित संग्रह-ग्रन्थ[3] में संगृहीत हैं। इस संग्रह में नरहरि की कविता

---

१ डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल अकबरी दरबार के हिन्दी कवि (लखनऊ, सं० २० ७) पृष्ठ ७५

२ मिश्रबंधुविनोद भाग १ पृष्ठ २५७

३ संख्या १२६।६२ संग्रहीता लाल लिपिकाल सं० १७२१

"वादु" (मुकदमा) से प्रारम्भ होती है। वादों के अतिरिक्त नरहरि के १२३ छन्दों में ६० छप्पय, ४० सवये १२ दोहे ३ कुंडलियां ४ कवित्त और दो सोरठे हैं। रुक्मिणी मंगल का विषय रुक्मिणी-कृष्ण का विवाह है वादों का विषय केवल नीति है शेष स्फुट छन्दों में आधे के लगभग राजप्रशस्तियां, भक्ति बारहमासा षड्ऋतु शृंगारादि हैं और आधे के लगभग पद्य नीति के हैं। इस प्रकार नरहरि के लगभग एक सौ नीति-पद्य ही हमारे आलोच्य हैं।

"वादु"

नरहरि के पांच 'वादु' प्राप्त हुए हैं—वादु सोहे सोने का वादु तेल तंबोल का वादु मयन वानि का वादु नैन कान का लज्जा और भूख। इन वादों में से केवल एक वाद— 'वादु मंगलवानि का"—का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्यों से है। शेष का अचेतन पदार्थों से। नरहरि दरबारी कवि थे और वादी प्रतिवादी या मुकदमेबाज लोग अपने-अपने झगड़े लेकर राज-दरबारों में आया करते थे। वहीं से नरहरि जी को भी वाद रूप में रचना करने की सूझी और उन्होंने लोकहितार्थ विवाद वादों को अपने काव्य का विषय बना डाला। लक्ष्य करने की बात यह है कि वादों के अन्त में कवि वादी प्रति वादीको नृप विशेष की सभा में जा निपटारा करने का परामर्श देता है। इस प्रकार कवि अपने आश्रयदाताओं की न्यायप्रियता की घोषणा कर उनके नाम अमर कर देता है। 'वादु सोहे सोने का' की रचना 'छत्रपति साहि सलेम' को लक्ष्य कर की गई थी।

यह सलीमशाह (इस्लामशाह) शेरशाह सूरी का उत्तराधिकारी तथा नरहरि का समकालीन था। इस वाद में कुल ११ छन्द हैं—आरम्भ में एक दोहा और शेष सब छप्पय। राजाओं का काम सुवर्ण और लोह दोनों से पड़ता है। सुवर्ण से उनका कोष प्रपूर्ण होता है और आयस शस्त्रास्त्रों से विजय प्राप्ति के द्वारा कोष और यश की वृद्धि होती है। इसलिए दोनों अपना महत्त्व दूसरे से बड़ा बताते हैं। सुवर्ण अपनी तेजस्विता सुन्दरता लोकप्रियता और कर्म समर्थकता का बखान करता है तो लोहा अपनी दुर्गभंजन-शक्ति, बलवत्ता कीर्तिवर्द्धन-क्षमता आदि का। दोनों ही एक-दूसरे की युक्तियों का रोचक ढंग से खण्डन और अपने श्रेष्ठत्व का ऐतिहासिक तथ्यों से मण्डन करते हैं। संवाद बहुत ओजस्वी है जैसे—

(क) हौं अनुभव तोहिं महुँ सरस रसजोत रसनि दिन।
भंजन गढ़न समरथ न कोई सरहि मो सार बिन॥
तूं होहिं जाहिं तिन पंच करहिंमुपु सुरहिं सुदर्सति।
जेहिं धरो स्वै स्यार, कहिं घाउ सी प्रसरति॥
इमि कहइ लोह कंचन सुनहिं सजी सजनि उरिम मदन।
रहु परम भी नरहरि निर्दोष सो मोहि सनमुख बोले बचन॥[1]

---

१ 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि" पृष्ठ ३१०-१२। पद्य में "पंचकर हिमुपु" के स्थान पर "पंच करहिं हुपु" पाठ उचित प्रतीत होता है।

(ख) हौं सब विधि शुभ करन हरन पशु मोहि है सब रस।
जाति विकल मन कर्म कमो जग जुगुति अप्रभुवत।
मोहि सिंगुरत जन बसेउ सुर पीवत जे पण्डु सुत।
कहु चलिय किन्हू किएउ तब जो तुम्ह तिन के हृदय हुत।
सो मन सुधर्म निज नाई मोहि लोह न सरवरि किज्जई।
सरहि न प्रभुन "नरहरि" निरधि मोहि कारन सब किज्जई॥[1]

'बार तेल तंबोल का' की रचना कवि-कौतुक तथा मोद-रंजन के लिए की गई है—

पशु सकल सखि सत्वरहि दक तंबोल पद तिस्यु।
नरपति अकबर साहि सुनि सो कवि कौतुक लिखि देस॥[2]

प्रथम प्रारम्भिक दोहे के अनन्तर इस में कुल ७ छप्पय हैं। तेल अपना उत्तम नाम 'स्नेह' बताता है और अपनी रोगनाशकता, वातों में उपयोगिता तथा देव और असुरों के गृहों के प्रकाशन की क्षमता आदि अनेक गुणों का सदर्प बखान करता है तथा पान को निरर्थक कहता है। इसके विरुद्ध पान देव तथा पितरों के कार्यार्थ अपनी उपयोगिता, शृंगार-साधनता, उपाधि-रूपता तथा सुन्दर रंजन का उल्लेख करता हुआ तेल को पितरों को कोल्हू में पेरवाने वाला नृशंस कहता है। दीर्घकालीन विवाद के बाद नरहरि उन्हें अकबर से न्याय करवाने तथा उसके निर्णय को शिरोधार्य करने का उपदेश देता है।

'याचु मंगन दानि का' की रचना रीवा-नरेश बघेल राजा रामचन्द्र की न्याय-शीलता की व्याप्ति के लिए की गई है। याचकता की निन्दा तथा वदान्यता की प्रशंसा संस्कृत-कवियों का प्रिय वर्ण्यविषय रहा है। १० पद्यों की इस लघु-काव्य कृति में याचक और दानी का विवाद है। दानी याचक की तुच्छता का बड़ा सजीव और मार्मिक चित्रण करता है। परन्तु याचक भी याचना का समर्थन करता है। वह कहता है कि जगत् में सभी किसी-न-किसी रूप में याचक हैं यहाँ तक कि देव-पितर भी याचक हैं। दानियों को अमर और यशस्वी बनाने में भी याचक ही साधन हैं। दोनों पक्षों की युक्ति प्रतियुक्तियों को पढ़कर दानी का पलड़ा ही भारी प्रतीत होता है। याचक की प्रशंसा निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है—

(क) बड़ह जो जीव लघु कहहि जीव देहु जाति पाँति भर।
बल ब्राह्मण रिज्झये भीख माँगहि नृपति नर।
स्वस्ति बोलि शुभ चित्त बचाहि कुलहित धरि जानिय।
भीखहुँ ते शुचि भएउ जीव पेहि मति प्रमानिय।

[1] अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ ३१०। १
[2] " " ३१२। १

> बिन कहहिं जीव देव पितर न कोउ जीव तेहि कहरे।
> पुनिअमे विप्र सोइ जीव रत जो तीन भुवन तोरे तरे ॥[1]

इस बाद में संस्कृत के नीतिकाव्य का प्रभाव सर्वाधिक लक्षित होता है और मर्मस्पृक् भी सर्वाधिक यही है। संस्कृत नाटि के समान विष्णु बलि शिबि कर्ण आदि के उपाख्यानों के निर्देश इसमें विद्यमान हैं और भिखारी को तृण और तूल से भी हलका कहकर याचना के भय से ही वायु का उसे न उड़ाना भी उल्लिखित है।[2]

"बाद नग काल का" भी उपर्युक्त छत्रपति रामचन्द्र को ही सम्बोधित करके रचा गया है। नयन अपने पक्ष के समर्थन में कहते हैं—हमारे ही कारण हरि का नाम कमलनयन है। हम ही मनुष्य के सौन्दर्य वर्द्धक तथा सम-विषम मार्ग के प्रदर्शक हैं। हमारे बिना तो मनुष्य चल-फिर और खा-पी भी नहीं सकता। संसार मनुष्य के लिए अन्धकारमय हो जाता है और उसकी दशा धृतराष्ट्र के तुल्य हो जाती है। परन्तु श्रोत्र भी नैनों से दबने वाले नहीं हैं। वे निज गौरव-स्थापनार्थ निम्नांकित युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं—

> श्रवन सुनिय हरि भगति सुनत सद्बुद्धि पद धर्म प्रति।
> सुनत सुकृति पद लहिय सुनत हूँ सुचित सुख्मति।
> सुनत परीक्षित तरेउ सुनत उपजत अनंत सुख।
> श्रुति-स्मृति वेद पुरान केहु न परिहरैउ विप्र मुख।
> एहि अत्थ श्रवन अधिकरिय कव अजहु त्याग विज्ञिम नयन।
> बिधि देखिय पढ़ि परखु पनिय लिखु नरहरि बोल्लहिं बयन ॥[3]

पर-दार और परद्रव्य पर कुदृष्टि डालने के कारण ही नयन अंजन-कलुषित किए जाते हैं और कुण्डल कनक कम-कथाएँ आदि सुनने के कारण कानों सुवर्णाभरण धारण करते हैं—कितनी कमनीय कल्पना है! प्रारम्भिक दोहे के अनन्तर दोनों ने बारी-बारी से कुल ४ छप्पय कहे और अन्तिम छप्पय में नृप रामचन्द्र ने दोनों को समान घोषित कर विवाद शान्त कर दिया।

'लज्जा और भूख' वस्तुतः 'वाद' नहीं है। कवि ही अपनी ओर से केवल एक ही कुंडलिया में दोनों का विवाद यों वर्णन कर देता है—

> लज्जा कहै न भखिये, भूख कहै सु मंगु।
> इह अपरी अति कठिन है नरहरि बने न संगु ॥
> नरहरि बने न संगु लंगु नाहीं देहि छोलन
> लाज रहे चुप ध्याइ भूख आतुर अति तन।

---

१. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ ३१७।७२
२. " ३१३।७२ ३१४।७४
३. " ३१६।३

इतरप्राणिविषयक नीति

प्राणि-विषयक नीति के सम्बन्ध में नरहरि ने अधिक नहीं लिखा परन्तु गो हत्या को वे सहन न कर सकते थे। कहते हैं, एक बार एक गो कसाई से रस्सी छुड़ा इनके घर में आ घुसी। शरणागतरक्षा स्व-कर्तव्य जान कर इन्होंने उसे कसाई को न देकर उसके गले में निम्नलिखित पद्य बांध कर फरियादियों की पंक्ति में खड़ा कर दिया—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ ।
हम संतत तिनु चरहिं बचन उच्चरहिं दीन होइ ॥
अमृत पय नित स्रवहिं बच्छ महि थंभन जावहिं ।
हिंदुहि मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पियावहिं ॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनो बिनवति गउ जोरे करन ।
अपराध कौन मोहि मारियत मुएहु चाम सेवइ चरन ॥[1]

अकबर पर नरहरि के इस छप्पय का इतना प्रभाव पड़ा कि उसने साम्राज्य में गोहत्यारों के लिए प्राणदण्ड का आदेश दे दिया।[2]

मिश्रित नीति

नरहरि का शकुनों में पूर्ण विश्वास था। इसलिए विभिन्न कार्य करते समय इन्होंने कुत्ता, चील, गीदड़, जम्बु, श्यामा, तीतर, मोर आदि पशु-पक्षियों के दिशा विशेष में दर्शन का फल शुभ या अशुभ माना है।[3]

इन्होंने राजसभासद् होने के कारण राज कर्तव्य सम्बन्धी अनेक पद्यों की रचना की। इनके मत में राजा को माली के तुल्य प्रजा का प्रेम-पूर्वक पालन-पोषण के अनन्तर ही कर की याचना करनी चाहिए।[4] संसार की सब वस्तुओं की नश्वरता[5] तथा भाग्य की अमिट रेखा पर इन्हें पूर्ण विश्वास है। समाज में पाई जाने वाली कुरीतियों, विषमताओं तथा अनाचरण के लिए ये व्यक्ति को दोषी न ठहरा कर परम्परा के अनुसार कलियुग को ही उत्तरदायी ठहराते हैं जो अपने मनोविनोदार्थ लोक से उच्छृंखल आचरण करवाता है।[6]

---

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३३१ । ११७
२ " ३३१ । ११०
३ " ३२८ । ८८-८६, ३२६ । ६०
४ " २३७ । २
५. वही पृष्ठ ३२१ । २७
६. वही पृष्ठ ३२१ । ११

समीक्षा

नरहरि के नीति छप्पयों के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि वे अकबर को लक्ष्य कर के रचे गये थे। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं इनके कुछ बाद अकबर को लक्ष्य कर लिखे गये हैं और इनके कई फुटकल छप्पयों में भी 'छितपति अकबर साह सुनौं'[1] 'गुण धर्म अकबर साह सुन'[2] आदि पदांश भी लक्षित होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि नरहरि अकबर के लिए अवश्य लिखा करते थे और दरबारी कवि के लिए ऐसा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। फिर भी उक्त प्रवाद को पूर्णतः सत्य मानने में आपत्ति यह है कि अनेक छप्पयों में स्पष्टतः जनता को सम्बोधित किया गया है। उनमें 'जन सुनो सकल नरहरि कहत'[3] 'नर सुनो सकल नरहरि कहत'[4] आदि पदांश उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त जिन छप्पयों में अकबर को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित किया गया है प्रायः उनके भी नैतिक सत्य राजा और प्रजा दोनों के लिए समान रूप से पथप्रदर्शक हैं। जैसे—

सठ सनेह जे करहिं मान बेचहिं जे सुम्म कहं।
मित्र वियोग सुख चहहिं छाँड़ै तजहिं स्वामि कहं।
नृपति मित्र कर गनहिं वेस दुर्जन संग देखहिं।
मनु बंधहिं पर रमनि सर्प मुख अमृत मेलहिं॥
सुपटहि ते सनग नरहरि भिरहि जब आवे विस्तरहि दुख।
अधिमानहिं ते नरहरि कवित सुनि सु छितिपति अकबरसाह सुख॥[5]

यद्यपि नरहरि ने परदार परधन तन-धन-यौवन की चञ्चलता विविध मूर्ख सहज वैरी भक्ति मित्रता अभियुग आदि ऐसे नीति-विषयों पर भी काव्यरचना की है जो प्रायः नीतिकाव्य में वर्णित होते हैं तथापि इनकी विशेषता उपर्युक्त विनोदमय तथा तर्कपूर्ण भाव रचना और साहस मय स्वामि-भक्ति दोषोचित व्यवहार आदि के वर्णन में है। प्रायः नीतिकवि धन के महत्त्व पर पर्याप्त लिखते हैं परन्तु न इन्हें और न इनके आश्रयदाताओं को कभी धन की कमी रही इसलिए इस विषय में ये बातें मन से ही प्रतीत होते हैं। ऊँचे कुलों के व्यक्तियों से प्रायः सम्पर्क में आने के कारण उनके जन्मजात उत्कृष्ट गुणों का उल्लेख भी इन्होंने विशेष रूप से किया है।[6]

नरहरि ने हुमायूँ शेरशाह आदि शासकों के भाग्य के उतार-चढ़ाव अपनी आँखों से देखे थे और संसार के ऊँच नीच का भी इन्हें पर्याप्त अनुभव था, अतः इनकी नीति-कृति में पढ़ी-पढ़ाई तथा सुनी-सुनाई बातों की अपेक्षा निजी अनुभवों की मात्रा बहुत अधिक है। फिर भी अन्योक्तियों तथा अन्य कई पदों में संस्कृत के नीतिकाव्य

---

१ कविताकौमुदी प्रथम भाग आठवाँ संस्करण, पृष्ठ २१६। १
२-५. वही पृष्ठ २४०।४, २४१।५, २४१।८ २३७।३
६ कविता कौमुदी, प्रथम भाग पृ० २४०।३, २४१।७

का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। जैसे—

> वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
> अक्षीणो वित्ततः क्षीणः, वृत्ततस्तु हतो हतः॥[1]
> वित्त के घटे घटत नाहीं नर साहस सत्य घटे घटि जाए।[2]

कहना अनावश्यक होगा कि नरहरि ने महाभारत के 'वृत्त' के स्थान पर 'साहस' और 'सत्य' कर दिया है (और ये भी वृत्त के अंग ही हैं) शेष भाव ज्यों-का-त्यों है।

रस-परिपाक की दृष्टि से नरहरि का नीतिकाव्य विशेष महत्त्वशाली नहीं है। इसके अध्ययन-काल में पाठक के मन में उत्साह साहस धृति मति शंका भय हास निर्वेद आदि कई भाव अवश्य स्फुरित होते हैं परन्तु अन्य उपकरणों के अभाव से वे रस-दशा तक न पहुँचने के कारण पाठक को आनन्दविभोर करने में समर्थ नहीं होते।

नरहरि का अधिकतर नीतिकाव्य छप्पय छन्द में है और उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। राज-दरबार में फ़ारसी का बोलबाला होने अधिकतर नीति-पद्यों के अकबर के लिए लिखे जाने तथा जनता में भी शताब्दियों से फ़ारसी-अरबी के शब्दों का प्रचार हो चुकने के कारण इन्होंने साहि खिताब गाजी आदि अनेक विदेशी शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया है। संस्कृत और फ़ारसी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा इनकी प्रवृत्ति तद्भवों की ओर अधिक दिखाई पड़ती है जैसे—द्रव्य द्रपत गुण परस्पर आदि के स्थान पर दर्ब कृपिन गिन परसपर और वक्त सखी खुदा आदि के स्थान पर बखत सखी खुदाय आदि शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुए हैं। इनकी भाषा में प्राकृत के समान द्वित्व वर्णों का बाहुल्य पाठक का ध्यान हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है जैसे—एक्क मित्त कज्ज सज्जहि रिज्झहि मग्गहि, बोल्लहि आदि। बुन्देली के उत्तम पुरुष एक वचन के सर्वनाम 'मैं' तथा राजस्थानी के मज्या भज्या आदि प्रयोग भी नरहरि के काव्य में उपलब्ध होते हैं। भट्ट वंश में उत्पन्न होने तथा मुख्यतः राजाओं के लिए लिखने के कारण ही कदाचित् इन्होंने चंद आदि पूर्वजों के समान छप्पय और उनमें द्वित्व अक्षरों का प्रयोग अधिक किया है। नरहरि ने 'चारे ऊपर बस मीन' एक पंथ दुई काज 'सर्पमुख अंगुलि मेल्लहि' आदि मुहावरों और लोकोक्तियों से जगह-जगह अपनी भाषा को प्रभावक तथा भावव्यंजक भी बनाया है।

विधान की दृष्टि से नरहरि के 'बापु' तो नियन्धकाव्य के अन्तगत माने जा सकते हैं और शेष पद्य मुक्तक हैं। कवि द्वारा प्रयुक्त छन्दों का उल्लेख ऊपर कर दिये गए हैं। इनमें से नीति की उक्तियाँ छप्पय कुंडलिया तथा दोहा छन्दों में कही गई हैं।

'बापों' में कवि ने रूपक-काव्य-शैली तथा संवाद-शैली का मिश्रण कर दिया

---

१ सम्पूर्णानन्द : व्याख्यान माला पृ० २१।५

२ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृ० २६८।

। इसके अतिरिक्त तथ्य-निरूपक उपदेशात्मक अन्यापदेशात्मक तथा व्यवहारोपयोगी उक्तियों में भी अनेक सूक्तियाँ कही गई हैं। कुछ इने-गिने पद्यों के सिवा नरहरि ने अलंकार-प्रयोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अलंकार स्वभावतः आए तो अनेक रूप में हैं परन्तु ऐसे सहज रूप में कि कविता पर लादे हुए प्रतीत नहीं होते। शब्दालंकारों में छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक और अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, एकावली[1] और आवृत्ति दीपक[2] कुछ अधिक हैं।

नरहरि के नीति-काव्य में प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों गुण यथास्थान पाये जाते हैं परन्तु ओज की अपेक्षा प्रसाद और माधुर्य का प्राचुर्य लक्षित होता है।

नरहरि और रहीम के निम्नलिखित दोहों में भाव और भाषा का साम्य इतना अधिक है कि इन्हें दो कवियों की कृतियाँ मानना कठिन है। सम्भवतः रहीम ने नरहरि के दोहे को कुछ आधुनिक कर दिया है—

'नरहरि' धाम परिहरि बस तरु सो माँगत पोष।
जो सरिता जल सुपियो कुवाँ धन सब कोष॥[3]
'रहिमन' धामि परिहरि तर तरु बैठिये पोष।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुवाँ खनावत कोष॥[4]

सब मिलाकर कह सकते हैं कि बुद्धितत्त्व की प्रधानता तथा कल्पना-तत्त्व और भावतत्त्व की न्यूनता के कारण नरहरि का अधिकतर नीतिकाव्य सामान्य कोटि में ही रखा जायगा।

२ राजा टोडरमल

टोडरमल खत्री का जन्म संवत् १५८० में हुआ था और निधन संवत् १६४६ में। पहले ये शेरशाह सूरी के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे परन्तु उस वंश के विध्वस्त हो जाने पर अकबर के भूमिकर विभाग के मन्त्री बने। इन्होंने अपनी कार्य कुशलता तथा युद्ध-कौशल के कारण अकबर से राजा की उपाधि तथा बंगाल की सूबेदारी प्राप्त की थी। राजकीय कामकाज में हिन्दी के स्थान पर फ़ारसी का प्रचलन इन्हीं ने कराया था। वर्तमान बही-खाता हुण्डी आदि का ढंग इन्हीं ने प्रचलित किया था। इनका कोई सम्पूर्ण ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं होता, कुछ फुटकल कवित्त-सवैये प्राचीन हस्तलिखित तथा नवीन प्रकाशित संग्रहों में देखने में आते हैं। प्राप्त पद्यों से अनुमान होता है कि नीति-काव्य की रचना तथा जैनधर्म में इनकी विशेष रुचि थी। कहते हैं व्यापारियों की सुविधा के लिए मुड़िया लिपि का प्रचार इन्होंने किया था।

---

१ २ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ २३८। १, २३८। २
३ वही,   पृ० ३२३। ९९
४ सं० ब्रजरत्नदास रहिमन विलास, (इलाहाबाद १९८७ वि०,) पृ० २१। २०२

इनके व्यापार-सम्बन्धी छन्द तो काव्य-क्षेत्र में परिगणित नहीं हो सकते परन्तु नीति-रचना अच्छी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

मुंडा लिपि देवनागरी अति कठिन, स्वरव्यंजन व्योहार।
तातें जग के हित सुगम, मुंड कियो प्रचार ॥[1]

बही-खाता नाम जमा बाकिन तरफ सिर पैदा पर पैठ।
ऊपर नाम बनी लिखे हस्ते पुन दो ठेट ॥[2]

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा आँधरे को आरसी।
निर्गुनी को गुन कहा दान कहा दारिदी को,
सेवा कहा सूम की, अरंड की सी डार सी।
मदपी की सुचि कहा, साँच कहा लंपट को,
नीच को बचन कहा, स्यार की पुकार सी।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तें न टार्यो टरै,
भावै कहौ सूधी बात भावै कहौ फारसी ॥[3]

टोडर मल के काव्य में हृदय-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का अभाव-सा है बुद्धि-तत्त्व तथा अलंकार-चमत्कार की प्रधानता है। अतः इनका काव्य सामान्य कोटि में ही रखने योग्य है।

३ ब्रह्म (महेशदास, राजा बीरबल)

भट्ट ब्राह्मण गंगादास के पुत्र महेशदास का जन्म कानपुर जिले के तिकवांपुर (त्रिविक्रमपुर) नामक गांव में सं० १५८५ के लगभग हुआ था। बड़े होने पर सम्भवतः 'भट्ट ब्राह्मण' में से इन्होंने अपना साहित्यिक उपनाम 'ब्रह्म' रख लिया और अकबर से 'बीरबर' की उपाधि प्राप्त की। अकबर के दरबार में आने से पूर्व ये कालपी, कालिंजर और रीवा के राजाओं की सभाओं में रह चुके थे। ये अत्यंत वाक्-पटु तथा प्रत्युत्पन्न-मति थे। अपनी बुद्धिमत्ता के कारण ये नवरत्नों में सम्मिलित कर लिये गए। उत्तम कवि होने के कारण अकबर ने इन्हें 'कविराय' (कविकुलशिरोमणि) की उपाधि से सम्मानित किया। इनकी योग्यता से प्रसन्न होकर अकबर ने इन्हें 'राजा' की उपाधि और पंजाब में नगरकोट (जिला कांगड़ा) के पास जागीर दी। संवत् १६४० में अकबर ने इनकी न्यायप्रियता पर रीझकर इन्हें न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया और दोहजारी से पंचहजारी बना दिया। अकबर द्वारा प्रवर्तित 'दीने

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृ० ४२१
२ वही पृ० ४२१
३ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ५२

इलाही' के ये एक-मात्र हिन्दू सदस्य थे और अकबर के प्रियतम मित्र थे। स्वात के युद्ध में जब सनापतियों से पारस्परिक द्वन्द्व के कारण युफ़ज़ाइ माघ सुदी १२ सं० १६४२ को इन का देहान्त हुआ तब अकबर ने दो दिन तक अनशन किया और उसके शोकार्त हृदय से निम्नांकित दोहा निसृत हुआ—

दीन जान सब दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सो अब हम को दीन कछु नहिं राख्यो बीरबर ॥

कहा जाता है इन्होंने काल्पी के एक सम्मानित विप्रवंश की कन्या का पाणिग्रहण किया था। इन के ज्येष्ठ पुत्र का नाम लाला था और दूसरे का हरनराय। इन की कन्या इनके ही समान बुद्धिमती कही जाती है। बीरबल वल्लभसम्प्रदायी और छीतस्वामी के यजमान थे।

अकबर के सभा-कवि गंग ने बीरबल के गुणों पर अनेक पद्यों की रचना की है। कहा जाता है कि केशवदास के एक सवैये पर प्रसन्न हो बीरबर ने उन्हें छः करोड़ की हुँडियां प्रदान कर दी थीं। इनका एक अन्य उल्लेख्य गुण है—वाग्वैदग्ध्यपूर्ण विनोदप्रियता। अकबर जैसे मितभाषी गम्भीर तथा गौरवप्रिय शासक को भांडों का परिहास तो रुचिकर हो ही न सकता था बीरबर के सभ्य शिष्ट विनोद ने अवश्य उसे आकर्षित कर लिया था। बाजार में बीरबर के नाम से प्रसिद्ध, चुटकलों की अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं परन्तु सम्भवतः उनमें से कोई ही चुटकला उनका हो। हाँ इस बात की सम्भावना है कि बीरबर ने कुछ समस्यापूर्ति के छन्दों की रचना अकबर के इच्छानुसार की हो।

ब्रह्म की रचनाएँ—ब्रह्म के लगभग २०० स्फुट पद्य तो प्राप्त हुए हैं परन्तु ग्रंथ एक भी नहीं। इन से ज्ञात होता है कि ब्रह्म मुख्य रूप से शृंगारी तथा भक्त कवि थे शुद्ध नीति के पद्य तो इने-गिने ही हैं। शृंगार के अन्तर्गत इन्होंने रूप-सौन्दर्य वर्णन नायिका-निरूपण तथा प्रकृति-चित्रण किया है और भक्त होने के कारण मुरली-माधुरी रासलीला गोपी विरह आदि का। गंगा-स्तुति समस्यापूर्ति आदि पर भी इनके कुछ छन्द उपलब्ध होते हैं।

वैयक्तिक नीति—पेट चिरकाल से नीतिकवियों का प्रिय विषय रहा है। 'ब्रह्म' ने भी जगत् को उदरपूर्ति के लिए विविध लीलाएं करते देख एकाधिक पद्यों का रचना की है। जैसे—

पेट से आयो सु पेट को पालत हाथों न हेरत पामर छाँही।
पेट दियो जिहि पेट भरे सोइ 'ब्रह्म' मर्म तिहि खोज न जाहीं।
पेट पयो लिख देतहि देत रे पापिड पेटहि पेट समाहीं।
पेट के काज फिरै दिन राति सु पेटहु ते परमेसर नाहीं॥[1]

1 अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ १५१।५२

कबीर आदि अनेक भक्त कवियों ने जिस प्रकार उदर-पूर्ति की चिन्ता से मुक्ति का साधन प्रभु-विश्वास बताया है उसी प्रकार, परन्तु कहीं सरस भाषा में, 'ब्रह्म' लोगों को चिन्ता-त्याग का उपदेश देते हैं—

जब दाँत न थे तब दूध दियो अब दाँत भए कहा अन्न न दैहै।
जीव बसे जल में थल में तिन की सुधि लेइ सो तेरिहु लैहै॥
जान को देत अजान को देत जहान को देत सो तोहूँ कूँ दैहै।
काहे को सोच करै मन मूरख सोच करै कछु हाथ न ऐहै॥[1]

'ब्रह्म' का उपयुक्त पद पिछले साढ़े तीन सौ वर्षों से असंख्य लोगों को धीरज प्रदान करता आया है और आज भी अनेक सुपठित-अपठित लोगों के कंठ से सुना जाता है। ब्रह्म ने नम्रता-धारण पर बहुत बल दिया और अनेक व्यक्तियों तथा पदार्थों में विद्यमान नम्रता की प्रशंसा करने के पश्चात् इस बात पर खेद प्रकट किया है कि सूखा काठ और अज्ञानी नर कभी नहीं झुकते।[2]

पारिवारिक नीति—'ब्रह्म' की पारिवारिक नीति भी भक्त कवियों जैसी ही है। वे उन के प्रति अपने कर्तव्यों के निर्वाह में आनन्द अनुभव नहीं करते बल्कि यह समझते हैं कि मनुष्य उनके हाथ की गेंद बन जाता है—

पति कोऊ कहै पिता कोऊ कहै सुत कोऊ कहै जिहिं ताप तयो हौं।
प्रभु कोऊ कहै जन कोऊ कहै सु कहो तुम ही तुम जाहि ठयो हौं।
'ब्रह्म' भन जित ही जित ही तित ही तित हाथ को गेंद भयो हौं।
पालो तिहारो जियो तुम ही इन जीव के लोभन बाँधि लियो हौं॥[3]

सवैये का उत्तरार्द्ध कितना अनुभूति-पूर्ण तथा मर्मस्पर्शी है, यह सहृदय ही अनुभव कर सकते हैं।

सामाजिक नीति—जीव-दया वैष्णवधर्म का मुख्य अंग मानी जाती है। आज के समान सम्भवतः उन दिनों भी शाकाहारियों को वैष्णव माना जाता था चाहे वे अन्य आवश्यक आध्यात्मिक गुणों से युक्त न भी हों। ब्रह्म ने अपनी चमत्कारी कल्पना के बल से कबाब खाने वालों को भी वैष्णव सिद्ध कर दिया है—

काम कबूतर तामस तीतर लाल मुनैयन मार गिराये।
पातक के पर दूर किये अरु मोह के पंख निकालि हराये॥
संयम काटि मसालो विचार को साधु समाज में ताहि छुनाये।
ब्रह्म हुताशन सेंकि कै आपने वैष्णव होत कबाब के खाये॥[4]

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ३५४।६५
२. वही पृष्ठ ३५५।६६
३ वही पृष्ठ ३५७।८४
४ वही पृष्ठ ३५८।९१

समाज में जो व्यक्ति अपना कर्तव्य-पालन नहीं करता वह, ब्रह्म के विचार में 'समुद्र में डुबाने योग्य' है। 'बारहौ बाँधि समुद्र में डारो' तथा 'बारहौ बाँधि समुद्र में बोरो'[1] आदि पर ब्रह्म-कृत समस्या-पूर्ति अवलोकनीय है—

पूत कपूत कुलच्छनि नारी लराक परोस लजाय न सारो।
बन्धु कुबुद्धि पुरोहित लम्पट चाकर चोर अतीथ धुतारो॥
साहब सूम अराक तुरंग किसान कठोर दिवान नकारो।
'ब्रह्म' भनै सुनु साह अकब्बर बारहौ बाँधि समुद्र में डारो॥[1]

परन्तु उपर्युक्त समुद्र में डुबाना भी समस्या-पूर्ति के लिए ही था। बीरबल यह बात भली भाँति जानते थे कि बुरी-से-बुरी वस्तु का भी उपयोग होता है। इसी लिए उन्होंने अपनी निराली सूझ का परिचायक निम्नांकित कवित्त रचा—

टूटे नर हँस ताकी मिली सुख कंथ करो,
ताको स प्रभाव देव दैहिक बढ़ाइये।
फूट कै कपास पग राखत है मानस की
ताके होत बस्त्र (सब ?) कहाँ लौ गिनाइये।
सड़े बद सन ताक स्वेत जन कागद कै
तापर पुरान औ पुराणहू लिखाइये॥
कहै कवि 'ब्रह्म' सुनो अकब्बर बादसाह
टूटे फूटे सड़े ताको या विधि सराहिये॥[2]

भक्तिक नीति—अन्य भक्त कवियों तथा नरहरि के समान इन्होंने भी धन के महत्त्व का बखान नहीं किया उलटा धनोपार्जन में लीन लोगों की निन्दा ही की। परन्तु इस निन्दा का वास्तविक कारण धन के प्रति द्वेष न था लोगों की ईश-विमुखता थी। 'सुबह होती है शाम होती है, उम्र योंही तमाम होती है' का हिन्दी-रूपान्तर ब्रह्म के अधोवर्ती सवैये में देखा जा सकता है—

एक दिना (बस ?) दाम सो काम है काहू सो सकरि काहू को दीबो।
ब्रह्म भनै जगदीस न जान्यो न जानियो श्री हरि के जपि जीबो॥
भोर ते राति लौं राति ते भोर लौं काल कियो सु तो व्यर्थ ही कीबो।
बारहो सोरहो बार हा बार, बजार के बापहि ज्यों जल पीबो॥[3]

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति के क्षेत्र में ब्रह्म का साम्य भक्त कवियों का-सा ही है। यह संसार स्वप्नवत् जंजाल है इस से जितनी शीघ्र मुक्ति मिल सकता है प्रभु का

१ वही, पृष्ठ १२६।७६
२ कविता कौमुदी प्रथम भाग पृ० २६१।४
३ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० १२६।७८
४ वही पृ० १२७।८१

यथास्थान रखना चाहिए आदि। वाद के समान विभिन्न मनुष्यों की ऊँच-नीच दशा का कारण स्वार्थी पूँजीपति या विविध वर्ग आदि नहीं कहे गये प्राचीन कवियों के समान पूर्वकृत स्व-कर्मों को ही उसका कारण कहा गया है। जैसे—

इक घन की छाँह विनोद करें, इक मानुकि कारन फिरें जु दुखारी।
एक लिया बहु भूप रमै एक छोटी सी कंत अभी बहो नारी॥
एक चंचल तेज तुरंग चढ़े इक मांगत भीख फिर जु दुखारी।
'ब्रह्म' भने फिर मेघ हरे पर कर्म की रेख टरै नहिं टारी॥[1]

'ब्रह्म' का नीतिकाव्य उपदेशात्मक और भक्तिप्रवण है। वे नीति-विषयक बात करते हुए भक्ति को विस्मृत नहीं कर सकते। प्रवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा उनके नीति-काव्य में निवृत्ति-मार्ग ही प्रबल दिखाई देता है। यथायोग्य व्यवहार या वास्तविक नीति इन के छन्दों में दुर्लभ है। इनके नीतिकाव्य में भक्ति तथा शान्त रस की अच्छी व्यंजना हुई है। भाषा शुद्ध-सुथरी ब्रज है। कवित्त सवैया आदि छन्दों में नीतिकाव्य का प्रणयन किया गया है प्रायः उपदेशात्मक, तथ्यनिरूपक तथा वस्तुस्थापूर्णात्मक शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं। सब नीति-रचना मुक्तक छन्दों में है। अलंकारों का सुप्रयोग इन की विशेषता है। अलंकार उपमाओं से काव्यकलेवर को अलंकृत करने के लिए तो ये विख्यात हैं ही—

उत्तम नर कवि पंथ के उपमा में मतबीर।
केशव अर्थ गम्भीरता सूर तीन गुन वीर॥[2]

निम्नांकित पंक्तियों से इन की अलंकार प्रयोग की कुशलता समर्थित होती है—

जात चल्यो अहुरात न मिटु धूर धतूरे को पात भयो हौं।[3] (लुप्तोपमा)
जाहवो सोहवो बार ही बार बयार के कामहि ज्यों जल पीवो॥[4] (उपमा)
ऐसे पर मन मान्यो जान्यो न बनतपति,
अंधकूप आँधी परयो हाथ लिए है दिया॥[5] (अनुमान लोकोक्ति)
'ब्रह्म' हुताशन देखि के बावरे, दीपक होत बयार के चाए॥[6]
(रूपक विरोधाभास)

इन के नीति-काव्य में ओज का अभाव-सा है परन्तु माधुर्य तथा प्रसाद गुण-

---

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ १५४।१५
२ वही पृष्ठ १५५
३ वही, पृष्ठ १५८।१०
४ वही पृष्ठ १५७।८३
५ वही पृष्ठ १५८। ८१
६ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ १५८।८१

फूट कर भरे हुए हैं। इन के कुछ ही पद्यों में अकबर को सम्बोधित किया गया है परन्तु शेष पद्य सामान्य रूप में ही कहे गये हैं। सार यह है कि ब्रह्म ने अपने अनुभव के आधार पर कुछ नवीन विषयों पर भी रचना की है और जो कुछ प्राचीन विषयों पर लिखा है वह भी हृदयहारी है। इस प्रकार मात्रा में अल्पस्म होता हुआ भी ब्रह्म का नीतिकाव्य गुणदृष्ट्या प्रशंसनीय है, 'कविराज' उपाधि को सार्थक करने वाला है।

४ गंग

भट्ट ब्राह्मण इस कवि का पूरा नाम गंगाधर या गंगाप्रसाद कहा जाता है। इनका जन्म इटावा जिले के इकनौर ग्राम में संवत् १५९५ के लगभग हुआ था। सं० १६२० में गंग ने 'चंद छन्द बरनन की महिमा' अकबर को सुनाई थी। काव्य-प्रेमी अकबर की दी हुई समस्याओं की पूर्ति तथा अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा गंग शीघ्र ही अकबर, रहीम बीरबर आदि के सम्मान्य बन गये। कहते हैं निम्न लिखित छप्पय से प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हें छत्तीस लाख का पुरस्कार दिया था—

चकित भँवर रहि गयो गमन नहिं करत कमल बन।
अहि फनि मनि नहिं लेत तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुन्दरि पद्मिनि पुरुष न चहैं न करैं रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भनि अमित तेज रवि-रथ खस्यो।
खानखानान बैरम सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥[1]

परवर्ती कवि रूपचन्द ने उक्त पारितोषिक का उल्लेख प्रसंगवश अपनी कविता में किया है—

'छप्पै पै छत्तीस लाख गंगै खान खाना दियौ'।[2]

गंग का सुख-सम्मान स्थिर न रहा। 'चार दिन की चाँदनी और फिर अँधेरी रात' वाली बात जहाँगीर के शासनकाल में इन पर बीती और इन्हें विवश हो हृदय की वेदना इस कवित्त में व्यक्त करनी पड़ी—

एक दिन ऐसो जामें सिंधुरा हू सम-सालि रहै
                    एक दिन ऐसो जा मे सोचबो को सहसो।
एक दिन ऐसो था मे मिलत मलोवा लाप,
                    एक दिन ऐसो जा मे तामे को न पदसो॥

---

१ कविता कौमुदी पहला भाग पृष्ठ ३२७
२ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ ११६

एक दिन ऐसो जा में राजन सों प्रीति होत
एक दिन ऐसो जा में दुसमन को पहसो।
कहै कवि गंग भर मन में बिचार देख
आज दिन ऐसो जात काल बिन कै-पसो॥[1]

एक बार नहीं अनेक बार कवि को अपने जीवन में उतार-चढ़ाव देखने पड़े थे और उनका सजीव वर्णन कवि ने अनेक पद्यों में किया है।[2] जब गंग ६७ वर्ष के थे तब जहाँगीर सिंहासनारूढ़ हुआ। आरम्भ में जहाँगीर की प्रशंसा में भी गंग ने सुन्दर पद्य लिखे परन्तु जब जहाँगीर नूरजहाँ के हाथों की कठपुतली बन गया और राजकीय व्यवस्था बिगड़ने लगी तब अनेक प्रतिभाशाली दरबारियों के समान गंग का झुकाव भी शाहजादा खुर्रम की ओर हो गया। गंग ने कभी नूरजहाँ का गुणगान न किया था यह भी सम्राज्ञी का अपमान सा ही था। इस प्रकार नूरजहाँ शाहजहाँ के प्रेमियों से रुष्ट ही थी कि गंग के वध का एक अन्य कारण भी उपस्थित हुआ। नूरजहाँ के एक सम्बन्धी जैन खाँ ने गंग के ग्राम इकनौर के ब्राह्मणों की नृशंसता-पूर्वक हत्या कर डाली। गंग ने इस तथा अन्य क्रूर-कृत्यों की कड़ी आलोचना की। नूरजहाँ जल भुन गई और उसकी उत्तेजना से जहाँगीर ने गंग को गज से कुचलवाने का आदेश दे दिया। रहीम ने गंग को बचाने के लिए अनुनय-विनय की परन्तु व्यर्थ। जब जल्लादों ने गंग को मस्त हाथियों के समक्ष ला खड़ा किया तब स्पष्टवादी और निर्भीक गंग ने यह दोहा पढ़ कर प्राण दे दिये—

कबहुँ न भड़ुआ रन चढ़े कबहुँ न बाजी बंब।
सकल सभाहि प्रनाम कर बिदा होत कवि गंग॥[3]

यह दुर्घटना सं० १६८० के कुछ पूर्व हुई। नागरी प्रचारिणी सभा की १९१२-१४ ई० की खोज रिपोर्ट में गंग की गंगपदावली, गंग पच्चीसी और गंगरत्नावली नाम की तीन कृतियों का उल्लेख है। परन्तु 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' के अतिरिक्त गंग-कृत कोई संपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। ४०० के लगभग स्फुट पद्य ही मिलते हैं। गंग जैसे प्रतिभाशाली कवि ने लगभग साठ वर्षों (सं० १६२०-८०) के साहित्यिक जीवन में कई उत्तम ग्रंथ लिखे होंगे परन्तु खेद है सम्भवतः नूरजहाँ के कारण प्रकाश का मुख नहीं देख सके। शृंगार और भक्ति गंग की कविता के मुख्य अंग हैं तथा वीरत्व और नीति गौण। गंग ने नायिका भेद, राम कृष्ण आदि पर अधिक लिखा है और आश्रयदाताओं की वीरता नीति उपदेश आदि पर न्यून।

---

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ १२२
२ वही पृष्ठ ४४३ ४४१
३ वही, पृष्ठ १२६

वैयक्तिक नीति—गंग के नीति-काव्य का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। शारीरिक पारिवारिक आदि प्रत्येक प्रकार की नीति पर इन्होंने सुन्दर काव्य-रचना की है। वैयक्तिक नीति के अन्तर्गत इन्होंने वाणी के सुप्रयोग पर बहुत बल दिया है और उसका कारण स्पष्ट है। राजसभाओं में जो धन-सम्पदा और मान-प्रतिष्ठा वचनमयपूर्ण उक्तियों से प्राप्त हो सकती थी वह अन्य उपायों से नहीं। मनुष्य का मोल वाणी द्वारा तुरन्त जाँच लिया जाता है—

कहै कवि गंग सुनो साहिन के साहि सुना
आदमी को तोल एक बोल में पिछानिए ॥[1]

परन्तु कवियों को दुःख तो तब होता था जब श्रोता अपनी मूढ़ता के कारण उनके अर्थगाम्भीर्य से परिचित न हो पाते थे। इसीलिए गंग को लिखना पड़ा कि मूढ़ के सम्मुख विद्या का प्रकाशन नीति विरुद्ध है—

कहै ते समझ नाहिं समुझाए समझै नहिं
कवि लोग कहैं काहि कै आवि सार सी।
काक को कपूर जैसे मरकट को भूषन जैसे,
बाह्मन को मदरा जैसे मीर को बनारसी ॥
बहिरे के आगे तान आप को सवार जैसे
हिजरे के आगे नारि लागति अंगार सी।
कहै कवि गंग' मन माहिं तो विचार देखो
मूढ़ आगे विद्या जैसे अंध आगे आरसी ॥[2]

संसार में, विशेषतः राजदरबार में गुणों के कारण मनुष्य का मान होता है। इसलिए गंग ने गुणोपार्जन पर विशेष बल दिया है।[3] गंग ने देखा कि मनुष्य उद्योग और अध्यवसाय से गुणी तो बन जाते हैं फिर भी उनके स्वभाव में अन्तर नहीं आता। इसलिए उन्होंने स्वभाव के सम्बन्ध में यों कहा—

पावक को जल-बिन्दु निवारक सूरज ताप कूँ छत्र कियो है।
व्याधि कूँ बैद तुरंग को चाबुक चौपद कूँ वृष दंड कियो है।
हस्ति महामद को किय अंकुस भूत पिसाच कूँ मंत्र कियो है।
औषध है सब को सुखकारि स्वभाव को औषध नाहिं कियो है।[4]

पारिवारिक नीति—धन के आधिक्य और साधनों की सुलभता के कारण प्रायः दरबारी लोग व्यभिचारी बन जाते हैं। पारिवारिक जीवन को विषमय बनाने वाली इस विषम कुटेव को मिटाने के लिए गंग कहते हैं—

---

१ २ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ४३१।६५, ४३३।६४
३ ४ वही   पृष्ठ ४३७।१०२ ४३५।१११

चंचल नारि सों प्रीति न कीजिए, प्रीति किए दुख होत है भारी।
काल परे कछु आन बनै कछु नारि की प्रीति है प्रेम कटारी॥
लोहे के घाव दवा से मिटे पर चित्त को घाव न जाय बिसारी।
'गंग' कहै सुन साह अकब्बर नारि की प्रीति अंगार तें न्यारी॥[1]

पारिवारिक नीति के अन्तर्गत गंग ने फूट के दोषों का बहुत प्रभावी वर्णन किया है तथा बहिन के घर रहने वाले भाई और सास के घर में रहने वाले जमाई की बुराई की है।

सामाजिक नीति—सामाजिक नीति में गंग ने दुर्जनों का स्वभाव, स्त्रियों की चंचलता, मूर्ख मित्र, याचक और दानी के बीच में हस्तक्षेप, अनुचित अद्भुत रमाने से कुकर्मों का पोषण, असम्भव आदि अनेक विषयों पर सुन्दर लिखा है। समाज में मनुष्य स्वार्थ-वश क्या-क्या करता है, इस बात का मार्मिक वर्णन गंग ने यों किया है—

गर्जहिं अर्जुन हीजड़ भये अरु गर्जहिं गोविंद धेनु चरावै।
गर्जहिं द्रोपदी दासि भई अरु गर्जहिं भीम रसोई पकावै।
गर्ज बड़ी सब लोगन में अरु गर्ज बिना कोई आवे न जावे।
'गंग' कहै सुन साह अकब्बर गर्ज ते बीबी गुलाम रिझावै॥[2]

समाज में व्यक्तियों के चरित्र की पहचान के लिए गंग का निम्नांकित सवैया पर्याप्त सहायक हो सकता है—

नीति चले तो महीपति जानिये, भीर में जानिये लोक पिया को।
काम परे तब चाकर जानिए ठाकुर जानिए चूक किया को।
पात्र तो पावस माहिं पिछानिए नैन में जानिए नेह तिया को।
गंग कहै सुन साह अकब्बर हाथ में जानिए हेत हिया को॥[3]

प्रायः राजकर्मचारी कोई छोटा-मोटा पद पाकर भी ऐसे मदमस्त हो जाते हैं कि फलस्वरूप निर्धनों की अवज्ञा, घूसखोरी, अन्याय, पिशुनता आदि दोषों में फँस जाते हैं। ऐसे लोगों को सावधान करने के लिए गंग कहते हैं—

रत्नो धुन करत हैं दीवान जो जाने नहीं
ताते बोले बीज ताते तेल में नहाएँगे।
लाभ लाभ कहीं कछु न्याय की न सूझे बात
विपरत न्याय तो बड़ीये मार खाएँगे॥
कहै कवि 'गंग' सोते जाग दुखदाई सब
मीड़ मीड़ हाथ के वे फेरि पछतायेंगे।

---

१ २ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि पृष्ठ ४३३।१०१ ४३३।१८८
३ वही पृ० ४३४।१०६

कहा भयो जिन बार गही के मुसही भये,
　　　　वही के करमा सब रही होय जायेंगे ।[१]

धार्मिक नीति—धार्मिक नीति के अन्तर्गत गंग ने याचकता को बुरा ही नहीं, संसार भर में सबसे बुरा काम कहा है—

बुरो प्रीति को पंथ बुरो जंगल को बासो,
बुरो नारि को नेह बुरो मूरख सों हाँसी ।
बुरो सूम को सेव बुरो भगनी घर भाई
बुरी नारी कुलच्छ सास घर बुरो जमाई ॥
बुरो पेट पंपाल है बुरो सूर को आवनो ।
'गंग' कहै, अकबर सुनो सबसे बुरो है मांगनो ।[२]

इस प्रकार याचक को बुरा कहने के अतिरिक्त इन्होंने कुपात्र को दान देने की भी बुराई की है ।[३]

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति में कवि ने, उस देश को निवास के अयोग्य कहा है जिसमें चोर तथा साहु और कामी तथा गुरु में विवेक नहीं किया जाता ।[४] इन्होंने दान-पुण्य-हीन जीवन की सेमल से तुलना करते हुए उदारता-युक्त जीवन को ही सफल माना है ।[५]

गंग के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

यह बात विचित्र-सी लगती है कि गंग के नीतिकाव्य में राजनीति की चर्चा न होने के बराबर है। भरहरि ने तो कहीं कहीं नृपधर्मों का उल्लेख किया है परन्तु गंग इस विषय में मौनावलम्बी रहे हैं। कदाचित् इनकी राजनीति-विषयक कविता प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण लुप्त हो गई हो इस बात पर भी विश्वास नहीं होता। जब इनके सामान्य नीतिविषयक बहुतेरे पद उपलब्ध हैं तो राजनीति-विषयक भी अधिक न सही कुछ तो उपलब्ध होने ही चाहिएं। सम्भवतः इस क्षेत्र को इन्होंने भरहरि आदि के लिए ही छोड़ दिया और अपने को सामान्य नीति तक ही सीमित रखा। गंग ने एक कविता में विजया (भांग) की प्रचुर प्रशंसा की है और उसे पराक्रम तथा स्फूर्ति देने वाली कहा है—

नामरद खाय सो तो मरद से काम करे
　　　　महरी जो खाय सो तो भावै काम काज को ।
कहै कवि गंग गुन देखो विजया के ऐसे
　　　　चिड़िया जो खाय तो झपट पड़े बाज को ॥[६]

१-४ वही पृ० ४३४।११३, ४३५।१०८, ४३३।१०७ ४३४।१०२
५. कविता कौमुदी प्रथम भाग, पृ० १२२
६. वही अकबरी दरबार, पृ० ४४४।११७

परन्तु यह कथन तथ्य विपरीत प्रतीत होता है। यह तो सुना है कि भांग पीने पर भूख खूब चमक उठती है परन्तु उससे वीरता आदि की प्राप्ति की बात अभी किसी ने नहीं कही अलबत्ता यह तो कहते हैं कि भांग का नशा भीरुता-जनक है। ऐसी दशा में तथ्य-विरुद्ध बात गंग ने क्यों कही, यह चिन्त्य है। यह बात स्मरणीय है कि गंग ने याचकता को तो निकृष्टतम कर्म कहा है परन्तु इस बात को भी स्वीकार किया है कि संपत्ति के लिए राव राजाओं को ही नहीं अवतारों तक को हाथ पसारना पड़ता है—

> कश्यपदान लैत उन प्रजपति प्रजपारी,
> हुवदान धन-धान भूमि-दान भारी है।
> राजा माँगे राजन पे राव माँगे वामन प
> बाम सुलतानन पै विष्णु छाक डारी है।
> भिच्छा ही के काज कवि गंग कहै उनके द्वार,
> बलि से भूपति जहाँ वामन भिखारी है।
> संपदा के कारज कहो को मे नहीं ओड़्यो हाथ
> जहाँ जैसो काम तहाँ तैसोई भिखारी है।[1]

गंग ने जीवन मे अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के दिन देखे थे। बाद में चाहे उन्हें धन-संपदा की कमी न रही थी परन्तु उन्हें व दिन विस्मृत न हुए थे जब पापिन भूख को शान्त करने के लिए उन्हें बेरों का उपहार ले बीरबल के पास जाना पड़ा था। सम्भवतः इसी कारण से उन्होंने भूख के कुप्रभाव का मार्मिक वर्णन किया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि गंग ने निजी अनुभवों और परिस्थितियों के प्रभाव से नवीन विषयों पर भी गीति-काव्य रचा। परन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण है उनकी पैनी दृष्टि जिसके द्वारा वे सामान्य विषयों को भी अधिक मनोहर बना डालते हैं। जैसे—

(क) गंग कहै सुन साहु अकब्बर, गर्व से बीबो गुलाम रिझावे।[3]

(ख) गंग कहै सुन साहु अकब्बर, हाथ में कालिके हेत हिया को।[4]

स्वार्थ-सिद्धि के लिए बेगमों का दासों की चाटुकारी करना और दान के द्वारा हृदय के मन की पहचान होना मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं जो गंग से ओझल न रह सके।

गंग का गीति-काव्य भाव-पूर्ण है। उसके अध्ययन-काल मे पाठक के मन में भय उत्साह स्मृति शंका सामनस्य अमर्ष त्रास धृति विषाद घृणा आदि भावों का सहज उद्रेक होता है। यह हृदय में विभिन्न भावों को जगाता हुआ ही पाठक को बुराइयों से सावधान तथा गुणों में प्रवृत्त करता है। गंग की भाषा स्वच्छ और प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा है परन्तु उसमें इज्जत दरम्यान ज्याब, गरी, मुगरी गदी रही आदि विदेशी शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया गया है। गंग देसी और विदेशी

१-४ वही, पृ० [illegible]

तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक करते हैं जैसे नाहक—अना-हक, नृपति—न्रिपति, व्याय—ब्याव विभूति—भभूत गृह—गिह आदि। कुछ स्थलों पर, छंद की गति को अविकल तथा मात्राएँ पूरी करने के लिए शब्द-रूप भी विकृत किये हैं जैसे-ऐसो—अयसो कैसो—कै-असो आदि।

लाक्षणिक प्रयोगों तथा मुहावरों का सुन्दर और प्रचुर प्रयोग गंग के नीति-काव्य की विशेषता है। कहीं-कहीं तो पद्य के एक एक चरण में एकाधिक रूढ़ियाँ प्रयुक्त की गई हैं। जैसे—लोभ के गुण-वर्णन में कवि ने कहा है—

बिलया को बिलार खाय स्यानहु के कान गहे
स्यान हु को खाय सो तो खावे गजराज को।
गज राज हु को खाय कोटि सिंह हाथ झारे,
बनिया को खाय तो मुड़ाय देत नाक को।[1]

इन पद्यांश में 'कान गहे' 'खावे' 'हाथ झारे' और मुड़ाय देत' इन चार मुहावरों का प्रयोग हुआ।

गंग ने नीति के लिए मुक्तक काव्य की ही रचना की है। अधिकतर नीति-पद्य सवैया तथा कवित्त छन्दों में लिखे गये हैं। कहीं कहीं पर छप्पय तथा झूलना का प्रयोग भी किया गया है। इनकी छन्द-रचना निर्दोष है। कहीं-कहीं दिखाई देने वाला गति-भंग दोष लिपिकारों की असावधानता से जनित प्रतीत होता है।[2]

गंग ने प्रायः उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया है। वे अपने पद्यों के तीन चरणों में तो तथ्यों का प्रतिपादन करते हैं और प्रायः चतुर्थ चरण में अवसर या सामान्य जनों को सम्बोधित कर उनका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हैं।[3] इस शैली के के अतिरिक्त गंग ने तथ्यनिरूपक तथा अन्यापदेशात्मक शैलियों का भी प्रयोग किया है।

गंग कवि ने जिन कुछ पद्यों में अनेक नैतिक तथ्यों का निरूपण किया है वे विशेष प्रभविष्णु नहीं हैं। इनकी प्रिय और प्रभावक शैली तो वह है जिसमें वे एक ही तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए अनेक अप्रस्तुतों की योजना करते हैं।[4] कहीं-कहीं वो प्रस्तुत के समर्थन के लिए एक ही अप्रस्तुत को क्रमशः इतनी अवस्थाओं में से गुजा-रते हैं कि तथ्य का प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। जैसे—

लहसन गांठ कपूर के नीर में बार पचासक धोइ मँगाई।
केसर के पुट दे दे के फिर सु चन्दन बिरछ की छांह सुखाई॥

---

१ २ वही पृ० ४४४।१६७ ४३।१८८

३ वही पृ० ४३ ।१९३ तथा ४३।१९७

४ प्रस्तुत प्रबन्ध के १६६ पृ० पर पद्य-सम्बन्धी पद देखें।

(पग लू) मोचरी माहि लपेट धरी पर बास सुबास सु प्रापम पाई
ऐसे हि नीच कूँ ऊँच की संगत कोटि उपाय कुटेव न जाई ॥[१]

गंग अलंकारों के प्रयोग में विशेष कुशल हैं। इन्होंने शब्दालंकारों में प्रायः वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास तथा वीप्सा का और अर्थालंकारों में उपमा, व्यतिरेक, आवृत्ति-दीपक तथा अर्थान्तरन्यास का प्रयोग अधिक किया है। प्रयोग में इनकी विशेषता यह है कि ये परंपरागत अप्रस्तुतों से ही संतुष्ट नहीं यथार्थ पर आवश्यक दृष्टि डाल कर उसी में से प्रसंगानुगामी नवीन अप्रस्तुत लेते हैं, जैसे—

काक को कपूर जैसे बानर को भूषन जैसे,
ब्राह्मन को मदिरा जैसे मीर को बनारसी।[२]

काक को कपूर चुगाने और बंदर को जेवर पहनाने के उपमान तो और ने भी दिये हैं परन्तु ब्राह्मण को मदिरा और मुल्ला को काशी दिखाने की बात ही सूझी।

सार यह कि गंग का नीति-काव्य नव-नव विचारों, विविध भावों, नवीन भावों, सुन्दर अलंकारों, विशद भाषा तथा लाक्षणिक प्रयोगों के कारण सत्कार पाने का अधिकारी है।

५ रहीम

जीवनी—अब्दुर्रहीम का जन्म बैरमखाँ के गृह में संवत् १६१३ में हुआ था। चार ही वर्ष के थे कि पिता की एक पठान ने हत्या कर दी और अकबर ने शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध कर दिया। रहीम ने ग्यारह वर्ष के वय में काव्यप्रणयन किया। अकबर ने इनका विवाह अपनी धाय की पुत्री माहबानू से कर दिया होने पर रहीम ने गुजरात, कुंभलमेर, उदयपुर आदि पर विजय पाई और प्रमुदित हो इन्हें अजमेर की सूबेदारी तथा रणथंभौर का दुर्ग प्रदान किया। विद्वता और कार्य-क्षमता पर मुग्ध होकर अकबर ने इन्हें शाहज़ादा सलीम का शिक्षक नियुक्त किया। सिंध-विजय तथा दक्षिण पर मुगलों की धाक बैठाने के अकबर ने इन्हें खानखाना की उपाधि और पाँच हजारी पद प्रदान किया। १६६१ में शाहज़ादा दानियाल दिवंगत हुआ तब खानखाना को दक्षिण का नियुक्त किया गया। जहाँगीर ने भी सिंहासनारूढ़ होने पर इनका प्रभूत आदर किया। परन्तु जब जहाँगीर ने शासन की बागडोर नूरजहाँ को सौंपी तब रहीम दिन आये। नूरजहाँ शाहज़ादा ख़ुर्रम (शाहजहाँ) की अपेक्षा अपने दामा

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० [illegible]

शाहजादे शहर्यार को ऊँचा उठाने लगी। जब घर की इस फूट में वृद्ध रहीम ने जहाँगीर के विरोधी शाहजहाँ का साथ दिया तब जहाँगीर ने बैरम खाँ की वृद्धावस्था में अकबर के प्रति नमक-हरामी का उल्लेख करते हुए कहा 'भेड़िये का बच्चा आदमियों में बड़ा होकर भी भेड़िया ही रहता है। पीछे इन्होंने स्वकृत्य पर पश्चात्ताप किया और जहाँगीर ने इनका अपराध क्षमा कर इन्हें पुनः खानखाना की उपाधि और कन्नौज का शासन दिया। इनका निधन १६८६ वि० में हुआ।

रहीम को पारिवारिक जीवन में सुख नहीं मिला। पिता इन्हें बच्चा ही छोड़ परलोक सिधारे थे। पत्नी एक पुत्री तथा तीन पुत्रों को जन्म देकर सं० १६५५ में कूच कर गई। चारों सन्तानों को इन्होंने अपनी आँखों से काल-कवलित होते देखा। इस प्रकार रहीम का वार्द्धक्य तिमिराच्छन्न हो गया जिसकी झलक इनके दोहों में दिखाई देती है।

रहीम अरबी फ़ारसी तुर्की और हिन्दी भाषाओं के प्रौढ़ विद्वान थे और संस्कृत भाषा तथा हिन्दू-शास्त्रों से भी परिचित थे। उक्त भाषाओं में से किसी एक का ग्रंथ देखते हुए दूसरी भाषा में उसका अनुवाद ऐसी योग्यता से करते जाते थे कि श्रोताओं को वही मूल भाषा प्रतीत होती थी। गुण और मात्रा की दृष्टि से इनकी कविता अकबरी दरबार के कवियों में सम्भवतः सर्वातिशायी थी। ये सभी भाषाओं की कृतियों में अपना उपनाम रहीम ही लिखते थे।

वीर और विद्वान होने के अतिरिक्त रहीम बहुत उदार, दानी सुशील और शान्त सज्जन थे। इन्होंने अपने आश्रित अनेक भाषाओं के कवियों को लाखों करोड़ों की सम्पत्ति-पुरस्कार रूप में प्रदान की थी। हिन्दी-कवियों को जितने मूल्य के पुरस्कार इनसे प्राप्त हुए उसका दशमांश भी फ़ारसी-कवियों को नहीं। यही कारण है कि केशवदास गंग नरहरि आदि ने इनकी गुणावली का मुक्तकण्ठ से गान किया।

कृतियाँ—रहीम की हिन्दी रचनाएं विभिन्न शीर्षकों से प्रकाशित हुई हैं, जैसे रहीम रत्नावली रहिमन शतक रहिमन चन्द्रिका रहीम रहीम-कवितावली, रहिमन विनोद, रहिमन विलास आदि। प्रायः इनमें रहीम की ये रचनाएं संगृहीत हैं—दोहावली नगरशोभा शृंगार सोरठा बरवै नायिका भेद १०१ स्वतन्त्र बरवै मदनाष्टक, खेटकौतुकजातकम् संस्कृत श्लोक फुटकल पद सवैये और कवित्त। नीतिकाव्य, दोहावली तथा कुछ स्फुट कवित्त-सवयों ही में उपलब्ध होता है। शेष रचनाएं तो शृंगार, ज्योतिष आदि विषयों की हैं।

दोहावली या सतसई—रहीम के अपरिनिश्चित प्रकाशित संग्रहों में सब से पूर्व दोहावली उद्धृत की गई है। स्व० प० मयाशंकर याज्ञिक[1] आदि कुछ लोगों का अनुमान है कि रहीम ने 'सतसई' की रचना की होगी जिसमें से किसी ने शृंगारिक दोहों

---

१ सं० मयाशंकर, रहीमरत्नावली, सं० १९८५, भूमिका पृ० १७

को पृथक् कर नीति-दोहों को अलग रहने दिया होगा। ७२ वर्ष के जीवन में उसकी रचना असम्भव नहीं है। वस्तुतः उक्त अनुमान निराधार है। उक्त अनुमान के विपरीत निम्नवर्ती तर्क दिये जा सकते हैं। उपलब्ध दोहावली में ३०० के लगभग दोहे मिलते हैं शेष चार सौ दोहों का रहीम-कृत शृंगार-सतसई अलभ्य है। रहीम ने शृंगारिक भाव सोरठों, बरवै नायिका भेद, मदनाष्टक आदि में अभिव्यक्त कर दिये हैं। किसी को आवश्यकता ही क्या थी कि शृंगारिक दोहों को अलग करता? जब बिहारी आदि की कृतियों में शृंगार में नीति मिश्रित रह सकती थी तो रहीम सतसई में रहने पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी? किसी समकालीन या परवर्ती कवि ने 'रहीम सतसई' का उल्लेख भी नहीं किया है। वस्तुतः रहीम-से व्यस्त व्यक्ति के पास कोई बड़ा सम्पूर्ण ग्रंथ लिखने का अवकाश ही न था। 'बरवै नायिका भेद' निश्चय ग्रंथ है जो सम्भवतः उनके जीवन के प्रारम्भिक काल में रचा गया होगा। विपक्ष के इन तर्कों से इसी बात की पुष्टि होती है कि रहीम ने समय-समय पर भक्ति तथा समाज व्यवहार सम्बन्धी जो फुटकल दोहे रचे वही दोहावली में संगृहीत हैं।

वैयक्तिक नीति—रहीम की 'दोहावली' नीतिकाव्य की एक उत्तम रचना है। इस में मानव-व्यवहार से सम्बन्धित प्रायः सभी प्रमुख विषयों का समावेश दिखाई देता है। जिस शरीर के रक्षण-पोषण के लिए आज सर्वस्व उद्योग किए जा रहे हैं उसे भक्ति युग के अन्य कवियों के समान रहीम ने भी विशेष महत्त्व नहीं दिया है। उसे अनेक दोहों में बस मिट्टी और कागद का पुतला तथा क्षणभंगुर कहा है और उसकी श्वसनक्रिया पर आश्चर्य प्रकट किया है—

कागद को सो पूतरा, सहजहि में घुलि जाय।
रहिमन यह अचरज लखो, सोऊ खैंचत बाय॥[1]

रहीम ने मधुर भाषण के महत्त्व तथा कटुवचनों के त्याग पर अनेक दोहे रचे हैं। यद्यपि कहा जाता है कि उन्होंने स्वयं वैयक्तिक जीवन में कभी किसी पर क्रोध नहीं किया तथापि वे कटुभाषियों के लिए निम्नलिखित दण्ड के पक्षपाती थे—

खीरा सिर तें काटिए, मलियत नमक लगाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहियत इहै सजाय॥[2]

यह कटुभाषण व्यक्तिगत जीवन में इतना निन्द्य दोष है कि इस के फल-स्वरूप जूते तक पड़ने की सम्भावना रहती है[3]। रहीम शरीर के अंगों में सब से बुरा पेट को समझते थे। कारण, पूर्ण होने पर, यह दृष्टि में विकार उत्पन्न कर देता है और रिक्त होने पर आत्मसंयमी मनुष्यों को ऐसे-ऐसे नर-पशुओं के सम्मुख दीन

---

१ सं० ब्रजरत्नदास रहिमन विलास प्रयाग, १९४८, पृ० ४।३६, (३२ व १९७ दोहा भी देखें)।

२-३ वही पृ ४।४६ १०।१६४

मुख्याने तथा चाटुवचन कहने पड़ते हैं जिनकी पेट के न होने पर, मौन मूरत देखना भी पाप समझना। रहीम ने चार-पाँच दोहों में इस पानी का उल्लेख किया है परन्तु उदाहरणार्थ एक ही दोहा पर्याप्त है—

> भलो भयो घर ते छुट्यो हँस्यो सीस परि खेत।
> काके काके नवत हम अपन पेट के हेत॥[1]

विद्या का महत्त्व—उसके साधन आदि बौद्धिक विषयों पर नीतिकाव्य की जितनी मात्रा की आशा रहीम-सा विद्वान् कवि से की जाती थी उतनी दोहावली में दिखाई नहीं देती। उन्होंने विद्याविहीन को संस्कृत के नीतिकाव्योंकारों के समान पशु[2] कहना तथा एक एक घड़ी में नयक जानने वाले और एक-एक पल को सीख वाने को मन्दबुद्धि[3] कहने में तो संतोष नहीं किया परन्तु बुद्धिदायिनी वाग्देवी के माहात्म्य का स्पष्ट यशोगान नहीं किया। कदाचित् उनका विश्वास था कि बुद्धि प्रभुप्रदत्त ऐसा पदार्थ है जो पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जा सकता—

> जैसी जाकी बुद्धि है तैसी कहै बनाय।
> ताको बुरा न मानिए, लेन कहाँ सो जाय॥[4]

धार्मिक नीति—रहीम की धार्मिक नीति का स्वर भक्तों से भिन्न प्रतीत नहीं होता। माया ममता विषय मोह, चिन्ता मद कुटिलता आदि के त्याग तथा नम्रता क्षमा पूर्णता धीम आदि गुणों में अनुराग की जो प्रेरणा भक्त-कवियों में नीतिकाव्य में दिखाई देती है वही आश्चर्य की बात है कि दरबारी कवियों में भी पाई जाती है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उत्तर भारत में उन दिनों भक्ति की जो मन्दाकिनी बह रही थी उसका वेग इतना प्रबल था कि राज-दरबारों के कवि भी उससे आप्लावित हुए बिना न रह सके। जैसे—

> जो विषया संतन तजी मूढ़ ताहि लपटात।
> ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वाद सों खात॥[5]
> फरजी साह न ह्वै सके गति टेढ़ी तासीर।
> रहिमन सीधी चाल सों प्यादो होत वजीर॥[6]

परन्तु कभी-कभी रहीम नम्रता पूर्णता आदि गुणों में कुछ शर्तें जोड़कर भक्त-कवियों के काव्य से अपने काव्य में कुछ विशिष्टता भी उत्पन्न कर देते हैं। जैसे—

> यह रहीम मानै नहीं दिल से नवा जो होय।
> चीता चोर कमान के, नये तै अवगुन होय॥[7]

१-४ सं० ब्रजरत्नदास रहिमन विलास प्रयाग १६८० पृ० १४।११८, २४।२१ १३।८१ क्रम

५-७ वही पृ १८६, १३।१२८ १७।१६०

पारिवारिक नीति—रहीम ने वैवाहिक जीवन को व्याधि और पाँव की बेड़ी कहा है।[१] एक तो इसलिए कि प्रायः गृही धन दारा और पुत्रों के झमेले में इतना फँस जाता कि प्रभु को ही भूल जाता है[२] और दूसरे, जैसा कि पहले कह चुके हैं रहीम को पत्नी तथा सन्तान का मर्मवेधी वियोग सहना पड़ा था। फिर भी इन्होंने पति पत्नी के वैमनस्य से जनित दुःख[३] दरिद्रता में भार्या और कुसमय में बन्धुओं की परीक्षा परनारी-परित्याग सपूत-कपूत के लक्षण घर की फूट का दुष्परिणाम सगोत्रों की समृद्धि से होने वाला सुख आदि पारिवारिक विषयों की ओर पाठकों ध्यान मार्मिक रीति से खींचा ही है। जैसे—

जो रहिम गति दीप की कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै बढ़े अँधेरो होय ॥[४]
रहिमन अँसुवा नैन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ॥[५]

संतान के प्रति जनकों के या जनकों के प्रति संतति के कर्तव्य आदि के विषय में रहीम मौन ही दिखाई देते हैं।

सामाजिक नीति—रहीम की दोहावली के अधिकतर दोहों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार से है। समाज कैसा है उसके व्यक्ति कैसे प्रसन्न किये जा सकते हैं अपत् पे प्राप्य गौरव का वास्तविक मूल्य क्या है, स्वार्थ-सिद्धि के लिए हाँ में हाँ मिलाना आवश्यक है हितैषी तथा शत्रु की पहचान क्या है, मनुष्यों को कैसे वश में किया जा सकता है आत्मसम्मान छोटे और बड़े परद्वार-गमन परोपकार, कुसंगति सुसंगति सुमित्र कुमित्र मूर्ख, सुजन दुर्जन प्रेम आदि सैकड़ों उपयोगी बातों का रहीम ने अनुभूति-पूर्ण उल्लेख किया है। रहीम ने उपर्युक्त विषयों पर एक-से-एक बढ़कर एकाधिक दोहों की रचना की है परन्तु प्रबन्ध की कलेवर-वृद्धि के भय से दो-चार दोहे ही उद्धृत कर संतोष करेंगे—

काज परे कछु और है काज सरे कछु और।
रहिमन भँवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥[६]
रहिमन जो रहिबो चहै, कहै वाहि के दाँव।
जो बासर को निस कहै तो कचपची दिखाव ॥[७]

समाज में छोटे भी होते हैं, बड़े भी। यह छोटाई-बड़ाई प्रायः सम्पत्ति या सरस्वती की न्यूनाधिकता पद की उच्चावचता तथा जाति-वंश की उत्तमाधमता पर अवलम्बित होती है। प्रायः सम्पन्न विद्वान्, उच्चाधिकारी और

१-४ सं० ब्रजरत्नदास रहिमन विलास प्रयाग १९८७ पृ० २७।२१९ ११।१०८, ११।१२४ ३।८१

५-७ वही पृ० १८।१७२ ५।३७ २।११९

कुलीन लोग दरिद्रों मूर्खों अधीनों तथा दुष्कुलीनों से घृणा का व्यवहार करते देखे जाते हैं। रहीम-से उदार धार्मिक और विद्वान् सज्जन को यह बात बहुत बुरी लगी और उन्होंने ऊँच-नीच का भाव मिटाने तथा छोटों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण अपनाने पर दर्जनों सुन्दर दोहे लिख डाले। जैसे—

रहिमन देख बड़ेन को लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवे सुई कहा करै तलवारि॥[1]
छोटेन सों सोहैं बड़े, कहि रहीम यह रेख।
सहसन को हय बाँधियत, लै दमरी की मेख॥[2]

रहीम ने अपना अधिकतर जीवन तो मान प्रतिष्ठा पूर्वक व्यतीत किया था परन्तु बुढ़ापे में उन्हें कुछ दिन अपमानपूर्ण जीवन का कटु स्वाद भी चखना पड़ा। अतएव संमान-हीन जीवन उनकी दृष्टि में निधन से भी निकृष्ट था। यही कारण है कि उन्होंने इस विषय पर दर्जनों पद्यों की रचना की है। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

रहिमन मोहिं न सुहाय, अमी पियावै मान बिनु।
बरु विष देय बुलाय, मान सहित मरिबो भलो॥[3]
कौन बड़ाई जलधि मिलि गंग नाम भो धीम।
केहि को प्रभुता नहिं घटी पर घर गये रहीम॥[4]

आर्थिक नीति—सामाजिक नीति के समान ही रहीम ने आर्थिक नीति पर भी बहुत और बहुत अच्छा लिखा है। वे लाखों-करोड़ों में भी खेले थे और मधुकरी माँगकर भी खा चुके थे। वे सम्पत्तिजन्य सम्मान का गौरव भी अनुभव कर चुके थे और दारिद्र्य-जनित अवज्ञा का कटुस्वाद भी चख चुके थे। यही कारण है कि उनके काव्य में धन का महत्त्व लक्ष्मी की चंचलता सम्पत्ति के क्षय से गौरव-नाश वित्त के बिना मित्रों का अभाव दरिद्रता से मृत्यु की श्रेष्ठता दान-हीन जीवन की निष्फलता, याचकता से निधन की उत्तमता सज्जनों का धन-संचय उपकारार्थ विपत्ति में धन-साथ पाप की कमाई बन्धुओं के मध्य में दरिद्र का मानहीन जीवन, धनी-धनी ही का सहायक याचकता मानव की जननी धन से भी सम्मान बड़ा आदि अनेक आर्थिक विषयों की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। जैसे—

विपति भए धन ना रहै रहै जो लाख करोर।
नभ तारे छिप जात हैं ज्यों रहीम भए भोर॥[5]
धन थोरो इज्जत बड़ी कह रहीम का बात।
जैसे कुल की कुलवधू चिथड़न माहिं समात॥[6]

१-४ स. ब्रजरत्नदास 'रहिमन विलास' प्रयाग १९४८ पृ० २१।२०४, ६।५६, १८।२८५, ३।४४

५-६. वही पृ० १०।११६, ११।१०७

इतर-प्राणिविषयक नीति—इतर प्राणियों के प्रति दया आदि की भावना रहीम के काव्य में दिखाई नहीं देती। उसमें तो कुत्ता भी वही पालने का उल्लेख है जो अपनी मृगया-कुशलता के द्वारा स्वामी का स्नेह-सौख्य प्राप्त कर सके—

नहिं रहीम कछु रूप गुन, नहिं मृगया अनुराग।
देसी स्वान जो राखिए, भ्रमत भूख ही लाग॥[1]

पशु-पक्षियों से शिक्षा लेने की प्रवृत्ति चाणक्य-नीति आदि में हम देख ही चुके हैं। रहीम के काव्य में पर्याप्त पाई जाती है। कहीं तो वह प्रत्यक्ष रूप में अभिहित है और कहीं अन्यापदेशों द्वारा व्यंग्य। जैसे—

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भए, हम को पूछत कौन॥[2]

मिश्रित नीति—इस क्षेत्र में भी रहीम की रचना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। समय का महत्त्व, समय पर चूकने से हानि, समय पर सहिष्णुता, स्वाम की महिमा, कर्मों की गति, पुरुषार्थ से लक्ष्मी अप्राप्य, भवितव्यता की प्रबलता, आदि बुरा अन्त बुरा, दुख-सुख, जीवन-सफलता, ईश्वर विश्वास, राजनीति आदि अनेक विषयों को रहीम ने अपने दोहों का वर्ण्य बनाया है। बुढ़ापे में पदच्युत होने के कारण रहीम को अनेक विकट कष्ट सहने पड़े थे। जीवन में भी घनिष्ठ सम्बन्धियों के शाश्वत वियोग से वे पिसे थे। इस कारण पुरुषार्थ की विफलता और होनहार की प्रबलता का स्वर पर्याप्त तीव्र दिखाई देता है। मिश्रितनीति के कुछ दोहे लीजिए—

रहिमन असमय के परे, हित अनहित ह्वै जाय।
बधिक बधै मृग बान सों, रुधिरै देत बताय॥[3]
मिल कर क्रिया रहीम कहि, सुधि जाति के हाथ।
पाँसे अपने हाथ में, दाँव न अपने हाथ॥[4]

समीक्षा—दोहावली का अध्ययन करने पर उसकी छः विशेषताओं पर ध्यान हठात् चला जाता है—

(क) आत्मानुभूति।
(ख) *गम्भीर सांसारिक अनुभव।*
(ग) उदार दृष्टि (व्युत्पन्नता)
(घ) दृष्टान्त।
(ङ) सुन्दर कल्पना।
(च) सूक्ष्म पर्यवेक्षण।

१, ३ वही पृ० १२।१११ २ ।१२२, १।१७१
४ वही पृ० १२।११५

(क) आत्मानुभूति—रहीम के अनेकों दोहे ऐसे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रहीम उनमें लोकानुभव का वर्णन नहीं कर रहे हैं आप-बीती सुना रहे हैं। परन्तु यह आप-बीती भी शिक्षापूर्ण होती है जैसे—

धोये बादर क्वार के ज्यों रहीम घहरात।
धनी पुरुष निर्धन भये, करें पाछिली बात॥[1]

(ख) गम्भीर सांसारिक अनुभव—जिस प्रकार रहीम प्रौढ़ विद्वान् थे उसी प्रकार पूर्ण अनुभवी भी थे। वे लोगों के बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यवहार के भेद से सम्यक परिचित थे। उनके अनुभव की इस गम्भीरता का पता कई दोहों से सहज ही लग जाता है। जैसे—

रहिमन निज मन की बिथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहै कोय॥[2]

(ग) उदार दृष्टि (बहुज्ञता)—दोहावली के अध्ययन से सिद्ध हो जाता है कि उदारचेता रहीम ने हिन्दुओं के रामायण महाभारत पुराण आदि ग्रन्थों से सम्यक परिचय प्राप्त कर लिया था। वे नैतिक सत्यों के समर्थन के लिए उक्त ग्रंथों से ऐसी उपयुक्त घटनाएं प्रस्तुत करते हैं कि पढ़कर चित्त गद्गद हो जाता है। जैसे—

मान सहित विष खाय के संभु भये जगदीस।
बिना मान अमृत पिये राहु कटायो सीस॥[3]
थोरो किए बड़ेन की बड़ी बड़ाई होय।
ज्यों रहीम हनुमंत को गिरधर कहत न कोय॥[4]

(घ) दृष्टान्त—रहीम अपनी नीति की उक्तियों की पुष्टि प्राचीन कथानकों के अतिरिक्त समीपवर्ती पदार्थों तथा क्रियाओं से भी करते हैं। जिन वस्तुओं और घटनाओं में हमें कोई विशेषता दिखाई नहीं देती उन्हीं में से रहीम ऐसे सुन्दर दृष्टान्त निकाल लेते हैं कि कुछ कहते नहीं बनता। चूना, बेलन के पीछे चौपड़ के मोहरे, चौपड़ की गोटें कुम्हार का चाक रहट की घड़ियाँ आदि अनेक पदार्थ उनके नैतिक कथनों के उपबृंहणार्थ सदा सदा सन्नद्ध दिखाई देते हैं। यथा—

जब लग जीवन जगत में, सुख दुख मिलन अगोट।
रहिमन फूटे गोट ज्यों परत दुहुँन सिर चोट॥[5]
रहिमन रीति सराहिए, जो घट गुन सम होय।
भीति आप पै डारि के सबै पियावै तोय॥[6]

---

१ २ ३ सं० ब्रजरत्नदास, रहिमन विलास, प्रयाग १०।२६, २२।७० १६।१२९
४ वही पृ० १९८७ १०।६०
५ ६ वही, पृष्ठ ७।६०, २४।२१४

(क) सुन्दर कल्पना—यद्यपि रहीम के कई दोहे कोरे पद्य हैं तथापि अधिकांश दोहों में उनकी सद्भावना सहज ही दिखाई दे जाती है। जब पाना दुष्टों से पड़ जाए तब सीधी उंगलियों से घी नहीं निकलता इस नीति के समर्थन के लिए रहीम की कल्पना ने कुम्हार के चाक और डंडे को खोज निकाला—

रहिमन चाक कुम्हार को माँगे दिया न देइ।
छेद में डंडा डारि कै चाहै नाँद लै लेइ॥[1]

उन दिनों घड़ी से समय को जानकर घड़ियाल की चोट से सबको सूचना दी जाती थी। रहीम की कल्पना ने उसी घटना में से कुसंगति त्याग की शिक्षा ग्रहण कर ली—

रहिमन नीच प्रसंग ते नित प्रति लाभ विकार।
नीर चोरावै संपुटी मार सहै घरिआर॥[2]

(ख) सूक्ष्म-पर्यवेक्षण—पैनी दृष्टि रहीम के नीतिकाव्य की अन्य विशेषता है। वे सामान्य वस्तुओं पर भी इतनी तीव्र निगाह डालते हैं कि तुरन्त ही उनमें से कोई काव्योपयोगी नैतिक तथ्य निकाल लेते हैं। जैसे—

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला भीतर फाँकें तीन॥[3]

रस और भाव—सरसता और भावपूर्णता रहीम के नीतिकाव्य के उल्लेखनीय गुण हैं। यद्यपि रहीम के कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता के कारण पद्यों की कोटि में ही परिगणनीय हैं तथापि उनके अधिकतर दोहों में से सच्चा कवि-हृदय झाँकता प्रतीत होता है। जीवन की उच्चावच परिस्थितियों ने उनके मस्तिष्क का ही स्पर्श नहीं किया उनके भावुक हृदय में विभिन्न मनोवेगों का उन्मेष भी किया। यही कारण है कि उनके दोहों में विविध भावों की सफल तथा प्रभविष्णु व्यंजना हुई है। उनकी आत्मानुभूति भी उन भावों को तीव्रतर करने में विशेष सहायता प्रदान करती है। अधिकतर नीतिकारों में इस गुण का अभाव रहता है। वे शिक्षा देने के लिए नैतिक तथ्यों का उल्लेख करते हैं और अपने कथन को इतिवृत्तात्मकता तथा पद्यमयता से बचाने के लिए किसी दृष्टान्त या अलंकारादि का आश्रय ढूँढ़ लेते हैं। इस प्रकार उनकी रचनाएं सूक्तियाँ तो बन जाती हैं परन्तु भावों की कमी के कारण सरसता से शून्य रह जाती हैं। रहीम किसी नैतिक तथ्य का उल्लेख मात्र नहीं करते उसके मार्मिक पक्ष में मग्न पहले हो जाते हैं और तब हृदय के भाव को दोहों में उड़ेल देते हैं। यही कारण है कि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में लोगों के मुख से विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल रहीम के दोहे अनायास ही निःसृत होते सुनाई देते हैं। जैसे—

१ २ सं० ब्रजरत्नदास, रहिमन विलास १९४७ प्रयाग १६।१४७, २२।२१०
३ वही २१।२११ ॥

८९ ।

कुटिलन संग रहीम कहि साधु बचते नाहिं ।
ज्यों नैना सैना करें, उरज उमेठे जाहिं ॥[1] (शृंगार)

यद्यपि अवनि अनेक हैं कूपवंत सरि ताल ।
रहिमन मान-सरोवरहिं मनसा करत मराल ॥[2] (रति)

रहिमन मोहि न सुहाय अमी पियावै मान बिनु ।
बरु बिष देय बुलाय मान सहित मरिबो भलो ॥[3] (मान)

तात्पर्य यह कि रहीम नीति को सच्चे काव्य से मिश्रित कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं वैसे ही नहीं।

भाषा—तुलसीदास जी के समान रहीम का भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अधिकार था परंतु रहीम ने नीति-रचनाओं में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। रहीम की भाषा में तत्सम शब्दों की भी कमी नहीं है परन्तु संस्कृत के शब्दों को प्रच लित रूप में व्यवहृत करना उन्हें अधिक प्रिय है जैसे—स्वर्ग पाताल दूषण, नरेश, प्रियतम निष्ठुर दशा आदि के स्थान पर उन्होंने सरग पताल दूषन, नरेस, प्रीतम निठुर दसा आदि का प्रयोग अधिक किया है। पंत के समान इनकी भाषा में भी फ़ारसी अरबी आदि के शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं और वे भी तद्भव रूप में जैसे—ग़रीब हुज़ूर मजीम कायब, फ़ज़ीहत आदि के स्थान पर गरीब हजूर मजीम कायब फजीहत आदि व्यवहृत हुए हैं। ढूंढने पर कुछ लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे भी इनकी भाषा में मिल जाते हैं। जैसे—

अनकीन्हीं बातें करै सोवत जागे जोय।
ताहि सिखाय जगायबो रहिमन उचित न होय ॥[4]

कैसे निबहै निबल जन करि सबल सन बैर।
रहिमन बसि सागर विषै करत मगर सौं बैर ॥[5]

विधान और छन्द—रहीम का नीतिकाव्य केवल मुक्तक रूप में मिलता है। उनका अधिकतर नीतिकाव्य दोहा छन्द में है। इसके अतिरिक्त कुछ इने-गिने सोरठे, कवित्त और सवैये भी उपलब्ध होते हैं। छन्द-शास्त्र की दृष्टि से रहीम के पद्य निर्दोष नहीं हैं। कहीं-कहीं मात्राओं की न्यूनाधिकता पाई जाती है। छन्द निर्दोष बनाने के उद्योग में कहीं-कहीं अक्षर को विगाड़ दिया गया है जैसे व्याधि को बिआधि और कदा चित् को कदाचि। वस्तुतः रहीम का लक्ष्य छोटे से दोहे द्वारा विस्तृत अर्थ की अभि व्यक्ति था दूसरी सब बातें गौण थीं—

१-३ रहिमन विलास, पृष्ठ ३।४१, १६।१३७, २७।२८३
४ वही, पृष्ठ १।८
५. वही पृष्ठ ३।८२। और भी देखें ७०।७३

(क) सुंदर कल्पना—यद्यपि रहीम के कई दोहे कोरे पद्य हैं तथापि अधिकांश दोहों में उनकी कल्पनाशक्ति सहज ही दिखाई दे जाती है। जब पासा दुष्टों के पड़ जाए तब सीधी उंगलियों से घी नहीं निकलता इस नीति के समर्थन के लिए रहीम की कल्पना ने कुम्हार के चाक और डंडे को खोज निकाला—

रहिमन चाक कुम्हार को, माँगे दिया न देइ।
छेद में डंडा डारि कै चाहे नाँद लै लेइ॥[1]

उन दिनों जलघड़ी से समय को जानकर घड़ियाल की चोट से उसकी सूचना दी जाती थी। रहीम की कल्पना ने उसी घटना में से कुसंगति त्याग की शिक्षा ग्रहण कर ली—

रहिमन नीच प्रसंग ते नित प्रति लाभ विकार।
नीर चोरावै संपुटी मार सहै घरियार॥[2]

(ख) सूक्ष्म-पर्यवेक्षण—पैनी दृष्टि रहीम के नीतिकाव्य की अन्य विशेषता है। वे सामान्य वस्तुओं पर भी इतनी तीव्र निगाह डालते हैं कि तुरन्त ही उनमें से कोई काव्योपयोगी नैतिक तथ्य निकाल लेते हैं। जैसे—

रहिमन प्रीति न कीजिए, जस खीरा ने कीन।
ऊपर से तो दिल मिला भीतर फाँकें तीन॥[3]

रस और भाव—सरसता और भावपूर्णता रहीम के नीतिकाव्य के उल्लेखनीय गुण हैं। यद्यपि रहीम के कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता के कारण पद्यों की कोटि में ही परिगणनीय हैं तथापि उनके अधिकतर दोहों में से सच्चा कवि-हृदय झाँकता प्रतीत होता है। जीवन की उच्चावच परिस्थितियों ने उनके मस्तिष्क का ही स्पर्श नहीं किया उनके भावुक हृदयमें विभिन्न मनोवेगों का उन्मेष भी किया। यही कारण है कि उनके दोहों में विविध भावों की सफल तथा प्रभविष्णु व्यंजना हुई है। उनकी आत्मानुभूति भी इन भावों को तीव्रतर करने में विशेष सहायता प्रदान करती है। अधिकतर नीतिकवियों में इस गुण का अभाव रहता है। वे शिक्षा देने के लिए नैतिक तथ्यों का उल्लेख करते हैं और अपने कथन को इतिवृत्तात्मकता तथा पद्यात्मकता से बचाने के लिए किसी दृष्टान्त या अलंकारादि का आश्रय ढूँढ लेते हैं। इस प्रकार उनकी रचनाएं सूक्तियाँ तो बन जाती हैं परन्तु भावों की कमी के कारण सरसता से शून्य रह जाती हैं। रहीम किसी नैतिक तथ्य का उल्लेख मात्र नहीं करते उसके मार्मिक पक्ष में मग्न पहले हो जाते हैं और तब हृदय के भाव को दोहों में उड़ेल देते हैं। यही कारण है कि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में लोगों के मुख से विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल रहीम के दोहे अनायास ही निःसृत होते सुनाई देते हैं। जैसे—

१ २ सं० ब्रजरत्नदास, रहिमन विलास, १९४७ प्रयाग २१।१८७, २२।२१०
३ वही २१।२११।

कुटिल संग रहीम कहि साधु बचते नाहिं।
ज्यों नैना सैना करें, उरज उमेठे जाहिं ॥[1] (शृंगार)
यद्यपि अवनि अनेक हैं, कूपवन्त सरि ताल।
रहिमन मान-सरोवरहिं मनसा करत मराल ॥[2] (रति)
रहिमन मोहि न सुहाय अमी पियावै मान बिनु।
बरु विष देय बुलाय मान सहित मरिबो भलो ॥[3] (मान)

तात्पर्य यह कि रहीम नीति को सच्चे काव्य से मिश्रित कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं कहीं ही नहीं।

भाषा—तुलसीदास जी के समान रहीम का भी ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अधिकार था परंतु रहीम ने नीति-रचनाओं में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। रहीम की भाषा में तत्सम शब्दों की भी कमी नहीं है परन्तु संस्कृत के शब्दों को प्रच लित रूप में व्यवहृत करना उन्हें अधिक प्रिय है जैसे—स्वर्ग पाताल दूषण, नरेश, प्रियतम निष्ठुर दशा आदि के स्थान पर उन्होंने सरग पताल दूषन नरेस प्रीतम, निठुर दसा आदि का प्रयोग अधिक किया है। गंग के समान इनकी भाषा में भी फ़ारसी अरबी आदि के शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं और वे भी तद्भव रूप में, जैसे—ग़रीब हुज़ूर मक़ीम क़ादर, फ़ज़ीहत आदि के स्थान पर गरीब हुजूर मकीम कादर फजीहत आदि व्यवहृत हुए हैं। ढूंढने पर कुछ लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे भी इनकी भाषा में मिल जाते हैं। जैसे—

अनकीन्ही बातैं करै सोवत जागै जोय।
ताहि सिखाय जगायबो रहिमन उचित न होय ॥[4]
क्यों निबहै निवास बन करि सब जन सों बैर।
रहिमन बसि सागर विषै करत मगर सों बैर ॥[5]

विधान और छन्द—रहीम का नीतिकाव्य केवल मुक्तक रूप में मिलता है। उनका अधिकतर नीतिकाव्य दोहा छन्द में है। इसके अतिरिक्त कुछ इने-गिने सोरठ, कवित्त और सवैये भी उपलब्ध होते हैं। छन्द-शास्त्र की दृष्टि से रहीम के पद निर्दोष नहीं हैं। कहीं-कहीं मात्राओं की न्यूनाधिकता पाई जाती है। छन्द विशेष बनाने के उद्योग में कहीं-कहीं शब्द को बिगाड़ दिया गया है, जैसे व्याधि को बियाधि और सन्निपात को सरनीप। वस्तुतः रहीम का महत्त्व छोटे से दोहे द्वारा विस्तृत अर्थ की अभिव्यक्ति या दूसरी सब बातें मोड़ दी—

१-३ रहिमन विलास, पृष्ठ ३।४१, १६।१२७, २८।२८२
४ वही, पृष्ठ १।४
५ वही पृष्ठ ३।८२। और भी देखें ७०।३

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं ।
ज्यों रहीम नट कुण्डली सिमिटि कूदि कढ़ि जाहिं ॥[1]

शैली—रहीम के नीतिकाव्य में प्रायः छः शैलियों का प्रयोग दिखाई देता है—तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, कथात्मक, अन्यापदेशात्मक, प्रश्नोत्तर और समस्यामूलक। इनमें से प्रथम तीन का प्रयोग अधिक किया गया है और उनके उदाहरण पीछे उद्धृत पद्यों में सुलभ हैं। अन्तिम तीन के उदाहरण विरल हैं।[2]

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से दोहावली का स्थान बहुत ऊँचा है। रहीम वर्ण्य विषय का उल्लेख-मात्र नहीं कर देते, साहित्यमर्मज्ञ होने के कारण उसे किसी-न-किसी अलंकार से चमत्कृत भी करते हैं। इनके पद्यों में शब्द, अर्थ और उभय—तीनों प्रकार के अलंकार दिखाई देते हैं।

(क) **शब्दालंकार**—शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। जैसे—

काहू कामरी पामरी जाड़ गए से काज ।[3] (छेकानुप्रास)
खैर खून खाँसी खुसी बैर प्रीति मद-पान ।[4] (वृत्त्यनुप्रास)
जाको काहू नर नहीं, जानो वह अपमान ।[5] (लाटानुप्रास)
रहिमन अपने पेट सों बहुत कह्यो समुझाय ।
जो तू अन-खाये रहै तो सों को अनखाय ॥[6] (यमक)
पानी गए न ऊबरै मोती मानुष चून ।[7] (श्लेष)
साधन केती करत हैं होत बजाय-बजाय ।[8] (वीप्सा)

(ख) **अर्थालंकार**—अर्थालंकारों में से अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त और काव्यलिंग का प्रयोग अधिक देख पड़ता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, अन्योन्य, आवृत्ति दीपक, अन्योक्ति आदि अलंकार भी यथास्थान प्रयुक्त किये गये हैं। जैसे—

बड़े बड़ाई ना करैं, बड़ो न बोलैं बोल ।
रहिमन हीरा कब कहै लाख टका मेरो मोल ॥[9] (अर्थान्तरन्यास)
बिरह रूप घन तम भयो अवधि आस उद्योत ।
ज्यों रहीम भादों निसा चमकि जात खद्योत ॥[10] (दृष्टान्त)
रहिमन कठिन चितान ते चिंता को चित चेत ।
चिता दहति निर्जीव को चिंता जीव समेत ॥[11] (काव्यलिंग)

---

१ रहिमन विलास, पृष्ठ १२।२०१
२ वही, पृष्ठ ११।१४० १२।११२ १४।१४०
३-८ वही, पृष्ठ ३।४० ३।४८, १६।१४० १८।१६६ १३।१२२ २२।२१६
९-११ वही पृष्ठ १४।१३१ २५।२१६, १८। ७०

जलहिं मिलाय रहीम ज्यों कियो आपु समछीर ।
अंगवहि आपुहि आप त्यों सकल आंच की भीर ॥[1] (अन्योन्य)
अपने हाथ रहीम ज्यों, नहीं आपुने हाथ ।[2] (विरोधाभास)

(घ) उभयालंकार—इस प्रकार के अलंकारों में शब्द की अपेक्षा संसृष्टि अधिक दृष्टिगत होती है। यथा—

मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाय ।
रहिमन सोई मीत है भीर परे ठहराय ॥[3]

इसमें वीप्सा वृत्त्यनुप्रास छेकानुप्रास तथा अर्थान्तरन्यास का प्रयोग तिलतण्डुल-वत् हुआ है अतः संसृष्टि है।

गुण—दोहावली में प्रसाद और माधुर्य गुण की बहुलता है। ओज गुण उन पद्यों में उपलब्ध होता है जिनमें रहीम ने याचकता दरिद्रता, कुलीनता आदि की अपेक्षा मृत्यु को अभिमान दिया है।

दोष—सुन्दर भावों तथा प्रभावपूर्ण भाषा से युक्त भी रहीम का नीतिकाव्य दोषमुक्त नहीं है। कहीं कहीं उसमें ऐसे प्रयोग आ जाते हैं जो भावानुभूति में बाधक सिद्ध होते हैं। जैसे—

(क) ओछे को सतसंग, रहिमन तजहु अंगार ज्यों ।
तातो जारै अंग सीरो पै कारो लगै ॥[4]

उक्त दोहे में सत का प्रयोग निरर्थक ही नहीं उपहासजनक भी है। ओछे मनुष्य की संगति को कुसंग भले ही कह दिया जाए, सत्संग कहना तो वदतो-व्याघात है।

(ख) धन थोरो इज्जत बड़ी कह रहीम का बात ।
जैसे कुल की कुलबधू चिथड़न माहिं समात ॥[5]

दोहे का तृतीय चरण अधिकपदत्व दोष से युक्त है क्योंकि 'कुलबधू' का कुल की वधू का अभीष्ट अर्थ भी प्रतीत हो जाता है, फिर 'कुल' का दो बार प्रयोग अपार्थक ही है। इसी प्रकार 'कुल' की 'पुनरुक्ति' दम्पत्ति भी की गई है।[6] भावों तथा दृष्टान्तों की पुनरावृत्ति भी अनेक पद्यों में सुलभ है।[7]

आदान प्रदान—प्रायः प्रत्येक साहित्यकार पूर्ववर्ती तथा समसामयिक लेखकों से प्रभावित होता है और समकालीन तथा परवर्ती साहित्यस्रष्टाओं को प्रभावित करता है। रहीम भी इस नियम के अपवाद न थे। उनकी रचनाओं पर संस्कृत और फ़ारसी के ही लेखकों का नहीं कबीरदास तुलसीदासादि का भी प्रभाव लक्षित होता

१-५ रहिमन विलास पृष्ठ ७।६१ ७।६२ १३।१४४ ८८।२५० ११।१०७
६ वही पृष्ठ ६।४६
७ वही तुलना करें दोहा १६, ८५, ७२ १११ ३० १३२

है। परन्तु ये अधमर्ण ही नहीं उत्तमर्ण भी थे। बिहारी वृन्द रसनिधि आदि की रचनाओं पर रहीम की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। चूँकि इस विषय पर अन्य विद्वान् पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं, इसलिए पिष्टपेषण निरर्थक प्रतीत होता है।[1]

उपर्युक्त विवरण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रहीम विषय की व्यापकता भावों की मार्मिकता अनुभूतियों की नवीनता भाषा की स्वच्छता कल्पनाओं की कोमलता अलंकारों की सुन्दरता आदि की दृष्टि से नीतिकवियों की प्रथम श्रेणी में परिगणनीय हैं। उनकी 'दोहावली' एक सुन्दर नीतिकाव्य है।

अकबरी दरबार के नीतिकाव्य का सिंहावलोकन

वैयक्तिक नीति—अकबरी दरबार के कवि हिंदी साहित्य के भक्तिकाल के अंतर्गत आते हैं। ये कवि आस्तिक और धार्मिक थे इसीलिए इन की रचनाओं में एक ओर तो भक्त-कवियों का-सा नीतिकाव्य दिखाई देता है, और दूसरी ओर दरबारी नीतिकाव्य। शरीर की नश्वरता वाणी की मधुरता शील की महत्ता संतोष की उपादेयता तथा विषयों की हेयता भक्तों के नीतिकाव्यों के प्रिय विषय थे। जहाँ उपर्युक्त दरबारी कवियों ने इन विषयों के वर्णन में संकोच नहीं किया वहां नृप और नृपशासन से सम्बन्धित विषयों पर भी विशेष बल दिया है। इन कवियों ने अनुभव किया कि दरबार के विलासी जीवन का परिणाम दुःखप्रद होता है, दूसरा परम संभव गुणोपार्जन और विद्वत्ता से दरबार में सम्मान प्राप्त होता है और पेट के कारण अपमान भी सहना पड़ता है। इसलिए इन्होंने पश्चात्तापव्यंजक वाक्यों से पाठकों को सचेत किया विद्यादि गुणों के ग्रहण की प्रबल प्रेरणा की ओर पापी पेट को धिक्कारा। ध्यान देने की बात है कि उन दिनों सुरा अफ़ीम भंग आदि का प्रचलन पर्याप्त था। अकबर स्वयं भी सुरापायी था और उसके दो पुत्र भी अत्यधिक सुरापान के कारण अकाल में ही कालकवलित हो गये थे। परन्तु इन कवियों ने इन व्यसनों का निषेध नहीं किया। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि ये कवि स्वयं भी मद्यप हों और दूसरा यह है कि ये लोग अपनी रचनाएँ दरबार में सुनाया करते थे। जब अकबर तथा सभासद् इन व्यसनों में लिप्त हों तो कवियों को इनकी निंदा करने का साहस न हो सकता था। इन कवियों ने विद्याविहीनों को पशु कहा है विद्वत्ता की प्रशंसा की है और वेद, पुराणादि की अन्य कवियों के समान निंदा नहीं की। कारण स्पष्ट है विद्वत्ता के कारण ही इनका दरबार में आदर-सम्मान था और सब धर्मों के ग्रंथों का वहाँ आदर होता था। इसके अतिरिक्त ये कवि कोई संत-महात्मा भी न थे जो ज्ञान-ध्यान में इतने लीन रहते कि धर्मग्रन्थों की अवज्ञा कर देते। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकबर को निरक्षर कहा जाता है इसलिए इन्होंने अपने काव्य में

१ रहीमन विलास, भूमिका पृष्ठ ७२ ८४

विद्याहीन को पद्म कहने का साहस कैसे किया। वस्तुतः अकबर निरक्षर नहीं था उसने वर्षों तक गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी और वह फारसी तथा हिन्दी में कविता किया करता था। श्री एम० एल० ला ने भी उन्हें साक्षर ही प्रमाणित किया है। वह अनेक विद्वानों से नित्य ग्रंथों को सुनता था और पाठ के समाप्तिस्थल पर पेंसिल से चिह्न लगाया करता था। शासकों के लिए स्वयं पढ़ने की अपेक्षा कर्मचारियों से सुनना अधिक गौरवयुक्त माना जाता था। इसलिए अकबर जैसे बहुश्रुत को ज्ञान हीन किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता और इसीलिए दरबारी-कवि विद्याविहीन को निस्संकोच पद्म कह सकते थे।[1]

पारिवारिक नीति—इस क्षेत्र में इन कवियों की कोई विशेष देन दिखाई नहीं देती। एक तो इन पर इन्होंने लिखा ही थोड़ा है और दूसरे जो लिखा है वह भी संत कवियों के ही अनुरूप। विवाह व्याधि है पुत्र-कलत्र आदि का मोह दुखप्रद है, गृह-सुख आदि अपना नहीं है यौवन चंचल है, पातिव्रत और पत्नीव्रत प्रशंसनीय है, फूट परिवार की विध्वंसिका है स्त्री पुरुष का वैमत्य दुखजनक है आदि सामान्य बातों का ही प्रसंगवश निर्देश किया गया है। पारिवारिक सदस्यों के परस्पर कर्तव्य, उन में प्रेमोपचय के साधन भाई-बहिनों आदि का परस्पर स्नेह गार्हस्थ्य को स्वर्ग मय बनाने के साधन आदि की विशेष चर्चा नहीं मिलती। वस्तुतः इन कवियों पर भी मध्ययुगीन विचारधारा का प्रभाव इतना अधिक था कि इन में जीवन के प्रति वह उत्साह-पूर्ण दृष्टिकोण प्रादुर्भूत ही नहीं हुआ जो इन्हें इस प्रकार की काव्य रचना की स्फूर्ति प्रदान करता।

सामाजिक नीति—इन कवियों का वास्तविक महत्त्व इनकी सामाजिक नीति के कारण है। इन्होंने सच्चा मित्र कपटी साधु, प्रेम परोपकार आदि परम्परागत विषयों पर भी काव्य-रचना की है परन्तु इनका वैशिष्ट्य स्वामिभक्ति सम्मानयुत जीवन कुलीन और ओछे व्यक्तियों की कृपा से उन्नति, दीन प्रेम दान पुण्य के बिना जीवन की व्यर्थता याचकता की निन्दा गुण-ग्राहकता आदि विषयों के प्रतिपादन में है। कहना न होगा कि प्रायः इन सब विषयों का न्यूनाधिक सम्बन्ध इनके दरबारी जीवन से है। ये लोग राजभक्त थे सम्मानित जीवन व्यतीत करते थे उच्च कुलों में उत्पन्न हुए थे आश्रयदाताओं की कृपा से समृद्ध बने थे तथा सुविधा के कारण कार्पण्य के जीवन को निरर्थक याचना को अधम्य और गुणग्राहकता को कर्तव्य समझते थे। इसलिए अपनी परिस्थितियों के अनुसार उक्त विषयों पर बल देना इन के लिए स्वाभाविक था। ये संसार को केवल प्राचीन पुस्तकों के नैनों से ही नहीं अपनी आँखों से भी देखते थे और जो बात खरी लगती थी उसे परम्पराविरुद्ध होने पर भी

---

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृष्ठ ११

शैली—नीति के मुक्तकों की शैली अपभ्रंश-काल में प्रचलित थी ही। आदि काल में पठान-शासन के समय में वीरगाथाओं की अधिकता के कारण ऐसी रचनाएँ या तो लिखी ही नहीं गईं या फिर परिस्थितिवश लुप्त हो गईं। भक्तिकाल में कबीर, नानक आदि सन्तों ने पुनः नीति तथा उपदेशात्मक दोहे लिखे। मुक्तकों की यही शैली नैतिक विषयों के लिए पुनः स्वीकृत हुई।

छन्द—नीति की मुक्तक रचनाओं के लिए जिन अनेक मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया गया उनमें से दोहा छप्पय कवित्त और सवैया मुख्य हैं। सोरठा कुंडलिया झूलना का भी प्रयोग किया गया परन्तु कुछ ही पद्यों में। ये छन्द उपलब्ध रूप में कहीं-कहीं मात्राओं की न्यूनाधिकता के कारण सदोष हैं।

अलंकार—ये नीतिकार निरधार चमत्कार नहीं थे। ये साहित्यशास्त्र के विद्वान् और प्रायः सुकवि थे। इसलिए इन्होंने नैतिक तथ्यों के निरूपण में भाव और भाषा दोनों का कुछ-न-कुछ चमत्कार लाने का यत्न किया है। प्रायः इनके पद्य शब्द, अर्थ और उभय तीनों प्रकार के अलंकारों से मण्डित दिखाई देते हैं। सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों से वर्ण्य को अधिक रोचक और प्रभावशाली बनाना ये नीतिकार कभी नहीं भूले। शब्दालंकारों में से इन्हें छेकानुप्रास वृत्त्यनुप्रास वीप्सा और लाटानुप्रास, यमक तथा श्लेष की अपेक्षा प्रियतर थे। अर्थालंकारों में उपमा रूपक मालोपमा, अर्थान्तरन्यास दृष्टान्त तुल्ययोगिता उत्प्रेक्षा आवृत्तिदीपक, विनोक्ति अलंकारों का प्रयोग यथासंख्य अन्योन्य, एकावली व्यतिरेक आदि की अपेक्षा अधिक हुआ है। संकर की अपेक्षा संसृष्टि में इन कवियों की रुचि अधिक थी।

गुण-दोष—इन कवियों के नीतिकाव्य में प्रसाद गुण सर्व प्रधान है। माधुर्य की मात्रा उससे कुछ कम है और ओज की सब से कम। इन कवियों के आश्रयदाताओं के वीरत्व-वर्णन में तो ओज की न्यूनता नहीं परन्तु वे रचनाएँ नीति-काव्य में अन्तर्हित नहीं हो सकतीं वस्तुतः वे प्रशस्तियाँ ही हैं। कुशल कवियों की कृतियाँ होने के कारण ये सामान्य रचनाएँ सामान्य रूप से निर्दोष हैं।

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रायः इसका दृष्टिकोण ऐहिक है और यह लोगों को लोक-व्यवहार की शिक्षा देने को ही लिखा गया है। आदिकाल के कवियों में नीतिकाव्य प्रसंगवश समाविष्ट है, संतों तथा भक्त कवियों का नीतिकाव्य धर्मप्रवण और मोक्षोन्मुख है इन दरबारी कवियों ने ऐहिक जीवन को सफल बनाने के लिए ऐसी काव्य-रचना की जो उनके जीवन के अनुभवों पर आश्रित है और काव्यत्व-दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

३—अनुवादक कवि

बनारसीदास—जैन महाकवि बनारसीदास के कुछ नीतिकाव्यों का उल्लेख ऊपर कर ही चुके हैं। इन्होंने सूक्ति मुक्तावली, कल्याणमंदिर स्तोत्र तथा जिन

सहस्रनाम नाम के तीन संस्कृत ग्रंथों के हिंदी अनुवाद भी किए थे, जिनमें से आचार्य सोमप्रभ (विक्रमी तेरहवीं शती) की 'सूक्तिमुक्तावली' या 'सिन्दूरप्रकर' संस्कृत का सुंदर नीतिग्रंथ है। प्रारम्भिक पद्यचतुष्क मंगलाचरणात्मक है मध्यवर्ती ९० पद्य २२ अधिकारों में विभक्त हैं अंत में ८ उपदेश-गाथाएं हैं जो न प्राकृत भाषा में हैं न भाषा छंद में। ये संस्कृत के शिखरिणी शार्दूलविक्रीडित आदि छंदों में हैं। इन गाथाओं में से दो भर्तृहरि के नीतिशतक पद्यों के ही भाव रूपान्तर हैं।[1]

उक्त ग्रन्थ का अनुवाद बनारसीदास ने अपने अभिन्नहृदय मित्र कुंवरपाल के सहयोग से संवत् १६९१ की वैशाख शुक्ला एकादशी सोमवार को सम्पूर्ण किया था।[2] कुछ पद्यों में बनारसीदास बनारसि या बनारसी नाम आया है और कुछ में कुंवरपाल कौरपाल या कुंवरा। जिन पद्यों में किसी का भी नाम नहीं सम्भवतः उनकी रचना में दोनों का सहयोग रहा होगा।

मूल पुस्तक तो संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित शिखरिणी वसन्ततिलका, हरिणी आदि छंदों में लिखी गई है परन्तु अनुवादकों ने अपना हिन्दी प्रेम के कारण अनुवाद में मनहरण (घनाक्षरी सवैया इकतीसा) मत्तगयन्द छप्पय दीपकांतवेसरी[3] कवित्तमात्रिक (मात्रा ३१ मात्रा) सोरठा वामानक[4] गीता वस्तु[5] कुंडलिया मरहठा रोडक (रोला) करिखा चौपई, चौपाई, वेसरी पद्धरि हरिगीतिका पद्मावती[6] तथा दोहा छंदों का व्यवहार किया है। ध्यान करने की बात है कि अनुवादकों ने दोहों और चौपाई का प्रयोग तो एकाध ही स्थल पर किया है परन्तु मनहरण मत्तगयंद कवित्त मात्रिक (३१ मात्रा) और छप्पय का बहुत अधिक। कारण यह

---

१ बनारसी विलास पृष्ठ ५५।२७, ६८, शतक प्रथम पृष्ठ २६।२१, १०।२३

२ कुंवरपाल बनारसी मित्र जुगल इकचित्त।
तिन्हि ग्रंथ भाषा कियो बहुविधि छंद कवित्त॥
सोलह सै इक्यानवे ऋतु ग्रीष्म बैशाख।
सोमवार एकादशी करनखत सितपाख। (बनारसी विलास पृष्ठ ४१)

३ दीपकान्त वेसरी। दोहा। वेसरी के चार चरणों में क्रमशः १६ १६, १५, १५ मात्राएं होती हैं। (बनारसी विलास पृष्ठ १८ २ ३)

४ वामानक के प्रत्येक चरण में २१ मात्राएं होती हैं और ११, १० पर यति। (वही पृष्ठ ३०।२६)

५. वस्तु छन्द पांच चरणों का विषम छन्द है। इसके प्रथम चरण में १४ व की यति से २२ मात्राएं द्वितीय तथा तृतीय चरणों में ११, १५ की यति से २६-२६ मात्राएं होती हैं तथा अन्तिम दो चरण दोहे के होते हैं। (वही पृष्ठ २५,४१)

६ पद्मावती के प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएं होती हैं और १६, १६ पर यति (बनारसी विलास, पृष्ठ ४८ ८० ६१।८५)

है कि मूल पद्य संस्कृत के बड़े-बड़े छंदों में हैं और उनके एक-एक पद्य में अनुवाद के लिए भी बृहदाकार छन्द ही अपेक्षित होते हैं।

पुस्तक के विषयों का परिचय २२ अधिकारों के निम्नांकित शीर्षकों से ही हो जाता है—धर्म, पूजा, गुरु, जिनमत, संघ, अहिंसा, सत्यवचन, अदत्तदान, शील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ, सज्जन, गुणिजन, इन्द्रिय, कमला (लक्ष्मी), दान, तप, भावना और वैराग्य। धर्माधिकार में ६ पद्य हैं और शेष सभी में चार-चार। धर्म, पूजा, जिनमत, संघ और वैराग्य के अधिकारों के सिवा सब में सामान्य नीति का वर्णन है। परन्तु यह सामान्य नीति चाणक्य-नीति आदि से इतना साम्य नहीं रखती जितना संतों के नीतिकाव्य से। उदाहरणार्थ कमलाधिकार में लक्ष्मी की निन्दा ही किया है, उपादेयता का उल्लेख नहीं। क्रोधाधिकार में क्रोध के दोषों का ही उल्लेख है, उचित अवसर पर उसकी उपादेयता का नहीं। शौर्य, पराक्रम, उद्योग आदि पर अधिकरणों का अभाव है। कारण यह प्रतीत होता है कि मूल ग्रंथ मुनिप्रणीत है और उनका ध्यान आदर्श की ओर रहना स्वाभाविक ही था। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पावक तैं जल होय, वारिध तैं थल होय,
सस्त्र तैं कमल होय, ग्राम होय बन तैं।
कूप तैं विवर होय, पर्वत तैं घर होय,
वासव तैं दास होय, हितू दुरजन तैं॥
सिंह तैं कुरंग होय, व्याल स्याल अंग होय,
विष तैं पियूष होय, माला अहिफन तैं।
विषम तैं सम होय, संकट न व्यापै कोय,
एते गुन होय सत्यवादी के दरस तैं॥[1]

सार यह है कि कृति अनुवादात्मक होते हुए भी बहुत बढ़िया है। चाणक्यनीति, भर्तृहरि-कृत नीतिशतक आदि के अनेक कवियों ने अनुवाद किये परन्तु इतने सुन्दर, सरस और प्रवाहोपेत अनुवाद विरल ही हैं।

४—फुटकर नीति कवि

१ तानसेन—अकबरी दरबार के रत्न प्रख्यात संगीतनिष्णात तानसेन का जन्म सं० १५८८ में मकरंद पाण्डे के गृह में हुआ था। मुसलमान बनने के पश्चात् ये श्री विट्ठलनाथ आदि के प्रभाव से पुनः वैष्णव बन गये थे। इनके फुटकल पदों में धैर्य, सत्य आदि की प्रेरणा पाई जाती है।

---

१ बनारसी विलास, पृष्ठ ११।१२

२ मनोहर कवि—कछवाहा सरदार मनोहर अकबरी दरबार के एक अधिकारी थे। हिंदी के अतिरिक्त फारसी में कविता किया करते थे। संवत् १६२० के लगभग इन्होंने शृंगार के अतिरिक्त नीतिविषयक फुटकल दोहों की भी रचना की थी।

३ अमृत कवि—शिवसिंह सेंगर के मतानुसार इनका जन्म सं० १६०२ में हुआ था और ये सम्राट् अकबर के आश्रित थे। ना० प्र० सभा काशी के संग्रह सं० १३३४।८२१ में "पंचबड़ाई" नाम से इनके केवल तीन पद्य संकलित हैं। 'शिवसिंह सरोज' में इनका केवल एक ही पद्य संगृहीत है और वह भी पंचविषयक ही है। पद्य सूक्तिमात्र है।

४ करनेस—इनका जन्म सं० १६११ में और कविता-काल लगभग सं० १६३७ माना जाता है। महापात्र नरहरि के साथ अकबरी दरबार में उपस्थित हुआ करते थे तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों पर रचना करते थे। इनके नीति के फुटकल पद्य भी सुन्दर हैं।

५. जमाल—सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में यवन-कवि जमाल ने नीति के दोहे लिखे थे जो राजस्थान में लोकप्रिय हैं। अभी तक इनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ।

६ नरायनदास—इनका जन्म सं० १६१५ में हुआ था। इन्होंने सं० १६४० में हितोपदेश का छन्दोबद्ध अनुवाद किया।

७ कादिर—जिला हरदोई के निवासी सैयद इब्राहीम के अन्तेवासी कादिर बख्श का कविता काल सं० १६६० के लगभग है। इनके नीतिविषयक कुछ स्फुट सुन्दर पद्य इधर-उधर मिलते हैं।

८. समय सुन्दर—इनका "दानशीलतपभावना संवाद" जयपुर के पुरातत्त्वमंदिर में सुरक्षित है। क्रमांक ८८१ पत्र ४ आकार १०"×४½"। रचना सांगानेर में १६६२ में की गई है। राजस्थानी-गुजराती भाषा की इस संवादात्मक कृति का विषय नाम से ही स्पष्ट है।

९. मुनिहेमराज—मुनिजी ने "अक्षर बावनी" या "हितोपदेश बावनी" की रचना सं० १६६५ में की थी। इसकी प्रति जयपुर के तेरहपंथियों के बड़े मंदिर में सुरक्षित है। इसकी क्रमसंख्या १८८६ पत्र-संख्या १२ आकार १०"×४" तथा लिपिकाल सं० १७२७ है। राजस्थानी की इस रचना में जैनप्रिय नीति का सम्मेल है। सवैया कवित्त छप्पय छन्द व्यवहृत हुए हैं।

१० मुनि समय सुन्दर—इन जैन मुनि ने सं० १६६८-९९ के मध्य में राजस्थानी भाषा में नीति की निम्नलिखित छह छत्तीसियों की रचना की—१ कर्म छत्तीसी (सं० १६६८ मुलतान) २ पुण्य छत्तीसी (सं० १६६९ सिद्धपुर) ३ सन्तोष छत्तीसी (सं० १६८४ लूणकर्णसर) ४ प्रस्ताव सवैया छत्तीसी (सं० १६९० खंभात) ५ आलोयणा छत्तीसी (सं० १६९९ अहमदपुर) ६ क्षमा छत्तीसी (नागोर) इनमें प्रथम द्वितीय तृतीय तथा छठी छत्तीसी हमने जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में देखी।

इन छत्तीसियों के विषय नाम से ही स्पष्ट हैं। उन्हें ऐतिहासिक दृष्टान्तों से पुष्ट भी किया गया है। परन्तु रचनाएँ काव्यत्व-रहित हैं। संभवत ये उपर्युक्त समय सुन्दर से अभिन्न हैं।

११ सीतारामण रास—अज्ञातनामा कवि की सत्रहवीं शती की यह रचना जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में सुरक्षित है। प्रतिसंख्या २०७६, आकार १० × ४½″ गुजराती मिश्रित राजस्थानी की इस रचना में भोले लोगों के शिक्षार्थ केवल ४० पद्य हैं।

१२ ईसर—ये प्रख्यात राजस्थानी चारण कवि ईसरदास से भिन्न हैं। इनकी 'ईसरसिक्षा' जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में विद्यमान है। क्रमांक २ १६ है और आकार १०¾″ × ४½। दो पन्नों की इस पुस्तिका की भाषा राजस्थानी गुजराती है और मांस-मदिरादि व्यसनों का निषेध किया गया है। रचना का लिपिकाल सत्रहवीं शती है।

१३ लखपहंस या खेम—सम्भवत जैनमुनि थे। इनकी 'छिपंचासिका' (बावनी) जयपुर के सुगनकरण गोडेय के भंडार में सुरक्षित है। गुटके (सं० १६) का लेखन-काल सं० १६६६ है। राजस्थानी भाषा में ५४ छप्पय हैं। विषय जैन-प्रिय नीति है। ब्राह्मणों तथा जैनों के इतिहास पुराणों की कथाओं के पर्याप्त संकेत हैं।

चतुर्थ अध्याय

भक्तिकाव्य में नीति-तत्त्व (सं० १३७५-१९००)

स्वामी रामानन्द और वल्लभाचार्य की प्रेरणा तथा हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के संपर्क के फलस्वरूप विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सत्रहवीं की समाप्ति तक हिन्दी में भक्तिकाव्यों की रचना इतनी अधिक और सुन्दर हुई कि उस युग को भक्तिकाल की संज्ञा देना ही समीचीन समझा गया। इसी युग में कबीरदास, मुहम्मद जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि संतों, सूफियों और भक्तों ने अपनी अमर रचनाओं से हिन्दी के मुख का उज्ज्वल किया। यद्यपि रीति-काल में भी गुरु गोविन्द सिंह, विश्वनाथ सिंह, नागरीदास, बाबा हितवृन्दावन दास, चरणदास-सहजोबाई आदि अनेक संतों और भक्तों ने भक्ति काव्य का प्रणयन किया तथापि इनकी रचनाओं में वह नवीनता, स्फूर्ति, भावावेश तथा काव्यत्व नहीं जो उपर्युक्त कवियों की कृतियों में सुलभ है। गत अध्याय में तो हम ने उन मौलिक तथा अनूदित रचनाओं का परिचय दिया है जिनका विषय ही नीति था। प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी के उस भक्तिकाव्य का नीति की दृष्टि से मूल्यांकन करने का यत्न किया जायगा जिसकी रचना भक्तिकाल और रीतिकाल के अन्तर्गत हुई। चूँकि भक्ति की धारा स्पष्टतः चार प्रवाहों में बहती हुई लक्षित होती है अतः उसका अध्ययन निम्नांकित चार वर्गों के अन्तर्गत करना अनुचित न होगा—(क) सन्त काव्य में नीतितत्त्व (ख) सूफीकाव्य में नीति तत्त्व (ग) राम काव्य में नीतितत्त्व और (घ) कृष्णकाव्य में नीतितत्त्व।

(क) सन्तकाव्य में नीतितत्त्व

लोक में सन्त शब्द का व्यवहार साधु, संन्यासी, ईश्वर भक्तादि के लिए किया जाता है। इस दृष्टि से तो रामभक्त, कृष्णभक्त और सूफी सभी सन्त माने जा सकते हैं और माने भी जाते हैं परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सन्त शब्द से हमारा अभिप्राय कबीर साहब, गुरु नानक, दादूदयाल आदि उन निर्गुणिया महात्माओं से है जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल में और उसके बाद भी एक विशेष विचारधारा का प्रवर्तन तथा प्रचार किया। ये सन्त निराकार के उपासक थे, अवतारवाद, मूर्तिपूजा आदि के विरोधी थे तथा निर्गुण राम की भक्ति और सात्त्विक जीवन के प्रचारक थे। ये हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही धर्मों के मूलतत्त्वों—ईश्वर विश्वास, सत्यनिष्ठा, दया तथा परोपकारादि में तो आस्था रखते परन्तु जीवहिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाजादि बाह्य आडम्बरों

से दूर रहने का अनुरोध करते थे। वे धर्मभेद सम्प्रदायभाव वर्ण जाति-पाँति, ऊँच नीच छुआछूत आदि को हेय मानते थे और इन बातों का डंके की चोट से खंडन करते थे। यद्यपि वे स्वयं शिक्षित न थे तथापि साधना और सदाचार के धनी थे। सन्तोंका मुख्योद्देश्य लोगों को निराकार के प्रेम में लीन करना था और इसी उद्देश्य से इन्होंने अपनी रचनाएं कीं। परन्तु प्रभु की प्राप्ति के लिए भक्तों को एक विशेष प्रकार के आचार-व्यवहार को अंगीकार करना ही पड़ता है। यही कारण है कि इन की रचनाओं में व्यवहार विषयक अनेक अमूल्य बातें समाविष्ट हो गई हैं जो प्रस्तुत प्रबन्ध से सम्बन्ध रखती हैं। सन्त-काव्य के अध्ययन से विदित होता है कि वैसे तो इसमें पूर्वोक्त छहों प्रकार की नीति विद्यमान है परन्तु अधिक बल धार्मिक सामाजिक, शान्तिविषयक तथा मिश्रित नीति पर है।

१—व्यक्तिगत नीति

शारीरिक नीति

शरीर के सम्बन्ध में सन्तों के मुख्य विचार दो हैं। एक तो वे इस की क्षण भंगुरता पर अत्यधिक बल देते हैं और दूसरे इसकी दुर्लभता पर। कहीं तो वे इसे जल के बुलबुलों और प्रभात के नक्षत्रों के समान[1] क्षणस्थायी कहते हैं और कहीं एक-एक श्वास को चौदह भुवनों के तुल्य मूल्यवान्। वस्तुतः इन दोनों विचारों में कोई विरोध नहीं है। जब इन्होंने देखा कि सामान्य मनुष्य अपने यौवन सौन्दर्य शक्ति आदि के कारण लुब्ध होकर अनैतिक मार्ग पर अग्रसर हो जाता है तो इन्होंने उसे सचेत करने के लिए शरीर की क्षणभंगुरता का उपदेश दिया। अधिकतर लोग अपना समय आलस्य, निद्रा और विषय वासना में व्यय करते हैं। सन्तों के मत में इस प्रकार के जीवन से निःश्रेयस की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए इन्होंने ऐसे सुकृत्य करने की प्रेरणा की जिससे मनुष्य का प्रेत्यभाव हो ही नहीं। जीवन-काल में तो शरीर को प्रभुभक्ति में लगाना ही चाहिए मरने पर भी इसका सदुपयोग हो जाए तो अच्छा ही है। इसलिए दादू जी ने इसे जलाने तथा दफ़नाने के बजाय पशु-पक्षियों को खिलाने की सत्प्रेरणा की है। उक्त मतों के निदर्शक कुछ पद देखिए—

(क) काहेरे नर गरब करत हो बिनसि जाइ झूठी देही ॥[2] (नामदेव)

(ख) (दादू) ऐसे महँगे मोल का एक सांस जो जाइ।
चौदह लोक समान सो, काहे रेत मिलाइ ॥[3]

(ग) हरि भजि साफिल जीवना पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहँ भला जहँ पसु पंखी खाइ ॥[4]

---

१ कबीर वचनावली (ना० प्र० स० काशी सं० २००१), पृष्ठ १९८।१९९
२ ग्रन्थसाहब भाग १ पृष्ठ ९९२
३ सन्त दादू और उनकी वाणी (हिमालय प्रेस बलिया) पृष्ठ ११०
४ वही „ („) पृष्ठ ११०

वाचिक नीति

सन्त-काव्य में वाणी के प्रयोग के विषय में बहुत ही मार्मिक तथा काम की बातें कही गई हैं। जैसे न तो वाचालता हितकर है और न मौन। अवसरानुसार मधुर भाषी या मौनी तो होना चाहिये परन्तु कटु भाषी कदापि नहीं। अहंकार को त्याग कर ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जिससे अपना मन शीतल हो और श्रोताओं को सुख। मधुर वचन औषध-सदृश होते हैं और कटु वाक्य तीर-तुल्य। वे प्रविष्ट तो कर्ण-पथ से होते हैं परन्तु प्रभावित सकल शरीर को करते हैं। संसार में जिह्वा का रस सर्वोत्तम है। गाली का उत्तर गाली से न देना चाहिए। आत्म-श्लाघा और पर-निन्दा समान रूप से त्याज्य हैं। सन्तों ने आत्म-सत्कार के लिए पर-निन्दा का तो प्रतिषेध किया है परन्तु अपनी उदारता के कारण निन्दक को बुरा न कहकर उसकी प्रशंसा की है। उसके दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की है और उसकी मृत्यु पर अश्रुपात किया है। कारण निन्दक हमारा अपकारी नहीं उपकारी है। हममें दोष होंगे तो निन्दक के शब्दों से प्रभावित होकर हम उनके परिहार का प्रयत्न करेंगे। इन कवियों ने सत्यभाषण को सर्वोत्तम तप और मृषाभाषण को निकृष्टतम पाप कहा है। सत्यवादी के हृदय में ही प्रभु विराजते हैं दूसरों के मन में नहीं। सज्जन वही है जिसकी "कथनी और करनी' में सामंजस्य हो। लोग सच्चे व्यक्ति पर तो विश्वास नहीं करते परन्तु झूठे पर कर लेते हैं। और सबसे बढ़कर वाणी का सदुपयोग है नाम के जाप में जिस के बिना जीवन ही निरर्थक है। उदाहरणार्थ—

मधुर बचन है औषधि कटुक बचन है तीर।
स्रवण द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल सरीर ॥[1] (कबीर)
धोबी धोवै कापड़ा (रे) निंदक धोवै मन।
भार हमारा ले चलै (क्यूं) बलिहारा को जन।[2] (बखना)
सपनेहु में बर्राइके धोखेहु निकरै नाम।
वाके पग की पैंतरी, मेरे तन को चाम ॥[3] (कबीर)

मानसिक नीति

उन दिनों न हिन्दुओं में पंडितों की कमी थी न मुसलमानों में उलमा की। परन्तु उनकी विद्या मनुष्यों को प्रेम-पूर्वक रहना न सिखा सकी। दोनों एक दूसरे के धर्म और संस्कृति को बुरा भला कहने में मग्न रहते और अपने ही धर्म की श्रेष्ठता

---

१ कबीर वचनावली, पृष्ठ १४२।४९९
२ बखना जी की वाणी (जयपुर, सं० १९९३) पृष्ठ ६७
३ कबीर वचनावली पृष्ठ १७०।४२॥ और भी देखें सन्तसुधासार रज्जब की वाणी, पृष्ठ ५२९ कबीर वचनावली, पृष्ठ ९३।१९९ १४२।६०४

से दूर रहने का अनुरोध करते थे। वे धर्मभेद सम्प्रदायवाद वर्ण जाति-पाँति, ऊँच नीच छुआछूत आदि को हेय मानते थे और इन बातों का डंके की चोट से खंडन करते थे। यद्यपि ये स्वयं शिक्षित न थे तथापि साधना और सदाचार के धनी थे। उनका मुख्योद्देश्य लोगों को निराकार के प्रेम में लीन करना था और इसी उद्देश्य से इन्होंने अपनी रचनाएं कीं। परन्तु प्रभु की प्राप्ति के लिए भक्तों को एक विशेष प्रकार के आचार-व्यवहार को अंगीकार करना ही पड़ता है। यही कारण है कि इन की रचनाओं में व्यवहार विषयक अनेक अमूल्य बातें समाविष्ट हो गई हैं जो प्रस्तुत प्रबन्ध से सम्बन्ध रखती हैं। सन्त-काव्य के अध्ययन से विदित होता है कि वैसे तो उसमें पूर्वोक्त छहों प्रकार की नीति विद्यमान है परन्तु अधिक बल धार्मिक सामाजिक, प्राणिविषयक तथा मिश्रित नीति पर है।

१—व्यक्तिगत नीति

शारीरिक नीति

शरीर के सम्बन्ध में सन्तों के मुख्य विचार दो हैं। एक तो वे इस की क्षण भंगुरता पर अत्यधिक बल देते हैं और दूसरे उसकी दुर्लभता पर। कहीं तो वे इसे जल के बुलबुलों और प्रभात के नक्षत्रों के समान क्षणस्थायी कहते हैं और कहीं एक-एक श्वास को चौदह भुवनों के तुल्य मूल्यवान्। वस्तुतः इन दोनों विचारों में कोई विरोध नहीं है। जब उन्होंने देखा कि सामान्य मनुष्य अपने यौवन सौन्दर्य शक्ति आदि के कारण क्षुब्ध होकर अनैतिक मार्ग पर अग्रसर हो जाता है तो उन्होंने उसे सचेत करने के लिए शरीर की क्षणभंगुरता का उपदेश दिया। अधिकतर लोग अपना समय आलस्य निद्रा और विषय-भोगों में व्यय करते हैं। सन्तों के मत में इस प्रकार के जीवन से निःश्रेयस की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए उन्होंने ऐसे सुकर्म करने की प्रेरणा की जिनसे मनुष्य का प्रेमभाव हो ही नहीं। जीवन-काल में तो शरीर को प्रभुभक्ति में लगाना ही चाहिए मरने पर भी उसका सदुपयोग हो जाए तो अच्छा ही है। इसलिए दादू जी ने उसे जलाने तथा दफनाने के बजाय पशु-पक्षियों को खिलाने की सत्प्रेरणा की है। उक्त मतों के निदर्शक कुछ पद्य देखिए—

(क) काहेरे नर गरब करत हो बिनसि जाइ झूठी देही ॥[1] (नामदेव)

(ख) (दादू) ऐसे मँहगे मोल का एक साँस जे जाइ।
चौदह लोक समान सो काहे रेत मिलाइ ॥[3]

(ग) हरि भजि साफिल जीवना पर उपकार समाइ।
दादू मरणा तहं भला जहं पशु पंखी खाइ ॥[4]

---

१ कबीर वचनावली, (ना० प्र० स० काशी सं० २००३), पृष्ठ १९८।१९९
२ सन्तबानीसंग्रह भाग १ पृष्ठ १९२
३ सन्त दादू और उनकी वाणी (हिमालय प्रेस, बलिया) पृष्ठ ११०
४ वही ,, (,,) पृष्ठ ११०

वाचिक नीति

सन्त-काव्य में वाणी के प्रयोग के विषय में बहुत ही मार्मिक तथा काम की बातें कही गई हैं। जैसे न तो वाचालता हितकर है और न मौन। अवसरानुसार मधुर भाषी या मौनी तो होना चाहिये परन्तु कटु भाषी कदापि नहीं। अहंकार को त्याग कर ऐसी वाणी बोलनी चाहिए जिससे अपना मन शीतल हो और श्रोताओं को सुख। मधुर वचन औषध-सदृश होते हैं और कटु शब्द तीर-तुल्य। वे प्रविष्ट तो कर्ण-पथ से होते हैं परन्तु प्रभावित सकल शरीर को करते हैं। संसार में जिह्वा का रस सर्वोत्तम है। गाली का उत्तर गाली से न देना चाहिए। आत्म-श्लाघा और पर-निन्दा समान रूप से त्याज्य हैं। सन्तों ने आत्म-संस्कार के लिए पर-निन्दा का तो प्रतिषेध किया है परन्तु अपनी उदारता के कारण निन्दक को बुरा न कहकर उसकी प्रशंसा की है। उसके दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की है और उसकी मृत्यु पर अश्रुपात किया है। कारण, निन्दक हमारा अपकारी नहीं उपकारी है। हममें दोष होंगे तो निन्दक के शब्दों से प्रभावित होकर हम उनके परिहार का प्रयत्न करेंगे। इन कवियों ने सत्यभाषण को सर्वोत्तम तप और मृषाभाषण को निकृष्टतम पाप कहा है। सत्यवादी के हृदय में ही प्रभु विराजते हैं दूसरों के मन में नहीं। सज्जन वही है जिसकी कथनी और करनी में सामंजस्य हो। लोग सच्चे कथित पर तो विश्वास नहीं करते परन्तु झूठे पर कर लेते हैं। और सबसे बढ़कर वाणी का सदुपयोग है नाम के जाप में जिस के बिना जीवन ही निरर्थक है। उदाहरणार्थ—

मधुर वचन है औषधि कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल शरीर॥[1] (कबीर)
बोली बोल आपड़ा (रे) मिठड़ा बोलै बैन।
चार हमारा ले चल (प्रभु) बढ़िहारा को बैन।[2] (बषना)
सपनेहु में बर्राइके धोखेहु निकरै नाम।
वाके पग की पैंतरी, मेरे तन को चाम॥[3] (कबीर)

मानसिक नीति

उन दिनों न हिन्दुओं में पंडितों की कमी थी न मुसलमानों में उलमा की। परन्तु उनकी विद्या मनुष्यों को प्रेम-पूर्वक रहना न सिखा सकी। दोनों एक दूसरे के धर्म और संस्कृति को बुरा-भला कहने में मग्न रहते और अपने ही धर्म की श्रेष्ठता

---

१ कबीर वचनावली, पृष्ठ ११२।४८९
२ बषना जी की वाणी (जयपुर, सं० १९९६) पृष्ठ ६७
३ कबीर वचनावली पृष्ठ १०१४८०।। और भी देखें मन्मथुदास रज्जब की वाणी, पृ० २ १ कबीर वचनावली पृष्ठ ११७।२९९ १९२।५०४

प्रतिपादित करते थे। यद्यपि सन्त लोग सदाचारी और अध्यात्मी थे तथापि विधिवत विद्वान् न थे। इसलिए धार्मिक कसहों से कोसों दूर सन्तों की वाणी में यदि विद्या का महत्त्व उसकी उपलब्धि के साधन, विद्वानों की प्रशंसा आदि नहीं मिलती तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं। उन्होंने वेद, कुरान पुराण की उपेक्षा की है और सबद साखी की प्रशंसा। संस्कृत जन-साधारण के लिए दुर्बोध हो चुकी थी इसलिए उन्होंने प्रचलित भाषा की स्तुति की है। जो लोग विविध विषयों के ग्रन्थों के अध्ययन और वाद-विवादों में रत रहते थे, उन लोगों को इन्होंने आड़े हाथों लिया है। वे लोग विवेक और बुद्धि पर तो बल देते थे परन्तु वास्तविकता का विवेक और सचित से कारण-कार्य का सम्बन्ध मानने को उद्यत न थे। कुछ उदाहरण देखिये—

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये, लिखि लिखि भए जो ईंट।
कबिरा अन्तर प्रेम की लागी नेक न छींट॥[1] (कबीर)
वेद सु बानी कूप जल, दुख सूं प्रापति होइ।
सबद साखि सरवर सलिल सुख पीवै सब कोइ॥[2] (रज्जब)

धार्मिक नीति

सन्तों के नीतिकाव्य में धार्मिक नीति का स्थान सर्वोच्च है। आत्मा के मलिन रहते हुए परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है इसलिए सन्तों ने धार्मिक पवित्रता पर बहुत अधिक लिखा है। आत्मा को कलुषित करने वाले दोष हैं— काम क्रोध लोभ, मोह, अहंकार मात्सर्य छल आदि। इसलिए प्रत्येक सन्त ने अनेक दोहों पदों आदि में उक्त दोषों से पृथक रहने की मन और इन्द्रियों को वश में रखने की तथा शील, क्षमा, धैर्य सन्तोष निष्कपटता आदि गुणों को ग्रहण करने की प्रबल प्रेरणा की है। मनुष्य का सम्मान गुणों से होता है, कुलीनता आदि से नहीं। गुणी व्यक्ति को निवास भी गुणग्राहकों में करना चाहिए, अगुणज्ञों में नहीं क्योंकि मूर्खों में निवास से न गुणों का विकास होता है न धन-मान आदि की प्राप्ति। भाव-विकास धार्मिक मार्ग के तीव्र कण्टक हैं इसलिए उनके परिहार की शिक्षा भी स्थान-स्थान पर दी गई है। यथा—

शीश को धनुष सनेह का जनकपुर सन्त की जानकी ब्याहु कीता॥
धर्मही तुम्हरा बने भाप रघुनाथ जी, ज्ञान के मौर सिर बाँध लीता।
प्रेम बारात जब चली है धर्मीनि के किया विश्राम जनवास दीता।
सुभ सहकार के मान को मर्दि के, धीरता धनुष को नाम जीता॥[3] (पलटू)

---

१ कबीर वचनावली, पृष्ठ १३३।४१६
२ संत सुधासार, पृष्ठ ५१९
३ सन्त सुधासार, खण्ड, २ पृष्ठ २७३।११

गर्व के प्रकारों उनके परिणामों तथा मृत्यु से उन सबके चूर्ण होने का उल्लेख चरणदासजी ने इस प्रकार किया है—

रूपवंत गरबावे। कोई मो सम दृष्टि न आवे।
तपस्या गरबाना। यह संपदा होय रामा।
कहै धनमद में गरबीना। सब मेरे ही आधीना।
कहै कुल अभिमानी फूला। मैं सब जातिन में ऊंचा॥
कहै विद्या गर्व जो भारी। कर वाद विवाद उचारी।
अब भूप करै अभिमाना। जग आप ही कू जाना॥
जन दास नहीं पहिचाना। सो मार करै यमराना॥[1] (चरणदास)

पारिवारिक नीति—

कबीर नानक शेखफरीद गरीबदास दपना दरिया साहब (बिहारी) आदि कई सन्त गृहस्थ थे तो रज्जब सुन्दरदास चरणदास सहजो-बाई आदि विरक्त। जो गृहस्थ वेष में रहते थे वे भी मन से विरक्त ही थे किसी भी सम्बन्धी से मोह रखना अनुचित समझते थे। वस्तुतः तो इनकी नीति यही थी—

'कबीर' सुमिरण सार है और सकल जंजाल'

सकल संसार को ही जंजाल मानने वाले सन्त घर-गृहस्थी का मोह मिटाने की बात कहें तो कोई आश्चर्य नहीं—

ग्रिह जिनि जाणो रूड़ो रे।
कंचन कलस उठाइ ले मंदिर, राम कहै बिन धूरो रे॥[2] (कबीर)

परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये गृहस्थ-त्याग का उपदेश नहीं देते मन को अनासक्त रखने की ही प्रेरणा करते हैं। इनके विचारानुसार उदार गृही उतना ही श्रेष्ठ है जितना विरक्त साधु—

बैरागी बिरकत भला गिरही चित्त उदार।
दुहु चूकां रीता पड़ै ताकूं वार न पार॥[3] (कबीर)

पिता माता, पुत्र कलत्रादि से सम्बन्ध तो दैववश हो गया है परन्तु वस्तुतः अपना कोई भी नहीं सभी स्वार्थी प्रतीत होते हैं। सच्चा सम्बन्धी तो केवल भगवान् है। कबीरजी का कथन है—

---

१ सन्त सुधासार, खण्ड, २ पृष्ठ १७७।१६
२ सं० श्यामसुन्दरदासःकबीर ग्रंथावली (ना० प्र० स० काशी १६४७ ई०) प० ५
३ " पृ० ११५
४ " " " पद २७।६।

किसका भर्ता भ्राता पुनि किसका किसका पंगुड़ा जोई ।
यहु संसार बजार मंड्या है जानेगा जन कोई ।।[1]

गुरु नानकदेव जी को भी संसार में कोई सच्चा दिखाई नहीं देता । दारा मित्र, पुत्रादि सम्बन्धी सुख के ही साथी हैं—

या जग मीत न देख्यो कोई ।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो दुख में संग न कोई ।।
दारा मीत पूत सम्बन्धी सगरे धन सों लागे ।
जब ही निरधन देख्यो नर को संग छाड़ि सब भागे ।।[2]

अनन्य भक्ति के प्रसंग में सन्तों ने जो साखियाँ पद आदि लिखे हैं उनसे पातिव्रत की प्रशंसा सती होने वाली नारी की स्तुति तथा व्यभिचारिणी की निन्दा सुन्दर रूप से व्यंजित होती है। जैसे—

पतिबरता पति को भजै और न आन सुहाय ।
सिंह बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय ।।[3] (कबीर)

सच्ची पतिव्रता वही है जो पति-गृह में दुःख सहर्ष सहने परन्तु पर-पुरुष से प्राप्य सुखों की ओर आँख उठाकर भी न देखे—

रंक होय तो पीव को आन पुरुष तिय भूप ।
छांह बुरी पर घरन की, अपनी भली जु धूप ।।[4] (चरनदास)

रज्जब जी की दृष्टि में दीन-दुःखिनी विधवा की अपेक्षा दृढ़ संकल्प-पूर्वक सती हो जाने वाली स्त्री कहीं सुन्दर है—

'रज्जब' कायर कामिनी, रही विधवा के रूप ।
सती चली सरि चढ़न कूं पहिरि पटंबर अंग ।।[5]

गार्हस्थ्य में प्रविष्ट होने वाले व्यक्तियों को अपने साथी के वय का विशेषरूप से विचार कर लेना चाहिए क्योंकि दोनों तरुण हों तो भलीभाँति निर्वाह होता रहता है परन्तु जब कोई वृद्ध युवति का पाणिग्रहण कर लेता है तब उसे दबकर ही रहना पड़ता है—

होत तरुन के तरुनि बसि, बिरध तरुनि बसि होइ ।
इहै रीति सब जगत की जानत है सब कोइ ।।[6] (गुरु गोविन्दसिंह)

---

१ , १२०।१०२।।
२ गंगाप्रसाद : हिन्दी के कवि और काव्य (१९३९ ई०) पृष्ठ ७०।।
३ कबीर वचनावली पृष्ठ ११८।२५०।।
४ संतसुधासार खण्ड २ पृ० १२६।७।।
५ संतसुधासार खण्ड १ पृष्ठ ४९७
६ गुरु गोविन्दसिंह : दशमग्रन्थ (अमृतसर २०१३ वि०) पृ० ८२।१६

सामाजिक नीति

सन्तकाव्य में पारिवारिक नीति की न्यूनता सामाजिक नीति की प्रचुरता द्वारा दूर कर दी गई है। सन्तों ने सामान्य जन साधु, पाखंडी वेष पूजन वर्ण-जाति हिन्दू-मुसलमान खान-पान छूत-छात स्त्री परनारी गुरु-शिष्य पंडित-मूर्ख पड़ोसी अतिथि सग-कुसंग प्रभृति विषयों पर, अपनी अनुभूति के आधार पर, पर्याप्त और सुन्दर लिखा है।

सामान्यजन

इनका मत है कि सामान्य जन प्रायः कृतघ्न तथा स्वार्थी होते हैं। लोग सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य मानते हैं। सत्यनिष्ठ व्यक्ति उनकी मिथ्या मान्यताओं में विघ्न डालने का प्रयास करते हैं, अतः वे उनके प्राण तक लेने पर उतर आते हैं। वे धार्मिक सदाचारी परोपकारप्रिय जनों को भी कलंकित करने में संकोच नहीं करते। अतएव उनके अपवाद की अवहेलना करना अनुचित है। यद्यपि लोग तो उक्त दोषों से युक्त हैं ही तो भी मानव-सेवा सर्वोच्च धर्म है और उससे विमुख होना मनुष्यता से ही च्युत होना है। उदाहरणार्थ—

साँच कहूँ तो मारिहैं झूठे जग पतियाय।
ये जग काली कूकरी जो छेड़े तो खाय ॥[1] (कबीर)
'दादू' दरिये लोक थें, कैसी परें उपाइ।
अनदेखी अजगब की, ऐसी कहैं बनाइ ॥[2]
हरि भजि साफिल जीवना पर उपगार समाइ।
'दादू' मरणा तहं भला जहं पसु पंखी खाइ ॥[3]।

साधु-पाखण्डी

ज्ञान परोपकार और मन वाणी तथा कर्म में साम्य ही साधुत्व का मुख्य लक्षण है। जिसके विचार वचन और कार्य में वैषम्य हो वह और कुछ भले ही हो जाए, सन्त नहीं हो सकता। सन्तों ने देखा कि अधिकतर लोग सन्तों और महन्तों का वेष धारणकर निरीह जनता की प्रवंचना कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने जहाँ सन्तों के लक्षण कर्त्तव्यादि का निरूपण किया वहाँ पाखंडियों से बचाव के लिए लोगों को सतर्क भी किया। सन्तों की सहिष्णुता तथा परोपकारिता का प्रतिपादक पलटूदास का यह सुन्दर पद द्रष्टव्य है—

सन्त सासना सहत हैं जैसे सहत कपास।
जैसे सहत कपास नाय चरखी में ओट।

---

१ कबीरवचनावली, पृ० १४६।४ ६०२
२ सन्तदादू और उनकी वाणी पृ० १३२
३ सन्त दादू और उनकी वाणी,पृष्ठ १३०।।

किसका भाई बाप पुनि किसका किसका पंगुरा जोई।
यहु संसार बजार मंड्या है जानैगा जन कोई॥[1]

गुरु नानकदेव जी को भी संसार में कोई सखा दिखाई नहीं देता। दारा मित्र, पुत्रादि सम्बन्धी सुख के ही साथी हैं—

या जग मीत न देख्यो कोई।
सकल जगत अपने सुख लाग्यो दुख में संग न कोई॥
दारा मीत पूत सम्बन्धी सगरे धन सों लागे।
जब ही निरधन देख्यो नर को संग छाड़ि सब भागे॥[2]

अनन्य भक्ति के प्रसंग में सन्तों ने जो साखियाँ पद आदि लिखे हैं उनसे पातिव्रत की प्रशंसा सती होने वाली नारी की स्तुति तथा व्यभिचारिणी की निन्दा सुन्दर रूप से ध्वनित होती है। जैसे—

पतिबरता पति को भजै, और न आन सुहाय।
सिंह बचा जो लंघना तो भी घास न खाय॥[3] (कबीर)

सच्ची पतिव्रता वही है जो पति-गृह में दुख सहर्ष सहले परन्तु पर-पुरुष से प्राप्य सुखों की ओर आँख उठाकर भी न देखे—

रंक होय तो पीव को, आन पुरुष शिव रूप।
छांह बुरी पर भवन की अपनो भली जु धूप॥[4] (चरनदास)

रज्जब जी की दृष्टि में दीन-दुःखिनी विधवा की अपेक्षा दृढ़ सकल्प-पूर्वक सती हो जाने वाली स्त्री कहीं स्तुत्य है—

'रज्जब' कायर कामिनी, रही बिपत के संग।
सती चली सरि सहज सू, पहरि पटंबर अंग॥[5]

गार्हस्थ्य में प्रविष्ट होने वाले व्यक्तियों को अपने साथी के वय का विशेषरूप से विचार कर लेना चाहिए क्योंकि दोनों तरुण हों तो भलीभाँति निर्वाह होता रहता है परन्तु जब कोई वृद्ध युवति का पाणिग्रहण कर लेता है तब उसे दबकर ही रहना पड़ता है—

होत तरुन के तरुनि बसि बिरध तरुनि बसि होइ।
यहै रीति सब जगत की, जानत है सब कोइ॥[6] (गुरु गोविन्दसिंह)

---

१ ,, ,, ,,१२०।१०२॥
२ श्यामसुन्दरदास: हिन्दी के कवि और काव्य (१९३८ ई०) पृष्ठ ७०॥
३ कबीर वचनावली, पृष्ठ ११८।१४०॥
४ संतसुधासार खण्ड २ पृ० १२६।७॥
५ संतसुधासार खण्ड १ पृष्ठ ५९७
६ गुरु गोविन्दसिंह: दसमग्रन्थ (सम्वत् २०१३ वि०) पृ० ८१।६६

सामाजिक नीति

सन्तकाव्य में पारिवारिक नीति की न्यूनता सामाजिक नीति की प्रचुरता द्वारा दूर कर दी गई है। सन्तों ने सामान्य जन, साधु, पाखंडी, वेष, दुर्जन, वर्ण-जाति, हिन्दू-मुसलमान, याचक, छुआ-छूत, स्त्री, परनारी, गुरु-शिष्य, पंडित-मूर्ख, पड़ोसी, अतिथि, सत्संग-कुसंग प्रभृति विषयों पर, अपनी अनुभूति के आधार पर, पर्याप्त और सुन्दर लिखा है।

सामान्यजन

इनका मत है कि सामान्य जन प्रायः कृतघ्न तथा स्वार्थी होते हैं। लोग सत्य को मिथ्या तथा मिथ्या को सत्य मानते हैं। सत्यनिष्ठ व्यक्ति उनकी मिथ्या मान्यताओं में विघ्न डालने का प्रयास करते हैं अतः वे उनके प्राण तक लेने पर उतर आते हैं। वे धार्मिक, सदाचारी, परोपकारप्रिय जनों को भी कलंकित करने में संकोच नहीं करते। अतएव उनके अपवाद की अवहेलना करना अनुचित है। यद्यपि जीव तो उक्त दोषों से युक्त हैं ही तो भी मानव-सेवा सर्वोत्तम धर्म है और उससे विमुख होना मनुष्यता से ही च्युत होना है। उदाहरणार्थ—

सांच [illegible] तो मारिहिं, झूठे जग पतियाय।
ये जग काली कूकरी, जो छेड़े ता खाय॥[1] (कबीर)
'दादू' रहिये लोक में, कैसी परे उपाइ।
अपदेसी अजगर की, ऐसी कहि बनाइ॥[2]
हरि भजि साफिल जीवना पर उपगार समाइ।
'दादू' मरणा तहं भला जहं पशु पंखी खाइ॥[3]

साधु-पाखण्डी

ज्ञान, परोपकार और मन, वाणी तथा कर्म में साम्य ही मनुष्य का [illegible] लक्षण है। जिसके विचार, वचन और आचरण में वैषम्य हो वह और कुछ [illegible] पाए, सन्त नहीं हो सकता। सन्तों ने देखा कि [illegible] वेष धारणकर निरीह जनता की प्रवंचना कर रहे हैं। [illegible] सन्तों के लक्षण, कर्तव्यादि का निरूपण किया वहां पाखंडियों के [illegible] भी किया। सन्तों की सहिष्णुता तथा परोपकारिता [illegible] सुन्दर पद द्रष्टव्य है—

संत सासना सहत हैं जैसे [illegible]।
[illegible] सहत [illegible] भार [illegible] में [illegible]।

---

१ कबीरवचनावली पृ० १४६।२६०४
२ सन्तदादू और उनकी वाणी पृ० १३२
३ सन्त दादू और उनकी वाणी, पृष्ठ १३०॥

कई बार कप तुमे हाथ से बोउ निमोट ॥
रोम रोम पलगाय पकरि के मुनिया धुमी ।
पिजनो मधु में कात पुत से बुल्हा भूमी ।
जोषी मट्टी पर धरी, कुम्बीमार पुपारी मारी ।
धरमी टूक टूक फारि जोरि के किया तयारी ॥
पर स्वारथ के कारने दुख सहै 'पलटूदास' ।
संत सासना सहत हैं पास सहत कपास ॥[1]

परन्तु इस प्रकार के सन्त संसार में वैसे ही विरल होते हैं जैसे सिंहों के समूह, हंसों की पंक्तियाँ और रत्नों की बोरियाँ।[2] यदि ऐसे सन्त सौभाग्य से कहीं दिखाई पड़े तो वे सर्वथा सम्मान्य हैं। उनके विषय में जाति-पाँति का विचार करना बुद्धि-हीनता है—

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ॥[3] (कबीर)

परन्तु जिन लोगों ने साधुत्व को सम्पत्ति-संग्रह का साधन बना लिया है, उन पर पलटूजी ने तीखा व्यंग्य करते हुए कहा है—

पगरी धरा उतारि टका दस साठ का ।
मिला दुसाला पाय रुपया साठ का ।
पीढ़ धरे कछु देहिं मुंड़ाये मूंड़ के ।
(अरे हाँ पलटू) ऐसा है व्यापार कीजिए ढूंढ़ के ॥[4] (पलटूदास)

इसी प्रसंग में सन्तों न उन लोगों की भी खूब खबर ली है जो विविध व्यसनों में लिप्त कुकर्मी और प्रभु-विमुख पापाचारियों को भी पूज्य और सम्मान्य मानते हैं—

चौसठ चौप छिनारो तमाखू हि स्याम अफीम रहे रंग भीना ।
कर्म अधर्म कर फेर कुकर्म कुपन्थ चलम सूं होय नवीना ॥
राम को नाम कह्यो चित च्यावत, काम के काम गुलाम अधीना ।
रामचरण ते भेष लजावत ऐसे कूं सत कहैं मतहीना ॥[5] (स्वामी रामचरण)

वर्ण जाति-पाँति

चिरकाल से वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप विकृत हो गया था। जो ब्रह्म-ज्ञान और वेद-ज्ञान से विहीन हो चुके थे वे भी ब्राह्मण माने जा रहे थे। जो वीरता से विरहित

---

१ सन्तसुधासार, खण्ड १, पृष्ठ ५२१॥
२ कबीरवचनावली, पृष्ठ १२२।१५७॥
३ " १२५।१६७॥
४ सन्तसुधासार, खंड १, पृष्ठ ५२७।६॥
५ स्वामी रामचरण: अणभै वाणी (शाहपुरा १९२५ ई०), पृष्ठ ६६॥

थे वे भी अपने को क्षत्रिय कहने में गर्व अनुभव करते थे। जो छल-कपट से युक्त व्यापार करते थे वे भी वणिक् कहाते थे और शूद्र तो नीच माने ही जाते थे। भाव यह कि गौरव का मानदंड गुणोपार्जन न रहा था वर्ग-विशेष में जन्म ही रह गया था। यह कुव्यवस्था वस्तुतः है ही ऐसी कि कोई भी सज्जन इसका विरोध किये बिना रह ही नहीं सकता। यही कारण है कि बौद्ध जैन सिद्धादि ने इसका प्रबल विरोध किया था। नवागन्तुक मुसलमानों में भी इस प्रकार का जन्ममूलक भेदभाव न था। बात वर्णों तक ही सीमित न रह गई थी क्योंकि प्रत्येक वर्ण में अनेक जाति-पाँतियाँ बन चुकी थीं जो एक-दूसरे से खान-पान तथा ब्याह-शादी का प्रतिषेध करती थीं। सन्तों ने इस सामाजिक अपथ्य पर प्रबल कुठाराघात करना अपना कर्तव्य समझा और योग्यता तथा सच्चरित्र को ही गौरव का आधार प्रतिपादित किया। उदाहरणार्थ—

(क) एक बूँद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोतिथ सब उतपना कौन बाह्मन कौन सूदा ॥[1] (कबीर)

(ख) ब्राह्मण सो जो ब्रह्म पिछाने बाहर जाता भीतर आने।
पाँचों बस करि झूठ न भाखे, दया जनेऊ अन्तर राखे।[2] (चरणदास)

(ग) क्षत्री ब्राह्मन सूद बैस की जाति पूछि नहिं लेता बासा।[3] (नामदेव)

हिन्दू मुसलमान

हिन्दू मुसलमान अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता के अभिमान से अन्धे हो रहे थे और एक-दूसरे से घृणा करते थे। हिन्दू तिलक लगाते माला फेरते प्रतिमा-पूजन करते और यज्ञोपवीत पहनते थे। मुसलमान मस्जिद में उच्च स्वर से बांग देते रोजे रखते और पश्चिमाभिमुख नमाज़ अदा करते थे। परन्तु उनमें इतनी बुद्धि कहाँ थी कि राम और रहीम को कृष्ण और करीम को काबा और काशी को एक समझते! बाह्याडंबरों में फँसे हुए लोग धर्म के आन्तरिक या वास्तविक तत्त्व से शून्य थे। इन सन्तों ने निर्भीकतापूर्वक दोनों के दम्भ का डंके की चोट से खंडन किया और सद्धर्म-निरूपक सहमत का प्रचार किया। जैसे—

(क) वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए।
कोइ हिन्दू कोइ तुरक कहावै, एक जमीं पर रहिए ॥[4] (कबीर)

(ख) ब्राह्मन तो भये जनेऊ को पहिरि कै, बाह्मनी के गले कछू नाहिं देखा।
आधी पूछिनि रहे घर दे बीच में, करो तुम ख्याह यह कौन लेखा।

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०९।२७॥
२ सं० वियोगी हरि सन्तवाणी (दिल्ली, १९५८ ई०), पृष्ठ ७१
३ „ „ „ „ „ „ „ „ ६७
४ कबीर वचनावली पृष्ठ १०८

सेख की सुन्नति से मुसलमानी भई सिवानी को नाहिं तुम कही सेखा।
पानी हिन्दुरूमि रही घर के बीच में पलटू सब बूझन के भाव मेवा ॥[1]

(पलटूदास)

(ख) दोनों भाई हाथ-पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान ॥[2] (दादूजी)

छूत-छात

सन्तों के समय में छूत-छात ने इतना घृणित रूप धारण कर लिया था कि उच्च-कुलीन हिन्दू तथाकथित अस्पृश्य जातियों के स्पर्शमात्र से अपने को अपवित्र मानने लगते थे। चौके-चूल्हे की पवित्रता का इतना अधिक ध्यान रखा जाता था कि न कोई किसी की पकाई हुई रोटी खाता था और न हाथ से छुई हुई। सार यह कि स्वच्छता का स्थान अन्धविश्वास ने ले लिया था। सन्तों ने इस बाह्याडम्बर का खंडन कर आन्तरिक पवित्रता का अनुरोध किया। उनके मत में तो उन्हीं से सम्पर्क वर्जित है जो माया में लिप्त हैं अन्य लोगों से नहीं।[3]

एकै पवन एक ही पानी, करी रसोई न्यारी जानी।
माटी सूं माटी ले पोती लागी कहौ कहां थूं छोती ॥
धरती लीपि पवित्र कीन्हीं छोति उपाय लीक बिचि दीन्हीं।
या का हम सूं कहौ बिचारा, क्यूं भव तिरिहौ इहि आचारा ॥[4]

स्त्री

भक्ति के मार्ग में यदि पुरुषों के लिए स्त्री कटक रूप है तो स्त्रियों के लिए पुरुष भी पुष्प रूप नहीं है। परन्तु अधिकतर सन्तकाव्य पुरुष प्रणीत है स्त्री रचित नहीं। कदाचित् यही कारण है कि सन्तकाव्य में स्त्रियों को तो पानी पी-पी कर कोसा गया है परन्तु पुरुष की पुरुष रूप में निन्दा दृष्टिगोचर नहीं होती। सहजोबाई और दयाबाई स्त्रियां थीं परन्तु उन्हें भी सम्भवतः पुरुष (चरणदास जी) की शिष्याएँ होने के कारण पुरुषों के विरुद्ध कुछ लिखने का साहस नहीं हुआ। अस्तु, सन्तों के मत में स्त्री सूली से भी अधिक घातक और काली नागिन से भी अधिक विषैली है। मर्द वही है जो कामिनी तथा कनक के प्रभाव से अपने को बचा सकता है। स्त्री को चित्त भले ही दिया जाए परन्तु चित्त कभी न देना चाहिए क्योंकि वह सच्चा प्रेम नहीं करती। स्त्री चरित्र अत्यन्त दुर्बोध है और स्त्री से प्रेम करने वाले महामूर्ख होते हैं। जैसे—

---

१ सन्त सुधासार पृष्ठ ५४९-४१
२ सन्त बानी पृष्ठ ६६
३ सन्तबानी पृष्ठ १४७
४ कबीर [illegible]

सुंदरि थे सूली भली, बिरला बंचै कोइ।
लोह निहाला अगनि मैं, जलि बलि कोइला होय ॥[१]　　(कबीर)
दादू कनक अरु कामिनी, परिहरि इन का संग।
दादू सब जग जलि मुवा, ज्यौं दीपक ज्योति पतंग ॥[२]　(दादू)
जे स्याने हूँ जगत मैं तिय सों करत पियार।
ताहि महा जड़ समुझिये, चित भीतर निरधार ॥[३]

यह स्मरण रहे कि 'कामी नर' की तो निन्दा सन्तों ने की है[४] परन्तु नर-मात्र की नहीं। हाँ, कहीं इसी ख्याल से सकाम स्त्री-पुरुष दोनों को ही दूषित ठहराया है—

नर नारी सब नरक हैं, जब लग देह सकाम।
कहै कबीर ते राम के, जे सुमिरैं निहकाम ॥[५]

परनारी

परदाराभिगमन अत्यन्त अनैतिक कार्य है क्योंकि इससे जहाँ पारिवारिक पवित्रता भग्न होती है वहाँ सामाजिक मर्यादा विध्वस्त। सच तो यह है कि इससे पुलिस कार्य ढूंढे ही मिलेगा। इसलिए यदि नारी-मात्र को निन्द्य कहने वाले सन्तों ने परदाराभिगमन का प्रबल निषेध किया है तो कोई आश्चर्य नहीं। नामदेव जी परधन तथा परकलत्र के परिहार को प्रभुप्राप्ति का प्रमुख साधन मानते हैं और कबीर साहब व्यभिचार को सर्वनाशोन्मुख—

परधन पर-दारा परिहरी। ताके निकट बसहि नरहरी ॥[६]　(नामदेव)
परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खाहिं।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जाहिं ॥[७]　(कबीर)

गुरु-शिष्य

जो सन्त लौकिक विद्याओं को ही महत्त्व न देते थे वे उनके शिक्षक पंडितों और विद्वानों को पूज्य क्यों मानते? हाँ जो आध्यात्मिक गुरु मनुष्यों को देवता बनाने तथा प्रभु का साक्षात्कार कराने में समर्थ थे उनकी इन्होंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उन्हें लोकोत्तर व्यक्ति कहने मात्र से इन्हें सन्तोष न होता था इसलिए इन्होंने उन्हें परमात्म-रूप और कहीं-कहीं तो ब्रह्म से भी बड़ा बता दिया है। प्राचीन मान्यता

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४०।१६ ॥
२ सन्त सुधासार, खण्ड, १, पृष्ठ ५०१।१२ ॥
३ प्रथम ग्रन्थ, पृष्ठ ८३८।१४ ॥
४ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३६ ४१
५ „ „ „ ३८
६ संत सुधासार, खण्ड १, पृष्ठ २४
७ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ [illegible]

चली आती है कि गुरु को ज्ञान माने और प्राप्त कर लेने पर कुछ भी ज्ञातव्य और प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। यही कारण है कि सन्तों ने गुरु को कल्पतरु, कामधेनु आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। गुरु के चुनाव में शिष्य को विशेष सावधानता से काम लेना चाहिए क्योंकि जहाँ सद्गुरु शिष्य को लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होता है, वहाँ कन-फूँका गुरु उसके जीवन को ही नष्ट कर देता है। गुरु योग्य हो तो शिष्य के ज्ञान का उसके दर्शन-मात्र से भी उपचय होता रहता है। शिष्य तो ऐसा होना चाहिए कि गुरु पर सर्वस्व न्योछावर करने में भी संकोच न करे और गुरु ऐसा कि शिष्य की श्रद्धा-भावना से ही सन्तुष्ट रहे, लोभ का उन्मेष तक हृदय में न होने दे। जहाँ शिष्य का पात्रत्व देखकर ज्ञान देना गुरु का कर्तव्य है वहाँ अविनीत शिष्य को तर्जना ताड़ना द्वारा विनीत बनाना भी उसी का कार्य है। ऐसे अवसरों पर गुरु के सम्मुख बोल पड़ना या रूठ कर अन्यत्र प्रस्थान करना सच्छिष्य का काम नहीं। अस्तु, इस विषय के दो-चार पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय॥[1]

(ख) कन फूँका गुरु हद्द का, राम मिलावन और।
सो सतगुरु को जानिये, मुक्ति मिलावन ठौर॥[2] (चरनदास)

(ग) मार भली जो सतगुरु देहि। फेरि वचन औरें करि लेहि।
ज्यूँ माटी हूँ कुंभ कुंभार। त्यूँ सतगुरु की मार विचार॥
जैसा लोहा घड़ै लुहार। कूटि काटि करि लेवै सार।
त्यूँ रज्जब, सतगुरु का देश। तातैं सभी मार सब मेस॥[3]

बुद्धिमान् मूर्ख

यद्यपि साक्षरता से बुद्धि की वृद्धि होती है तथापि इस बात का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता कि निरक्षर व्यक्ति भी बुद्धिमान् और साक्षर भी मूर्ख हो सकते हैं। सन्तों ने जहाँ विद्या और विद्वानों की प्रेम-विमुख तथा विवादोन्मुख करने के कारण गर्हा की है वहाँ सुबुद्धि व्यक्तियों की स्तुति और कुबुद्धि लोगों की कुत्सा करने में भी वे पीछे नहीं रहे हैं। जैसे—

बिना बसीले चाकरी बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान का जोगना फिरै लगाए खेह॥[4] (कबीर)

---

१ कबीर वचनावली, पृष्ठ ११८॥
२ संतसुधासार खण्ड २ पृष्ठ १७१।१॥
३ „ „ १, ५९२-२१॥
४ कबीर वचनावली, पृष्ठ १८७

मूरख को समझावते ज्ञान गाँठि को जाय ।
कोयला होय न ऊजरो, सौ मन साबुन लाय ॥[1] (कबीर)

सत्संग-कुसंग

मनुष्य सदा एकान्त नहीं रहता । उस के विचार, वाणी और कार्य संगति से प्रभावित होते रहते हैं । निर्बल संकल्प वाला व्यक्ति संगति से शीघ्र प्रभावित होता है तो दृढ़ संकल्प वाला कुछ विलम्ब से । ऐसे व्यक्ति तो दुर्लभ ही होते हैं जो चिरकाल तक सत्संग या कुसंग करने पर भी पूर्ववत् ही बने रहते हैं । इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का सन्तों ने भली भाँति अनुभव किया था और इसीलिए प्राय सभी सन्तों ने सत्संग में प्रवृत्त होने तथा कुसंग का परिहार करने की प्रबल प्रेरणा की है । उन का मत है कि सत्संग से दुःख दूर होते हैं और कुसंग से प्राप्त । सत्संग में रहते हुए जौ की भूसी प्राप्त हो तो अच्छी परन्तु कुसंग में रह कर मिष्टान्न भोजन भी बुरा । जब तक सत्संग न हो तब तक तीर्थ यात्रा भी निष्फल है और जीवन भी । कुसंगति से बचने वाला माथा नहीं धुनता । मनुष्य को तभी सचेत होना चाहिए जब वह कुसंगति में पड़ने लगे क्योंकि जब कुसंग का रंग पर्याप्त चढ़ जाता है तब अनेक उपायों से भी दूर नहीं होता । उन्हीं लोगों की संगति करनी चाहिए जिनके विचार समान हों क्योंकि विभिन्न विचार वालों की संगति का चिरकाल तक निर्वाह असम्भव है । कुछ उदाहरण लीजिए—

कबिरा संगत साधु की जौ की भूसी खाय ।
खीर खांड भोजन मिले साकट संग न जाय ।
कबिरा खाई कोट की, पानी पिवै न कोय ।
जाय मिलै जब गंग से सब गंगोदक होय ॥[2]
हंसा कौवा ना बनै जाके दोय विचार ।
हंसा मुक्ताहल चुगै, वे विष्ठा भोजनहार ॥[3] (रामचरण)

पड़ोसी

सामाजिक दृष्टि से हमारा जितना सम्बन्ध प्रतिवेशी से होता है उतना सगे संबंधियों से भी नहीं । प्रतिवेशी से सम्बन्ध अच्छे हों तो जीवन अधिक सुखी बन जाता है और यदि मनमुटाव हो तो जीवन की शान्ति भंग हो जाती है । पल्टू साहब का मत तो यह है कि यदि पड़ोसी से प्रतिदिन कलह हो तो मकान को छोड़ कर अन्यत्र चले जाना अच्छा नित्य की खटपट बुरी ।[4] स्वामी रामचरणजी की नीति यह है कि मनुष्य को बहुआरम्भी न होना चाहिए । इसकी गृहस्थी का भार ही दुर्वह होता है इसलिए पड़ोसी

---

१ कबीर वचनावली पृष्ठ १४८॥

२ ,, ,, । १२६।१०४ १२६।३०८॥

३ स्वामी रामचरण अणभैवाणी (सन् १९२४), पृष्ठ २३॥

४ [illegible]सागर, पृष्ठ २११।१२॥

का भार भी अपने सिर पर लेना नीतिमत्ता नहीं।[1] कबीर साहब का विचार है कि पानी छान कर पीने की अपेक्षा पड़ोसी से प्रेमपूर्वक व्यवहार करना अधिक अच्छा है। कारण, जल छानने से तो तुच्छ कीटाणुओं की ही रक्षा होती है परन्तु पड़ोसी से रुष्ट होना प्रतिक्षण अपनी ही हानि करना है और सामान्य कीटाणुओं से मानव-जीवन कहीं मूल्यवान् है।

पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हांणि।
पंडित भए सरावगी पाणी पीवें छांणि॥[1] (कबीर)

इस प्रकार सन्तों ने कभी पड़ोसी से मांगने उसका भार सिर पर न लेने तथा उससे न रूठने की प्रेरणा तो की है परन्तु बाइबल की-सी 'तू अपने पड़ोसी से अपने ही समान प्रेम कर'[3] की प्रबल प्रेरणा इस काव्य में दिखाई नहीं देती।

अतिथि

अतिथि-पूजा को भारत में चिरकाल से परम कर्तव्य माना जा रहा है। मनु महाराज ने तो इसे गृहस्थों के परम धर्म रूप पंच महायज्ञों—ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ नृयज्ञ और पितृयज्ञ—में स्थान दिया है। उन्होंने नृयज्ञो—अतिथि पूजनम्[4] अर्थात् अतिथि पूजा को ही नृयज्ञ नाम दिया है और अतिथियों की अन्न से सेवा करने का विधान किया है।[5] यद्यपि सन्तों ने धन की कभी विशेष कामना नहीं की तथापि प्रभु से इतने वित्त की याचना की ही है जिससे से उनका अपना भी निर्वाह हो जाए और अतिथि को भी भूखा न जाना पड़े—

साईं इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय॥[1] (कबीर)

जिस घर में सच्चरित्र साधु-सन्तों का सम्मान नहीं होता उसे श्मशान और उस घर में रहने वालों को मानव नहीं भूत प्रेत समझना चाहिए—

जिहि घर साध न पूजिये, हरि की सेवा नांहि।
ते घर मड़हट सारषे भूत बसैं तिन मांहि॥[7] (कबीर)

शाक्त

ध्यान देने की बात है कि सन्तों ने हिन्दू-मुसलमानों को तो परस्पर समीप लाने का भरसक उद्योग किया है परन्तु शाक्तों से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद की ही प्रेरणा की

---

१ स्वामी रामचरण अणभै वाणी १०२।१७ २ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३५।१२
३ होली बाइबल, लैविटिकस अध्याय १९।१८
४ ५ मनु० ३।७० ३।८१
६ पं० रामनरेश त्रिपाठी कविता कौमुदी भाग १ (बम्बई १९५४ ई०) पृष्ठ १६०।६८
७ कबीर ग्रन्थावली १० ३३।१

है। कारण यह है कि सन्त तो सच्चरित्र को जीवन-चर्या में प्रमुख स्थान देते थे और शाक्तों का आचार-व्यवहार अत्यन्त गर्ह्य था। यही कारण है कि उन्होंने द्विज-कुल में उत्पन्न शाक्त ब्राह्मण के दर्शन को भी वर्ज्य कहा है और श्वपच-वंश में उत्पन्न वैष्णव को भी श्लाघ्य। जैसे—

साषत बांभण मति मिलै बैसनों मिलै चंडाल।
अंक माल दे भेटिये, मानौं मिले गोपाल॥[1] (कबीर)

दुष्ट

दुष्टों के विषय में सन्तों के विचार वीरगाथाकारों से सर्वथा विपरीत हैं। वीर कवि तो दुर्जनों को शस्त्रबल से सीधा करने की शिक्षा देते हैं[2] परन्तु सन्त-काव्य क्षत्रियों का काव्य नहीं भक्तों का काव्य है। वे परपीड़कों को सबसे जघन्य भी कहते हैं[3] और उसकी मृत्यु से पृथ्वी के भार का हल्का होना भी परन्तु उनका मत है कि सुसंगति से दुष्ट का प्रायः सुधार नहीं होता। सदुपदेश से वे संभलते नहीं और शस्त्र प्रहार की इनमें क्षमता नहीं इसलिए एक ही उपाय शेष रह जाता है कि उनसे दूर रहो और इसकी शिक्षा ये अनेक स्थलों पर देते हैं। जैसे—

दादू कीड़ा नरक का, राख्या चंदन मांहि।
उलटि अपूठा नरक में चंदन भावै नांहि॥[4]
आप भले तो सबहि भलो है, बुरा न काहू कहिये।
जाके मन कछु बसै बुराई तासों आपै रहिये॥[5] (मलूकदास)

आर्थिक नीति

यद्यपि सन्तों ने कामिनी के समान कंचन की भी तत्त्वतः कुत्सा ही की है तथापि अधिकतर सन्त स्वयं गृहस्थ होने के कारण उसे सर्वथा त्याज्य नहीं कह सके। उन्होंने परिश्रमपूर्वक वित्तोपार्जन करने वाले गृहस्थों को परान्न पर आश्रित सन्तों से अच्छा ही कहा है।[6] परन्तु इस बात का उन्होंने विशेष आग्रह किया है कि कमाई पुण्य की होनी चाहिए न छल-कपट की न कम तोल-नाप की।[7] उनकी रचनाओं में निर्धनता जन्य सामाजिक अनादर का भी कई स्थलों पर उल्लेख किया गया है।[8] यही कारण है

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ४३।१॥
२ प्रस्तुत प्रबन्ध का १२१पृष्ठ देखें।
३ संतसुधासार, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३१।५७
४ " प्रथम " ४६८
५ " दूसरा " ३३।४
६ " " " ९४८।७
७ " " " २३३।१८
८ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।११०

कि उन्होंने याचना को मृत्यु-तुल्य कहा है। यहाँ ध्यान करने की बात यह है कि अपने लिए याचना की निन्दा करते हुए भी परमार्थ के लिए माँगने को बुरा नहीं कहा गया। धन के उचित महत्त्व को स्वीकृत करते हुए भी उन्होंने वित्त-संचय का निषेध किया है। प्रभु पर विश्वास उन्हें इतना अधिक था कि धन-संग्रह की आवश्यकता न रहती थी। उन्हें प्रभु सर्वदा और सर्वत्र अपनी प्रेम-छाँव दिखाई देता था और उन्हें दृढ़ विश्वास था कि जो माँगेंगे मिल जायगा। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में सन्तोष की स्तुति बहुत की गई है। आज प्रत्येक तथाकथित सभ्य देश अपना जीवन-स्तर उन्नत करने की चिन्ता में व्यस्त दिखाई देता है। परन्तु सन्तों का विचार यह था कि जीवन-स्तर जितना उन्नत करने का उद्योग किया जायगा उतना ही समाज के नैतिक स्तर का पतन हो जायगा। इसलिए उन्होंने चुपड़ी और खारी रोटी पर सूखी और आधी रोटी को अधिमान दिया है।[1] ध्यान देने की बात है कि सन्त-काव्यों में वित्तार्जन पर उतना बल नहीं जितना दान-पुण्य पर। वे अनुभव करते थे कि लोग लोभ की लहर में स्वतः एव इतना अधिक बहे जा रहे हैं कि उन्हें धनोपार्जन की शिक्षा देना अनावश्यक है। परन्तु वे यह भी अनुभव करते थे कि लोग उपार्जित द्रव्य को अपनी ही सुख-सुविधाओं तथा विषयभोगों के लिए व्यय करते हैं, सत्कार्यों में उसका विनियोग नहीं करते। यही कारण है कि उन्होंने कृपणों की निन्दा की है और घर में धन बढ़ जाने पर उसे दोनों हाथों से दान करने की प्रेरणा।[2] दान करते समय पात्रापात्र का ध्यान रख लेने की नीति का भी उनके काव्यों में उल्लेख मिलता है। उक्त कथन के समर्थक कुछ पद्य अवलोक्य हैं—

धन-निन्दा

माया की झल जग जल्या, कनक कामिनी लागि।
कहु धौं किहि बिधि राखिये, रुई लपेटी आगि॥[3] (कबीर)

याचक-निन्दा

मरि जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने मोहिं न आवै लाज॥[4]

पाप की कमाई

ऊँची है दुकान या में फीके पकवान भरे,
पड़े हैं सिपाह सीस आँचे हलवाई है।
सूर की मिठाई बाप पेप सु कमाई,
नहीं भाव में भलाई भाव तोला सु पुराई है।

---

१ कबीर वचनावली, पृष्ठ १४८।६६७
२ " १४३।५७२
३ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३५।३२
४ कबीर वचनावली, पृष्ठ १४३।५८२

कपट कमाई सुधा खात हू न जाई
    राम सेत है कमाई जात चोर की कमाई है।
साच धरम पाई तोहो साच नहिं धाई,
    'रामचरण' राम बिना दुनी भरमाई है॥[1]

इतर-प्राणिविषयक नीति

दया क्षमा शीलादि के प्रचारक सन्तों की नीति इतर प्राणियों के प्रति भी उदार है। उन्हें गाय बकरी मुर्गी आदि में भी वैसे ही जीव की प्रतीति होती है जैसे मनुष्य में। इसीलिए सन्तों ने जीवमात्र की हत्या का निषेध किया है—

दया कौन पर कीजिए, कापर निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय॥[2]

सन्तों ने देखा कि हिन्दू बकरी आदि को तो हड़प कर जाते हैं परन्तु गौ को पूज्य मानते हैं और मुसलमान गौ-बकरी आदि को तो भक्ष्य मानते हैं परन्तु सूअर को अभक्ष्य। उनका मत यह था कि जब आत्माएँ सभी में एक-सी होती हैं तो एक का मारना पुण्य क्यों और दूसरे का पाप क्यों? इसीलिए उन्होंने सभी को मांस-मात्र के परित्याग की प्रेरणा करते हुए कहा—

क्या बकरी क्या गाय है, क्या अपनो जाया।
सबको लोहू एक है, साहिब फरमाया।
पीर पगंबर औलिया, सब मरने आया।
नाहक जीव न मारिये, पोषन को काया॥[3] (गुरु नानक)
पीर सबन की एक सी, मूरख जानत नाहिं।
कांटा चुभे पीर है, गला काटि को खाइ॥[4] (मलूकदास)

सन्तों की यह दया-भावना प्राणियों के प्राणापहरण के निषेध तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने तो उन लोगों की भी निन्दा की है जो बछड़ों को पूरा दूध भी ना पीन देते वृक्षों की हरी शाखाओं को विच्छिन्न करते हैं तथा अर्चा-पूजा आदि के लिए पत्र-पुष्प तोड़ने में संकोच नहीं करते। जैसे—

बछा दूध तत उपजी न दया, बछा बांधि बिछोह्यो मया।
ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यान बिचार कछू नहीं कीया॥[5] (कबीर)

---

१ रामचरण : अणभै वाणी, पृष्ठ १००।५
२ कबीर वचनावली, पृष्ठ १४१।२९८
३ गणेशप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी के कवि और काव्य (१९१९ ई०), पृ० ७०
४ वियोगी हरि : संतवाणी, पृ० ८१
५ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४४।४५

हरी डारि न तोड़िये, लागै छूरा बान ।
दास 'मलूका' यों कहै, अपना सा जिव जान ।।[1]

"भारत में चिरकाल से यह भावना प्रचलित है कि जिस पशु का मांस हम यहाँ खायेंगे वही पशु अगले जन्मों में हमारा मांस खायगा । 'मांस' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी बात की ओर इंगित करती है । "मां स" अर्थात् मुझको वह (खायगा) जिसे मैं अब खाता हूँ ।[2] इसी भाव की ओर संकेत सन्तकाव्य में भी प्राप्य है । जैसे—

कुछ खाना है खीचरी, जामें परा इक नोन ।
मांस पराया खाय कर गला कटावै कौन ।।[3]

मिश्रित नीति

सन्तों की मिश्रित नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—१-संसार, २ मृत्यु, ३—देश ४—काल, ५—भाग्य-पुरुषार्थ ६—गुरु ७—शकुन-ज्योतिष ८—भूत-प्रेत, ९—धर्म ।

संसार

सन्त-कवियों के मत में संसार निःसार त्याज्य है स्पृहणीय नहीं । यही तक नहीं, वे तो इसके वास्तविक अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करते हैं और इसे स्वप्न के समान मिथ्या मानते हैं । वे इसे सेमल के सुमन के सदृश आपातरमणीय कहते हैं । इसलिए उनकी दृष्टि में मन को कभी संसार में न लगाना चाहिए । जीवन में कुछ-न-कुछ तो प्रत्येक व्यक्ति करता ही रहता है, परन्तु विवेकी मानव वही है जो शरीर से बाह्य कार्य करता हुआ भी मन को महेश्वर में ही मग्न रखता है । सारांश यह कि मनुष्य को संसार में ऐसे ही अनासक्त रहना चाहिए जैसे मुख में जिह्वा । उदाहरणार्थ—

ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल ।
दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल ।।[4]
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं ।
घीव घना भक्षण करै, तो भी चिकनी नाहिं ।।[5] (चरनदास)

२ मृत्यु

मृत्यु सदा ही धर्मप्रचारकों का अमोघ अस्त्र रही है । इसी का स्मरण करा वे जन-साधारण को ईश्वरोन्मुख करते रहे हैं । सन्तों ने भी मृत्यु की अनिवार्यता भयंकरता

---

१ सन्तसुधासार खण्ड, २ पृ० १८।२०
२ मां स भक्षयिता अमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ।।(मनुस्मृति ५।५५)
३ कबीर वचनावली पृ० १४८।६१४
४ कबीर वचनावली, पृष्ठ १९८।४०६।।
५ संतसुधासार, खण्ड, १, ११७।८।।

आत्मस्थिरता आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख कर लोगों को विषयविमुख तथा परमार्थोन्मुख करने का उद्योग किया है। सन्तों ने इस बात पर तो आश्चर्य प्रकट किया है कि मनुष्य जीता कैसे रहता है, इस बात पर नहीं कि वह मरता क्यों है। उन की दृष्टि में तो जीवन झूठा है और निधन सच्चा। जहाँ उन्होंने सामान्य लोगों के लिए मृत्यु को भयंकर बताया है, वहाँ सन्तों के लिए आनन्ददायक, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् ही 'पूरन परमानन्द' की प्राप्ति होती है। अन्त-काल में पुत्र, पत्नी आदि सम्बन्धियों का स्मरण करने वाला मनुष्य विभिन्न नीच योनियों में जाता है।[1] किसी के कालकवलित होने पर रुदन क्रन्दन व्यर्थ है, इत्यादि नीतियाँ भी जहाँ-तहाँ उल्लिखित हैं। यथा—

चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आइके साबित बचा न कोय॥
जा मरने से जग डरै मेरे मन आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥[2] (कबीर)

देश

यों तो गंगा, यमुना आदि नदियों और काशी, हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थों की पावनता का भाव इस देश में चिरकाल से चला आ रहा है, तो भी इस भाव का प्रत्याख्यान करने वाले सिद्ध, नाथ आदि समय-समय पर आविर्भूत होते रहे। सन्तों ने भी तीर्थों की यात्रा से और नदियों में स्नानादि से निस्तार होने का प्रबल खण्डन किया है। इन के मत में तो सच्चे तीर्थ मानवीय मन में ही विद्यमान हैं और उन्हीं में स्नानादि से मनुष्य का कल्याण सम्भव है। जैसे चरणदासजी का एक पद है—

(क) घट में तीरथ क्यों न नहावो।
इत उत डोलत पचिपचि मरै ही भरमि भरमि क्यों जन्म गवावो।
सत जमुना संतोष सरस्वती गंगा धीरज धारो।
मूँड़ पटकि निर्मोह होम करि तब ही बोझ सिर सूँ डारो॥[3]
(चरणदास)

गरीबदास जी के मत में तो सन्तवाणी तथा निष्कपट साधुओं का समागम ही सच्चा तीर्थ-मज्जन है—

साहिब जिनके उर बसै झूठ कपट नहिं पग।
तिनका दरसन न्हान है कहँ परसो फिर पंग॥[4]

स्मरण रहे कि सन्तों ने तीर्थादि के खंडन में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं

१ पलटूसाहब भाग १ पृष्ठ ५२६॥
२ कबीर वचनावली पृष्ठ १३०।४१०, ११५।२५१।
३ सन्तसुधासार, खंड २ पृष्ठ १६०।१२
४ वियोगी हरि, सन्तवाणी, पृष्ठ १४१॥ और भी देखें 'वचनाजी की वाणी' पृष्ठ १०८।१

हरी डारि न तोड़िये, लागै छूरा बान।
दास मलूका यों कहै, अपना सा जिव जान॥[1]

भारत में चिरकाल से यह भावना प्रचलित है कि जिस पशु का मांस हम यहाँ खायेंगे वही पशु अगले जन्मों में हमारा मांस खायगा। 'मांस' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी बात की ओर इंगित करती है। "मां स" अर्थात् मुझको वह (खायगा) जिसे मैं अब खाता हूँ।[2] इसी भाव की ओर संकेत सन्तकाव्य में भी प्राप्य है। जैसे—

कुस खाता है खोपरी माहिं परत दुख मौन।
मांस पराया खाय कर गरा कटावै कौन॥[3]

मिश्रित नीति

सन्तों की मिश्रित नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—१-संसार, २ मृत्यु, ३—देह ४—काल ५—भाग्य-पुरुषार्थ ६—दुख ७—शकुन-ज्योतिष ८—भूत प्रेत ९—धर्म।

संसार

सन्त-कवियों के मत में संसार निःसार स्थान है स्पृहणीय नहीं। यही तक नहीं वे तो इसके वास्तविक अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करते हैं और इसे स्वप्न के समान मिथ्या मानते हैं। वे इसे सेमल के सुमन के सदृश आपातरमणीय कहते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में मन को कभी संसार में न रमाना चाहिए। जीवन में कुछ-न-कुछ तो प्रत्येक व्यक्ति करता ही रहता है परन्तु विवेकी मानव वही है जो शरीर से बाह्य कार्य करता हुआ भी मन को महेश्वर में ही मग्न रखता है। सारांश यह कि मनुष्य को संसार में ऐसे ही अनासक्त रहना चाहिए जैसे मुख में जिह्वा। उदाहरणार्थ—

ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल।
दिन दस के व्योहार में झूठे रंग न भूल॥[4]
जग माहीं ऐसे रहो ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भक्षण करै तो भी चिकनी नाहिं॥[5] (चरणदास)

२ मृत्यु

मृत्यु सदा ही धर्मप्रचारकों का अमोघ अस्त्र रही है। इसी का स्मरण करा वे जन-साधारण को ईश्वरोन्मुख करते रहे हैं। सन्तों ने भी मृत्यु की अनिवार्यता भयंकरता

---

१ सन्तसुधासार खण्ड २ पृ० ३८।१०
२ मां स भक्षयिता अमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥(मनुस्मृति ५।५५)
३ कबीर वचनावली, पृ० १४८।६१४
४ कबीर वचनावली पृष्ठ १९८।४०६॥
५ संतसुधासार, खण्ड २, १६७।८॥

आकस्मिकता आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख कर लोगों को विषयविमुख तथा परमार्थोन्मुख करने का उद्योग किया है। सन्तों ने इस बात पर तो आश्चर्य प्रकट किया है कि मनुष्य जीता कैसे रहता है, इस बात पर नहीं कि वह मरता क्यों है। उन की दृष्टि में तो जीवन झूठा है और निधन सच्चा। जहाँ उन्होंने सामान्य लोगों के लिए मृत्यु को भयकर बताया है वहाँ सन्तों के लिए आनन्ददायक, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् ही 'पूरन परमानन्द' की प्राप्ति होती है। अन्त-काल में पुत्र, पत्नी आदि सम्बन्धियों का स्मरण करने वाला मनुष्य विभिन्न जीव योनियों में जाता है।[1] किसी के कालकवलित होने पर करुण क्रन्दन व्यर्थ है, इत्यादि नीतियाँ भी जहाँ-तहाँ उल्लिखित हैं। यथा—

चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आइके साबित गया न कोय॥
जा मरने से जग डरै मेरे मन आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥[2] (कबीर)

देह

यों तो गंगा, यमुना आदि नदियों और काशी, हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थों की पावनता का भाव इस देश में चिरकाल से चला आ रहा है तो भी इस भाव का प्रत्याख्यान करने वाले सिद्ध नाथ आदि समय-समय पर आविर्भूत होते रहे। सन्तों ने भी तीर्थों की यात्रा से और नदियों में स्नानादि से निष्पाप होने का प्रबल खण्डन किया है। इन के मत में तो सच्चे तीर्थ मानवीय मन में ही विद्यमान हैं, और उन्हीं में स्नानादि से मनुष्य का कल्याण सम्भव है। जैसे चरणदासजी का एक पद है—

(क) घट में तीरथ क्यों न नहावो।
इत उत डोलत पवित्र बनें ही, मरदि मरदि क्यों तन नहावो।
सत जमुना संतोष सरस्वती गंगा धीरज धारो।
मूँड मरदि निर्मोह होय करि, राम ही मोक्ष फिर यू पावो॥[3]

(चरणदास)

गरीबदास जी के मत में तो [illegible]
सच्चा तीर्थ-मज्जन है—

साहिब [illegible]।
[illegible]॥[4]

स्मरण रहे कि सन्तों के [illegible]

१ धनदासाहब भाग १ पृष्ठ [illegible]।
२ कबीर वचनावली पृष्ठ [illegible]
३ सत्यपुप्रकाश, [illegible]
४ [illegible]

रखा। कबीर, बुल्लाशाह आदि ने मक्का-मदीना रोजा आदि का भी उसी निर्भीकता से विरोध किया है जिससे काशी गंगा आदि का।[1]

काल

समय के सम्बन्ध में सन्तों की नीति यह है कि जो कुछ करना हो तुरन्त कर डालो, विलम्ब उचित नहीं। कौन कह सकता है कि जिस कार्य को हम किसी आगामी काल के लिए स्थगित करते हैं वह समय आयगा भी या उससे पूर्व ही हमारा महाप्रस्थान हो जायगा।[2] जो व्यक्ति प्रभु भक्ति या कोई अन्य कर्तव्य कर्म समय पर नहीं करते उन्हें अन्त में पश्चात्ताप करना ही पड़ता है। जो व्यक्ति अपने अमूल्य समय को निद्रा, तंद्रा खानपानादि में ही व्यतीत कर देते हैं वे कौड़ियों के बदले हीरे दे डालने वाले महामूर्ख हैं।[3]

भाग्य, पुरुषार्थ

सन्तों की रचनाओं में पुरुषार्थ की विशेष चर्चा नहीं मिलती। मिलती भी है तो भक्ति नाम-जप आदि के लिए उद्योग करने की। संसार को जंजाल मानने वालों से सांसारिक सुखैश्वर्यों के लिए प्रयास की प्रेरणा की आशा व्यर्थ ही है। इनके विचार में तो जो ईश्वर ने दे दिया है उसी पर सन्तुष्ट रहना उचित है और यदि कोई पुरुषार्थ करे भी तो भी उससे क्या बनता है? उपलब्धि तो उतनी ही होगी जितनी कि भाग्य में संचित की जा चुकी है—

जाको जेता निरमया ताको तेता होइ।
रती घटै न तिल बढ़ै, जो सिर कूटै कोइ॥[4]

बात यह है कि जिनके मन में धनैश्वर्य तथा सांसारिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने की कामना रहती है, वही अधिक उद्योगशील होते हैं। जिन्होंने इच्छाएँ ही समाप्त कर दीं उनकी चिन्ताएँ और चिन्ताओं के साथ ही पुरुषार्थ भी समाप्त हो जाता है। कबीर जी का कथन है—

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
जिन को कछू न चाहिए, सोई शहंशाह॥[5]

कर्मगति—

भाग्य का निर्माण मनुष्यों के पूर्व जन्मों के कर्म से होता है और उन कर्मों में सन्तों का अटल विश्वास है। इसलिए इनका मत है कि कर्म-गति को बड़े-बड़े विद्वान् और वीर भी नहीं टाल सकते।

---

१ वियोगी हरि: 'सन्तवाणी' पृष्ठ १४३
२, ३ कबीर वचनावली पृष्ठ १२८।४००-४०२
४ मुंशीराम : कबीर वचनामृत भूमिका पृष्ठ ६१
५ कबीर वचनावली, पृष्ठ १४३।२७८

करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी।
सीता हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी॥
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप, गिरगिट जोन परी।
पाण्डव जिनके आप सारथी तिन पर बिपति परी॥[1]

सुख दुख

सेमल-सरीखे संसार में सच्चे सुख का स्थान कहाँ ! सन्तों की दृष्टि में जगत् के सभी सुख झूठे हैं और उन्हीं को पाकर लोग मोहवश अपने को सुखी मान बैठते हैं। जब मान या धन सभी को काल-कवलित होना है तो फिर यहाँ सुख कहाँ ? वास्तविक सुख तो उन्हीं को है जो प्रभु-नाम के जाप में लीन हैं। मनोहर रूप मधुर संगीत सरस भक्ष्य सुगंधित द्रव्य स्त्री-संस्पर्श जो सामान्य जनों के लिए विशेष आकर्षण रखते हैं सन्तों के लिए किसी काम के नहीं वमन के समान अभक्ष्य हैं। उनमें तो मूढ़ जन ही लिप्त होते हैं विवेकी नहीं—

बासर सुख ना रैन सुख, ना सुख सपने माहिं।
जो नर बिछुड़े नाम से तिन को धूप, न छाहिं॥[2]

सगुन, ज्योतिष

लगन मुहूर्त शकुनादि के शुभाशुभ होने का विचार आज की अपेक्षा उन दिनों कहीं अधिक था। परन्तु सन्तों का विचार यह था कि इनमें विश्वास करना प्रभु में आस्था के अभाव या कमी को सूचित करता है। सब दिन घड़ियाँ और मुहूर्त भगवान् के बनाये हुए हैं और कर्म का फल अवश्यम्भावी है। इसलिए शकुन-मुहूर्तादि में विश्वास करना मिथ्याविश्वास मात्र है। सच्चे आस्तिकों को इन भ्रमों से ऊपर ही उठना चाहिए। जैसे—

(क) मन तै इतने भरम गवावो।
चलत बिदेस बिप्र जनि पूछो, दिन का दोष न लावो।[3] (मलूकदास)

(ख) लगन मुहूरत झूठ सब, और बिगाड़ें काम।
और बिगाड़ें काम साइत जनि सोध कोई।
एक भरोसा नाहिं कुसल कहुवां से होई॥
'पलटू' सुभ दिन सुभ घड़ी याद पड़े जब नाम।
लगन मुहूरत झूठ सब और बिगाड़ें काम॥[4]

---

१ कबीर वचनावली पृष्ठ २११।११४, और भी देखें, वही पृष्ठ २१४।११५
२ „ , १९८।४९०
३ सन्त सुधासार खण्ड २ पृष्ठ ११।४
४ „ „ २९८।१७

धर्म

सन्त लोग एकमात्र निराकार ईश्वर के उपासक थे। अवतार, मूर्तिपूजा, भूत प्रेत तथा अन्य देवी-देवताओं में इनकी रत्ती भर भी आस्था न थी। चौरासी के बन्धन से छूटना और आत्म-तत्त्व को परमात्म-तत्त्व में लीन कर देना ही इनका परम उद्देश्य था। चूँकि धर्म-नीति हमारे विवेच्य क्षेत्र से बाहर है, अतः उसकी सविस्तर चर्चा करना अनावश्यक है।

सन्तों के नीतिकाव्य की आलोचना

नवीन विषय

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि सन्तों की कृतियों का मुख्योद्देश्य प्रभु-प्राप्ति है, तथापि उनमें नीति-विषयक बहुत सी उपयोगी बातों का उल्लेख किया गया है। इन बातों में अनेक ऐसी हैं जिनकी चर्चा प्राचीन संस्कृत और हिन्दी-काव्यों में प्रायः दृष्टिगत नहीं होती; उदाहरणार्थ शव को भस्म करने की अपेक्षा पशु-पक्षियों को खिलाना श्रेष्ठ है; जिह्वा-रस ही सर्वोत्तम रस है; गार्हस्थ्य नहीं सम्बन्धियों का मोह त्याज्य है; कनफूँका गुरु; गुरु की भगवान् से उच्चता; वृद्ध-पुरुष तरुणी की प्रशंसा; तरुणी तरुण-वश होती है तो वृद्ध तरुणीवश; परिश्रमी गृहस्थ की निठल्ले साधु से श्रेष्ठता; परोपकार के लिए याचना निंद्य नहीं; हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई; चोके-चूल्हे तथा छूत-छात का खंडन; स्त्री को चित्त दो चित्त नहीं; भी-बकरी की समानता इत्यादि। कहना न होगा कि मौलिक चिंतन तथा तत्कालीन परिस्थितियाँ ही अधिकतर नवीन विषयों का प्रेरक सिद्ध हुई।

उपेक्षित विषय

जहाँ इन काव्यों में अनेक नवीन विषयों की चर्चा दिखाई देती है, वहाँ कई प्राचीन विषयों की उपेक्षा भी दिखाई देती है, जैसे सुपात्र वार्निंग, प्रशंसा, कुसमय पर सत्य भाषण से हानि, विद्या का महत्त्व, साधन और विघ्न, सुकवि-कुकवि, अभ्यास का महत्त्व, अनागत का प्रतिकार; व्यवहार-ज्ञान के बिना पंडित भी मूर्ख, मान, धैर्य की प्रशंसा, पत्नी की अपेक्षा मित्र की बात मानना हितकर; पराये कार्य में हस्तक्षेप तथा अपरिचित को आश्रय देने का अनौचित्य, स्वार्थसिद्धि में कपट की अनिवार्यता, दैवविश्वासी का विनाश; नीच भोगी को पंच न बनाओ, इत्यादि। उपर्युक्त प्रकार के विषयों की उपेक्षा का कारण है सन्तों के दृष्टिकोण में ऐहिकता की कमी। न उन्हें लौकिक जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की चिन्ता थी और न वे सुख-समृद्धि की प्राप्ति के साधन बताने को ही उत्सुक थे।

पूर्ववर्ती प्रभाव

यह तो सर्वविदित ही है कि अधिकतर सन्त-काव्य ऐसे व्यक्तियों के द्वारा प्रणीत हुआ है जो विशेष विद्वान् न थे। यद्यपि उनमें से अधिकतर सन्त संस्कृत प्राकृतादि भाषाओं से अनभिज्ञ थे तथापि यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उनके

हृदयों में महात्माओं तथा विद्वज्जनों के सतत से ज्ञानज्योति जगमगा रही थी। यही कारण है कि उनके छन्दों पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव अनेक स्थलों पर लक्षित होता है। प्राकृत व अपभ्रंश की अपेक्षा उन दिनों संस्कृत तथा हिन्दी का प्रचार कहीं अधिक था अतः सन्तों के गीति-काव्य पर संस्कृत और हिन्दी-साहित्य का ही प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

१ संस्कृत-साहित्य का प्रभाव

संस्कृत तथा सन्तों के गीति-पदों में जहाँ कहीं भाव-साम्य या दृष्टान्त-साम्य दिखाई देता है वहाँ ध्यान से देखने पर, स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों ने संस्कृत श्लोक को सामने रख कर उनका अविकल अनुवाद करने का यत्न नहीं किया है अपितु युत मात्र भाव और उदाहरण को अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया है। उदाहरणार्थ—

(क) पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कंडनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥[१]

पंचमहायज्ञ-प्रकरण में मनु जी ने लिखा है कि गृहस्थ के घर में चूल्हा चक्की बुहारी ऊखल मुसल और जलघट ये पाँच पदार्थ ऐसे हैं जहाँ कीट-पतंगों की हत्या होती रहती है। पंचमहायज्ञों का उस पाप के प्रतिकारार्थ विधान किया गया है। अब रज्जब जी का इसी आशय का एक पद लीजिए—

राग रामगिरि

चौंटी बस चौके में मारें चून बस हांडी माहीं।
वाकी चूल्हें जीव मार जो सो समुझ कछु नाहीं॥
पाती फूल सदा ही तोड़ें, पूजन कूँ पाषाण।
छार पतंग होहिं आरती, हिरदे नहीं विनाण ॥[२] (रज्जब)

मुनिजी का ध्यान तो 'चक्की' 'चूल्हे आदि तक ही सीमित रहा' परन्तु रज्जब जी ने प्रतिमा-पूजन के लिए पत्र-पुष्पादि के अवचय तथा आरती के समय होने वाले पतंग दाहना भी उल्लेख कर दिया है।

(ख) विकृतिं नैव गच्छन्ति संगदोषेण साधवः।
आवेष्टितमहा सर्पैश्चन्दनं न विषायते ॥[३] (शार्ङ्गधर)

'कुसंगति के दोष से सज्जनों में विकार नहीं उत्पन्न होता जैसे बड़े-बड़े सर्पों से आवेष्टित भी चन्दन का वृक्ष विषैला नहीं होता।

सन्त न छोड़ें संतई कोटिक मिलें असंत।
मलय भुवंगहि बेधिया सीतलता न तजंत।[४] (कबीर)

१ मनुस्मृति (चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस, १९३५ ई०) अध्याय ३।६८
२ सन्तसुधासार खण्ड १ पृष्ठ ५१४
३ सुभाषित रत्नाकर, पृष्ठ ११।२
४ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२३।३६८

निस्सन्देह दोहे का भाव और दृष्टान्त श्लोक से लिया गया है परन्तु 'कोटिक' तथा 'प्रीतमता' का विचार कबीर जी का ही है ।

(घ) वर्जनीयो मतिमता दुर्जनः सख्यवैरयोः ।
श्वा भवत्यपकाराय लिहन्नपि दशन्नपि ॥[1] (अज्ञात कवि)

बुद्धिमान् मनुष्य को दुर्जन से न मैत्री करनी चाहिए न वैर । कुत्ता चाहे चाटे और चाहे काटे दोनों प्रकार से अपकार ही करता है ।

मान बड़ाई जगत में, कूकर की पहिचानि ।
प्रीति किए मुख चाटही बैर किए तन हानि ॥[2]

श्लोककार ने जिस दृष्टान्त को दुर्जन से सख्य-वैर के निषेध के लिए प्रस्तुत किया है, कबीर जी ने उसी को सांसारिक मान-बड़ाई के परिहार के लिए ।

इस प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के ही क्षेत्र में सन्तकाव्य कुछ सीमा तक संस्कृत-साहित्य का ऋणी है ।

२ हिन्दी साहित्य का प्रभाव

सन्तकाव्य के पूर्व कुछ नाथकाव्य तथा कुछ वीर-काव्य लिखे जा चुके थे । सन्तकाव्य की इन पूर्ववर्ती काव्यों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि सन्तकाव्य जितना नाथकाव्य से प्रभावित हुआ है उसका दशमांश भी वीर-काव्य से नहीं । वीर-काव्यों के अध्ययन के पश्चात् जब हम सन्तकाव्यों का अवलोकन करते हैं तब ऐसे लगता है जैसे हम भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर जा रहे हैं, बाह्य जगत् से आन्तरिक जगत् में प्रवेश कर रहे हैं । परन्तु नाथ-काव्यों से सन्तकाव्यों की ओर जाते समय ऐसे प्रतीत होता है कि दोनों एक ही शृंखला की दो कड़ियाँ हैं नाथकाव्य पहली सन्त-काव्य दूसरी । उदाहरणार्थ मानव शरीर की दुर्लभता तथा नश्वरता का उल्लेख तीनों धाराओं में किया गया है । परन्तु उसे सार्थक बनाने के साधन भिन्न-भिन्न हैं । वीर-कवियों की दृष्टि में उसकी सार्थकता वीरगति द्वारा यश-प्राप्ति तथा रणक्षेत्र में अपना मांस पशु-पक्षियों को खिलाने में निहित है । नाथों और सन्तों के मत में उसकी सफलता क्रमश नाथ-पद की प्राप्ति तथा ब्रह्मप्राप्ति पर निर्भर है । जगनिक के समान दादू जी ने भी शरीर को इतर प्राणियों को खिलाने में पुण्य माना है परन्तु यहाँ भी पूर्ण ऐकमत्य का अभाव है । वीरकवियों का आशय तो यह है कि युद्ध भूमि में जो योद्धा लड़-मर कर अपना मांस जीवजन्तुओं का भक्ष्य बना डालता है वह पुण्यवान् है और दादू जी का भाव यह है कि निरर्थक शरीर को जलाने-दफनाने की अपेक्षा पशु-पक्षियों का भोज्य बना डालना उसका सदुपयोग है । वीर-काव्यों में वेद शास्त्र पुराण ज्योतिषादि के ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा दिखाई देती है परन्तु नाथों तथा सन्तों ने पुस्तकी ज्ञान की उपेक्षा की है और साधना

१ सुभाषित रत्न भाण्डागार, पृष्ठ ५४।१८
२ कबीर वचनावली पद्य १६७।५१४

तथा ज्ञान पर अधिक बल दिया है। शील क्षमा दया दीनता काम क्रोध लोभ मोह अहंकारादि धार्मिक विषयों पर तो वीर-काव्य प्रायः चुप ही रहते हैं परन्तु नाथकाव्य तथा सन्तकाव्य शीलादि के धारण और कामादि के दमन पर अत्यधिक बल देते हैं। धैर्य और वीरता की सभी ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है परन्तु क्षेत्र विभिन्न हैं। जहाँ वीरकवि युद्ध-भूमि में इन गुणों को वीरों का आभरण कहते हैं वहाँ सन्तकवि इन्हें भक्ति-पथ पर अग्रसर होने वालों का अलंकरण।

पारिवारिक नीति के क्षेत्र में भी सन्तकाव्य का दृष्टिकोण वीरकाव्यों तथा नाथ काव्यों से सर्वथा भिन्न है। वीर-काव्य पारिवारिक जीवन को प्रशंसनीय तथा स्त्री को 'धन' कहते हैं। नाथों के मत में गार्हस्थ्य-जीवन गर्ह्य है अतएव ब्रह्मचर्य काम्य वस्तु है स्त्री बाघिन है और उसके हाथ से जल पीना भी अनुचित है। सन्त भी स्त्री को कोई सम्मान्य पद नहीं देते परन्तु गार्हस्थ्य की उग्र निन्दा भी नहीं करते।

सन्तकाव्य ने 'स्वामि-धर्म' का भाव तो वीरकाव्य से ग्रहण किया है परन्तु अर्थ परिवर्तित कर दिया है। वीर-काव्यों में स्वामी का अभिप्राय था राजा या अन्नदाता और 'स्वामिधर्म' का आशय था प्राणपण से उसकी सेवा। सन्तकाव्य में 'स्वामी' का अर्थ हो गया है भगवान् और, स्वामिधर्म का अर्थ अनन्य भगवद्भक्ति। ऐसा ही अर्थ परिवर्तन 'पातिव्रत' का भी किया गया है। वीर-काव्यों में तो अनन्य पतिपरायणा तथा मृत पति के साथ सती होने वाली साध्वी को पतिव्रता कहा गया है परन्तु सन्तकाव्यों में अनन्य भक्त को पतिव्रता और उसकी अनन्य भक्ति को पातिव्रत। वीरकाव्यों में जन्ममूलक ऊँच-नीच भाव तथा जाति-पाँति को स्वीकृत किया गया है परन्तु सन्तों ने नाथों के तुल्य उत्तम गुणों को ही श्रेष्ठता का मापदण्ड माना है जन्म को नहीं।

सन्तों की आर्थिक नीति वीरकाव्यों से सर्वथा विपरीत है और नाथों की अपेक्षा कुछ उदार। जहाँ वीरकाव्यों में धनैश्वर्यादि को काम्य और भोग्य कहा गया है वहाँ नाथ-काव्यों में सम्पत्ति को त्याज्य और भिक्षा को स्तुत्य। सन्तों की वाणी में कंचन की कुत्सा की भी कमी नहीं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से गृहस्थ के लिए उसे विशेष निन्द्य नहीं कहा गया।

खानपान-विषयक नीति के क्षेत्र में भी सन्त-काव्य नाथ काव्य का अनुकरण करता है वीर काव्यों का नहीं। वीर काव्यों में हिंसा, आखेट मद्य-मांस-व्यसनादि की निन्दा नहीं दिखाई देती। नाथ-काव्यों में मांस मद्य भांगादि के परित्याग की प्रेरणा की गयी है और सन्तकाव्य में तो कहीं-कहीं हरी शाखाओं और पुष्प-पत्रों तक को भी तोड़ने का निषेध दिखाई देता है। वीरकाव्यों में तो भी ही पुण्य थी परन्तु सन्तों ने गौ बकरी आदि सभी में जीव का सादृश्य वर्णित कर प्राणिमात्र की हत्या का प्रतिषेध कर दिया है।

मिश्रित नीति के क्षेत्र में भी सन्तकाव्य नाथकाव्य से प्रभावित है वीरकाव्य से नहीं। गंगा तीर्थ पाहन मूर्त्यादि में वीर-कवियों का विश्वास तो था परन्तु सन्तों

का तिलमात्र भी नहीं। वीरकाव्यों में हिन्दू-संस्कृति के प्रति प्रेम है और इस्लाम के प्रति द्वेष। परन्तु सन्तों ने नाथों के समान ही दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बरों का खण्डन कर जनसाधारण को एक-दूसरे के समीप लाने का उद्योग किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सन्तकाव्य पर वीरकाव्य का प्रभाव बहुत थोड़ा है और नाथकाव्य का बहुत अधिक। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रभाव भावपक्ष पर ही अधिक पड़ा है कलापक्ष पर कम। नाथों के समान ही सन्तों की रचनाओं में भी हमें साहित्यिक सौष्ठव दिखाई नहीं देता परन्तु वीर-काव्यों को न भावों की दृष्टि से उपेक्ष्य कहा जा सकता है न भाषा आदि की दृष्टि से।

यहाँ लक्ष्य करने की बात यह भी है कि सन्त-काव्य अपने पूर्ववर्ती काव्य से ही प्रभावित नहीं है परवर्ती सन्तों पर पूर्ववर्ती सन्तों का प्रभाव भी कहीं-कहीं स्पष्टतया दिखाई देता है। इस प्रभाव का कारण है कबीर जी की असाधारण प्रतिभा तथा परवर्ती कवियों की उनके प्रति अगाध आस्था। जैसे—

(क) चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आइके, साबित बचा न कोय॥[1] (कबीर)
चलती चक्की देखि दिया मैं रोय है।
पीस गया संसार बचा न कोय है॥
अवधीचे में परा कोउ न निरबहा।
(अरे हाँ पलटू) अवेगा कोउ सन्त जो हू है लगि रहा॥[2] (पलटू)

(ख) निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय॥[3] (कबीर)
(दादू) निन्दक बपुरा जिनि मरे, पर उपकारी सोइ।
हम कूँ करता ऊजला, आपण मैला होइ॥[4]

पलटू जी ने जहाँ कबीर के दोहे की व्याख्या कर दी है, वहाँ दादू दयाल ने कबीर से निन्दक-प्रशंसा का भाव लेकर उसके दीर्घजीवी होने की कामना भी की है।

रस और भाव

सन्तकाव्य के अधिकतर प्रणेता न विशेष विद्वान थे न सिद्धहस्त कवि। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में कल्पना लालित्य तथा सरसता की कमी है। ऐसा होते हुए भी इन काव्यों के अध्ययन से मन में निर्वेद दैन्य धृति, मति क्षमा, दया उदारता

---

१ कबीर वचनावली पृष्ठ ११०।४१०
२ सन्तसुधासार खण्ड २ पृष्ठ २६३।३०
३ कबीर वचनावली पृष्ठ १३८।२३६
४ सन्त दादू और उनकी वाणी (दतिया, प्रथम संस्करण), पृष्ठ १३१।७

सन्तोष आदि के भावों का थोड़ा-बहुत उद्रेक होता ही है और इस दृष्टि से इसमें रस तत्त्व का सर्वथा अभाव नहीं है।

भाषा

अधिकतर सन्त-कवियों का ध्यान भाषा-सौष्ठव की ओर न होकर भावों की सुबोध अभिव्यक्ति की ओर ही था। सुन्दरदास जी की भाषा तो प्रांजल व्रज है परन्तु शेष सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' ही कहा जाता है जिसमें भोजपुरी पूर्वी व्रज पंजाबी राजस्थानी खड़ी-बोली फारसी अरबी सभी के शब्द सुलभ हैं। प्रचलित रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

(क) अब पछताया क्या करै चिड़ियाँ चुग गई खेत।[1] (कबीर)
(ख) यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं ॥[2] (दादू)

काव्य-विधान तथा छन्द

सन्तों का नीतिकाव्य मुक्तक छन्दों तथा राग-बद्ध पदों (गीतों) के रूप में ही उपलब्ध होता है। सर्वाधिक प्रयोग दोहा छन्द का किया गया है। मूलतः अरिल्ल कवित्त सवैया छप्पय कुंडलिया चौपाई आदि छन्दों का भी सुन्दरदास पलटूदास आदि ने मुक्त प्रयोग किया है।

अलंकार

सन्तों के अधिकतर नीति-छन्द पद्यमात्र हैं। उनमें न तो कोई शाब्दिक चमत्कार दिखाई पड़ता है न आर्थिक। सच तो यह है कि अधिकतर सन्तों ने शब्द या अर्थ को अलंकृत करने का उद्योग किया ही नहीं। हाँ विषय को सम्यक् रूप में हृदयंगम कराने के लिए वे विशेष सतर्क रहते थे और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो अनुप्रास उपमा यमक वीप्सा रूपक दृष्टान्त अन्योक्ति आदि अलंकार स्वतः एवं हृदय से उद्गत होते थे उनके प्रयोग में वे कोई संकोच न करते थे। उदाहरणार्थ—

(क) कांची काया मन अथिर, थिर थिर काम करंत।
ज्यों ज्यों नर निधड़क फिरत, त्यों त्यों काल हसंत ॥[3] (कबीर)
(छेकानुप्रास लाटानुप्रास वीप्सा)

(ख) गुरु ज्ञाता परजापती सेवक माटी रूप।
'रज्जब' रज यूं फेरि कै, घड़ि ले कुंभ अनूप ॥[4] (रज्जब)

---

१ कबीर वचनावली पृष्ठ १२८।४०१
२ सन्तसुधासार, खण्ड २ पृष्ठ ४२७।१६
३ कबीर वचनावली पृष्ठ ११ ।५१५
४ सन्तसुधासार खण्ड १, पृष्ठ ५२५।१६

(ग) पर स्वारथ के कारने दुख सहै "पलटूदास"।
संत सासना सहत हैं जसे सहत कपास ॥[1] (उपमा, आवृत्ति-दीपक)

(घ) कहु कहुँयों सब मापनी छांड़ बिरानी आस।
जाके आंगन नदी है, सो कस मरै पियास ॥[2] (कबीर) (दृष्टान्त)

शैली

सन्तकाव्य के नीति-विषयक ग्रंथों में तथ्य-निरूपक उपदेशात्मक तथा भावाभिव्यंजक शैलियों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। अन्यापदेशिक संवादात्मक, व्याख्यात्मक तथा कूट शैलियों का भी प्रयोग किया गया है परन्तु उपर्युक्त शैलियों से कम।

गुण-दोष

सन्तकाव्य में प्रसाद गुण की प्रधानता है। ओज और माधुर्य का सर्वथा अभाव तो नहीं कहा जा सकता परन्तु उनकी मात्रा उल्लेख्य नहीं। सन्तों की वाणी में शब्दों की तोड़-मरोड़ मात्राओं की न्यूनाधिकता ग्राम्यत्वादि अनेक शास्त्रीय दोष दुर्लभ नहीं है परन्तु सन्त-काव्य की आलोचना के समय उनकी उपेक्षा ही उचित है।

सन्तों के नीति काव्य का मूल्यांकन

हमारे मतानुसार सन्तों के नीतिकाव्य का सबसे बड़ा दोष है—ऐहिक दृष्टि की कमी। उनकी दृष्टि प्रभु प्राप्ति पर जितनी केन्द्रित है उतनी लौकिक सुख तथा सफलता पर नहीं। जब ब्रह्म ही सत्य है संसार, परिवार और मनुष्यमात्र मिथ्या हैं तब लौकिक दृष्टिकोण आ ही कैसे सकता है? यही कारण है कि इस काव्य में शारीरिक और मानसिक विकास पारिवारिक कर्त्तव्यपालन आदि विषय उपेक्षित रह गये हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति तथा स्त्रियों की निन्दा गुरु की ईश्वर से उच्चता सांसारिक सुखों की नितान्त उपेक्षा तथा भाग्यवाद में अत्यधिक आस्था भी आधुनिक दृष्टि से स्तुत्य नहीं मानी जा सकती। इन न्यूनताओं के रहते हुए भी सन्तों के नीतिकाव्य का अपनी आदर्शात्मकता के कारण विशेष महत्त्व है। वह मनुष्य को काम क्रोध लोभ मोह, अहंकार ईर्ष्यादि दोषों से बचाकर उसे संयमी शान्त सन्तुष्ट निर्मोह तथा विनम्र बनाता है। उसके अध्ययन से मनुष्य स्वार्थी तथा कृतघ्न का भी भला करने तथा अपकारी का भी उपकार करने की पुनीत प्रेरणा प्राप्त करता है। वह एक ओर सामाजिक अन्याय पर निर्भीकतापूर्वक तीव्र कुठाराघात करता है जिसके कारण एक निर्गुण व्यक्ति भी उच्च कुल में जन्म प्राप्त कर लेने मात्र से पूज्य बना रहता है और दूसरा गुणी मनुष्य भी तथाकथित नीच वंश में उत्पन्न होने के कारण यावज्जीवन नीच ही माना जाता है। वह उन छूत-छात चौका-चूल्हा जाति-पाँति सांप्रदायिक

---

१ सन्त सुधासार खंड २ पृष्ठ ५५१।७
२ „ „ १ „ १०५।११

द्वेषादि दोषों के समूलोन्मूलन की शिक्षा देता है जिनके कारण मनुष्य परस्पर दर्श स्पर्श खान-पान ब्याह-शादी तथा अन्य व्यवहार नहीं कर सकते। वह पड़ोसी से ही प्रेम करना नहीं सिखाता विश्वव्यापीन प्रेम की भी शिक्षा देता है। उसके प्रेम की सीमा मनुष्यों को ही नहीं पशु-पक्षियों तथा औषधि-वनस्पतियों तक को अपनी परिधि में ले लेती है। सत्य अहिंसा शील क्षमा दया परोपकार नम्रता धैर्य उदारता आदि सच्चरित्र के अंगों पर इस काव्य में विशेष बल दिया गया है। परन्तु जो धर्मध्वजी हिन्दू और मुसलमान तथा पाखण्डी साधु रोजा नमाज व्रत तीर्थ कंठी माला कषाय आदि द्वारा आठों पहर स्वार्थ-साधन में तत्पर रहते थे उनकी तीव्र भर्त्सना की गई है। जो अज्ञानी लोग शकुन, मुहूर्त दिशाशूलादि से भीत-त्रस्त रहते थे उन्हें एकेश्वर-विश्वास के द्वारा निर्भय बना दिया गया है। सार यह है कि सन्तों का पाखण्ड नाशक चरित्र प्रचारक और प्रेम-विस्तारक नीतिकाव्य निवृत्ति-परायण लोगों को उच्च जीवन की प्रेरणा देने के कारण तो स्तुत्य है परन्तु सांसारिक सुख-समृद्धि के इच्छुक सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

सन्तों के नीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ

१—सन्त-नीतिकाव्य का दृष्टिकोण ऐहिक नहीं पारमार्थिक है।

२—उसमें आध्यात्मिकता प्रधान है व्यावहारिकता गौण।

३—उसमें धार्मिक नीति की तो प्रचुरता है परन्तु शारीरिक तथा मानसिक नीति की कमी खटकती है।

४—सम्बन्धी स्वार्थी तथा सम्बन्ध झूठे बताए गये हैं। उनके प्रति कर्तव्य पालन की शिक्षा का अभाव-सा है।

५—धार्मिक साम्प्रदायिक, जातिगत भेद-भाव को मिटाकर मनुष्यों को परस्पर समीप लाने का उद्योग किया गया है।

६—धन-सम्पत्ति तथा नारी की निन्दा की गई है।

७—अहिंसा और दया का महत्व बहुत अधिक बताया गया है। जीवमात्र को ही जी के समान मान्य माना गया है।

८—बाह्य आडम्बरों का तीव्र खंडन किया गया है और दान दयादि पर बल बहुत अधिक है।

९—संसार और उसके सुख झूठे हैं। प्रभु प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य है।

१०—प्रायः सधुक्कड़ी भाषा और दोहा तथा पदों में रचित है।

११—इसके अधिकतर भाग पद्यमात्र हैं सरसता तथा साहित्यिकता न्यून है।

१२—वास्तविक नीति तथा साहित्यिकता की कमी के कारण यह काव्य धर्मोपदेश-सा लगता है नीतिकाव्य के समान नहीं।

(घ) पर स्वारथ के कारने, दुख सहै "धनदूदास ।
सन्त सासना सहत हैं, जैसे सहत कपास ॥[1] (उपमा आवृत्ति-दीपक)

(ङ) कब बड़ियाँ पास आपनी छोड़ बिरानी आस ।
जाके आँगन नदी है, सो कस मरै पियास ॥[2] (कबीर) (दृष्टान्त)

शैली

सन्तकाव्य के नीति-विषयक पद्यों में तथ्य-निरूपक उपदेशात्मक तथा आत्माभिव्यंजक शैलियों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। अन्यापदेशिक संवादात्मक, सम्बोधनात्मक तथा कूट शैलियों का भी प्रयोग किया गया है परन्तु उपर्युक्त शैलियों से कम।

गुण-दोष

सन्तकाव्य में प्रसाद गुण की प्रधानता है। ओज और माधुर्य का सर्वथा अभाव तो नहीं कहा जा सकता परन्तु उनकी मात्रा उल्लेख्य नहीं। सन्तों की वाणी में शब्दों की तोड़-मरोड़ मात्राओं की न्यूनाधिकता अश्लीलत्वादि अनेक शास्त्रीय दोष दुर्लभ नहीं हैं परन्तु सन्त-काव्य की आलोचना के समय उनकी उपेक्षा ही उचित है।

सन्तों के नीति-काव्य का मूल्यांकन

हमारे मतानुसार सन्तों के नीतिकाव्य का सबसे बड़ा दोष है—ऐहिक दृष्टि की कमी। उसकी दृष्टि प्रभु प्राप्ति पर जितनी केन्द्रित है उतनी लौकिक सुख तथा सफलता पर नहीं। जब ब्रह्म ही सत्य है संसार, परिवार और मनुष्यमात्र मिथ्या हैं तब लौकिक दृष्टिकोण आ ही कैसे सकता है? यही कारण है कि इस काव्य में शारीरिक और मानसिक विकास पारिवारिक कर्तव्यपालन आदि विषय उपेक्षित रह गये हैं। इसी प्रकार सम्पत्ति तथा स्त्रियों की निन्दा गुरु की ईश्वर से उच्चता सांसारिक सुखों की नितान्त उपेक्षा तथा भाग्यवाद में अत्यधिक आस्था भी आधुनिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं मानी जा सकती। इन न्यूनताओं के रहते हुए भी सन्तों के नीतिकाव्य का अपनी आध्यात्मिकता के कारण विशेष महत्त्व है। वह मनुष्य को काम क्रोध लोभ मोह अहंकार, ईर्ष्यादि दोषों से बचाकर उसे संयमी शान्त सन्तुष्ट निर्मोह तथा विनम्र बनाता है। उसके अध्ययन से मनुष्य स्वार्थी तथा कृतघ्न का भी भला करने तथा अपकारी का भी उपकार करने की पुनीत प्रेरणा प्राप्त करता है। वह उस घोर सामाजिक अन्याय पर निर्भीकतापूर्वक तीव्र कुठाराघात करता है जिसके कारण एक निर्गुण व्यक्ति भी उच्च कुल में जन्म प्राप्त कर लेने मात्र से पूज्य बना रहता है और दूसरा गुणी मनुष्य भी तथाकथित नीच वंश में उत्पन्न होने के कारण यावज्जीवन नीच ही माना जाता है। वह उन छूत-छात चौका-चूल्हा जाति-पाँति साम्प्रदायिक

१ सन्त सुधासार खंड १ पृष्ठ २२१।७
२ " " १ " १७५।११

द्वेषादि दोषों के समूलोन्मूलन की शिक्षा देता है जिसके कारण मनुष्य परस्पर वर्ण स्पर्श खान-पान ब्याह-शादी तथा अन्य व्यवहार नहीं कर सकते। वह पड़ोसी से ही प्रेम करना नहीं सिखाता विश्वजनीन प्रेम की भी शिक्षा देता है। उसके प्रेम की सीमा मनुष्यों को ही नहीं पशु-पक्षियों तथा औषधि-वनस्पतियों तक को अपनी परिधि में ले लेती है। सत्य अहिंसा शील क्षमा दया परोपकार नम्रता धैर्य उदारता आदि सच्चरित्र के अंगों पर इस काव्य में विशेष बल दिया गया है। परन्तु जो धर्मध्वजी हिन्दू और मुसलमान तथा पाखण्डी साधु रोजा नमाज व्रत तीर्थ कंठी माला जाप आदि द्वारा आठों पहर स्वार्थ-साधन में तत्पर रहते थे उनकी तीव्र भर्त्सना की गई है। जो अज्ञानी लोग शकुन मुहूर्त दिशाशूलादि से भीत-त्रस्त रहते थे उन्हें एकेश्वर-विश्वास के द्वारा निर्भय बना दिया गया है। सार यह है कि सन्तों का पाखंड-नाशक, चरित्र प्रचारक और प्रेम-विस्तारक नीतिकाव्य निवृत्ति-परायण लोगों को उच्च जीवन की प्रेरणा देने के कारण तो स्तुत्य है परन्तु सांसारिक सुख-समृद्धि के इच्छुक सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

सन्तों के नीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ

१—सन्त-नीतिकाव्य का दृष्टिकोण ऐहिक नहीं पारमार्थिक है।

२—उसमें आध्यात्मिकता प्रधान है व्यावहारिकता गौण।

३—उसमें आत्मिक नीति की तो प्रचुरता है परन्तु शारीरिक तथा मानसिक नीति की कमी अखरती है।

४—सम्बन्धी स्वार्थी तथा सम्बन्ध झूठे बताए गये हैं। उनके प्रति कर्तव्य पालन की शिक्षा का अभाव-सा है।

५—धार्मिक साम्प्रदायिक जातिगत भेद भाव को मिटाकर मनुष्यों को परस्पर समीप लाने का सदुद्योग किया गया है।

६—धन-सम्पत्ति तथा नारी की निन्दा की गई है।

७—अहिंसा और दया का महत्त्व बहुत अधिक बताया गया है। जीवघात को ही गौ के समान अभक्ष्य माना गया है।

८—बाह्य आडम्बरों का तीव्र खंडन किया गया है और शम दमादि पर बल बहुत अधिक है।

९—संसार और उसके सुख झूठे हैं। प्रभु प्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य है।

१०—भाषा सधुक्कड़ी भाषा और दोहा तथा पदों में रचित है।

११—इसके अधिकतर भाग पद्यमात्र हैं; सरसता तथा साहित्यिकता न्यून है।

१२—वास्तविक नीति तथा साहित्यिकता की कमी के कारण यह काव्य धर्मोपदेश-सा लगता है नीतिकाव्य के समान नहीं।

११—सन्तों का गीतिकाव्य उच्च आदर्शों के कारण महान् अवश्य है परन्तु व्यावहारिकता की कमी के कारण सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं।

(ख) सूफीकाव्य में गीतितत्त्व

जहाँ मुसलमान शासकों ने बन्दूक के बल से भारत पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया वहाँ मुस्लिम प्रचारक हिन्दुओं को स्वधर्म में दीक्षित करने के लिए भी सोत्साह अग्रसर हुए। ऐसे धर्म प्रचारकों में सूफियों का अपना विशेष स्थान था। सूफियों का जीवन सादा हृदय उदार, विचार उच्च ज्ञान उत्कृष्ट तथा प्रचार का ढंग प्रेम-पूर्ण था। ये लोग राजाओं की सभाओं में पंडितों के साथ शास्त्रार्थों का आयोजन कर अपने मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने का उद्योग करते थे। इनके उद्योग के परिणाम रूप में हिन्दुओं की सामाजिक विषमता से पीड़ित बहुत से लोगों ने इस्लाम को अंगीकार कर लिया। जहाँ इन्होंने मौखिक प्रचार से सहस्रों व्यक्तियों को प्रभावित किया वहाँ अपने मत के प्रचार के लिए लेखनी से भी साहाय्य ग्रहण किया। परिणामतः इनकी कृतियाँ हमारे समक्ष दो रूपों में विद्यमान हैं (१) प्रेम-कथात्मक (२) स्फुट रचनाएँ।

१ प्रेमकथात्मक

प्रेमकाव्य की परम्परा—प्रेमकथाओं की रचना भारत में चिरकाल से गद्य, पद्य नाटक और चम्पू रूपों में होती आई है। रत्नावली पद्मावती वासवदत्ता कुसुममाला आदि संस्कृत की ऐसी ही कृतियाँ हैं। इन कथाओं की घटनाएँ तो प्रायः काल्पनिक होती थीं परन्तु नायक-नरवाहनदत्त उदयन धूवक विक्रमादित्य आदि—कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्ति भी होते थे। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही। कौतूहल की 'लीलावती' मयूर कवि की पद्मावती कथा तथा जैन कवियों के जसहर चरिउ णायकुमार चरिउ, करकण्ड चरिउ आदि चरित-काव्य ऐसे ही प्रेम-काव्य हैं। फिर 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित पृथ्वीराज के पद्मावती हंसावती इन्द्रावती आदि से पाणिग्रहण के प्रसंग भी प्रेमकाव्यों की परम्परा में ही परिगणनीय हैं। जायसी ने 'पद्मावत' में प्रेमकथाओं की जो विस्तृत सूची दी है उससे भी यही सिद्ध होता है कि उन दिनों सपनावती मुग्धावती मिरगावती प्रेमावती आदि कई प्रेमकथाएँ मौखिक या लिखित रूप से प्रचलित थीं। ऐसी कथाओं में तीव्र लोक-रुचि देखकर सूफी साधकों ने इन्हें आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बना लिया। यह उनकी कोई नई सूझ न थी। महाभारत और पुराणों में बौद्ध जातक-कथाओं तथा अवदान साहित्य में और जैन कवियों के चरितकाव्यों और पुराणों में लोक-कथाओं द्वारा धार्मिक और आध्यात्मिक उपदेश देने की प्रवृत्ति अनेकत्र देखी जा

सकती है। उपलब्ध सूफ़ी प्रेमकथानकों में कुतबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती, जायसी की पद्मावत, उसमान की चित्रावली, जान कवि की कनकावती, कामलता, मधुकरमालती, रतनावती और छीता, कासिमशाह की हंसजवाहिर, नूरमुहम्मद की इन्द्रावती और अनुराग बाँसुरी तथा शेख निसार की यूसुफ़जुलेखा विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उक्त कवियों में से अंतिम तीन रीति-कालीन हैं तथापि भावधारा के साम्य के कारण उन्हें यहीं परिगणित करना समीचीन होगा।

सूफ़ीकाव्यों में नीति की गौणता

लौकिक विषयों से मन को विरक्त कर सौन्दर्यमय प्रभु में अनुरक्त रहने वाले लोग सूफ़ी कहलाते हैं। सूफ़ी-मत का प्रासाद प्रभु प्रेम की आधार-शिला पर ही अवस्थित है और उसी दिव्य प्रेम का प्रचार करने के उद्देश्य से ही सूफ़ी सन्तों ने उपयुक्त प्रेमकाव्यों का प्रणयन किया है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए इन्होंने माध्यम-रूप में प्रायः हिन्दू-समाज में प्रचलित उन प्रेम-कहानियों को चुना है जिनमें कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के अनूप रूप-लावण्य को देख-सुनकर उस पर आसक्त हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए घर-बार का सुख छोड़ जोगी बन अनेक विकट विघ्न बाधाओं को पार कर प्रियतमा के मिलन-सुख का अनुभव करता है। चूँकि ऐसी कथाओं में नायक-नायिकाओं को जीवन की विविध परिस्थितियों में से होकर निकलना और बहुविध प्राणियों के सम्पर्क में आना पड़ता है, अतएव इनमें लोक व्यवहार-विषयक अनेक बातों का सन्निवेश स्वभावतः ही हो गया है। यही प्रासंगिक नीतिकाव्य हमारे अनुसन्धान का विषय है।

वैयक्तिक नीति—तात्त्विक दृष्टि से सूफ़ी लोग अपना या किसी भी अन्य वस्तु का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। उन्हें मुस्लिम वेदान्ती की संज्ञा देने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि—

आपुहि मीच जियन पुनि आपुहि आपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ॥[1]

हमारा तन और मन, जीवन और मरण, करना और कराना कुछ भी स्वतंत्र नहीं है, सब प्रभु-रूप है और प्रभु प्रेरित। ऐसी मान्यता की विद्यमानता में वास्तविक नीति का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है क्योंकि कार्य-विशेष की नैतिकता या अनैतिकता कार्यकर्त्ता की स्वतंत्रता पर निर्भर रहती है। तो भी व्यावहारिक दृष्टि से सूफ़ी कवियों ने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक नीति के विषय में सुन्दर तथा उपयोगी तथ्यों का प्रतिपादन किया है।

सूफ़ी-काव्यों में शरीर की नश्वरता के कारण तत्सम्बन्धी गर्व के त्याग का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। नूर मुहम्मद इन्द्रावती के महान-खंड में कहते हैं—

१ सं० रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली (काशी, सं० २००६ वि०), पृष्ठ ६१

परगट रंग देहु जो देखि न मरवै कोइ ।
आव एक दिवस अस छार कलेवर होइ ॥[1]

ऐसा होते हुए भी इन काव्यों में शरीर की वह उपेक्षा या कहीं लक्षित नहीं होती जो सन्तकाव्य में अनेकत्र दिखाई देती है। इनमें स्वास्थ्य के नियमों का उल्लेख है, रोगों के उपचारार्थ औषधों की चर्चा है, काया-रूपी वृक्ष को सुख-रूपी जल से हरा भरा रखने का आदेश है तथा रूप और यौवन के महत्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा है। वात-ज्वर के विनाशार्थ नूरमुहम्मद कहते हैं—

उपजै देह वात जर जाको। होइ कम्प अमुहाई ता को।
मोहु मरम और मुख कम्माई। औरो चाह होइ अधिकाई॥
अमया सोंठ चिरायत कमा। लोचर मिलवहि चूरन बना।
मासा चार यहु चूरन दुर्मई। प्रात समै जो भोजन करई।
महुत न खोक बेवस कहुं और न रैन सँकार।
आवु न जवर भरे पर, पियहु न मिस कहुं बार॥[2]

जब मूरतिपुर नगर के राजा जीवन के पुत्र मनकरण ने ब्राह्मण श्रवण से सनेह नगर के राजा धर्मराज की तनुजा सर्व-मंगला के सौन्दर्य का वर्णन सुना तब वह माता-पिता के मोह और राजप्रासाद के सुखों का परित्याग कर सर्व-मंगला को प्राप्त करने के उद्देश्य से सनेह-नगर को जाने के लिए कटिबद्ध हो गया। उस समय उस की पत्नी महामोहिनी उससे प्रवासजन्य दुःखों से बचने और शरीर को सुखी रखने की चर्चा नूरमोहम्मद के शब्दों में इस प्रकार करती है—

काको लाल अपने कुच्छ, जेहि सेवा परमोदल अंगु।
रत्न-कनक-मोती-नग-हीरा जेहि पाए सुख जीव सरीरा।
यह सब तजि के जाइबो, भलो न होइ।
अमुहल काया आपन दुख के तोइ॥[3]

सूफी लोग प्रेमी थे और उनके अनुसार प्रेम का आधार सौन्दर्य है।[4] इसलिए सूफी-काव्यों में सौन्दर्य की महिमा तथा उससे प्रेम करने की प्रेरणा का उल्लेख पग-पग पर प्राप्त होता है—

१ सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी: हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह (प्रयाग, प्रथम संस्करण) पृष्ठ १०४॥
२ इन्द्रावती: डा० सरला शुक्ल: जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य (लखनऊ, २०१९ वि०) पृष्ठ ४७७॥
३ नूरमुहम्मद: अनुराग बाँसुरी (प्र० हि० सा० स० प्रयाग) पृष्ठ ९६॥
४ '[illegible]' ए० ई० एफ़िफ़ी: दि मिस्टिकल फ़िलासफ़ी आफ़ मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी पृष्ठ १७३॥

सुंदर मुख देखें सुख होई, सुंदरता चाहै सब कोई ॥
चंद्रवदनि जन सबै चाको, धरती सरग मिला है ताको ॥
देखें मित दाता नृप दीन्हा सुंदर रूप सुफल गुण कीन्हा ॥
रूप जाइ आंखिन माँ हूब समाइ ।
हिये समाने प्रेमी, कहा, अघाइ ॥[1]

परन्तु यह रूप-सौन्दर्य चिरस्थायी नहीं है यौवन के साथ ही ढलना प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए इसका समय रहते ही उपयोग करने में संकोच अनुचित है। यौवन तथा रूप का ह्रास हो जाने पर मनुष्य का मूल्य उतना ही रह जाता है जितना जलपक्षियों की दृष्टि में निर्जल सरोवर का। 'पद्मावत' में देवपाल की दूती कुमोदिनी पद्मावती को इस नीति का उपदेश यों देती है—

जोबन-जल दिन-दिन जस घटा। भँवर छपान, हंस परघटा ॥
सूभर सरोवर जो लहि नीरा। बहु आदर, पंखी बहु तीरा ॥
नीर घटे पुनि पूछ न कोई। बिरसि जो लीज हाथ रह सोई ॥[2]

रूप और प्रेम निस्सन्देह वांछनीय तथा प्रयोजनीय पदार्थ हैं परन्तु उन पर अभिमान करना बुद्धिमान् के लिए उचित नहीं क्योंकि रूप सदा स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं और उसके अभाव में प्रेम का ह्रास भी स्वाभाविक है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन नूरमुहम्मद ने इन शब्दों में किया है—

रूप प्रेम पर का अभिमानू ? दौऊ तजि घट जाहि निदानू ॥
सदा न रूप रहत है, अंत नसाइ ।
प्रेम रूप के नासहि तें घट जाइ ॥[3]

वस्तुतः जीवन का आनन्द यौवन में ही है। वार्धक्य में तो बुद्धि क्षीण इन्द्रियाँ शिथिल और शरीर निःशक्त हो जाता है तब पराधीनता-जन्य दुःख सहने की अपेक्षा मरण कहीं अच्छा है। वृद्धावस्था की कष्टप्रदता का वर्णन जायसी ने पद्मावत की समाप्ति पर इस प्रकार किया है—

तब लो भएउ के जोन सरीरू। बिरिध भई नैनहि देइ नीरू ॥
दसन गए कै पचा कपोला। बैन गए अनरुच देइ बोला ॥
बुद्धि जो गई देइ हिय बौराई। गरब गएउ तरहुँत सिर नाई ॥
जो लहि जीवन जोबन साथा। पुनि सो मीचु पराए हाथा ॥
बिरिध जो सीस डोलावै सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस ॥[4]

१ अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ३५
२ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ २७१
३ अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ६
४ जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०२

वाणी सत्यभाषण तथा मधुरभाषण का महत्त्व और वाचालता तथा मौन की निन्दा इन कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। मनुष्य तो सदा-सर्वदा नहीं रहता परन्तु उसके वचन-कुसुम सदा संसार को सुवासित करते रहते हैं। नूरमुहम्मद के विचार में तो सुवचन मनोवाटिका के सुरभित सुमन हैं—

है मन फुलवारी हो भाई। फूल सभी महँ वचन सोहाई॥
वचन मध्य है बास समाना। कवि बोलता है भँवर समाना॥
जब वह फूल लखत फुलवारी। बिकसत बास देत अधिकारी॥
फूल चुन रहत न तहँ कुम्हिलाई। दिन दिन बास बढ़त अधिकाई॥[1]

वाणी के व्यवहार में विशेष सतर्कता अपेक्षित है क्योंकि वह अमृत और गरल दोनों का माध्यम होने के कारण वह हास्य और रुदन मान-दान और अपमान मर्दन दोनों ही का कारण बनती है। 'इन्द्रावती' में नूरमुहम्मद कहते हैं—

वचन खोट जासों मुख आई, सुवचन वचन चातुर किन आइ॥
सो न पूछिए तेहि सुमि हिया, होवै वचन जासे बहु पिया॥
बहुत वचन तें मानुष हँसे, बहुत वचन रुलाई बसे॥
सुलभ परम कै पूछ पाऊ रसना-चाव रहै बिलमाऊ॥
समुझि बोलिए रसना, माखित नाथि।
है रसना में प्यारी जब बो भाखि॥[2]

परन्तु मधुरभाषण ही पर्याप्त नहीं है 'प्रियं च नानृतं ब्रूयात्' के अनुसार सत्य की उपेक्षा भी कभी न करनी चाहिये क्योंकि नाम की स्थिरता के लिए सत्य सम्मान की अपेक्षा भी अधिक बलवान् है। उसमान का कथन है—

सत्य समान फूल जग नाहीं, सत सों रहै नाहिं क्षय माहीं।
कोटि फूल एक दिन मुरझाना, सत्य फूल बारौं ऋतु बासा॥[3]

जायसी ने भी 'पद्मावत' के राजा सुआ संवाद खंड में सत्य को सर्व पुण्यों का मूलकारण तेजोवर्द्धक और ऐश्वर्य तथा सिद्धियों का दाता कहा है—

होइ पुरुष रात सत्य के बाता। जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता॥
बाँधी सिहिटि अहै सत केरी। लछिमी अहै सत्य कै चेरी॥
सत्य जहाँ साहस सिधि पावा। औ सतबादी पुरुष कहावा॥
सो सत छाँडि जो धरम बिनासा। भो मतिहीन धरम करि नासा॥[4]

१ नूर मुहम्मद इन्द्रावती का स्तुति खंड 'हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह' पृष्ठ ७८
२ अनुराग बाँसुरी पृष्ठ १२
३ उसमान चित्रावली, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृष्ठ २१०
४.जायसी ग्रंथावली, १८

नितान्त मौन रहने से मानव के गुण गुप्त रहते हैं और परिणामतः उसका समाज में आदर-सम्मान नहीं होता। वाचालता अभिमान और क्षुद्रता दोनों ही का लक्षण है। इस नीति को अनुराग बाँसुरी में सर्वमंगला रस सखियों के समक्ष यों व्यक्त करती है—

गुन बोली सों परगट होई । बिन बोलें लखि जात न कोई ।
जैसे साधु माप नित रहै । ताको समति कछु न लहै ।
भलो न बहुत चुप होइ रहना, भलो न अतुल भाषित कहना ॥[1]

मानसिक नीति—सूफी कवि निरक्षर न थे। वे विद्या और स्वाध्याय के महत्त्व से सुपरिचित थे और अपने धर्मग्रन्थों के समान ही अन्य मतों के ग्रन्थों का भी श्रद्धापूर्वक अध्ययन करते थे। जहाँ वे सभी धर्मों के अवतारों और देवदूतों को आदर की दृष्टि से देखते थे वहाँ उनके धर्म-ग्रन्थों के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। यही कारण है कि इन प्रेमकथानकों में विद्या बुद्धि तथा धर्मग्रन्थों के प्रति आदर की भावना दृष्टिगत होती है। नूरमुहम्मद के शब्दों में विद्या वस्तुतः एक विशाल और अगाध रत्नाकर है जिसकी थाह पाना या पार पहुँचना किसी के लिए भी सम्भव नहीं—

बचन अरथ है सिंधु अपारा । संपूरन कोउ तिरै न पारा ॥
नई नई लहर नित तासीं । सायर परम परगटै जासों ॥
बड़े बड़े कवि लोग सयाने । तिरि नहिं सके ठाँव बिलखाने ॥[2]

इस विद्या-रूपी सर्वोत्तम तथा अविभाज्य धन के बिना मनुष्य पशु-तुल्य रहता है और जो इसे प्राप्त कर भी आचरण में नहीं लाता उसकी दशा तो ग्रन्थवाही गर्दभ की सी है—

विद्या सों नर मानुष होई, जाहि न विद्या है पसु सोई ।
विद्या दरब न बाँटे भाई, नहिं तस्कर ठग हाथ जाई ।
नहिं गुन कर न सहोदर मागें, अधिक बहुत जब बाटे लागें ।
विद्या भरे जाते जो नाहीं, पोथी लादे खर बपराहीं ।
विद्या-धन सों दूजै आपन बाढ़ ।
बहुत वस्तु मनोरम विद्या हाड़ ॥[3] (नूर मुहम्मद)

विद्या से वास्तविक लाभ उठाना प्रत्येक के भाग्य में बदा नहीं होता। जिनके मनोमुकुर निर्मल और हृदय-नेत्र उन्मीलित होते हैं वही इस अलौकिक प्रकाश से आलोकित हो सकते हैं बाकी तो उस तोते के समान हैं जो कुछ वाक्य सीख तो लेता है परन्तु माणिक्य और मोती को दाड़िम और द्राक्षा मान मुख में डालने का उद्योग करता है। पद्मावत में जायसी कहते हैं—

---

१. अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६०।
२ नूर मुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ३।
३. वही पृष्ठ ६।

सुआ जो पढ़ै पढ़ाए बैना । तेहि कत बुधि जेहि हिये न नैना ।
मानिक मोती देखि वह हिये न ज्ञान करेइ ।
दारिउँ दाख जानि के अबहिं ठोर भरि लेइ ॥[1]

विद्वान् को अपनी विद्या विद्वानों के सम्मुख प्रकट करनी ही चाहिए । जहाँ इस से धन-मान आदि की प्राप्ति होती है वहाँ विद्या का विकास भी । 'पद्मावत' में ब्राह्मण वनिजारा व्याध-निगृहीत हीरामन शुक से यों कहता है—

पण्डित हो तो सुनावहु वेदू । बिनु पूछे पाइय नहिं भेदू ।
हौं ब्राह्मण औ पंडित कहु आपन गुन सोइ ।
पढ़े के आगे जो पढ़ै दून लाभ तेहि होइ ॥[2] (जायसी)

वेद के प्रति इन कवियों के आदर का अनुमान शेख नबी की निम्नलिखित चौपाई से सहज ही हो जाता है—

वेद भेद जो मारग अहया, पंथ हेराय तही जिन गहया ।
वेद विहून सुनी सो काया, पसु के अस धरी नर काया ॥[3]

विचार बुद्धि की जननी है और विकसित बुद्धि सर्व विध सफलताओं की । इस-लिए इन काव्यों में बुद्धि का गुणगान भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है । 'पद्मावत' के गोरा-बादल युद्ध खण्ड में गोरा और बादल बल की अपेक्षा बुद्धि के उत्कर्ष का यों उल्लेख करते हैं—

सुबुधि सों ससा सिंघ कहँ मारा । कुबुधि सिंघ कूआँ परि हारा ॥[4]

नूर मुहम्मद भी बुद्धि के अनेक गुणों के कारण उसे अपने काव्य का एक पात्र कल्पित कर उसकी महिमा को असीम बताते हैं—

हृदि-अस्थान-मंत्र जो पावै अद्भुत काज जानि निज भावै ।
बुद्धि के आगे बल जो कोई, ताके काज विशेष होई ।
भयो हृदि सभा जेहि आगा तहाँ बल चले पुरुषारथ ॥[5]

प्रारम्भिक नीति— इंडिया ऑफिस लायब्रेरी में सुरक्षित 'अलसिर फि अखलाक अलसूफिया' नाम के हस्तलिखित ग्रंथ की समाप्ति पर सूफीमत की जो कम बीस संक्षिप्त परिभाषाएँ उपन्यस्त हैं उनमें प्रथम इस प्रकार है—

अखिल-सूफी मत का तात्पर्य सद्गुणों की प्राप्ति एवं दुर्गुणों का अभाव है ।[6]

---

१ जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ ९१
२ वही पृष्ठ ११
३ शेख नबी ज्ञान दीप, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ ४२८
४ जायसी ग्रंथावली, पृ० २८६
५ नूर मुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ८
६ जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफीकवि और काव्य, पृष्ठ ११५

इस गुण को प्राथमिकता देने का आशय यही है कि सूफ़ीमत अन्य विषयों की अपेक्षा सद्गुणी बनने का विशेष आग्रह करता है। यही कारण है कि सूफ़ी-काव्यों में गुणों के महत्त्व तथा गुणी की सार्वभौमिक प्रतिष्ठा का कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है। आलम कहते हैं—

गुन देखें गुनिजन सुखी निर्गुन होइ जनु कोइ।
राय एक सब बीज से, जो रे देत गुन होइ॥
ऊँच नीच पूछहि नहिं कोई। बैठहि सभा और गुन होई॥
गुनी पुरिष जो पर भुमि जाई। त्यों त्यों महँगे मोल बिकाई॥
जैसे पुरुषहि पाले माई। त्यों गुन रहै सदा सुखदाई॥
गुन बिन पुरिष पंख बिन पंछी। गुन बिन पुरिष रूप ज्यों मंछी॥[1]

सूफ़ी होने के कारण इन कवियों का काम, क्रोध लोभ आदि पापों की गर्हा तथा जप तप कर्म धर्म नेम आदि की प्रशंसा करना स्वाभाविक ही था परन्तु जो बात विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है वह है इनके काव्यों में यश कीर्ति दृढ़-संकल्प साहस वीरत्व धैर्य आदि की स्तुति। इन क्षत्रियोचित गुणों की श्लाघा के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि इन काव्यों के चरित-नायक प्रायः राजा लोग हैं जो अनेक विघ्न-बाधाओं के दमन-मर्दन के पश्चात् ही प्रियतमाओं की प्राप्ति में सफल होते हैं। द्वितीय यह कि प्रभु प्राप्ति के इच्छुक साधक को भी कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। उसे भी धैर्य साहस आदि की उतनी ही अपेक्षा रहती है जितनी प्रेमी पृथ्वी-पतियों को। इसीलिए इन साधकों ने साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अधिक न कह कर अपने कथन के समर्थन में कतिपय पद्यों को उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—

(क) निहचै चला भरम जिउ खोई। साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई॥[1] (जायसी)

(ख) तुइ अबला धनि ! कुबुधि-बुधि जाने काह जुझार।
जेहि पुरुषहि हिय बीर रस भाव तेहि न सिंगार॥[2] (जायसी)

(ग) तिरबो एकै बार न आवे तिरत तिरत तिरबो गुन पावै।
होइ साहसिक साहस राखै, बकता होइ बात के भाखै॥
घर नर का मग राखै पाऊ, गोमत पुरा होइ बटाऊ।
पहलैं बीच्छित बिया होही, अंत गुन कहवाव ओही॥[4] (नूरमुहम्मद)

(घ) धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै प मरै न बासू॥[5] (जायसी)

१ आलम : माधवानल कामकंदला, हिन्दी प्रेमगाथा काव्य संग्रह, पृष्ठ १८३
२ जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ६२
३ वही, पृष्ठ २८४
४ अनुराग बाँसुरी पृष्ठ २०
५. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १०१

(क) सुन्दर मुख की आंखिन, चाहीं लाज।
लाज बिना सुन्दरता कौने काज॥
लाज लोयन सुन्दरता को है, का को सजना सुन्दर सो है॥[1] (नूर मुहम्मद)

(ख) जो नहिं अगर छार न परै तो सहिं पढ़ तिलका नहिं मरै।[2]

मनुष्य का दुर्गुणों से पृथक और गुणों से पूर्ण होना ही पर्याप्त नहीं है। आदर-मान की प्राप्ति के लिए उन गुणों का यथा-स्थान तथा यथा-अवसर प्रकाशन भी आवश्यक है।[3] इस नीति का उल्लेख 'पद्मावत' में यों किया गया है—

बाम्हन आइ सुआ सों पूछा। कहु गुनवंत कि निरगुन छूछा।
कहु परबते ! गुन तोहिं पाहीं। गुन न छिपाइय हिरदय माहीं।[4]

पारिवारिक नीति—हम ऊपर कह चुके हैं कि हिन्दू-समाज में प्रचलित दाम्पत्य प्रेम की कथाओं को सूफी सन्तों ने आध्यात्मिक प्रेम का रंग देने का प्रयास किया है। उस तथ्य की विद्यमानता में भी इन काव्यों के अध्ययन से यही प्रमाण पड़ता है कि दाम्पत्य प्रेम भी एक बड़ा वरदान है वह आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति का साधन है और उसके बिना जीवन की पूर्णता असम्भव है।

(क) 'मुहमद बाजी पेम कै ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल फूलहिं के संग ज्यों होइ फुलायल तेल॥'[5] (जायसी)

(ख) 'मंझन' जो तन जनम के बिरह न कीया घाव।
सूने घर का पाहुना ज्यों आवा त्यों जाव॥[6] (मंझन)

वास्तव में इन काव्यों में प्रेम के विभिन्न पक्षों पर इतना अधिक उपयोगी और सुन्दर लिखा गया है कि प्रेम-पन्थ के प्रत्येक पाथ के लिए उसका अध्ययन जितना उपयोगी है उतना ही हृदयहारी भी। प्रेम में बुद्धि का स्थान नहीं सुन्दर पदार्थ की प्रेमी के लिए दुर्लभ प्रेमियों के कष्ट प्रेमाश्रुओं की मूल्यवत्ता प्रेम रोग की असाध्यता प्रेम का छिपाना असम्भव प्रेम में दूरी का अभाव वियोग-दुःख विष जैसा ही मूल अग्नि की लगन प्रेम चन्दन और पान के समान चाहिए आदि विषयों से इस क्षेत्र की व्यापकता और मार्मिकता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं—

१ अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ७१
२ जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ १००
३ रे रे कोकिल मा भज मौनम् किञ्चिदुदञ्चय पञ्चमरागम्। नो चेत्त्वामिह को जानीते, काककदम्बकपिहिते चूते। (सु० र० भां० पृष्ठ २१५।१३१
४ जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ११
५ जायसी ग्रंथावली ९५
६ 'मधुमालती', डा० कमल कुलश्रेष्ठ हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य (अजमेर, १९५३ ई०) पृष्ठ ११२

(क) जो जेहि रस भित है मकरंदी, ता परसा सुनि होइ अनन्दी ।
जैसी तपस्या तन दुख पावै, मदिरा बात मधुपहि भावै ॥
बिधा रायो बिधा सुने, फूल सबहीं फूले धन ।
जो जाकी मन भावन होइ, ता गुन सम गुन मानै सोइ ॥[1] (नूर मुहम्मद)

(ख) जो सनेह मग पर पग धारै सो करेज को सोनित गारै ।
जिय सों गत होइ जो कोइ सो सनेह को पथिक होइ ।
यह मैदान न जीते पारै, अर्जुन भीम भरत नहिं धारै ।
है सनेह के कठिन लड़ाई सबकी जाइ सधन भरि धाई ॥[2] (नूरमुहम्मद)

(ग) 'आलम' ते नर तुच्छ मति, जे नर दुख मनु देहिं ।
दुख संपति सच्चा तजे, दुख विरहा सोइ लेहिं ॥[3] (आलम)

परन्तु प्रेममार्ग के ये काँटे सच्चे प्रेमी को फूल प्रतीत होते हैं और वह अपने प्रेम को इसी जीवन तक सीमित न रख कर मरणानन्तर भी जीवित रखना चाहता है—

का सो प्रीति तन माँह बिलाई ? सोई प्रीति जिउ साथ जो जाई ॥[4] (जायसी)

प्रेम की परिणति और नाम को अमर रखने के लिए सन्तान का होना आवश्यक है। इसलिए काम कवि कहते हैं—

ब्याह बिना सन्तान न होई, पुनि नाम न ले है कोई ॥[5]

वस्तुतः दाम्पत्य-जीवन की सफलता सापत्य होने में ही निहित है—

(क) रहा महीपति पर अविसारा। बालक दीप बिना अंधियारा ॥[6]

(ख) पारमला जो होत एक, होत सकल उजियार ।
जन्मप्रान जिहि माँ, होते मुकुल कुमार ॥[7] (नूर मुहम्मद)

इन काव्यों में पति-पत्नी दोनों के ही कर्तव्यों का यथाप्रसंग उल्लेख मिलता है परन्तु जिस तरह से पवित्र जीवन की आशा पत्नी से की जाती है पति से नहीं।

---

१ अनुराग बाँसुरी पृष्ठ १४ २१
२ वही, पृष्ठ २९
३ माधवानल कामकंदला विक्रमसहायता खण्ड, हिन्दी प्रेमगाथा काव्य-संग्रह, पृष्ठ २०१
४ जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २२
५ कथा छबिसागर शीतलप्रसाद की, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ ४१४
६, ७ इन्द्रावती, हिन्दी प्रेमगाथा का काव्य संग्रह पृष्ठ ८१

पति का यह कर्तव्य तो निर्दिष्ट है[1] कि जिस स्त्री का उसने पाणिग्रहण किया है, उसकी जीवन-नैया को पार पहुँचा दे परन्तु उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह केवल उसी का हो कर रहे। पुराने ज़माने में इस विषय में पुरुषों ने प्रायः कभी अपने पर यह बन्धन नहीं लगने दिया और ये सूफ़ी काव्य भी उस नीति के अपवाद नहीं हैं। एक पत्नी के रहते हुए भी नायक अन्य सुरूपवती स्त्रियों के समाचार पाकर कामातुर हो उठते हैं और उन्हें पाने के लिए प्रथम पत्नी या पत्नियों माता-पिता तथा राजकीय सुविधाओं को सहर्ष तिलांजलि दे देते हैं। हाँ इस बात के लिए वे कुछ सीमा तक प्रशंसा-पात्र अवश्य हैं कि नवोढ़ा पाकर वे प्रौढ़ा का परित्याग नहीं कर देते हैं—अपने स्नेह के कुछ कणों से उन ब्याहिताओं की तृषा भी शान्त रखते हैं। जब चितौरगढ़ से संतप्त नागमती ने रत्नसेन को यह उपालम्भ दिया—

कस हँसी तुम मो सौं कियउ और सौं नेहु।
तुम मुख चमकै बीजुरी मोहि मुख बरिसै मेह॥[2]

तब रत्नसेन ने उस रुष्टा को निम्नलिखित शब्दों से तुष्ट किया—

नागमती तू पहिलि बियाही। कठिन प्रीति दाहै जस दाही॥
बहुतै दिनन आव जो पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ॥
पाहन लोहु पोढ़ जग दोऊ। तेउ मिलहिं जौ होइ बिछोऊ॥
भलेहि सेत गंगाजल दीठा। जमुन जो साम नीर अति मीठा॥
कोइ केहु पास आस कै हेरा। धनि ओहि दरस-निरास न फेरा॥[3]

पत्नी के लिए पातिव्रत धर्म की अनुपालनीयता, की उच्छृंखलता के परित्याग की तथा पति-सेवा आदि की प्रेरणा पग-पग पर प्राप्त होती है, परन्तु कदाचित् पुरुष होने के कारण इन्हें अपने सजातीयों के लिए भी ऐसी ही बातें लिखने का साहस नहीं हुआ। पत्नी के कर्तव्यों के सम्बन्ध में जायसी लिखते हैं—

(क) रहै जो पिय के आयसु औ बरतै होइ हीन।
सोई चाँद अस निरमल, जनम न होइ मलीन॥[4]

(ख) जो न कंत के आयसु माहीं। कौन भरोस नारि के नाहीं?[5]

राजाओं की कथाओं में संग्रामों का वर्णन स्वाभाविक ही है और उनके लिए हथेली पर सिर रख कर लड़ने वालों की आवश्यकता होती है। इसलिए स्त्रियों को सिंह-सदृश सुतों को जन्म देने की प्रेरणा भी दिखाई देती है। कवि आलम कहते हैं—

१ जा पंथ ब्याह होत कछु नाहीं, पंथ बिवाहत सौ नारि चाहीं॥
धरम संचारी होय सो जा है संग बियाहु।
बस परै तस पंथ धाम को दूरे निबाहु। (नूर मुहम्मद इन्द्रावती, सहाय ग्रंथ हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह पृष्ठ १०९)
२ ३ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १८६
४ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १७
५ वही पृष्ठ १५

सिंहनि ऐसो पूत जनि, पर रन मंडहि जाइ ।
कुम्भ बिदारन गज दलन अवरन मांझे आइ ॥
सिंहनि ऐसो पूत जनि सिंह बिदारन जोग ।
पर सूरा रन मांगना जिन ते हँसे ये लोग ॥[1]

इन काव्यों में माता-पिता के सन्तान पर उपकारों तथा सन्तान के उनके प्रति कर्तव्यों का भी प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। 'अनुराग बाँसुरी' में जब नायक (अन्तःकरण) सर्वमंगला को पाने के लिए प्रस्थान करने लगा तब माता के निषेध करने पर उसने जनकों के वात्सल्य तथा उनके प्रति श्रद्धा का वर्णन यों किया—

मात पिता दाया की छाहीं पायउ सुख जिउ गया सिराहीं ॥
जो पितु मातु मया अस पाऊँ, हारे रतना सपन न पाऊँ ॥
जहाँ रहौं तहँ सिमरौं नाऊँ, आयसु देहि जहाँ मैं जाऊँ ॥
मात पिता पग रेनु, देइ दृग जोति ।
सोऊ मन के कहें, मुकुति न होति ॥[2]

यही नहीं नूर मुहम्मद ने माता-पिता की सेवा को ईश्वरीय आदेश कहा है—

मात-पिता सन करहु भलाई। करता की आज्ञा अस आई ॥
जो अपने आगे बिर्धाई। कबहूँ बात उह आखौ नाहीं ॥
और न कीजे काहूँ निरासा। तन सिर मांगु सरस सुख बासू ॥[3]

नारी-जीवन के दो भाग होते हैं। प्रथम भाग माता-पिता के घर व्यतीत होता है द्वितीय ससुराल में। जो वात्सल्य और स्वतन्त्रता कन्या को पितृगृह में सुलभ होती है उन्हें वह जीवन भर स्मरण किया करती है। उस के जीवन का द्वितीय भाग अनिश्चित होता है। सास-ननद के उपालम्भ तथा पति-निर्दिष्ट बन्धन उस के हृदय को प्रायः व्यथित करते रहते हैं। जायसी ने दोनों अवस्थाओं का सुन्दर उल्लेख किया है। 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड में जब पद्मावती सब सखियों के सहित सरोवर तीर पर आती है तब सखियाँ कहती हैं—

ए रानी ! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम कित यह सरवर पाली ॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरै देहीं ॥

---

१ आलम : माधवानल कामकंदला युद्ध खंड, हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ २२१, २२५

२ नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ३५

३ नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृष्ठ ४८१

पति का यह कर्तव्य तो निर्दिष्ट है[1] कि जिस स्त्री का उसने पाणिग्रहण किया है, उसकी जीवन-नैया को पार पहुँचा दे परन्तु उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह केवल उसी का हो कर रहे। पुराने जमाने में इस विषय में पुरुषों ने प्रायः कभी अपने पर यह बन्धन नहीं लगने दिया और ये सूफी काव्य भी उस नीति के अपवाद नहीं हैं। एक पत्नी के रहते हुए भी नायक अन्य रूपवती स्त्रियों के समाचार पाकर कामातुर हो उठते हैं और उन्हें पाने के लिए प्रथम पत्नी या पत्नियाँ माता-पिता तथा राजकीय सुखैश्वर्यों को सहर्ष तिलांजलि दे देते हैं। हाँ इस बात के लिए वे कुछ सीमा तक प्रशंसा-पात्र अवश्य हैं कि नवोढ़ा पाकर वे प्रौढ़ा का परित्याग नहीं कर देते हैं—अपने स्नेह के कुछ कणों से उन ब्याहताओं की तृषा भी शान्त रखते हैं। जब सौतिया डाह से संतप्त नागमती ने रत्नसेन को यह उपालम्भ दिया—

कन्त हँसी तुम मो सौं कियहु और सौं नेह।
तुम मुख चमकै बीजुरी मोहिं मुख बरिसै मेह॥[2]

तब रत्नसेन ने उस कष्ट को निम्नलिखित शब्दों से तुष्ट किया—

नागमती तू पहिलि बियाही। कठिन प्रीति दाहै जस दाही॥
बहुतै दिनन आव जो पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहुन जीऊ॥
पाहुन मोह पीउ जस जीऊ। तैल मिलहिं जो होइ बिछोऊ॥
मर्रोहि देत पयजल मीठा। जमुन जो लाग नीर अति मीठा॥
कोउ बैठु पास पास के हेरा। धनि मोहि बरस-निरास न फेरा॥[3]

पत्नी के लिए पातिव्रत धर्म की अन्याधीनता की उच्छृंखलता के परित्याग की तथा पति-सेवा आदि की प्रेरणा पग-पग पर प्राप्त होती है, परन्तु कदाचित् पुरुष होने के कारण इन्हें अपने सजातीयों के लिए भी ऐसी ही बातें लिखने का साहस नहीं हुआ। पत्नी के कर्तव्यों के सम्बन्ध में जायसी लिखते हैं—

(क) रहै जो पिय के आयसु औ बरतै होइ हीन।
सोई चाँद अस निरमल, जनम न होइ मलीन॥[4]

(ख) जो न कंत के आयसु माहीं। कौन भरोस नारि के बाहीं?[5]

राजाओं की कथाओं में संग्रामों का वर्णन स्वाभाविक ही है और उनके लिए हथेली पर सिर रख कर लड़ने वालों की आवश्यकता होती है। इसलिए स्त्रियों को सिंह-सदृश पुत्रों को जन्म देने की प्रेरणा भी दिखाई देती है। कवि आलम कहते हैं—

---

१ का संग ब्याह होत जब नाहीं, पंच निबाहत सो धरि बाहीं॥
जनम संघाती होत सो जा सें कीन बियाह।
जस परै तस पैयर्ध पग को वरै निबाह। (नूर मुहम्मद इन्द्रावती, [illegible], हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह, पृष्ठ १०६)

२,३ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १८६

४ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ ३७

५ वही पृष्ठ ३५

सिहुमि ऐसी पूत जनि पर रन मंडहि जाइ।
कुम्भ बिदारन गज दलन, अचरन मंडै आइ॥
सिहुमि ऐसो पूत जनि, सिंह बिदारन जोग।
घर सूना रन मामना जिन न हूते ये लोग॥[1]

इन काव्यों में माता-पिता के सन्तान पर उपकारों तथा सन्तान के उनके प्रति कर्तव्यों का भी प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। अनुराग बाँसुरी में जब नायक (अन्तःकरण) सर्वमंगला को पाने के लिए प्रस्थान करने लगा तब माता के निषेध करने पर उसने बालकों के वात्सल्य तथा उनके प्रति श्रद्धा का वर्णन यों किया—

मात पिता माया की छाहीं, पाएउ सुख नित मया सिराहीं॥
जो पितु मातु मया बस पाऊँ, हारे रसना अन्त न पाऊँ॥
जहाँ रहौं तहँ सिमरौं नाऊँ, आयसु मेटि कहाँ मैं जाऊँ॥
मात पिता पग रेनु, देइ पुन जोति।
दोऊ मन के रूठें, मुकति न होति॥[2]

यही नहीं नूर मुहम्मद ने माता-पिता की सेवा को ईश्वरीय आज्ञा कहा है—

मात-पिता सन कपटु भलाई। करता की आज्ञा यह आई॥
जो अपने आगे बिरधाई। उन्हूँ बात कह माती नाहीं॥
और न कीजे उन्हें निरासू। उन नित माँगु सरग सुख बासू॥[3]

नारी-जीवन के दो भाग होते हैं। प्रथम भाग माता-पिता के घर व्यतीत होता है द्वितीय ससुराल में। जो वात्सल्य और स्वतन्त्रता कन्या को पितृगृह में सुलभ होती है उन्हें वह जीवन भर स्मरण किया करती है। उस के जीवन का द्वितीय भाग अनिश्चित होता है। सास-ननद के उपालम्भ तथा पति-निर्दिष्ट बन्धन उस के हृदय को सदा व्यथित करते रहते हैं। जायसी ने दोनों अवस्थाओं का सुन्दर उल्लेख किया है। 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड में जब पद्मावती सब सखियों के सहित घूमकर तीर पर आती है तब सखियाँ कहती हैं—

ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नइहर रहना दिन चारी॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम कित यह सरवर पाली॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरै देहीं॥

1 मानस मादरमान कामकन्दला मद चद, हिन्दी [illegible], [illegible], २२५
2 नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ३५
3 नूरमुहम्मद इन्द्रावती [illegible] पृष्ठ १८३

पिउ पियारे सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
चहुँ सुख राखै की दुख, चहुँ कस जनम निबाह ॥[1]

सामाजिक नीति—इन प्रेम-कथानकों में समाज के प्रायः सभी अंगों पर यथेष्ट प्रकाश-निक्षेप किया गया है। गुरु, शिष्य मित्र स्त्री, पण्डित पुरोहित उत्तम अधम, हिन्दू मुसलमान जोगी स्वामी सेवक आदि सभी के व्यवहारों का प्रसंगवश उल्लेख मिलता है। सूफ़ी कवियों की दृष्टि में गुरु का स्थान समाज में सर्वोच्च था क्योंकि उसकी कृपा दृष्टि के बिना अध्यात्म-मार्ग पर अग्रसर होना असम्भव था। 'अनुराग बाँसुरी' में राजकुमार 'अन्तःकरण' गुरु-कृपा की प्राप्ति के लिए गुरु-महत्त्व का यों बखान करता है—

बिन गुरु भाव होवै सब चेला बिन गुरु काया बास अकेला ॥
गुरु बिन पंथ न पावै कोई केतिकौ ज्ञानी ध्यानी होई ॥
गुरु देखी मीठो किछु नाहीं, जहँ गुरु तहाँ त्रिपत मिटि जाहीं ॥
'कामनाव' को गुरु अति भाव सो हित सों गुरु ताहि जिवावे ॥[2]

और जायसी के शब्दों में सुशिष्य भी वही है जो गुरु के चरण-न्यास के स्थान पर मस्तक रखने में ननु-नच न करे—

गुरु हमार तुम राजा हम चेला तुम नाथ।
जहाँ पाँव गुरु राखै चेला राखै माथ ॥[3]

अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मित्र मान बैठना नीति-विरुद्ध है। अधिकतर लोग स्वकार्य-साधन के लिए दूसरों से मेल-जोल बढ़ाते हैं। ऐसे स्वार्थ साधक सज्जनों से सचेत करने के लिए उसमान ने नैन-मीत इच्छा-मीत बैनमीत और प्रानमीत नाम के चतुर्विध मित्रों का वर्णन किया है—

मीतहि होई मीत जो चिन्ता, चारि भाँति जग कहँ ये मिता।
नैन मीत एक जग जाना जब देखि के प्रीत बखाना ॥
मुख फेरत ना धीरे लेखा गयो भूमि जनु सपना देखा।
इच्छा मीत होय एक दूजा सो लहु मीत इच्छा जब पूजा ॥
दोसौ पूजी नहिं मिताई, बहुरि बार नहिं झाँकि धाई।
बैन मीत बैन रस रसा, बैनहि जानि रहै मन बसा ॥
प्रान मीत कहि कठिन है, पर न सकै निरबाहि।
जो दुख माँगे प्रान लिए, सो महँ दुख जो ताहि ॥[4]

---

१ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ २३
२ नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ११
३ जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ ६५
४ चित्रावली ([illegible]) पृष्ठ [illegible]

इसलिए जीवन में मित्रों के चुनाव के समय और पश्चात् भी महामित्र की पहचान के लिए उसमान-निर्दिष्ट यह गुर विशेष उपयोगी है—

जो मुख पर ऐगुन कहै, महामित्र है सोइ ।
ताको मित्र न जानिये, ऐगुन राखै गोइ ॥[1]

समाज में स्त्री का स्थान भी आदरणीय नहीं दिखाई देता । उसकी मान प्रतिष्ठा उसके सौन्दर्य पर ही अवलम्बित दिखाई देती है । यह गया तो वह भी गई । इस सम्बन्ध में शेख नबी कहते हैं—

जिय जोबन जस नर की पानी, उतरि गये को मेघ भानी ।
तिरिया जाति दूध की नाईं जिमसे बहुरि सवाद न पाई ॥
तिरिया कंचन एक सम तुला, पानी गये न सो रस फूला ।
तिरिया कदलि खंभ की नाईं एक बार फर होइ फिरि जाई ॥
तिरिया काठिक बासन जैसे पाए छूति रसोई न पैसे ।
तिरिया जस माटी की गगरी माहुर बूँद परत पुनि बिगरी ॥
औगुन भरी सो तिरिया तजत गुन अपार ।
संत कहहु चित भीतर, का पुरखहि करतार ॥[2]

स्त्री के मन को छल-कपट से पूर्ण कहा गया है और उससे सावधान रहने की प्रेरणा की गई है—

तिरिया चरित न कीन्ह बिचारा, तिरिया मतें बूड़ संसारा ॥
तिरिया कहा मोहु भाग समान तिरिया छुये नाग बसाय ॥
तिरिया डार पुरुष मुख मेले तिरिया छल नाटक(?) खेले ॥[3]

उसका मन ही कपटी नहीं बुद्धि भी मंद कही गई है—

मतें बैठि बादल भी गोरा । सो मत कीन्ह पर नहिं भोरा ।
पुरुष न करहि नारिमति काँची । जस नौशाबा कीन्ह न बाँची ॥[4]

समाज में व्यक्तियों को उनकी योग्यता विद्या सम्पदा आदि के अनुसार ही स्थान दिया जाना चाहिए 'अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा' की नीति प्रशस्त नहीं मानी जा सकती । नूर मुहम्मद के शब्दों में इसका प्रतिपादन यों हुआ है—

जो जैसो तेहि तैसो चहिय ठौर ।
चरन फूल होत है, सिर को मौर ॥[5]

---

१ नूरमुहम्मद इन्द्रावती जायसी के परवर्ती० पृष्ठ ४८१ ४८२
२ शेखनबी ज्ञानदीप वही पृष्ठ ४२८
३ कासिमशाह हंस जवाहिर (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, १९१७ ई०) पृष्ठ १०५
४ जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ २८६
५ नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ६५

समाज में विभिन्न गुणों के आधार पर उत्तम मध्यम अधम वर्गों का विभाजन अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि उत्तम लोग दर्पान्ध हो कर छोटों से घृणा करें। वस्तुतः उत्तम वही है जो छोटों को अपने औदार्य से कृतकृत्य करे। प्रिया की क्षमा का अभिलाषी अन्तःकरण पत्र में मिलता है—

कमल भानु-छाया तें फूला, ना तु रवि कहाँ कहाँ वह फूला ॥
फूलै कुमुद चांद की छाया ना तो कहाँ कुमुद कौ काया ॥
तमुहि बरती तेहि छाया सों, ना तो का पुन-रूप रहा सों ॥
उत्तम होहिं अधम पर, धाय दयाल।
मन को सुफल करावैं छाया-जाल ॥[1]

समाज-प्रिय मानव किसी-न-किसी की संगति में तो रहता ही है परन्तु उच्चता उसे ही उपलब्ध होती है जो ऊँचों से मेल-जोल रखता है। 'पद्मावत' में जब हीरामन ने उच्च सिंहल-दुर्ग को पद्मावती का निवास-स्थान बताया तब रत्नसेन ने उत्साह पूर्वक कहा—

पुरुषहि चाहिय ऊँच हियाऊ। दिन-दिन ऊँचे राखै पाऊ ॥
सदा ऊँच पै सेइय बारा। ऊँचे सौं कीजिय बेवहारा ॥
ऊँचे चढ़ै ऊँच खंड सूझा। ऊँचे पास ऊँच मति बूझा ॥
ऊँचे संग संगति निति कीजै। ऊँचे काज जीउ पुनि दीजै ॥
दिन दिन ऊँच होइ सो जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़त जो खसि परै ऊँच न छाँड़िय काउ ॥[2]

क्रूर पड़ोसी के कारण सज्जन का जीवन दुःखमय हो जाता है इस नीति को हीरामन पद्मावती के सम्मुख प्रकट कर राजरोष के कारण वहाँ से विदा होना चाहता है—

मारै सोइ निसोगा डरै न अपने दोस।
केरा केलि करै का जौ भा बैरि परोस ॥[3]

ऐसे प्रतीत होता है कि उन दिनों अनेक लोग योगियों का वेष तो धारण कर लेते थे परन्तु होते थे मात्र 'बगुला भगत'। यही कारण है कि इन कवियों ने जनता को वेश-धारियों से सतर्क किया और सच्चे तपस्वियों के लिए वेष को अनावश्यक ठहराया। देयनवी-कृत ज्ञानदीप में रसाक, राय पुरुदेव को जोगियों से सावधान रहने की प्रेरणा करते हैं—

(क) जोगी भयल रूप सब रहहीं अनुहीं अपर कुछ अपरे करहीं।
जोगी नहिं आलम पतियाइय, जहं देखी तहं मारि उड़ाइय।

१ नूर मुहम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ७७
२ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ ६९
३ वही, पृष्ठ ९१

जोगी उलत फिरहिं संसारा । हाथ पसारि माइ मुख धारा ॥
जोगिहि नहिं पतियाइय, बैठिय पास न दौरि ।
देइँ भीखि भँधाइके, उठे देइ न पौरि ॥[1]
(घ) तपी न होहिं भेस के किन्हें । रंग-कुरंग मासा के लिहें ।
पउजस दास पोष भस जोगू, रहें छिपाय न चीन्हें लोगू ॥
दुखिरन भ्यास राति दिन जाहीं रहे तपस्या पूरन जाहीं ॥[2]

जब सजातीय लोग परस्पर मिलते हैं तो स्वभावतः व्यवसाय-विषयक चर्चा चल ही पड़ती है। जैसे 'पद्मावत' में ब्राह्मण हीरामन से पूछता है।

हम तुम जाति बराम्हन दोऊ । जातिहि जाति पूछ सब कोऊ ।
पंडित हौ तौ सुनावहु बेदू । बिनु पूछे पाइय नहिं भेदू ॥[3]

वैसे ही 'ज्ञानदीप' में जब देवजानी की सहृदय वाणी से ज्ञानदीप प्रभावित हुआ तब शेख नबी ने लिखा—

पण्डित पण्डित मिले जो कोई । बहुत सवाद बात कर होई ॥[4]

उस युग में सेवक स्वामी के सिर पर सवार न थे। स्वामी के माथे पर बल पड़ते ही उनके प्राण शुष्क होने लगते थे और उन्हें प्राण बचा कर भागने में कुशल क्षेम दिखाई देता था। जब रत्नसेन ने हीरामन शुक के वध का आदेश दिया तब भीत त्रस्त शुक ने पद्मावती से कहा—

ठाकुर अंत चहै जिहि मारा । तेहि सेवक कर कहाँ उबारा ?[5]

प्रजा का प्राण-पण से हित करना क्षत्रिय जन अपना परम कर्तव्य मानते थे। जब स्वामी विपद्ग्रस्त होता था तब सेवकों को घर-बार व दाम्पत्य सुख हेय प्रतीत होते थे। स्वामिकाज को प्राथमिकता दी जाती थी। 'पद्मावत' के गोरा-बादल युद्धयात्रा खंड में जब पत्नी ने बादल को युद्ध में जाने से रुकने को कहा तब बादल ने यों उत्तर दिया—

जो तुह गवन आइ गजगामी । गवन मोर जहँवाँ मोर स्वामी ॥
जौ लगि राजा छूटि न आवा । भावै बीर सिंगार न भावा ॥
तिरिया भूमि खड़ग कै चेरी । जीत जो खड़ग होइ तेहि केरी ॥
जेहि घर खड़ग मोंछ तेहि गाढ़ी । जहाँ न खड़ग मोंछ नहिं दाढ़ी ॥
तब मुँह-मोंछ जीउ पर खेलौं । स्वामि काज इन्द्रासन पेलौं ॥[6]

---

१ जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ ४२६
२ नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी पृष्ठ १२
३ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ ११
४ जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृष्ठ ४५७
५ जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ३१
६ वही, पृष्ठ २८४

इन काव्यों में वैसे तो उज्ज्वल चरित्र को ही नीति कहा गया है परन्तु जब पाला कपटी शत्रु से पड़ जाए और नय से काम न बने तब छल-पूर्ण व्यवहार को भी अंगीकार्य कहा है। जब यवनों ने रत्नसेन को छल से बन्दी बना लिया तब गोरा-बादल ने सोचा—

जस तुरकन्ह राजा छर साजा। तस हम साजि छोड़ावहिं राजा॥
पुरुष तहाँ पै करै छर, जहँ बर किए न आँट।
जहाँ फूल तहँ फूल है, जहाँ काँट तहँ काँट॥[1]

इसी प्रकार इन काव्यों में सज्जन अपकार के बदले भी उपकार करते हैं[2] दया तथा प्रेम सब को वशीभूत कर लेते हैं अपना दुःख सहृदय पर ही प्रकट करना चाहिए[3] सज्जन कंचन है और दुर्जन मिट्टी[4] आदि अनेक सामाजिक विषयों पर सुन्दर पद्य उपलब्ध होते हैं। अन्त में उन दस व्यक्तियों का उल्लेख कर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं जिन पर विश्वास करना विपत्तिजनक कहा गया है। कवि आलम का कथन है—

राजा मित्र सुनारि, बिनिया ठोलक आगि जनु।
पोखा साँपिनि हारि, ए दस होइ न आपने॥[5]

आर्थिक नीति—सूफी प्रभुप्रेमी थे और उनकी दृष्टि में निर्धनता का विशेष महत्त्व था[6]। मुहम्मद अब्दुल्लाह बिन कुरैशी के मत में तो सर्वस्व ही प्रभु को अर्पित कर देना चाहिए जिस से अपने पास कुछ भी न रहे।[7] फिर भी इन प्रेमकथानकों में प्रसङ्गवश कई पात्रों के मुख से धन की महिमा का कहीं-कहीं वर्णन कराया गया है। इन काव्यों में धन-सम्बन्धी अनेक प्रसंगों के अध्ययन से सामूहिक रूप से जो प्रभाव पड़ता है वह यह है कि धन कोई विशेष आदरणीय पदार्थ नहीं है। इसके उपार्जन में अनुचित साधनों का व्यवहार अनीति है। इसका लोभ न करना चाहिए और दान-पुण्य आदि कार्यों में इसका सद्व्यय ही श्रेयस्कर है।

पद्मावत में जब रत्नसेन जलपोत पर आरूढ़ होकर स्वदेश को लौटने लगा तब भिक्षु-वेषधारी समुद्र ने उससे कुछ दान माँगा। तब उसकी याचना को निष्फल करते हुए रत्नसेन ने धन का महत्त्व यों वर्णित किया—

---

१ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ २८०
२ वही भूमिका, पृष्ठ १७२
३ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १५८
४, वही पृष्ठ १८६
५. माधवानल कामकंदला हिन्दी प्रेमगाथाकाव्य संग्रह, पृष्ठ १६६
६ सरदार इकबाल अलीशाह : इस्लामिक सूफ़िज़्म, पृष्ठ २४२
७ मार्गरेट स्मिथ स्टडीज इन अर्ली मिस्टिसिज़्म (इन नियर एंड मिडिल ईस्ट) पृष्ठ ६

(क) सोई पुरुष दरब जेइ सेंती । दरबहि तें सुनु बातें एती ॥
दरब तें गरब करै जो चाहा । दरब तें धरती सरग बसाहा ॥
दरब तें हाथ आव कबिलासू । दरब तें अछरी छाँड़ न पासू ॥
दरब तें निरगुन होइ गुनवंता । दरब तें कुबुज होइ रुपवंता ॥
दरब रहै भुइँ दिपै लिलारा । अस मन दरब देइ को पारा ? ॥
दरब तें धरम करम औ राजा । दरब तें सुद्ध बुद्धि बल गाजा ॥[1]
(ख) दरबहि से यह राज पसारा । दरब लागि जग चाह सोहारा ॥[2]

(उसमान)

यद्यपि द्रव्य की उपर्युक्त महिमा में कुछ अनुचित प्रतीत नहीं होती तो भी सूफी कवि लोभ घूसखोरी चोरी-हरण आदि से द्रव्योपार्जन का निषेध ही करते हैं क्योंकि अन्ततः ये बातें मनुष्य के अधःपतन का ही हेतु बनती हैं। रत्नसेन का दहेज के द्रव्य से दुःख देख कर जायसी लोभ तथा द्रव्यसंचय के दोष दिखाते हैं—

दरब तें गरब, लोभ बिषमूरी । दत न रहै सत होइ दूरी ।
दत सत हैं, दूनौं भाई । दत न रहै, सत पै न जाई ॥
जहाँ लोभ तहँ पाप सँघाती । संचि के मरै आन कै थाती ॥
काहू चीर काहू भा राजू । काहू अनृत बिष भा काजू ॥[3]

घूसखोर व्यक्ति पतनोन्मुख पापमय, सत्यविहीन ही नहीं हो जाते अपने स्वामी के कार्य को भी हानि पहुँचाते हैं—

(क) लीन्ह अँकोर हाथ जेहि जीउ दीन्ह तेहि हाथ ।
जहाँ चलावै तहँ चलै फेरे फिरै न माथ ॥
लोभ पाप कै नदी अँकोरा । सत्त न रहै हाथ जो बोरा ॥
जहँ अँकोर तहँ नीक न राजू । ठाकुर केर बिनासै काजू ॥[4]
(ख) लालच बाँधा सब संसारा । लालच सौं मृतु होय पहारा ।
लालच हस्ती कर बल हूरा । लालच सौं हुरमतपुरा परा ॥[5]

(उसमान । चित्रावली)

चोरी-प्रथा के सम्बन्ध में कासिमशाह 'हंस जवाहर' में कहते हैं—

जो चोरी काहू सौं चाले आगुर आप न ताही घाले ।
जो चोरी चोरी न परई नरक खबर ताहि को करई ॥

१ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १७२
२ चित्रावली, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ २६१
३ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १७१
४ वही पृष्ठ २८७
५ जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य पृष्ठ २६१

जो पावी दूसर घर नाहीं कर सो जारा कर लेहि नाहीं ॥[1]

धन की निंदा का एक अन्य कारण यह भी है कि मनुष्य सम्पन्न होने पर स्रष्टा को विस्मृत कर देता है । जायसी का मत है—

तो लहि लोभ बिछोह का, भोजन परा न पेट ।
पुनि बिसरन भा सुमिरना जब संपति भै भेंट ॥[2]

धन की तीन अवस्थाएँ होती हैं—भोग दान और नाश[3] । नूरमुहम्मद ने पुण्योपार्जित सम्पदा का मितव्ययिता-पूर्वक विनियुक्त करने की प्रेरणा यों की है—

पद बाहर जेह पाँव पसारा । जाड़ा कठिन अंत तेहि मारा ॥[4]

इन काव्यों में दान का महत्व मात्रा पात्रादि पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है । दिया हुआ दान याचक का तो कल्याण करता ही है लोक-परलोक में दाता के लिए भी कई गुना हितकर होता है । पद्मावत में रत्नसेन राजा गजपति से कहते हैं—

धनि जीवन औ ताकर हिया । ऊँच जगत महँ जा कर दीया ॥
दिया जो जप तप सब उपराहीं । दिया बराबर जग किछु नाहीं ॥
एक दिया तें दस गुन लहा । दिया देखि सब जग मुख चहा ॥
दिया करै आगे उजियारा । जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा ॥
दिया मंदिर निसि करै अँजोरा । दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा ॥
हातिम करन दिया जो सिखा । दिया रहा धर्मन्ह महँ लिखा ॥
दिया सो काज दुवौ जग आवा । इहाँ जो दिया उहाँ सो पावा ॥
निरमल पंथ कीन्ह तेइ जेइ रे दिया किछु हाथ
किछु न कोइ लेइ जाइहि, दिया जाइ पै साथ ॥[5]

वैसे तो ब्राह्मण भाट भिक्षुक आदि पात्रों का जितना दान दिया जाए अच्छा है परन्तु भाट का आशीर्वाद भाग तो देय ही है । भिक्षुक-वेषी साधक रत्न ही पंथ के लिए रत्नसेन से माँगी है—

चालिस अंस दरब जहँ, एक अंस तहँ मोर ।
नाहिं त जरै कि बूड़ै जो निसि मूसहिं चोर ॥[6]

जो लोग न धन का सम्यक् भोग करते हैं न दान-पुण्य उनकी जीवन-नैया तो भवसागर में डूबती ही है । जायसी कहते हैं—

---

१ 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ २११
२ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १६
३ रतन-पदम् पृष्ठ १०।१४
४ 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ ४८०
५ जायसी ग्रंथावली पृष्ठ ६१
६ जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ १७२

हरष-भार सँग काहु न उठा। जेइ सेवा ताही सों रुठा।
गहै पखान पंख नहिं उड़ै। 'मोर मोर' जो करै सो बुड़ै॥
दरब जो जानहि आपना भूलहि गरब मनाहिं।
जौ रे उठाइ न लेइ सके, बोरि चले जल माहिं॥[1]

इतरप्राणि विषयक नीति—प्रेमकाव्यों में पशु-पक्षियों की चर्चा अनेक प्रसंगों में हुई है। 'पद्मावत' में हीरामन तोता राजा रत्नसेन और पद्मावती के पाणिग्रहण में सहायक हुआ। 'इन्द्रावती' में जब राजकुँवर दुर्जनराय द्वारा बंदी बना लिया गया तब उसने तोते द्वारा ही अपने बन्दी होने का समाचार इन्द्रावती के पास पहुँचाया। 'अनुराग बाँसुरी' में भी सनेहपुर ने नायक अन्तःकरण के साहाय्यार्थ उपदेशी नाम के शुक को साथ भेज दिया। 'चित्रावली' में जब सुजान नेत्रहीन होकर बीहड़ वन में भटक रहा था तब एक वनमानुष के दिये हुए अंजन के प्रयोग से उसके नयन पूर्ववत् ज्योतिपूर्ण हो गये। इस प्रकार प्रायः तो पशु-पक्षी कथा-पात्रों से सहानुभूति ही प्रकट करते हैं परन्तु कहीं-कहीं कथा में चमत्कार लाने या नायक की वीरता व्यंजित करने के लिए उन्हें विघ्नकारी भी चित्रित किया गया है जैसे 'चित्रावली' में अजगर सुजान को निगल जाता है परन्तु उसके विरह-ताप से तप्त होकर उगल देता है। इसी कथा में एक पक्षी नायक की मस्त हाथी से रक्षा करता है। जैसे ये प्राणी पात्रों के प्रति सहानुभूति रखते हैं वैसे ही कविगण भी इनके प्रति दयालुता का उपदेश ही देते हैं। यद्यपि राजाओं की कथाएँ होने के कारण इनमें आखेट का उल्लेख हुआ है तो भी इन कवियों ने अहिंसा का विधान तथा मांसभक्षण का निषेध किया है। 'पद्मावत' का निम्नलिखित ब्राह्मण-व्याध-प्रसंग इसी भाव का समर्थन करता है—

सुनि बाम्हन बिनवा चिरिहारू। करि पंखिन्ह कहँ मया न मारू॥
निठुर होइ जिउ बधसि पराया। हत्या केर न तोहि डर आवा॥
कहसि पंखि का दोस जनावा। निठुर तेइ जे परमस खावा॥
आवहिं रोइ जात पुनि रोना। तबहुँ न तजहिं भोग सुख सोना॥
औ जानहिं तन होइहि नासू। पोखैं मांसु पराये मांसू॥
जौ न होहिं अस परमस-खाधू। कित पंखिन्ह कहँ धरै बियाधू॥
जो ब्याधा नित पंखिन्ह धरई। सो बधत मन लोभ न करई[2]॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव-हत्या के वास्तविक अपराधी मांस-भक्षक लोग कहे गये हैं व्याध नहीं क्योंकि उन्हीं की उदर-पूर्ति व रसना की शान्ति के लिए बहेलिये निरीह पशु-पक्षियों के प्राणों के ग्राहक बनते हैं।

मिश्रित नीति—राजाओं की प्रेमकथाओं द्वारा प्रभु प्रेम का प्रतिपादन होने के

---

१ जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ १७१
२ जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ ३१

कारण सूफ़ी प्रेमकाव्यों में प्रभु का स्वरूप गुण और प्राप्तिसाधन तथा साधना संबंधी आदि के कर्तव्यों की पर्याप्त चर्चा उपलब्ध होती है परन्तु ये विषय हमारे विवेच्य क्षेत्र से बाहर हैं अतः इन विषयों में हम मौन रहना ही उचित समझते हैं।

संसार—सूफ़ी मत के अनुसार यह संसार सत्य नहीं है मिथ्या है। यह स्वप्न के समान है छाया के तुल्य है धोखे की टट्टी है समझदार मनुष्य इसके फेर में नहीं पड़ते[1]। इसीलिए सूफ़ी-कवियों के प्रेमकाव्यों में भी इसी नीति का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे—

(क) 'कामयाब' जग माया, सपन-समान।
रूप-रंग-सुख-संपति, जाइ निदान॥[2] (नूरमुहम्मद)

(ख) छाया जैसे सुख नेह हेरा, करें न छाया की थिति फेरा।
सुख छाँवर पर भुख दिन औ रात।
मरन सीख हा! जीवन, बीतो जात॥[3] (नूरमुहम्मद)

(ग) 'कासिम' कहत जगत सब धोखा। जो जग भूल गयो सो चोखा॥
धोखा गगन फिर दिन राती। धोखा देखि जलथल भाँति॥
धोखा नगर कोटि घर बारा। धोखा द्रव्य और कम सिंगारा॥
धोखा राज काज सुख भोगू। धोखा सब सम्पत कुल लोगू॥[4]

भ्रम-रूप इस संसार के पदार्थों से विरक्त तथा सत्य-रूप प्रभु पर अनुरक्त करने के लिए इन कवियों ने मृत्यु की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए काल-नगाड़े की ध्वनि को सुनने के लिए सब को स्थान-स्थान पर सचेत किया है—

(क) दस दुवार जेहि पींजर मांहा। कैसे बाँच मजारी पाहाँ?[5] (जायसी)

(ख) कोउ दिन दस आगे कोउ पाछे। है नित काल सो आछे-काछे॥
जो कोइ जनम लीन्ह जग माहीं। सो जान्यो एक दिन है नाहीं॥[6] (निसार)

(ग) बजे नगारा कूँच का कहतु सुचेत संसार।
अवसर पंथ साथी नहीं केहि विधि उतरब पार।[7] (निसार)

पुनर्जन्म—आत्मा का निधन तो अवश्यम्भावी है परन्तु दिवंगत का पुनर्जन्म भी आवश्यक है या नहीं इस विषय में सूफ़ियों का मत स्पष्ट है। वे अन्य मुसलमानों

---

१ मारगेरट स्मिथ: अलग़ज़ाली दि मिस्टिक पृष्ठ १२६
२ नूर मुहम्मद: अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ९८
३ वही, पृष्ठ ६६
४ कासिमशाह: हंस जवाहर, पृष्ठ २०१
५ जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ ९६
६ निसार: युसुफ जुलेखा हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह पृष्ठ २६८
७ वही " " , पृष्ठ २११

के तुल्य ही पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते।[1] फिर भी इन काव्यों में कहीं-कहीं ऐसी झलक दिखाई देती है जिससे इस विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न होता है। 'मधुमालती' में मनोहर मधुमालती से कहता है कि उसका प्रेम संयोगात नहीं अ जन्मजन्मान्तर का है।[2] 'इन्द्रावती' के फुलवारी खंड में इन्द्रावती भ्रमर की कमल के प्रति प्रीति को झूठी कहती हुई प्रभु प्रेमी की अमरता का यों वर्णन करती है—

> मित्र जो हैं करतार के मरत नाहिं हैं सोइ।
> एक मंदिर तजि दूसरें बसत हैं ये जोइ॥[3]

इस दोहे के उत्तरार्द्ध से पुनर्जन्म में विश्वास का आभास मिलता है। प्रश्न होता है कि पुनर्जन्म में आस्था न रखने वाले सूफियों ने अपनी कृतियों में इन विचारों को स्थान क्यों दिया। उत्तर यह हो सकता है कि मनोहर और इन्द्रावती दोनों ही हिन्दू थे और उन्होंने अपने विश्वास के अनुसार ये विचार प्रसंगवश व्यक्त किये यह मत सूफी कवियों का नहीं है। द्वितीय समाधान यह भी सम्भव है कि मनोहर के वचन भावावेश में कहे गये हैं। इन्द्रावती के उत्तरार्द्ध का आशय कदाचित् पुनर्जन्म का न होकर स्वर्ग में अन्य शरीर की प्राप्ति का हो। तीसरे यह भी हो सकता है भारतीय सूफी कवि इस विषय में भारतीय विचार-धारा से कुछ-कुछ प्रभावित हुए हों और इसीलिए उनकी लेखनी से उपर्युक्त भाव व्यक्त हुए हों। हमारा हृदय प्रथम उत्तर की ओर अधिक अग्रसर होता है।

दैव—इन काव्यों में कर्म-गति को अटल तथा भाग्य रेखाओं को अमिट कहा गया है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भले ही भावी सुख-दुख के बीज बो दे परन्तु जो सुख-दुख उसके भाग्य में लिख दिया गया है यह अपरिमार्जनीय है। आलम कवि कहते हैं—

> (क) जो दिनकर प्रभु अस्तवै, तप्त अग्नि सिराइ।
> पश्चिम भान उदय करै तऊ न कर्म गति जाइ॥
> पद्म आगि न सिला जमाहीं। पाहुन फोरि कमल निकसाहीं।
> जो इतनो विपरीत बसाव। तऊ न कर्म तौं छूटन पावै॥
> कर्महेत हरिचन्द्र जस भरा। कर्म हेत बलि सर्बस हारा॥
> कर्म हेत पांडव फल पायें। कर्म रेख रघुपति बन धाये॥
> सोइ कर्म मनुष्य में, कोटि करत किन फेर।
> सो 'कवि आलम' न मिटै कठिन कर्म की रेर॥[4]

---

१ इकबाल अलीशाह इस्लामिक सूफिज्म पृष्ठ ३०
२ 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ ३३६
३ नूरमुहम्मद : इन्द्रावती, हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह पृष्ठ २६
४ 'माधवानल कामकंदला', हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह पृष्ठ १८६

(घ) लिखा जो करता को, सोइ होइ।
जनम पत्र को आखर जात न धोइ॥[1]

इस प्रकार संसार में मनुष्य पर निज कर्मों के अनुसार जो सुख-दुख आ पड़ें उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। दुःख में अधीर होना अनुचित है क्योंकि वे सुख से अनुगत होते हैं। यूसुफ जुलेखा में यूसुफ स्वप्न में विरहाकुल जुलेखा को यों धैर्य प्रदान करता है—

दुख बिन सहे बिरह सुख नाहू। बिन दुख प्रेम न आवत काहू।
जो दुख ते नहिं होय उदासा। अंत होय सुख भोग बिलासा॥[2]

और यह तो पहले ही कह चुके हैं कि सांसारिक भोग-विलास वस्तुतः इन कवियों के अभीष्ट नहीं है उन से विरक्ति ही इन का वास्तविक ध्येय है।

देश, काल—इन काव्यों में स्थान और समय के सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक तथ्यों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक को योग्यतानुसार ही स्थान की कामना करनी चाहिए, अन्यथा हानि उठाने की सम्भावना है। नूरमुहम्मद इन्द्रावती में कहते हैं—

जो पंछी निज बाहर आवा। सो निवास नहिं अन्दर पावा॥
अपने जोग ठाव जेहि लीन्हा। सब कोऊ तेहि आदर दीन्हा॥
सब काहू कहं ठाउं हैं अपने अपने भाग।
रानी राजा जोग है असि जोगे है भाग॥[3]

इन प्रेमकथानकों में राजकुमार प्रियतमाओं की प्राप्ति के लिए स्वदेश को छोड़ कर विदेश जाने का संकल्प करते हैं। ऐसे अवसर पर उन्हें सर्व-सम्बन्धी स्वदेश वास के सुखों तथा प्रवास के दुखों का स्मरण करा के उन्हें विदेशगमन से रोकने का यत्न करते हैं। परन्तु ये सच्चे प्रेमी गृहवास की हानियों तथा प्रवास के लाभों का वर्णन करते हैं। अनुराग बांसुरी में जब 'अन्त करण' सनेहपुर को जाने के लिए उद्यत हो गया तब उसके मित्र (बुद्धि) ने उसे यों समझाया—

का परदेस जाय तोहिं भावा। है परदेस गवन अति भारा॥
प्यारे नगर पराए मांझ। यहि कठिन अध्यापक सांझ॥
अपने देस परमु जो कोई। *मान-रहित बिदेसहिं होई*॥
हो तुम राजकुमार अति सुकुमार।
का जानहु परदेसे, संकट भार॥[4]

इस पर ईश्वर-विश्वासी राजकुमार विदेश-यात्रा के लाभों का यों वर्णन करता है—

१ नूरमुहम्मद 'अनुराग बांसुरी' पृष्ठ ६७
२ निसार: यूसुफ जुलेखा हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह पृष्ठ २६२
३ हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह पृष्ठ ८६
४ नूरमुहम्मद, अनुराग बांसुरी, पृष्ठ १२

जा पर होइ तासु अनुकंपा तापर होइ सुमन सम सेपा।
जनम भूमि सों जब लगि कोई तब लगि गुनी-बिराज न होई॥
सुमन तोरि जब बाहर आव, उन्नत ठौर पाय तब पाव॥
मएं बिदेस बहुत कुछ, आव सिस्टि।
तहि परदेस-भरम नर देखे सिस्टि॥[1]

नीतिकारों की दृष्टि में काल का भी विशेष महत्त्व होता है। प्रत्येक कार्य हर समय नहीं किया जा सकता है न करना उचित ही होता है। इसलिए देश के समान काल का विचार भी आवश्यक है। 'अनुराग बाँसुरी' में रानी की प्रार्थना पर उपदेशी शुक कहता है—

उपदेसी बूझा मन माहीं। मिली समय फिर आवति नाहीं॥
बोल समय में बोलब भलो। डोल-समय में डोलब भलो॥
अपनी समय पपीहा बोले। सुनि ता बचन बहुत मन डोले॥
अपनी समय मेघ जल ढारा। हरित होइ धरती संसारा॥
समय पाइ जोबन तन आव। सुन्दरता छबि देह बढ़ाव॥
समय पाइ जब मालति फूल। तब मधुकर मन ता पर भूले॥[2]

इन काव्यों में ग्रह राशि लगन-मुहूर्त दिशा-शूल आदि विषयों की भी चर्चा की गई है। लोग प्रत्येक कार्य करते समय इन बातों का भी ध्यान रखा करते थे अत: इन सूफ़ी कवियों ने इन विषयों की उपेक्षा करना भी अनुचित समझा। जैसे कासिमशाह दिशा-शूल के विषय में कहते हैं—

देखें पंडित बेद बिचारी। आदित शुक पच्छिम दिसि भारी॥
मंगल बुध उत्तर दिसि भाड़ा। समझु काल कटक लिये ठाढ़ा॥
सोम सनीचर पूरब हीना। बेफ़ बरम सो औगुन कीना॥[3]

परंतु यदि किसी को अनिवार्य कार्य से विषम वार में भी प्रस्थान करना ही पड़े तो उसके प्रतिकार भी निर्दिष्ट हैं—

जो रे उत्ताहिल चाहु सिधावै। औषध खाय सिध सुख पावै॥
बुध दधि सों अरु गुरु मीठा। रबि तांबूल खाय सुख दीठा॥
राई खाय शुक पग धारै। दर्पण देख सो सोम सिधारै॥
बायबिडिंग सनीचर भूरी। मंगल धनिया खा दुख दूरी॥[4]

शकुन—प्राचीन काल से चली आती हुई शकुन-परम्परा की मान्यता इन काव्यों में भी दिखाई देती है। अकस्मात् दिखाई देने वाले विशेष पशु-पक्षी ही भावी

---

१ वही पृष्ठ २

२ नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६१

३ व ४ कासिमशाह हंस जवाहिर, 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ २९४

(ख) लिखा जो करता को, सोइ होइ।
जनम पत्र को आखर जात न धोइ।।[1]

इस प्रकार संसार में मनुष्य पर निज कर्मों के अनुसार जो सुख-दुख आ पड़े उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। दुःख में अधीर होना अनुचित है क्योंकि वे सुख के अनुगत होते हैं। यूसुफ जुलेखा में यूसुफ स्वप्न में विरहाकुल जुलेखा को यों धैर्य प्रदान करता है—

दुख बिन सहो विरह दुख दाहू। बिन दुख प्रेम न आवत काहू।
जो दुख ते नहिं होय उदासा। अंत होय सुख भोग विलासा।।[2]

और यह तो पहले ही कह चुके हैं कि सांसारिक भोग-विलास वस्तुतः इन कवियों के अभीष्ट नहीं हैं उन से विरक्ति ही इन का वास्तविक ध्येय है।

देश काल—इन काव्यों में स्थान और समय के सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक तथ्यों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक को योग्यतानुसार ही स्थान की कामना करनी चाहिए अन्यथा हानि उठाने की सम्भावना है। नूरमुहम्मद 'इन्द्रावती' में कहते हैं—

जो पंछी तित ऊपर आवा। सो निवास नहिं ऊपर पावा।।
अपने जोग ठाम जेहि लीन्हा। तब कोऊ तेहि आदर दीन्हा।।
सब काहू कहं ठावं है अपनी अपनी भाग।
रानी राजा जोग है दासि जोगें है भाग।।[3]

इन प्रेमकथानकों में राजकुमार प्रियतमाओं की प्राप्ति के लिए स्वदेश को छोड़ कर विदेश जाने का उपक्रम करते हैं। ऐसे अवसर पर उन्हें घर-सम्बन्धी स्वदेश वास के सुखों तथा प्रवास के दुखों का स्मरण करा के उन्हें विदेशगमन से रोकने का यत्न करते हैं। परन्तु वे सच्चे प्रेमी गृहवास की हानियों तथा प्रवास के लाभों का वर्णन करते हैं। 'अनुराग बाँसुरी' में जब 'अन्त करण' सनेहपुर को जाने के लिए उद्यत हो गया तब उसके मित्र (बुद्धि) ने उसे यों समझाया—

का परदेस जाय तोहि भावा। है परदेस अगम अति पावा।।
प्यारे नगर पराए भोग्य। नहिं कठिन अवगाह लोग्य।।
अपने देस परमु जो कोई। माया-रहित विदेसहिं होई।।
हौ तुम राजदुलारे अति सुकुमार।
का जानहु परदेसै, संकट भार।।[4]

इस पर देश-निवासी राजकुमार विदेश-यात्रा के लाभों का भी वर्णन करता है—

१ नूरमुहम्मद 'अनुराग बाँसुरी' पृष्ठ ६७
२ निसार० युसुफ जुलेखा हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह, पृष्ठ २६६
३ हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह पृष्ठ ८६
४ नूरमुहम्मद, अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ११

जा पर होइ तासु अनुकंपा तापर होइ सुमन सम संपा।
जनम भूमि सों जब लगि कोई तब लगि गुनी-विकास न होई॥
सुमन तोरि जब बाहर आव, उन्नत ठौर पाय तब पावै॥
एहं विवेक बहुत गुन पावै सिद्धि।
सहि परदेस-कलेस नर देखे सिद्धि॥[1]

नीतिकारों की दृष्टि में काल का भी विशेष महत्त्व होता है। प्रत्येक कार्य इ समय नहीं किया जा सकता है न करना उचित ही होता है। इसलिए देश के समान काल का विचार भी आवश्यक है। अनुराग बाँसुरी में रानी की प्रार्थना पर उपदेश गुरु कहता है—

उपदेसी बूझा मन माहीं। बिती समय फिर आवति नाहीं॥
बोल समय में बोलब भलो। बोल-समय में डोलब भलो॥
अपनी समय पपीहा बोले। सुनि ता बचन बहुत मन डोले॥
अपनी समय मेघ जल डारा। हरित होइ धरती संसारा॥
समय पाइ जोबन तन आव। सुन्दरता छबि देइ चढ़ाव॥
समय पाइ जब मालति फूल। तब मधुकर मन ता पर भूलै॥[2]

इन काव्यों में ग्रह राशि लगन-मुहूर्त दिसा-सूल आदि विषयों की भी चर्चा की गई है। लोग प्रत्येक कार्य करते समय इन बातों का भी ध्यान रखा करते थे परन्तु इन सूफी कवियों ने इन विषयों की उपेक्षा करना भी अनुचित समझा। जैसे कासिमशाह दिसा-सूल के विषय में कहते हैं—

देखे पंडित वेद विचारी। भाखित सूक पच्छिम दिसि भारी॥
मंगल बुध उत्तर दिसी गाढ़ा। समहुँ काल कटक लिये ठाढ़ा॥
सोम सनीचर पूरब होला। बैठे दक्खिन सो औगुन बोला॥[3]

परंतु यदि किसी को अनिवार्य कार्य से नियम बार में भी प्रस्थान करना ही पड़ तो उसके प्रतिकार भी निर्दिष्ट हैं—

जो रै पताहिल चहै सिधाव। औषध खाय सिय सुख पावै॥
बुध दधि भी खेवै गुड़ मीठा। रवि तांबूल खाय मुख दीठा॥
राई खाय सूक पग धारे। दर्पण देख सो सोम सिधारे॥
मंगलदिन धनीचर भुरी। मंगल बनिया था सुख दूरी॥[4]

सगुन—प्राचीन काल से चली आती हुई सगुन-परम्परा की मान्यता इन काव्यों में भी दिखाई देती है। अकस्मात् दिखाई देने वाले विशेष पशु-पक्षी ही भावी

१ वही पृष्ठ २०
२ नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ११
३ व ४ कासिमशाह हंस जवाहिर, 'जायसी के परवर्ती ' पृष्ठ २१४

शुभ अशुभ को सूचित नहीं करते विभिन्न व्यवसायियों का दर्शन भी मांगलिक या अमांगलिक माना जाता है। शेख नबी-कृत 'ज्ञानदीप' में जब ज्ञानदीप विद्याधर भी प्रस्थान करने लगा तब ये सिद्धि-सूचक शकुन हुए थे—

दाहिने काग समरिया बोला । बायें मिलै पग होय निडोला ॥
रजक परोहन भारे आवा । दाहिने ओर मिरग देखरावा ॥
मालिनि आइ फूल कर दीन्हा । बैसो अचाइ आगु गुर लीन्हा ॥
मीना खेमकरी देखराई । लोवा बायत लिये मा आइ ॥
दहिउ मही लिए सेठ पुकारी । ओमर आइ भरउ लेइ झारी ॥
बांए दिसि बोला पतिहारा । तरनि बोल कलस भरनारा ॥
बालक तिलक पुरोहित कीन्हे । सिद्धि-सिद्ध गुरु असीस दीन्हे ॥[1]

आजकल के कुछ लोग भले ही इन शकुनों को मिथ्या-विश्वासों के अन्तर्गत मानें परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन तथा मध्यकाल में लोग शुभ या अशुभ शकुन देख कर क्रमशः प्रसन्न या विषण्ण हो उठते थे। और इन्हीं के अनुसार भावी कार्यों के अनुष्ठान या परित्याग का निश्चय कर लेते थे। इसी प्रकार यन्त्र मन्त्र, जादू-टोना आदि की चर्चा भी इन काव्यों में कहीं-कहीं उपलब्ध होती है।[2]

विषय—'वस्ल' या प्रभु-मिलन के इच्छुक सूफ़ियों की रचनाएँ होने पर भी प्रेमकथात्मक गीति-काव्य की दृष्टि से पर्याप्त महत्व रखते हैं। इनमें शरीर, यौवन, रूप-लावण्य की वह उपेक्षा प्रायः दिखाई नहीं देती जो बौद्धों जैनों तथा सन्तों की रचनाओं में प्रचुरता से पाई जाती है। शरीर को स्वस्थ और पुष्ट रखना तथा यौवन के सुखों का उचित उपभोग करना इनमें निन्द्य नहीं माना गया। इनमें लौकिक प्रेम को प्रभु प्राप्ति का साधन माना गया है और उस प्रेम का आधार है यौवन और सौन्दर्य। अतएव वे प्रशस्य हैं हेय नहीं। विद्या और बुद्धि की प्रशंसा इनमें अनेकत्र दृष्टिगत होती है। धर्म-ग्रन्थों की भी उपेक्षा इनमें दिखाई नहीं देती। प्रायः सभी नायिकाएँ वेद पुराणों की विदुषी कही गई हैं। वेद और विद्या से विहीन जनों को पशु तक कहा गया है। विद्या की अविभाज्यता तथा अहार्यता का भी उल्लेख मिलता है। साथ ही इस उपयोगी बात का भी कि उसे छिपा कर न रखना चाहिए, अपितु गुणि-जनों के समक्ष प्रकट करना चाहिए क्योंकि ऐसा किये बिना न समाज को उस से लाभ की प्राप्ति होती है और न विद्वान् को मान-प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार धैर्य, साहस दृढ़ संकल्प दया कीर्ति आदि गुणों के उपार्जन पर विशेष बल अंकित होता है। कहना व्यर्थ है कि यही वे गुण हैं जो सांसारिक सफलता के लिए अनिवार्य हैं।

प्रेमकथानकों के अनुसार माता-पिता, भाई-बहिन पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्धी

[1]जायसी के परवर्ती पृष्ठ ४२७
[2]जायसी के परवर्ती पृष्ठ ११०

उपेक्ष्य नहीं है। माता-पिता प्रत्यक्ष ही नहीं, सम्यक् सेव्य हैं। उनकी आज्ञा सर्वदा शिरोधार्य है परन्तु एक अवसर ऐसा भी है जब उसकी उपेक्षा ही नीति कही गई है। तुलसी दास जी ने उसका उल्लेख यों किया है—

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।।[1]

ऐसे ही माता-पिता को सुखी रखने का उपदेश देने के अनन्तर नूरमुहम्मद कहते हैं—

एक बात मों कहा न कीजै सुनि यह बात चित्त सों लीजै।
जो तेहि कहै कि करहु अधर्मी, पगु धरहु दूसर करतारी।।[2]

यह बात भारतीय परम्परा के भी प्रतिकूल नहीं है। जब माता पिता प्रभु प्राप्ति या धर्म के मार्ग में व्यवधायक हुए तब उनका आदेश भी उपेक्ष्य हो गया। प्रह्लाद ने इसी नीति को अधिमान देते हुए पिता की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया था और मीराबाई ने भी सम्बन्धियों को भक्तिपथ में अन्तराय मान कर गृहपरित्याग ही उचित माना। जनकों का स्वसंतान के प्रति कितना स्नेह होता है इस विषय में कासिम शाह की उक्ति है—

करा जिउ माता की और पिता को प्रान।
बालक पगु को जोरा मात पिता अँखियान।।[3]

परन्तु परिवार में पुत्र तथा पुत्री का स्थान समान नहीं कहा गया है। जहाँ पुत्र का जन्म उल्लास का कारण है[4] वहाँ कन्या की उत्पत्ति चिन्ता की जननी। भारत में यह भावना चिरकाल से चली आई है।[5] वह दिन धन्य माना जाता है जब परकीय धन पुत्री पितृगृह से पतिकुल को प्रस्थान करती है।[6]

---

१ विनयपत्रिका (गीताप्रेस सं० २००७) पृष्ठ २८१
२ नूरमुहम्मद इन्द्रावती, (का० ना० प्र० सभा १९०६) पृष्ठ १३६
३ कासिम शाह हंस जवाहिर, 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ ११८
४ मनि यह रग पुत्र की होइ, जासों रहत हुलास सब कोई।। (कासिम शाह हंस जवाहिर, पृष्ठ ११)
५ जातेति कन्या महती हि चिन्ता, कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः।
दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्।। (सुभाषित-रत्नभाण्डागार पृष्ठ ९०)
६ (क) कन्या पितृवासिता पंचका वधू पंचका प्रवेशिता। कन्या संवर्धितं पंचं धर्मः पंचको दिने दिने। (वही, पृष्ठ १६६)
(ख) अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः। जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।। (कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल ४।२२)

जब ते पुहिला जगती सतत किये पतपात।
तिनको कोटा तजहि जन यौवन पाय बरात ॥[1]

इन काव्यों में पारिवारिक जीवन की पवित्र मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का भरसक उपदेश दिया गया है। उच्च परिवारों में प्राचीन काल से प्रचलित बहुपत्नी-विवाह का उल्लेख तो प्रायः सभी प्रेमकाव्यों में हुआ है परन्तु न तो नायक कभी किसी परकीया के प्रेमपाश में फँसते हैं और न ही कभी किसी प्रेयसी से विवाह-विधि की सम्पन्नता से पूर्व संयोग-सुख की कामना करते हैं। केवल जान-कृत 'रूप मंजरी' में ही इसका अपवाद दिखाई देता है जहाँ रूपमंजरी प्रेमातिरेक के अधीन होकर स्व पितृगृह से नायक मानसिंह के साथ भाग जाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध कुछ कहने का साहस इन कवियों ने नहीं दिखाया। दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का सारा भार इन्होंने अबलाओं के निर्बल कन्धों पर ही डालना उचित समझा। 'तिय बिन घर नाहिन बनै ज्यौं मोती बिन सीप'[2] कहकर गार्हस्थ्य जीवन के लिए स्त्री की अनिवार्यता तो सिद्धान्ततः स्वीकार कर ली गयी परन्तु उस पर प्रतिबन्ध इतने अधिक लगा दिये गये कि जो आधुनिक नारी को अत्याचार से कम प्रतीत न होंगे। घर से बाहर पाँव न रखना, घूँघट काढ़ना, धीरे चलना, धीरे बोलना, नीचे देखना, पर-पुरुष को देख छिप जाना आदि ऐसे प्रतिबन्ध हैं[3] जो सम्भवतः इस्लाम के साथ भारत में आए और प्रसंगवश इन काव्यों में उल्लिखित हुए।[4] वस्तुतः इन काव्यों में स्त्री के शील पर इतना अधिक बल है जितना किसी अन्य विषय पर नहीं—

जा के घर में होइ सत पति सों हित अनुराग।
शील बिना 'कवि जान' कहि घर घर रूप बिकाइ ॥[5]

परन्तु जब पति की कुलीनता के कारण घर में एकाधिक पत्नियाँ आ ही जाएं तब नित्यप्रति कलह की अपेक्षा उनका पति के अधीन तथा परस्पर प्रेमपूर्वक रहना ही

---

१ रसमाल चित्रावली पृष्ठ १८६
२ ३ 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ १८५
४ लाय न्हेंइ बैठिह आंगिन माही, है यह पनु है जानत नाहीं।
घूँघट पहिर मान यह जाही पगु जहाँ धीमें राखत जाहीं॥
जो पन झंगी सबद न बोले, सुमत बिराने को मन डोले।
नीचे नयन राख सों चीतै जो मुख ऊपर घूँघट दीजै।
हो प्यारी जब पहिरहु गहना पुरुष बिराने सो छिप रहना॥ (नूर मुहम्मद इन्द्रावती पृ० ५०)
५ 'जायसी के परवर्ती' पृष्ठ १७४

नीति है। इसी नीति का उल्लेख कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में और उसमान ने 'चित्रावली' में किया है।[1]

इतना कुछ होने पर भी बेचारी नारी जाति को इन काव्यों में उच्च स्थान नहीं मिला। 'कथा कलावती' म नायक पुरन्दर आठ पत्नियों की विद्यमानता में भी कलावती के लिए अधीर होता हुआ दोषी नहीं ठहराया गया परन्तु नारी के शीश में शीश देख कर यह दण्ड घोषित कर दी गई—

असी नहीं निहुरी की जाति जब तब इन है पामिउ जात।
जो तिय अपनो खोव सील, जारहु ताहि न लावहु ढील॥[2]

यहाँ यह बात लक्ष्य करने की है कि इन काव्यों में वारांगना-प्रेम की चर्चा न होने के तुल्य है। 'इन्द्रावती' में रम्भा गणिका का उल्लेख तो हुआ है परन्तु उसका प्रेम आदर्शात्मक है। वह प्रेम के भिखारी राजा हंसराज को अपने से विमुख कर स्वस्वामिनी 'चन्द्रवदन' की ओर प्रेरित करती है। राजाओं की इन कथाओं में गणिका-विषयक नीति की चर्चा के अभाव का कारण कदाचित् यह है कि जब उन्हें कुलीन तथा कमनीय राजकुमारियों की कमी न थी तब उच्छिष्ट वारांगनाओं को उनकी प्रेमपात्री दिखाना राजाओं के गौरव ह्रास का ही कारण होता।

कन्याओं की स्थिति भी स्तुत्य नहीं है। जिन व्यक्तियों के साथ उन्हें जीवन भर निर्वाह करना होता है उनके चुनाव में भी इनकी सम्मति आवश्यक नहीं कही गई। वे लज्जा भय आदि के कारण इस विषय में जिह्वा तक नहीं हिला सकती।[3] उन्हें संयोगवश अभीष्ट पति प्राप्त हो जाए तो उनका सौभाग्य है अन्यथा घुल घुलकर मरना है। हाँ जान कवि ने इस विषय म कन्याओं को कुछ स्वातन्त्र्य देने का साहस दिखाया—

---

१ (क) 'शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।' (कालिदास: अभिज्ञान शाकुन्तल, ४। १८)

(ख) सौतिन कर इरषा नहि करना सोई संग सदा जिय डरना।
अरुप मान सेवा अधिक रिसि राखब जिउ मारि।
जेहि घर महँ ये तीन गुन सोइ सोहागिन नारि॥ (उसमान: चित्रावली पृष्ठ २२३-२४)

२ जान कवि कथा [illegible] जायसी के परवर्ती पृष्ठ १८३॥

३ (क) हौं सौ वारी पिता घर, बोलत बचन लजाउँ।
तब मैं क्यों कलंक लै प्राण काय पर लाउँ॥

(ख) पिता को पूछे बर जिउ डारे माता पूछे घोर विष मारे॥ (कासिमशाह: हंस जवाहिर पृष्ठ ४२ २०१)

(घ) शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने ॥[1]
जस जस भाग न होहिं पैहि जोती। जस जस सीप न उपजहिं मोती ॥
बन बन बिरिछ न चंदन होई। तन तन बिरह न उपजै सोई ॥[2]

(जायसी)

(घ) न चौरहार्यं न च राजहार्यं, न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥[3]
विद्या धरत न चोर चुराई नहिं तस्कर रूप हाथें आई ॥
नहिं नृप कर न सहोदर-भाग खर्चत बढ़त जब बाँटे भागें ॥[4]

(नूरमुहम्मद)

कहना न होगा कि ऐसे स्थलों पर भी सूफी-कवियों ने अक्षरशः अनुवाद नहीं किया भाव ही ग्रहण किये हैं। जैसे—'घ' में 'शैले-शैले' के स्थान पर 'जस-जस' और 'गजे-गजे' के स्थान पर 'जस जस सीप' से ही संतोष कर लिया गया है परन्तु रत्नों और मोतियों की दुर्लभता जो मुख्य प्रतिपाद्य है दोनों में तुल्य ही है।

विदेशी प्रभाव—यूसुफ-जुलेखा, लैलामजनूँ आदि कुछ कथाओं को छोड़ कर सब प्रेम-कथाएँ हिन्दू वातावरण से प्रपूर्ण हैं। फिर भी मुसलमान सूफ़ियों की कृतियाँ होने के कारण उन पर इस्लाम तथा विदेशी साहित्यों के प्रभाव की झलक कहीं-कहीं दिखाई दे ही जाती है। आत्म-प्रेम के अमिट होने का उल्लेख तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के साहित्यों में समान रूप से किया गया है परन्तु आदम-हव्वा की भूल के कारण होने वाले मानवीय दुःखों का वर्णन सामी संस्कृति से ही आया है। 'पद्मावत' में जब पद्मावती की विदाई के समय उसके सम्बन्धियों तथा सखियों के हृदय विदीर्ण तथा नेत्र सजल हो गये तब उनके मुख से अनायास निकल पड़ा—

आदि अंत जो पिता हमारा। ओहु न यह दिन हिये बिचारा।
छोह न कीन्ह बिछोहा ओहू। का हम्ह दोष लाग एक गोहूँ ॥[5]

हव्वा की प्रेरणा से ही आदम ने गेहूँ का वर्जित फल खाया था और उसीके अपराध के कारण निरीह नारियों को जनक-वियोग का यह दुःसह कष्ट सहना पड़ता है। यह 'करे कोई और भरे कोई' की नीति भारतीय साहित्य में नहीं मिलती। यहाँ तो यही देखा जाता है कि जब किसी प्राणी पर विपत्ति आती है वह अपने ही पूर्व-कर्मों को कोसता

१ चाणक्य नीति, पृष्ठ ९१८
२ जायसी ग्रंथावली भूमिका पृष्ठ १७५
३ सुभाषित रत्न भांडागार पृष्ठ १०।११
४ नूरमुहम्मद अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ ६
५. जायसी ग्रंथावली पृष्ठ १६०

है किसी अन्य को नहीं।

मनुष्यों को अपने सभी भले-बुरे कर्मों के फल क़यामत या प्रलय के दिन ही प्राप्त होते हैं यह सिद्धान्त भी भारतीय नहीं है। भारतीय आस्था तो यह है कि ये इस जीवन में साथ-साथ भी मिलते जाते हैं और आगामी जन्मों में भी मिल सकते हैं। सूफ़ी प्रेमकाव्यों में प्रलय के दिन कर्मफल की प्राप्ति का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। जैसे पद्मावत में कहा गया है—

पुन अवगुन विधि पूछब होइहि लेख भौ जोख।
वह बिनउब आगे होइ करब जगत कर मोख ॥[1]

दान-रूप में चालीसवां अंश देना भी इस्लामी संस्कृति के ही अनुरूप है।[2] इसी प्रकार प्रतिपाद्य नीति के समर्थन में इन कवियों ने कहीं-कहीं हातिम, इस्कंदर, नौशावा आदि विदेशी व्यक्तियों की जीवन-घटनाओं की ओर भी संकेत किये हैं।[3] कई पदों में फ़ारसी की सोक्तियों की छाया स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसे—

फारसी—(क) दूरी बा-बसर नज़दीक व नज़दीकी बेबसर दूर।[4]-क

दृष्टि वालों के लिए दूर भी समीप और दृष्टि रहितों के लिए समीप भी दूर होता है। [4]—ख

नियरहि दूर फूल जस काँटा। दूरहि नियर सो जस गुर चाँटा।[4]-ग

(ख) फारसी—इश्क व मुश्क रा नतवाँ नहुफ्तन।-ग

(प्रेम और मृगमद छिपाये नहीं छिपते)

परिमल प्रेम न आछै छपा ॥-घ

कलापक्ष—सूफ़ी काव्य के कलापक्ष पर सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सरला शुक्ल, कमल कुलश्रेष्ठ आदि विद्वान् इतना अधिक लिख चुके हैं कि उसका सविस्तर उल्लेख अनावश्यक प्रतीत होता है। संक्षेप में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि सूफ़ी काव्यों के नैतिक अंशों में शृंगार और और शान्त रस का प्राधान्य है और शेष रसों की व्यंजना छिटपुट रूप से हुई है। भावों में से रति, असूया, औत्सुक्य, उत्साह, धृति, निर्वेद, हर्ष, विषाद, व्रीडा, चिन्ता, दया, मति आदि की अभिव्यक्ति अधिक हुई है।

ज्ञान कवि की भाषा पिंगल है और अज्ञातकर्तृक कामरूप की कथा की भाषा खड़ी बोली। शेष कवियों ने बोल-चाल की मधुर अवधी भाषा में अपनी रचनाएँ की हैं। भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से जायसी, उसमान और नूरमुहम्मद के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। मुसलमान कवियों की कृतियाँ होने के कारण सूफ़ी-काव्यों में

१ जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ १८१
२ वही , मूल पृष्ठ १७२
३ वही मूल , पृष्ठ २४६
४ क-ग वही भूमिका पृष्ठ १८६

फ़ारसी अरबी आदि के भी सैकड़ों शब्द प्रयुक्त हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक है और रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों की मात्रा भी पर्याप्त है।

काव्य-विधान की दृष्टि से ये प्रेमकाव्य प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आते हैं और फ़ारसी की मसनवी शैली में रचित हैं। अधिकतर प्रेमकाव्य दोहा-चौपाई शैली में लिखित हैं परन्तु कासिम कवि ने दोहा-चौपाई और नूरमुहम्मद ने चौपाई-बरवै का भी प्रयोग किया है। ऐसा तो कोई नियम नहीं दिखाई देता कि कथा तो चौपाइयों में ही निबद्ध हो और नीति दोहे या बरवै में हो यह बात कई स्थलों पर लक्षित होती है कि जहाँ कोई नीति-विषय कड़वक की अन्तिम चौपाईयों में आरम्भ होता है वहीं उसका पर्यवसान दोहे या बरवै में।[1]

इन रचनाओं में अलंकार प्रयोग तो पर्याप्त दिखाई देता है परन्तु वह कृत्रिम नहीं प्रतीत होता। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का व्यवहार अधिक किया गया है।

प्रेमाख्यानकों के नीति-विषयक अंशों में प्रसाद गुण तो सर्वत्र ओत प्रोत है परन्तु माधुर्य और ओज की भी कमी नहीं। इन काव्यों में हतवृत्तत्व, न्यूनपदत्व च्युतसंस्कृत आदि कई दोष कहीं-कहीं दृष्टिगत होते हैं परन्तु इनसे भी बड़ा दोष है उन स्थलों की इतिवृत्तात्मकता जहाँ ये कवि पद्मिनी आदि चतुर्विध नारियों काम-विचार, रोग तथा उपचार आदि विषयों का वर्णन करते हैं। अन्त्यानुप्रासादि की रक्षा के लिए शब्दों को कहीं-कहीं तोड़ा-मरोड़ा भी गया है।

नीति के प्रसंगों में प्रायः तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक निष्कर्षात्मक संवादात्मक ऐतिहासिक आत्माभिव्यंजक अन्यापदेशात्मक तथा प्रश्नावर्तक शैलियों का प्रयोग किया गया है। इनमें से प्रथम दो का प्रयोग शेष की अपेक्षा अधिक है। कुछ शैलियों के उदाहरण तो ऊपर उद्धृत पद्यों में सुलभ हैं निष्कर्षात्मक शैली का एक निदर्शन प्रस्तुत है—

चित बहु तो ओषध पावै औषध और गुलाब मिलावै ॥
जहाँ परेम-सिरा-गुन नहि तहाँ गुलाब न चंदन सहै ।
जौं मावत तन-गुन उपजाव गुनमय केसर ताहि लगाव ।
कुमकुम सिरगतार गुनि तहाँ, नहि न प्रम-बाद-गुन जहाँ ।
जौं मलखेनाम व्याधि सरीरा दधि-मारगवो भाख पीरा ॥
जहाँ प्रेम अलनेसम बाढा पंथी सौं बहु आद न पाढा ॥
प्रेम-व्याधि पीडत सौं, जाहीं जाति ।
हरति जाति गुन तन सौं, दिन औ राति ॥[2]

१ नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी पृष्ठ ५५
२ नूरमुहम्मद : अनुराग बाँसुरी, पृष्ठ १८

२ स्फुट रचनाएँ

यद्यपि सूफी सन्तों ने अपनी स्फुट रचनाएँ प्रेमकथाओं से पूर्व ही प्रारम्भ कर दी थीं तथापि आज वे पर्याप्त संख्या में प्राप्त नहीं हैं। जिन अमीर खुसरो की चर्चा हम 'साहित्यकाल के नीतिकाव्य' में कर चुके हैं उन्होंने पूर्वोक्त हास्य विनोदमयी रचनाओं के अतिरिक्त सूफी सिद्धान्तों तथा नीति के प्रतिपादक कुछ दोहे और पद भी लिखे। उनके पश्चात् जायसी की अखरावट आखिरी कलाम तथा 'महरी बाईसी'[1] शेखफरीद के दोहे अजहन के दोहे तथा अजहन नामा (खालिकबारी) जान कवि का बारहमासा यारी साहब के भजन कवित्त झूलने साखी अलिफनामा शाह बरकतउल्ला 'प्रेमी' का 'प्रेम प्रकाश' बुल्लेशाह की सीहर्फी अठवारा बारहमासा काफी और दोहे दीन दरवेश की कुण्डलियाँ नजीर अकबराबादी के फारसी छन्दों में रचित पद हाजी अली के दोहे और प्रेमनामा तथा मखदूमसमद के भजन प्राप्त होते हैं। इन रचनाओं का मुख्य विषय अध्यात्म है नीति का प्रतिपादन नहीं। फिर भी प्रभु से एकरूपता प्राप्त करने के इच्छुक लोगों के लिए एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना अनिवार्य होता है और उसी व्यवहार का उल्लेख इन स्फुट रचनाओं में कहीं-कहीं किया गया है। निम्नस्थ पंक्तियों में उन्हीं व्यावहारिक विषयों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

वैयक्तिक नीति—जहाँ प्रेमाख्यानकों में शरीर के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य तथा उसके बनाव सिंगार की चर्चा अनेकत्र की गई है वहाँ इन स्फुट रचनाओं में दृष्टि परमार्थ पर अधिक केन्द्रित होने के कारण शरीर का शृंगार वर्जित कहा गया है। 'महरी बाईसी' में जायसी कहते हैं—

धुरु पायन पायल औ चुरा बस-बस के कीन्ह सिंगारा रे।
काया साजि भांति कै दरपन देखें सबहिं सिंगारा रे॥
कहै मुहम्मद कोन सुने हुई हुई अब से सब अमेरु रे॥
साहिब याव भूमि कै होइ रहु औ आपुहिं पहिचानेउ रे॥[2]

कहीं-कहीं इस काया को पूज्य भी कहा गया है परन्तु इस कारण नहीं कि इसे बना-सँवारकर अन्य मनुष्यों को अपना प्रेमी बनाया जाए अपितु इसी कारण कि प्रभु इसी के अन्दर विराजमान तथा प्राप्तव्य है। 'प्रेमी' का कथन है—

देह-देहरा पूजियो, तीन लोक तिन माँह।
तीरथ षटदर्शन सब्यो मेरे बैठे माँह॥[3]

---

१ इन में 'महरी' नामक नाम के २२ गीत हैं। यह नाम जायसी प्रदत्त नहीं है डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त द्वारा कल्पित है। (सं॰ माताप्रसाद गुप्त जायसी ग्रन्थावली हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग १९५२ ई॰, भूमिका पृष्ठ १०५)

२ माताप्रसाद गुप्त जायसी ग्रंथावली पृष्ठ ७१६॥

३ बरकत उल्लाह पेमी पेम प्रकाश (फ्रैंड्स प्रेस, दिल्ली, १९४१ ई॰) पृष्ठ १५।१८

इन्द्रियों के वशीकरण से सम्बन्धित भाव तो इन रचनाओं में प्रेमकथानकों के ही तुल्य हैं परन्तु योगी-पथ विषयक नीति कुछ भिन्न प्रतीत होती है। प्रेमकथानकों का वातावरण राजकीय होने के कारण उनमें विद्याओं तथा कलाओं में मुख्य पात्रों का विज्ञ और कलाविद् होना आवश्यक था। परन्तु यहाँ दृष्टि प्रभु पर केन्द्रित है और इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए पुस्तकी ज्ञान की अपेक्षा साधना अधिक अपेक्षित है। यही कारण है कि इनमें धर्मग्रन्थ उपेक्षित से हैं। जैसे—

(क) ना-नारद तस पाहुन काया। चारा मेलि फाँद जग माया॥
नाद बेद औ भूत सँचारा। सब अरुझाइ रहा संसारा॥[1] (जायसी)

(ख) बेद पुरान सबै पढ़े पुनियत अधमाई।
बिना पेम कछु नाहि, वृथा फिरत हैं।[2] (पेमी)

(ग) तुम्ही इल्म किताबों पढ़ते हो मैंहूँ उसके माने करते हो।
बेमूजब ऐसें लड़ते हो कैसा उलटा बेद पढ़ाया है॥[3] (तुलसीसाह)

धार्मिक नीति प्रेमकथानकों के तुल्य ही है परन्तु स्फुट रचनाओं में काम-क्रोधादि तथा माया-मोहादि के त्याग का आग्रह बहुत अधिक है। जायसी व 'पेमी' मन के विषय में कहते हैं—

(क) मनुवाँ चंचल ढाँप, बरजे अहथिर ना रहै।
पाल मरोरे साँप, 'मुहमद' तेहि बिधि राखिए॥[4]

(ख) रे मन तू तो बड़ो अनीत।
ममा मोह माया मद भूल्यो छाड़ि हरि की प्रीत।
छाड़ै बिरह फिरै भ्रम भूल्यो, देख भई परतीत॥[5]

साधक के लिए नम्रता-गुण अनिवार्य है; अतएव इन कवियों में इस पर बहुत बल दिया गया है। यारी साहब अलिफनामे में कहते हैं—

हमवा नरहरि सुमिरन करै, पीवु प्रसाद भवसागर तरै॥
बीज बगस्यो हीयेमे राखहु है हलीम होय नरहरि भाखहु॥[6]

पारिवारिक नीति—प्रेमकथानकों में तो कहीं-कहीं सगे-सम्बन्धियों के प्रति कर्तव्य-पालन के उपदेश मिल जाते हैं परन्तु स्फुट रचनाओं में 'प्रेम-मार्ग' में बाधक होने के कारण सगे-सम्बन्धियों से सम्बन्ध सर्वथा त्याज्य कहा गया है। 'पेमी' की

---

१ जायसी ग्रन्थावली (अखरावट) पृष्ठ ३१०-३११
२ पेम प्रकाश पृष्ठ ६०।
३ संतबानी संग्रह दूसरा भाग (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद १९३८ ई०) पृष्ठ १८०
४ जायसी ग्रन्थावली (अखरावट) पृष्ठ ३२६
५ पेमप्रकाश पृष्ठ २६॥
६ जायसी के परवर्ती पृष्ठ १०७

कहा है—

ताकी कुदुम जो हेत हित करत पेम की हाम।
सोभा कहा मैं कीजिये, वारों कूटे काम॥[1]
केहु माँहि लागिहि साथ, अब मीनक अभिलाष महू।
चलब मारि दोउ हाथ, 'मुहमद' यह जग छोड़ि कै॥[2]

सामाजिक नीति—इन रचनाओं में हिन्दू-मुस्लिम के भेद भाव और ऊँच-नीच के परित्याग तथा एक-दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता दिखाने की प्रेरणा बहुत अधिक दिखाई देती है। जैसे—

(क) पुनि माया करता कहँ भई। भा भिनुसार रैन हुति गई॥
सुरुज उए कंवल दल फूले। दूवौ मिले पंथ कर भूले॥
तिन्ह संतति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दूवौ भए अपने अपने दीन॥[3] (जायसी)

(ख) 'पेमी' हिन्दू-तुरक में हर रंग रह्यो समाय।
देवल और मसीत में, दीप एक ही भाय॥[4] (पेमी)

हिन्दू कहैं सो हम बड़े, मुसलमान कहैं हम्म।
एक मूंग दो फाड़ हैं कुण ज्यादा कुण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भगत हो राम, दूजो रहमान से रजिया।
कहै दीन दरवेश दोय सरिता मिल सिन्धु।
सबका साहब एक एक मुसलमान हिन्दू।[5] (दीन दरवेश)

प्रेमकथानकों के समान ही इन रचनाओं में भी गुरु के महत्त्व का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। जिन पर गुरु की कृपा होती है उसके लिए तो प्रेम-मार्ग निष्कंटक बन जाता है परन्तु जो अपने ही बल पर इस पथ पर अग्रसर होता है उसकी बाधाएँ टूट जाती हैं और अतएव वह गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता।[6] सच्ची बात तो यह है कि गुरु-प्रीति के बिना प्रभु प्रीति असंभव है। जो गुरु से दीक्षा लिए बिना ही वस्त्र रंगा लेता है, न उसका लोक संवरता है, न परलोक। वजहन का

---

१ पेमी पेमप्रकाश पृष्ठ २५। ११।
२ जायसी ग्रन्थावली (अखरावट) पृष्ठ ३१६
३ जायसी ग्रन्थावली (अखरावट) पृष्ठ ३०८
४ पेमी पेमप्रकाश पृष्ठ ८।३६
५. जायसी के परवर्ती, पृष्ठ ३११ १२
६ जायसी ग्रन्थावली, (अखरावट), पृष्ठ ३२०

कथन है—

> बै बिन गुरु कोई भेद न पावै धरती से आकास को धावै।
> पहिले प्रीत गुरु से करै, प्रेम अमर में तब पगु धरै।
> बिन गुरु मरहम को कोई भेद है यसन रैनाम।
> यह गुण निरचय जानियो सो दोउ ओर से जाय॥[1]

क्या हिन्दू और क्या मुसलमान दोनों ही धर्म के तत्त्व को विस्मृतकर बाह्याचारों तथा रूढ़ियों में अधिक निमग्न हो गए थे। इन रचनाओं में दोनों के बाह्याडम्बरों का खण्डन किया गया है और उसका स्वर कहीं-कहीं कबीर आदि सन्त-कवियों से कम तीखा नहीं है। जैसे—

> 'बुल्ला' धर्मशाला विच बाहुली रहुंदे, ठाकुरद्वारे ठग।
> मसीतां विच कोस्ती रहुंदे आशिक रहुन अलग॥
> 'बुल्ला' मक्के गया गल्ल मुक्दी नहीं जिचर दिलों न आप मुकाय।
> गंगा गया पाप नहिं छूटे भावें सौ-सौ गोते खाय॥[2]
> 'बुल्ला' मुल्ला ते मसालची, दोहां इक्को चित।
> लोकां करदे चानणा आप हनेरे विच॥[3]

आर्थिक नीति—चूँकि सूफी लोग सिद्धान्ततः धन को हेय ही मानते थे अतः इन सिद्धान्त-बहुल फुटकल रचनाओं में धन के महत्त्वादि का उल्लेख नहीं है। जब यह संसार ही झूठा है तब इसकी धन-सम्पदा और विभिन्न भोग कहाँ सत्य हो सकते हैं। जायसी के मत में प्रेम रस की तुलना में धन और तज्जनित भोगों के रस फीके हैं—

> यह संसार झूठ थिर नाहीं। उठहिं मेघ जैसे जाइ बिलाहीं॥
> जो एहि रस के बाएँ भएउ। तेहि कहँ रस बिष भर होइ गएउ॥
> तेइ सब तजा अरथ बेवहारू। औ घर बार कुटुम परिवारू॥
> खीर खांड तेहि मीठ न लागै। उहै बार होइ भिच्छा मांगै॥[4]

इतरप्राणिविषयक नीति—इन स्फुट काव्यों में मछली-मांस आदि हिंसा से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का ही नहीं दूध घी आदि पदार्थों के सेवन का भी प्रतिषेध किया गया है। कारण यह कि ये पदार्थ पुष्टिकर होने के कारण कामवर्धक[5] और भक्ति भाव में बाधक हैं—

> छांड़हु घिउ औ मछरी मांसू। सूखे भोजन करहु गरासू।

---

1 जायसी के परवर्ती, पृष्ठ १९२
2 सन्तबानी संग्रह भाग १ (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग सन् १९ ६ ई०) पृष्ठ १४९
3 सन्तबानी संग्रह भाग १ (बेलवेडियर प्रेस प्रयाग सन् १९४६), पृष्ठ १५४
4 जायसी ग्रन्थावली (प्रभाकर) पृष्ठ ११७
5 भर्तृहरि शतकत्रयम् पृष्ठ १०३।८०

दूध माँसु जिव कर न अहारू। रोटी खाहि करहु फरहारू॥
एहि विधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिसना मद माया॥[1]

विविध नीति—प्रभु भक्ति, संसार की असत्यता, मृत्यु की अनिवार्यता, उपदेश चेतावनी आदि विभिन्न विषयों की कविता जितनी इन स्फुट काव्यों में है उसका शतांश भी प्रेमकथानकों में नहीं। कारण इन कृतियों की रचना प्रत्यक्ष रूप से इन्हीं विषयों के प्रतिपादन के लिए की गई है। जगत की भ्रामकता के विषय में नजीर ने लिखा है—

कोई ताज सरीखे हँसकर कोई तख्त खड़ा बनाता है।
कोई अम्बर रंगे पहने है कोई गुदड़ी कोई बाता है।
कोई भाई बाप चचा नाना कोई नाती पूत कहाता है।
जब देखा खूब तो आखिर को ना रिश्ता है ना नाता है।
गुल शोर बबूला आग हवा और कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनिया को यह धोके की सी टट्टी है॥[2]

इस जगत में सर्वथा सुखी कोई नहीं जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी अनिवार्य है—

जहाँ प्रीत तहँ विरह है जहाँ सुख दुख देख।
जहाँ फूल तहाँ कांट है, जहाँ विरह तहाँ नेह॥[3]

किसी किसी कवि की रचना में पुनर्जन्म का विचार मुखर हो उठा है। मारवाड़ी दरिया का वचन है—

जीवत दुख-सुख में दिन भरै, मुवा पर्छ चौरासी परै।
जन दरिया जिन राम न ध्याया, पशुवा ही ज्यों जनम गवाया॥[4]

स्फुट सूफी काव्य पर एक दृष्टि

नीतिकाव्य की दृष्टि से उपलब्ध स्फुट सूफी काव्य का महत्त्व प्रेमकथानकों की अपेक्षा कम है। दोनों का चरम उद्देश्य—सूफी-साधना द्वारा प्रभु प्राप्ति—समान होते हुए भी अभिव्यक्ति में पर्याप्त अन्तर है। प्रेमकथानकों में इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रायः हिन्दू-समाज में प्रचलित लौकिक प्रेम कथाओं को माध्यम बनाया गया है और प्रस्तुत कृतियों में सूफी सिद्धान्तों की चर्चा स्पष्ट रूप से ही की गई है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जहाँ प्रेम-कथाओं का वातावरण ऐहिकता प्रधान है वहाँ इन कृतियों का आध्यात्मिकता और नैतिकता-प्रधान। वैसे उनमें आध्यात्मिकता कहीं-कहीं ही

---

१ जायसी ग्रन्थावली (मनराष्ट) पृष्ठ १२८
२ जायसी के परवर्ती० पृष्ठ ११५
३ प्रेमी : प्रेमप्रकाश, पृष्ठ ९०
४ जायसी के परवर्ती० पृष्ठ ११०

दिखाई देती है, वैसे ही इनमें लौकिकता कहीं-कहीं। इनके अध्ययन से तो स्वास्थ्य सौन्दर्य के प्रति प्रेम, विद्या प्राप्ति में रुचि, माता-पिता के प्रति श्रद्धा दम्पती का परस्पर अनुराग धनोपार्जन के लिए उत्साह आदि भावों का हृदय में उद्रेक होता था परन्तु यहाँ ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती। यहाँ तो सन्त कवियों के समान शरीर की नश्वरता, यौवन की चंचलता, इन्द्रियों का दमन मन की शुद्धि अभिमान का त्याग, पारिवारिक सम्बन्धों का मिथ्यात्व गुरु का भी भजन, हिन्दू-तुर्क ऐक्य आडम्बरों तथा बाह्याचारों का खण्डन सन्तोष की स्तुति लोभ की निन्दा प्राणियों के प्रति दया, मृत्यु की अनिवार्यता तथा चेतावनी का ही प्राधान्य है। तात्पर्य यह कि सन्त-काव्य से सूफी-प्रेमकथानकों की ओर आते समय तो यह अनुभूति होती थी कि हम आध्यात्मिकता के वातावरण से लौकिक वातावरण में आ रहे हैं परन्तु प्रेमकथानकों से स्फुट सूफी काव्यों की ओर आते हुए ऐसे लगता है मानो फिर हम सांसारिकता से पारमार्थिकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इन स्फुट काव्यों की नीति लौकिक सफलता के लिए वैसी ही बेकार है जैसी कि सन्त काव्यों की अधिकतर नीति थी। यह नीति अभ्युदय की उपेक्षा कर निःश्रेयस की ओर ही दृष्टि को केन्द्रित करने की शिक्षा देती है। अभ्युदय और निःश्रेयस में सामंजस्य की स्थापना की प्रेरणा इससे प्राप्त नहीं होती। "यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"[1] सूत्र के रचयिता कणाद भी तो ऋषि ही थे परन्तु वे लौकिक जीवन को तुच्छ, मायामय और हेय न समझते थे जैसे कि प्रायः बौद्धों जैनों सन्तों और सूफियों ने समझा। फिर भी इस नीति को नितान्त निरर्थक नहीं कहा जा सकता—इसका भी अपना उपयोग है, परन्तु मुख्यतः मुमुक्षुओं के लिए, न कि सामान्य गृहस्थों के लिए। [illegible] सामान्य जनों के लिए भी घुणाक्षर न्याय से कोई कोई उपयोगी बात आ ही जाती है। जैसे अपना स्वरूप समझने की प्रेरणा करते हुए जायसी दृष्टान्त रूप में कहते हैं—

मरम नैन कर अँधरै बूझा। तेहि बिसरै अंधार न सूझा॥
मरम स्रवन कर बहिरै जाना। जौ न सुनै किछु बोल बखाना॥
मरम जीभ कर गूँगै पावा। ताहि मरै पै निकर न आवा॥
मरम बाँह कै लूल जो लीन्हा। जेहि बिधि हाथन्ह आँगुर कीन्हा॥
मरम कया कै कुस्टी भैसा। जिन निरकुस्ट जो रहै लसैसा॥
मरम पाँव कै तेहि पै दीठा। छोड़ अपाव भुइँ जाइ बइठा॥
अति सुख दीन्ह बिधातै, औ सब सेवक ताहि।
आपन मरम 'मुहम्मद' अबहूँ समुझु कि नाहिं॥[2]

जो प्रभु को भी विस्मृत कर देते हैं और मन का भी सदुपयोग नहीं करते वह

---

१ वैशेषिक दर्शन १।१।२

२ जायसी ग्रन्थावली, आखिरी कलाम, पृष्ठ ३१८ ४०

के सम्बन्ध में दीनदरवेश का कथन है—

माया माया करत है, खर्च्या खाया नाहि।
सो नर एसे जाहिगे, ज्यों बादर की छाहि॥
ज्यों बादर की छाहि जायगा माया जैसा।
जामा महि जगदीश प्रीति कर थोड़ा पैसा॥
कहै दीन दरवेश नहीं कोइ अम्मर काया।
खर्च्या खाया नाहि करत नर माया माया॥[1]

रस और भाव—इन वैराग्य प्रवण रचनाओं में न रसों की विविधता है न ही परिपाक। शान्त रस तथा निर्वेद ग्लानि दैन्य विबोध धृति आदि भाव ही यत्र-तत्र व्यंजित हुए हैं।

भाषा—अधिकतर स्फुट सूफीकाव्य लिखित ग्रन्थों द्वारा नहीं श्रुतिपरम्परा से हम तक पहुँचा है। इस मौखिक आदान-प्रदान के कारण यह कहना कठिन है कि सूफी-सन्तों की रचनाओं की भाषा में क्या और कितना हेर-फेर हुआ है। प्राप्त रचनाओं की भाषा अवधी ब्रज पंजाबी या पंजाबी-मिश्रित ब्रज है। प्रेम कथानकों की अपेक्षा इन रचनाओं में फारसी अरबी आदि के शब्द और वाक्यांश बहुत अधिक मिलते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि प्रेम-काव्यों के समान ये रचनाएं जनसाधारण के लिए नहीं अपितु उन शिष्यों और सत्संगियों के लिए की जाती थीं, जो इन साधकों के निकट सम्पर्क में रहते थे और इनके उपदेशों से लाभान्वित होने के कारण इस्लाम के पारमार्थिक शब्दों से भी परिचित थे। लोकोक्तियों तथा रूढ़ियों की भी इनकी भाषा में कमी नहीं है। इस प्रसंग में अधिक न कह कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा—

(क) मोह कोह मन में भरे, प्रेम पन्थ को जाय।
चली बिलाई हज्ज को, नौ सै चूहे खाय॥[2]

(ख) बैरी तो में कठिन है, दीजे नाहि उपाय।
कुत्ता चोर बढ़ाइए, वाको बाहन जाय॥[3]

(ग) 'तासिहुँ' कहियो 'तास' सूँ 'तेसिहुँ' समझै बयान।
मरे सु सूती देखिहीं हम क्या करें बिनाम॥[4]

काव्य-विधान तथा छन्द—अधिकतर स्फुट सूफीकाव्य मुक्तक रूप में है और उसमें दोहा (साखी सलोक) सवैया कवित्त छप्पय, झूलना कुंडलिया तथा फ़ारसी की

१ परशुराम चतुर्वेदी सूफीकाव्य संग्रह, पृष्ठ २१०।३
२. बरकतउल्लाह पेमी' पेमप्रकाश, पृष्ठ ११।६६
३ " " " " ३१।१२४
४ " " ८।१४३

कुछ बहरों का प्रयोग किया गया है। जायसी-कृत 'आखिरी-कलाम' तथा 'अखरावट' का कुछ भाग नीति काव्य के अन्तर्गत गणनीय है। प्रथम कृति में चौपाई दोहा का तथा द्वितीय में चौपाई-दोहा-सोरठा का प्रयोग किया गया है। परन्तु यहाँ इतना स्मरणीय है कि जहाँ इन रचनाओं में दो-एक अक्षरों या मात्राओं का इधर उधर होना साधारण बात है वहाँ छन्दों के नाम भी कई स्थलों पर भ्रामक हैं। उदाहरणार्थ ३१ मात्रा के झूलना छन्द में ७ ७ ७ ५ पर यति होती है और अन्त में गुरु-लघु अक्षर होते हैं जैसे—

'तब लोकनाथ विलोकि कै रघुनाथ को निज हाथ।'[1] (केशवदास)

परन्तु यारी साहब का एक झूलना देखिए, जिस पर न उक्त लक्षण चरितार्थ होता है न चारों चरण समान हैं—

आँखों सेती जो दिखये, सो तो आलम फानी है।
कानों सेती जो सुनिये रे, सो तो कैसे कहानी है॥
इस बोलते को उलटि देखे कोई आरिफ कोई जानी है।
यारी कहै यह सुक्ष्म देखा, और सबै नादानी है॥[2]

शेखी' कवि ने 'पेमप्रकाश' में 'कवित्त' शब्द का प्रयोग मनहरण तथा सवैया दोनों छन्दों के लिए किया है।[3] सम्भव है दोनों छन्दों के अत्यधिक प्रचार और प्रासंगिक सहवर्तित्व के कारण जनसाधारण में दोनों छन्दों के लिए एक कवित्त शब्द का ही प्रयोग चल पड़ा हो। पद्यों पर रागों के नाम का निर्देश अनेक कवियों ने किया है परन्तु शेखी द्वारा कवित्त पर रागनाम (जै जयवन्ती) का उल्लेख[4] यह सूचित करता है कि कभी कभी कवित्त विशिष्ट रागों में गाये भी जाते थे।

शैली—सूफ़ी सूफ़ी काव्य में प्रायः निम्नलिखित शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं—उपमानिरूपक शैली उपदेशात्मक शैली आत्माभिव्यंजक शैली प्रश्नोत्तरक शैली संवादात्मक शैली कूट शैली पहेली अठमाता शैली बारहमासा शैली और ककहरा शैली। ककहरा शैली में जहाँ भारतीय कवियों ने अपभ्रंश या हिन्दी आदि में देवनागरी लिपि के अक्षरों के आधार पर कविता की थी वहाँ सूफ़ियों ने देवनागरी के अतिरिक्त फ़ारसी लिपि का भी आश्रय लिया है। जायसी की 'अखरावट' तथा धान कवि का 'वर्णनामा' तो देवनागरी के आधार पर रचित है और यारी साहब का 'अलिफ़-नामा' बजहन का 'अलिफ़ ककहरा' (बजहन नामा) तथा बुल्लेशाह की 'सी हर्फ़ी' फ़ारसी लिपि के आधार पर। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जहाँ कुछ कवि देवनागरी अक्षरों के सामान्य उच्चारण—क ख ग आदि—का आश्रय लेकर पद्य रचना करते हैं वहाँ कुछ कवि

1. परमेश्वरानन्द छन्द शिक्षा पृष्ठ १९९
2. परशुराम चतुर्वेदी सूफ़ी काव्यसंग्रह पृष्ठ २११
3. पेमप्रकाश पृष्ठ २६-२७
4. शेखी पेमप्रकाश पृष्ठ ६२

कबीर के समान[1] इन के दोहरे रूपों—कमला बमला—आदि का। दोनों लिपियों के एक उदाहरण देखिए—

(क) देवनागरी वर्णमाला सामान्य रूप

कनक-कटोरा-तन मई मन फूले। काँटन्ह माँह फूल जनु फूले॥[2] (जायसी)

(ख) देवनागरी वर्णमाला दोहरे रूप

ददै देकु याहि नाम को जपहु अलपवित रैन।
संतन की यह रीत है सुमिरन ही में चैन॥[3] (जान कवि)

(ग) फारसी वर्णमाला :

वास—दरा मी दारद मा रुख मनतें पुहीं होहु बेसबक फूट कसम साईं।
जिवें शिव मुकाम बस आपणे नूं, धरे पास मिल प्रकामें प्रकाम्याई॥[4] (बुल्लेशाह)

अलंकार— शब्दालंकारों में अनुप्रास यमक तथा वीप्सा का और अर्थालंकारों में उपमा और सांग रूपक का प्रयोग अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक हुआ है। जायसी तथा नेमी की अपेक्षा अन्य कवियों में अलंकार प्रयोग अधिक स्वाभाविक लगता है। नेमी में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग भी प्रचुर है और सती के वर्णन में प्रयुक्त निम्नलिखित उत्प्रेक्षा तो हिन्दी-साहित्य में अनूठी ही है—

तब सोरहु सिंगार आली सजला पिय-कामिनि।
कंचन-कंघ मुख नैन अंग अंगन छतरामनि॥
चली संग शा हहैं नचत नारी नगरजन।
रोम-रोम उमगाहु चाहु-पुरे जब संजम॥
अति हुलास हिय बिच कर चिता, बैठ लियो उन अंक धाम।
कवि कहत पदमिनी रूप धरि, प्रगट मुकुर फुलियो कमल॥[5]

गुण-दोष—स्फुट रूप की रचनाओं में ओज तथा माधुर्य की मात्रा अत्यन्त ही कम है। प्रसाद निस्सन्देह व्यापक है परन्तु जहाँ कवियों ने रेख्ता, ठेठ पंजाबी या इस्लाम के पारिभाषिक शब्दों तथा नाम रूपों का प्रयोग किया है वहाँ उसका भी अभाव हो जाता है। इन रचनाओं में हतवृत्तत्व दोष व्यापक-सा है, यह ऊपर कह ही चुके हैं।

सन्तों और सूफियों के गीतिकाव्य की तुलना

ऊपर हम देख चुके हैं कि सन्तों का गीतिकाव्य स्फुट रूप में ही उपलब्ध होता

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१०-३११
२ जायसी ग्रन्थावली (अखरावट), पृष्ठ ३१४
३ जान कवि, ज्ञानमाला, जायसी के परवर्ती, पृष्ठ १११
४ बुल्लेशाह सीहर्फी परशुराम चतुर्वेदी सूफीकाव्य संग्रह पृष्ठ २१६
५. नेमी नेमप्रकाश, पृष्ठ ८३-८४

कुछ बहरों का प्रयोग किया गया है। जायसी-कृत, 'आखिरी कलाम' तथा 'अखरावट' का छन्द भाग विशेषतया इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। प्रथम कृति में चौपाई दोहा का तथा द्वितीय में चौपाई-दोहा-सोरठा का प्रयोग किया गया है। परन्तु यहाँ इतना स्मरणीय है कि जहाँ इन रचनाओं में दो-एक अक्षरों या मात्राओं का इधर उधर होना साधारण बात है वहाँ छन्दों के नाम भी कई स्थलों पर भ्रामक हैं। उदाहरणार्थ २६ मात्रा के रूपमाला छन्द में ७ ७ ७ ५ पर यति होती है और अन्त में गुरु-लघु अक्षर होते हैं जैसे—

तब लोकनाथ विलोकि कै रघुनाथ को निज हाथ।[1] (केशवदास)

परन्तु यारी साहब का एक रूपमाला देखिए, जिस पर न उक्त लक्षण चरितार्थ होता है, न चारों चरण समान हैं—

आँखों देखी जो दिखावे, सो तो आलम फानी है।
कानों सेती जो सुनिये रे, सो तो जैसे कहानी है॥
इन दोनों को जनि देखै, कोई आरिफ कोई ज्ञानी है।
यारी कहै यह सूझि देखो, और सबै नादानी है॥[2]

पेमी' कवि ने 'पेमप्रकाश' में 'कवित्त' शब्द का प्रयोग मनहरण तथा सवैया दोनों छन्दों के लिए किया है।[3] सम्भव है दोनों छन्दों के अत्यधिक प्रचार और शाब्दिक सहवर्तित्व के कारण जनसाधारण में दोनों छन्दों के लिए एक 'कवित्त' शब्द का ही प्रयोग चल पड़ा हो। कहीं पर रागों के नाम का निर्देश अनेक कवियों ने किया है परन्तु पेमी द्वारा कवित्त पर रागनाथ (के बीजम्ही) का उल्लेख[4] यह सूचित करता है कि कभी कभी कवित्त विशिष्ट रागों में गाये भी जाते थे।

शैली—सूफी काव्य में प्रायः निम्नलिखित शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं—तथ्यनिरूपक शैली, उपदेशात्मक शैली, आत्माभिव्यंजक शैली, सम्वादात्मक शैली तथा रूपक शैली, कूट शैली, पत्रशैली, पहेली शैली, बारहमासा शैली और ककहरा शैली। ककहरा शैली में जहाँ भारतीय कवियों ने अपभ्रंश, हिन्दी आदि में देवनागरी लिपि के अक्षरों के आधार पर कविता की थी वहाँ सूफियों ने देवनागरी के अतिरिक्त फ़ारसी लिपि का भी आश्रय लिया है। जायसी की 'अखरावट' तथा शाह कवि का 'अर्जनामा' तो देवनागरी के आधार पर रचित है और यारी साहब का 'अलिफ-नामा ककहरा का अलिफ बाए' (ककहरा नामा) तथा बुल्लेशाह की 'सी हर्फी' फ़ारसी लिपि के आधार पर। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जहाँ कुछ कवि देवनागरी अक्षरों के सामान्य उच्चारण—क ख ग आदि—का आश्रय लेकर पद्य रचना करते हैं वहाँ कुछ कवि

१ परमेश्वरानन्द छन्द शिक्षा पृष्ठ ११६
२ परशुराम चतुर्वेदी सूफी काव्यसंग्रह पृष्ठ २१२
३ पेमप्रकाश, पृष्ठ ६६-६७
४ पेमी पेमप्रकाश, पृष्ठ ६५

कबीर के समान[1] इन के दोहरे रूपों—अबका अबबा—आदि का। दोनों लिपियों के कुछ उदाहरण देखिए—

(क) देवनागरी वर्णमाला सामान्य रूप

मन-मानसर-तन महु मन भूले। कांवल्हु मांह फूल जनु फूले ॥[2] (जायसी)

(ख) देवनागरी वर्णमाला दोहरे रूप

हरि देहु यहि नाम की, जपहु अनपायिन रैन।
सतन की यहु रीत है सुमिरन ही में चैन ॥[3] (जान कवि)

(ग) फारसी वर्णमाला :

नाम—खुदा की बरकत ना रख ममतें तुही होवे बेबाक खुद कसम खाई।
जिवें लिख मुताब सब आपणे नूं चरे पास मिल अबामें अजाम्याई ॥[4] (बुल्लेशाह)

अलंकार—शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक तथा वीप्सा का और अर्थालंकारों में उपमा और सांग रूपक का प्रयोग अन्य अलंकारों की अपेक्षा अधिक हुआ है। जायसी तथा पेमा की अपेक्षा अन्य कवियों में अलंकार प्रयोग अधिक स्वाभाविक लगता है। पेमी में लोकोक्ति अलंकार का प्रयोग भी प्रचुर है और सती के वर्णन में प्रयुक्त निम्नलिखित उत्प्रेक्षा तो हिन्दी-साहित्य में अनूठी ही है—

सब सोरह सिंगार कसी नवला पिय-कामिनि।
कंचन-रूप मुख नन सम चंपक हरतापनि ॥
चली संग ज्यों चहुँ, नवल नारी मनरंजन।
रोम-रोम उत्साह चाह-पूरे चल कंचन ॥
मति हुलास हित चित कर लिया, बैठ लियो उन अंक हत।
कवि कहत पद्मिनी रूप छवि, अमन कुंवर भुलियो कमल ॥[5]

गुण-दोष—स्फुट सूफी रचनाओं में ओज तथा माधुर्य की मात्रा अत्यन्त ही कम है। प्रसाद निस्सन्देह व्यापक है परन्तु जहाँ कवियों ने ऐसा उलटबांसी या इस्लाम के पारिभाषिक शब्दों तथा फारसियों का प्रयोग किया है, वहाँ उसका भी अभाव हो गया है। इन रचनाओं में च्युतसंस्कृति दोष व्यापक-सा है, यह ऊपर कह ही चुके हैं।

सन्तों और सूफियों के नीतिकाव्य की तुलना

ऊपर हम देख चुके हैं कि सन्तों का नीतिकाव्य स्फुट रूप में ही उपलब्ध

---

१ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३१०-३११
२ जायसी ग्रन्थावली (पद्मावत), पृष्ठ ३१८
३ जान कवि सरला शुक्ला : जायसी के परवर्ती, पृष्ठ २१६
४ बुल्लेशाह सीहर्फी परशुराम चतुर्वेदी सूफीकाव्य संग्रह पृष्ठ ३१८
५ पेमी प्रेमप्रकाश पृष्ठ, ८३-८४

है परन्तु सूफ़ियों का प्रेमकथा तथा स्फुट दोनों रूपों में। चूँकि सन्तों के गीतिकाव्य का सूफ़ियों की प्रेमकथाओं के गीतिकाव्य से वैषम्य है और स्फुट गीतिकाव्य से साम्य, इस लिए सौकर्य की दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन को दो वर्गों में विभाजित करना उचित होगा—

(क) सन्तकाव्य और सूफ़ी प्रेमकथात्मक काव्य
(ख) सन्तकाव्य और सूफ़ी स्फुट काव्य

(क) सन्त-काव्य और सूफ़ी प्रेमकथात्मक काव्य

सन्त-काव्य और प्रेमकथाओं की तुलना करने पर विदित होता है कि सन्तों ने शरीर और पठन-पाठन की उपेक्षा की है परन्तु सूफ़ियों ने दोनों बातों का उचित महत्त्व प्रदर्शित किया है। सन्त तो कामिनी की निन्दा करते न थकते थे परन्तु प्रेम का सांगोपांग वर्णन सूफ़ियों का मुख्य विषय है। सन्तों की रचनाओं में सब पारिवारिक सम्बन्ध झूठ और सम्बन्धी स्वार्थी बताये गए हैं परन्तु प्रेमकाव्यों में उन सब के प्रति कर्तव्य-पालन की प्रबल प्रेरणा की गई है।

गुरु का महत्त्व शिष्य की सेवाभावना हिन्दू मुस्लिम का ऐक्य आदि भाव तो दोनों में तुल्य है परन्तु मूर्ति-पूजा तीर्थादि का जो खण्डन सन्त काव्य में सुलभ है वह यहाँ दुर्लभ। और इस अन्तर का कारण भी गूढ़ नहीं है। सन्तों की रचनाएं सिद्धान्त रूप में है और इनकी प्रायः हिन्दू कथाओं के रूप में। इसलिए इन कथाओं में हिन्दू मान्यताओं और विश्वासों का यथा-तथ्य चित्रण भी आवश्यक ही था। फिर भी इस बात का श्रेय इन्हें देना ही होगा कि अपने मत में दृढ़ होने पर भी इन्होंने हिन्दुओं की रीति-नीति के वर्णन में मतान्धताजन्य संकोच से काम नहीं लिया औदार्य का ही प्रदर्शन किया है। सन्तकाव्य शत्रुओं के प्रति भी औदार्य का उपदेश देता है। परन्तु इनमें 'जैसे को तैसा' की नीति भी पाई जाती है। धन का महत्त्व इन काव्यों में उतना दुर्लभ नहीं जितना सन्त काव्य में। इतर प्राणियों के प्रति दया भावना दिखाई तो गई है परन्तु उतनी व्यापक व तीव्र नहीं जितनी सन्तकाव्य में। संसार की असारता जीवन की नश्वरता भाग्यरेखा आदि के विचार दोनों में समान हैं परन्तु विदेशगमन के हानि लाभों की चर्चा सूफ़ियों में ही है सन्तकाव्य में नहीं।

(ख) सन्त काव्य तथा सूफ़ी स्फुट काव्य

ऊपर हम कह चुके हैं कि सन्त-कवियों के गीतिकाव्य तथा सूफ़ियों के स्फुट गीतिकाव्य में भाव-साम्य है। दोनों की अभिव्यक्ति-रीति समान है। यदि यह साम्य भावों तक ही सीमित होता तो हम कह सकते थे कि निर्गुण के उपासक या प्रेमी होने के कारण ही इनकी गीति ऐन्द्रियता-विमुख तथा परमार्थ की ओर उन्मुख हो गई है। परन्तु ध्यान से देखने पर विदित होता है कि इनके गीति-काव्यों में विषयों के अतिरिक्त

अभिव्यक्ति का भी साम्य है और यह साम्य कहीं कहीं तो इतना अधिक है कि उसे आकस्मिक मानना कठिन हो जाता है। जैसे—

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥[1] (कबीर)
बिरहा-बिरहा आखीऐ, बिरहा तू सुलतानु।
'फरीदा' जितु तनि बिरहु न ऊपजै से तनु जाणु मसाणु ॥[2] (शेखफरीद)

दोनों दोहों का भाव और भाषा समान है केवल, पंजाबी होने के कारण फरीद की भाषा में पंजाबी का कुछ पुट स्पष्ट है।

काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ॥[3] (कबीर)
करना होय सो आज कर, काल परों दे बाद।
'हाजी' बुलहिम आखरे, आज न माने नाद ॥[4] (हाजी अली)

चूंकि कबीर का स्फुरण-काल सूफ़ी काव्यों के रचयिता अधिकतर सूफ़ी कवियों से प्राचीन है अतः यह अनुमान स्वाभाविक है कि प्रायः सूफ़ी कवि सन्तकाव्य से प्रभावित हुए हैं। परन्तु जब हम कबीर की रचना की तुलना कुतुबन से करते हैं जो हिन्दी के प्रथम सूफ़ी कवि माने जाते हैं, तब हमें यह मानना पड़ता है कि कबीर भी सूफ़ी-प्रभाव से अस्पृष्ट न थे। जैसे कुतुबन का मृत्यु-विषयक एक पद इस प्रकार है—

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, अब तेरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सों अंत करी लरिकाई ॥
न्हाय धोय के बसतर पहिरे, सबहि सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुम्ब सब आये, सिगरे लोग लुगाई ॥
चार कहारन डोली उठाई संग पुरोहित नाई।
चले ही बनैगी होत कहा है नयनन नीर बहाई ॥[5]

अब उक्त पद की तुलना कबीरजी के इस पद से कीजिए—

माई सपनवाँ की सारी उमिरि अबहों मोरी बारी।
साज समाज पिया लै आये और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अचरा पकरिके जोरत गठिया हमारी।
सखी सब गावत गारी ॥

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६। २१
२ सूफ़ी काव्य संग्रह, पृष्ठ, २११। २
३ कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ १२६।१६
४ सूफ़ी काव्य संग्रह, पृष्ठ ११७। ६
५ सूफ़ी काव्य संग्रह पृष्ठ १०२

है परन्तु सूफ़ियों का प्रेमकथा तथा स्फुट, दोनों रूपों में। चूंकि सन्तों के गीतिकाव्य का सूफ़ियों की प्रेमकथाओं के गीतिकाव्य से वैषम्य है और स्फुट गीतिकाव्य से साम्य, इस लिए सौकर्य की दृष्टि से तुलनात्मक विवेचन को दो वर्गों में विभाजित करना उचित होगा—

(क) सन्तकाव्य और सूफ़ी प्रेमकथात्मक काव्य
(ख) सन्तकाव्य और सूफ़ी स्फुट काव्य

(क) सन्त-काव्य और सूफ़ी प्रेमकथात्मक काव्य

सन्त-काव्य और प्रेमकथाओं की तुलना करने पर विदित होता है कि सन्तों ने शरीर और पठन-पाठन की उपेक्षा की है परन्तु सूफ़ियों ने दोनों बातों का उचित महत्त्व प्रदर्शित किया है। सन्त तो कामिनी की निन्दा करते न थकते थे परन्तु प्रेम का चोचो-पांग वर्णन सूफ़ियों का मुख्य विषय है। सन्तों की रचनाओं में सब पारिवारिक सम्बन्ध झूठे और सम्बन्धी स्वार्थी बताये गए हैं परन्तु प्रेमकाव्यों में उन सब के प्रति कर्तव्य पालन की प्रबल प्रेरणा की गई है।

गुरु का महत्त्व शिष्य की सेवाभावना हिन्दू मुस्लिम का ऐक्य आदि भाव तो दोनों में तुल्य है परन्तु मूर्ति-पूजा तीर्थादि का जो खण्डन सन्त काव्य में सुलभ है वह यहां दुर्लभ। और इस अन्तर का कारण भी गूढ़ नहीं है। सन्तों की रचनाएं सिद्धान्त रूप में हैं और इनकी प्रायः हिन्दू कथाओं के रूप में। इसलिए इन कथाओं में हिन्दू मान्यताओं और विश्वासों का यथा-तथ्य चित्रण भी आवश्यक ही था। फिर भी इस बात का श्रेय इन्हें देना ही होगा कि अपने मत में दृढ़ होने पर भी इन्होंने हिन्दुओं की रीति-नीति के वर्णन में सहानुभूतिपूर्ण संकोच से काम नहीं लिया औदार्य का ही प्रदर्शन किया है। सन्तकाव्य शत्रुओं के प्रति भी औदार्य का उपदेश देता है। परन्तु इनमें 'जैसे को तैसा' की नीति भी पाई जाती है। मन का महत्त्व इन काव्यों में उतना दुर्लभ नहीं जितना सन्त काव्य में। इधर प्राणियों के प्रति दया भावना दिखाई तो पड़ती है परन्तु उतनी व्यापक व तीव्र नहीं जितनी सन्तकाव्य में। संसार की असारता जीवन की नश्वरता भाग्यरेखा आदि के विचार दोनों में समान हैं परन्तु विवेकमान से हानि लाभों की चर्चा सूफ़ियों में ही है सन्तकाव्य में नहीं।

(ख) सन्त काव्य तथा सूफ़ी स्फुट काव्य

ऊपर हम कह चुके हैं कि सन्त-कवियों के गीतिकाव्य तथा सूफ़ियों के स्फुट गीतिकाव्य में भाव-साम्य है। दोनों की अभिव्यंजना रीति समान है। यदि यह साम्य भावों तक ही सीमित होता तो हम कह सकते थे कि निर्गुणोपासक भक्त या प्रेमी होने के कारण ही इनकी नीति ऐहिकता विमुख तथा परमार्थ की ओर उन्मुख हो गई है। परन्तु ध्यान से देखने पर विदित होता है कि इनके गीति-काव्यों में विषयों के अतिरिक्त

अभिव्यक्ति का भी साम्य है और यह साम्य कहीं कहीं तो इतना अधिक है कि उसे आकस्मिक मानना कठिन हो जाता है। जैसे—

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥[1] (कबीर)
बिरहा-बिरहा आखीऐ, बिरहा तू सुलतानु।
'फरीदा' जितु तनि बिरहु न ऊपजै, सो तनु जाणु मसानु ॥[2] (शेखफरीद)

दोनों दोहों का भाव और भाषा समान है केवल, पंजाबी होने के कारण फरीद की भाषा में पंजाबी का कुछ पुट स्पष्ट है।

काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब ॥[3] (कबीर)
करना होय सो आज कर, काल करी है आज।
'हाजी' मुसहिम सातरे, सास न आवे लाज ॥[4] (हाजीअली)

चूँकि कबीर का स्फुरण-काल स्फुट काव्यों के रचयिता अधिकतर सूफी कवियों से प्राचीन है अतः यह अनुमान स्वाभाविक है कि प्रायः सूफी कवि सन्तकाव्य से प्रभावित हुए हैं। परन्तु जब हम कबीर की रचना की तुलना कुतबन से करते हैं जो हिन्दी के प्रथम सूफी कवि माने जाते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि कबीर भी सूफी प्रभाव से अस्पृष्ट न थे। जैसे कुतबन का मृत्यु-विषयक एक पद इस प्रकार है—

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, अब तेरे पी ने बुलाई।
बहुत खेल खेली सखियन सौं अंत करी लरिकाई॥
न्हाय धोय के बस्तर पहिरे, सबहिं सिंगार बनाई।
बिदा करन को कुटुम्ब सब आये, सिगरे लोग लुगाई॥
चार कहारन डोली उठाई, संग पुरोहित नाई।
चले ही बनैगी होत कहा है, नयनन नीर बहाई॥[5]

अब उक्त पद की तुलना कबीरजी के इस पद से कीजिए—

बाई गवनवाँ की सारी उमिरि अबहीं मोरी बारी।
साज समाज पिया लै आये और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अचरा पकरिकै जोरत गठिया हमारी।
सखी सब गावत गारी॥

१ कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ६। २१
२ सूफी काव्य संग्रह, पृष्ठ, २११। ९
३ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १२६।१६
४ सूफी काव्य संग्रह, पृष्ठ २२७। ६
५ सूफी काव्य संग्रह पृष्ठ १०२

भिन पति काम कछु समझ परत ना, बैरी भई महतारी।
रोय रोय अँखियाँ मोर पोंछत घरवा से देत निकारी।
भई सबको हम भारी॥[1]

चूँकि कबीर के पूर्व का स्फुट सूफी काव्य अधिक प्राप्त नहीं होता इसलिए उपलब्ध सामग्री के आधार पर इससे अधिक कहना उचित न होगा कि जहाँ कबीर आदि कुछ मात्रा में सूफी काव्य के ऋणी हैं वहाँ स्फुट सूफी काव्य भी सन्तों का कदाचित् अपेक्षाकृत अधिक आभारी है। इस प्रकार लगभग समकालीन होने पर दोनों सम्प्रदायों के नीतिकाव्य में कुछ आदान प्रदान होता रहता था।

निष्कर्ष

सूफी-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही निम्नलिखित मुख्य निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१ सूफी कवि मुख्यतः नीति-कवि न थे आध्यात्मिक कवि थे।
२ वस्तुतः उन्होंने आध्यात्मिक उद्देश्य से ही प्रेमकथानकों तथा स्फुट कृतियोंकी रचना की।
३ प्रेमकथानकों में प्रसंगवश सब प्रकार की नीति पर्याप्त मात्रा में सन्निविष्ट है।
४ इन नीतियों में पारमार्थिक अर्थात् स्वकीया-परक उत्सर्गात्मक तथा कष्टसहिष्णु प्रेम से सम्बन्धित नीति का प्राधान्य है।
५ स्त्री के शील तथा सतीत्व पर बहुत बल दिया गया है, परन्तु पुरुष के सम्बन्ध में मौन बहुत खटकता है।
६ प्रियतमा परमेश्वर की प्रतीक अवश्य है परन्तु सामान्यतः स्त्री का स्थान पुरुष से निम्न ही दिखाया गया है।
७ मुसलमान होते हुए भी इन कवियों द्वारा मांस मदिरा आदि का निषेध तथा सन्त होते हुए भी विरोध-प्रधान जस महुरा जैसे को तैसा आदि विषयों का निरूपण विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
८. भारतीय कथानक वातावरण भाषा तथा छन्द और विदेशी मसनवी शैली तथा ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं का समावेश दो संस्कृतियों का सुन्दर मिश्रण है।
९ स्फुट सूफी काव्य ऐतिहासिकता तथा सरसता की कमी के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं तथापि उसमें भाषा और शैली की विविधता प्रशंसनीय है।
१० जीवन के सभी क्षेत्रों में सरस रीति से मार्ग प्रदर्शन के कारण सूफी प्रेमकथाओं के नीतिकाव्य का हिन्दी नीतिकाव्य में प्रशस्त स्थान है।

---

[1] कविता-कौमुदी भाग १ पृष्ठ १०१

(ग) रामकाव्य में नीति-तत्त्व

उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द ने भक्ति की जिस वेगवती तरंगिणी को प्रवाहित किया वह दो धाराओं में विभक्त हो गई—निर्गुण और सगुण। निर्गुण धारा में कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने भक्ति का खूब प्रचार भी किया और 'राम' का गुणगान भी किया, परन्तु उनके 'राम' ब्रह्मांड के अणु परमाणु में रमने वाले परब्रह्म ही थे, दशरथाजिरविहारी नहीं। कबीर का कथन है—

दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राव सताया।
नहिं देवकि के गर्भहिं आया। नहीं जसोदा गोद खिलाया॥[1]

इसके विपरीत सगुण धारा में जिन राम के चरित्र का यशोगान तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, केशवदास, हृदयराम आदि कवियों ने किया है वे अगुण, अरूप, अलख और अज होते हुए भी गुरु, भूसुर, सुरधेनु, तथा भक्तों के कष्ट नष्ट करने को दशरथ-सुत के रूप में अवतीर्ण हुए थे—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति-सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, रामजन्म कर हेतु॥[2]

(गोस्वामी तुलसीदास)

सौभाग्य से रामकाव्य के प्रणेताओं ने सूरदास के असमान, श्री रामचन्द्र के समग्र जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया है। इन काव्यों में हमें श्रीराम के शैशव, बाल्य, कौमार्य, यौवन, प्रौढ़त्व आदि सभी अवस्थाओं के दर्शन ही नहीं होते वे हमें विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी लक्षित होते हैं। क्रमशः वे दशरथ-जननी की गोदी की शोभा बढ़ाते हैं नन्हें-नन्हें धनुष-बाण लेकर सरयू तीर पर विहार करते हैं; गुरु वशिष्ठ से शास्त्राभ्यास तथा ऋषि विश्वामित्र से शस्त्राभ्यास करते हैं यज्ञ रक्षा, ताड़का-वध तथा अहल्योद्धार करने के पश्चात् शिवधनु भंग कर सीता का पाणिग्रहण करते हैं। अयोध्या लौटने पर यौवराज्य का उल्लास वन वास की विषमताओं में परिवर्तित हो जाता है। वन में सीता का अपहरण होता है और वे राक्षसों का संहार कर भार्या का उद्धार करते हैं तथा अन्त में कुछ राजसुखों के उप भोग के पश्चात् प्रजा रंजन के लिए प्रिय पत्नी तक का परित्याग कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि जितने सुख-दुःख और उतार चढ़ाव एक सामान्य मानव के जीवन में प्राय आते हैं उनसे कहीं अधिक उच्चावच और मार्मिक परिस्थितियों में श्रीराम की जीवन धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। यही कारण है कि रामकाव्य का मुख्य विषय

---

१ अयोध्यासिंह उपाध्याय: कबीर वचनावली (काशी सं० २००१) पृष्ठ १६१

२ रामचरित मानस गुटका (प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०११) पृष्ठ १०४

नित पति काम कछु समय परत ना, बैरी भई महतारी।
रोय रोय अँखियाँ मोर चौपत परता से देत निकारी।
भई सबकी हम भारी॥[1]

चूँकि कबीर के पूर्व का स्फुट सूफी काव्य अधिक प्राप्त नहीं होता इसलिए उप-लब्ध सामग्री के आधार पर इससे अधिक कहना उचित न होगा कि जहाँ कबीर आदि कुछ मात्रा में सूफी काव्य के ऋणी हैं वहाँ स्फुट सूफी काव्य भी सन्तों का कदाचित् अपेक्षाकृत अधिक आभारी है। इस प्रकार लगभग समकालीन होने पर दोनों सम्प्रदायों के नीतिकाव्य में कुछ आदान प्रदान होता रहता था।

निष्कर्ष

सूफी-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही निम्नलिखित मुख्य निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१ सूफी कवि मुख्यतः नीति-कवि न थे आध्यात्मिक कवि थे।
२ वस्तुतः उन्होंने आध्यात्मिक उद्देश्य से ही प्रेमकथानकों तथा स्फुट कृतियोंकी रचना की।
३ प्रेमकथानकों में प्रसंगवश सब प्रकार की नीति पर्याप्त मात्रा में सन्निविष्ट है।
४ सब नीतियों में पारमार्थिक अर्थात् स्वकीया-परक उत्सर्गात्मक तथा कष्टसहिष्णु प्रेम से सम्बन्धित नीति का प्राधान्य है।
५ स्त्री के शील तथा सतीत्व पर बहुत बल दिया गया है, परन्तु पुरुष के सम्बन्ध में मौन बहुत खटकता है।
६ प्रियतमा परमेश्वर की प्रतीक अवश्य है परन्तु सामान्यतः स्त्री का स्थान पुरुष से निम्न ही दिखाया गया है।
७ मुसलमान होते हुए भी इन कवियों द्वारा मांस मछली आदि का निषेध तथा सन्त होते हुए भी विवेक-गमन धन महत्त्व बेटे को बेचना आदि विषयों का निस्संग विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
८ भारतीय कथानक वातावरण भाषा तथा छन्द और विदेशी मसनवी शैली तथा ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं का समावेश दो संस्कृतियों का सुन्दर मिश्रण है।
९ स्फुट सूफी काव्य ऐहिकता तथा सरलता की कमी के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं तथापि उनमें भाषा और शैली की विभिन्नता प्रशंसनीय है।
१० जीवन के सभी क्षेत्रों में सरस रीति से मार्ग प्रदर्शन के कारण सूफी प्रेमकथाओं के नीतिकाव्य का हिन्दी नीतिकाव्य में प्रशस्त स्थान है।

---

१ कविता-कौमुदी भाग १ पृष्ठ १०१

(ग) रामकाव्य में नीति-तत्त्व

उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द ने भक्ति की जिस वेगवती तरंगिणी को प्रवाहित किया वह दो धाराओं में विभक्त हो गई—निर्गुण और सगुण। निर्गुण धारा में कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने भक्ति का खूब प्रचार तो किया और 'राम' का गुणगान भी किया, परन्तु उनके 'राम' ब्रह्माण्ड के अणु परमाणु में रमने वाले परब्रह्म ही थे, दशरथाजिरविहारी नहीं। कबीर का कथन है—

दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राय सताया।
नहिं देवकि के गर्भहि आया। नहीं जसोदा गोद खिलाया॥[1]

इसके विपरीत सगुण धारा में जिन राम के चरित्र का यशोगान तुलसीदास, नाभादास, अग्रदास, केशवदास, हृदयराम आदि कवियों ने किया है वे सगुण, साकार, अव्यक्त और अज होते हुए भी सुर, भूसुर, सुरभि तथा भक्तों के कष्ट नष्ट करने को दशरथ-सुत के रूप में अवतीर्ण हुए थे—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति-सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, रामजन्म कर हेतु॥[2]

(गोस्वामी तुलसीदास)

सौभाग्य से रामकाव्य के प्रणेताओं ने सूरदास के समान श्री रामचन्द्र के समग्र जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया है। इन काव्यों में हमें श्रीराम के शैशव, बाल्य, कौमार्य, यौवन, प्रौढ़त्व आदि सभी अवस्थाओं के दर्शन ही नहीं होते, वे हमें विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी लक्षित होते हैं। क्रमशः वे जनक-जननी की गोदी की शोभा बढ़ाते हैं, नन्हें-नन्हें धनुष-बाण लेकर सरयू तीर पर विहार करते हैं, गुरु वशिष्ठ से शास्त्राभ्यास तथा महर्षि विश्वामित्र से शस्त्राभ्यास करते हैं, यज्ञ रक्षा, ताड़का-वध तथा अहल्योद्धार करने के पश्चात् शिवधनु भंग कर सीता का पाणिग्रहण करते हैं, अयोध्या लौटने पर यौवराज्य का उल्लास वन वास की विषमताओं में परिवर्तित हो जाता है, वन में सीता का अपहरण होता है और वे राक्षसों का संहार कर भार्या का उद्धार करते हैं तथा अन्त में कुछ राजसुखों के उपभोग के पश्चात् प्रजा रंजन के लिए प्रिय पत्नी तक का परित्याग कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि जितने सुख-दुःख और उतार चढ़ाव एक सामान्य मानव के जीवन में प्रायः आते हैं उनसे कहीं अधिक उत्थानप्रद और मार्मिक परिस्थितियों में श्रीराम की जीवन धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। यही कारण है कि रामकाव्य का मुख्य विषय

---

१ अयोध्यासिंह उपाध्याय: कबीर वचनावली (काशी, सं० २००३) पृष्ठ ११९
२ रामचरित मानस गुटका (प्र० गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१३) पृष्ठ १०४

श्रीराम का चरित्रगान होते हुए भी उसमें नीति तत्व सुन्दर और व्यापक रूप में व्यक्त हुआ है। वैसे तो नीति के पूर्वोक्त छहों प्रकारों पर इन कवियों ने प्रचुर मात्रा में काव्य रचना की है तथापि सापेक्ष दृष्टि से कह सकते हैं कि अन्य विभागों की अपेक्षा पारिवारिक तथा सामाजिक नीति पर इनकी दृष्टि अधिक केन्द्रित रही है।

वैयक्तिक नीति (क) शारीरिक नीति—राम-काव्य में शरीर के प्रति उतनी उदासीनता तो दृष्टिगत नहीं होती जितनी सन्तकाव्य में हम देख चुके हैं परन्तु उतना ललक और उमंग भी नहीं जितनी कि वैदिक मन्त्रों में दिखाई देती है।[1] गोस्वामीजी ने जिन चौदह प्रकार के मनुष्यों को जीवन्मृत कहा है, उनमें सदा रोगी के साथ 'तनु-पोषक' को भी परिगणित कर दिया है—

> कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥
> सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥
> तनुपोषक निंदक अघ-खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥[2]

कहाँ वैदिक युग के ऋषियों का नवजात शिशु को चट्टान के समान सुदृढ़ तथा कष्टसहिष्णु और कुल्हाड़े के तुल्य शत्रुसंहारक बनने का आशीर्वाद देना[3] और कहाँ शरीर के पोषक को मृतकतुल्य कहना! ऐसा होते हुए भी गोस्वामीजी व्यवहार के पक्ष में हैं कि उन्होंने शत्रु अग्नि पाप व्याधि और सर्प के समान रोग को भी छोटा न समझने का उपदेश दिया है—

> रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि॥[4]

राम-काव्यों में शरीर को अधम भी कहा गया है और महार्घ भी परन्तु जितना इसकी तुच्छता का उल्लेख है उतना मूल्यवत्ता का नहीं। इसे तुच्छ और अधम कहने का कारण है इसकी क्षणभंगुरता, दुःखपीड़ितमयी तथा अस्थिचर्ममयी रचना और इसका रोगों और विकारों का आगार होना। महामूल्यवान् इसे इसलिए कहा गया है कि इसके द्वारा ही मनुष्य भवसागर तरने में समर्थ होता है और स्वर्ग के सुखों तथा अपवर्ग के अक्षय आनन्द का भागी बन सकता है। इस प्रकार शरीर-सम्बन्धी दृष्टिकोण में जो विरोध प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं आभास-मात्र है। श्रीराम के हाथों पति का प्राणान्त होने पर जब तारा विकल विलाप करती है तब श्रीराम उसे सान्त्वना देते हुए जीव की नित्यता तथा शरीर की नश्वरता का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

---

१ अदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात्। (यजुर्वेद अ० ३६। २४)
२ राम चरित मानस गुटका पृ० ६७४
३ मैं पवन का भरपूर। (सं० ऋग्वेद ११।१।१८)
४ सं० द्विवेदी हरि तुलसीसूक्तिसुधा (साहित्य सेवा सदन, बनारस १९९६ वि०) पृष्ठ ३९।१६

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥[1]

(गोस्वामी तुलसीदास)

केशवदास की दृष्टि भी 'रामचन्द्रिका' में जितनी बाल्य यौवन तथा वार्धक्य के दुःखों पर पड़ती है उतनी शैशव बाल्य और तारुण्य में सुलभ सुखों पर नहीं। विरक्त रामचन्द्र विश्वामित्र आदि से कहते हैं—

बचपन के दुःख—

है सिसु मातन सों दुख भारे। जो गुरु से अति होत दुखारे।
भूख न प्यास न मोद न सोवें। खेलन को बहु भाँतिन रोवें।[2]

यौवन के दुःख—

खेलत लीन भयो सिगरो कोउ नहिं मोह महा इत लालहि मारे।
रूठे है मन विरावत कोयहु कीबहि नूपुर लावत मारे॥
ऐसे में कोह की लाज क्यों 'केशव' मारत कामहु बाण निनारे।
मारत पाँच करे पंच दूरहि काहों कहूँ जग जीव विचारे॥[3]

जरावस्था दुःख—

कँपै उर बानि डगै डर डीठि त्वचा अति कुंचै सकुचै मति-बेली।
नवै नवग्रीव थकै गति केशव बालक ते संग ही संग खेली॥
लिये सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवै ज्वरा की सहेली।
भगै सब देह-दशा जिय साथ रहै दुरि दौरि दुराशा अकेली॥[4]

इतना मानने में तो हमें कोई संकोच नहीं कि वृद्धावस्था की दशा में शारीरिक तथा ऐन्द्रिय शक्तियों की क्षीणता के कारण मनुष्य को विभिन्न दुःखों का सामना करना पड़ता है और उन्हें भी बुद्धिमान् मानव प्राकृतिक नियम समझकर सहर्ष सहन कर लेता है—परन्तु इस बात को हम कदापि स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि निश्चिन्तता और वात्सल्य से परिपूर्ण बाल्य तथा स्वास्थ्य सौन्दर्य स्वाधीनता और सुखभोगों से ओत-प्रोत यौवन में भी सुखों की अपेक्षा दुःख अधिक होते हैं। भले ही सन्त महात्मा और विरक्त नीतिकार इस प्रकार समग्र जीवन को दुःखमय कहते रहें परन्तु स्वस्थ दृष्टिकोण रखने वाला कोई कुशल कवि बाल्य और तारुण्य को दुःखबहुल कहने का साहस न करेगा। अस्तु, इन्हीं कवियों के नारीस्तुति-विषयक विचार भी द्रष्टव्य हैं—

---

१ रामचरित मानस गुटका पृष्ठ ४५३
२ केशवदास रामचन्द्रिका, प्रकाश २४।४
३ " " " " २४।८
४ " " " " २४।११

(क) नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥[1]
(ख) नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥[2]
(गो० तुलसीदास)

उपर्युक्त उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट ही है कि इनकी दृष्टि में शरीर का महत्त्व ऐहिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति का साधन होने में नहीं अपितु ज्ञान वैराग्य भक्ति आदि द्वारा स्वर्ग और मोक्ष के सुखों की प्राप्ति का साधन होने में है। जो लोग संसार को सागर और उसमें बार-बार आने को अपार दुःखों का कारण समझते हों उनकी दृष्टि में ऐहिक सुख भोगों का महत्त्व हो ही कैसे सकता है। ऐसा होते हुए भी ये कवि ऐहिक दृष्टि से शरीर की सार्थकता परोपकार, दीन-पालन आदि सद्-कार्यों में समझते थे—

काज कहा नरतनु धरि साध्यौ।
पर-उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्यौ॥
सम दम दया दीनपालन सीतल हिय हरि न संभार्यौ॥[3]
(गो० तुलसीदास)

विषय भोगों को इन कवियों ने विष की खान के समान प्राणापहारक कहा है। उनके सेवन से मानव को उतनी ही शान्ति मिल सकती है जितनी कि क्षीर के भ्रम से अस्थि-चर्वण करने वाले कुत्ते को—

सुनत अमिय उपदेस गुरु, भखत विषय विष-खान।
अस्थि-चिरत चोखे चसत, चाटत निज मुख स्वान॥[4] (तुलसीदास)

ऐसा होते हुए भी जो लोग विषय-भोगों के इच्छुक हों और यौवन को स्थायी समझे बैठे हों उन्हें सावधान करने के लिए कहीं-कहीं इस प्रकार की उक्तियाँ भी मिल जाती हैं। त्रिजटा सीता को रावणोन्मुख करने के उद्देश्य से कहती है—

जोबन चंचल थिर नहीं ज्यों कर-अंजुरी-बारि॥[5] (सूरदास)

अतएव इस तरह घर के काम-धन्धों ही में लिप्त रहना प्राचीन आश्रम-व्यवस्था के प्रतिकूल है। इसी नीति का अनुसरण करते हुए पुरातन आर्य पुत्र के सयुवा हो जाने पर, वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो जाते थे।[6] यह नीति सामान्य जनों तक ही सीमित

१ तुलसीसूक्तिसुधा, पृष्ठ १२०।६
२ रामचरितमानस, गुटका, उत्तरकाण्ड, पृष्ठ ६२०
३ विनयपत्रिका (गीता प्रेस सं० २००७ वि०) पृष्ठ १२४
४ तुलसीसतसई (सरस्वती भंडार, पटना, १९२६ई०) पृष्ठ २७६
५ सूर: रामचरितावली (गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१४), पृष्ठ ८२ पद० ६।२

न थी रघुवंशी नृप भी इस पर आचरण करते थे।[1] इस नीति का प्रतिपादन राम-काव्य में भी किया गया है। जब श्रीराम वन प्रस्थान से पूर्व माता कौशल्या से मिलने गये तब वे बोलीं कि वनवास तो राजा को करना उचित ही है परन्तु अन्तिम वय में — मुझे दुःख इसी बात का है कि तुम्हें यह यौवन में करना पड़ा—

अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हराँसू॥[2] (तुलसीदास)

सूरदासजी ने भी इसी नीति को यों व्यक्त किया है—

महाराज दसरथ मन धारी।
अवधपुरी को राज राम दै, लीजै व्रत बनचारी॥[3]

शरीर का अन्त होने पर सगे-सम्बन्धियों का करुण क्रन्दन स्वाभाविक ही होता है परन्तु वृद्ध या वृद्धा के शाश्वत वियोग पर रोना-पीटना अनावश्यक है क्योंकि उनकी मृत्यु अकाल में नहीं उचित काल में होती है। यदि अधिक देर जीवित रहते तो वार्द्धक्य के असह्य कष्टों को पाते। हाँ सावधानी इस बात की करनी चाहिए कि यमराज उस घर से सुपरिचित होकर कहीं बार-बार उसे अपनी विहार-स्थली न बनाने लगे। जब लक्ष्मण के हाथों नकटी-बूची होकर सूर्पणखा रावण की सभा में पहुँची तब कुछ सभासदों को हँसी आ गई।। इस पर उन में से एक बोल उठा—

एक कहै तुम हँसो किन कहो बात समझाय।
बुढ़िया मुए न रोइये पै जम जीयो जाय॥[4] (हृदयराम)

वाणी के सुप्रयोग के विषय में नीतिकवि आदिकाल से ही लिखते आए हैं। सभी कवियों के समान राम-काव्य के प्रणेताओं ने भी सत्यभाषण मधुर वचन प्रतिज्ञा पालन आदि की प्रेरणा और प्रशंसा की है तथा मिथ्याभाषण कटुवचन प्रतिज्ञाभंग की निन्दा। परन्तु वाणी-विषयक कुछ ऐसी नीतियों का भी उल्लेख इन कवियों ने किया है जो अन्यत्र विरल स्थलों पर ही दृष्टिगत होती हैं। उदाहरणार्थ राम-नाम के जाप से जिह्वा और जीवन को सफल बनाना चाहिए; आर्त स्वार्थ-परायण और दीन जन के कुवचनों पर क्रोध करना अनुचित है क्रोध में मौनधारण ही श्रेयस्कर है प्रतिज्ञा के धनी प्राणों को तृण-तुल्य तुच्छ समझते हैं; दीनादि पर तो दम्भमयी वाणी का व्यवहार सर्वथा त्याज्य है अधर्मी से वार्तालाप न करना ही हितकर है अपने पक्ष की बातें सभी को श्रवण-सुखद होती हैं बरातियों को स्त्रियों की गालियाँ भी सहर्ष सह लेनी चाहिएँ, प्रतिज्ञा भग्न होने पर मुख पर कालिमा लग जाती है इत्यादि। जैसे—

१ कालिदास रघुवंश १।८
२ रामचरितमानस गुटका पृष्ठ २९९
३ सूररामचरितावली पृष्ठ ९७
४ हृदयराम हनुमन्नाटक (वेंकटेश्वर प्रेस, १९५२ वि०) पृष्ठ ५०।८४

(क) राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पापपुंज समुहाहीं॥
उलटा नाम जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥[1]

(तुलसीदास)

(ख) कोप न रसना खोलिये बरु खोलिय तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित, बोलिय बचन बिचारि॥[2] (तुलसीदास)

(ग) दशरथ के प्रति विश्वामित्र की उक्ति—
प्रथम प्रतिज्ञा करी ब्राह्मण अर्थी सब
सुत के सनेहु अब कस बिसराइये।
यह विपरीत रघुवंशिन उचित नाहिं,
आजु लौं न ऐसो भानुवंशिन में पाइये॥
मेरे 'रघुराज' को कल्याण होइ राखरे को
तो तो तुम आपे अब तासे फिर जाइये।
मिथ्यावादी ह्वै के भूप भोग भोगिये अनूप
संयुत समेत सुख संपति कमाइये॥[3]

(महाराज रघुराजसिंह)

मानसिक नीति—मानसिक नीति के क्षेत्र में रामकाव्य का दृष्टिकोण सन्तकाव्य के सर्वथा विपरीत है। इसमें वेद शास्त्र पुराण आदि धर्मग्रन्थों के प्रति पग-पग पर प्रगाढ़ श्रद्धा के दर्शन होते हैं। राजकुमार श्रद्धापूर्वक वेदशास्त्रादि का अध्ययन करते हैं यज्ञ-याग और विभिन्न संस्कारों के समय वेदमन्त्रों के मधुर उच्चारण की ध्वनि से गगन गूँज उठता है। वेदानुकूल आचरण की प्रभूत प्रशंसा तथा वेदविरुद्ध आचरण की तीव्र निन्दा सभी राम-काव्यों में की गई है। जैसे—

(क) बंदउँ चारिउ बेद भव-बारिधि-बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जसु॥[4]

(तुलसीदास)

जो वेद भवसागर के पार पहुँचाने वाले जहाज हैं उनके निन्दकों तथा विरोधियों को घोर नरक में दारुण यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। श्रीराम के वनवास में अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित करने के लिए भरत कौशल्या को जिन शब्दों में विश्वास दिलाते हैं उनमें उक्त भावनाएँ अनायास निहित हो गई हैं—

---

१ रामचरित मानस गुटका अयोध्याकांड, पृष्ठ ११६
२ तुलसी सतसई पृष्ठ २६७।११४
३ पं० ब्रजरत्नदास : संक्षिप्त रामस्वयंवर (ना० प्र० स० काशी, सं० १९८१) पृष्ठ ५७-५८
४ तुलसी सूक्तिसुधा पृष्ठ ५२५।२४

बेचहिं बेद धरमु दुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी । बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी ॥
पापी मैं तिन्ह कै गति घोरा । जौं जननी यहु संमत मोरा ॥[1]

(तुलसीदास)

केशवदासजी के मत में तो वेद के निन्दक निस्सन्देह पातकी हैं—

सदा द्रुह मति आपकी, निंदत यों सब जात ।
जैसे ए तिन्हि सुभाय ही, पातकी सब खास ॥[2]

वैदिक ज्ञान के समान ही इन काव्यों में विभिन्न लौकिक विद्याओं के प्रति भी पूर्ण श्रद्धा पाई जाती है क्योंकि उनकी प्राप्ति से मानव अनेक विपत्तियों और मोह मद आदि दुर्गुणों से बच कर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है—

'तुलसी' साथी विपति के विद्या विनय विवेक ।
साहस सुकृत सत्यव्रत राम-भरोसो एक ॥[3]
बरषहिं जलद भूमि नियराएं । जथा नवहिं बुध विद्या पाएं ॥[4]
कृषी निरावहिं चतुर किसाना । जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ॥[5]

(तुलसीदास)

कला और अतिकला विद्याएँ तो ऐसी हैं जो शारीरिक श्रम तथा मानसिक श्रम को नष्ट कर बुद्धि की रक्षा तथा प्रसन्नता का प्रसार करती हैं ।[6] कहीं-कहीं इन काव्यों में प्रसंगवश काव्यकला के सम्बन्ध में भी कुछ नीतियों का उल्लेख किया गया है जैसे—कविता वही श्रेष्ठ है जो लोकहितकारिणी हो सत्-कवि को भाव और भाषा दोनों पर ही दृष्टि केन्द्रित रखनी चाहिए, आदि—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥[7]
कबिहि अरथ आखर बल साँचा । अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा ॥[8]

(तुलसीदास)

इन कवियों के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक विद्या का अधिकारी नहीं है । जैसे निरुक्तकार यास्काचार्य ने सुपात्र को ही विद्या-दान देने का निर्देश किया है ।[9]

---

१ रामचरित मानस गुटका, पृष्ठ १२२ २३
२ रामचन्द्रिका, प्रकाश ३६, पद्य १०
३ तुलसी सतसई पृष्ठ २४१।४६
४, ५. रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४५४, ४५५
६ रघुराजसिंह संक्षिप्त रामस्वयंवर पृष्ठ ३६
७, ८ रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ४४, ११०
९ असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् । (निरुक्त) (बम्बई संस्कृत ऐण्ड प्राकृत सीरिज १९१८ ई०) पृष्ठ १७५

वैसे ही इन काव्यों में भी पुण्यस्वरूपा रामकथा के अधिकारी भी विरले ही बताये गये हैं—

रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥
गुरु-पद-प्रीति नीतिरत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥[1]

जो लोग शठ, हठी, लोभी, कामी, क्रोधी और नास्तिक हैं वे इस कथा के श्रवण के अनधिकारी हैं।[2]

आलिप्त नीति—रामकाव्य की आलिप्त नीति सन्तकाव्य के समान ही है परन्तु उसके प्रतिपादन की शैली विलक्षण है। माया, ममता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, राग, द्वेष आदि हेयात्म विकार हैं परन्तु प्रायः उनके परित्याग की प्रत्यक्ष प्रेरणा नहीं की गई, व्यंजना से सुझाव मात्र दिया गया है। इसीलिए ऐसे स्थलों के अध्ययन से भी नीरसता नहीं, अनायास प्रभावित होता चलता है। जैसे तुलसीदास-कृत माया-कटक का वर्णन देखिए—

गुन कृत सन्निपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।
जोबन-ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जसु न नसावा॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिन्ता-साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥
ब्यापि रहेउ संसार महुँ, माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥[3]

प्रायः नीतिकार परोपकार के उद्देश्य से कभी-कभी कपटमय आचरण की छूट दे देते हैं परन्तु यहाँ इसे भी निन्द्य कहा गया है—

बिबुध काज बावन बलिहि छलो भलो जिय जानि।
प्रभुता तजि बस भे तदपि मनतें गई न ग्लानि॥[4] (तुलसीदास)

तृष्णा-रूपी नदी तो ऐसी विशाल और वेगवती है कि उसमें बड़े-बड़े सत्त्ववान्, धीर और सत्यवादी भी अनायास ही बह जाते हैं। केशवदास उसकी भयंकरता तथा दुस्तरता का वर्णन एक छन्द में इस प्रकार करते हैं—

कौन गनै यहि लोक तरीन बिलोक बिलोकि जहाजन बोरे।
लाज बिसाल लता लपटी तन धीरज सत्य तमालन तोरे॥

१ २ रामचरित मानस, गुटका, पृष्ठ ६७८
३ रामचरित मानस, गुटका, उत्तर काण्ड पृष्ठ ६१५
४ तुलसी सतसई पृष्ठ २४२।२०

संचयता अपमान प्रमान प्रताप भुजंग भयानक तृष्णा ।
पातु बड़ो कहुँ पात न 'केसव' क्यों तरि जाय तरंगिनि तृष्णा ॥[1]

समस्त विकारों के परिहार का सबसे सुगम उपाय है श्रीराम की शरण में जाना और उनके नाम का जाप । अपने शरणागतों के रक्षार्थ जहाँ श्रीराम स्वयं सदा सन्नद्ध रहते हैं वहाँ कभी अपने किसी सेवक को भी भेज देते हैं । श्री लक्ष्मीनारायणदास पौहारी का अनुभव तो इस प्रकार का है—

काम कहै हमरो कछु बातहु, क्रोध कहै हमरो कछु भाई ।
लोभ कहै हम लोभ लियो, तहँवा रघुनाथ की दीन दोहाई ।
सुनि लियो महाराज धनी हनुमान बली कहँ दीन पठाई ।
लातन मारि के कादि दियो अपने जन जानि के दीन्ह छोड़ाई ॥[2]

रामकाव्य में धर्म, शील क्षमा तप कृपा समता शम दम, परोपकार विरक्ति, सन्तोष आदि पर विशेष बल दिया गया है । अन्य स्थलों की तो बात ही क्या युद्ध के प्रसंग में भी गोस्वामीजी इनका महत्त्व प्रतिपादन करने से नहीं चूके । राम रावण का संग्राम होने को था । रावण कवच आदि धारण कर और सुदृढ़ रथ पर आरूढ़ होकर रणभूमि में आया । श्रीराम के पास न रथ था न कवच । वे धनुष-बाण लेकर पदाति रूप में ही रावण के सम्मुख आ डटे । श्रीराम को साधन-विहीन देखकर चिन्तातुर विभीषण उनकी विजय में सन्देह करने लगा । तब श्रीराम उसके संशय को शान्त करते हुए बोले—इस संग्राम में विजयी होना तो सरल है कठिन है संसार-रूपी रिपु पर विजय-प्राप्ति जिसके साधन निम्नलिखित हैं—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना । जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका । सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ॥
बल बिबेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म सन्तोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिग्यान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा । एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥[3]

(तुलसीदास)

पिंड और ब्रह्मांड में शान्ति के अखण्ड साम्राज्य की स्थापना आर्य-संस्कृति का प्रधान लक्ष्य रहा है । यह भावना अनेक वैदिक मन्त्रों में ओत प्रोत लक्षित होती है ।[4] वैराग्य

१ रामचंद्रिका प्रकाश २४, पद्य २१
२ लक्ष्मीनारायणदास पौहारी श्री भक्तिप्रकाशिका, पद्य २९ रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय पृष्ठ ४४८ पर उद्धृत ।
३ रामचरित मानस गुटका लंकाकांड, पृष्ठ ५५२
४ देखें ऋग्वेद ७।३५।१ १३ तथा यजुर्वेद ३६।८ १०-१२ १७

संदीपिनी"[1] में गोस्वामी तुलसीदास ने इस दिव्य गुण की प्राप्ति के साधनों तथा महत्त्व का सविस्तर वर्णन किया है। उनके मतानुसार सात द्वीप नव खण्ड तीन लोक और समस्त ब्रह्मांड में शान्ति की तुलना कर सकने वाला कोई सुख नहीं है। सद्-गुरु की कृपा से जिस का मन शान्त हो जाता है उसके मन में क्रोध की जड़ जल जाती है काम वासना विलीन हो जाती है और अहङ्कार की अग्नि शान्त हो जाती है। शान्ति को मानवीय आत्मा का परम भूषण बताते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

रैन को भूषण इंदु है दिवस को भूषण भानु।
दास को भूषण भक्ति है भक्ति को भूषण ज्ञान॥
ज्ञान को भूषण ध्यान है ध्यान को भूषण त्याग।
त्याग को भूषण शान्तिपद तुलसी अमल अदाग॥[1]

अनन्य प्रेम की सर्वोत्कृष्टता[2], कपटमय आचरण से प्रेम का नाश[3] प्रेम और वैर छिपाये नहीं छिपते[4] जिस से प्रेम हो जाए वही अच्छा लगता है[5] तेजस्वी व्यक्ति लघु-आकार होने पर भी भयंकर होता है[6] क्रोध से क्षमा बलवती है[7] आदि नियमों पर सैकड़ों सुन्दर सूक्तियाँ राम-काव्य में बिखरी अंकित होती हैं परन्तु प्रबन्ध का आकार उन्हें उद्धृत करने से वर्जित करता है।

पारिवारिक नीति—हम ऊपर कह चुके हैं कि रामकाव्य में पारिवारिक नीति पर विशेष बल दिया गया है। आशय यह कि इसमें पिता माता पुत्र पति पत्नी भाई बहिन आदि के कर्तव्यों का सविस्तर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। ऐसा होते हुए भी हम पुनः यह स्मरण करा दें कि रामकाव्य भक्ति-काव्य है और अतएव उसका मुख्य उद्देश्य रामभक्ति का प्रचार है। इसलिए राम-काव्यों का परिशीलन करते समय जो तत्त्व बार बार हमारे सम्मुख आ उपस्थित होते हैं वे ये हैं कि पुत्र-कलत्र आदि के सम्बन्ध मायाजनित हैं वास्तविक नहीं। जो लोग सुत स्त्री सम्पत्ति भवन आदि में ममता रखते हैं वे नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। गुणी पुत्र सुरूप नारी और विपुल श्री का स्वामी होता हुआ भी मानव रामभक्ति के बिना कौड़ी काम का नहीं। सभी सम्बन्धी स्वार्थी हैं और स्वार्थसिद्धि के पश्चात् किनारा कर जाते हैं, अतः जो व्यक्ति इनका परित्याग नहीं करता वह वस्तुतः पामर और अविवेकी है। आगे बढ़ने से पूर्व जगत

१ तुलसी ग्रंथावली खंड २ वैराग्य संदीपिनी पृष्ठ १२।४३-४४
२ रामचरित मानस गुटका पृष्ठ ३४१
३ तुलसी सूक्तिसुधा, पृष्ठ १२३।१०
४ रामचरित मानस गुटका पृष्ठ ३१५, ३७१
५ तुलसी सूक्तिसुधा पृष्ठ ११८।५
६ तुलसी सूक्तिसुधा पृष्ठ ४००।१३ १५
७ तुलसी सतसई पृष्ठ २६६।११२

कथन के समर्थन में कुछ उद्धरण प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा—

(क) नारी सेती नेह लगायो । कबहुं हिरदै राम नहिं ध्यायो ॥
बंधे पास दीयो चोरंगा । सुत बटी नार कोइ नहिं संगा ॥ (स्वामी रामानन्द)[1]

(ख) सुत-बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सब ही ते ।
अंतहु तोहिं तजैंगे पामर, तू न तजै अब ही ते ॥[2]
(तुलसीदास)

(ग) सुत सम्पति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥
ए सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तव पद अवराधक ॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं । माया-कृत परमारथ नाहीं ॥[3]
(तुलसीदास)

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तात्त्विक दृष्टि से रामकाव्य की पारिवारिक नीति सन्तकाव्य के सदृश ही है । परन्तु इसकी विलक्षणता है इस का द्वितीय पक्ष जिस का सन्तकाव्य में प्रायः अभाव है । रामकाव्य परमार्थ की दृष्टि से उपर्युक्त सम्बन्धों को मिथ्या मानता हुआ भी व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें सत्य मानता है और पारिवारिक कर्तव्यों के सम्यक पालन पर इतना अधिक बल देता है कि पाठक संशय में पड़ जाता है । वह सहज ही निश्चय नहीं कर सकता है कि कौन-सा मत स्वीकार्य है और कौन सा परिहार्य । परन्तु यत्र-तत्र विकीर्ण परस्पर विरोधी-सी उक्तियों पर गम्भीर विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि जो सगे-सम्बन्धी राम-भक्ति में बाधक हों वे तो घनिष्ठ होते हुए भी त्याज्य हैं और जो रामभक्ति में सहायक हों वे सुसेव्य—

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बन्धु भरत महतारी ॥
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि भये मुदमंगलकारी ॥
'तुलसी' सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो ॥
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो ॥[4]

रामकाव्य में प्रायः निम्नलिखित पारिवारिक वर्गों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है—

(क) पिता
(ख) माता

---

१ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, ग्यान लीला, पृष्ठ ६
२ विनयपत्रिका, पृष्ठ ११९
३ रामचरित मानस गुटका किष्किन्धा कांड, पृष्ठ ४५०
४ विनय पत्रिका, पृष्ठ २८२ ८३

(ग) पुत्र (घ) पुत्री
(ङ) पति
(च) पत्नी (छ) बहू (ज) सास-ससुर
(झ) भाई

(क) पिता—पिता का सन्तान के प्रति सहज स्नेह होता ही है परन्तु समस्या तब या उपस्थित होती है जब सन्तान एक से अधिक हो। गुण-कर्म-स्वभाव के भेद के कारण पिता सब बच्चों से समान स्नेह नहीं रख सकता। कोई योग्यता कोई रूप और कोई अन्य गुणों के कारण पिता का प्रिय प्रियतर या प्रियतम बन जाता है। तुलसीदासजी का इस विषय में मत यह है कि जो अनन्य भाव से पिता की सेवा करता है वही पिता का सबसे प्रिय पुत्र हो जाता है गुणी धर्मशील धनी शूरवीर आदि पीछे रह जाते हैं—

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धरमरत कोई। सब पर प्रीति पितहि सम होई॥
कोउ पितु-भगत बचन-मन-करमा। सपनेहुँ जान न दूसर धरमा॥
सो सुत प्रिय पितु-प्रान-समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥[1]

प्राचीन काल से प्रायः यह प्रथा प्रचलित रही है कि जिन देशों में राजा वंशानुक्रम से होते आए हैं, वहाँ पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी नियत करता आया है। परन्तु यह नियम निरपवाद नहीं रहा। यदि पिता की सम्मति में ज्येष्ठ पुत्र अयोग्य कुलक्षण आदि होता था तो वह किसी छोटे पुत्रादि को भी राज्य दे सकता था। रामकाव्य में पिता का यह अधिकार सुरक्षित दिखाई देता है। दशरथ के देहान्त के बाद जब भरत कैकय देश से अयोध्या में लौटे तब गुरु वशिष्ठ ने उन्हें इन शब्दों में शासन सँभालने की प्रेरणा दी—

अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू॥
बेद बिदित संमत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥[2]

(तुलसीदास)

इसी भाव को मुनिवर भरद्वाज ने भी प्रयाग में भरत के सम्मुख व्यक्त किया था।[3]

गार्हस्थ्य की सफलता पुत्रवत्ता में निहित है। पुत्री तो सचमुच ही पराया धन है। इसीलिए हमारे यहाँ 'पुत्रहीनं गृहं शून्यम्' अर्थात् 'सुत बिन सूना सदन' की लोकोक्ति प्रचलित हो गई है। परन्तु सभी गृहस्थ समान रूप से सौभाग्यशाली

---

१ रामचरित मानस गुटका उत्तरकांड पृष्ठ ६४५
२ रामचरित मानस गुटका अयोध्याकांड, पृष्ठ ३२६
३ रामचरित मानस, गुटका, अयोध्याकांड पृष्ठ ३४२

नहीं होते। निस्सन्तानों की अपेक्षा तो निस्सन्देह वे अच्छे ही हैं जिन्हें पुत्री के मुखदर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। ऐसे भाग्यवान् लोग सुशील जामाता के दर्शन से ही कुछ सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। इस नीति का उल्लेख युगलकिशोर ने निम्नलिखित सवैये में किया है—

मिथिला तिहुं लोक में 'युग किशोर' लिखे रस में निमि के कुल की।
बस जाइ रह्यो सत सीय सुहाय अपार कमनीय रसातल की।
मिथिला बसि राम सहाय चहै तो उपासक कौन कहैं मत की।
जिन के कुल बीच सपूत नहीं करें आस दमाद के बल की॥[1]

(ख) माता—भारतीय विचार-धारा के अनुसार माता को पिता से श्रेष्ठ माना गया है। प्राचीन आर्य विविध गुणों के आधार पर भगवान् को माता पिता बन्धु सखा कह कर प्रार्थनाएँ करते थे। परन्तु सर्वप्रथम स्थान माता को दिया जाता था—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।[2]

मनु महाराज के मत में आचार्य का गौरव दस अध्यापकों से पिता का सौ आचार्यों से और माता का सहस्र पिताओं से अधिक होता है—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥[3]

कालिदास ने रघुवंश के मंगलाचरणात्मक प्रथम पद्य में जगत् के जनकों की वन्दना की है। ध्यान देने की बात यह है कि उस पद्य में उन्होंने पहले पार्वती का स्मरण किया है पश्चात् परमेश्वर (शिव) का—

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥[4]

इसी प्राचीन परंपरा के अनुसार रामकाव्य में भी माता को पिता से उच्च पदवी दी गई है। जब श्रीराम वन को प्रस्थान करने के पूर्व माता कौशल्या की अनुमति लेने जाते हैं तब वे कहती हैं कि यदि आदेश केवल पिता का है तब तो उसकी उपेक्षा भी सम्भव है परन्तु यदि आज्ञा माता (कैकेयी) की भी है तो तुम्हें जाना ही चाहिए—

---

१ मिथिला माहात्म्य खण्ड १, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृष्ठ ४०१
२ अर्थ—हे भगवन्, तू ही माता है और तू ही पिता तू ही बन्धु है और तू ही सखा। (स० अच्युतानन्द : व्याख्यानमाला लाहौर, १६१७ ई०) पृष्ठ ४।१६
३ मनुस्मृति अध्याय २।१३८
४ रघुवंश १।१

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥[1]

(तुलसीदास)

प्रश्न होता है कि जहाँ माताएँ एक से अधिक हों वहाँ कौन सी माता पूज्यतर होगी—सगी या सौतेली? रामकाव्य इस प्रश्न का उत्तर श्रीराम के आचरण द्वारा प्रस्तुत करता है। जब भरत माताओं के साथ चित्रकूट पहुँचे तब श्रीराम ने प्रथम कैकेयी की ही चरणवन्दना की बाद में अन्य माताओं की—

प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥[2]

(तुलसीदास)

इसी प्रकार जब वे वनवास से लौटे तब भी सबसे पूर्व कैकेयी को ही मिलने को गये—

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गये भवानी॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥[3]

[तुलसीदास]

(ख) पुत्र—सन्तान के सम्बन्ध में रामकाव्य की प्रथम नीति यह है कि—जैसे बहुत योजना बहुत कामनाएँ और बहुत आचार-व्यवहार दुःख के कारण होते हैं वैसे ही बहुत सन्तान भी। अधिक सन्तान से जैसे उनके सम्यक पालन-पोषण में कठिनाई का होना स्वाभाविक है वैसे ही उनमें पारस्परिक कलह-क्लेश की सम्भावना भी बढ़ जाती है। इसीलिए कहा है—

बहु सुत बहु रुचि बहु बचन बहु अचार ब्यवहार।
इनको भलो मनाइबो यह अज्ञान अपार॥ (तुलसीदास)

सन्तान का अधिक या न्यून होना तो दैव और जनकों के अधीन है परन्तु माता-पिता के प्रति कर्तव्य का पालन सन्तान के अधीन। रामकाव्य की नीति के अनुसार पुत्र का सर्वोत्तम धर्म माता-पिता की आज्ञा का अनुवर्तन है। जो पुत्र इस धर्म का सर्वात्मना पालन करता है उसी का जन्म धन्य है। जब कैकेयी से श्रीराम को दशरथ की मूर्छा का कारण विदित हो गया तब वे बोले—

---

१ रामचरितमानस गुटका, अयोध्याकांड पृष्ठ २६२
२ रामचरित मानस गुटका अयोध्या कांड पृष्ठ ३६१
३ रामचरित मानस, गुटका उत्तर कांड पृष्ठ ५६६
४ तुलसी सतसई पृष्ठ २१६।१४

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥[1]

(तुलसीदास)

वन को प्रस्थान के समय विकल पिता को सान्त्वना देने के लिए उन्होंने अपने भाग्य की सराहना इन शब्दों में की—

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू।
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥[2]

(तुलसीदास)

इसी प्रसंग में केशवदास ने भी श्रीराम के मुख से ऐसे ही शब्द कहलाए हैं। जब राम ने अपने वनवास की सूचना कौशल्या को दी तो वे विलख कर बोलीं— तुम्हारे पिता बुढ़ापे के कारण बावले हो गए हैं उनकी आज्ञा का पालन करते हुए तुम्हारा वन को प्रस्थान अनुचित है। इस पर पितृभक्त राम ने कहा कि जो सेवक पुत्र और दास स्वामी पिता और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता है वह करोड़ों जन्म नरक-दुख भोगता है—

अन्न देइ सीख देइ राखि लेइ प्रान जात।
राज बाप मोल लै करै जु दीह पोषि गात॥
दास होय पुत्र होय शिष्य होय कोइ माइ।
शासना न मानई तो कोटि जन्म नर्क जाइ॥[3]

इन काव्यों में पिता के शत्रु से प्रतिशोध लेने को नीति-सम्मत कहा गया है और जो पुत्र इस कर्तव्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है उसे मृतक-तुल्य माना गया है। भेद-नीति का पालन करता हुआ रावण अंगद को श्रीराम के विरुद्ध उत्तेजित करते हुए कहता है—

जो सुत अपने बाप को बैर न लेइ प्रकास।
तासों जीवत ही मर्यो, लोग कहैं तजि आस॥[4]

माता-पिता-भक्त पुत्र का और सत्य-भावना से ओतप्रोत होना ही पर्याप्त नहीं है उसका चरित्रवान् तथा रामभक्त होना भी आवश्यक बताया गया है। जो पुत्र चरित्र और रामभक्ति से रहित है, वह तो माता के यौवन-रूप वन के लिए कुठार-मात्र है, आकार में चाहे वह मानव क्यों न हो। जब निषादपति गुह ने भरत को ससैन्य आते देखा तब सशंक होकर उनसे युद्ध करने की तैयारी करता हुआ बोला—

---

१ रामचरित मानस गुटका अयोध्या कांड पृष्ठ २५८
२ रामचरित मानस गुटका, अयोध्या कांड पृष्ठ २६०
३ केशवदास रामचन्द्रिका प्रकाश ६, पद ६
४ केशवदास रामचन्द्रिका प्रकाश १६ पद १६

कहहु समाज न आदर लेखा । राम भगत महुँ जासु न रेखा ॥
जीव जियत जग सो महि भारू । जननी जौबन बिटप कुठारू ॥[1]

(तुलसीदास)

जब लक्ष्मण भी राम के साथ ही वनवास को उद्यत हो गये तब सुमित्रा ने भी रामभक्त पुत्र की ही प्रशंसा की—

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥[2]

(तुलसीदास)

जहाँ सुपुत्र उपर्युक्त गुणों से युक्त होने के कारण अपने कुल का नाम उज्ज्वल करता है वहाँ कुपुत्र अपने दोष-दुर्गुणों से कुल-धर्मों को नष्ट भ्रष्ट कर कुल को कलंकित कर देता है। जब किष्किन्धा में वर्षा ऋतु में श्रीराम वायुवेग से मेघों को छिन्न-भिन्न होते देखते हैं तब उन्हें उक्त नीति सहज ही स्मरण आ जाती है—

कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं ।
जिमि कपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं ।[3] (तुलसीदास)

"तुलसीसतसई" में उन लोगों की गिनती भी कुपुत्र में की गई है जो बाहर अपमान करने वालों का तो कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते परन्तु उसका बदला घर के निर्बल सम्बन्धियों से लेते हैं—

कोरहिं मूरख सिल सदन, लावें टाँक पहार ।
कायर क्रूर कपूत कलि, घर घर सरिस डहार ॥[4]

(च) पुत्री—रामकाव्य में पुत्री-सम्बन्धी नीति का उल्लेख कदाचित्-क्वचित् ही दिखाई देता है। वर्तमान काल के समान उन दिनों भी विवाह के अवसर पर माता-पिता और सखियाँ उसे कुछ उपयोगी बातों की शिक्षा दिया करती थीं, जिससे ससुराल में उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो। जब पार्वती मायके से विदा होने लगीं तब माता ने उन्हें निम्नलिखित शब्दों में आशीर्वाद और शिक्षा दी—

होएहु संतत पियहि पिआरी । चिरु अहिबात असीस हमारी ॥
सास ससुर गुर सेवा करेहू । पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥[5]

(तुलसीदास)

---

१ रामचरित मानस गुटका अयोध्या कांड पृष्ठ ३१४
२ रामचरित मानस गुटका अयोध्या कांड, पृष्ठ ४०६
३ रामचरित मानस गुटका, किष्किन्धा कांड पृष्ठ ५६६
४ तुलसी सतसई पृष्ठ ९० ।३२१
५ रामचरित मानस, गुटका, बालकांड, पृष्ठ ९२०

माता ने तो उन्हें सास ससुर और गुरु की सेवा तथा पति के आज्ञापालन की शिक्षा दी परन्तु मुनियों ने नारी-धर्म और पिता ने कुल-धर्म के भी उपदेश दिये।[1] गोस्वामीजी ने तो ऋषियों और पिता के उपदेशों का संकेत-मात्र कर दिया है परन्तु महाराज रघुराजसिंह ने कुछ विवरण भी दिया है—

अस कहके करि धीरज राजा। बोल्यो बिलखत मंद अवाजा॥
कीन्हु यो सासु ससुर सेवकाई। पतिव्रत धर्म कबहुँ नहिं जाई॥
करिहैं तोसे अधिक दुलारा। ज्ञानि-सिरोमनि ससुर तिहारा॥[2]

सीता के साथ ही उसकी तीन चचेरी बहिनें भी भरतादि से ब्याही गई थीं। जब एकाधिक बहिनें संयोगवश एक ही परिवार में ब्याही जाती हैं और जेठानी-देवरानी बन जाती हैं तब अनेक बार उन में सहज ही ईर्ष्या आदि उत्पन्न हो जाती है। उससे बचाव के लिए 'रामस्वयंवर' में उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया गया है—

आपुहु भगिनि मिली रहियो नित कबहुँ न होय विरोध।
सब सासुन को मान राखियो किहु यो न कबहु क्रोध॥
पर दुख दुखी सुखी पर सुख सों, सब सों हँसि मुख भाख्यो।
यथायोग सत्कार सबन को करि सनेह सुठि राख्यो॥[3]

(रघुराजसिंह)

मानव-प्रकृति से अनभिज्ञ कई लोग इस बात की कामना किया करते हैं कि जब कन्या पितृकुल से पतिकुल में आ पहुँचे तब उसे पितृकुल का मोह एकदम त्याग देना चाहिए। ऐसे लोग बल-पूर्वक उसे मायके जाने से रोकते रहते हैं। इस अप्राकृतिक नीति के कई कटु परिणाम भी समाज में देखे जाते हैं। अतः इस अनुचित व्यवहार से वंचित करने के लिए सूरकिशोरजी कहते हैं कि पुत्री को सुसराल में कितने ही सुख क्यों न मिलें वह पिता के घर को सर्वथा विस्मृत नहीं कर सकती—

धर्म धुरंधर सियामनि जानकी लोक व बेद की मेड़ न मेटी।
भरी सुख संपति औधपुरी रघुनाथहि सबै लछमी सो लपेटी।
करै मिथिला चित 'सूरकिशोर' सनेह की बात न जात समेटी।
कोटिन सुरपुर जो होइ ससुरारि तौ बाप को पौर न भूलति बेटी॥[4]

(ङ) पति—गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता दम्पती के अनन्य प्रणय पर अवलंबित है। जहाँ पति-पत्नी में से एक भी अपने जीवन-सहचर से विश्वासघात कर किसी अन्य को अपने प्रेम का पात्र बनाता है वहीं गार्हस्थ्य-भवन की नींव कम्पित हो जाती है

---

१ रामचरित मानस गुटका बालकांड, पृष्ठ २२० २२१
२ संक्षिप्त राम स्वयंवर पृष्ठ १८६
३ संक्षिप्त राम स्वयंवर पृष्ठ १८१
४ सूरकिशोर मिथिला विलास पृष्ठ १६ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृष्ठ ४०६

और घरेलू जीवन के सुख नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए रामकाव्यों में पतिव्रत और पत्नीव्रत दोनों के ही पालन का विशेष आग्रह किया गया है। मिथिला की पुष्पवाटिका में सीताजी को देखकर जब श्रीराम के मन में विक्षोभ उत्पन्न होता है तब वे रघुवंशियों के चित्त की निर्मलता का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥[1]

(तुलसीदास)

गोस्वामीजी की उक्त चौपाइयों के ही आधार पर महाराज रघुराजसिंह ने इसी प्रसंग में निम्नांकित सवैये की रचना की—

ऐबो न लायक आज उतै पर नारिन के जित जात बिहारी।
आये इतै मृगछौनन कै नहिं जानी रही मनसा हमारी॥
रीति है धर्म धुरीनन की रघुबंसिन की जग जाहिर भारी।
पीठि परै नहिं संगर में नहिं दीठि परै सपनेहु परनारी॥[2]

उक्त परिस्थिति से भी अधिक नाजुक परिस्थिति वह थी जब राक्षस राजकुमारी शूर्पणखा ने एकान्त वन में राम या लक्ष्मण का वरण करने की कामना प्रकट की। हर्ष और गौरव का विषय है कि दोनों रघुवंशी राजकुमारों ने उस विकट परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक-पत्नीव्रत की ध्वजा फहरा दी। श्रीराम ने तो सीता की ओर इंगित कर शूर्पणखा के पाणिग्रहण का प्रतिषेध कर दिया और लक्ष्मण कहने लगे कि जब से तूने राम को वरने की इच्छा प्रकट की तब से तू मेरे लिए मातृतुल्य हो गई। कवि हृदयराम ने लक्ष्मण के उदात्त भावों को निम्नांकित सवैये में व्यक्त किया है—

तोहिं कह्यौं सुन मात सिधारहि तू जननी मेरी है तब ही ते।
काम को भाव धरें मन मैं रघुबीर के तीर गई जब ही ते।
कै अब जाहि तहीं प्रभु पै जस मास कह्यो हमरी जब ही ते।
जो पर पुरुष की लछमी लछमी लखटी न कह्यो कब हो ते॥[3]

केशवदासजी ने भी श्रीरामचन्द्र के विवाह के अवसर पर जेवनार के प्रसंग में नारियों द्वारा श्रीराम को प्रथा के अनुसार जो गालियाँ दिलवाई हैं उनमें दशरथ पर परस्त्री (वस्तुतः भूमि) के अभिगमन का कलंक लगाया गया है।[4] वैसे तो परनारी

---

१ रामचरित मानस गुटका बालकांड पृष्ठ १६५
२ संक्षिप्त राम स्वयंवर, पृष्ठ १५।१४७
३ हृदयराम : हनुमन्नाटक, पृष्ठ ४३।७६
४ केशवदास रामचन्द्रिका प्रकाश ६, पद ३०

सर्वथा परिहार्य है ही परन्तु अनुज-वधू, भगिनी तथा पुत्रवधू तो पुत्री-तुल्य ही कही गई है। जब आहत बालि ने श्रीराम पर निरपराध व्यक्ति पर प्रहार करने का दोषारोपण किया तब श्रीरामचन्द्रजी ने अपने कृत्य का समर्थन यह कह कर किया कि अनुज की भार्या से व्यभिचार करने वाले व्यक्ति के वध में कोई पाप नहीं—

अनुज बधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इनहिं कुदृष्टि बिलोकत जोई। ताहि बध कछु पाप न होई॥[1]

(तुलसीदास)

रामकाव्यों के अनुसार नारी काम क्रीड़ा का कन्दुक-मात्र नहीं है, सन्तान के लिए ही उपगम्य है। केवल विषय रस के आस्वादन के लिए रमाविलास करना तो कुत्ते के समान वमन भक्षण करना है—

रमा बिलास राम-अनुरागी। तजत बमन इव जन बड़भागी॥[2]

(तुलसीदास)

धर्म करत अति अंग बढ़ावत। संतति हित रति कोविद भावत॥
संतति उपजत ही निशि वासर। साधत तन मन मुक्ति महेश्वर॥[3]

(केशवदास)

संयममय जीवन की प्रशंसा के साथ-साथ रामकाव्य में पत्नी को सुखी रखने तथा उसकी रक्षा करने को परम कर्तव्य कहा गया है। श्रीराम ने एक भी बार तो सीताजी से कहीं यह नहीं कहा कि तुम्हारे बिना मेरी वनवास की अवधि सुख से न कट सकेगी इसलिए तुम्हें मेरे साथ चलना ही चाहिए। इसके विपरीत पत्नि को सुखी रखने के लिए जब सीताजी ने साथ जाने का आग्रह किया तब श्रीराम ने उसे वन के विविध विकट दुःखों का परिचय देते हुए घर में ही सुख-पूर्वक समय व्यतीत करने की प्रेरणा दी। जो पति पत्नी को कष्ट में देख कर भी निश्चिन्त रहता है, उसके उद्धार के लिए भरसक उद्योग नहीं करता वह नीति की मर्यादा का भंजक है। जब श्रीराम की प्रेरणा से हनुमान् लंका में पहुँच कर सीताजी को ढूंढ लेता है तब सीताजी हनुमान् के द्वारा श्रीराम को यह सन्देश भेजती है—

यह तो अंग बीछुँ लोचन, अस बस करत आनि मुख हेरो।
आइ सृगाल सिंह-बलि चाहत यह मरजाद जाति प्रभु तेरी॥[4]

(सूरदास)

---

१ रामचरित मानस, गुटका किष्किन्धा काण्ड पृ० ४५२
२ तुलसी सूक्ति सुधा पृ० १६७
३ रामचन्द्रिका, प्रकाश १८ पद ८
४ सूर रामचरितावली पृ० १०१

और घरेलू जीवन के सुख नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए रामकाव्यों में पतिव्रत और पत्नीव्रत दोनों के ही पालन का विशेष आग्रह किया गया है। मिथिला की पुष्पवाटिका में सीताजी को देखकर जब श्रीराम के मन में विक्षोभ उत्पन्न होता है तब वे रघुवंशियों के चित्त की निर्मलता का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥[1]

(तुलसीदास)

गोस्वामीजी की उक्त चौपाइयों के ही आधार पर महाराज रघुराजसिंह ने इसी प्रसंग में निम्नांकित सवैये की रचना की—

देखो न लायक लाग उतै पर दासन के चित धर्म बिचारो।
आवै इतै मुनिकानन न नहिं जानी रही मरजाद हमारी॥
रीति है धर्म पुरातन की रघुबंसिन की जग जाहिर जारी।
पीठि परै नहिं संगर में नहिं डीठि पर त्यग्यो परनारी॥[2]

उक्त परिस्थिति से भी अधिक मोहक परिस्थिति वह थी जब राक्षस राजकुमारी शूर्पणखा ने एकान्त वन में राम या लक्ष्मण का वरण करने की कामना प्रकट की। हर्ष और गौरव का विषय है कि दोनों रघुवंशी राजकुमारों ने उस विकट परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक-पत्नीव्रत की ध्वजा फहरा दी। श्रीराम ने तो सीता की ओर संकेत कर शूर्पणखा के पाणिग्रहण का प्रतिषेध कर दिया और लक्ष्मण कहने लगे कि जब से तूने राम को वरने की इच्छा प्रकट की तब से तू मेरे लिए मातृतुल्य हो गई। कवि हृदयराम ने लक्ष्मण के उदात्त भावों को निम्नांकित सवैये में व्यक्त किया है—

सोहि कह्यौ तुम जात सियावरि तू जननी मेरी है तब ही ते।
काम को भाव धरै मन में रघुबीर के तीर गई जब ही ते।
के अब जाहि तहि प्रभु पै जब आस तजी हमरी तब ही ते।
जो जब पुरुष की तरुनी भामिनी उलटी न कह्यो तब ही ते॥[3]

केशवदासजी ने भी श्रीरामचन्द्र के विवाह के अवसर पर जेवनार के प्रसंग में नारियों द्वारा श्रीराम को प्रथा के अनुसार जो गालियाँ दिलवाई हैं उनमें दशरथ पर परस्त्री (वस्तुतः भूमि) के अभिगमन का कलंक लगाया गया है।[4] वैसे तो परनारी

१ रामचरित मानस गुटका, बालकांड पृष्ठ १६५
२ संक्षिप्त राम स्वयंवर, पृष्ठ १५।२४०
३ हृदयराम हनुमन्नाटक, पृष्ठ ४३।७६
४ केशवदास : रामचन्द्रिका प्रकाश ६, पद ३०

सर्वथा परिहार्य है ही परन्तु अनुज-वधू, बहिन तथा पुत्रवधू तो पुत्री-तुल्य ही कही गई हैं। जब आहत बालि ने श्रीराम पर निरपराध व्यक्ति पर प्रहार करने का दोषारोपण किया तब श्रीरामचन्द्रजी ने अपने कृत्य का समर्थन यह कह कर किया कि अनुज की भार्या से व्यभिचार करने वाले व्यक्ति के वध में कोई पाप नहीं—

अनुज बधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥[1]

(तुलसीदास)

रामकाव्यों के अनुसार नारी काम क्रीड़ा का उपकरण-मात्र नहीं है सन्तान के लिए ही उपलब्ध है। केवल विषय-रस के आस्वादन के लिए रमाविलास करना तो कुत्ते के समान वमन-भक्षण करना है—

रमा बिलास राम-अनुरागी। तजत वमन इव जन बड़भागी॥[2]

(तुलसीदास)

धर्म करत अति भय बड़रावत। सतति छिन रति छोभित भावत॥
संततिं उपजत ही निसि बासर। साधत तन मन मुक्ति महीसर॥[3]

(केशवदास)

दाम्पत्य जीवन की प्रशंसा के साथ-साथ रामकाव्य में पत्नी को सुखी रखने तथा उसकी रक्षा करने को परम कर्त्तव्य कहा गया है। श्रीराम ने एक भी बार तो सीताजी से कहीं यह नहीं कहा कि तुम्हारे बिना मेरी वनवास की अवधि सुख से न कट सकेगी इसलिए तुम्हें मेरे साथ चलना ही चाहिए। इसके विपरीत पत्नि को सुखी रखने के लिए जब सीताजी ने साथ जाने का आग्रह किया तब श्रीराम ने उसे वन के विविध विकट दुःखों का परिचय देते हुए घर में ही सुख-पूर्वक समय व्यतीत करने की प्रेरणा की। जो पति पत्नी को कष्ट में देख कर भी निश्चिन्त रहता है उसके उद्धार के लिए अपना उद्योग नहीं करता, वह नीति की मर्यादा का भंजक है। जब श्रीराम की प्रेरणा से हनुमान् लंका में पहुँच कर सीताजी को ढूँढ लेता है तब सीताजी हनुमान के द्वारा श्रीराम को यह सन्देश भेजती है—

यह तो प्रेम सीतहुँ सोयन, उन बन करत धामि सुख हेरी।
माह सृगाल सिंह-बलि चाहत यह मरजाद जाति प्रभु तेरी॥[4]

(सूरदास)

---

१ रामचरित मानस, गुटका किष्किन्धा काण्ड पृ० ४५२
२ तुलसी सूक्ति सुधा पृ० ३६७
३ रामचन्द्रिका, प्रकाश १८ छन्द ८
४ सूर रामचरितावली पृ० १०१

पति का कर्तव्य है कि जिस नारी का पाणिग्रहण करे, उसे यावज्जीवन साथ रखे, कभी परित्याग न करे क्योंकि एक तो उसके परित्याग से पति पापी हो जाता है और दूसरे उसके बिना किये हुए धर्म-कार्य सफल नहीं माने जाते। परन्तु श्रीराम के जीवन में ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि उन्हें प्रजा में मर्यादा की रक्षा के लिए पत्नी का परित्याग करना ही पड़ा। निस्सन्देह उन्होंने अपने तथा पत्नी के सुखों की उपेक्षा कर सीता जी को निर्वासित तो कर दिया परन्तु अनीति का भार उनके हृदय को कुचलने लगा। इसी बोझ से बचने के लिए उन्होंने वैदेही के बिना भी अश्वमेध यज्ञ करने की ठानी—

सीय-त्याग पाप तें हिये भूलौं महा डरौं।
और एक अश्वमेध जानकी बिना करौं॥[1] (केशवदास)

परन्तु पत्नी के बिना धर्मकर्म निष्फल होते हैं इसलिए कश्यप ऋषि ने उन्हें एक सुवर्णमयी सीता-प्रतिमा बनवाने की आज्ञा दी—

धर्म कर्म कछु कीजई तरुन तरुनि के साथ॥
ता बिन जो कछु कीजई, निष्फल होई नाथ॥

करिये सुत भूषण रूपरयी। मिथिलेश सुता इक स्वर्ण मयी॥[2] (केशवदास)

वस्तुतः पारिवारिक जीवन की सफलता पति और पत्नी के पूर्ण सहयोग पर निर्भर है। केशवदास के मत में तो पत्नी के बिना पति का और पति के बिना पत्नी का जीवन ऐसा ही नीरस और श्रीविहीन है जैसा रात्रि और चन्द्र का एक दूसरे के बिना—

पतिनी पति बिनु दीन अति, पति पतिनी बिनु मंद।
चंद बिना ज्यों जामिनी, ज्यों बिन जामिनि चंद॥[3]

(ख) पत्नी—पत्नी-सम्बन्धी नीति दो भागों में विभाज्य है—

(१) सधवा-सम्बन्धी नीति

(२) विधवा-सम्बन्धी नीति

१—सधवा-सम्बन्धी नीति—धर्मशास्त्रों में जितना बल पति के पत्नीव्रत पर दिया गया है उतना ही बल्कि उससे भी अधिक बल पातिव्रत पर अंकित होता है। इसका कारण प्राचीन परम्परा तथा अधिकतर कवियों का पुरुष-वर्ग होना है। मन-वचन-कर्म से जैसे-तैसे भी पति का ध्यान करना और सब प्रकार की सेवा से उसे प्रसन्न रखना ही पातिव्रत है। जो सधवा इन कर्तव्यों का भलीभाँति पालन करती है वह पतिव्रता

---

१ रामचन्द्रिका प्रकाश ३५, पद २
२ वही, प्रकाश ३५, पद ३-४
३ रामचन्द्रिका प्रकाश ११ पद १०

है। स्त्री के लिए पातिव्रत के पालन से श्रेष्ठ कोई कर्त्तव्य नहीं है। इस पर आचरण से स्त्री सहज ही परमगति प्राप्त कर लेती है। उसे अन्य जप तप आदि कर्त्तव्यों के पालन की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जो नारी इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करती है वह यौवन में वैधव्य के दु:खों और शत कल्प पर्यन्त रौरव नरक के कष्टों की भागिनी बनती है। अत्रि-पत्नी अनसूया सीताजी को स्त्री के कर्त्तव्यों का उपदेश इन शब्दों में देती हैं—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मित प्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बयदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
रौरव नरक कल्प सत परई। ...
...
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥[1]

(तुलसीदास)

केशव ने भी पातिव्रत पर अत्यधिक बल दिया है परन्तु एक अन्य प्रसंग में। जब वन-गमन के लिए उद्यत श्रीराम कौशल्या से अनुमति माँगने गये तब ममता-वश कौशल्या भी साथ ही जाने को उद्यत हो गईं। उस समय श्रीराम ने कौशल्या से कहा कि स्त्री के सर्व सुख उसके पति में निहित हैं। पति के बिना उसके लिए माता पिता भाई देवर जेठ पुत्र पौत्र कोई भी सुखप्रद नहीं होता[2]। इसलिए पति कैसा भी क्यों न हो उसका साथ छोड़ना पत्नी के लिए उचित नहीं—

नारी तजै न आपनो सपनेहु भरतार।
पंगु गुंग बौरा बधिर अंध अनाथ अपार ॥
अंध अनाथ अपार वृद्ध बावन अतिरोगी।
बालक पंडु कुरूप सदा कुवचन जड़ जोगी ॥
कलही कोढ़ी भीरु चोर ज्वारी व्यभिचारी।
अधम अभागी कुटिल कुमति पति तजै न नारी ॥[3]

(केशवदास)

वस्तुतः पतिव्रता के सब आमोद प्रमोद पति पर ही अवलम्बित हैं और पति के बिना उसके लिए सब सांसारिक सुख दु:ख-रूप बन जाते हैं। जब वनवास के दु:खों का वर्णन कर श्रीराम ने सीता को साथ चलने से रोका तब पतिव्रता सीता बोलीं—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ताते ॥

---

१ रामचरित मानस गुटका, पृष्ठ ४०६ १०
२ रामचन्द्रिका प्रकाश ६ पद्य १४
३ रामचन्द्रिका, प्रकाश ६, पद्य १५

निरखत मारिये प्यास न कीजै ।
यही धर्म नित प्रति सुमिरि पावै सज्जन को सुख सीख ॥[1]

(ग) सज्जन-दुर्जन—सज्जनों और दुर्जनों के सम्बन्ध में प्राय: सामान्य नीतियों का ही उल्लेख हुआ है। जैसे सज्जन तो सम्पत्ति प्राप्त कर नम्रता धारण करते हैं और दुर्जन दृप्त हो जाते हैं। सज्जन तो करुणा के कारण परोपकार के लिए प्राणों तक का परित्याग कर देते हैं और दुर्जन दूसरों को तिरस्कार ही कलंकित करते रहते हैं। वर्षा वर्णन के प्रसंग में नंददास कहते हैं—

ज्यों रे पवन सु कोमल परसै । सब के दुःख करषै मन हरषै ॥
जैसे सज्जन पुरुष पर हेत । अपने प्यारे प्रानन देत ॥[2]

(घ) गुरु-शिष्य—भक्ति-काव्य की अन्य धाराओं के समान कृष्ण-काव्य में गुरु के प्रति अगाध भक्ति दिखाई देती है। श्री वल्लभाचार्य, गोसाईं विट्ठलनाथ स्वामी हरिदास आदि आचार्यों के नाम की वैसे ही अपने की प्रशंसा की गई है जैसे श्री राधा और श्री कृष्ण के नाम की। यहाँ तक कि आचार्यों को श्री कृष्णका अवतार तक मान लिया गया है। यथा छीतस्वामी जी की उक्ति है—

श्री विट्ठल प्रगटे ब्रजनाथ ।
नंद नंदन कलियुग में आए लिए जन किए सनाथ ॥
सब के वेदपथ छाँड़ि रात लिए नाना भाँति बताए ।
ब्रज के स्त्री-पुरुषादिक सब कौं सहज सम्बन्ध कराए ॥[3]

इस अतीव श्रद्धा का कारण यह विश्वास है कि सगुरा व्यक्ति ब्रह्मामृत के पान का अधिकारी होता है, निगुरा नहीं—

सगुरा सुगरा अमृत पीवै, निगुरा प्यासा जाती ।
मगन भया मेरा मन सुख में गोविंद का गुण गाती ॥[4] (मीराबाई)

महाराज मनु ने धर्म के जिज्ञासुओं के लिए भगवती श्रुति को परम प्रमाण माना था[5], परन्तु हित हरिवंश जी के शिष्य सेवक जी के मत में गुरु का पद निर्गुण, सगुण देव वेद तीर्थ तप ज्ञान ध्यान आदि सभी उपास्यों और साधनों से उच्च है—

कर्म धर्म कोउ करत देव विधि कोउ बहुविधि देवन उपासी ।
कोउ तीरथ तप ज्ञान ध्यान व्रत धरि कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी ॥

---

१ परमानंद सागर, पृष्ठ १६७
२ नंददास ग्रन्थावली, पृष्ठ २८६
३ 'छीतस्वामी' पृष्ठ ११
४ मीराँबाई की पदावली पृष्ठ १२६
५ धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः । (मनुस्मृति २।१३)

कोउ यम नेम करत अपनी रुचि, कोउ अवतार करम्ब उपासी ।
मन क्रम वचन निधुर्ज सकल मत, हम मीहित हरि बंस उपासी ॥[1]

जो गुरु जितेन्द्रिय और विषय-स्वार्थों से ऊपर उठा हुआ है वही शिष्यों को सँवार सकता है शेष तो पत्थर की नाव में लोहा भर कर पार उतारना चाहते हैं।[2]

शिष्य—शिष्य तीन प्रकार के कहे गये हैं—कनिष्ठ मध्यम और उत्तम। जो शिष्य शासन के दण्ड से त्रस्त हो कर गुरु की सेवा करता है श्रद्धा भक्ति से नहीं, वह कनिष्ठ शिष्य है। मध्यम शिष्य वह कहलाता है जो गुरु के स्वभाव को समझे बिना तन, मन धन से प्रेमपूर्वक सेवा करता है। उत्तम शिष्य अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त कर गुरु के स्वभावानुसार आचरण करता है।[3]

जो शिष्य उत्तम प्रकार का हो गुरु भी उससे किसी बात को गुप्त नहीं रखता।[4] जो शिष्य गुरु से लाभ ही उठाने के इच्छुक हों और उसकी सुख-सुविधा की ओर तनिक भी ध्यान न देते हों उनका चित्र व्यास जी ने एक पद में यों खींचा है—

गुरुहिं न मानत चेली चेला ।
गुरु रोटी पानी लौं पूँछत पे दूध पीवें खुरचेला ॥
सिष्यन के सौंने के बासन, गुरु कों कुँडी कुँडेला ।
और जिजमियन कौ बहु आदर गुरु को ठेलौ-ठेला ॥
सिष्य तो मौजीपूसा भुगियत गुरु पुनि सात उचेला ।
बहु कायर मह कृपन हठीलो, हैद मारि दिखरावतु मेला ।
कृष्ण कृपा बिनु विधि असमंजस दुखसागर में झेली-झेला ।
'व्यास' आस धै करत शिष्य को तिनतें भले अँड़ेला ॥[5]

(ट) विद्वान् और मूर्ख—प्रेम भक्ति के इस काव्य में विद्वानों की प्रशंसा से सम्बन्धित अधिक रचना न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। मूर्खों के विषय में नीति की जो उक्तियाँ इधर-उधर दिखाई देती हैं उन्हीं से अविद्या त्याग की प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है। नंददास जी के दो पद द्रष्टव्य हैं—

(क) जाको कहुँ अधिकार न कोई। निकटहिं बस्तु दूरि है सोई।
मीन कमल के ढिग ही रहै। रूप रँग रस मधुरिहु लहै ॥[6]

---

१ 'मुक्तामृत सिन्धु' में सेवक वाणी पृष्ठ १०६।१
२ सिद्धान्त रत्नाकर में भक्ति सिद्धान्त मणि, पृष्ठ २१७
३ सिद्धान्त रत्नाकर में भक्ति सिद्धान्त मणि पृष्ठ २१२
४ नंददास ग्रंथावली, पृष्ठ २६४
५ व्यासवाणी, पृष्ठ १२१।२११
६ नंददास ग्रन्थावली, रसमंजरी पृष्ठ १६१

(ख) जो कोऊ मति मंद पंथ न भूरि जहावै।
उपजि हृदय जब परै मुढ़ कों सब सुधि भावै ॥[1]

(८) पाखंडी—प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी को अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों से भेद स्पष्ट करने के लिए, छापा तिलक माला कंठी यज्ञोपवीत आदि कुछ बाह्य चिह्न भी धारण करने ही पड़ते हैं। साधारण जन जहाँ उन बाह्य चिह्नों द्वारा उनके सम्प्रदायादि से परिचित हो जाते हैं वहाँ उनकी धार्मिकता से प्रभावित हो कर कुछ सेवा-शुश्रूषा भी करने लगते हैं। उनके आदर-सम्मान को देखकर कुछ पाखंडी लोग भी धन व प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए वैसे ही बाह्य चिह्न धारण कर सीधी-सादी जनता की वंचना करते हैं। ऐसे कापटिक लोगों की निन्दा भी कृष्ण-काव्य में दिखाई देती है। इसी विषय में महन्त किशोरदास जी का एक कवित्त द्रष्टव्य है—

द्वादस तिलक चित्रकार सी बनावत है,
कंठ विषै माल धर्म पाय कें नचत है।
प्रमविधि आचार अनाचार की अनेक विधि
धुमधाम धुनिन के पास यूं मचत है।
भेष धरे भगतन को बगतन ज्यूं धरा देत
मलिन अपाय देषि अकलनि तपत है।
माता पिता छूटि गुरु छावन की लूटि,
सिष्य धर्मनि तें टूटि चित्र मांस को भपत है ॥[2]

(९) फुटकल नीति—उक्त मुख्य सामाजिक नीतियों के अतिरिक्त कई अन्य फुटकल सामाजिक नीतियों का उल्लेख भी इधर-उधर किया गया है। जैसे—मनुष्य की सेवा से प्राप्त सुख अस्थायी है भगवत्सेवा से प्राप्त सुख स्थायी, दुष्ट मनुष्य की हत्या अनुचित है होली में सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन हो ही जाता है परोपकारी से प्रेम करना चाहिए, धन लोभ एकमात्र के साथी हैं प्राय: लोग कुबुद्धि कुकर्मी और भगवन्निन्दक होते हैं, यथायोग्य व्यवहार ही उचित है इत्यादि।[3]

धार्मिक नीति—कामिनी के समान कांचन भी प्राय: कृष्ण कवियों की कुत्सा का ही विषय रहा है क्योंकि भक्तपथ में यह भी उतना ही भारी विघ्न माना गया है जितना नारी। प्राय: पुरुषों का समस्त जीवन इन दोनों के चक्कर में ऐसी बुरी तरह पड़ा रहता है कि उन्हें परलोक-सुधार की सुध ही नहीं रहती। भक्त कवियों की दृष्टि स्वभावत: लोक की अपेक्षा परलोक पर अधिक केन्द्रित रहती है इसलिए उन्होंने सम्पत्ति

---

१ मंगलात ग्रंथावली रसमंजरी पृष्ठ २११
२ 'सिद्धान्त रत्नाकर' में फुटकर कवित्त पृष्ठ ९७६।४६
३ सूरसागर पृष्ठ १६१, वही पृष्ठ ४६८ 'चतुर्भुजदास' पृष्ठ ३६, व्यासवाणी, पृष्ठ १२६।२२ मीराबाई की पदावली १४८।१५०, सिद्धान्त रत्नाकर में सिद्धान्त सरोवर पृष्ठ १७।११९

को अपनी समझने वालों को तस्कर तक कह दिया है—

(क) जाके मन बसै काम कामिनि धन।
तार्क स्वप्न हूँ नहिं सम्भव श्यामसुन्दर स्याम-घन।[1] (व्यास)

(ख) हरिहिं अर्पि जे फिरि संचरन। जम के द्वार बंधे ते चर्प।
हरि के चोर भये ते प्रानी। जिनि माया अपनी करि जानी॥[2]

(स्वामी हरि

माया को अपनी न मानना ही उचित है तथापि इसकी नितान्त असम्भव है। साधु-सन्त भक्त और वैरागियों की बात अलग है सामान्य गृह जीवन सम्पदा के बिना कभी सुखी नहीं हो सकता इस बात को इन कवियो अप्रत्यक्ष रूप से मानना पड़ा है। जैसे तुलसीदास जी ने किष्किन्धा-काण्ड में था कि—

जस संकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना।[3]

वैसे ही नन्ददास को भी स्वीकृत करना पड़ा—

तुच्छ सलिल के कुलि ये मीन। सरद ताप तपि भये जु दीन।
कृपन परिग कुटुम्बी जैसें। अकिंचनिधन दुख भरत हैं तैसें॥[4]

यद्यपि इस प्रकार धन की आवश्यकता की ओर इन्होंने संकेत तो कर दि तथापि धन के महत्त्व पर वह बल कहीं भी नहीं दिखाई देता जो संस्कृत के काव्यों में दिया गया है। इन्होंने तो लोभ की निन्दा और संतोष की स्तुति ही की है। व्यास जी ने लोभी व्यक्ति का जैसा चित्र निम्नांकित पद में प्रस्तुत वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। सचमुच ही तृष्णाभिभूत मनुष्य की दशा बगूले के पत्र धूम, नदी के तृण तथा गणिका और कुक्कुर के समान ही होती है—

लोभी बगरूरे की सी पात।
लाज छानि को धूंध धूम सी का के नैन समात॥
पावस सरिता के तिनका ज्यों, कतहु न कहूँ थहात।
कामिनि भनि गनिका लौं निसि दिन सब के हाथ बिकात॥
निलज्जन सकुच नहि न्पर नाहीं सब ही सौं ततरात।
भकिहा कूकर लौं, कातो मारत हूँ किकियात॥[5]

गृहस्थ के लिए वित्तोपार्जन ही नहीं धनसंग्रह भी अनिवार्य होत अधिकतर लोग इन बातों के लिए पग पग पर याचना कृतघ्नता, अनृत, कपट

---

1 व्यासवाणी, पृष्ठ १२३।२३६
1 हिन्दी साहित्य में भक्ति सिद्धान्त मरि पृष्ठ ६।१२
2 राम चरित मानस गुटका पृष्ठ ४५६
4 नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ २६१
5 व्यासवाणी, पृष्ठ १३८

आदि का आश्रय लेते हैं और पर-धन को भी हथियाने में संकोच नहीं करते। आत्मा को कुचलने वाले इन कार्यों को कृष्ण-कवियों ने बहुत बुरा भला कहा है। सूरदास जी का एक पद है—

जग में जीवत ही को नातो।
मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजै, कीजै पंच-सुहातो ॥
साँच-झूठ करि माया जोरी आपुन रूखो खातो।
'सूरदास' कछु थिर न रहैगो जो आयो सो जातो ॥[1]

महन्त किशोरदास भी इस विषय में सूरदास जी से सर्वथा सहमत हैं—

करि छल बल ल्यावे धन आप हूँ होंसि रे।
त्याग्यो धर्म कमाय धर्म हू पेलि रे ॥
साथ किये कुकर्म विषै रस पागि रे।
हरि हूँ 'दास किशोर' भये जिन धर्म अभागि रे ॥[2]

धन की निन्दा के उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त एक अन्य कारण है धनजन्य मद। श्रेष्ठ लोग तो धन प्राप्तकर नम्र बन जाते हैं परन्तु अधिकतर लोग धनागम की दशा में ऐसे धृष्ट और मत्त हो जाते हैं कि भूमि पर पाँव नहीं रखते और विविध विनाशकारी व्यसनों में फँसकर अपना और दूसरों का भी नाश कर बैठते हैं। धन के इस कुपरिणाम से भी कृष्ण-कवियों ने पाठकों को सचेत करने का उद्योग किया है। नंददास ने सज्जन व दुर्जन दोनों पर धन के प्रभाव का यों वर्णन किया है—

(क) मीठी धुनि सुनि धन मन भावै। नैन मनों मदसार चढ़ावै।
सज्जन के धन नमित द्रुम ऐसे। तपति पाय बढ़े घन जैसे ॥[3]
(ख) पाछे तुच्छ दुर्जनी जो सरिता। उलटत चलै बहुत जल भरिता।
अजितेन्द्रिय नर त्यों इतराइ। देह गेह धन संपति पाइ ॥[4]

उपार्जित तथा संगृहीत धन को अपने ही खान-पान में व्यय करना उचित नहीं। विवेकी मनुष्य का कर्तव्य है कि उसका परोपकार के कार्यों में भी सदुपयोग करे। मीराबाई के मत में तो दान-पुण्य में व्यय किया हुआ ही धन परम सहायक होता है, दूसरा नहीं—

जग में जीवणा थोड़ा राम कुण करूं रे जंजार।
काहरे खाइयो काह रे खरचियो, काह रे कियो उपकार।
दिया लिया तेरे संग चलेगा और नहीं तेरी लार ॥[5]

---

१ सूरसागर, पृष्ठ ६३।१०२
२ 'सिद्धान्त रत्नाकर' में 'उपदेश आनन्द सत' पृष्ठ ५४६।१७
३ नंददास ग्रंथावली रूपमंजरी पृष्ठ ११९
४ " भाषा दशम स्कन्ध' पृष्ठ २८६
५ मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५६।१६६

इतर प्राणि-सम्बन्धी नीति—जीवदया वैष्णवों का प्रमुख सिद्धान्त है और कृष्णकाव्य वैष्णवकाव्य है इसलिए इसमें प्राणियों के प्रति करुणा दया की शिक्षा अनेक स्थलों पर दी गई है। इनके मत में कोई व्यक्ति दया भावना के बिना हरि को प्राप्त नहीं कर सकता—

(क) 'परसुराम' के पंथ में जीव दया-विस्तार।
पर की पीड़ा जाणई जाणे पर उपकार॥[1]

(ख) दया दीनता दास भाव बिनु 'व्यास' न हरि पहिचान्यौ॥[2]

जहाँ जीवदया प्रमुख महत्त्व रखती हो वहाँ मांसभक्षण आखेट आदि का निषेध स्वाभाविक है क्योंकि मांस की प्राप्ति तथा आखेट प्राणिवध के बिना असम्भव है। मुसलमान लोग हलाल मांस खाते हैं और हिन्दू-सिख झटका। इन कवियों की दृष्टि में झटका हो या हलाल दोनों ही हराम अर्थात् त्याज्य हैं। मांसभक्षक तो नरक में ही जायगा स्वर्ग में नहीं क्योंकि दूसरों के प्राण लेने वाला स्वर्गीय सुखों का अधिकारी कैसे बन सकता है। परशुराम जी का कथन है—

जाय न मारै जीव को, सब हराम हलाल।
'परसा' दोजख पकड़ै जिहि दिन मिलै दर हाल॥
खायो जो मुरदार कर, सो हलाल क्यों होय।
'परसा' कम हराम कर, गये बहिश्तहि खोय॥[3]

अन्य प्राणी तो कृपा के पात्र हैं परन्तु गौ प्रेम की। उसके लिए तो भगवान् वैकुण्ठ के सुखों का परित्याग कर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं—

अवनि-असुर अति प्रबल मुनीजन-धर्म छुड़ाए।
गऊ सन्तन के हेत देह धरि ब्रज में आए॥[4]

जब प्रभु स्वयं पृथ्वी पर आ पहुँचे तो गौओं की देख रेख में क्यों कसर रहे! वे उन के मुख पर जमी धूल को पीत पट से प्रेमपूर्वक पोंछते हैं सींगों को स्वर्णादि से सुभूषित करते हैं गले में हार डालते और घंटा लटकाते हैं तथा पाँव में नूपुर पहनाते हैं।[5] वे उन्हें प्रेमपूर्वक चराने को वन में ले जाते हैं और मुरली की मधुर ध्वनि से उन्हें प्रसन्न करते हैं। सार यह कि कृष्णकाव्य में गौ एक पशु नहीं प्रतीत होती सब सुख माता-सी दिखाई देती है।

सिंह, शूकर, कुक्कर आदि प्राणियों से सम्बन्धित भी कई नीतियों की चर्चा कृष्णकाव्य में की गई है जैसे सुप्त सिंह को कभी मत जगाइए, सिंह के घातक तृण

---

१ परसुराम सागर, पृष्ठ ४०१।२२२१
२ व्यासवाणी पृष्ठ १३१।२४६
३ परसुराम सागर, पृष्ठ १६६।२०६६ ६७
४ 'कुंभनदास' पृष्ठ १४
५ 'चतुर्भुजदास' पृष्ठ १२०, 'परमानन्दसागर' पृष्ठ ८१

धारण नहीं किया करते मनुष्य को न सूकर के सम कामी और न कुक्कर के तुल्य लोभी होना चाहिए। मथुरा-गमन के प्रसंग में नारद कंस को कहते हैं—

समाचार सब नारद भाखे, सावधान रिपु कीनो।
सोवत सिंह जगायो पापी, सन्तन को सुख दीनो॥[1]

मिश्रित नीति—उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कृष्णकाव्य में जिन अन्य मुख्य विषयों के सम्बन्ध में नीतिवचन दृष्टिगोचर होते हैं वे ये हैं—(क) संसार (ख) माया (ग) भाग्य कर्मफल (घ) देश नदी तीर्थ (ङ) काल (च) कलिकाल (छ) ज्योतिष शकुन (ज) जन्म-माहात्म्य (झ) पुनर्जन्म मुक्ति (ञ) धर्म पंथ।

(क) संसार—कृष्णकाव्य में संसार को मिथ्या कहा गया है। उसके वास्तविक प्रतीत होने का कारण प्रभु की माया है जिसके कारण हम उसके सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। जैसे शुक सेमल वृक्ष के आपातरमणीय पुष्पों को देख उसकी ओर फल की आशा से उड़कर जाते हैं परन्तु उनकी निस्सारता के कारण निराश लौट जाते हैं ऐसे ही अज्ञानी जन इस मिथ्या संसार के सुखों की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु अन्ततः उन्हें पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। यह नश्वर संसार उस मण्डी के समान है जो रात को उठ जाती है। इसमें तो राजाओं को भी सुख नहीं सामान्य जनों का तो कहना ही क्या। यह एक अथाह अपार सागर है जिसमें मनुष्य तब तक गोते खाते रहते हैं जब तक सद्गुरु-रूपी केवट उन पर कृपा नहीं करता। यथा—

(क) मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया॥[2] (सूरदास)

(ख) 'व्यास' न सुख संसार में जो थिर छत्र फिरात।
रैन बसो जन पैंठियत भोर नहीं ठहरात॥[3] (व्यास जी)

(ग) सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तरि आयो।
'मीरां' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि हरखि जस गायो॥[4]

अधिकतर तो संसार का चित्र ऐसा ही निराशामय चित्रित किया गया है परन्तु कहीं-कहीं यह कहकर सान्त्वना देने का भी यत्न किया गया है कि जिस संसार में रहकर ही मनुष्य प्रभु प्राप्ति में समर्थ होता है उसे मिथ्या कहना अनुचित है—

सो जग कत मिथ्या कहि जाइ। जहाँ तरें तुम्हरे गुन गाइ।
प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होइ। नाथ कृपा करि दीजै सोइ॥[5] (सूरदास)

परन्तु स्मरण रखना होगा कि ऐसी विरल उक्तियों से उतनी ही सान्त्वना

---

१ 'परमानन्द सागर' पृष्ठ १६२
२ सूरसागर पृष्ठ ४३०
३ व्यासवाणी व्यास जी की साखी पृष्ठ १६३।१२५
४ मीरांबाई की पदावली पृष्ठ १८७।१२७

प्राप्त होती है जितनी सावन की अमावस्या की रात्रि में खद्योतों की झलक से।

(ख) माया—माया का इन काव्यों में प्रचुरता से वर्णन किया गया है। यह भगवान् की ऐसी शक्ति है जो अज्ञानी मनुष्यों को पापों में ऐसे ही प्रवर्तित करती है जैसे कामुक जनों को दूतियाँ। उसे मोहिनी, भुजंगिनी, नटिनी आदि उपाधियों से कोसा गया है। ऐसी प्रबल अनिष्टकारिणी शक्ति से बचाव का एक-मात्र साधन है भक्ति। भक्ति-हीन मनुष्य उसके चंगुल से मुक्त होने में असमर्थ रहते हैं और काम, क्रोध आदि व्यसनों में पड़कर जीवन को नष्ट कर डालते हैं। यथा—

माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लाग लिये डोलति नाना स्वांग बनावै॥
महा मोहिनी मोहि आत्मा अपमारगहिं लगावै।
ज्यों दूती परवधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै॥[1] (सूरदास)

(ग) भाग्य, कर्मफल—कृष्णकाव्य में भाग्य-रेखा की अनुल्लंघ्यता और कर्मफल की अनिवार्यता पर जितना बल दिया गया है उसका शतांश भी उद्योग की प्रशंसा पर नहीं। निस्संदेह कहीं-कहीं ऐसा भी लिखा मिलता है कि अज्ञान से किये हुए कर्म का फल भी मिलता ही है, सुख और दुःख कर्मों के अनुसार होते हैं, निष्काम कर्म करने चाहिए, इत्यादि, तथापि विधि के लिखे अक्षरों पर जितनी आस्था दिखाई देती है उतनी अपने बल, पुरुषार्थ और उद्योग पर नहीं। भाग्य के बिना भोजन और वस्त्र तक भी नहीं प्राप्त होते और जो होनहार है वह हुए बिना टल भी नहीं सकती।

(क) भावी काहू सौं न टरै।
कहँ वह राहु कहाँ वह रवि ससि आनि संजोग परै।
मुनि वसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी रचि पचि लगन धरै।
तात मरन, सिय हरन राम बन-बपु धरि बिपति भरै॥[2] (सूरदास)

(ख) अपना चीता दूर कर हरि का चीता देख।
मिटै न काहू के किये 'परशुराम' हरि-लेख॥[3] (परशुराम)

(ग) सुन्दर नारी चाहि बिवाहै असन बसन बहु बिधि सो चाहै।
बिना भाग सो कहाँ न पावै। तब बहु मन में बहु दुख पावै॥[4] (सूरदास)

(घ) देश—जैसे रामकाव्य में अयोध्या, चित्रकूट, जनकपुरी आदि नगरों और गंगा, सरयू आदि सरिताओं की महिमा का प्रचुर वर्णन मिलता है वैसे ही कृष्णकाव्य में भी कृष्ण और श्री राधा की जन्मभूमि और लीला-भूमि होने के कारण ब्रज, मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, गोवर्धन, बरसाना, यमुना आदि का महत्त्व गान अत्य-

१ सूरदास पृष्ठ १५
२ सूरसागर, पृष्ठ ८१।२६४
३ परशुराम सागर, पृष्ठ १६।१८७
४ सूरसागर, पृष्ठ १११

प्रयत्न नहीं किया करते मनुष्य को न शूकर के सम कामी और न कुक्कर के तुल्य लोभी होना चाहिए। मथुरा-गमन के प्रसंग में नारद कंस को कहते हैं—

समाचार सब नारद भाखे, सावधान रिपु कीनो।
सोवत सिंह जगायो पापी, सन्तन को दुख दीनो ॥[1]

मिश्रित नीति—उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कृष्णकाव्य में जिन अन्य मुख्य विषयों के सम्बन्ध में नीतिवचन दृष्टिगोचर होते हैं वे ये हैं—(क) संसार (ख) माया (ग) भाग्य कर्मफल (घ) वेद नदी तीर्थ (ङ) काल (च) कलिकाल (छ) ज्योतिष शकुन (ज) धन्य-साफल्य (झ) पुनर्जन्म मुक्ति (ञ) धर्म पंथ।

(क) संसार—कृष्णकाव्य में संसार को मिथ्या कहा गया है। उसके वास्तविक प्रतीत होने का कारण प्रभु की माया है जिसके कारण हम उसके सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। जैसे शुक सेमल वृक्ष के आपातरमणीय पुष्पों को देख उसकी ओर फल की आशा से उड़कर जाते हैं परन्तु उसकी निस्सारता के कारण निराश लौट जाते हैं ऐसे ही अज्ञानी जन इस मिथ्या संसार के सुखों की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु अन्तत: उन्हें पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। यह नश्वर संसार उस मण्डी के समान है जो रात को उठ जाती है। इसमें तो राजाओं को भी सुख नहीं सामान्य जनों का तो कहना ही क्या। यह एक अथाह अपार सागर है जिसमें मनुष्य तब तक गोते खाते रहते हैं जब तक सद्गुरु-रूपी केवट उन पर कृपा नहीं करता। यथा—

(क) मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कही क्यों हरि बिसराया ॥[2] (सूरदास)

(ख) 'व्यास' न सुख संसार में जो फिर देख बिचार।
रैन सभी धन देखियत, भोर नहीं व्यवहार ॥[3] (व्यास जी)

(ग) सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तरि आयो।
'मीरां' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि हरखि जस गायो।[4]

अधिकतर तो संसार का चित्र ऐसा ही निराशामय चित्रित किया गया है परन्तु कहीं-कहीं यह कहकर सान्त्वना देने का भी यत्न किया गया है कि जिस संसार में रहकर ही मनुष्य प्रभु प्राप्ति में समर्थ होता है उसे मिथ्या कहना अनुचित है—

जो जग सब मिथ्या कहि जाइ। कहाँ तरें तुम्हरे गुन गाइ।
प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होइ। नाथ कृपा करि दीजै सोइ ॥[5] (सूरदास)

परन्तु स्मरण रखना होगा कि ऐसी विरल उक्तियों से उतनी ही सान्त्वना

---

१ 'परमानन्द सागर' पृष्ठ १६२

२ सूरसागर पृष्ठ ४१०

३ व्यासवाणी व्यास जी की साखी, पृष्ठ १६३।१६४

४ मीरांबाई की पदावली पृष्ठ १४७।१५०

५ सूरसागर, पृष्ठ १०१२

प्राप्त होती है जितनी सावन की अमावस्या की रात्रि में खद्योतों की झलक से।

(ख) माया—माया का इन काव्यों में प्रचुरता से वर्णन किया गया है। वह भगवान् की ऐसी शक्ति है जो अज्ञानी मनुष्यों को पापों में ऐसे ही प्रवर्तित करती है जैसे कामुक जनों को दूतियाँ। इसे मोहिनी भुजंगिनी नटिनी आदि उपाधियों से कोसा गया है। ऐसी प्रबल अनिष्टकारिणी शक्ति से बचाव का एक-मात्र साधन है भक्ति। भक्तिहीन मनुष्य इसके चंगुल से मुक्त होने में असमर्थ रहते हैं और काम क्रोध आदि व्यसनों में पड़कर जीवन को चौपट कर बैठते हैं। यथा—

माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै॥
महा मोहिनी मोहि आत्मा अपमारगहिं लगावै।
ज्यों दूती परवधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै॥[1] (सूरदास)

(ग) भाग्य, कर्मफल—कृष्णकाव्य में भाग्य रेखा की अमिटता और कर्मफल की अनिवार्यता पर जितना बल दिया गया है उसका शतांश भी उद्योग की प्रशंसा पर नहीं। निस्सन्देह कहीं-कहीं ऐसा भी लिखा मिलता है कि अज्ञान से किये हुए कर्म का फल भी मिलना ही है, शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार होते हैं निष्काम कर्म करने चाहिए, इत्यादि तथापि विधि के लिखे अंकों पर जितनी आस्था दिखाई देती है उतनी अपने बल पुरुषार्थ और उद्योग पर नहीं। भाग्य के बिना भोजन और वस्त्र तक भी नहीं प्राप्त होते और जो होनहार है वह हुए बिना टल भी नहीं सकती।

(क) भावी काहू सौं न टरै।
कहँ वह राहु कहाँ वह रवि ससि, आनि सँजोग परै।
मुनि वसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी, रचि पचि लगन धरै।
तात मरन सिय हरन राम बन-बपु धरि बिपति भरै॥[2] (सूरदास)

(ख) अपना चीत्या दूर कर, हरि का चीत्या देख।
मिटै न काहू के किये, 'परसुराम' हरि-लेख॥[3] (परशुराम)

(ग) सुन्दर नारी ताहि दिखाई असन बसन बहु विधि सो चाही।
बिना भाग सो कहीं न आवै। सब बहु मन म बहु दुख पावै॥[4] (सूरदास)

(घ) देश—जैसे रामकाव्य में अयोध्या चित्रकूट जनकपुरी आदि नगरों और गंगा सरयू आदि सरिताओं की महिमा का प्रचुर वर्णन मिलता है, वैसे ही कृष्णकाव्य में भी कृष्ण और श्री राधा की जन्मभूमि और लीला-भूमि होने के कारण ब्रज मथुरा वृन्दावन गोकुल गोवर्द्धन बरसाना यमुना आदि का महत्त्व पाया जाता-

१ सूरदास पृष्ठ १५
२ सूरसागर, पृष्ठ ८५।२६४
३ परशुराम सागर, पृष्ठ १६।१८७
४ सूरसागर, पृष्ठ ११६

विक है। कृष्णभक्तों को ये स्थल बैकुण्ठ से भी अधिक मनोरम प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ गोविन्दस्वामी का यह पद देखिए—

कहा करौं बैकुंठै जाइ।
जहाँ नहीं वंसीवट जमुना गिरि गोवर्धन नंद की गाइ॥
जहाँ नहीं ए कुंज लता द्रुम मंद सुगंध बाबत नहिं बाइ।
कोकिल मोर हंस नहिं कूजत ताको बसिबो काहि सुहाइ॥[1]

और भक्तवर व्यास जी को तो वृन्दावनवासी स्वपच की जूठन और कहीं के वासी विप्र के मिष्टान्न से भी मधुर मालूम होती है—

'व्यास' मिठाई विप्र की ता में लागै आग।
वृन्दावन के स्वपच की जूठन खये माँगि॥[2]

इसके विपरीत वे नगर जहाँ अपार ऐश्वर्य के कारण आठों याम नाच रंग और चहल-पहल बनी रहती थी भक्ति-साधना में विघ्न-रूप होनेके कारण इनको फूटी आँख न भाते थे। सम्राट् अकबर के आमंत्रण पर कुम्भनदास सीकरी में चले तो गए परन्तु उससे इनके मन में जो ग्लानि हुई उसका अनुमान निम्नांकित पद से सहज ही हो सकता है—

भक्तन को कहा सीकरी काम?
आवत जात पन्हैयाँ टूटी बिसरि गयो हरि-नाम॥
जाको मुख देखत दुख उपजै ताको करनी परी प्रनाम।
'कुंभन दास' लाल गिरिधर बिनु यह सब झूठो धाम॥[3]

काल—काल शब्द प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है मृत्यु और समय। मृत्यु को संमुख देखकर बड़े-बड़े मनस्वी भी कंपित हो उठते हैं और प्राण-रक्षा के लिए लाखों की संपदा देने को तैयार हो जाते हैं परन्तु काल से आज तक न कोई प्राणी बचा और न बचेगा। मृत्यु की इस अनिवार्यता को दिखाते हुए सब देशों और कालों के भक्तों ने मूढ़ लोगों को नीति-पथ पर अग्रसर करने का यत्न किया है। कृष्ण-काव्य में भी काल की प्रबलता दिखाते हुए मनुष्य को सत्पथगामी बनाने का यत्न किया गया है और साथ ही यह भी बता दिया है कि सद्गुरु की कृपा से ही कालभय का निवारण हो सकता है—

(क) काल बली तें सब जग काँप्यौ ब्रह्मादिक हू रोए।
'सूर' अधम की कहौ कौन गति उदर भरे, परि सोए॥[4]

---

१ 'गोविन्दस्वामी', पृष्ठ २१५
२ व्यासवाणी, व्यास जी की साखी पृष्ठ १६६।१३१
३ 'कुंभनदास' पृष्ठ १२०
४ सूरसागर, पृष्ठ १८।५२

(घ) बोवत मधुर, खात फल चाहत, पीवत है फल लागें ।
'सूरदास' सुभ राम न भजिकै फिरत भ्रमत संग लागे ॥[1]

(ङ) 'परसा' पाचर नाम की खूटी देही मांहि ।
सतगुरु बिना न नीसरे, सालै मांहों मांहि ॥[2]

समय या अवसर के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर नीति-वचन कृष्ण-काव्य में दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ समय पर की गई तनिक-सी सहायता से जो काम सिद्ध होता है वही अवसर चूक जाने पर बहुत साहाय्य से भी सम्पन्न नहीं होता। व्यास जी का वचन है—

एक बूंद जल प्यासो जीव जो राखै को मान ।
पाछें सुधा सिन्धु कहा कीजै छूटि गये जब प्रान ॥[3]

कलिकाल—देश और जाति में प्रचलित पाप अन्याय अत्याचार आदि के लिए पापी अन्यायी अत्याचारी आदि को दोषी न ठहरा कर कलि-काल को ही कलंकित करने की प्रथा इस देश में चिरकाल से चली आती है। यदि यवन-शासन के कारण हिन्दू सताए जाते थे गौएँ काटी जाती थीं और मन्दिर विध्वस्त किए जाते थे तो इनका कारण भी कलिकाल ही माना जाता था। यदि लोग वेदविधियों का उल्लंघन करते और पुत्र पिता का तो इसका दोष भी कलि के ही माथे मढ़ा जाता था—

पुत्र न कह्यौ पिता को मानत करत आपनी भायौ ।
बेटी बेचत लाज न मानत विश्व-विश्व लोभ बढ़ायो ।
याही तें धरिया मद होत है पुन्य जु पाप समायौ ।
इतनौं दुःख सहिबे के काजें काहे को 'व्यास' जियायौ ॥[4] (व्यास जी)

इन कवियों में यह विचार भी पाया जाता है कि कलि-मल का नाश करने के लिए ही भगवान् कृष्ण और सम्प्रदायों के आचार्यों ने जन्म लिया है।[5]

(छ) ज्योतिष शकुन—इन कवियों का शुभाशुभ लग्न मुहूर्त ग्रह नक्षत्र शकुन आदि में विश्वास तो है परन्तु बहुत अधिक नहीं। कारण यह कि ये लोग श्री कृष्ण पर इतना अधिक विश्वास रखते हैं कि उनकी कृपा-दृष्टि क्रूर ग्रहों और अप-शकुनों के कुप्रभाव को मिटा देती है। इनकी यह भी आस्था है कि यदि कृष्ण की दृष्टि वाम हो तो शुभ ग्रह और शुभशकुन भी हमारा हित नहीं कर सकते। उपर्युक्त कथन के समर्थन में दो पद्य प्रस्तुत किए जाते हैं—

---

१ सूरसागर, पृष्ठ २१।६१
२ परशुराम सागर, पृष्ठ १२२।२२१
३ व्यासवाणी पृष्ठ १३।२४
४ व्यासवाणी, पृष्ठ १२२।२३१
५. सूरसागर पृष्ठ १४।४१ हितामृत सिंधु हितचन्द्रिका पृष्ठ ७१

(क) चौपास कि वैष्णव करम को कीजे ।
गुरु भक्त तिथि व्रत मजउप बार बलि सुभ घरी विचार लीजे ।[1] (परमानन्द दास)
(ख) काहु दसम्य असम्य निशापति मंगल बुध शिवस्पत नीके ।
को गुन होय परम्म मवम्य के सो मुमुनौ सुमन नवी के ॥
तोसरो केतु समेत बिधु मत तो हरिवंश मन कम पीके ।
गोविन्द छाँड़ि भ्रमत विसी विस तो करहुँहि कहा नवग्रह माके ।[2] (हितहरिवंश)

(च) जन्म-साफल्य—कृष्ण-कवियों की दृष्टि में मानव-जीवन की सफलता प्रभूत धन-सम्पत्ति या सुख-सामग्री एकत्र करने में नहीं बल्कि हरि-भजन गुरु-सेवा व्रज-वास नामश्रवणमनन भक्त-चरण-सेवन और राधाकृष्ण की प्रतिमा के सम्मुख प्रेममग्न होकर नृत्य करने में है। यद्यपि हमारे यहाँ पदार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति को ही जीवन-लक्ष्य माना गया है परन्तु श्री कृष्ण के प्रेमियों को ये पदार्थ भी तुच्छ प्रतीत होते हैं। व्यास जी के मत में तो ये पदार्थ राधा-कृष्ण के सम्मुख पानी भरते हैं—

श्री वृन्दावन के राजा ठोक स्याम राधिक रानी ।
तीन पदारथ करत मँजूरी, मुक्ति भरत जहँ पानी ॥[3]

(छ) पुनर्जन्म, मुक्ति—अधिकतर भारतीय सम्प्रदायों के अनुसार इन कवियों का पुनर्जन्म में विश्वास है। ये मानते हैं कि जीव चौरासी लाख योनियों में भटककर कष्ट-कर फिर कहीं मनुष्य की दुर्लभ देह प्राप्त करता है। परन्तु बार-बार इस मनुष्य काया की प्राप्ति की कामना इसमें नहीं दिखाई देती। वे एक ही बार प्राप्त इस सुअवसर से लाभ उठाकर संसार-सागर से पार उतरना चाहते हैं। संसार और माया को मिथ्या मानने वालों में इन वस्तुओं के प्रति वास्तव आकर्षण हो भी कैसे सकता है। मोक्ष में भी इन कवियों का विश्वास है परन्तु उसे वे अन्य धर्म सम्प्रदाय वालों के लिए ही रहने देते हैं और आप निकुंजविहारी के लीलादर्शन में ही उससे भी उच्च कोटि का सुख प्राप्त करने के इच्छुक हैं। इस सुख के लिए वे अनेक जन्म धारण करने को भी उद्यत हैं।

(क) भ्रम चौरासी जोनि भरमि कै, फिरि वाही मन दीनो ।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु ज्यौं अंजलि-जल छीनो ॥[4]
(ख) कहो विधना ! तो प अंचरा पसारि माँगौं
जनमु-जनमु दीजै याही ब्रज बसिबो ।

---

1 परमानन्द सागर, पृष्ठ १८
2 हितामृत सिन्धु पृष्ठ ३१२
3 व्यासवाणी, पृष्ठ ३७।६४
4 सूरसागर पृष्ठ ९३।९१ (और भी देखें, पृष्ठ ६८।२०१)

अहीर की जाति, समीप नंद-घर,
घरी-घरी घनश्याम हेरि-हेरि हँसिजो ॥[1] (छीतस्वामी)

(ख) धर्म, पंथ—भागवत धर्म के अनुयायी इन कृष्ण-कवियों में धर्म के प्रति आस्था का होना स्वाभाविक ही है। श्री कृष्ण के जातकर्म नामकरण अन्न-प्राशन यज्ञोपवीत आदि धार्मिक संस्कारों का उल्लेख तो इन काव्यों में बराबर मिलता है परन्तु रामकाव्य की-सी उदारता प्रायः इन काव्यों में दिखाई नहीं देती। प्रायः अपने सम्प्रदाय की तुलना में अन्य सम्प्रदायों को हीन ही समझा जाता है—

(क) सेवा-रीति बताई विधि सों अपने मन की परम अनूप।
'छीत स्वामी' श्री विट्ठल पायें और पंथ जैसे बन धूप ॥[2]

सेवक जी ने हरिवंश के अनुयायियों को तो पक्के धर्मी कहा है और दूसरों को काचे धर्मी।[3] गणेशपूजकों की तो मृत्यु की कामना तक की गई है।[4] इस संकीर्णता के रहते हुए भी कभी-कभी कोई भक्त कुछ उदारता का प्रदर्शन कर ही देता है—

अपने अपने मत लगे, बाद मचावत सोर।
ज्यों त्यों सब को सेवनें एकै नंद किशोर ॥[5] (व्यास जी)

कृष्णकाव्य पर एक दृष्टि

नवीन विषय—पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कृष्णकाव्य मुख्यतः कृष्ण-भक्ति से सम्बन्ध रखता हुआ भी नीतिकाव्य के विचार से नितान्त उपेक्ष्य नहीं है। यह भी विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है कि उसमें नीति-सम्बन्धी कई ऐसी बातों का उल्लेख किया गया है जो पिष्ट-पेषण मात्र नहीं है। कई बातें ऐसी हैं जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती हिन्दी नीतिकाव्यों में दुर्लभ है जैसे—एकाकी क्रीडा से प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती रसिकों की वाणी भी अमी वाक्माधुर्य के साथ मनोमार्दव भी आवश्यक है गीता और भागवत का पद श्रुति से भी उत्कृष्ट है गुणी व्यक्ति का अल्प दर्प सह्य है पिता की दृष्टि सन्तान के अन्याय्य कृत्यों पर नहीं पड़ती पति का पक्ष पड़ोसिन से न सुनना चाहिए राधा, कृष्ण और गुरुओं के नाम का जप करना चाहिए कृष्णप्रेम के लिए यदि परिवार और समाज की मर्यादाएँ भग्न होती हों तो कोई चिन्ता नहीं युवतियों को ज्ञानयोग का उपदेश देना अनुचित है निन्दक हन्तव्य है विविध शिष्य सन्तों की जूठन भी भक्ष्य है होली में मर्यादोल्लंघन उपेक्ष्य है सम्पत्ति को स्वकीय समझने वाला तस्कर है वृन्दावन के श्वपाक की जूठन अन्य कहीं के विप्र के मिष्टान्न

1. 'छीतस्वामी', पृष्ठ ५१ (और देखें रसखानि, पृष्ठ ३१२)
2. 'छीतस्वामी', पृष्ठ ११०। (और देखें सिद्धान्त रत्नाकर सवैया पचीसी, पद्य १७)
3. हितामृत सिंधु, पृष्ठ १२८, १३३
4. व्यासवाणी, पृष्ठ ८०।१४६
5. व्यासवाणी, पृष्ठ १२८।९३

से अच्छी है, मुक्ति की अपेक्षा जन्म-जन्मान्तर में कृष्णलीला-दर्शन श्रेष्ठ है इत्यादि।

पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव—कृष्णकाव्य पर पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव मुख्यतः दो वर्गों में विभाज्य है—(क) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव और (ख) हिन्दी साहित्य का प्रभाव।

(क) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव—कृष्णकाव्य पर श्रीमद् भागवत पुराण का प्रभाव सब से अधिक पड़ा है। जहाँ सूरदास ने उक्त पुराण के आधार पर सूरसागर का प्रणयन किया है वहाँ नन्ददास ने उसी के दशम स्कन्ध का व्रजभाषा काव्य में अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। मेघदूत भर्तृहरि-कृत नीतिशतक आदि काव्यों का प्रभाव भी कहीं-कहीं लक्षित होता है। जैसे—

(१) भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥[1]
(भर्तृहरि)

फलन के भार नमित द्रुम ऐसे। संपति पाय बड़ जन जैसे।[2] (नन्ददास)

भर्तृहरि के उपर्युक्त श्लोक का आशय यह है कि जैसे फल लगने पर वृक्ष जल-पूर्ण होने पर मेघ और सम्पन्न होने पर सज्जन विनम्र हो जाते हैं वैसे ही परोपकारी लोग स्वभावतः विनीत होते हैं। नन्ददास ने श्लोक के प्रथम तथा तृतीय चरण को तो ग्रहण कर लिया है और शेष दो का परित्याग कर दिया है।

(२) मेघदूत में जब विरहातुर यक्ष विवेकहीन होकर जड़ मेघ द्वारा ही प्रियतमा के पास सन्देश भेजने को उत्सुक हो गया तब कालिदास ने उसके इस विवेक-रहित काम का समर्थन नीति की निम्नांकित उक्ति द्वारा किया—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।[3]

अर्थात् काम-पीड़ित मनुष्य जड़ और चेतन में विवेक करने की शक्ति से वंचित हो जाते हैं। इसी नीति का उल्लेख नन्ददास ने 'रासपंचाध्यायी' के प्रसंग में किया है जिसमें गोपियों को गर्वित देखकर श्री कृष्ण अन्तर्हित हो गये और गोपियाँ विरह-व्यथित होकर प्रियतम का पता वृक्षों और पक्षियों से पूछने लगीं—

हे नई बिटप बिलस तन सुभग द्रुम बेली-बन।
को पाइ को पतन्य काहू न जानत बिरही जन॥[4]

(३) श्रीमद् भागवत् में पातिव्रत की प्रशंसा निम्नांकित पद्यों में की गई है—

---

१ शतक-त्रयम्, पृष्ठ १२।६१
२ नंददास ग्रंथावली, रूपमंजरी पृष्ठ ११६
३ कालिदास: मेघदूत पद्य ५
४ नंददास ग्रंथावली, रासपंचाध्यायी, पृष्ठ १४

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥[1]

'उत्तम लोक प्राप्त करने की इच्छुक स्त्रियों को पापी के सिवा किसी भी प्रकार के पति का परित्याग न करना चाहिए चाहे पति दुःशील भाग्यहीन वृद्ध मूर्ख रोगी या निर्धन ही क्यों न हो। कुलीन स्त्री के लिए जाराभिगमन स्वर्गनाशक अपकीर्ति-जनक तुच्छ दुःखदायक भयकर और घृणा-जनक होता है।

भागवत की इसी नीति को सूरदास जी ने निम्नलिखित चरणों में व्यक्त किया है—

बिरध अरु बिन भागहूँ कौ, पतित जौ पति होइ।
जऊ मूरख होइ रोगी तजै नाहीं जोइ॥
तजि भरतार और जो भजिय, सो कुलीन नहिं होइ।
मरै नरक, जीवत या जग में भली कहै नहिं कोइ॥[2]

(४) याचकता गौरव-नाशिनी है इस नीति का उल्लेख बलि-वामन की प्रसिद्ध कथा की ओर संकेत करते हुए 'सुभाषितरत्नाकर' में निम्नवर्ती पद्य में किया गया है—

तावन्महत्त्वं महतां यावत्किमपि न याच्यते लोकम्।
बलिमनुयाचन-समये श्रीपतिरपि वामनो जातः॥[3] (पद्मभट्ट)

भक्तवर व्यास जी ने इसी आशय को निम्नांकित दोहे में स्पष्ट किया है—

'व्यास आस करि मांगिबौ हरिहू हरुवौ होय।
बावन ह्वै बलि के गये यह जानत सब कोय॥[4]

उपर्युक्त विवरण से हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि कृष्णकाव्य में विद्यमान नीति की उक्तियाँ भाव और भाषा दोनों दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की अंशतः ऋणी हैं।

हिन्दी-साहित्य का प्रभाव—संस्कृत-साहित्य के समान ही कृष्णकाव्य हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य से भी प्रभावित लक्षित होता है। इस क्षेत्र में इस काव्य पर कबीरदास, तुलसीदास का प्रभाव अन्य हिन्दी कवियों की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है। भाव-क्षेत्र में ही नहीं भाषा क्षेत्र में भी यह प्रभाव इतना अधिक है कि कहीं-कहीं

---

१ श्रीमद् भागवत दशम स्कन्ध अध्याय २६।२५, २६
२ सूरसागर पृष्ठ ६११। पद १०१६, १०१७
३ सुभाषित रत्नाकर, पृष्ठ ६६।७
४ व्याससवाणी, पृष्ठ ११५।१७

तो कृष्णकाव्य की उक्तियाँ पूर्ववर्ती कवियों के पदों का रूपांतर-मात्र प्रतीत होती हैं। जैसे कर्मगति के विषय में कबीर का एक पद इस प्रकार है—

(क) करम गति टारे नाहिं टरी।
मुनि वसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी॥
सीता हरन मरन दसरथ को बन में बिपति परी।
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी।
पांडव जिनके आपु सारथी तिन पर बिपति परी।
राहु केतु औ भानु चंद्रमा बिधि संजोग परी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो होनी होके रही॥[1] (कबीर)

उपर्युक्त पद के आधार पर मीराबाई और सूरदास ने भी पद रचना की है—

करम गति टारे नाहिं टरे।
सतवादी हरिचन्द से राजा (सो तो) नीच घर नीर भरे।
पांच पांडु अरु सती द्रोपदी, हाड़ हिमालै गरे॥[2] (मीराबाई)
भावी काहू सौं न टरे।
कहं वह राहु कहाँ वे रवि ससि आनि सयोग परें॥
मुनि वसिष्ठ पंडित अति ज्ञानी रचि-पचि लगन धरै॥
तात-मरन सिय-हरन राम बन-बपु धरि बिपति भरै।
हरिचन्द सो को जग दाता सो घर नीच भरै।
'सूरदास' प्रभु रची सु ह्वै है को करि सोच मरै॥[3]

उपर्युक्त तीनों पदों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें वर्ण्य विषय की ही समानता नहीं है उदाहरण भी लगभग समान हैं और शब्दावली में भी साम्य है ही।

(ख) साकत बामण मति मिलै, बैसनों मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये मानों मिले गोपाल॥[4] (कबीर)
साकत-बामन जिन मिलो बैस्नव मिलि चण्डाल।
जाहि मिले सुख पाइये मनो मिले गोपाल॥[5] (व्यास)

उपर्युक्त दोहों में ब्राह्मण शाक्त की अपेक्षा चंडाल वैष्णव को श्रेष्ठ कहा गया है। व्यास जी भाव के लिए ही कबीर जी के आभारी नहीं हैं अपने दोहे के तीन चरणों की शब्दावली के लिए भी कबीर जी के ऋणी हैं।

१ कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ १७५
२ मीराबाई की पदावली पृष्ठ १२६
३ सूरसागर, पृष्ठ ८२।२६४
४ कबीर ग्रंथावली भूमिका पृष्ठ ५४
५. व्यास-वाणी पृष्ठ १६६।११६

(म) गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में ऐसे अनेक पदों की रचना की है जिन का आशय यह है कि चाहे मनुष्य संसार की सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हो तो भी उसका जीवन तब तक सफल नहीं माना जा सकता जब तक उसके हृदय में सच्ची राममक्ति का संचार न हो। उनमें से कुछ सवैयों के अन्तिम चरण 'ऐसे भये तो कहा तुलसी' इस शब्दावली से आरम्भ होते हैं। कृष्ण भक्त महन्त किशोरदास जी ने अपनी सम्पूर्ण 'सवैया-पचीसी' की रचना इसी शैली में की है और वर्ण्य विषय भी प्रायः वही है। जैसे—

झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु तें बढ़ि जाते॥
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भए तो कहा तुलसी, जु जानकी-नाथ के रंग न राते॥[1]

(तुलसीदास)

डंड धरे कर मांहि प्रचंड सुदंडन हुसान समान सवारी।
मानत आन प्रमान भरिन्न महा रनु वेध भर कर भारी॥
मत्त मतंग करिन्द्र तुरंग रहें नृप सब अनंत संसारी।
ऐसे भये तो कहा हरिदास लये नहीं नित्य 'किशोर' बिहारी॥[2]

(किशोरदास)

परिस्थितियों का प्रभाव—कृष्णकाव्य में जो थोड़ी-बहुत नीति दिखाई देती है उस पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव भी कहीं-कहीं दिखाई देता है। एक ओर तो जैन लोग थे जो जगत्कर्ता ईश्वर में विश्वास ही न रखते थे और कठोर संयम के पक्षपाती थे। वे केशलुंचन उग्र तप अत्यधिक जीवदया दिवा भोजन आदि कृत्यों को अत्यधिक महत्त्व देते थे और उस भक्ति रस से सर्वथा रहित थे जिसमें कृष्णभक्त अपने जीवन को सार्थक समझते थे। इसलिए इन कवियों ने जैनों को उक्त व्यवहारों के लिए आड़े हाथों लिया है। यथा—

लुंचित केस कलेस कलेवर कानन करम लिये अधिकारी।
रक्षक जीव अनाथक ईस्वर वासर भोजन अल्प सुमारी॥
इंद्रिनि जीति अतीत पराकृत थोग सकर्मन तें मति टारी।
ऐसे भये तो कहा हरिदास लये नहीं नित्य 'किसोर' बिहारी॥[3]

दूसरी ओर गोपपथी लोग अपने मत का प्रचार करने में मग्न थे। वे जटाएँ

---

१ तुलसी ग्रन्थावली खंड २, कवितावली, पृष्ठ १७३।४४
२ 'सिद्धान्त रत्नाकर' में 'सवया पचीसी' पृष्ठ २६१।१२ (सवया पचीसी' के सभी पदों में महंत किशोरदास ने मदाचार्य आचार्य हरिदास की छाप लगाई है।)
३ वही वही पृष्ठ २६२।८

रखते मस्त और रोम बढ़ाते कान फड़वाते भस्म रमाते प्राण-संयम करते और यौगिक क्रियाओं के प्रति लोगों को उन्मुख करते थे। परन्तु कृष्णभक्तों को ये सब क्रियाएँ कृष्णदर्शन के बिना जंजाल दिखाई देती थीं।

> मुनि के उपदेश सुवेश भये यों भेष दिखा रचौ आसन भारी।
> सीस जटा जुग कान फटा नख रोम प्रवर्धित स्वंभु प्रकारी॥
> बाहु उठाय बिभूति रमाय समाधि लगाय सुयोग प्रचारी।
> ऐसे भये तौ कहा हरिदास जपे नहीं नित्य 'किसोर' बिहारी॥[1]

परशुराम जी ने भी इस मार्ग को विकट घाटी के तुल्य दुरारोह और कृष्ण प्रेम के मार्ग को विमान के समान तुरन्त आसमान पर पहुँचाने वाला कहा है—

> त्रिकुट चोट घाटी विकट धुम्य न चढ़ई प्रमाण।
> परसा पंथ न जानई, पायो प्रेम-विमाण॥[2]

तीसरे मुसलमान लोग थे जिनके मुल्ला काजी आदि खुदा, बहिश्त, दोज़ख, कुरान आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बातें करते थे परन्तु रसना की लोलुपता की शान्ति के लिए निरीह प्राणियों का निर्दयतापूर्वक वध करने में रत्ती भर भी संकोच न करते थे। इतना ही नहीं विधर्मियों के प्रति अन्याय तथा उनके पूजास्थानों के विध्वंस करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। ये सब कार्य कृष्णभक्तों की दृष्टि में कुत्सित और हेय थे इसीलिए उन्होंने इसका निस्संकोच खण्डन किया। जैसे—

> आपस मारे हक कहै, करता हुवी हराम।
> 'परसा' स्वारथि जीव के, बूडि मुए बेकाम॥
> करतें करती मारि है, सबको करे हलाल।
> 'परसा' सरम्यु दीन की, विगुचित पड़े पर हाल॥[3]

अनेक साधु-संन्यासी घर-बार के परित्याग मात्र को ही कल्याण का साधक समझ कर परिभ्रमण में निरत रहते थे। इन कवियों के मत में वे कृष्णविमुख होने के कारण सीधे ही यमलोक के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे—

> संन्यासी सूझे चलैं जाहि बूझि जम-लोक।
> भगति बिमुख पशु 'परसुरों' सके न काहू रोक॥[4]

इन कवियों की रचनाओं में जहाँ-जहाँ कलि-काल का वर्णन किया गया है वहाँ वहाँ भी तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। भगवतर व्यास जी की निम्नलिखित पंक्तियों में तत्कालीन सामाजिक दशा का अच्छा चित्र प्रस्तुत

---

१ वही वही, पृष्ठ ९६।२१७।
२ परशुराम सागर, पृष्ठ १००।११७
३ वही, पृष्ठ, १४६।११०८ १४७।१११५
४ वही पृष्ठ १६१।११८२

किया गया है—

धन सुधो कलि भई दिखाई।
धन मयौ मीत धन मयौ बरो पतिनन सौं हितवाई।
क्रोधी कपी तपी सन्यासी व्रत छँड्यो प्रभुताई ॥
देवत सम्म भयानक सागत, भावत मधुर कमाई।
दास जन दौं बड़े तामसी यवनमि की सेवकाई।
मरन परन कौ बढ़े तामसी जारौ कोटि बड़ाई ॥
ज्यरेदन कौं गुण गुसाईं भावरनै मनमाई ॥[1]　　　　(व्यास)

कला-पक्ष

(क) रस भाव—कृष्णकाव्य के अधिकतर रचयिता अच्छे कवि थे। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ प्रायः सरस और भावपूर्ण हैं तथा उनमें प्रसंगवश सन्निविष्ट नीति के अंश भी रसों और भावों से शून्य नहीं हैं। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है, उनके नीति कथनों में शान्त और शृंगार रस की बहुलता है। हास्य वीर वात्सल्य बीभत्सादि रसों की भी व्यंजना 'कहीं कहीं' हुई है जैसे—

पूर्बहि चूमी आधरिहि काजर नकटी पहिर बेसरि।
मुडली पटी पारन चाहै कोढ़ी न पहि केसरि ॥
बहिरी सौं पति मता करै सो उत्तर कौन पै पाव।
ऐसो न्याव है ता को ऊधो जो हमें जोग सिखावै ॥[2] (हास्य रस)
भाजि न जाई देखि करि रण आवत अरि भूर।
'परसु राम' जोधै नहीं जहँ पग भजै सूर ॥[3] (युद्धवीर)
जसुमति कान्हहि यहै सिखावति।
सुनहु स्याम, अब बड़े भये तुम कहि स्तन-पान छुड़ावति ॥
ब्रज-लरिका तोहि पीवत देखत, हँसत लाज नहिं आवति ॥[4] (वात्सल्य रस)
जिहि कुल उपज्यौ पूत कपूत।
ताकौ बस नास ह्वै कहि जिहि पियायो जम दूत ॥
जो जु पितहि विरोधै सोई है सबहिन को भूत ॥[5] (बीभत्स रस)

भावों के अन्तर्गत प्रभुभक्ति गुरुभक्ति मति धीरसुधय धृति उदारता दया पातिव्रत निर्भयता नम्रता वनभ्रम गौरव आदि की अच्छी व्यंजना हुई है।

---

१ व्यासवाणी पृष्ठ १२२।२४२
२ ह० भगवान दीन सूरपंचरत्न पृष्ठ ८।१२
३ परशुराम सागर पृष्ठ ४३।४२८
४ सूरसागर पृष्ठ ३३६।८४०
५. व्यासवाणी पृष्ठ ७५।१५७

रखते भस्म और रोम बढ़ाते कान फड़वाते भस्म रमाते प्राण-संयम करते और यौगिक क्रियाओं के प्रति लोगों को उन्मुख करते थे। परन्तु कृष्णभक्तों को ये सब क्रियाएँ कृष्णदर्शन के बिना जंजाल दिखाई देती थीं।

मुनि की उपदेस सुदेस भये यों भेष किसा त्यों भासन मारी।
सीस जटा जुग कौन छटा नग रोम अर्पंडित स्वंभु प्रकारी॥
बाहु उठाय बिभूति रमाय समाधि लगाय सुधीन प्रचारी।
ऐसे भये तौ कहा हरिदास लये नहीं नित्य 'किसोर' बिहारी॥[1]

परसुराम जी ने भी इस मार्ग को त्रिकुट घाटी के तुल्य दुरारोह और कृष्ण प्रेम के मार्ग को विमान के समान तुरन्त आसमान पर पहुँचाने वाला कहा है—

त्रिकुट कोट घाटी विकट तुल्य न चढ़ई प्राण।
परसा पंथ न जानई पायो प्रम-बिमाण॥[2]

तीसरे मुसलमान लोग थे जिनके मुल्ला काजी आदि कुरान आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ बातें करते थे परन्तु रसना की लोलुपता की शान्ति के लिए निरीह प्राणियों का निर्दयतापूर्वक वध करने में रत्ती भर भी संकोच न करते थे। इतना ही नहीं विधर्मियों के प्रति अन्याय तथा उनके पूजास्थानों के विध्वंस करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। ये सब कार्य कृष्णभक्तों की दृष्टि में कुत्सित और हेय थे इसीलिए उन्होंने इसका निस्संकोच खण्डन किया। जैसे—

आपण मारे हुक कहे करता हुवी हराम।
'परसा' स्वारथि जीम कै बूड़ि मुए बेकाम॥
करतें करती डारि है सबकों करे हलाल।
'परसा' बपुड़ जीव की ब्रिथित लई वर हाल॥[3]

अनेक साधु-संन्यासी घर-बार के परित्याग मात्र को ही कल्याण का साधक समझ कर परिभ्रमण में निरत रहते थे। इन कवियों के मत में वे कृष्णविमुख होने के कारण सीधे ही यमलोक के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे—

सन्यासी घुमे घनों जाति भूमि जम-लोक।
ममति विमुख पशु 'परसुरां' सके न काहू रोक॥[4]

इन कवियों की रचनाओं में जहाँ-जहाँ कलि-काल का वर्णन किया गया है वहाँ वहाँ भी तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। मलूकदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों में तत्कालीन सामाजिक दशा का अच्छा चित्र प्रस्तुत

---

१ वही वही पृष्ठ ९१२।७।
२ परशुराम सागर, पृष्ठ १००।११७
३ वही पृष्ठ १४६।११०८, १४७।११११
४ वही पृष्ठ १६१।११८९

...कहा गया है—

धर्म दुर्यो कलि दई दिखाई।
पाप भयो मीत धर्म भयो बैरी पतितन सौं हितताई।
जोगी जपी तपी सन्यासी व्रत छांड्यो अकुलाई॥
देखत दम्भ भयानक लागत, भावत ससुर जमाई।
दान लेन कौं बड़े तामसी भवजनि की बँभनाई।
सरन मरन को बड़े तामसी, मारौं कोटि कसाई॥
उपदेसन कौं गुरु गुसाईं आचरनें अधमाई॥[1] (व्यास)

कला-पक्ष

(क) रस भाव—कृष्णकाव्य के अधिकतर रचयिता अच्छे कवि थे। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ प्रायः सरस और भावपूर्ण हैं तथा उनमें प्रसंगवश सन्निविष्ट नीति के पद भी रसों और भावों से शून्य नहीं हैं। जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है उनके नीति कथनों में शान्त और शृंगार रस की बहुलता है। हास्य वीर वात्सल्य, बीभत्सादि रसों की भी व्यंजना 'कहीं कहीं' हुई है जैसे—

सूपनिहि सूनी, छापरिहि कावर, मच्छी पहिर बेसरि।
मुरली पाठी पारन चाहे कोढ़ी न गहि केसरि॥
बहिरी सौं पति मता करै सो उत्तर कौन पै पावै।
ऐसो न्याव है ता को जसो जो हमें जोग सिखावै॥[2] (हास्य रस)
भाजि न जाई देखि करि, रस आवत भरि पूर।
'परसु राम' छोड़े नहीं जहँ पग गड़े सूर॥[3] (युद्धवीर)
जसुमति कान्हहि यहै सिखावति।
सुनहु स्याम अब बड़े भये तुम कहि स्तन-पान छुड़ावति॥
ब्रज-लरिका तोहि पीवत देखत हँसत लाज नहिं आवति॥[4] (वात्सल्य रस)
जिहि कुल उपज्यौ पूत कपूत।
ताको बंस नास ह्वै जैहै जिहि पियायो जम दूत॥
जो सु पितहि विरोधै सोई है सतहिन को मूत॥[5] (बीभत्स रस)

भावों के अन्तर्गत अनुमोदित गुरुभक्ति भक्ति औत्सुक्य धृति उदारता, तथा पातिव्रत निर्ममता नम्रता ब्रजप्रेम मातृप्रेम आदि की अच्छी व्यंजना हुई है।

---

१ व्यासवाणी, पृष्ठ १२२।२१२
२ सं० भगवान दीन सूरपंचरत्न, पृष्ठ ८।१२
३ परशुराम सागर, पृष्ठ ४३।४२८
४ सूरसागर, पृष्ठ ३३६।८४०
५ व्यासवाणी पृष्ठ ५४।११७

(ख) भाषा—इस काव्य की रचना प्रायः ब्रजभाषा में की गई है। परशुराम और मीराँ बाई की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव पर्याप्त लक्षित होता है। परमानन्द दास ने कहीं-कहीं खड़ी बोली का भी प्रयोग किया है।[1] चतुर्भुजदास और सेवक के कुछ पदों की भाषा संस्कृत-बहुल है।[2] सेवक की वाणी में धरम्म, प्रगट्ट, निपट्ट, अद्दलि, सुमति आदि शब्दों में द्वित्वाक्षरों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। गोविन्दस्वामी के एकाध पद की भाषा को देवनागरी में लिखी उर्दू कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।[3] अन्य कवियों की अपेक्षा परशुराम की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है, जैसे—बख्सी, गरीबनिवाज, बेदरद, सुदाय, मसीति, दोजख, मुरदा, बहिस्त, हुक्म, इमाम, काजी, समाज आदि। छन्दों को व्यवस्थित रखने के विचार से कहीं-कहीं शब्दों के रूप विकृत भी कर दिये गए हैं, जैसे परशुराम जी ने 'नारायण', 'तारायण' और 'समान' के स्थान पर 'नारायेण', 'तारायेण' और 'सामान' लिख दिया है।[4]

(क) परसा जो नर मन मुखी, ताको स्यान सुभाइ।
सिंहासन बैठाइये, भाखी-बास न जाइ।।[5] (परशुराम)

(ख) माखी आनि परी सखि जैसी सो तिहि टेक रही।।[6] (सूरदास)

(ग) सूधे होत न स्वान पूंछ ज्यों, पचि-पचि वैद मरे।।[7] (सूरदास)

(घ) जा के मस्तक कुम्भी न होइ। ता माथे पर पीसहि लोह।।[8] (नन्द दास)

छंद—अधिकतर कृष्णकाव्य की रचना गेय मुक्तकों के रूप में की गई है जिन पर उनके रचयिताओं ने राग रागिनियों के नाम का भी उल्लेख किया है। परशुराम, सूरदास, नंददास, किशोरदास, ब्रजवासीदास, रसखान आदि ने पर्याप्त रचना दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, कुंडलिया, अरिल्ल आदि छन्दों में भी की है। पदों की अपेक्षा दोहा, कवित्त, सवैया, अरिल्लादि छन्दों में नीति की मात्रा अधिक है।

शैली—इन काव्यों में तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, पुनरावर्तक और आत्माभिव्यंजक शैलियों का प्रयोग अधिक किया गया है और अन्यापदेशात्मक तथा नैतिक उपमानों की शैली का कम। गोविन्द स्वामी जी ने तिथिशैली में भी कुछ रचना की

१ परमानन्द सागर, पृष्ठ ११।१७

२ 'चतुर्भुजदास' पृष्ठ १६८; 'कुम्भनदास', पृष्ठ ८१; हितामृतसिन्धु पृष्ठ १०।३-४

३ 'गोविन्द स्वामी', पद १०२

४ परशुराम सागर, पृष्ठ १७।१६३, १६४

५ वही पृष्ठ २२।२१५

६ सूरसागर, पृष्ठ १०११।२६३२

७ वही पृष्ठ १५१०।४६४८

है। चौरासी लाख योनियों के दारुण दुखों से त्राण के लिए हितहरिवंश जी ने 'हित चौरासी' की रचना की है। हरिदासी महन्त किशोरदास ने 'शतक' और 'पच्चीसी' की शैली में भी काव्य लिखे।

अलंकार—सुकवि होने के कारण कृष्ण-कवियों ने नीति के पद्य-मात्र नहीं रचे उन्हें भाव-पूर्ण बनाने के अतिरिक्त अलंकृत करने का भी उद्योग किया है। इन के नीति-विषयक ग्रंथों में शब्द अर्थ और उभय सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग लक्षित होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास वीप्सा और लाटानुप्रास का तथा अर्थालंकारों में उपमा रूपक दृष्टान्त तुल्ययोगिता उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है। अर्थालंकारों में जो अप्रस्तुत-योजना की गई है वह संस्कृत काव्यों से पर्याप्त प्रभावित है।

गुण—कृष्णकाव्य प्रसाद तथा माधुर्य गुण से ओतप्रोत है परन्तु ओज गुण की उसमें न्यूनता है। कवियों ने कर्कश-शब्दों के परित्याग और मधुर पदावली के चुनाव में विशेष सतर्कता से काम लिया है। यदि यह कहें कि माधुर्य की दृष्टि से कृष्णकाव्य समग्र भक्तिकाव्य में अनुपम है तो अनुचित न होगा।

दोष—यद्यपि कृष्णकाव्यों में भी अन्य काव्यों के समान हतवृत्तत्व शब्दविकार प्रसादाभाव आदि कई शास्त्रीय दोष कहीं-कहीं विद्यमान हैं तथापि नीतिकाव्य की दृष्टि से वे उपेक्ष्य हैं। नीति के विचार से इस काव्य की सबसे अधिक आक्षेपणीय बात है—पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन। गार्हस्थ्य-जीवन की पवित्रता सामाजिक जीवन की नींव है और जहाँ वह भग्न हुई वहाँ सामाजिक जीवन का भवन डगमगाने लगा। राधा-कृष्ण और गोपी कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का जो उद्दाम शृंगारिक वर्णन अधिकतर कृष्ण-कवियों ने किया है वह पारिवारिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं कहा जा सकता। पुरुषार्थ पर विशेष बल का अभाव भवितव्यता पर अत्यधिक निर्भरता ईश्वर माया और कलियुग की शक्तियों के सम्मुख मनुष्य की विवशता स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने की क्षमता का अभाव प्रभावोत्पादक नीतियों के उल्लेख की कमी आदि दोष भी ऐसे हैं जिनकी ओर अनायास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है।

रामकाव्य और कृष्णकाव्य—यद्यपि रामकाव्य और कृष्णकाव्य एक ही सगुण भक्ति की दो धाराएँ मात्र हैं तथापि इन की नीति में कुछ भेद है जिन पर पाठक की दृष्टि अनायास ही जा पड़ती है। प्रथम बात तो यह कि रामकाव्य में नीति की मात्रा कृष्णकाव्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस मात्रा भेद का कारण है उन उन काव्यों के रचयिताओं के दृष्टिकोण का भेद। रामकाव्यों का लक्ष्य था सीतारामादि के आदर्श चरित को प्रस्तुत कर पाठकों को रामायण के श्रेष्ठ पात्रों के समान आदर्श जीवन धारण करने की प्रेरणा करना। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे रामकथा के प्रसंग में स्थान-स्थान पर नीति के पद्यों का समावेश निःसंकोच कर देते थे। कृष्ण

(ख) भाषा—इस काव्य की रचना प्रायः ब्रजभाषा में की गई है। परशुराम और मीराँ बाई की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव पर्याप्त लक्षित होता है। परमानन्द दास ने कहीं-कहीं खड़ी बोली का भी प्रयोग किया है।[1] चतुर्भुजदास और सेवक के कुछ पदों की भाषा संस्कृत-बहुल है।[2] सेवक की वाणी में चरम्म प्रमदृट निपदृट, प्रज्वलित कुमति आदि शब्दों में द्वित्वाक्षरों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। गोविन्दस्वामी के एकाध पद की भाषा को देवनागरी में लिखी उर्दू कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।[3] अन्य कवियों की अपेक्षा परशुराम की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक हुआ है जैसे—*बंदगी गरीबनिवाज बेदरद खुदाय मसीति* दोजख मुरसा सहिरत हबक हलाल काजी नमाज आदि। छन्दों को अविकल रखने के विचार से कहीं-कहीं शब्दों के रूप विकृत भी कर दिये गए हैं जैसे परशुराम की ने नारायण' 'दारायण और समान' के स्थान पर नारायेण दारायेण और 'सामान' लिख दिया है।[4]

(क) परसा जो नर मन मुखी जाके ग्यान गुमाइ।
सिंहासन बैठाइये बाकी-बाट न जाइ॥[5] (परशुराम)

(ख) वाकी बानि परी सखि ऐसी सो तिहि टेक रही॥[6] (सूरदास)

(ग) सूधे होत न स्याम पूंछ ज्यों पचि-पचि बैद मरे॥[7] (सूरदास)

(घ) जा सों कहत सुन्यो न हाइ। जा आगे पर औरहि सोइ॥[8] (नन्द दास)

छंद—अधिकतर कृष्णकाव्य की रचना गेय मुक्तकों के रूप में की गई है जिन पर उनके रचयिताओं ने राग रागिनियों के नाम का भी उल्लेख किया है। परशुराम सूरदास नन्ददास किशोरदास ब्रजवासीदास रसखान आदि ने पर्याप्त रचना दोहा चौपाई कवित्त सवैया कुंडलिया अरिल्ल आदि छन्दों में भी की है। पदों की अपेक्षा दोहा कवित्त सवैया अरिल्लादि छन्दों में गीति की मात्रा अधिक है।

शैली—इन काव्यों में तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक, चमत्कारिक और आत्माभिव्यंजक शैलियों का प्रयोग अधिक किया गया है और अन्यापदेशात्मक तथा नैतिक उपमानों की शैली का कम। गोविन्द स्वामी जी ने शिखिनिर्देशी में भी कुछ रचना की

---

१ परमानन्द सागर, पृष्ठ ११।१७
२ 'चतुर्भुजदास' पृष्ठ १६८ 'कुम्भनदास', पृष्ठ ६१ हितामृतसिंधु पृष्ठ ६८।१-४
३ गोविन्द स्वामी' पद १०२
४ परशुराम सागर पृष्ठ १७।१६१, १६४
५. वही पृष्ठ २२।२११
६ सूरसागर, पृष्ठ १ ३७।२६१२
७. वही पृष्ठ १४१०।४१४८
८. नंददास ग्रंथावली, पृष्ठ ४५१

है। चौरासी लाख योनियों के कारण दुःखों से त्राण के लिए हितहरिवंश जी ने 'हित चौरासी' की रचना की है। हरिदासी महन्त किशोरदास ने 'सतक' और 'पच्चीसी' की शैली में भी काव्य लिखे।

अलंकार—सुकवि होने के कारण कृष्ण-कवियों ने गीति के पद-मात्र नहीं रचे उन्हें भाव-पूर्ण बनाने के अतिरिक्त अलंकृत करने का भी उद्योग किया है। इन के गीति-विषयक ग्रंथों में शब्द अर्थ और उभय सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग लक्षित होता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास वीप्सा और लाटानुप्रास का तथा अर्थालंकारों में उपमा रूपक दृष्टान्त तुल्ययोगिता उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है। अर्थालंकारों में जो अप्रस्तुत-योजना की गई है, वह संस्कृत काव्यों से पर्याप्त प्रभावित है।

गुण—कृष्णकाव्य प्रसाद तथा माधुर्य गुण से ओतप्रोत है परन्तु ओज गुण की उसमें न्यूनता है। कवियों ने कर्कश-शब्दों के परित्याग और मधुर पदावली के चुनाव में विशेष सतर्कता से काम लिया है। यदि यह कहें कि माधुर्य की दृष्टि से कृष्णकाव्य समग्र भक्तिकाव्य में अनुपम है तो अनुचित न होगा।

दोष—यद्यपि कृष्णकाव्यों में भी अन्य काव्यों के समान हतवृत्तत्व शब्दविकार प्रसादाभाव आदि कई शास्त्रीय दोष कहीं-कहीं विद्यमान हैं तथापि गीतिकाव्य की दृष्टि से वे उपेक्ष्य हैं। नीतिके विचार से इस काव्य की सबसे अधिक आक्षेपणीय बात है—पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन। गार्हस्थ्य-जीवन की पवित्रता सामाजिक जीवन की नींव है और जहाँ वह भग्न हुई वहाँ सामाजिक जीवन का भवन डगमगाने लगा। राधा-कृष्ण और गोपी कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का जो उदग्र शृंगारिक वर्णन अधिकतर कृष्ण-कवियों ने किया है वह पारिवारिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं कहा जा सकता। पुरुषार्थ पर विशेष बल का अभाव भवितव्यता पर अत्यधिक निर्भरता ईश्वर, माया और कलियुग की शक्तियों के सम्मुख मनुष्य की विवशता स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने की क्षमता का अभाव प्रेमातिरेकव गीतियों के उन्मेष की कमी आदि दोष भी ऐसे हैं जिनकी ओर अनायास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है

रामकाव्य और कृष्णकाव्य—यद्यपि रामकाव्य और कृष्णकाव्य एक ही सगुण भक्ति की दो धारायें मात्र हैं तथापि इन की गीति में कुछ भेद है जिन पर पाठक की दृष्टि अनायास ही जा पड़ती है। प्रथम बात तो यह कि रामकाव्य में गीति की मात्रा कृष्णकाव्य की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस मात्रा भेद का कारण है उन उन काव्यों के रचयिताओं के दृष्टिकोण का भेद। रामकाव्यों का लक्ष्य था श्रीरामादि के आदर्श चरित को प्रस्तुत कर पाठकों को रामायण के श्रेष्ठ पात्रों के समान आदर्श जीवन धारण करने की प्रेरणा करना। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वे रामकथा के प्रसंग में स्थान-स्थान पर भक्ति के पदों का समावेश निःसंकोच कर देते थे। कृष्ण

कवियों का उद्देश्य ही भिन्न था। उन्हें समाज को आदर्शोन्मुख करने की चिन्ता न थी। वे तो अपने प्रियतम और उनकी प्रियतमा के नाम के जप और उनकी लीलाओं के गान में ही इतने निरत थे कि परिवार और समाज उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व ही न रखते थे। उनका कथन तो यह था कि जैसे गोपियाँ वेदशास्त्र के विधि-निषेध, परिवार के बंधन और समाज के उपहास की चिन्ता छोड़कर कृष्णप्रेम में मग्न हो गई थीं उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को हो जाना चाहिए। यही कारण कि इन काव्यों में नीति की बातें प्रत्यक्ष रूप से बहुत ही कम पाई जाती हैं।

वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में शारीरिक और आत्मिक नीतियाँ तो प्रायः दोनों शाखाओं की समान ही हैं परन्तु मानसिक नीति में अंतर दिखाई देता है। वेद शास्त्र पुराण और विद्या के प्रति जितनी अगाध श्रद्धा रामकाव्य में दिखाई देती है उतनी कृष्णकाव्य में नहीं। इसके विपरीत जितनी निष्ठा कृष्णकवियों की भगवद्‌गीता और भगवद्भागवत पुराण में लक्षित होती है उतनी वेदशास्त्रादि में नहीं। संक्षेप में इसका कारण यही है कि रामकवि तो वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाए रखकर सामाजिक मर्यादाओं के पालन पर विशेष बल देते थे और कृष्ण-कवि कृष्ण और उनकी लीलाओं के प्रति ही जनता में प्रेम का प्रचार करना चाहते थे। चूँकि गीता में श्रीकृष्ण के उपदेश हैं और भागवत में उनका लीला-गान अतएव यही ग्रंथ कृष्ण-कवियों की दृष्टि में श्रुति-स्मृति से भी प्रधान बना दिये गए हैं।

पारिवारिक नीति में भी दोनों काव्यधाराओं का अन्तर स्पष्ट है। माता पिता, पुत्र भाई पति पत्नी आदि के कर्त्तव्यों का जितना विशद और विस्तृत वर्णन राम कवियों ने किया है उतना कृष्णकवियों ने नहीं। यद्यपि पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को तत्त्वतः दोनों ही कवियों ने मिथ्या कहा है तथापि व्यवहार में सम्बन्धियों के प्रति कर्त्तव्यपालन पर जितना बल रामकाव्य में लक्षित होता है उसका शतांश भी कृष्णकाव्य में नहीं। यदि यह भी कह दिया जाए कि उनमें कृष्णप्रेम के कारण निकट सम्बन्धियों की अवहेलना तक की प्रेरणा की गई है, तो कदाचित् अनुचित न होगा।

सामाजिक नीति के क्षेत्र में यद्यपि स्त्रियों की बन्दनीयता दोनों ही काव्यों में समान रूप से विद्यमान है तथापि वर्णाश्रम के कर्त्तव्यों के यथाविधि पालन और ऊँच नीच जातियों के अन्तर पर जो बल रामकाव्यों में लक्षित होता है उसका कृष्णकाव्यों में अभाव है। कृष्णकवियों के मत में तो कृष्णभक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ पद का अधिकारी है। यद्यपि ये कवि कबीरादि सन्तों के समान वर्णव्यवस्था और जात-पात का खण्डन तो नहीं करते तथापि भी कृष्ण की शरण में आ जाने वाले विधर्मियों शूद्रों और अन्त्यजों तक से प्रेम करने में संकोच नहीं करते। चूँकि कृष्णकाव्य का एक मुख्य विषय राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का प्रेम है अतएव उसमें स्त्री-पुरुष के प्रेम से सम्बन्धित नीतियों का आधुन इतना अधिक है जितना कि रामकाव्य में नहीं।

गृहस्थों के लिए धन की अनिवार्यता को दोनों धाराओं के कवियों ने दबी जबान से स्वीकार किया है परन्तु उसे विशेष महत्त्व किसी भी धारा के कवि ने नहीं दिया। सन्तोष और दान-पुण्य करने की जितनी प्रेरणा इन काव्यों में की गई है उतनी धनोपार्जन और धनसंग्रह की नहीं। आश्चर्य की बात है कि इनके आराध्य तो श्री के पति हैं और खूब ठाट-बाट से रहते हैं परन्तु ये भक्त धन को विघ्न रूप मानते हैं। कारण इसका यह है कि सभी भक्त विरक्त के समान सम्पत्ति के मध्य में रहकर भक्ति नहीं कर सकते। जिसे धन का चस्का लग जाता है वह भगवान् को भूल ही जाता है। तो भी इतना तो कह ही सकते हैं कि धन-सम्बन्धी जितनी अधिक नीतियों का उल्लेख राजा राम के चरित्रगायकों ने किया है उतनी का बालकृष्ण और गोपीवल्लभ के लीलागायकों ने नहीं।

इतर प्राणियों के प्रति दया की भावना रामकाव्य की अपेक्षा कृष्णकाव्य में अधिक है। जहाँ रामकवि दशरथ रामादि के आखेट-वर्णन में जीवदया का प्रश्न नहीं उठाते वहाँ कृष्ण कवियों ने जैन कवियों के समान उसे निन्द्य कर्म कहा है। गौ की अवध्यता और पूज्यता का वर्णन दोनों काव्यों में समान है परन्तु उसकी जितनी अधिक सेवा शुश्रूषा कृष्णकाव्य में लक्षित होती है उतनी रामकाव्य में नहीं। गोपाल कृष्ण से सम्बन्धित काव्य में गौ की यह प्रतिष्ठा स्वाभाविक ही है।

मिश्रित नीति के क्षत्र में संसार, माया भाग्य पुनर्जन्म आराध्य-भक्ति आदि के विषय में दोनों धाराओं की नीति एक-सी ही है। राम के उपासक कवि जहाँ अयोध्या चित्रकूट सरयू आदि की महिमा का बखान अधिक करते हैं वहाँ कृष्ण के प्रेमी यमुना मथुरा वृन्दावन आदि का। अपने अपने आराध्य से सम्बन्धित होने के कारण उन-उन स्थानों के प्रति प्रेम की अधिकता स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त रामकाव्य में अन्य सम्प्रदायों के प्रति जितनी उदारता पाई जाती है उतनी कृष्ण काव्यों में नहीं यह ऊपर कह ही चुके हैं।

कला की दृष्टि से भेद—वर्ण्य-विषय की उपर्युक्त विभिन्नताओं के अतिरिक्त कला की दृष्टि से भी दोनों काव्यों में कुछ भेद है। रामकाव्य मुख्यतः अवधी और ब्रज भाषा दोनों भाषाओं में रचित है और कृष्ण काव्य ब्रज भाषा में ही। राम-कवियों ने अपनी अधिकतर रचनाएँ प्रबन्ध-काव्यों के रूप में लिखी हैं और कृष्ण-कवियों ने प्रायः मुक्तक-रूप में। यद्यपि कृष्ण-कवियों ने अपनी मुक्तक रचनाएँ दोहा कवित्त सवैया आदि छन्दों में भी लिखी हैं तथापि प्राधान्य पदों का है जो विभिन्न राग रागिनियों में गेय हैं। इसका कारण यह है कि कृष्ण कवि प्रायः अपने पदों की रचना मन्दिरों में आराध्य की मूर्ति के सम्मुख गाने के लिए किया करते थे। राम काव्यों में सभी रसों और भावों की व्यंजना हुई है परन्तु कृष्ण-काव्य में शान्त शृंगार और वात्सल्य ही मुख्य हैं। रसों की विविधता की दृष्टि से तो राम-काव्य ही उत्कृष्ट माना जाएगा परन्तु शृंगार और वात्सल्य की जो सुमधुर धारा कृष्ण-काव्य में प्रवाहित हुई है उसकी राम काव्य में

कमी है। दोनों ही काव्य विविध अलंकारों से सुसज्जित और प्रसाद गुण से युक्त हैं परन्तु यह भी स्पष्ट है कि न राम-काव्य में कृष्ण-काव्य का-सा माधुर्य है और न कृष्ण-काव्य में राम काव्य का-सा ओज।

अन्त में सार रूप से कह सकते हैं कि प्रेम-विषयक गीति और सरसता में तो राम-काव्य कृष्ण-काव्य के समकक्ष नहीं कहा जा सकता परन्तु गीति की विविधता व्यापकता और उपयोगिता की दृष्टि से जो महत्त्व राम-काव्य का है उसकी समता कृष्ण-काव्य कदापि नहीं कर सकता।

कृष्ण-कवियों के गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषताएँ

१ इस काव्य मे प्रेम-सम्बन्धी तथा धार्मिक गीति की प्रचुरता है परन्तु अन्य गीति-विषय प्राय उपेक्षित हैं।

२ श्रीकृष्ण और श्री राधा के नाम के जप पर बहुत बल दिया गया है।

३ कृष्ण प्रेम की तुलना मे वैदिक और लौकिक मर्यादाएँ त्याज्य मानी गई हैं।

४ वेदों और शास्त्रों की अपेक्षा भगवद्गीता और भागवत-पुराण को अधिक महत्त्व दिया गया है।

५ पारिवारिक कर्तव्यों के निर्देश तो प्राय नहीं दिखाई देते उलटा कृष्ण प्रेम की तुलना में उन्हें त्याज्य कहा गया है।

६ कृष्ण प्रेम से ही महत्त्व प्राप्ति होती है वर्ण जाति कुल आदि के गौरव मिथ्या हैं।

७ आचार्य और गुरु कृष्ण के अवतार हैं और उनके नाम भी श्री कृष्ण के समान जपने योग्य हैं।

८ धन की विशेष रूप से पापोपार्जित धन की विशेष निन्दा की गई है।

६ गणेश पूजा तथा अन्य सम्प्रदायों की अवहेलना की गई है।

१० यमुना ब्रज वृन्दावनादि कृष्ण-सम्बन्धी स्थानों की महिमा का विशेष वर्णन किया गया है।

११ श्रीकृष्ण के सुखमय जीवन का वर्णन तो खूब किया गया है परन्तु लोगों के लिए सांसारिक सुखों को हेय कहा गया है।

१२. अधिकतर रचनाएँ सरस व भावपूर्ण हैं तथा ब्रजभाषा में की गई हैं।

१३ प्रबन्धात्मक रचनाओं की अपेक्षा मुक्तकों का प्रयोग बहुत अधिक है। मुक्तकों में भी पदों की ही प्रचुरता है।

१४ सांसारिक जीवन को सफल बनाने वाली गीति की कमी के कारण, भक्तों के लिए मनोमोहक होता हुआ भी कृष्ण-काव्य सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

पंचम अध्याय

रीतिकाल का नीति-काव्य (सं० १७००–१९०० वि०)

हमारे आलोच्य काल (सं० १०२० १९००) में नीतिकाव्य की दृष्टि से जो महत्त्व रीतिकाल का है वह न आदिकाल का है न भक्तिकाल का। जैसा कि हम देख चुके हैं आदिकाल में हिन्दी की एक भी काव्य-कृति ऐसी उपलब्ध नहीं होती जिसका एकमात्र या प्रधान विषय नीति हो। भक्तिकाल निस्सन्देह आदिकाल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें तुलसीदास देवीदास बनारसीदास रहीम गंग आदि सुकवियों ने नीति-विषयक तथा नीति-बहुल मौलिक और अनुवादात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। परन्तु रीतिकाल अवधि की दृष्टि से भक्तिकाल की अपेक्षा दो-तिहाई से कम होता हुआ भी नीतिकाव्य की दृष्टि से उसकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि—

१ इस काल की कृतियों में ऐहिकता अधिक है और यह बात नीतिकाव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

२ रीतिकालीन प्रमुख कवियों की संख्या भक्तिकालीन की अपेक्षा बहुत अधिक है।

३ रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ संख्या में अधिक हैं और आकार में बड़ी।

४ इन रचनाओं के विषय अधिक व्यापक तथा विविधतापूर्ण हैं।

५ कवित्व की दृष्टि से भी ये रचनाएँ अधिक उत्कृष्ट हैं।

६ अनूदित कृतियों की संख्या भी अधिक है।

७ नीतिपद्यों के संग्रह भी प्रस्तुत किये गये जिनका भक्तिकाल में अभाव था।

८ नीति के फुटकर कवि भी भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक हुए।

रीतिकालीन नीतिकाव्यकार पाँच वर्गों में विभाज्य हैं। प्रथम वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने विभिन्न नीति विषयों पर स्वतन्त्र मौलिक काव्यों की रचना की। द्वितीय वर्ग में वे गणनीय हैं जिन्होंने प्राचीन नीतिकाव्यों के अनुवाद-मात्र किये। तृतीय वर्ग शृङ्गारी कवियों का है जिनकी रचनाओं में नीति का उल्लेख प्रसंगवश ही हुआ है। चतुर्थ वर्ग के अंतर्गत उन कवियों या काव्य-रसिकों को रखा जा सकता है जिन्होंने अपने संग्रहों में विभिन्न कवियों की नीति-विषयक सूक्तियों को भी स्थान दिया। पंचम वर्ग उन फुटकर नीतिकवियों का है जिन्होंने सामान्य नीतिकाव्य या स्फुट नीतिपद्यों का प्रणयन किया। इस प्रकार रीतिकालीन नीतिकवियों तथा उनकी रचनाओं का

अध्ययन निम्नांकित वर्गों में सुगमता पूर्वक किया जा सकता है—

(१) प्रमुख नीतिकवि (२) अनुवादक कवि (३) शृङ्गारिक कवियों के काव्य में नीतितत्त्व (४) संग्रह-ग्रन्थों में नीतिकाव्य, (५) परिशिष्ट—फुटकर नीतिकवि।

१ प्रमुख नीतिकवि

रीतिकालीन प्रमुख नीतिकवियों की संख्या तीन दर्जन के लगभग है। उनमें से एक तिहाई के लगभग कवि जैन मुनि और गृहस्थ हैं जिन्होंने अपने प्रख्यात विद्या-प्रेम के कारण अनेक प्रकार की नीति रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भगवतीदास बसराम लक्ष्मी वल्लभ धर्मसिंह आदि ने दोहा सवैया कवित्त छप्पय कुण्डलिया आदि छन्दों में सुन्दर पच्चीसी बत्तीसी बावनी आदि की रचना की। जिनरंग सूरि ने 'बहत्तरी' का प्रणयन किया तो भूधरदास ने 'शतक' का, ज्ञानसार जी ने अष्टोत्तरियों (१०८ पद्यों की रचनाओं) का निर्माण किया तो बुधजन ने सतसई का। इनकी कृतियाँ मुक्तक पदों कथाओं संवादों और अन्योक्तियों के रूप में दिखाई देती हैं। इन कृतियों में मद्य मांस सुरा द्यूत व्यभिचार वेश्यादि व्यसनों का खण्डन तो है ही स्वास्थ्य के साधन, वित्त प्राप्ति के उपाय पाँच मातायें पाँच पिता आत्म-हित के लिए 'धन दारा परिवार' का त्याग धन का महत्त्व आदि व्यावहारिक विषयों का भी उल्लेख पाया जाता है। अन्य कवियों में से वृन्द अपनी सतसई गिरिधर अपनी कुण्डलियों दीनदयाल अपनी अन्योक्तियों तथा घाघ और भड्डरी अपनी कृषि तथा ज्योतिष सम्बन्धी कहावतों के कारण प्रख्यात ही हैं। परन्तु रीतिकालीन नीतिकाव्य इन्हीं तक सीमित नहीं है। इसी काल में गुरुदेव ने अपने दीर्घकालीन वाणिज्य-विषयक अनुभवों को वाणिज्य-नीति में उपनिबद्ध किया। देवीदास ने प्रेम के स्वरूप तथा प्रकारों पर 'प्रेम रत्नाकर' का प्रणयन किया। रघुराज ने 'जमाना नाटक' में शिष्य-गुरु के संवाद-रूप में तत्कालीन समाज के अंगभूत विविध व्यक्तियों पुर्जे गुण्डा विकनिया दुष्टदुष्ट महादुष्ट प्रकट दुष्ट आदि का रोचक वर्णन किया है। इसी प्रकार की परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण रचना गुपालकृत 'दम्पति-वाक्य विलास' है जिसमें विविध व्यवसायों के गुण-दोषों का सविस्तार उल्लेख है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए ये दोनों ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं। चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी कलिचरित्र बेली में संयुक्त-परिवार प्रथा के गुणों तथा उद्दण्ड बहू का अच्छा चित्र खींचा है। इसी प्रकार पूर्णभट्ट रूपी चांचल्य, दाता और शूर दुष्ट सज्जन आदि विषयों पर भी अच्छी रचनाएँ की गईं। परन्तु सबसे उच्च स्थान राजस्थान के महाकवि बांकीदास का है जिन्होंने सजन-विवेक पिशुनता वीरता कायरता, वैश्य वैश्यावृत्ति, कुकवि दाता कृपण सन्तोष मोह आदि विषयों पर सम्मीत सरस नीति कविताओं की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और जैन दोनों ने ही नीतिकाव्य के निर्माण में जो भाग लिया वह वस्तुतः स्तुत्य है। इनके नीतिकाव्य की समीक्षा

करने के पूर्व इनकी जीवनियों तथा कृतियों का कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

१ जसराज (जिन हर्ष)

जसराज खरतरगच्छ के शान्ति हर्ष के शिष्य थे। इनका प्रारम्भिक जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ और बाद का पाटण (गुजरात) में। इन्होंने सं० १७०४ से १७६३ वि० तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की। इनकी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) चन्दन मलयागिरि चौपाई (२) विद्याविलास रास (३) मंगल कलश चौपाई (४) मत्स्योदर रास (५) खापरा चोर चौपाई (६) मातृका बावनी या जसराज बावनी (७) कवित्त बावनी (८) उपदेश बत्तीसी।

१ उपदेश बत्तीसी—इस कृति का रचना-काल सं० १७१३ है और लिपिकाल सं० १८१०।११ इकतीसा सवैयों अर्थात् कवित्तों में रचित इस काव्य की हस्तलिखित प्रति हमने बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखी। मुनि जी ने इस बत्तीसी में काया-स्वरूप, माया-त्याग, लोभ-दूषण, मान-दूषण, हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, उपशमहृत्व, काम, क्रोध आदि विषयों पर भावपूर्ण रचना की है। बत्तीसी के पद्यों में छाप 'जसराज' की नहीं, 'जिनहर्ष' की दृष्टिगत होती है। मानदूषण विषयक कवित्त इस प्रकार है—

> अपन न करि मान मान किए होहिं हानि
> मानि मेरी सीख मानि सुजाणही मानि रे।
> मान तें रावण राजि लंका सी गयो अकाज
> कियो है अकाज लाज गई सब जानि रे।
> दुर्योधन मान करि हार्यो सब घर अरि
> मान तें गयो है मुंज चालुकी रो पानि रे।
> कहै जिन हर्ष मान मन में न आणि मान
> आणितो दशाणभद्र जैसे मान छाणि रे॥[1]

२ मातृका बावनी[2]—इस बावनी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर में देखने को मिली। प्रति का द्वितीय पत्र लुप्त है शेष १, ३, ४ पत्र विद्यमान हैं। ५७ पद्यों की यह बावनी सवैया छन्द में है जिसे लिपिकार मु० गुलाल विजय ने 'कवित्त' लिखा है। बावनी के अन्तिम पद्य से विदित होता है कि इसकी रचना सं० १७३८ में की गई थी। माया, उद्यम, दान, पुण्य, पर दुःख का प्रभाव आदि विषयों पर कवि ने राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में इस बावनी का वर्णमाला क्रम से प्रणयन किया है। रचना के कई पद्य भाव और भाषा की दृष्टि से सुन्दर हैं। जैसे—

---

१ उपदेश बत्तीसी पद्य १८

२ अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर, प्रति सं० ८००३

अध्ययन निम्नांकित वर्गों में सुगमता पूर्वक किया जा सकता है—

(१) प्रमुख नीतिकवि (२) अनुवादक कवि (३) शृङ्गारिक कवियों के काव्य में नीतितत्त्व (४) संग्रह-ग्रन्थों में नीतिकाव्य, (५) परिशिष्ट—फुटकर नीतिकवि।

१ प्रमुख नीतिकवि

रीतिकालीन प्रमुख नीतिकवियों की संख्या तीन दर्जन के लगभग है। उनमें से एक तिहाई के लगभग कवि जैन मुनि और गृहस्थ हैं जिन्होंने अपने प्रख्यात विद्या-श्रम के कारण अनेक प्रकार की नीति-रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भगवतीदास जसराज लक्ष्मी-वल्लभ धर्मसिंह आदि ने दोहा सवैया कवित्त छप्पय कुण्डलिया आदि छन्दों में सुन्दर पच्चीसी बत्तीसी बावनी आदि की रचना की। विनयचन्द्र सूरि ने 'बहत्तरी' का प्रणयन किया तो भूधरदास ने शतक' का आनन्दधर जी ने अष्टोत्तरियों (१०८ पद्यों की रचनाओं) का निर्माण किया तो वृन्दावन ने सतसई का। इनकी कृतियाँ मुक्तक पद्यों कथाओं संवादों और अन्योक्तियों के रूप में दिखाई देती हैं। इन कृतियों में मद्य मांस सुरा द्यूत व्यभिचार वेश्यादि व्यसनों का खण्डन तो है ही स्वास्थ्य के साधन, वित्त प्राप्ति के उपाय पाँच माताएँ पाँच पिता आत्म-हित के लिए 'धन दारा परिवार का त्याग धन का महत्त्व आदि व्यावहारिक विषयों का भी उल्लेख पाया जाता है। अन्य कवियों म से वृन्द अपनी सतसई गिरिधर अपनी कुण्डलियों दीनदयाल अपनी अन्योक्तियों तथा घाघ और भड्डरी अपनी कृषि तथा ज्योतिष सम्बन्धी कहावतों के कारण प्रख्यात ही हैं। परन्तु रीतिकालीन नीतिकाव्य इन्हीं तक सीमित नहीं है। इसी काल में सुखदेव ने अपने जीवनकालीन वाणिज्य-विषयक अनुभवों को वाणिज्य-नीति' में उपनिबद्ध किया। देवीदास ने प्रेम के स्वरूप तथा प्रकारों पर प्रेम रत्नाकर' का प्रणयन किया। रघुराय ने 'जमासार नाटक' में शिष्य-गुरु के संवाद-रूप में तत्कालीन समाज के अंगभूत विविध व्यक्तियों धूर्त्त लुच्चा निकम्मा गुप्तदुष्ट महादुष्ट प्रगट दुष्ट आदि का रोचक वर्णन किया है। इसी प्रकार की, परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण रचना गुपालदत्त 'व्यक्ति-व्यवसाय-विलास है जिसमें विविध व्यवसायों के गुण-दोषों का सविस्तार उल्लेख है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए ये दोनों ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं। चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी अभिचरित्र शैली में संयुक्त-परिवार-प्रथा के गुणों तथा अहङ्कार का अच्छा चित्र खींचा है। इसी प्रकार मूर्खभिन हभी चापलूस, दाता और सूर दुष्ट पावन आदि विषयों पर भी अच्छी रचनाएँ की गई। परन्तु सबसे ऊँचा स्थान राजस्थान के महाकवि बाँकीदास का है जिन्होंने वचन-विवेक पिशुनता वीरता कायरता, वैद्य वैद्यानुवृत्ति कुकवि दाता कृपण सन्तोष मोह आदि विषयों पर सम्मीलित सरस नीति उक्तियों की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और जैन दोनों ने ही नीतिकाव्य के निर्माण में जो योग दिया, वह वस्तुतः स्तुत्य है। इनके नीतिकाव्य की समीक्षा

करने के पूर्व इनकी जीवनियों तथा कृतियों का कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

१ जसराज (जिन हर्ष)

जसराज खरतरगच्छ के शान्ति हर्ष के शिष्य थे। इनका प्रारम्भिक जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ और बाद का पाटण (गुजरात) में। इन्होंने सं० १७०४ से १७६३ वि० तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की। इनकी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) चन्दन मलयागिरि चौपाई (२) विद्याविलास रास (३) मंगलकलश चौपाई (४) मत्स्योदर रास (५) कापरा चार चौपाई; (६) मातृका बावनी या जसराज बावनी (७) कवित्त बावनी (८) उपदेश बत्तीसी।

१ उपदेश बत्तीसी—इस कृति का रचना-काल सं० १७१३ है और लिपिकाल सं० १८१०।३६ इकतीसा सवैयों अर्थात् कवित्तों में रचित इस काव्य की हस्तलिखित प्रति हमने बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखी। मुनि जी ने इस बत्तीसी में काया-स्वरूप माया-त्याग क्रोध-दूषण मान-दूषण हिंसा मृषावाद, परस्त्रीत्याग उपमहत्व दान शील आदि विषयों पर भावपूर्ण रचना की है। बत्तीसी के पद्यों में छाप जसराज की नहीं, जिनहर्ष की दृष्टिगत होती है। मानदूषण विषयक कवित्त इस प्रकार है—

मथन न करि मान मान किय होहि हानि,
    मानि मेरी सीख मानि सुखदाई मानि रे।
मान ते रावण राज लंका ही गयो अकाज
    कियो है अकाज लाज गई सब जानि रे।
दुर्योधन मान करि हारी सब धर धरि
    मान तें गयो है भूप चातुरी रो पानि रे।
कहै जिन हर्ष मान, मन में न आणि मान
    आणितो बजालभद्र बसे मान आणि रे॥[1]

२ मातृका बावनी[2]—इस बावनी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर में देखने को मिली। प्रति का द्वितीय पत्र लुप्त है शेष १ ३ ४ पत्र विद्यमान हैं। ५७ पद्यों की यह बावनी सवैया छन्द में है जिसे लिपिकार मु० गुलाल विजय ने 'कवित्त' लिखा है। बावनी के अन्तिम पद्य से विदित होता है कि इसकी रचना सं० १७३८ में की गई थी। भाग्य उद्यम दान पुण्य, पर-पुरुष का अज्ञान आदि विषयों पर कवि ने राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में इस बावनी का वर्णमाला क्रम से प्रणयन किया है। रचना के कई पद्य भाव और भाषा की दृष्टि से सुन्दर हैं। जैसे—

---

१ उपदेश बत्तीसी पत्र ११८

२ अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर प्रति सं० ८००३

अध्ययन निम्नांकित वर्गों में सुगमता पूर्वक किया जा सकता है—

(१) प्रमुख नीतिकवि (२) अनुवादक कवि (३) शृङ्गारिक कवियों के काव्य में नीतितत्त्व (४) संग्रह-ग्रन्थों में नीतिकाव्य, (५) परिशिष्ट—फुटकर नीतिकवि।

१ प्रमुख नीतिकवि

रीतिकालीन प्रमुख नीतिकवियों की संख्या तीन दर्जन के लगभग है। इनमें से एक-तिहाई के लगभग कवि जैन मुनि और गृहस्थ हैं जिन्होंने अपने प्रख्यात विद्या-व्यसन के कारण अनेक प्रकार की नीति-रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भगवतीदास, यशराज, लक्ष्मी-वल्लभ, धर्मसिंह आदि ने दोहा, सवैया, कवित्त, छप्पय, कुण्डलिया आदि छन्दों में सुन्दर पच्चीसी, बत्तीसी, बावनी आदि की रचना की। जिनरंग सूरि ने बहत्तरी का प्रणयन किया तो सुन्दरदास ने 'शतक' का, ज्ञानसार जी ने अष्टोत्तरियों (१०८ पदों की रचनाओं) का निर्माण किया तो बुधजन ने सतसई का। इनकी कृतियाँ मुक्तक पदों, कथाओं, संवादों और अन्योक्तियों के रूप में दिखाई देती हैं। इन कृतियों में मद्य, मांस, सुरा, जूआ, व्यभिचार, वेश्यादि व्यसनों का खण्डन तो है ही, स्वास्थ्य के साधन, विद्या-प्राप्ति के उपाय, पाँच माताएँ, पाँच पिता, आत्म-हित के लिए 'धन दारा परिवार' का त्याग, धन का महत्त्व आदि व्यावहारिक विषयों का भी उल्लेख पाया जाता है। अन्य कवियों में से वृन्द अपनी सतसई, गिरिधर अपनी कुण्डलियों, दीनदयाल अपनी अन्योक्तियों तथा घाघ और भड्डरी अपनी कृषि तथा ज्योतिष सम्बन्धी कहावतों के कारण प्रख्यात ही हैं। परन्तु रीतिकालीन नीतिकाव्य इन्हीं तक सीमित नहीं है। इसी काल में सुखदेव ने अपने दीर्घकालीन वाणिज्य-विषयक अनुभवों को 'वाणिज्य-नीति' में उपनिबद्ध किया। देवीदास ने प्रेम के स्वरूप तथा प्रकारों पर 'प्रेम रत्नाकर' का प्रणयन किया। रघुराम ने 'सभासार नाटक' में शिष्य-गुरु के संवाद-रूप में तत्कालीन समाज के अंगभूत विविध व्यक्तियों धूर्त, मूर्ख, निकम्मा, दुष्टदुष्ट, महादुष्ट, प्रकट दुष्ट आदि का रोचक वर्णन किया है। इसी प्रकार की परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण रचना गोपालकृत 'दंपति-वाक्य विलास' है जिसमें विविध व्यवसायों के गुण-दोषों का सविस्तार उल्लेख है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए ये दोनों ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं। चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी 'कलिचरित्र बेली' में संयुक्त-परिवार प्रथा के दुर्गुणों तथा उद्दण्ड बहू का अच्छा चित्र खींचा है। इसी प्रकार गुरुभेद, स्त्री-चापल्य, दाता और सूर, दुष्ट वचन आदि विषयों पर भी अच्छी रचनाएँ की गईं। परन्तु सबसे ऊँचा स्थान राजस्थान के महाकवि बाँकीदास का है जिन्होंने वचन-विवेक, पिशुनता, वीरता, कायरता, वैश्य, वेश्यावृत्ति, कुकवि, दाता, कृपण, सन्तोष, मोह आदि विषयों पर छब्बीस सरस नीति कृतियों की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और जैन दोनों ने ही नीतिकाव्य के निर्माण में जो योग दिया वह वस्तुतः स्तुत्य है। इनके नीतिकाव्य की समीक्षा

करने के पूर्व इनकी जीवनियों तथा कृतियों का कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

१ जसराज (जिन हर्ष)

जसराज खरतरगच्छ के शान्ति हर्ष के शिष्य थे। इनका प्रारम्भिक जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ और बाद का पाटण (गुजरात) में। इन्होंने सं० १७०४ से १७६३ वि० तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की। इनकी कुछ रचनाएं निम्नलिखित हैं—(१) चन्दन मलयागिरि चौपाई (२) विद्याविलास रास (३) मंगल कलश चौपाई (४) मत्स्योदर रास (५) वाचरा चार चौपाई (६) मातृका बावनी या जसराज बावनी (७) कवित्त बावनी (८) उपदेश बत्तीसी।

१ उपदेश बत्तीसी—इस कृति का रचना-काल सं० १७१३ है और लिपिकाल सं० १८१०।३६ छत्तीसा सवैयों अर्थात् कवित्तों में रचित इस काव्य की हस्तलिखित प्रति हमने बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में देखी। मुनि जी ने इस बत्तीसी में काया-स्वरूप माया-त्याग क्रोध-दूषण मान-दूषण हिंसा मृषावाद, अदत्तादान तपमहत्त्व, दान शील आदि विषयों पर भावपूर्ण रचना की है। बत्तीसी के पद्यों में छाप 'जस-राज' की नहीं, जिनहर्ष की दृष्टिगत होती है। मानदूषण विषयक कवित्त इस प्रकार है—

मथम न करि मन मान जिण होहिं हानि
          मानि मेरी सीख मानि सुजगह्यौ मानि रे।
मान ते रावण राजि लंका सौं गयो बसन्त
          लियो है अपजस लाज गई सब जानि रे।
दुर्योधन मान करि हारो सब घर भरि
          मान ते मयो है मुत्र पाण्डुरो सो वानि रे।
कहै जिन हर्ष मान, मन में न आणि मान
          मारियो दशानन बसे मान छाणि रे॥[1]

२ मातृका बावनी[2]—इस बावनी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर में देखने को मिली। प्रति का द्वितीय पत्र लुप्त है शेष १ ३ ४ पत्र विद्यमान हैं। ५७ पद्यों की यह बानी सर्वया छन्द में है जिसे लिपिकार मु० गुलाब विजय ने 'कवित्त' लिखा है। बावनी के अन्तिम पद्य से विदित होता है कि इसकी रचना सं० १७१८ में की गई थी। भाग्य उद्यम, दान पुण्य, पर दुःख का अज्ञान आदि विषयों पर कवि ने राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में इस बावनी का वर्णमाला क्रम से प्रणयन किया है। रचना के कई पद्य भाव और भाषा की दृष्टि से सुन्दर हैं। जैसे—

---

१ उपदेश बत्तीसी, पद्य ११८

२ अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर प्रति सं० ८००३

अध्ययन निम्नांकित वर्गों में सुगमता पूर्वक किया जा सकता है—

(१) प्रमुख नीतिकवि (२) अनुवादक कवि (३) शृङ्गारिक कवियों के काव्य में नीतितत्त्व (४) संग्रह-ग्रन्थों में नीतिकाव्य (५) परिशिष्ट—फुटकर नीतिकवि।

१ प्रमुख नीतिकवि

रीतिकालीन प्रमुख नीतिकवियों की संख्या तीन दर्जन के लगभग है। इनमें से एक-तिहाई के लगभग कवि जैन मुनि और महन्त हैं जिन्होंने अपने प्रख्यात विद्या-प्रेम के कारण अनेक प्रकार की नीति रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भगवतीदास जसराज लक्ष्मी वल्लभ धर्मसिंह आदि ने दोहा सवैया कवित्त छप्पय कुण्डलिया आदि छन्दों में सुन्दर पच्चीसी बत्तीसी बावनी आदि की रचना की। जिनरंग सूरि ने 'बहत्तरी' का प्रणयन किया तो मूलरदास ने 'शतक' का ज्ञानसार जी ने अष्टोत्तरियों (१०८ पद्यों की रचनाओं) का निर्माण किया तो बुधजन ने सतसई का। इनकी कृतियाँ मुक्तक पद्यों कथाओं संवादों और अन्योक्तियों के रूप में दिखाई देती हैं। इन कृतियों में मद्य मांस सुरा द्यूत व्यभिचार वेश्यादि व्यसनों का खण्डन तो है ही स्वास्थ्य के साधन, विद्या प्राप्ति के उपाय पाँच माताएँ पाँच पिता आत्म-हित के लिए 'धन दारा परिवार' का त्याग धन का महत्त्व आदि व्यावहारिक विषयों का भी उल्लेख पाया जाता है। अन्य कवियों में से वृन्द अपनी सतसई, गिरिधर अपनी कुण्डलियाँ दीनदयाल अपनी अन्योक्तियों तथा घाघ और भड्डरी अपनी कृषि तथा ज्योतिष सम्बन्धी कहावतों के कारण प्रख्यात ही हैं। परन्तु रीतिकालीन नीतिकाव्य इन्हीं तक सीमित नहीं है। इसी काल में सुखदेव ने अपने दीर्घकालीन वाणिज्य-विषयक अनुभवों को 'वाणिज्य-नीति' में उपनिबद्ध किया। देवीदास ने प्रेम के स्वरूप तथा प्रकारों पर 'प्रेम रत्नाकर' का प्रणयन किया। रघुराम ने 'सभासार नाटक' में शिष्य-गुरु के संवाद-रूप में तत्कालीन समाज के अंगभूत विविध व्यक्तियों धूर्त कृपण, विकलिया गुप्तदुष्ट महादुष्ट प्रकट दुष्ट आदि का रोचक वर्णन किया है। इसी प्रकार की परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण रचना गुपालकृत 'दंपति-वाक्य-विलास' है जिसमें विविध व्यवसायों के गुण-दोषों का सविस्तार उल्लेख है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए ये दोनों ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं। चाचा हित वृन्दावनदास ने अपनी 'कलियुगचरित्र बेली' में संयुक्त-परिवार प्रथा के गुणों तथा उद्दण्ड बहू का अच्छा चित्र खींचा है। इसी प्रकार गुमान, रूपी चाणक्य दादा और घूर दुष्ट भजन आदि विषयों पर भी अच्छी रचनाएँ की गईं। परन्तु सबसे उच्च स्थान राजस्थान के महाकवि बाँकीदास का है जिन्होंने वचन विवेक निपुणता वीरता कायरता मद्य वेश्यावृत्ति, कुकवि दाता कृपण सन्तोष मोह आदि विषयों पर सम्मीस सरस नीति कृतियों की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू और जैन दोनों ने ही नीतिकाव्य के निर्माण में जो योग दिया, वह वस्तुतः स्तुत्य है। इनके नीतिकाव्य की समीक्षा

कराने के पूर्व इनकी जीवनियों तथा कृतियों का कुछ विस्तृत अध्ययन आवश्यक है।

१ जसराज (जिन हर्ष)

जसराज खरतरगच्छ के शान्ति हर्ष के शिष्य थे। इनका प्रारम्भिक जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ और बाद का पाटण (गुजरात) में। इन्होंने सं० १७०४ से १७६१ वि० तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की। इनकी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) चन्दन मलयागिरि चौपाई (२) विद्याविलास रास (३) मंगलकलस चौपाई (४) मत्स्योदर रास (५) कापरा कोर चौपाई (६) मातृका बावनी या जसराज बावनी (७) कवित्त बावनी (८) उपदेश बत्तीसी।

१ उपदेश बत्तीसी—इस कृति का रचना-काल सं० १७१३ है और लिपिकाल सं० १८१०।३६ इकतीसा सवैयों अर्थात् कवित्तों में रचित इस काव्य की हस्तलिखित प्रति हमने बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में देखी। मुनि जी ने इस बत्तीसी में काया स्वरूप माया-त्याग क्रोध-दूषण मान-दूषण हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान तपमहत्त्व दान शील आदि विषयों पर भावपूर्ण रचना की है। बत्तीसी के पद्यों में छाप 'जस-राज' की नहीं, जिनहर्ष की दृष्टिगत होती है। मानदूषण विषयक कवित्त इस प्रकार है—

> मानम न करि मान मान किये होहि हानि
> मानि मेरी सीख मानि मुखतड़ी मानि रे।
> मान तें रावण राजि लंका सौ गयो अकाज
> गिल्यो है अथाह आज भई सब हानि रे।
> दुर्योधन मानि करि हारी सब धर धरि
> मान न गयो है मुक्त आसुरी यों पानि रे।
> कहै जिन हर्ष मान, मन में न आनि मान
> मानिलो प्रमाणमत जैसे मान मानि रे॥[1]

२ मातृका बावनी[2]—इस बावनी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर में देखने को मिली। प्रति का द्वितीय पत्र लुप्त है शेष १ ३, ४ पत्र विद्यमान हैं। ५७ पद्यों की यह बावनी सवैया छन्द में है जिसे लिपिकार मु० गुलाल विजय ने 'कवित्त' लिखा है। बावनी के अन्तिम पद्य से विदित होता है कि इसकी रचना सं० १७१८ में की गई थी। भाग्य उद्यम, दान पुण्य, पर-दुःख का ध्यान आदि विषयों पर कवि ने राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में इस बावनी का वर्णमाला क्रम से प्रणयन किया है। रचना के कई पद्य भाव और भाषा की दृष्टि से सुन्दर हैं। जैसे—

---

१ उपदेश बत्तीसी, पद्य ११८

२ अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर प्रति सं० ८००१

ऋद्धि लह्यो अरु दान दियो नहीं तो कहा ऋद्धि लही न लही है।
दासी लही अरु काम सह्यो नहीं तो कहा दास लही न लही है॥
देह लही अरु नेह रह्यो नहीं तो कहा देह लही न लही है।
प्रीति लही अस प्रेम रह्यो नहीं तो कहा प्रीति लही न लही है॥[1]

इस बावनी पर पूर्ववर्ती जैन तथा जैनेतर नीतिकाव्यों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। कहीं-कहीं तो मुनि जी ने सोमप्रभाचार्य के अनेक पद्यों से भाव ग्रहण कर अपने पद्यों की रचना की है जैसे—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पादशौचं विधत्ते,
पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैन्धभारम्।
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यं जन्म प्रमत्तः॥
ते धत्तूरतरुं वपन्ति भवने प्रोन्मूल्य कल्पद्रुमं
चिन्तारत्नमपास्य काचशकलं स्वीकुर्वते ते जडाः।
विक्रीय द्विरदं गिरीन्द्रसदृशं क्रीणन्ति ते रासभं,
ये लब्धं परिहृत्य धर्ममधमा धावन्ति भोगाशया॥[2] (सोमप्रभाचार्य)

इंधन चंदन काठ करै सुर वृक्ष उपारि धतूरम बोवै।
सोवन थाल भरे रज ते सुधा रस सूं कर पाव ही धोवै॥
हस्ती महामद मस्त मनोहर भार वहाइ के खाइ पिसोवै।
मूढ प्रमाद गयो नरजन्म न धर्म करे नर सोवत खोवै॥[3]

उपर्युक्त संस्कृत-पद्यों में मनुष्य-जन्म को व्यर्थ खोने तथा धर्म को त्याग कर विषयासक्त होने वाले मनुष्यों की मूर्खता व्यक्त करने के लिए सात दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से 'इंधन चंदन काठ करै' के बिना चारों दृष्टान्त संस्कृत-पद्यों से ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। फिर भी मुनि जी की इस रचना के विषय में यह निस्संकोच कहा जा सकता है यह सामान्य बावनियों की अपेक्षा अधिक ऐहिक तथा सुन्दर है।

---

१ मातृका बावनी पद्य १२

२ बनारसी विलास पृष्ठ १८-१९ पर, सूक्ति मुक्तावली पद्य ५,६,

अर्थ—'जो प्रमादी मानव दुष्प्राप्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ गँवाता है वह मानो सुवर्ण के थाल में धूल डालता है, अमृत से पाँव पखारता है, श्रेष्ठ हाथी पर ईंधन ढोता है और कौवे उड़ाने के लिए चिन्तामणियों को फेंकता है। जो मोह लोभ भोगों की आशा से धर्म का परित्याग करते हैं वे कल्पद्रुम का उन्मूलन कर धतूरे का पौधा लगाते हैं, चिन्तामणि को फेंककर काच-खण्ड ग्रहण करते हैं तथा हाथी बेचकर गधा खरीदते हैं॥

३ मानतुंग बावनी पुरातत्त्व मंदिर जयपुर, प्रतांक २०१८, पद्य ११८

१ कवित्त बावनी—इस बावनी की प्रति जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में देखने का अवसर मिला।[1] काव्य का रचना-काल सं० १७४८ है और प्रति का लिपिकाल सं० १८५७। प्रति पूर्ण है और दस पत्रों पर लेखबद्ध है। गुजराती-मिश्रित राजस्थानी-भाषा में रचित यह कवित्त बावनी छप्पय छन्द में ही है। काव्यत्व की दृष्टि से रचना सामान्य है। जैसे—

घणा करें हुंकार, घणा मन मंबर राखें।
घणा कपट के सबे घणा अविचार्यो भाखें॥
घणा मोच लगती घणा नर हुट्ठ हरामी।
घणा पाप रतास्यौ, घणा लोभी सें कामी॥
निलज निपट औगुण घणा कायर लिपटें जिहां तिहां।
जिन हर्ष हंस धीम घोकना सजन विरलें कीहां कीहां॥[2]

अन्त में कह सकते हैं कि 'मातृका बावनी' के लिए हिन्दी-संसार मुनि जी का विशेष आभारी है।

२ सुखदेव

सुखदेव व्यापारी भी थे और कवि भी। वाणिज्य-विषयक साठ वर्षों के सुदीर्घ अनुभव के आधार पर इन्होंने सं० १०१७ में 'वाणिज्य नीति' की रचना की—

सम्ह सौ सत्रह बरस संवत्सर की नाम।
कवित्त कहि सुख देव सुत लेखक मायाराम॥[3]

पुस्तक में कुल १४८ पद्य हैं जो दोहा सोरठा चौपही (चौपई) कवित्त, सवया अरिल्ल कुंडलिया आदि छन्दों में निबद्ध हैं। पुस्तक अनेक प्रकरणों में विभाजित है जैसे—तिसी लबे को विचार लोन लबे को विचार उधार दब को विचार आदि। व्यापारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए तो पुस्तक की उपयोगिता निर्विवाद है, सामान्य जनों के काम की कई बातें भी रोचक रीति से कही गई हैं। उधार-विषयक निम्नवर्ती कवित्त से पुस्तक के कवित्व का अनुमान किया जा सकता है—

को न गयो लोभ लोभ लालच गवावे सब
सब ही कहुत हाथ हाथ के न पाइये।
करत व्याह बैर होइ कारज नसाइ सब,
बार-बार ताके गृह धँये आव जाइये॥
सांकरें सहाय किय गुन पर मित्र भयो,
तां को लाभ चोरी जरी कहिये कहाइये।

---

१ प्रति का क्रमांक २०८५, आकार ८½ × ४½
२. कवित्त बावनी पद्य ५।२१
३ सुखदेव वाणिज्य नीति (प्र० आधुनिक प्रेस बलिया १९५२ ई०), पृ० ११।१४८

मानियौ सयानी कहा मानियो हमारी बात
बीजे न उधार व्यापार में बहाइये ॥[1]

३ हेमराज

जैनों में हेमराज नाम के कई हिन्दी-कवि हो चुके हैं। प्रथम, मुनि हेमराज जिनकी सं० १६६५ में प्रणीत 'अक्षर बावनी' का संकेत भक्ति-काल के परिशिष्ट में किया गया है। द्वितीय आगरा-निवासी पांडे हेमराज जिनका समय विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का चतुर्थ पाद तथा अठारहवीं का प्रथम पाद था। ये प्रवचन-सार टीका आदि टीकाओं के कारण प्रसिद्ध हैं। तृतीय प्रस्तुत हेमराज जो सांगानेर के निवासी थे और जिन्होंने कामागढ़ में सं० १७२५ में 'उपदेश शतक' की रचना की थी—

उपजी सांगानेरि कौ अब कामागढ़ वास।
तहां हेम दोहा रचे, स्व-पर बुद्धि-परकास ॥
सतरह सै र पचीस कौ वरतै संवत सार।
कातिग सुदि तिथि पंचमी, पूरन भयो विचार ॥[2]

'उपदेश शतक' की हस्तलिखित प्रति हमने जयपुर के बधीचन्द जैन के मंदिर में देखी थी।[3] १०१ पद्यों के इस शतक में अधिकतर तो दोहे ही हैं कुछ एक सोरठे। मन-मरकट इंद्रिय-निग्रह ब्रह्मचर्य महत्त्व दाम व प्रेम का कटु परिणाम जन्म विवाह तथा मरण में समानता दुर्जन मूढ़ आदि विषयों पर इस शतक में नीति-रचना की गई है। अधिकतर दोहों में दृष्टान्त तो पुराने ही हैं परन्तु अनेक दोहे भाव-पूर्ण तथा साहित्यिक गुणों से युक्त हैं। जैसे—

ज्यों बालक तमहुँ सद्यो घरि-घरि मांगत भीख।
बिना दिये नहीं फल मही हित सिखत बहु सीख ॥
मिलें लोग बाजा बजैं, पान गुलाल फुलेल।
जनम-मरण अरु ब्याह में है समान सौ खेल ॥
करत प्रगट दुरजन छता, दोष करत उपचार।
मधुर सचिक्कण पाय तें करत मार ज्यौं मार ॥
मोह अबक मन बनि बसै काम वागुरा आनि।
रहै अटकि छूटै नहीं मृग नर मूढ़ अजानि ॥[4]

---

१ सुखदेव वाणिज्य नीति (प्र० आधुनिक प्रेस, बलिया १९५२ ई०), पृष्ठ ११।२१५

२ उपदेश शतक पद ९८, १००

३ उक्त प्रति गुटका सं० ६२६ में संकलित है और पत्रों का आकार ९ × ६" है

४ उपदेश शतक, दोहा सं० ३१, ३६, ४१, ९०

४ भैया भगवती दास

लाल जी के पुत्र भगवती दास आगरा के निवासी थे और औरंगजेब के सम-कालीन। ये एक अध्यात्मी कुशल कवि थे जिनकी ६७ रचनाएँ ब्रह्म विलास[1] में संगृहीत हैं। यद्यपि इनकी अधिकतर रचनाओं में भी कुछ-न-कुछ नीति है तथापि पंचेन्द्रिय-संवाद, दृष्टान्त-पच्चीसी, मन बत्तीसी, बाईस परीषह और फुटकल पद्यों में नीतिकाव्य की प्रचुरता लक्षित होती है।

१ पंचेन्द्रिय-संवाद—संवत् १७५१ में रचित १५२ पद्यों के इस संवादात्मक काव्य में प्रत्येक इन्द्रिय अपने को दूसरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न करती है परन्तु अंत में मन को राजा तथा सब इन्द्रियों को उसका सेवक निर्णीत किया गया है। इसमें दोहा, सोरठा, ढाल तथा रागों का प्रयोग हुआ है। विशेष कवित्वगुण के अभाव में भी रचना संवाद की रोचकता के कारण अच्छी है। जैसे—

नाक— नाक रहे तें सब रहै, नाक गये सब जाय।
नाक बराबर जगत में, और न बड़ी कहाय॥
नाक राखण सीता सती अपनो कंठ में पेठी रे।
सिंहासन बैठन रच्यो तिहिं ऊपर वा बैठी रे॥[2]

कान— मेरो अनेक गुन जिते, करन उत्तम काज।
तू व शुद्ध सुगन्ध में तऊ न आवत लाज॥
सातों सुर को गायबो, अद्भुत सुखमय स्वाद।
इन कानन कर परखिये मीठे-मीठे नाद॥[3]

२ दृष्टान्त-पच्चीसी—२६ दोहों की इस कृति का रचना-काल संवत् १७५२ है। दोहों में अहिंसा, दान, शील, अपरिग्रह आदि के महत्त्व को सुन्दर दृष्टान्तों द्वारा हृदयंगम कराया गया है। पंचेन्द्रिय-संवाद की अपेक्षा यह रचना अधिक साहित्यिक है। कुछ दोहे लीजिए—

जिम हिंसा जग में बुरी हिंसा फल दुख देत।
मछरी मांसी भखयती, ताहि गिरी भख लेत॥
सज्जन के हित वचन सौं खल के घट सौं प्रीत।
अलि अम्बुज पै देखिये, दर्दुर जलमन-प्रीत॥[4]

३ मन-बत्तीसी—कृति का विषय नामानुसार है। ३९ पद्यों की इस पुस्तिका में क्रमशः २७ दोहे, ७ अरिल्ल, ४ चौपाइयाँ और एक चौपई छंद है। इसमें मन की

---

१ प्रकाशक, जैन बुक डिपो, मंगलवार पेठ, शोलापुर, सन् १९२६ ई०
२ ब्रह्मविलास, पंचेन्द्रिय संवाद, पृष्ठ २४०
३ ब्रह्मविलास, पंचेन्द्रिय संवाद, पृष्ठ २४१
४ " , दृष्टान्त पच्चीसी पृष्ठ २५३।४ २५१।२२

समयता देवबता आदि का वर्णन करने के अनन्तर आठ पंखेरी वाले (मन) को वश में करने की प्रेरणा की गई है। अधिकतर पद्य तो इतिवृत्तात्मक ही हैं, कुछ एक का शब्द-चमत्कार अवश्य आकर्षक है। जैसे—

दोहा—त्रिय नरकन तें दुख दई, जाने सब संसार।
तजहु मन समझ नहीं, त्रियमन सेती प्यार ॥[1]

अरिल्ल—कहा मु डाये मूंड घसे कहा मट्ट का।
कहा नहाये गंग नदी के तट्ट का ॥
कहा कथा के सुने वचन के ठट्ट का।
जो बस नाही तोहि पंखेरो अट्ठ का ॥[2]

४. आर्हत परीक्षा—कबीर आदि सन्तों ने सच्चे साधुओं की स्तुति तथा पाखंडी साधुओं की निन्दा में अनेक पद्य रचे हैं। प्रस्तुत रचना भी कुछ उसी कोटि की है और दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम इसमें उन्हीं साधुओं को सच्चा कहा गया है जो भूख शीत तृषा क्षुधा आदि सहने में समर्थ होते हैं तथा स्त्री के आकर्षण मानापमान आदि से दूर रहते हैं। द्वितीय जहाँ गृहस्थों को तपोमय संयम पूर्ण जीवन की शिक्षा स्वभावतः प्राप्त हो जाती है वहाँ सच्चे साधुओं की सेवा व संगति की भी प्रेरणा मिलती है। उदाहरण के लिए एक कवित्त दिया जाता है—

स्त्री-परीषह—नारी के निहारत विचार सब भूल जावें,
नारी के निहारे परिणाम फिरे जात हैं।
नारी के निहारत अज्ञान भाव आय परें
नारी के निहारत ही शील गुण जात हैं ॥
नारी के निहारत न सूर वीर धीर धरें
मोहन के मारे जो अधिक अकुलात हैं।
ऐसी नारी नागिन के नैन को निमेष जीत
भये हैं अजीत मुनि जगत् विख्यात हैं ॥[3]

५. फुटकल पद्य—भगवती दास के स्फुट पद्यों में भी पर्याप्त नीति-वर्णन है। निदर्शन के रूप में निम्नलिखित पद्य देखिए जिसमें एक गीदड़ कुत्ते को उस मनुष्य के धन का माँस खाने से वर्जित करता है जिसने जीवन में सत्कर्म नहीं किये।

छप्पय—श्रीय गर्भ नहिं नम्यो काल नहिं सुनें वन सत।
नन न निरखे साधु, वैन तें कही न जिनपति।
कर तें दान न दीन हृदय कछु दया न कीनी।
पेट भर्यो करि पाप पीठ परतिय नहिं दीनी ॥

१-२ " , मन बत्तीसी, पृष्ठ २६३।१७ २६७।२६
३ ब्रह्मविलास प्र० जगराम इटावा, सन् १६१५ ई०, आर्हत परीक्षा, पद्य १६

चरन धरे नहिं तीर्थ कहुँ तिहि सरीर कहा कीजिये।
इमि कहै व्यास रे भगता यह तिन, निष्फल न कीजिये ।।[1]

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भैया भगवती दास जी की रचनाएँ व्यावहारिक नीति की कुछ कमी के रहते हुए भी, भावात्मक नीति के सुन्दर प्रतिपादन के कारण ग्राह्य हैं।

५. लक्ष्मीवल्लभ

कवि परिचय—लक्ष्मीवल्लभ जी का विशेष वृत्त उपलब्ध नहीं हुआ। इनकी सर्वप्रथम कृति 'कुमार सम्भव वृत्ति' का रचना-काल सं० १७२१ है। इनके जन्म-नाम (हेमराज) से अनुमान किया जाता है कि ये किसी उच्च वंश में उत्पन्न हुए होंगे। इनके गुरु लक्ष्मीकीर्ति ने दीक्षा के समय इनका नाम लक्ष्मीवल्लभ रखा। विक्रम की अठारहवीं शती के खरतरगच्छीय जैन विद्वानों में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। सैद्धांतिक विषयों के अतिरिक्त ये काव्य व्याकरण, छन्द वैद्यक आदि विषयों के भी अच्छे विद्वान् थे। संस्कृत हिन्दी तथा राजस्थानी भाषाओं पर तो इनका अच्छा अधिकार था ही सिन्धी में भी इनके तीन स्तोत्र प्राप्त होते हैं। इन्होंने अपना अन्तिम ग्रंथ सं० १७४७ में हिसार में रचा। अतः इनका परलोकवास सं० १७४७ या उसके पश्चात् हुआ होगा। कविता में यह अपनी छाप राज, कविराज राजकवि और वल्लभ रखते थे।

साहित्यिक परिचय—इनकी समग्र रचनाएँ ७८ हैं जो संस्कृत हिन्दी राजस्थानी तथा सिन्धी भाषाओं में लिखित हैं। इनके हिन्दी-ग्रंथ निम्नांकित हैं—

१ कालज्ञान वैद्यक भाषा ग्रंथ	२ नवतत्त्व भाषा बंध
३ भावना विलास	४ चौबीस जिन सवैया
५ चौबीसी	६ दूहा बावनी
७ सवैया	८ उपदेश बावनी

उक्त आठ हिन्दी-ग्रंथों में से हमारे प्रतिपाद्य विषय से दो ही ग्रंथ सम्बन्ध रखते हैं—(१) दूहा बावनी (२) सवैया बावनी। यद्यपि उपर्युक्त दोनों कृतियों के रचना संवत् ज्ञात नहीं तथापि दोनों काव्यों की तुलना पर दूहा बावनी सवैया बावनी से पहले की रचना प्रतीत होती है। सवैया बावनी का प्रणयन सं० १७३८ के पूर्व हो चुका था इसलिए इन दोनों काव्यों को सं० १७२१-३८ के बीच की रचनाएँ मानना होगा।[2]

---

१ ब्रह्मविलास, कुपन्थ पद, पृष्ठ २७५।१०

२ लक्ष्मीवल्लभ के सविस्तर परिचय के लिए देखिए—'राजस्थानी', भाग २ (प्र० राजस्थानी साहित्य परिषद् कलकत्ता) में अगरचन्द नाहटा का 'राजस्थानी भाषा के दो महाकवि' शीर्षक निबंध।

दूहा बावनी[1]—इस काव्य की जो प्रतिलिपि श्री अगरचन्द नाहटा के यहाँ है, उसे मुनि हीरानन्द ने सं० १७४१ में लिपिबद्ध किया था।[2] कवि ने इस काव्य की रचना अपनी तथा दूसरों की शिक्षा के लिए की थी—

> दूहा बावनी करी, आतम परहित काज।
> पढ़त गुणत बाचत लिखत, नर होवत कविराज ॥[3]

चूँकि यह कोई साहित्य-शास्त्र नहीं इसलिए उपर्युक्त दोहे में 'कविराज' शब्द का अर्थ अत्यन्त चतुर या बुद्धिमान् ही उपादेय है 'कविश्रेष्ठ' नहीं। इस रचना में कुल ५८ दोहे हैं जिनमें नीति अधिक है अध्यात्म कम। कुछ दोहे तो किसी भी प्रकार के चमत्कार से समन्वित न होने के कारण पद्यमात्र ही कहे जाएँगे परन्तु अनेक दोहे साहित्यिक छटा से युक्त होने के कारण सूक्ति या काव्य के क्षेत्र में मननीय हैं। जैसे—

> नरपत तन ज्युं गज घटा, करि करि अधिक गाज।
> भज ज्युं भारत मोरिकै, अम्मत न मृगराज ॥[4]
> तन ज्युं 'राज' न होत है, गुण-मालिक की चोप।
> जन जीहा जरसात धरि, चढ़ै न चर ज्युं चोप ॥[5]

सवैया बावनी—इस काव्य की एक प्रति तो बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थागार में विद्यमान है और एक जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में। सामग्री की दृष्टि से दोनों प्रतियाँ समान हैं परन्तु पुरातत्त्व मंदिर के कार्यालय के रजिस्टर में इस बावनी के कर्ता का नाम 'राजसी' (राजसिंह) लिखा हुआ है जो सम्भवतः सवैयों में 'राज' या 'कविराज' को देखकर लिख डाला गया है। वस्तुतः यह बावनी राजसिंह की नहीं लक्ष्मीवल्लभ-रचित ही है। इस बावनी की पद्य संख्या भी 'दूहा बावनी' के समान ५८ ही है जिनमें प्रथम पाँच पद्य मंगलाचरणात्मक हैं। शेष में अध्यात्म की अपेक्षा नीति का प्राधान्य है। कई पद्यों के अंतिम चरण की शब्दावली ('कोई कहो जा की गांठ रुपैया' 'आगम आगे ही भाग न भागे' आदि) से ऐसा अनुमान होता है जैसे कि वे समस्या पूर्ति के लिए रचे गये हों। नीति के विषयों में तो विशेष नवीनता नहीं परन्तु भाव और भाषा की रचना की दृष्टि से सुन्दरता में सन्देह नहीं। निम्नोद्धृत पद्यों में हास्य और ओज दर्शनीय है—

---

१ 'दूहा बावनी' की हस्तलिखित प्रति बीकानेर में अभय जैन ग्रंथालयों में सुरक्षित है।

२ इति श्री उपाध्याय श्री लखमीवल्लभ गणि कृत दूहा बावनी सम्पूर्णम्। संवत् १७४१ वर्षे पोष सुदी १ लिखित हीरानंद मुनि ॥ (वही, पुष्पिका)

३-५ दूहा बावनी, दोहा ५८,२४,३८

मूढ़ कपूत—कहा भोजन खाय तो प्यारो भयो, अधिको तुम कौन सुं काहे कू वारो ।
बात सुने तै सुनि हूं लगी, हम नाहिं करें तुम्हहीं जस वारो ॥
धिग् पापन तूं हम सुं न कहै धिग पापी है तूं तेरो बाप हत्यारो ।
राज कहै कपूतो जिन को जिन तो पूत को पूत कीजये कारो ॥[1]

प्राचीन कवियों का प्रभाव—यों तो लक्ष्मीवल्लभ जी की दोनों ही बावनियों पर संस्कृत के नीति-काव्य का प्रभाव लक्षित होता है परन्तु 'बूढ़ा बावनी' तो भाव और भाषा की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य की अत्यधिक ऋणी है। जैसे—

अंग गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥[2] (शंकराचार्य)
अंग गलित सिर सब पलित भयउ दंत को अन्त ।
तोउ वृद्ध करि दंड गहि, आसा धरत अनंत ॥[3] (लक्ष्मीवल्लभ)

अन्त में दोनों बावनियों की तुलना से यह निस्संकोच कह सकते हैं कि 'बूढ़ा बावनी' की सामान्यता को "सवैया बावनी' की सरसता ने आच्छादित कर लिया है। कुल मिलाकर हिन्दी प्रेमी चिरकाल तक मुनिजी के आभारी रहेंगे।

६. वृन्द

वृन्द का जन्म शाकद्वीपीय ब्राह्मण-कवि रूप जी और कौशल्या के घर में मेड़ता (राजस्थान) में सं० १७ ० वि० में हुआ। काशी में तारा जी नामक विद्वान् से विद्याध्ययन करने के बाद जब ये मेड़ते लौटे तब जोधपुर-नरेश महाराजा जसवन्त सिंह ने इन्हें कुछ भूमि समर्पित कर सम्मानित किया। महाराज के मित्र नवाब मुहम्मद खाँ के द्वारा ये औरंगजेब की सभा में जा पहुँचे और अपनी योग्यता के बल पर दरबारी कवि तथा सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) और पौत्र अजीमुश्शान के शिक्षक नियुक्त हुए। किशनगढ़-नरेश महाराजा राजसिंह ने सं० १७६४ में इन्हें बहादुरशाह से माँग लिया और जागीर प्रदान की। सं० १७८० में वहीं वृन्द का स्वर्गवास हुआ और वहीं इन के वंशज आज भी विद्यमान हैं। वृन्द ने छोटे बड़े ग्यारह ग्रंथों का प्रणयन किया। वृन्द विनोद सतसई (दृष्टान्त सतसई) यमक सतसई भाव पंचाशिका शृंगार शिक्षा, नयनिका और सत्य-स्वरूप इनके बड़े ग्रंथ हैं तथा पवन पचीसी समेत शिखर छन्द हितोपदेशाष्टक भारत कथा और हितोपदेश संधि छोटे।

वृन्द विनोद सतसई—वृन्द की कीर्ति मुख्यतः इसी ग्रंथ पर अवलम्बित है। इस

१ वही दूहा २१
२ शंकराचार्य चर्पटपञ्जरिका स्तोत्रम्, पद्य ६॥
३ बूढ़ा बावनी दूहा २०॥

सतसई का प्रारम्भ वृन्द ने ढाका नगर में सं० १७६१ में[1] अजीमुश्शान के मनोविनोद तथा शिक्षा के लिए किया था।[2] दोहों की संख्या ७०५ से ७११ तक प्राप्त होती है। सतसई के अध्ययन से वृन्द की व्यापक पैनी दृष्टि का सम्यक परिचय मिल जाता है। इतर प्राणि-विषयक नीति के सिवा शेष सभी नीतियों पर वृन्द ने प्रचुर और सुन्दर लिखा है। चूंकि इनके जीवन का अधिकांश समय राज दरबारों में व्यतीत हुआ इसलिए पशु-पक्षियों के प्रति-व्यवहार के वर्णन की उपेक्षा अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती। सतसई की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें प्रायः उन्हीं विषयों का उल्लेख नहीं है जिन पर प्रायः नीतिकार लिखा करते हैं ऐसी अनेक बातों की भी चर्चा है जिनका वर्णन प्रायः उपेक्षित रहता है। नीचे हम प्रायः ऐसी ही असामान्य बातों का दिग्दर्शन कराते हैं।

वैयक्तिक नीति—शारीरिक नीति के क्षेत्र में वृन्द ने दो बातों पर विशेष बल दिया है—बल और वाणी। कारण भी दुरूह नहीं है। वृन्द ने अनुभव किया कि बलवान् व्यक्ति जैसे-तैसे अपना काम सिद्ध कर ही लेता है निर्बल का गुण भी उसके लिए दुःखप्रद सिद्ध होता है और मनुष्य ही नहीं विधाता भी दुर्बल-घातक दिखाई देता है। इसलिए मनुष्य को सबल बनना चाहिए—

जोरावर की होति है सब के सिर पर राह।
हरि जलनिधि हरि लै गयौ दिखत रहे सिपाह ॥[3]
होत अधिक गुन निबल पै उपजत सब विनास।
मृग मृगमद चमरी चमर लेत दुष्ट हत प्रान ॥[4]
हरत दैवहु निबल अरु दुरबल ही के प्रान।
बाघ सिंह को छाड़ि कै, देत छाग बलिदान ॥[5] (वृन्द)

परन्तु बल के दुरुपयोग से होने वाली हानियों से भी वृन्द अपरिचित न थे। उन्होंने शक्ति से बढ़कर कार्य करने का भी निषेध[6] और उसके दुरुपयोग से सम्भाव्य विनाश[7] के प्रति भी सचेत किया है।

सत्यवचन मधुर भाषण प्रतिज्ञा-पालन अवसरोचित कथन आदि के अतिरिक्त वृन्द ने थोड़ा झूठ भी बोलने की झूठ को सत्यवत् कहने की कभी-कभी यथार्थ को भी न कहने की हाथ से लिखी का वाणी द्वारा खंडन की ज्ञात विषय पर ही मुख खोलने की तथा मुख से गुप्त बात न कहने की भी प्रेरणा की है। इनमें से कई विषयों

---

१ संवत ससि रस बार ससि कातिक सुदि ससि बार।
सातैं ढाका सहर मैं उपज्यौ यहै विचार ॥
सं० श्यामसुन्दर दास : सतसई सप्तक वृन्द सतसई पृ० ३४१।७०६

२ मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २२१

३-७ सतसई सप्तक वृन्द सतसई दोहा ३६८, ३६८ १७८, २२१, २२३

का धर्मशास्त्र से विरोध स्पष्ट ही है और इनकी प्रेरणा करने वाले कवियों पर सदाचारी और धार्मिक जन उँगली उठा सकते हैं। परन्तु वृन्द न धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे न सदाचार का। उन्हें तो लोक-व्यवहार की चर्चा करनी थी और वह उन्होंने निर्भीकता पूर्वक कर दी—

झूठ बिना फीकी लगे, अधिक झूठ दुख भौन।
झूठ तितो ही बोलिये, ज्यों आटे में लौन॥[1]
नर बिगरी सुघर कबहुँ बैसे वणिक बिसेख।
हीन निरख बीते कहै, इन नर पर लिख लेख॥[2]

विद्या और बुद्धि के विषय में वृन्द का दृष्टिकोण सन्तों तथा सूफी स्फुट-काव्यों के रचयिताओं से सर्वथा भिन्न था। जहाँ सन्त साधु पोथी-पन्ने और पाण्डित्य के निन्दक थे वहाँ वृन्द उसका प्रशंसक। वृन्द को विपुल धन-मान की प्राप्ति विद्या द्वारा ही हुई थी और लोक में भी विद्या की गौरव प्रवणता प्रकट थी। इसलिए अन्य कवियों के समान विद्या का गुणगान तो उन्होंने किया हो परन्तु इतने मात्र से ही वे सन्तुष्ट न हो गये। उन्होंने सतसई के अनेक दोहों में उद्यम और विद्या, गुरु भक्ति और विद्या, अभ्यास और विद्या, बुद्धि-बल और उद्यम के योग से कार्य की सिद्धि, गुरुमुख से अधीत विषय का महत्त्व, बुद्धिमानों को शत्रु से निर्भयता, गुणग्राहकता प्रशंसा आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया है —

विद्या गुरु की भक्ति सों, कै कीन्हें अभ्यास।
भील द्रोण के बिन कहे, सीख्यो बानविलास॥[3]
जाके बुधिबल होत है, ताहि न रिपु को त्रासु।
घन बूँद कहु करि सकै सिर पर छतना जासु॥[4]

संसार में प्रायः मूर्खों के पास धन की प्रचुरता दिखाई देती है और विद्वानों के पास कमी। यह विषमता देखकर कई बार पण्डितों के मन भी विद्या-प्राप्ति के प्रति विद्रोही हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर वृन्द का यह दोहा उस अशान्ति को नष्ट करने के लिए रामबाण सिद्ध होता है—

जदपि पण्डित विद्या तऊ धन मूरख अवरेख।
कुलजा सील न परिहरै कुलटा भूषित भेख॥[5]

धार्मिक नीति के क्षेत्र में यद्यपि वृन्द ने नम्रता, दया, क्षमा आदि सात्त्विक गुणों का कहीं-कहीं उल्लेख किया है तथापि राजकीय वातावरण के कारण ये इनके प्रधान विषय नहीं हैं। इस क्षेत्र में इन्होंने श्रम से गुणों का महत्त्व, गुण से मान, गुण और वेश एक ही गुण से सब की प्राप्ति, पिशुन और गुप्त तेजस्विता, साहस, धरा

१-२ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई दोहा ४०२, ४०६
३-४ वही, दोहा २९३, २९०
५ वही, दोहा ११६

श्रम आदि की प्रशंसा, निर्लोभ की महत्ता, आत्मविश्वास, उद्यम, अनेक निकम्मों से एक कर्मठ की श्रेष्ठता आदि राजस विषयों का जगह जगह उल्लेख किया है; जैसे—

होत बहुत धन होत सत, गुन गुन भए उदोत ।
नेह भर्यो दीपक तऊ, गुन बिनु जोति न होत ॥[1]
चलै जु पंथ पिपीलिका, समुद पार ह्वै जाय ।
जो न चलै तौ गरुड़ हू, पैंड़ हु चलै न पाय ॥[2]
बिना तेज के पुरुष की अवसि अवज्ञा होय ।
आगि बुझे ज्यों राख की आनि छुवै सब कोय ॥[3]

पारिवारिक नीति—सुपुत्र, कुपुत्र, साध्वी, कुलटा, घर की फूट आदि सामान्य विषयों के अतिरिक्त वृन्द ने दुखदायक अपना भी बुरा, सुखदायक बेगाना भी अच्छा[4], माता-पिता तथा वंश का संतति पर प्रभाव[5] आदि विषयों पर भी सूक्तियाँ कही हैं—

दो चाहे अपनो तऊ का सम सहिये पीर ।
उपजै रोग सरीर तें उपजत दहत सरीर ॥[6]

सामाजिक नीति—इनकी सामाजिक नीति का विस्तार आश्चर्यजनक है। सज्जन-दुर्जन, स्नेही-बैर, सुसंग-कुसंग, गुरु-शिष्य, स्वामि-सेवक आदि प्रचलित विषयों के अतिरिक्त इन्होंने वंश से गुण की श्रेष्ठता, वीरों की प्रशंसा, स्वभावों की विभिन्नता, सरल-कुटिल में मेल नहीं, सब सयाने एक मत, शत्रु से छल-बल करने का औचित्य, सबको मित्र बनाने में हित, अति परिचय से हानि, जगत की उलटी रीति, जगत की भेड़-चाल, बुरे से भी कभी भले की सम्भावना, बलवान् की निर्बल से द्वेष, अगुआ, स्त्री-बुद्धि की निन्दा, स्त्रियों का स्वभाव, धनों से प्रेम, स्वामि-वृद्धि से सेवक-वृद्धि, सबकी सहायता, सबल के रूठे निर्बल का भय, चतुर्विध व्यक्तियों के लक्षण, पुरुष की चतुर्विध परीक्षा, लोक-संग्रह, ब्राह्मण और गुरुजनों से हार मानना ही अच्छा, तुल्य-बल या अधिक-बल वाले से ही कलह की श्रेष्ठता, आत्मसमान का भय, छोटों से बड़ों की शोभा-वृद्धि आदि सैकड़ों सामाजिक नीतियों का बहुत सुन्दरता से प्रतिपादन किया है। जैसे—

छल बल समय बिचारि कै, अरि हनिए अनयास ।
कियो अकेले द्रोण-सुत निसि पांडव-कुल नास ॥[7]
या जग की विपरीति अति, स्वच्छी देखि सुभाय ।
कहुँ जनार्दन कृष्ण कौं, हर को अधर न लाय ॥[8]
ओछे मति पुरुषोन की कहूँ निपट सुभाय ।
दशरथ रानी के वचन वन पठए रघुराय ॥[9]
होत बुरे हू तें भलो काहू समै प्रकास ।
अधिक मास तें ज्यों मिट्यो पांडव फिर बनवास ॥[10]

१-१० वृन्द, दोहा ५४८, ५१७, ५१२, ५१७, ६६६, ६४०, २२६, ६२५, ६६८, ६६६

तात्पर्य यह कि इन्होंने समाज का यथा-तथ्य चित्रण किया और ऐसा व्यवहार करने की प्रेरणा दी जिससे अपने अभीष्ट की सिद्धि हो। समाज में बड़े और छोटे रहते ही हैं और प्रायः बड़े लोग धन पद आदि के बल पर मनमानी कर देते हैं। छोटे लोग उनकी उच्छृंखलता देखकर भी चुप रहते हैं और उन पर उँगली उठाने का साहस नहीं करते। राजाश्रित रहने वाले वृन्द को इस विषय में इससे अधिक कहने का साहस न हो सका—

बड़े कहैं सो कीजिए, करैं सो करिये नाहिं।
हर ज्यों पंचन में फिरै और को विकल कहाँहि॥[1]

आर्थिक नीति—वृन्द ने धन का महत्त्व लक्ष्मी की चपलता दान सन्तोष आदि सामान्य विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक उपयोगी बातों का भी उल्लेख किया है; जैसे धन का सदुपयोग[2] आय के अनुसार व्यय[3] जोड़ता और है और खाता और,[4] निर्धन का दान-विषयक असामर्थ्य तथा सधन के दान की संकीर्णता[5] कृपण का धन[6] बड़ों की समृद्धि से आश्रितों को सुख[7] धन से गुणों की श्रेष्ठता[8] धन से सुख-सम्पदा का नाश[9] याचक का समाज में लाघव[10] धन-मूलक भय[11] आदि। उक्त दीपकों से सिद्ध होता है कि वृन्द का धन-विषयक दृष्टिकोण स्वस्थ था। उन्होंने धन का उचित सीमा में भोग की अनेकत्र प्रशंसा की और कृपणवत् संग्रह की नहीं। परन्तु इस विषय में खटकने वाली बात यह है कि वित्तोपार्जन में जो महत्त्व उद्यम को देना चाहिए था उसकी वृन्द में कमी दिखाई देती है। वृन्द के विचार में दरिद्रता का लेख अमिट है अभाग्य व्यक्ति को भाग्यवान् बनाने में देवता भी असमर्थ हैं प्रारब्ध मिलकर ही रहता[12] है और मिलता भी हर एक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार ही है। यथा—

धन सँच्यो किहि काम के खाउ खरच हरि प्रीति।[13]
बँध्यो गंधोली कूप जल, कढ़ [illegible] इहि रीति॥
काहू सों नाहीं मिटै, अपरापत के अंक।
बसत ईस के सीस तउ भयो न पूर्न मयंक॥[14]
जिहि जेतो उनमान तिहि तेतो रिजक मिलाय।
कन कीड़ी कूकर टूकर मन भर हाथी खाय॥[15]

जब धन के बिना जीवन असम्भव है तो उसे प्राप्त करने के लिए कभी-कभी अनुचित मार्ग भी अपनाना ही पड़ता है—

जातें निबहै जीविका, करिए सो अभ्यास।
वेस्या पाले सील तो कैसे पूरे आस॥[16]

मिश्रित नीति—वृन्द के विप्र होने के कारण सतसई में ईश्वर देवता धर्म आदि विषयों का तथा राज-कवि होने के कारण राजनीतिक विषयों का उल्लेख तो

१-१६ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई दोहा ११४, १४०, ११, १८७ ११७, ४०५, ७०१ २११, ६००, ६४७, ५०३, ५१८, १४०, ६०४, ५०४, ७०

श्रम आदि की प्रशंसा, निस्तेज की अवज्ञा, आत्मविश्वास, उद्यम, अनेक निकम्मों से एक कर्मठ की श्रेष्ठता आदि राजस विषयों का जगह जगह उल्लेख किया है, जैसे—

होत महूत धन होत सज गुन बिनु भए उदोत ।
नेह भर्यो दीपक तऊ, गुन बिनु जोति न होत ॥[1]
चलै जु पंथ पिपीलिका समुद्र पार ह्वै जाय ।
चले न चलै तौ गरुड़ हू, पैड़हु चलै न पाय ॥[2]
बिना तेज के पुरुष की अवसि अवज्ञा होय ।
आगि बुझे ज्यों राखि कौं आनि छुवै सब कोय ॥[3]

पारिवारिक नीति—सुपुत्र, कुपुत्र, साध्वी, कुलटा, घर की फूट आदि सामान्य विषयों के अतिरिक्त वृन्द ने दुखदायक अपना भी बुरा, सुखदायक बेगाना भी अच्छा[4], माता-पिता तथा वंश का संतति पर प्रभाव[5] आदि विषयों पर भी सूक्तियाँ कही हैं—

जो चाहे अपनी सऊ वा सम लहियै पीर ।
जैसे रोग सरीर व उपजत दहत सरीर ॥[6]

सामाजिक नीति—इनकी सामाजिक नीति का विस्तार आश्चर्यजनक है। सज्जन-दुर्जन, छोटे-बड़े, सुसंग-कुसंग, गुरु-विद्या, स्वामि-सेवक आदि प्रचलित विषयों के अतिरिक्त इन्होंने वय से गुण की श्रेष्ठता, वीरों की प्रशंसा, स्वभावों की विभिन्नता, सरल-कुटिल में मेल नहीं, सब सयाने एक मत, शत्रु से छल-बल करने का औचित्य, सबल को मित्र बनाने में हित, अति परिचय से हानि, जगत की उलटी रीति, जगत की भेड़-चाल, बुरे से भी कभी भले की सम्भावना, बलवान् की निर्बल से सहज शत्रुता, स्त्री-बुद्धि की निन्दा, स्त्रियों का अयोग्य जनों से प्रेम, स्वामि वृद्धि से सेवक-वृद्धि, सबकी स्वार्थता, सबल के कूते निर्बल का भय, चतुर्विध व्यक्तियों के लक्षण, पुरुष की वस्तु विध परीक्षा, लोक-संग्रह, ब्राह्मण और गुरुजनों से हार मानना ही अच्छा, पुण्य-जन या अधिक-जन वास से ही जगह की श्रेष्ठता, लोकापवाद का भय, छोटों से बड़ों की शोभा-वृद्धि आदि सैकड़ों सामाजिक नीतियों का बड़ा सुन्दरता से प्रतिपादन किया है। जैसे—

छल बल समय विचारि कै, करि हूजिए उपाय ।
कियो दसौते द्रोण-सुत निसि पांडव-सुत नास ॥[7]
या जग की विपरीति गति समझी देखि सुभाय ।
कहूँ जनार्दन कृष्ण को हर को शंकर मोद ॥[8]
कोऊ मति पुण्यलोक की, कहूँ दिवस मुराय ।
सारथ रानी के सबल धन पठए रघुराय ॥[9]
होत बुरे हू तें भलो काहू समै प्रकास ।
अधिक मास तें ज्यों मिटयो पांडव-विर वनवास ॥[10]

१-१० वृन्द-दोहा २५८, ११०, ३१०, १३८, ६६६, १२०, २२५, १२५, ६६८, ११२

तात्पर्य यह कि इन्होंने समाज का यथा-तथ्य चित्रण किया और ऐसा व्यवहार करने की प्रेरणा दी जिससे अपने अभीष्ट की सिद्धि हो। समाज में बड़े और छोटे रहते ही हैं और प्रायः बड़े लोग धन पद आदि के बल पर मनमानी कर देते हैं। छोटे लोग उनकी उच्छृंखलता देखकर भी चुप रहते हैं और उन पर उँगली उठाने का साहस नहीं करते। राजाश्रित रहने वाले वृन्द को इस विषय में इससे अधिक कहने का साहस न हो सका—

बड़े कहैं सो कीजिए करैं सो करिये नाहिं।
हर ज्यों पंचम में फिरै और को विषम कहाहिं॥[1]

आर्थिक नीति—वृन्द ने धन का महत्त्व लक्ष्मी की चंचलता दान सन्तोष आदि सामान्य विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक उपयोगी बातों का भी उल्लेख किया है, जैसे धन का सदुपयोग[2] आय के अनुसार व्यय[3] जोड़ता और है और खाता और,[4] निर्धन का दान-विषयक असामर्थ्य तथा सधन के दान की असीमता[5] कृपण का धन[6] बड़ों की समृद्धि से आश्रितों को सुख[7] धन से गुणों की श्रेष्ठता[8] जुए से सुख-संपदा का नाश[9] याचक का समाज में लाघव[10] धन-शून्य भय[11] आदि। उक्त सूक्तियों से सिद्ध होता है कि वृन्द का धन-विषयक दृष्टिकोण स्वस्थ था। उन्होंने धन के उचित सीमा में जोड़ की अनेकत्र प्रशंसा की और कृपणवत् संग्रह की नहीं। परन्तु इस विषय में खटकने वाली बात यह है कि वित्तोपार्जन में जो महत्त्व उद्यम को देना चाहिए था उसकी वृन्द में कमी दिखाई देती है। वृन्द के विचार में दरिद्रता का लेख अमिट है अभाग्य-शाली को भाग्यवान् बनाने में देवता भी असमर्थ हैं प्राप्तव्य मिलकर ही रहता[12] है और मिलता भी हर एक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार ही है। यथा—

धन संच्यो जिहि काम के, ताहि करत हरि प्रीति।[13]
बंध्यो मंसीली रूप बल, कर्यो यह इहि रीति॥
काहू सों नाहीं मिटै, अवरापन है अंक।
बसत ईस के सीस तउ भयो न पूर्ण मयंक॥[14]
जिहि जैसो उनमान जिहि, तैसो रिजक मिलाय।
कन कीड़ी, कूकर टूकर, मन भर हाथी खाय॥[15]

जब धन के बिना जीवन असम्भव है तो उसे प्राप्त करने के लिए कभी-कभी अनुचित मार्ग भी अपनाना ही पड़ता है—

काहू मिसहूँ जीविका, करिए सो अभ्यास।
वेस्या पाले शील तो, कैसे पूरे आस॥[16]

मिश्रित नीति—वृन्द के भक्त होने के कारण सतसई में ईश्वर धर्म आदि विषयों का तथा राज-कवि होने के कारण राजनीतिक विषयों का उल्लेख हो

१-१६ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई दोहा १६४, १६७, १६, १८७ ३६७ ४७४, ७०१ २१६, ६०० ६७० ५०१, ५१८, १४७, ६०४, ५०४, ७०

स्वाभाविक ही है परन्तु सुखद यही है कि इन विषयों की चर्चा अधिक नहीं । समय की सबलता समय से पूर्व ही विपदा के प्रतिकारार्थ तैयार रहना समय के अनुसार रुचि में परिवर्तन समय-समय पर सब का आदर-अनादर समय के हेर फेर से ही दुख सुख की प्राप्ति बुरे समय में बुद्धि की विपरीतता आदि समय-सम्बन्धी अनेक नीतियों का वृन्द ने विशद वर्णन किया है । यद्यपि उद्यम की प्रशंसा तो अनेक दोहों में वर्णित है तथापि ऐसे लगता है कि मनुष्य समय के समक्ष सर्वथा विवश हो जाता है । काल को अपने अनुकूल बनाने का सामर्थ्य मानव में नहीं है चुप चाप सिर झुका देने में ही उसे अपना कल्याण निहित दिखाई देता है ।

आवत हने विपत्ति के, दिन कछु हू बे आय ।
दुहत हात चढ़ बैठत ही बस आगु को पाय ॥[1]

अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु का महत्व और सौन्दर्य विपत्ति जनक स्थान पर जाने का निषेध आदि अनेक स्थान-सम्बन्धी विषयों का उल्लेख भी वृन्द ने किया है—

करिये तहूँ पैसार कहूँ, जो जानिये निसार ।
चक्रव्यूह अभिमन्यु को सुन्यो सकति उसार ॥[2]

वृन्द ने पुरुषार्थ की प्रशंसा अनेकत्र की है परन्तु उन्हें ऐसे लगता है कि जब दैव प्रतिकूल हो तो सब पुरुषार्थ अकारथ हो जाता है । पूर्वकृत कर्मों का परिणाम इतना प्रबल होता है कि इस जन्म के सब उद्योग निष्फल हो जाते हैं । अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति ही सुख और अप्राप्ति ही दुख है जिस वस्तु से बहुत प्यार वह होकर ही रहती है एक ही वस्तु किसी के लिए लाभदायक और किसी के लिए हानिकारक आदि अनेक विविध विषयों की चर्चा सतसई में मिलती है ।

वृन्द सतसई पर एक दृष्टि—इस सतसई का सबसे बड़ा गुण है—विशुद्ध नीति की प्रचुरता । नीति की कई कृतियों में अध्यात्म धर्म उपदेश का प्राय इतना प्राधान्य रहता है कि उन्हें नीति-काव्य कहने में स्वभावत संकोच होता है । परन्तु इस सतसई को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम धर्म की इतनी चिन्ता नहीं जितनी लोक की । हम किसी आदर्श-समाज या देवलोक में जीवन-यापन नहीं कर रहे हैं यहाँ प्रत्येक व्यक्ति धर्मात्मा, सच्चा और परोपकारी है । हम तो उस समाज में रहते हैं जिसमें लोगों को परोपकार की अपेक्षा स्वार्थ की धर्म की अपेक्षा धन की परलोक की अपेक्षा लोक की चिन्ता अधिक है । जब वातावरण ही स्वार्थ पूर्ण है तब हमीं पूर्ण धर्मात्मा बनकर कैसे सफल जीवन व्यतीत कर सकते हैं ? इसीलिए वृन्द प्राय धर्म की उपेक्षा कर व्यावहारिक बातें कहते हैं । जैसे—

जो जैसो तिहि तैसिये करिये नीति-प्रकास ।
कंटक कठिन भेदै भ्रमर, मृदु अरविन्द निवास ॥[3]

१ २ सतसई सप्तक वृन्द सतसई दोहा ४८४ ६११ ६८६

सुत विराद दुख दीजिय तास सों करिये नाहिं ।
जो गुर दीने ही मरै क्यों दिय बीज ताहि ॥[1]
या मैं हित सो कीजिये कोऊ कहौ हजार ।
छल बल छाँड़ि विजय करी, पारथ भारथ मार ॥[2]

उक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि वृन्द के हृदय में उच्च आदर्शों के लिए कोई भी स्थान नहीं है, वे नैतिक अनैतिक सभी साधनों से स्वार्थ-सिद्धि की ही प्रेरणा करते हैं । वस्तुतः सतसई में आदर्श-व्यापक पदों का भी अभाव नहीं है, यद्यपि अधिकता व्यावहारिक नीति की है—

न्याय चलत विपत परू तौ न करो अफसोस ।
धार परत जो रामपद तौ न देत कोउ दोस ॥[3]

सार यह कि वृन्द आदर्श का वस्तुतः निरादर तो नहीं करना चाहते परन्तु सामान्य जनता आदर्शवादी बनकर कष्ट सहने में अक्षम होती है और वृन्द उसी के काम की बातों का उल्लेख करते हैं ।

सतसई की दूसरी विशेषता है— सुन्दर दृष्टान्त । यह तो नहीं कह सकते कि वृन्द ने प्रत्येक नैतिक तथ्य के समर्थन में कोई-न-कोई दृष्टान्त प्रस्तुत किया ही है तथापि यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनके प्रायः सभी दोहे सुन्दर दृष्टान्तों से समन्वित हैं । सफल नीति-कवि अपने प्रतिपाद्य विषयों को मनोहर उदाहरणों द्वारा पाठकों के हृदयंगम करने का उद्योग किया ही करते हैं और इस दृष्टि से वृन्द हिन्दी के अग्रगण्य कवियों में स्थान पाने के अधिकारी हैं । धर्मशास्त्रकार तो बिना पूछे कुछ बताने का निषेध करते ही रह गये[4] परन्तु वृन्द ने उनके विपरीत कहकर भी अपनी बात को सुन्दर दृष्टान्त से समर्थित कर हमें प्रभावित कर ही दिया है—

बिन पूछे ही कहत हैं सज्जन हित के बैन ।
भले बुरे कों कहत हैं, ज्यों समदर पत रैन ॥[5]

पौराणिक तथा ऐतिहासिक संकेत इस सतसई की तीसरी विशेषता है । वृन्द ने अपनी नैतिक उक्तियों के समर्थन में तत्कालीन जीवन से ही दृष्टान्त नहीं दिये रामायण, महाभारत, पुराणादि की कथाओं से भी इतने अधिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं कि पाठक का ध्यान हठात् उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है । विभिन्न नीतियों के समर्थन में वृन्द ने अर्जुन और कृष्ण, मैनाक और उदधि, युधिष्ठिर और नल, भीम और कीचक, अर्जुन और विराट् पुत्र, राम और विभीषण, कृष्ण और सुदामा आदि की दर्जनों प्राचीन घटनाओं का यथास्थान जो उल्लेख किया है उससे सिद्ध होता है

---

१ २ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ३११, ४७६
३ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३१८।६११
४ मनु स्मृति अध्याय २।११०
५. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ११७

कि उन्होंने इतिहास-पुराणों का मंथन ही नहीं किया था उनकी अनेक कथाएँ उन्हें मुखाग्र भी थीं और आवश्यकतानुसार कोतवाली के समान तुरन्त उपस्थित हो जाती थीं। जैसे—

परे बिपत में हू करैं भले बिराने काम।
किय बिराट तनु की बिषय अर्जुन करि संग्राम॥[1]

वृन्द की चतुर्थ विशेषता है—सूक्ष्म निरीक्षण। वैसे तो इस गुण के अभाव में कवि होना ही असम्भव है परन्तु जिसमें यह गुण जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान हो उसकी कविता में उतनी ही सजीवता आ जाती है। जैसे—

पिय के बिछुरे बिरह बस तन न कछुँ अनुराग।
बरनि बिरहु बीचहि फिरहु पड़ो भंमूरे पास॥[2]

स्वच्छ-सरल भाषा इस सतसई की पाँचवीं विशिष्टता है। वृन्द ने अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए न कहीं भाषा को दुरूह बनाया है न दुरूह पदों की रचना की है। सहज सुबोध भाषा के कारण ही इस सतसई के सैकड़ों दोहे अर्धशिक्षित ग्रामीणों तक को कण्ठस्थ हैं।

इस सतसई की छठी विशेषता है—रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग। अनेक रूढ़ियों और कहावतों का वृन्द ने ऐसा युक्तियुक्त प्रयोग किया है कि वे अस्वाभाविक और ठूँसी हुई नहीं लगतीं। यह भी असम्भव नहीं है कि वृन्द के द्वारा प्रयुक्त अनेक सूक्तियाँ ही रूढ़ियों के रूप में प्रचलित हो गई हों। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

आप बुरे जग है बुरो भले भलो जग जानि।
सजल गहेरा छाँह ज्यों गहत प्रान को हानि॥[3]

एक भेष के बावरे जाति बरन छिप जात।
ज्यों हाथी के पाँव में सब को पाँव समात॥[4]

सतसई की सातवीं विशेषता है—सुन्दर कल्पनाएँ। वैसे तो प्रत्येक मौलिक दृष्टान्त[5] से कवि की कल्पना-कुशलता का कुछ-न-कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है परन्तु कहीं-कहीं तो कल्पनाएँ इतनी उत्तम हैं कि हृदय हर लेती हैं। मीनभक्षक लोग जानते ही हैं कि मछली खाने के बाद खूब प्यास लगती है। इस तथ्य पर वृन्द की सद्भावना देखिये—

प्रेमी प्रीत न छाँड़हीं, होत न जल ते हीन।
मरे परे हू उदर में जल चाहत है मीन॥[6]

एक अन्य दोहे में कहावत और कल्पना का सुन्दर मिश्रण देखिए—

१-२ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ११२।११४, ११३।३९७
३-६ वही दोहा क्र ३२१ ६२२ ४८१

यह कहावत सत्य करै जैसी पावै कोय।
मीरत हौं पावें बर कापी कढ़ियत सोय ॥[1]

रस और भाव—यद्यपि रस-परिपाक के विचार से वृन्द सतसई विशेष महत्त्व पूर्ण नहीं है तथापि इस में ऐसे दोहे बहुत-ही थोड़े हैं जिन्हें पद्यमात्र कहा जा सके। अधिकतर दोहे भावपूर्ण तथा सहृदय पाठकों के मन में संतोष सहिष्णुता नम्रता, भय उद्यम, क्रोध, उत्साह आदि भावों के संचार में समर्थ हैं। जैसे—

जिय संतोष विचारिये होय जु लिख्यो भतीव।
जल पुर काच हवीर लौं, भाजत रखो पतीव ॥[1] (सन्तोष)
नीति अनीति बड़े सहैं रिस अरि देत न मारि।
भृगु जब दीनी लात को कीनी हरि हलुहारि ॥[3] (क्षमा)
लोचन के अपवाद को डर करिये जिय रत।
रघुपति सीता परिहरी सुनत रजक के बत ॥[4] (भय)
श्रम को पंथ पपीलिका समुद पार ह्वै जाय।
जो न जतन तो गरुड़ हू पैड़ह चले न पाय ॥[5] (उद्यम)
जोरावर की होति है उनके सिर पर राह।
हरि चरननि हरि तें भयो देवन चढ़े सिपाह ॥[6] (उत्साह)

भाषा—वृन्द सतसई की भाषा की सुबोधता और स्वच्छता तथा उसमें सूक्तियों और लोकोक्तियों के सुप्रयोग के सम्बन्ध में पीछे कह ही चुके हैं। इन की भाषा का एक अन्य प्रशस्य गुण है—समाहार-शक्ति। यह गुण इन में बिहारी जितना तो लक्षित नहीं होता फिर भी इसकी झलक इनके अनेक दोहों में स्पष्ट दिखाई देती है—

भले-भले विधिना रचे पै सदोष सब कीन।
कामधेनु पसु कठिन मनि दधि खारी ससि छीन ॥[7]

सतसई की भाषा ब्रज है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी पर्याप्त हैं। फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्द हैं तो सही परन्तु थोड़े और उनका प्रयोग भी प्रायः तद्भव रूप में किया गया है, जैसे—खुस्याल (खुशहाल) अपसोस (अफ़सोस)। कहीं-कहीं तत्सम रूप में प्रयुक्त तहकीक हिमायत आदि भारी भारी विदेशी शब्द खटकते हैं। इसी प्रकार एकाध स्थल पर संस्कृत का सविभक्तिक पद और वह भी विदेशी शब्द के साहचर्य में विचित्र सा लगता है—

प्रभु सौं बात दुरी न तउ करिये अरज मुखेन।
सरिमन अनुरता लिखी हरि कहा जानत है न ॥[8]

अनुप्रास तथा छन्दगति को अविकल रखने के लिए एकाध स्थल पर शब्दों

१-८ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा सं० २, ७०१, १६१, ११६, १११, ५५८, १४०, १७७

कि उन्होंने इतिहास-पुराणों का मंथन ही नहीं किया था उनकी अनेक कथाएँ उन्हें मुखाग्र भी थीं और आवश्यकतानुसार कोतवाली के समान तुरन्त उपस्थित हो जाती थीं। जैसे—

बड़े विपत में हूँ करैं भले बिताने काम ।
किय विराट तनु की विपत अर्जुन करि संग्राम ॥[1]

वृन्द की चतुर्थ विशेषता है—सूक्ष्म निरीक्षण। वैसे तो इस गुण के अभाव में कवि होना ही असम्भव है, परन्तु जिसमें यह गुण जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान हो उसकी कविता में उतनी ही सजीवता आ जाती है। जैसे—

पिय के बिछुरे विरह बस तन न बचु अनुराग ।
बरनि विषयु दीखहि फिरतु रमी भँवरे दास ॥[2]

स्वच्छ-सरल भाषा इस सतसई की पाँचवी विशिष्टता है। वृन्द ने अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए न कहीं भाषा को दुरूह बनाया है न कूट पदों की रचना की है। सहज सुबोध भाषा के कारण ही इस सतसई के सैकड़ों दोहे अपठित ग्रामीणों तक को कण्ठस्थ हैं।

इस सतसई की छठी विशेषता है—रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग। अनेक रूढ़ियों और कहावतों का वृन्द ने ऐसा रुचिपूर्ण प्रयोग किया है कि वे अस्वाभाविक और ठूँसी हुई नहीं लगतीं। यह भी असम्भव नहीं है कि वृन्द के द्वारा प्रयुक्त अनेक सूक्तियाँ ही रूढ़ियों के रूप में प्रचलित हो गई हों। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

आप बुरे जग है बुरो भले भलो सब जानि ।
सजन अँधेरा छाँड़ि रूप गहत भाम की आनि ॥[3]
एक भेद के आसरे जाति बरन छिप जात ।
ज्यों हाथी के पाँव में सब को पाँव समात ॥[4]

सतसई की सातवीं विशेषता है—सुन्दर कल्पनाएँ। वैसे तो प्रत्येक नैतिक दृष्टान्त[5] में कवि की कल्पना-कुशलता का कुछ-न-कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है परन्तु कहीं-कहीं तो कल्पनाएँ इतनी उत्तम हैं कि हृदय हर लेती हैं। मीनभक्षक लोग जानते ही हैं कि मछली खाने के बाद खूब प्यास लगती है। इस तथ्य पर वृन्द की अनुभावना देखिये—

ऐसो प्रीत न छाँड़ही, हीत न प्राण न हीन ।
मर रहे हू उदर में जल मांगत है मीन ॥[6]

एक अन्य दोहे में कहावत और कल्पना का सुंदर मिश्रण देखिए—

---

१ २ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई पृष्ठ ११२।११४, ११३।१८७
३ ६ वही दोहा ४३ १२१ ६२२ ५४०

यह कहवत जैसो करै तैसो पावै सोय।
नीरस को मीठो कर आँबी कहियत सोय॥[1]

रस और भाव—यद्यपि रस-परिपाक के विचार से वृन्द सतसई विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है तथापि इस में ऐसे दोहे बहुत-ही थोड़े हैं जिन्हें भावशून्य कहा जा सके। अधिकतर दोहे भावपूर्ण तथा सहृदय पाठकों के मन में संतोष सहिष्णुता नम्रता, भय उद्यम क्रोध, उत्साह आदि भावों के उभार में समर्थ हैं। जैसे—

जिय संतोष विचारियै होय जु लिख्यो नसीब।
जस गुर काज अमीर सौं मानत रही गरीब॥[2] (सन्तोष)
नीति अनीति बड़े सहैं रिस करि देत न गारि।
भृगु उर दीनी लात की लीनी हरि हुलसारि॥[3] (क्षमा)
लोचन के अपवाद को डर करियै दिन रैन।
रघुपति सीता परिहरी सुनत रजक के बैन॥[4] (भय)
धर्म को पंथ पपीलिका समुद पार हूँ जाय।
जौ न चलै तौ गरुड़ हू पैंडहु चलै न पाय॥[5] (उद्यम)
जोरावर की होति है सबके सिर पर राह।
हरि सनमुख हरि लै गयौ देखत रही सिपाह॥[6] (उत्साह)

भाषा—वृन्द सतसई की भाषा की सुबोधता और स्वच्छता तथा उसमें कहावतों और लोकोक्तियों के सुप्रयोग के सम्बन्ध में पीछे कह ही चुके हैं। इन की भाषा का एक अन्य प्रशस्य गुण है—व्यवहार-शक्ति। यह गुण इन में बिहारी जितना तो लक्षित नहीं होता फिर भी इसकी झलक इनके अनेक दोहों में स्पष्ट दिखाई देती है—

भले-भले विधिना रचे पै सदोष सब कीन।
कामधेनु पशु कठिन मनि ससि कारो सखि छीन॥[7]

सतसई की भाषा ब्रज है जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी पर्याप्त हैं। फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्द हैं तो सही परन्तु थोड़े और उनका प्रयोग भी प्रायः तद्भव रूप में किया गया है जैसे—खुस्याल (खुशहाल) अपसोस (अफ़सोस)। कहीं-कहीं तत्सम रूप में प्रयुक्त तहकीक हिमायत आदि भारी भारी विदेशी शब्द खटकते हैं। इसी प्रकार एकाध स्थल पर संस्कृत का सविभक्तिक पद और वह भी विदेशी शब्द के साहचर्य में, विचित्र सा लगता है—

प्रभु सौं बात बुरी न तउ करिये धरज मुचैन।
दरिमनि अमुरुदा लिखी हरि कहा जानत है न॥[8]

अन्त्यानुप्रास तथा छन्दगति को अविकल रखने के लिए एकाध स्थल पर शब्दों

१-८. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई दोहा २०२, ७०३, ११२, ६१९, १११, ५६८, ६४०, ६७३

भी विकृत भी किया गया है जैसे—'यथार्थ' को 'यथारथ' और 'तनुज' को 'तनु'।[1]

सतसई के अधिकतर दोहों में अभिधा का ही प्रयोग दिखाई देता है। लक्षणा और व्यंजना व्यवहृत तो हुई हैं परन्तु बहुत ही कम। जैसे—

ज्यों-ज्यों बूड़े श्यामरंग त्यों-त्यों प्रेम प्रकास।
जैसे तेरी प्रीत की पकरत पके मिठास ॥[2] (लक्षणा)
इन को मानुष जन्म दै कहा कियो भगवान।
सुन्दर मुख बोलत न सके, दे न सके धनदान ॥[3] (व्यंजना)

यहाँ प्रथम दोहे में 'मिठास पकड़ना' का लक्ष्यार्थ है माधुर्य से अपूर्ण होना तथा द्वितीय दोहे में व्यंग्यार्थ यह है कि विद्या के बिना सौन्दर्य तथा दान के बिना धन व्यर्थ है।

विधान और छन्द—सतसई की रचना मुक्तक दोहों में की गई है। कवि ने दोहों को छन्द-शास्त्र की दृष्टि से निर्दोष बनाने का पूर्ण उद्योग किया है और इस बात में उसे सफलता भी मिली है। यद्यपि कहीं-कहीं एक ही विषय पर कवि ने एकाधिक दोहों की रचना की है तथापि अर्थ की दृष्टि से कोई भी दोहा दूसरे पर निर्भर नहीं है।[1]

शैली—सतसई में मुख्यतः दृष्टान्त-शैली का प्रयोग किया गया है। दोहे के प्रथम दल में कवि नैतिक तथ्य का उल्लेख करता है और दूसरे दल में अत्यन्त उप-युक्त दृष्टान्त द्वारा उसका समर्थन। उसके बाद ऐतिहासिक शैली का नम्बर आता है। उपदेशात्मक शैली का भी कुछ गिने-गिने दोहों में प्रयोग किया गया है। ऊपर उक्त दोहों में ये शैलियाँ सहज ही देखी जा सकती हैं।

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से भी सतसई महत्त्वपूर्ण है। प्रायः प्रत्येक पद्य एक या दूसरे अलंकार से अलंकृत है। यों तो तीनों प्रकार के अलंकार इसकी शोभा वृद्धि कर रहे हैं परंतु शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थ का प्रयोग अधिक है।

(क) शब्दालंकारों में अनुप्रास, लाटानुप्रास, वीप्सा और यमक का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। यथा—

मोह महातम रहत है जौ लौं ज्ञान न होत।[4] (छेकानुप्रास)
मात-पिता के दल के पुत्रहिं प्रगट प्रभाव।[5] (वृत्यनुप्रास)
मन सहाई क्यों पावत देह सहाई प्राय।[6] (लाटानुप्रास)
कहीं सनेही तऊ रहत भ्रमत-भ्रमत भग जाय।[7] (वीप्सा)
जौ प जौ लौ रोपिय पाहुई शालि न होय ॥[8] (यमक)

(ख) अर्थालंकारों में प्राधान्य दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास का है। इनकी प्रधानता का कारण यह है कि कवि ने प्रतिपाद्य नैतिक तथ्यों को इनकी सहायता से पुष्ट तथा समर्थित कर हृदयंगम कराने का उद्योग किया है। कारणमाला तथा सार

१-६ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई दोहा १२७, ६२८, ६४२ २०१ २०२ तथा १८२ १६४ ४२० ६६६, ६५६ ६२६, ५०५

नामक भूलतामूलक अलंकारों में भी वृन्द की विशेष रुचि लक्षित होती है। उपमा उत्प्रेक्षा परिवृत्ति विशेषोक्ति निदर्शना आदि अलंकार भी छिटपुट रूप से प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे—

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें सिल पर परत निसान[1]॥ (दृष्टान्त)

काहू सों हँसिए नहीं हँसी कलह को मूल।
हाँसी ही तें ह्वै गयो कुल कौरव निरमूल॥[2] (अर्थान्तरन्यास)

उद्यम को करिए सबै सब सुख विलसत अनंत।
रवि तप घन, घन जल बरस, बर जल घन दिसर्वत॥[3] (कारणमाला)

एक-एक तें सरस है जो जात बलवन्त।
बलहिं ... पवन सरप जु पवन महंत॥[4] (सार)

(घ) उभयालंकार—उभयालंकारों में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। अधिकतर पदों में दृष्टान्त या अर्थान्तरन्यास तो है ही एकाध अलंकार और भी आ ही जाता है, इसलिए उभयालंकार भी प्रचुर हैं। जैसे—

तृन हू ते अरु तूल तें हरुओ याचक आहि।
जानतु है कछु मांगिहै पवन उड़ावत नाहि॥[5]

दोहे में अनुप्रास व्यतिरेक और उत्प्रेक्षा के मिश्रण से शब्दार्थालंकार की संसृष्टि है।

गुण—सतसई में प्रसाद माधुर्य और ओज तीनों ही गुण पाए जाते हैं। प्रसाद प्रधान है माधुर्य पर्याप्त है और ओज न्यून है।

दोष—वृन्द ने काशी में अन्य विषयों के साथ ही काव्यकला का भी विधिवत् अध्ययन किया था इसलिए उन्होंने इसे निर्दोष बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। फिर भी कुछ इने गिने दोहों में खटकने वाली बातें भी विद्यमान हैं। जैसे—

✓ कन कन सों कहिये नहीं कुछ कबहूँ करि मेल।
ज्यौं पैठ कन माहि ज्यों जल पर बूंद कि तैल॥[6]

दोहे में 'बूँद कि तैल' स्थान पर 'तैल की बूँद' होना चाहिए। क्रमविरुद्ध होने से दोहा 'भग्नक्रम' दोष से दूषित है।

भले-बुरे पुर सम बसत, सीपत सब न धीर।
राम-काज को छाँड़ि कै चले निपिन रघुवीर॥[7]

गुरु वच पोष अभीप्सु करिए भ्रम बिसराय।
राम राज-सुख छाँड़ि कै बनवासी भए जाय॥[8]

उक्त दोहों में प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि की अपेक्षा पुष्प्यानुम की पुनरुक्ति

१-८. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा ११०, २७४, ७०१, ६६४, १४८, ६९१, ६१७ ६६७

कहीं अधिक चुभती है। दो चार स्थलों पर दृष्टान्त अश्लील और सुरुचि के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं—

हींग-मिरच जीरो नहीं तुम भर भर मिलत भेत।[1]
ज्यों तिय भूषन भार है, निमस सुरत की बेर॥[2]
सो सोभा पावै नहीं चार गर्भ युत नारि॥[3]

एकाध स्थल पर हतवृत्तत्व दोष भी आ ही गया है—

अद्वेष की सम्पत्ति सबै लघु बिलसत अनन्त।[4]

दोहे के प्रथम चरण के प्रारम्भ में जगण की विद्यमानता ने यति को दूषित कर दिया है।

वृन्द और पूर्ववर्ती कवि—वृन्द-सतसई के अध्ययन से सिद्ध होता है कि यद्यपि कवि ने अनेक नवीन विषयों तथा दृष्टान्तों को अपनी रचना में निबद्ध किया है तथापि उनके दर्जनों दोहे पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से प्रभावित हैं। यह कहना तो कठिन है कि उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का भी अध्ययन किया था या नहीं परन्तु उनके संस्कृत और हिन्दी-ज्ञान के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं है। उनका जीवन वृत्त तथा रचनाएँ इस कथन का समर्थन करती हैं। हम पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव को दो भागों में अनायास विभक्त कर सकते हैं—

(क) संस्कृत कवियों का प्रभाव (ख) हिन्दी-कवियों का प्रभाव

(क) संस्कृत कवियों का प्रभाव—यह तो ऊपर कह ही चुके हैं कि वृन्द ने वर्ण्य विषयों को पुष्ट करने के लिए रामायण, महाभारत और पुराणों की घटनाओं का आश्रय लिया है। उनके अतिरिक्त जैसा कि निम्नलिखित पद्यों से सिद्ध होता है वृन्द को चाणक्य-नीति, हितोपदेश, भर्तृहरि-कृत नीतिशतक तथा संग्रह-ग्रन्थों का भी ऋणी मानना ही होगा।

यह ऋण भी त्रिविध है—

१ संस्कृत-पद्य का अक्षरशः अनुवाद
२ संस्कृत-पद्य का विस्तार
३ संस्कृत-पद्य का संक्षेप।

१ संस्कृत का अक्षरशः अनुवाद

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः॥[5] (चाणक्य)
अति ही सरल न हूजिये देखो ज्यों वन राय।
सीधे-सीधे छेदिये बाँको तरु बच जाय॥[6] (वृन्द)

१-४ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा २०६, ६४५, ५२६, ७०१
५. चाणक्य नीति, पृष्ठ १२।१९
६ सतसई सप्तक, पृष्ठ २६६।१४६

वृन्द ने अपने दोहे में चाणक्य-नीति के पद्य का अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। भाव ही समान नहीं है उनका अभिव्यक्ति क्रम भी समान है।

१ संस्कृत-पद्य का विस्तार

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥[1] (नारायण पण्डित)
चतुर सभा में कूर नर सोभा पावत नाहिं।
जैसे बक सोभित नहीं हंस मंडली माहिं ॥[2] (वृन्द)

हितोपदेश के रचयिता ने तो पुत्र को शिक्षित न करने वाले माता-पिता को शत्रु कहा है क्योंकि वह मूर्ख बालक सभा में वैसा ही शोभा-हीन होता है जैसा हंसों में बगुला। वृन्द ने इस पद्य के केवल उत्तरार्द्ध को—दृष्टान्तमात्र को—विस्तृत कर पूरा दोहा बना डाला है। अब शिक्षा का दायित्व माता-पिता पर ही नहीं रहा प्रत्येक के अपने कंधों पर भी आ पड़ा है।

२ संस्कृत-पद्य का संक्षेप

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ॥[3] (भर्तृ हरि)
दुःख-सुख दीबे कौं दई है आतुर हरि हाट।
अहि-करंड मूसा पर्यो भखि निकस्यो गहि बाट ॥[4]

दोनों पद्यों में दैव की बलवत्ता तथा संतोष की महत्ता ही प्रतिपादित है। जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है वह भी एक ही है। परन्तु वृन्द ने छन्द की अल्पाकारता से विवश होकर भर्तृ हरि के पद्य में वर्णित सर्प की दुर्बलता निराशा तथा भूख के उद्योग का उल्लेख न कर संस्कृत-पद्य का हिन्दी-संक्षेप प्रस्तुत किया है। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वृन्द तथा और अन्य संस्कृत के पद्यों का अनुसरण-

---

१ हितोपदेश पृष्ठ ८।१८

२ सतसई सप्तक, पृष्ठ २०४।१११

३ शतकत्रयम् पृष्ठ ४६।८२

अर्थ—एक सर्प पिटारे के भीतर बंद हो जाने के कारण अत्यंत निराश और भूख से दुर्बल पड़ा था। रात्रि को एक चूहा उस पिटारे में छिद्र कर स्वयमेव उसके मुंह में आ पड़ा। चूहे के मांस से तृप्त होकर सांप उसी मार्ग से बाहर निकल गया। हे मनुष्यो संतोषपूर्वक बैठे रहो क्योंकि वृद्धि या क्षय का मुख्य कारण दैव ही है।

४ सतसई सप्तक पृष्ठ ११४।१११

भूमिका पैशाची अपभ्रंश और सिंधी भाषाओं से सुपरिचित होने का पता चलता है। ये जीवन भर धर्म प्रचार तथा साहित्य-सर्जन में संलग्न रहे। बीकानेर के महाराज अनूपसिंह तथा सुजाणसिंह जैसलमेर के रावल अमरसिंह जोधपुर के महाराज जसवंत सिंह तथा इतिहास-प्रसिद्ध दिवान श्री और दुर्गादास इनके प्रशंसक थे। बीकानेरनरेश ने सं० १७७१ में एक पत्र में इनकी इस प्रकार प्रशंसा की—

'सब गुण ग्राम बिसेष बिराजै कविगण ऊपरि मन क्यूं भाजै।
धर्मसिंह धरणीतल मांहि, पंडित योग्य प्रशस्ति बस तांहि ॥'

८० ८१ वर्ष के वय में इनका देह-पात हुआ।

कृति-परिचय—धर्मसिंह जी के २१ छोटे-मोटे ग्रंथ[1] उपलब्ध हुए हैं जिनमें से नीति के ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

१ गुरु-शिष्य दृष्टान्त छत्तीसी
२ विनय छत्तीसी
३ धर्म बावनी
४ प्रास्ताविक कुंडलिया बावनी
५ छप्पय बावनी
६ स्फुट पद्य।

उक्त छह रचनाओं में से प्रथम तथा द्वितीय हमें प्राप्त नहीं हो सकीं शेष चार का विवरण इस प्रकार है।

धर्म बावनी[2]—इस बावनी की रचना धर्मसिंह ने बीकानेर-राज्य के रिनी नगर में संवत् १७२५ में की थी—

'सैंत सतरे पचीस कार्ती वदि नौमि दीस
बार है सितम जब धार्न बनायनी।
नर रिनी की मिरजि जित ही बिजे हरष
कोरी तहाँ धर्मसीह नाम धर्म बावनी' ॥[3]

प्रश्न होता है जब धर्मसिंह ने अपनी अन्य दो बावनियों के नाम उनमें व्यवहृत छन्दों के अनुसार 'कुंडलिया बावनी' और 'छप्पय बावनी' रखे तब इसका नाम कवित्त तथा सवैया के प्रयोग के कारण कवित्त या सवैया बावनी क्यों नहीं रखा। हमारे विचार में इसके दो कारण हैं। प्रथम इसमें दानपुण्य आदि धर्मकृत्यों से ही जीवन की सफलता मानी गई है उनके अभाव में विफलता। द्वितीय जैसा कि ऊपर उद्धृत पद्यांश से सूचित होता है उन्होंने इसका नाम अपने नाम पर रखना उचित समझा। प्रथम की अपेक्षा भी द्वितीय कारण प्रबल प्रतीत होता है क्योंकि कृति में धर्म की अपेक्षा नीति का प्राधान्य है और बाल्यवय की अपेक्षा यौवन में साहित्य-सेवियों में अपने नाम

---

१ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २८०
२ धर्म बावनी की हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है।
३ धर्म बावनी, पद्य ५७

वृन्द ने अपने दोहे में चाणक्य-नीति के पद्य का अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। भाव ही समान नहीं है उनका अभिव्यक्ति क्रम भी समान है।

१ संस्कृत-पद्य का विस्तार

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥[1] (नारायण पण्डित)
चतुर सभा में कूर नर सोभा पावत नाहिं ।
जैसे बक सोभित नहीं हंस मंडली माहिं ॥[2] (वृन्द)

हितोपदेश के रचयिता ने तो पुत्र को शिक्षित न करने वाले माता-पिता को शत्रु कहा है क्योंकि वह मूर्ख बालक सभा में वैसा ही शोभा-हीन होता है जैसा हंसों में बगुला। वृन्द ने इस पद्य के केवल उत्तरार्द्ध को—दृष्टान्तमात्र को—विस्तृत कर पूरा दोहा बना डाला है। अब शिक्षा का दायित्व माता-पिता पर ही नहीं रहा प्रत्येक के अपने कर्मों पर भी आ पड़ा है।

२ संस्कृत-पद्य का संक्षेप

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम् ॥[3] (भर्तृहरि)
दुख-सुख दीबे कौं बड़ौ है चातुर इहि ठाट ।
अहि-करंड मूसा पर्यो अहि निकस्यो उहि बाट ॥[4]

दोनों पद्यों में दैव की प्रबलता तथा संतोष की महत्ता ही प्रतिपादित है। जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है वह भी एक ही है। परन्तु वृन्द ने दोहे की अल्पाकारता से विवश होकर भर्तृहरि के पद्य में वर्णित सर्प की दुर्बलता निराशा तथा चूहे के उद्योग का उल्लेख न कर संस्कृत-पद्य का हिन्दी-संक्षेप प्रस्तुत किया है। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वृन्द सदा और सर्वत्र संस्कृत के पद्यों का अनुसरण-

---

१ हितोपदेश पृष्ठ ८।३८

२ सतसई सप्तक पृष्ठ ३०४।२११

३ शतकत्रयम् पृष्ठ ४१।८२

अर्थ—एक सांप पिटारे के भीतर बंद हो जाने के कारण अत्यंत निराश और भूख से दुर्बल पड़ा था। रात्रि को एक चूहा उस पिटारे में छिद्र कर स्वयमेव उसके मुंह में आ पड़ा। चूहे के मांस से तृप्त होकर सांप उसी मार्ग से बाहर निकल गया। हे मनुष्यो, संतोषपूर्वक बैठे रहो क्योंकि वृद्धि या क्षय का मुख्य कारण दैव ही है।

४ सतसई सप्तक पृष्ठ ३१४।३६१

कहीं अधिक चुभती है। दो-चार स्थलों पर दृष्टान्त अश्लील और सुरुचि के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं—

हींग-मिरच जीरो पट्ठे हुग भर कर लिय सेत ।[1]
ज्यों त्रिय भूषन साज है, मिलत सुरत की बेर ॥[2]
सो सोभा पावै नहीं नार गर्भ युत नारि ॥[3]

एकाध स्थल पर हतवृत्तत्व दोष भी आ ही गया है—

सज्जेय की सम्पति सबै अधु बिसर्जत अन्नत ।[4]

दोहे के प्रथम चरण के आरम्भ में पगण की विषमामता ने गति को दूषित कर दिया है।

वृन्द और पूर्ववर्ती कवि—वृन्द-सतसई के अध्ययन से सिद्ध होता है कि यद्यपि कवि ने अनेक नवीन विषयों तथा दृष्टान्तों को अपनी रचना में निबद्ध किया है तथापि उनके दर्जनों दोहे पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से प्रभावित हैं। यह कहना तो कठिन है कि उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का भी अध्ययन किया था या नहीं परन्तु उनके संस्कृत और हिन्दी-ज्ञान के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं है। उनका जीवन वृत्त तथा रचनाएँ इस कथन का समर्थन करती हैं। इन पर पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव को दो भागों में अनायास विभक्त कर सकते हैं—

(क) संस्कृत कवियों का प्रभाव (ख) हिन्दी-कवियों का प्रभाव

(क) संस्कृत कवियों का प्रभाव—यह तो ऊपर कह ही चुके हैं कि वृन्द ने वर्ण्य विषयों को पुष्ट करने के लिए रामायण, महाभारत और पुराणों की घटनाओं का आश्रय लिया है। उनके अतिरिक्त जैसा कि निम्नलिखित पद्यों से सिद्ध होता है वृन्द को चाणक्य-नीति, हितोपदेश, भर्तृहरि नीतिशतक तथा संग्रह-ग्रन्थों का भी ऋणी मानना ही होगा।

यह ऋण भी त्रिविध है—

१ संस्कृत-पद्य का यथातथ्य अनुवाद
२ संस्कृत-पद्य का विस्तार
३ संस्कृत-पद्य का संक्षेप।

१ संस्कृत का यथातथ्य अनुवाद

नारयन्तं सरीर्भार्यां मार्गा पन्थ समस्पतीन् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥[5] (चाणक्य)
अति ही सरल न हूजिये, देखो ज्यों बन राय ।
सीधे-सीधे छेदिये बाँको तरु बच जाय ॥[6] (वृन्द)

१-४ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, दोहा २०६ ६४२ ४२६, ७०१
५ चाणक्य नीति, पृष्ठ १५।१२
६ सतसई सप्तक, पृष्ठ २११।१४६

वृन्द ने अपने दोहे में चाणक्य-नीति के पद्य का अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर दिया है। भाव ही समान नहीं है, उनका अभिव्यक्ति-क्रम भी समान है।

१ संस्कृत-पद्य का विस्तार

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥[१] (नारायण पण्डित)

चतुर सभा में कूर नर सोभा पावत नाहिं।
जैसे बक सोभित नहीं, हंस मंडली माहिं॥[२] (वृन्द)

हितोपदेश के रचयिता ने तो पुत्र को शिक्षित न करने वाले माता-पिता को शत्रु कहा है क्योंकि वह पुत्र बालक सभा में वैसा ही शोभा-हीन होता है जैसा हंसों में बगुला। वृन्द ने इस पद्य के केवल उत्तरार्द्ध को—दृष्टान्तमात्र को—विस्तृत कर पूरा दोहा बना डाला है। अब शिक्षा का दायित्व माता-पिता पर ही नहीं रहा, प्रत्येक के अपने कर्मों पर भी आ पड़ा है।

२ संस्कृत-पद्य का संक्षेप

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा,
स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षये कारणम्॥[३] (भर्तृहरि)

कुद-कुद बीन कों कर्यो है मूषक अहि घात।
अहि-करंड मूषक पर्यो निकस्यो ताहि घात॥[४]

दोनों पद्यों में दैव की कारकता तथा संसार की महत्ता ही प्रतिपादित है। जो दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है वह भी एक ही है। परन्तु वृन्द ने दोहे की अल्पाकारता से विवश होकर, भर्तृहरि के पद में वर्णित भग्न की, ऐषणा, निराशा तथा भूख के वर्णन को छोड़ कर दृष्टान्त का हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया है। उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वृन्द पूर्ण और स्वतन्त्र संस्कृत के पद्यों का भावानुग

अनुवाद ही प्रस्तुत नहीं करते अपनी कल्पना की सहायता से मूल पद्यों का संक्षेप या विस्तार भी कर लेते हैं उनमें कुछ मौलिकता लाने का भी उद्योग करते हैं।

(ख) हिन्दी-कवियों का प्रभाव—जैसे वृन्द संस्कृत के कवियों से प्रभावित हुए हैं वैसे ही हिन्दी के कवियों से भी। सूरदास तुलसीदास रहीम बिहारी आदि की रचनाओं का प्रभाव इनके अनेक दोहों पर स्पष्ट लक्षित होता है। जैसे—

(क) ऊधो, मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत फल बिष कीरा बिष खात।
'सूरदास' जा को मन जासों सोई ताहि सुहात॥[1]

सूरदास के इस पद के आशय को वृन्द ने जिन अनेक दोहों में व्यक्त किया है उनमें से कुछ एक में भाव साम्य के अतिरिक्त दृष्टान्त-साम्य तथा भाषा-साम्य भी लक्षित होता है जैसे—

जो जा कौ प्यारो लगै, सो तिहि करत बखान।
जैसे विष को विषभखी, मानत अमृत समान॥[2] (दृष्टान्त साम्य)
जा कौ जा सों मन लग्यो सो तिहि भावत ताप।
भाल भस्म बिन पुंड शिव, तोऊ शिवा सुहाय॥[3] (भाषा साम्य)

(ख) का बर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने।[4] (तुलसीदास)
कीजै अवसर को समो जासौं सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो घन को कौने काम॥[5] (वृन्द)

वृन्द ने दृष्टान्त को तो यथावत् रहने दिया है परंतु भाव-क्षेत्र को संकुचित कर दिया है। गोस्वामी जी की अर्द्धाली तो प्रत्येक कार्य में समय का ध्यान रखने का निर्देश करती है परंतु दोहा दान के विषय में ही सावधान करता है।

(ग) छिमा बड़ेन को चाहिए, छोटेन को उत्पात।
का 'रहीम' हरि को घट्यो जो भृगु मारी लात॥[6] (रहीम)
कीजै अनीति बड़े सहूँ, तिन करि बैर न मारि।
भृगु जब दीनी लात की, कीनी हरि मनुहारि॥[7] (वृन्द)

भाव दृष्टान्त तथा भाषा का प्रभाव तो स्पष्ट ही है परन्तु द्वितीय दोहे के चतुर्थ चरण से हरि का जो गौरव व्यक्त होता है उसका श्रेय वृन्द को ही है।

---

१ सूरसागर खंड २, पृष्ठ १५६८
२।३ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ २८७।७ २९४।६०
४ कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ २८७
५. सतसई सप्तक, वृन्द सतसई पृष्ठ २८८।१८
६ कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ १४०।१२४
७ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ ३३७।६६१

(घ) जपमाला छापैं तिलक, सरै न एकौ कामु।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु॥[१] (बिहारी)
उदर भरन के कारनै प्रानी करत इलाज।
नाचै बाँचै रन भिरै, राँचै काज अकाज॥[२] (वृन्द)

दोनों दोहों का भावसाम्य तो स्पष्ट ही है परन्तु इस बात का प्रत्याख्यान करना सरल नहीं कि वृन्द के द्वितीय दल की भाषा बिहारी से प्रभावित है।

उपर्युक्त विवेचन से जहाँ यह स्पष्ट है कि वृन्द भाव, भाषा और दृष्टान्त के क्षेत्रों में पूर्ववर्ती कवियों के कुछ अंश तक ऋणी हैं वहाँ यह भी निर्विवाद है कि उन्होंने इस प्रकार के दोहों में अन्धवत् अनुकरण नहीं किया, कुछ नवीनता लाने का भी उद्योग किया है।

अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि वृन्द सतसई विशेष सरसता के अभाव में भी व्यावहारिक नीति की प्रचुरता, सुन्दर दृष्टान्त, सूक्ष्म निरीक्षण, लोकोक्तियों के प्रयोग, मनोरम कल्पना तथा मार्मिक अभिव्यक्ति के कारण हिन्दी के नीतिकाव्यों में प्रमुख स्थान रखती है। यही कारण है कि लोकप्रियता की दृष्टि से बिहारी-सतसई के बाद इसी का नाम लिया जाता है।

'हितोपदेश' नाम से युक्त होने के कारण वृन्द की दो अन्य कृतियाँ—'हितोपदेशाष्टक' और 'हितोपदेश संधि'—नीतिकाव्य का आभास देती हैं। परन्तु इनमें से प्रथम शान्त रस की रचना है और द्वितीय संस्कृत के 'हितोपदेश' की अनुप कथा का पद्यानुवाद-मात्र। अतः इनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है।

७ धर्मसिंह

जीवनी—इनका वंश, माता-पिता, जन्मस्थान तथा जन्मतिथि अभी तक विदित नहीं हुई। बीकानेर के कृपाचंद सूरि के ज्ञानभंडार में इनकी 'श्रेणिक चौपई' की जो प्रति सुरक्षित है उससे इनका जन्म संवत् १७०० में प्रमाणित होता है। रचनाओं में राजस्थानी के बाहुल्य से इनके राजस्थान निवासी होने तथा धर्मसिंह नाम से कुलीन होने का भी अनुमान किया गया है।[३] इन्होंने १३ वर्ष की अवस्था में श्री जिनरत्न सूरि से जैन-दीक्षा ग्रहण की और धर्मसिंह से धर्मवर्धन कहलाने लगे। विजयहर्ष जी से इन्होंने जैन आगम, व्याकरण, न्याय, वैद्यक आदि विषयों का अध्ययन किया। राजस्थानी के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और गुजराती भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। 'षड्भाषामय पार्श्व जिन-स्तवन' से इनके मागधी, पैशाची, शौरसेनी

---

१ बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ६३।१४१
२ सतसई सप्तक 'वृन्द सतसई', पृष्ठ ११०।५५८
३ 'राजस्थान' वर्ष २ अंक २ (भाद्रपद १९९३ वि०) में श्री अगरचंद नाहटा का 'राजस्थानी साहित्य और जैन कवि धर्मवर्द्धन' शीर्षक निबन्ध देखिये।

गुजराती, अपभ्रंश और सिन्धी भाषाओं से सुपरिचित होने का पता चलता है। ये जीवन भर धर्म प्रचार तथा साहित्य-सर्जन में संलग्न रहे। बीकानेर के महाराज अनूपसिंह तथा सुजाणसिंह, जैसलमेर के रावल अमरसिंह, जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह तथा इतिहास-प्रसिद्ध शिवा जी और दुर्गादास इनके प्रशंसक थे। बीकानेरनरेश ने सं० १७७६ में एक पत्र में इनकी इस प्रकार प्रशंसा की—

'सब गुण ज्ञान विशेष बिराजे कविगण ऊपरि चम ज्यूं गाज।
धर्मसिंह भरसीलन माहि, पंडित मीम्म प्रशंसि सम ताहि ॥'

८० या ८१ वर्ष के वय में इनका देह-पात हुआ।

कृति-परिचय—धर्मसिंह जी के २१ छोटे-मोटे ग्रंथ[1] उपलब्ध हुए हैं जिनमें से नीति के ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

१ गुरु-शिष्य दृष्टान्त छत्तीसी	४ प्रास्ताविक कुंडलिया बावनी
२ विवेक छत्तीसी	५ छप्पय बावनी
३ धर्म बावनी	६ स्फुट पद्य।

उक्त छह रचनाओं में से प्रथम तथा द्वितीय हमें प्राप्त नहीं हो सकीं। शेष चार का विवरण इस प्रकार है।

धर्म बावनी[2]—इस बावनी की रचना धर्मसिंह ने बीकानेर-राज्य के रिणी नगर में संवत् १७२५ में की थी—

'संवत सतरे पचीस कार्तो वदि नौमि दीस,
वार है विमल चंद आनंद वधावनी।
मेर रिणी को निरखि मित ही मिले हुरस
कीनी तहाँ धर्मसीह नाम धर्म बावनी' ॥[3]

प्रश्न होता है जब धर्मसिंह ने अपनी अन्य दो बावनियों के नाम उनमें व्यवहृत छन्दों के अनुसार 'कुंडलिया बावनी' और 'छप्पय बावनी' रखे तब इसका नाम 'कवित्त तथा सवैया' के प्रयोग के कारण 'कवित्त या सवैया बावनी' क्यों नहीं रखा। हमारे विचार में इसके दो कारण हैं। प्रथम इसमें दानपुण्य आदि धर्मकृत्यों से ही जीवन की सफलता मानी गई है उनके अभाव में विफलता। द्वितीय जैसा कि ऊपर उक्त पद्यांश से सूचित होता है उन्होंने इसका नाम अपने नाम पर रखना उचित समझा। प्रथम की अपेक्षा भी द्वितीय कारण प्रबल प्रतीत होता है क्योंकि इति में धर्म की अपेक्षा नीति का प्राधान्य है और वाङ्मय की अपेक्षा जीवन में साहित्य-सेवियों में अपने नाम

---

१ मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १८०
२ धर्म बावनी की हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है।
३ धर्म बावनी, पद्य ५७

को स्थायी रखने की कामना स्वाभाविक होती है। अस्तु।

धर्म-बावनी एक मुक्तक रचना है जिसमें देवनागरी की वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से कवित्त तथा सवैया छन्दों में पद्य-रचना की गई है। इसमें कुल ५७ पद्य हैं। प्रथम पाँच पद्यों में जैन-लेखकों की प्राचीन प्रथा के अनुसार, देव गुरु सरस्वती साधु आदि की वन्दना है। परवर्ती पद्यों में मुनि जी ने दया क्षमा क्रोध मित्र आदि प्रचलित विषयों के अतिरिक्त उग्र नारी कुमटा रीस (स्पर्धा) अनेक दोषों का एक मीठी वाणी से तिरोभाव सब संतोष है अतः किसी का भी परिहास अनुचित है न्यगुण-कथन की अनावश्यकता आदि विषयों पर भी सुन्दर रचना की है।

यह रचना प्रसादपूर्ण अलंकृत ब्रजभाषा में है परन्तु इस पर राजस्थानी का प्रभाव भी यत्र-तत्र लक्षित होता है। रत्न रतन्न वरतन्न आदि शब्दों में चारणों की परिपाटी के अनुसार द्वित्व अक्षरों का प्रयोग भी दुर्लभ नहीं। शब्दचयन सुमधुर है तथा भाषा का प्रवाह प्रशंसनीय है। जैसे—

> छोरि परत्त जु आवत देखि कें आदर देइ कें आसन दीजै।
> प्रीति ही के रस की गुन की सुख की दुख की मिलि बात कहीजै॥
> दूर रहै मित मीठी ही मीठी मौज व मीठी तहाँ मठईजै।
> साच यहै अमलीज कहै मैया चाहु कर तासी बावरी कीजै॥[1]

रचना में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। विदेशी भाषाओं के मौज, सुल्तान आदि कुछ ही शब्द दिखाई देते हैं और वे भी तद्भव रूप में। सुन्दर चुभती हुई कहावतों का सुप्रयोग इस रचना की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। ये कहावतें दो प्रकार की दिखाई देती हैं—१ परम्परागत २ कविकृत। यथा—

१ परम्परागत कहावतें—

(क) वेकाज काज जुरे सब ही जब लाजन पैठी तो यू घट कैसो।[2]

(ख) मीन व मेख कहै भ्रम वेख में कर्म की रेख टरे नहीं टारी॥[3]

१ कविकृत

(क) मूरख को सीख दे के यू ही बल खोवे है॥[4]

(ख) देवै को है एक देव धावे जु रालक है॥[5]

सार यह कि भाव भाषा छन्द अलंकार आदि सभी दृष्टियों से रचना प्रशंसनीय है।

कुंडलिया बावनी[6]—इस बावनी में कुल ५७ कुंडलिया छन्द हैं। अन्तिम कुंडलिया से विदित होता है कि कवि ने इसकी रचना संवत् १७३४ में सोमपुर में की—

---

१ २ धर्म बावनी, पद्य २३ ४४, ४६, ४८, ३४

६ कुंडलिया बावनी की हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में सुरक्षित है। पद्यसंख्या उसी प्रति के अनुसार दी गई है।

प्रस्तावित प्रसिद्ध ठाकुर परोपकार सस्तुतिमें ।
सतरें सै चोतीस वरे विरचे भादोंमें' ॥ [1]

पद्यों की रचना 'धर्म-बावनी' के समान ही वर्णमाला के वर्णक्रम से की गई है। इसमें सप्त व्यसन तथा अन्य प्रसिद्ध विषयों के अतिरिक्त पड़ोस, आठ मद सात कुल-कुल *अन्न-स्वभाव सूँम (कृपण) की सम्पदा* आदि पर भी पद्य मिलते हैं। रचना की भाषा राजस्थानी है परन्तु इसमें धर्म बावनी-सा साहित्यिक सौष्ठव दिखाई नहीं देता। अनेक छन्दों में मात्रा-संख्या के न्यूनाधिक होने से गति भी अविकल नहीं रही। यह बावनी 'धर्म-बावनी' के नौ वर्ष पश्चात् लिखी गई। इसलिए आशा तो यह की जाती थी कि रचना अधिक प्रौढ़ तथा सरस होगी परन्तु बात उलटी निकली। हमारे विचार में इसके दो कारण हैं। प्रथम पहले मुनिवर का ध्यान काव्य-निर्माण पर था परन्तु बाद में लोक-कल्याण मुख्य लक्ष्य हो गया और काव्य रचना गौण। द्वितीय, मुनिवर कवित्त-सवैया की रचना में जितने कुशल थे उतने अन्य छन्दों के निर्माण में नहीं। एक उदाहरण देखिये—

घट नीरोगी सुभ धरमिए धनि नहीं रिए धम वात ।
सुपुत्र सुराज कलत्र सुख धर्मसीह कहै सात ॥
धर्मसीह कहै सात सात सुख वाम न लहुणा ।
दीसे घर में दलित लोक धनि भीने लहणा ॥
कुलहुलि नारी कुपुत्र फिरए परदेस लगे चट ।
सब सौं सुख सातमो पलो, धनि रोग रहै घट ॥ घट नीरोगी०[2]

इन कुंडलियों के विषय में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। हस्तलिखित *प्रति में प्रत्येक कुंडलिया की समाप्ति के पश्चात् मानो टेक के रूप में, कुंडलिया के* प्रथम कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति की गई है। इससे यह अनुमान होता है कि कदाचित् कुंडलियाँ भी पदों के समान गाई जाती थीं।

छप्पय बावनी—राजस्थानी भाषा में लिखित इस बावनी की रचना धर्मसिंह ने संवत् १७५३ में बीकानेर में की। इसमें नीति की बातें सामान्य छप्पयों में कही गई हैं। काव्य सौष्ठव की इसमें भी 'कुंडलिया बावनी' के समान ही कमी है।

फुटकल पद्य—धर्मसिंह के फुटकल नीति पद्यों में उक्त बावनी-युगल की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दरता दिखाई देती है और विषय भी अधिक व्यावहारिक हैं। यथा—

दूर तै पोसाकदार देखिपत सिरदार,
देखि कै कबीला चीर हुँ है कोर पघरा ।
सुमार सुमैस जाए ताको सहु बैन मानें,
थोर्स को धरिहैं तो लपर कहै लपरा ।

---

१ कुंडलिया बावनी, पद्य ४७
२ कुंडलिया बावनी पद्य २५

पीतांबर वेश के समुद्र आप जिनी सुता,
दीनी सिव कन्ह जु जिसीकी हाथ खपरा।
धर्मसी कहै रे मीत ऐसी है संसार रीति
एक पूर आवमो हजार पूर खपरा ॥[1]

धर्मसिंह की जिन चार रचनाओं का परिचय ऊपर प्रस्तुत किया गया है उनके आधार पर सार रूप में यह कहा जा सकता है कि धर्मबावनी और फुटकल पद सुन्दर रचनाएँ हैं और शेष दो सामान्य। निस्संदेह हिन्दी-जगत् को जैन मुनि का कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने अपनी सरस रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का संवर्धन किया।

८. जिनरंग सूरि

जैन मुनि जिनराज सूरि के शिष्य जिनरंग जी का दीक्षाग्रहण से पूर्व का नाम रंग विजय था। इन्होंने विक्रम की अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रबोध बावनी, सौभाग्य पंचमी चौपाई और रंग बहुत्तरी (दूहाबंध बहुत्तरी) की रचना की। अमुद्रित रंगबहुत्तरी की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय[2] में मिली। कृति में बहत्तर दोहे हैं जो अध्यात्म तथा नीति का प्रतिपादन करते हैं। संतों की साखियों के समान प्राय प्रत्येक दोहे में कवि की छाप 'जिनरंग' विद्यमान है। कृति में जगत् की माया, ममत्व-त्याग, ज्ञानी, कपटी और स्त्री का मन, पंथ, प्रेमहीन मनुष्य की पशुतुल्यता, यशस्वी जीवन की ही प्रशंसनीयता, मानवीय प्रकृति की अपरिवर्तनशीलता, काँटे से भी बैर करता हुआ भोजन, धन तथा रमणी से तृप्ति की असम्भवता आदि अनेक विषयों पर ब्रजभाषा में दोहा-रचना की गई है। कहीं-कहीं राजस्थानी का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। रचना सामान्य कोटि की है परन्तु कुछ दोहे मौलिक तथा अच्छे हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

जिनरंग रोटी-मित्र को बीज रोटी बीठ।
वचन मित्र का वचन दे, बीठ मित्र को पीठ ॥
ससनेही बंधन परे निसनेही को मोय।
सिर के पल को बाँधिये, नेहु पर्यौ का सोय ॥
साप रह्यो साप्यों गयो, फिर कर लाया होय।
साप रह्यो साप्यो गयो जाय न सप्यो कोय ॥
जिनरंग मीठी गरज है, अवर न मीठी कोय।
जब निकसी है गीजना, रासभ आदर होय ॥[3]

---

१ धर्मसिंह के फुटकल पद हस्तलिखित रूप में अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में सुरक्षित हैं।

२ प्रति संख्या ८०७०, पत्र-संख्या २

३ प्रति संख्या ८०७०, दोहा संख्या ११, १९, ४०, ५९

१९ बालचंद

इन का दीक्षानाम विनयलाभ था और साहित्यिक उपनाम 'बालचंद'। ये खरतरगच्छ के उपाध्याय विनय प्रमोद पाठक के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में मौलिक और अनुवादात्मक दोनों ही प्रकार के ग्रंथों की रचना की। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

१ वैदराज वच्छराज चौपाई (मुलतान सं० १७३०)
२ सिंहासन बत्तीसी चौपाई (फलोधी, जोधपुर सं० १७४८)
३ भर्तृ शतक का हिन्दी पद्यमय अनुवाद
४ पार्श्व भक्तामर (संस्कृत में प्रकाशित है)
५ सवैया बावनी।

सवैया बावनी—सवैया बावनी की हस्तलिखित प्रति[1] के अध्ययन का अवसर बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में प्राप्त हुआ। प्रति पूर्ण है और चार पत्रों पर लिपिबद्ध है परन्तु उसके कई पन्ने खंडित हैं। काव्य का नाम 'सवैयाबावनी' है परन्तु उसमें कवित्त भी विद्यमान हैं। पद्यों की रचना वर्णमाला के अक्षर क्रमानुसार की गई है। वर्ण्य विषयों में तो विशेष नवीनता नहीं दिखाई देती परन्तु कवि की कथन-शैली अपनी है। भाषा मधुर सानुप्रास तथा प्रवाहपूर्ण है और उसमें राजस्थानी के शब्द कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं। साधारणतः जैन मुनियों की रचनाओं में इतनी सरसता और मधुरता दिखाई नहीं देती जितनी इस बावनी में लक्षित होती है। अधिक क्या कहें रचना हिन्दी नीतिकाव्य का एक रत्न है। एक पद्य द्रष्टव्य है—

फल फूल सुरूप सुगंध भले तब देखत ही मन मैन हरे हैं।
पनस के फल फूल न होत तऊ नित शीतल छांह करे हैं।
जिनके फल फूल न छांह नहीं अरु पंथिन को मन नाहिं हरे हैं।
'बालचंद' कहै बिधना नर कूं अब ता तरु कुं रचि काहि करे हैं॥[2]

२० अक्षर अनन्य

अक्षर अनन्य का जन्म दतिया राज्य की सेंहुड़ा तहसील के सेंहुड़े ग्राम में कायस्थ-कुल में लगभग १७१० वि० में हुआ था। ये योग और वेदान्त के विद्वान् थे तथा सेंहुड़ा-नरेश पृथ्वीचंद के मंत्री और गुरु। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इनके पन्ना नरपाल छत्रसाल के पास जाने तथा उनसे रूठकर जंगल में चले जाने की जो घटना लिखी है वह ठीक नहीं।[3] तथ्य यह है कि छत्रसाल ने इन्हें निमंत्रण तो भेजा था परन्तु ये वहाँ नहीं गये। हाँ राजा पृथ्वीचंद से ही रूठकर जंगल में चले गये थे।

---
१ प्रति संख्या ८०८०
२ सवैया बावनी पद्य ४४
३ रामचंद्र शुक्ल हि० सा० इ०, २००६ वि० पृष्ठ ३१

इन्होंने योग और वेदान्त पर कई ग्रंथ लिखे थे और दुर्गासप्तशती का हिन्दी पद्यों में अनुवाद किया था।[1]

इनके 'निर्धार शतक' में केवल १०८ दोहे हैं और प्रत्येक दोहे का चतुर्थ चरण 'कहि अनन्य निर्धार' है। पुस्तक में जहाँ धर्म अध्यात्म वेदान्त तथा ज्ञान की बातें हैं, वहाँ नीति की भी न्यूनता नहीं। साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखती हुई भी रचना उपेक्ष्य नहीं है। दो दोहे देखिए—

मारी तज मन तप कर, तप तज करै जु मार।
ए दोनों नरकहिं परै, कहि 'अनन्य' निर्धार॥
नारी बिन पेही दुखी द्रव्य बिना परिवार।
ग्यान बिना तपसी दुखी, कहि अनन्य निर्धार॥[2]

११ देवीदास

करौली के राजकवि देवीदास के सम्बन्ध में शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि ये बुंदेलखंड के निवासी थे और सं० १७१२ में उत्पन्न हुए थे। अनेक सुकाव्यों की रचना करने के बाद ये सं० १७४२ में करौली-नरेश रतनपालसिंह की सभा में चले गये और जीवनपर्यन्त वहीं रहे।[3] इनकी तीन रचनाएं उपलब्ध हुई हैं—प्रेमरत्नाकर, दामोदर लीला और राम-नीति।[4] जयपुर के स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण जी के 'विद्याभूषण पुस्तकालय' में हमें 'प्रेमरत्नाकर' की हस्तलिखित प्रति[5] के अध्ययन का अवसर मिला। उक्त प्रति पुरोहित जी ने सं० १९८४ वि० में फुलस्केप आकार के २० पृष्ठों पर लिपिबद्ध कराई थी। काव्य की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि कवि ने इस काव्य की रचना महाराज कुमार रतनपाल की प्रेरणा से की थी।[6]

'प्रेमरत्नाकर' केवल प्रेम-विषयक नीति का प्रतिपादन करने के लिए रचा गया है। कवि के अनुसार प्रेम मन की उस दशा का नाम है जिसमें प्राणी आत्मा तथा देह के सब नियम विस्मृत कर प्रियतम में मग्न हो जाता है। लक्ष्य करने की बात तो यह है कि कवि ने पारमार्थिक प्रेम के समान ही सांसारिक प्रेम को भी मोक्षप्रद कहा है—

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२, अंक १ अषाढ़-श्रावण सं० २००४, पृष्ठ ३७-४१

२ ना० प्र० प०, अषाढ़-श्रावण २००४ पृष्ठ ३८, ३९

३ शिवसिंह सरोज प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण पृष्ठ ३६६

४ मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य पृष्ठ १६९

५ प्रेमरत्नाकर, प्रति संख्या ३३५२ (१)

६. "इति श्रीमन्महाराज कुंवर मधुर्वसानतस श्री भया रतनपाल जू विरंचते प्रेमरत्नाकरे पचमतरंग ॥५॥ इति प्रेमरत्नाकर सम्पूर्ण। (वही पुष्पिका)

संसारी परमार्थी इहिविधि को यह प्रेम।
दूहूं भाँति की हेतु है महानुभिन्न को छेम ॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांसारिक प्रेम के विषय में इनका मत संतों तथा भक्तों के तो विरुद्ध है परन्तु सूफी कवियों से मिलता-जुलता है। गणपति तथा सरस्वती की प्रणति के पश्चात् कवि ने दूहा कवित्त सवैया अरिल्ल आदि छन्दों में 'साधु का प्रेम परमेश्वर सौं' 'सती का प्रेम पति सौं' आदि शीर्षक देकर अनेक प्रेमियों की मनोदशा का सुन्दर चित्रण किया है। यहाँ कवि ने परम्परा के अनुसार चातक चकोर, मीन, भ्रमर आदि की मेघ चंद्र जल मधु आदि के प्रति अनन्य अनुरक्ति की अभिव्यक्ति की है। यहाँ कुछ ऐसे प्रेमियों का भी वर्णन किया है जिनकी चर्चा साहित्य में क्वाचित् क्वचित् ही दिखाई देती है जैसे 'मरकट को प्रेम मूठी सौं' 'मकरी को प्रेम तपा सौं' 'समुद्र को प्रेम बड़वाग्नि सौं' 'सुगंध को प्रेम पवन सौं' आदि। एक अन्य विशेषता यह है कि रीतिकालीन प्रेमविषयक रचना होने पर भी प्रेमरत्नाकर वासना के कर्दम से सर्वथा अस्पृष्ट रहता हुआ निमरा प्रेम के लिए सर्वस्व के उत्सर्ग की शिक्षा देता है।

कवि का भाषा तथा अलंकारों पर अच्छा अधिकार है। अनुप्रासमयी और मधुर भाषा लिखने में कवि विशेष निपुण है। लक्षण तो प्रायः दोहों में उपन्यस्त हैं और उदाहरण बड़े छन्दों में। यद्यपि विषय प्रेम है तथापि व्यंजना-वृत्ति तथा कल्पना की कमी और वर्णनात्मकता की अधिकता के कारण रचना आशानुरूप सरस नहीं बन पड़ी। कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

परे लाट की मार में पारस भयो सुनार।
कढ़े सीस हू सुर के मुख तें निकस भार ॥[2]

प्रेम समुद्र के मरजीो (या) कवित्त

साधु सब सती सूर चातक चकोर मीन
मधुप मराल पेम-पथ ही के पीवा हैं।
मरकट मकरी कुरंग और कारे नाग,
प्र भपंग स पिपार मदिम पी वीया हैं।
देवीदास दादुर पतंग नेह सीप सूंनु
कुम-क को पारावत प्रेम दाह छीवा हैं।
कमल सुगंध नाग सुरज पर्पत आदि
प्रेम रतनाकर के एते मरजीवा हैं ॥[3]

संग्रह-ग्रन्थों में इनके नीति-विषयक सुन्दर स्फुट पद्य भी प्राप्त होते हैं और कहीं-कहीं तो वे भक्तिकालीन सोनागंगी के गुणगरण के मनी देवीदास के पदों में घुल-मिल गये हैं। एक कवित्त द्रष्टव्य है—

१ १ वही पृष्ठ १११, ४।१२ ११४

ए रे मूढ़ी मूढ़ पाइ चातुरी निपुण पाइ,
कीजिये न मैंसो मन काहूं को काहू करी।
बादल दिखावे हार मये को यही सुभाव
मान अपमान काहू रे करी कि घू करी॥
सूर और कवि इसे बाल हैं सभा के मध्य,
सो सौं सो हटकि 'बेनीदास' बलदू करी।
बरबाजे पत्र ठाढ़े चूकरी सभा के मध्य
चूकरी सो चूकरी पी तु दरी सो तु दरी॥[1]

१४ केशवदास जैन

ये कवि खरतरगच्छ के मुनि लावण्यरत्न जी के शिष्य थे और इनका दीक्षा-नाम कुशल सागर था। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हैं—१ केशव बावनी २ वीरभाण उदयभान रास। द्वितीय कृति की रचना सं० १७४५ वि० में मर्त्ता नगर में की गई थी इसलिए इनका स्फुरण-काल १८वीं शती है। उक्त दो पुस्तकों में 'केशव बावनी' नीतिकाव्य है। इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में देखने का अवसर मिला।[2] प्रति पूर्ण है और पांच पत्रों पर लिपिबद्ध है। ५७ पद्यों की इस कृति के अन्त में कवि ने रचना-संवत् १७३६ और निर्माण-स्थान 'पच्छाप' गाँव का उल्लेख किया है—

बावन अक्षर जोर करी मैंसा पाँच पच्छाप ही में मन भावे।
छत्तर सोल छत्तीस को आवण सूर पांचु चूपुवार कहावै॥[3]

पुस्तक में धर्म दान परोपकार, मूर्ख के लक्षण आदि अनेक विषयों का वर्णन तो है ही भाग्य की अक्षय रेखा पर बहुत बल दिया गया है। आलंकारिक छटा की न्यूनता में भी सुन्दर भावों तथा प्रवाहपूर्ण भाषा के कारण यह कवित्त-सवैया-मयी रचना अच्छी बन पड़ी है। रचना का निदर्शन देखिए—

ईह के चाहत है कौन भामण होय न होय तोउ रस दीजै।
आस नेराश न कीजीए धस्सम पुस्तम होई के काम हूं कीजे।
जीवन में उपगार करो पीड, योवन पी सब हाथ पसीज।
भाग्य को भय दाय के 'केशव' यों कबू राम दिखावे सो दीजै॥[4]

१३ गोपाल धानक

कवि परिचय—कवि गोपालदास के पिता का नाम गंगाराम था और पुत्र का

---

१ शिवसिंह सरोज पृष्ठ १९२
२ प्रति संख्या ८०४७
३-४ केशव बावनी, पद्य ५।५७, ११६

माखनलाल। गोपालदास और माखनलाल दोनों ही कवि रतनपुर (बिलासपुर, मध्य प्रदेश) के राजा राजसिंह के आश्रय थे। राजसिंह का शासनकाल सं० १७५६-७६ तक था अतएव गोपाल और माखन का काव्य-काल अठारहवीं शती विक्रमी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर भी कुछ ग्रंथों की रचना की। माखनलाल पितृभक्ति के कारण अपनी रचनाओं के अन्त में पिता का नाम ही निर्दिष्ट कर देते थे इसलिए निर्विवाद रूप से यह कहना कि कौन ग्रंथ पिता का है और कौन पुत्र का कठिन है। फिर भी निम्नांकित काव्य गोपालदास-विरचित माने जाते हैं—१ वीरशतक २ नीतिशतक ३ पुष्पशतक ४ कर्मशतक ५ विनोदशतक ६ शृंगार शतक।[1]

कृति परिचय—उपर्युक्त छह काव्यों में से विनोदशतक का विषय राधा-कृष्ण का प्रेमविनोद है और शृंगारशतक का नायिका-भेद, इसलिए इनकी चर्चा छोड़ शेष चार नीति-काव्यों का ही परिचय प्रस्तुत करना उचित होगा।

१ वीर शतक—इस काव्य की पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित है।[2] काव्य पूर्ण है परन्तु पद्य-संख्या केवल १८ है। काव्य का प्रारम्भ कवि ने 'अनुकूल्यान कर पार्टी' श्री राम की वन्दना से किया है। इसके बाद उसने आश्रयदाता श्री हैहय कुलकमलप्रकाश भास्कर प्रताप राजा राजसिंह 'चूड़ामणि' की प्रशंसा की है। कवि ने तीन प्रकार के वीर धर्मों का उल्लेख किया है—सात्विक राजस और तामस। सात्विक वीर धर्म का पालन करने वाले नरेश स्वर्ग-सुखों को राजस धर्म के पालक ऐंद्रिक भोगविलासों को और तामस-धर्म पर आचरण करने वाले नारकीय दुखों को प्राप्त करते हैं। प्रायः वीर रस के चार भेद माने जाते हैं—दानवीर धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। परन्तु पं० जगन्नाथ ने सत्यवीर पाण्डित्य-वीर क्षमावीर और बलवीर को भी वीर रस के भेदों में परिगणित किया है। गोपाल चारण ने क्षमा वीर तथा बलवीर को छोड़ शेष छह भेदों को स्वीकार कर उनके उदाहरणों में ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख किया है। काव्य के अन्त में कवि ने ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है। वीर रस प्रधान इस काव्य की भाषा प्रसाद पूर्ण और ओजस्वी है। काव्य में कवित्त छप्पय दोहा और चौबोला छन्दों का व्यवहार किया गया है। अनेक पद्यों में 'अरध्र रूप' तथा सालंकार का प्रयोग पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

बल के दले तें सुरवीर के दलें ते
पर बीस के गर्जे तें सेनापति वल दूत हैं।

१ कवि के विस्तृत परिचय के लिए दिसम्बर १६१४ की 'हितकारिणी' में पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय का निबन्ध देखिये।
२ सभासार प्रति-सं० ६६१।८७६

स्थापित सहेत जीत जीत पुरुषेत खेत
जोगिन अघावें जावें भरी अदभूत हैं।
भारे भुजदडन के दंड-भूल मडन फ
बहुत 'जोरावर कवि' कीरति अकूत हैं।
धन्य राजा पत्र धन्य धन्य बहु पंच साज
धन्य धन्य राजा धन्य धन्य राजपूत हैं।[1]

२ कीर्ति शतक—इस काव्य की पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के सभा-संग्रह में देखने को मिली।[2] नौ पत्रों की यह प्रति है जो पूर्ण परन्तु पद्य-संख्या केवल ८२ है। प्रारम्भ में नारायण ब्रह्मा शंकर का तथा विष्णु के राम कृष्ण नृसिंह आदि अवतारों का कीर्तिगान किया गया है। पुस्तक के पूर्वार्द्ध में कीर्तिमान् के जीवन की सफलता कीर्ति की प्राप्ति तथा नाश के कारण कीर्ति की अप्राप्ति के हेतु, कविकोविदों द्वारा वर्णित व्यक्तियों की ही कीर्ति की स्थिरता क्षात्रधर्म की दुष्पालयता आदिक कीर्ति-सम्बन्धी विषयों पर काव्य रचना की गई है। उत्तरार्द्ध में कीर्तिमान् राजाओं के लक्षण आदि का वर्णन है। कवि के मतानुसार कीर्ति के अभिलाषी नरेश में जो १२ गुण होने चाहिए उनमें से कुछ ये हैं—कुलधर्म-पालन शील स्वास्थ्य सौन्दर्य गुणग्राहकता दाक्षिण्य सारसंग्रह अल्पाहार इन्द्रियजय गुरुभक्ति तथा परदार-परित्याग सत्यपोषण आदि। कवि ने अमर हुए अमर कीर्ति के भागी ध्रुव प्रह्लाद सगर, भगीरथ नल हरिश्चन्द्र राम हनुमान आदि अनेक व्यक्तियों की चर्चा की है। काव्य में सवैया कवित्त दोहा और चौबोला छन्दों का प्रयोग किया गया है। चौबोला छन्दों में तुक या अन्त्यानुप्रास चारों चरणों में न होकर प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों में ही है। अनेक स्थलों पर कवि ने व्याख्यात्मक शैली का व्यवहार किया है अर्थात् पहले दोहे में प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख-मात्र कर बाद में उस पर सुन्दर कवित्त या सवैया लिखा है। 'खूब तमासा देखा' इस कृति के भी अनेक पद्यों में विद्यमान है। रचना अच्छी है। एक उदाहरण लीजिए—

कौन करे परमारथ जो अब स्वारथ पेट भरो पर सोयो।
खगत ज्ञानविहीन कियो अति पापन बीज यहै फिरि बोयो।
सोहु किये न भई सुख-सम्पति राज मिले न भिखारिन रोयो।
कीरति की करनी न कर यह मानुष जन्म अकारथ खोयो॥[3]

३ धर्मशतक—६१ पद्यों के इस 'शतक' की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी में विद्यमान है।[4] प्रति पूर्ण है और प्राय छप्पय चौबोला कवित्त

१ धीरशतक, पद्य ९
२ प्रति संख्या ६६०।७७६
३ कीर्तिशतक पद्य १०
४ सभासंग्रह प्रति-संख्या ६६४।७७६

माखनदास। गोपालदास और माखनदास दोनों ही कवि रतनपुर (बिलासपुर, मध्य प्रदेश) के राजा राजसिंह के याचक थे। राजसिंह का शासनकाल सं० १७५६-७६ तक था अतएव गोपाल और माखन का काव्य-काल अठारहवीं शती विक्रमी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर भी कुछ ग्रंथों की रचना की। माखनदास पितृभक्ति के कारण अपनी रचनाओं के अन्त में पिता का नाम ही निर्दिष्ट कर देते थे इसलिए निर्विवाद रूप से यह कहना कि कौन ग्रंथ पिता का है और कौन पुत्र का कठिन है। फिर भी, निम्नांकित काव्य गोपालदास-विरचित माने जाते हैं—१ वीरशतक २ नीतिशतक ३ पुष्पशतक ४ धर्मशतक ५ विनोदशतक ६ शृंगार शतक।[1]

कृति परिचय—उपर्युक्त छह काव्यों में से विनोदशतक का विषय राधा-कृष्ण का प्रेमविनोद है और शृंगारशतक का नायिका-भेद, इसलिए इनकी चर्चा छोड़ शेष चार नीति-काव्यों का ही परिचय प्रस्तुत करना उचित होगा।

१ वीर शतक—इस काव्य की पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित है।[2] काव्य पूर्ण है परन्तु पद-संख्या केवल १८ है। काव्य का आरम्भ कवि ने धनुषबान कर धारी श्री राम की वन्दना से किया है। इसके बाद उसने आश्रयदाता श्री 'हैहय कुलकमलप्रकाश भास्कर प्रताप राजा राजसिंह चूड़ामनि' की प्रशंसा की है। कवि ने तीन प्रकार के वीर-धर्मों का उल्लेख किया है—सात्त्विक राजस और तामस। सात्त्विक वीर धर्म का पालन करने वाले नरेश स्वर्ग-सुखों को राजस धर्म के पालक ऐश्वर्य व भोगविलासों को और तामस-धर्म पर आचरण करने वाले नारकीय दुःखों को प्राप्त करते हैं। प्रायः वीर रस के चार भेद माने जाते हैं—दानवीर धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। परन्तु पं० जगन्नाथ ने सत्यवीर, पाण्डित्य-वीर क्षमावीर और बलवीर को भी वीर रस के भेदों में परिगणित किया है। गोपाल कवि ने क्षमा वीर तथा बलवीर को छोड़ शेष छह भेदों को स्वीकृत कर उनके उदाहरणों में ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख किया है। काव्य के अन्त में कवि ने ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है। वीर रस प्रधान इस काव्य की भाषा प्रसाद पूर्ण और ओजस्वी है। काव्य में कवित्त छप्पय दोहा और चौबोला छन्दों का व्यवहार किया गया है। अनेक पद्यों में 'भग्न पुष्ट समास' वाक्यदोष का प्रयोग पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए—

अंग के दर्जे तें सुरवीर के दर्जे ते,
पद पौन के दर्जे तें सिपाही मन धूत हैं।

---

१ कवि के विस्तृत परिचय के लिए सितम्बर १९१४ की 'हितकारिणी' में पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय का निबन्ध देखिये।

२ सभालेख ग्रंथ-सं० ६९३।८०१

स्यामित सहेत बीत बीत गुरुपेत सेत,
जोगिन जगावे माचे भैरों भयभूत हैं।
भारे भुजदंडन के पत्र-पुत्र सकल कि
अद्भुत गोपाल कवि कीरति अपूत हैं।
धन्य राजा धन्य धन्य धन्य यह पस ताज
धन्य धन्य राजा धन्य धन्य राजपूत हैं।[1]

२ कीर्ति शतक—इस काव्य की पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के सभा-संग्रह में देखने को मिली।[2] सौ पदों की यह प्रति है तो पूर्ण परन्तु पद-संख्या केवल ८८ है। आरम्भ में नारायण ब्रह्मा शंकर का तथा विष्णु के राम कृष्ण नृसिंह आदि अवतारों का कीर्तिगान किया गया है। पुस्तक के पूर्वार्द्ध में कीर्तिमान् के जीवन की सफलता कीर्ति की प्राप्ति तथा नाश के कारण कीर्ति की अप्राप्ति के हेतु, कविकोविदों द्वारा वर्णित व्यक्तियों की ही कीर्ति की स्थिरता आपधर्म की दुष्प्राप्यता आदिक कीर्ति-सम्बन्धी विषयों पर काव्य रचना की गई है। उत्तरार्द्ध में कीर्तिमान् राजाओं के लक्षण आदि का वर्णन है। कवि के मतानुसार कीर्ति के अभिलाषी नरेश में जो १२ गुण होने चाहिए उनमें से कुछ ये हैं—कुलधर्म-पालन धीरता स्वास्थ्य सौन्दर्य, गुणग्राहकता दारस्नेह शास्त्रज्ञ अल्पाहार इन्द्रियजय गुरुभक्ति दया परदार-परित्याग रहस्यगोपन आदि। कवि ने प्रसंगवश अमर कीर्ति के भागी ध्रुव प्रह्लाद, दधीचि, भगीरथ नल हरिश्चन्द्र राम हनुमान आदि अनेक व्यक्तियों की चर्चा की है। काव्य में सवैया कवित्त दोहा और चौबोला छन्दों का प्रयोग किया गया है। चौबोला छन्दों में तुक या अन्त्यानुप्रास चारों चरणों में न होकर प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों में ही है। अनेक स्थलों पर कवि ने व्याख्यात्मक शैली का व्यवहार किया है अर्थात् पहले दोहे में प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख-मात्र कर बाद में उस पर सुन्दर कवित्त या सवैया लिखा है। 'पूर्व तमाशा देखा' इस कृति के भी अनेक पदों में विद्यमान है। रचना अच्छी है। एक उदाहरण लीजिए—

कौन करे परमारथ को पथ स्वारथ पेट भरो पर सोयो।
खगत ज्ञानविहीन कियो अति आपन बीज यहै फिरि बोयो।
सोइ कियो न बढ़े सुख-संपति राय मिले न मिलायिन रोयो।
कीरति की करनी न करै कछु मानुष जन्म अकारथ खोयो॥[3]

३ धर्मशतक—११ पदों के इस 'शतक' की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी में विद्यमान है।[4] प्रति पूर्ण है और प्रायः छप्पय चौबोला कवित्त

---

१ वीरशतक पद ५
२ प्रति संख्या ६६०।४७६
३ कीर्तिशतक, पद १०
४ सभासंग्रह, प्रति-संख्या ६६३।४७६

और दोहा छन्दों में लिखित है। प्रारम्भिक पद्यों में कर्मों के महत्व का प्रतिपादन अवश्य है परन्तु कवि का मुख्य उद्देश्य पाठकों को काम क्रोध आदि विकारों से हटाना है। यद्यपि कवि ने अनेकत्र भवितव्यता को कर्म के अधीन कहा है परन्तु कर्मों के महत्त्व पर इतना बल लक्षित नहीं होता जितना कर्मों के अनुसार बने हुए भाग्य की रेखाओं के अमिट होने पर।[1] प्राचीन परम्परा के अनुसार सत्ययुग आदि युगों का भी कर्मों से संबंध बताया गया है। अन्य युगों में तो सत्य प्रबल था परन्तु वह क्रमशः क्षीण होता गया और इस कलियुग में तो अनृत का ही प्राधान्य हो गया है। सांग रूपकों का प्रयोग इस काव्य की एक उल्लेख्य विशेषता है। कलियुग में पाप राजा है कामदेव सेनापति है तरुणी-कटाक्ष बाण हैं क्रोध दीवान है और चिन्ता रानियाँ हैं और निंदा तथा दुर्मति उसकी सखियाँ। आरम्भ में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करने के बाद कवि संवादात्मक शैली का आश्रय लेता है। कलियुग काम क्रोध आदि क्रमशः अपने महत्त्व का वर्णन करते हैं। कामाग्नि से बचाने के लिए कवि ने जिन पद्यों में उनके स्वरूप का वर्णन किया है उन पर रीतिकाल का शृंगारिक प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस प्रकार आरम्भ में कर्मों का महत्त्व तथा मध्य में पापों की प्रबलता दिखाकर कवि अन्त में सुकर्मों की विजय का उल्लेख कर इस रचना को समाप्त करता है। इस काव्य पर कृष्णमिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के भावों तथा शैली का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। रचना सुन्दर है परन्तु व्यावहारिक की अपेक्षा उपदेशात्मक अधिक है। एक उदाहरण लीजिए—

मीन मृग हारे बीन संगत बिचारे, वैधि
भग कजरारे भारे भासिनि मतवारे हैं।
सुन्दर उरोज मिष सीसे के सरोज मानो,
मोरचा मनोज महा मोह के भुहारे हैं।
बेधि बेधि डारे हाव भावन के बानन सों
बानन सो आँखि कौन तपी तप धारे हैं।
काहि कन्द भाजन कों भूलि भूलि भाजन कों
कहा कर ज्ञान बीच रामभि बिचारे हैं॥[2]

४ पुण्यफलदल—नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित इस 'शतक' की हस्तलिखित प्रति[3] पूर्ण है परन्तु उसमें कुल पद्य केवल २७ हैं। प्रति पाँच पत्रों पर लिपिबद्ध है और उसमें त्रिभंगी छप्पय चौपाई कवित्त तथा दोहा छन्दों का व्यवहार किया गया है। यज्ञ दान दया तथा परोपकार सत्यभाषण आदि कार्यों का शास्त्रीय

---

१ कर्मशतक, पद्य ६
२ वही पद्य ४४
३ ग्रन्थसंग्रह प्रति संख्या ११२।४७६

परिभाषा में पुण्य कहा जाता है। शतक के आरम्भ में कवि ने पुण्याचरण के सुफल तथा पुण्यात्माओं के महत्त्व का वर्णन किया है। इसके बाद उस काल में दृश्यमान पापों के प्रचार तथा पुण्यों की क्षीणता पर खेद प्रकाशित किया गया है। प्राचीन काल के अनेक पुण्यात्मा नरेशों की महिमा का बखान करने के पश्चात् कवि समसामयिक भूपालों की उच्छृंखलता का वर्णन करता है और अंत में अपने आश्रयदाता के पुण्यमय शासन की स्तुति से ग्रंथ का पर्यवसान कर देता है। जैसा कि नाम से ही संकेत मिलता है कवि का उद्देश्य पाठकों को विशेषतः नरेशों को अनीति के मार्ग से हटा कर पुण्य-पथ पर प्रतिष्ठित करना है। यही कारण है कि वह देशानुकूल आचरण तथा अथवा भक्ति करने का उपदेश देना भी नहीं भूला है। भाषा स्वच्छ सरल मधुर प्रवाहपूर्ण है। एकाध स्थल पर तो वह रसखान की भाषा से प्रभावित दिखाई देती है।[1] 'पूत तमासा सभ्य और सभ्य पूत तमासा' वाक्यांशों का प्रयोग अनेकत्र दृष्टिगत होता है। कर्मशतक के समान इसमें भी विभिन्न गुणों का परस्पर सद्भाव पाया जाता है। रचना तो अच्छी है परन्तु इसमें नीति की अपेक्षा उपदेशात्मकता अधिक है।

> पुण्य प्रबल जिहि होत दाहिने, ताहि दुस्तर न कोई।
> तीन लोक पर अमल जमाव, जो चाहै सो होई।
> दिन-दिन बढ़ै घटै नहि कबहूँ, जो दिल में कोई रव्य।
> पूजी करै पलक में मकुआ पूत तमासा सभ्य।।[2]

समीक्षा—यद्यपि गोपाल नामक ने नीति के चार शतकों की रचना की है तथापि उन्हें जनता का नीति-कवि कहने का साहस नहीं होता। वे राजाश्रित कवि थे और इसीलिए कर्मशतक से भिन्न सभी कृतियों के अध्ययन से ऐसा लगता है जैसे वे मुख्य रूप से राजाओं के लिए लिख रहे हैं जनसाधारण के लिए नहीं। वीरता कीर्ति तथा बड़े-बड़े पुण्य कार्यों का सम्बन्ध जितना शासक-वर्ग से होता है उतना जन सामान्य से नहीं। ऐसा होते हुए भी उनके काव्य वीर, कीर्तिमान् तथा पुण्यशील बनने की अधिक प्रेरणा पाठक मात्र को प्रदान करते ही हैं। उनका कर्मशतक सर्वसाधारण के लिए अधिक उपयोगी लगता है परन्तु उसमें कर्मठता की वह प्रेरणा नहीं जो मानव में अपने को अपना भाग्यविधाता मानने का विश्वास जगाए। इस प्रकार गोपाल ने मुख्यतः चार विषयों पर रचना की—वीरता कीर्ति पुण्य और कर्म (भाग्य)। ये सभी विषय निस्संदेह नवीन नहीं हैं तथापि त्रिविध वीर धर्म कीर्तिमान नृप के १२ गुण आदि अनेक नवीन बातों का भी उल्लेख कवि ने किया है।

इनकी कृतियों में वीर तथा शान्त रस और दया उदारता, क्षमा धैर्य आदि भावों की व्यंजना सम्यक हुई है। इन्होंने चारों काव्यों में स्वच्छ तथा मधुर ब्रजभाषा

---

१ पुण्यशतक, पद्य १०

२ वही, पद्य २

का प्रयोग किया है जिसमें फौज, तमाशा, तेग आदि विदेशी शब्द अपने प्रचलित रूप में ही प्रयुक्त किये गए हैं। 'धूम तमाशा' शब्दों का प्रयोग अनेकत्र दिखाई देता है।

विधान की दृष्टि से ये चारों काव्य मुक्तक हैं किन्तु जहाँ विभिन्न मुक्तकों का परस्पर संबंध दिखाई देता है वहाँ निबन्ध की कुछ झलक दिखाई दे जाती है। सर्वाधिक खटकने वाली बात तो है इनकी शतक-संज्ञा। एक भी काव्य ऐसा नहीं है जिसमें पद्य-संख्या शत या कुछ अधिक हो। चार शतकों की कुल पद्य-संख्या २०८ है जिनमें से अधिकतम संख्या ८२ है और न्यूनतम २७। अनुमान है कि उन दिनों 'शतक' शब्द का प्रयोग संग्रह-मात्र के अर्थ में भी कहीं-कहीं प्रचलित हो गया होगा और तदनुसार गोपाल चारण ने भी उक्त संग्रहों को 'शतक' संज्ञा दे दी होगी। इन काव्यों में मुख्य रूप से तथ्यनिरूपक, उपदेशात्मक, संवादात्मक, ऐतिहासिक तथा व्याख्यात्मक शैलियों का प्रयोग ही अधिक हुआ है।

अलंकार-प्रयोग पर कवि का ध्यान नहीं है फिर भी जो अलंकार स्वभावतः प्रयुक्त हुए हैं उनमें वृत्त्यनुप्रास, वीप्सा, उपमा और रूपक उल्लेख्य हैं। गुणों में प्रसाद तो सर्वत्र विद्यमान है और ओज तथा माधुर्य दोनों यथा-स्थान प्रयुक्त हुए हैं।

अन्त में कह सकते हैं कि गोपाल चारण ने उक्त चार सुन्दर शतकों द्वारा हिन्दी के नीति-काव्य की श्री-वृद्धि में स्तुत्य योग दिया है।

१४ रघुराम

रघुराम नागर कवि के 'सभासार नाटक' की हस्तलिखित प्रति[1] हमने बीकानेर में देखी। नाटक के आरम्भ में कवि ने जो आत्म-परिचय दिया है उससे विदित होता है कि ये गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद नगर के सारंगपुर मुहल्ले में निवास करते थे और उन्होंने सम्वत् १७५७ वि० में इस नाटक की जिसे आधुनिक दृष्टि से काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा रचना की—

सतर से सत्तावन चैत्र तीज गुरुवार।
असित उजल कजल सुमति, कवि किय ग्रंथ विचार॥[2]

कवि ने नाटक के अंत में एक छप्पय द्वारा इसके श्रवण से होने वाले लाभों का जो उल्लेख किया है उससे रचना के तीन उद्देश्य सम्यक् स्पष्ट हो जाते हैं—हृदय के फाटक खुलना, बुद्धि-बल का विकास तथा पूर्ण ज्ञान का मन में संचार।

उक्त नाटक अप्रकाशित रूप में विद्यमान है तथा १४ पत्रों पर लिपिबद्ध है। कुल पद्य १२९ हैं जो कि मालिनी, छप्पय, चौपाई, दोहा, सोरठा और सवैया (कवित्त)

१ मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बस्ता-नं० ७, प्रति-संख्या ख १९८ (इसकी एक अन्य पुस्तक 'नाम दिवान खाने' का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट भाग १ (सं० १९८०) में किया गया है।)

२ वही पत्र १ पद्य ११॥

छन्दों में निबद्ध है। उक्त प्रति के प्रतिलिपिकार रायसिंह थे जिन्होंने सम्वत् १८५६ में बिरिंग गाँव में नाटक को लिपिबद्ध किया।[1] हस्तलिखित प्रति में शब्दों के रूप इतने विकृत हैं तथा अक्षर मात्राओं की संख्या इतनी न्यूनाधिक है कि उनसे रायसिंह अत्यन्त सामान्य लिपिकार प्रतीत होते हैं अस्तु।

नाटक के आदि में गणेश शिव विष्णु तथा सरस्वती की वन्दना की गई है। तत्पश्चात् कवि आत्म-परिचय प्रस्तुत कर सभा को प्रणाम करता है और शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तर रूप में नाटक की रचना करता है। शिष्य सारभूत वस्तु तथा उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करता है। गुरु नरदेह को सार कहकर सत्संग को ही उसकी प्राप्ति का साधन बताता है। परन्तु, संसार में सत्पुरुष न्यून हैं और असत्पुरुष अधिक इसलिए 'शिष्य वाक्य' से उनके लक्षणों के सम्बन्ध में शिष्य प्रश्न करता है और 'गुरु वाक्य' से गुरु उत्तर देता है। कपटी मांगिल सभा-चातुर सभा-बिगाड़ आदि जिस व्यक्ति के भी लक्षण शिष्य पूछता है गुरु पहले प्रायः एक दोहे में उसका लक्षण बताता है और उसके तुरन्त ही बाद कवित्त आदि में उसका उदाहरण प्रस्तुत कर देता है। लक्षणात्मक छन्दों में कोई सरसता नहीं है परन्तु उदाहरण-रूप में प्रस्तुत पद्य सुन्दर हैं। इस प्रकार रीतिकाल में जो शैली प्रायः रीति-काव्यों के निर्माण में व्यवहृत की गई थी उसी का प्रयोग इस नीति-काव्य में भी दिखाई देता है।

इस काव्य की एक उल्लेख्य विशेषता यह है कि इसमें आध्यात्मिकता की मात्रा अत्यल्प है। प्रथम १०० पद्य नीति-विषयक हैं और अन्तिम केवल २१ पद्य अध्यात्म विषयक। विविध व्यक्तियों के वर्णन के विचार से यह काव्य गुपाल कवि के 'दम्पति वाक्य विलास' से कुछ-कुछ साम्य रखता है। परन्तु उसमें संवाद पति-पत्नी में होता है इसमें गुरु-शिष्य में। उसमें प्रत्येक व्यवसाय के गुण पति बताता है तथा दोष पत्नी और इसमें गुरु ही शिष्य की जिज्ञासा शान्त करने के लिए अधिकतर दोषी व्यक्ति का स्वरूप चित्रित करता है जिससे लोग उन दोषों के परिहारार्थ सचेष्ट रहें। निम्नांकित कुछ विषयों से रघुराम की विषय-व्यापकता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है—गमखाम उम दातार नजार दातार, विवेकी दातार कवि के दातार छहरी मित्र लड़ाक शून्य-मस्तक शून्यहृदय कोतवाल कृपण सूंब, धूर्त गुप्त दुष्ट प्रगट दुष्ट महादुष्ट जाके पेट में बात न रहे बड़े घर का ठीकरा रोवती सूरत घर में नारी प्रधान गूंगा बिकनिया कैकी (शराबी) खुशामदकरा रांडिपुत्ता साहिबजादा आदि। उक्त सूची से स्पष्ट है कि रघुराम ने निज पर्यवेक्षण से ऐसे अनेक व्यक्तियों को नीति काव्य के विषय-रूप में ग्रहण किया है जिनकी चर्चा प्राचीन संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों में प्राप्त नहीं होती।

---

1 इति श्री कवि रघुराम विरचित सभासार नाटिक सम्पूर्णम्। संवत् १८५६, चैत्र सुद २ बुधौ लिपतं रायसिंघ बिरिंगम्॥

रघुराम की अधिकतर रचना सरस तथा भावपूर्ण है। चूंकि अधिकतर दुष्ट लोगों को परिहास का विषय बनाया गया है और उसी के द्वारा नीति की शिक्षाएँ व्यंजित की गई हैं इसलिए हास्य रस की प्रधानता है। शान्त वीर आदि रस भी छिटपुट रूप से व्यक्त किये जाते हैं।

गुजराती होते हुए भी इन्होंने अपनी रचना सरल, सुबोध प्रवाहपूर्ण व्रजभाषा में की है यद्यपि उस पर कहीं-कहीं स्थानीय प्रभाव भी लक्षित होता है। मुहावरों तथा विदेशी शब्दों आदि का प्रयोग बहुत कम दिखाई देता है। भाषा को अलंकृत करने के लिए अनुप्रास तथा वीप्सा का और अर्थ को चमत्कृत करने के लिए उपमा तथा उत्प्रेक्षा का अधिक प्रयोग किया गया है। भाव सौन्दर्य इतना अधिक है कि अलंकारों के अधिक प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ी।

गुणों में से प्रसाद और माधुर्य का आधिक्य है। छन्द सम्बन्धी दोषों के लिए कवि इतना उत्तरदायी नहीं प्रतीत होता जितना लिपिकार।

सार यह कि 'सभासार' निस्सन्देह नीतिकाव्य की सुन्दर रचना है और उसके सौन्दर्य का प्रधान कारण है—हास्य रस में नीति की शिक्षाओं की व्यंजना। अब रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

अच्छे मित्र के लक्षण

आसन बहोत बनाय कै, आदर करत विस्त।
मिलतै मन मिलिमिलत नहीं ते कहिए साहिरी मित्त॥[1]

उदाहरण

आप जिहाँ आवै तिहाँ आसन अपार कर,
मिल कहुँ राह मैं तौ डीठ न मिलावेंगे।
अहुप वर ताके भानु छोड पर्यो आइ
कहो आए इहाँ काके कहू लौंका तें सिधावेंगे।
मेरे लिए एक बड़ी काज है आधार जोम,
आसीये अपुन आय फिर घर आयवे।
कर मनुहार ताहि अमहो एकोथ पारि
अावत न आर ए बरस अब पावेंगे॥[2]

१५ किसन

किसन विक्रम की अठारहवीं शती के जैन कवि थे। इनकी 'किसन बावनी' नाम की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर के श्री मोतीचंद खजांची के संग्रह में देखने

---

१ सभासार माहिक, पत्र ५। ९०
२ वही, पत्र ११२१

का अवसर प्राप्त हुआ।[1] कवि ने ग्रंथ का समाप्ति-काल सं० १७६१ की विजयदशमी लिखा है—

'संवत सतरै स इकसठै विजैदसमी कौ
ग्रंथ की समापत भई है मनभावनी।'[2]

इस प्रति की लिपिकार रत्नकुंवरि नाम की जैन महिला थीं जिन्होंने इसे बासूपर में सं० १८५० में अपने गुरु किसनलाल के अध्ययन के लिए लिपिबद्ध किया।[3] किसन बावनी की प्रति पूर्ण है और १७ पत्रों पर लिपिबद्ध है। इसमें केवल ६२ कवित्त हैं। रचना के अवलोकन से विदित होता है कि किसन भारतीय साहित्यिक परम्पराओं से ही सुपरिचित न थे, कुशल कवि भी थे। इन्होंने जैन-प्रिय विषयों का सुबोध अलंकृत और मधुर भाषा में वर्णन किया है। विदेशी शब्दों और मुहावरों का भी इनकी रचना में अभाव नहीं है। रचना भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से अच्छी है। जैसे—

नागनि-सी बेनि कारी बासुरा-सी पाटी पारी,
सीस फूल समारी और गली टीप टरना।
तन-हार आभा मौं जाल जोबन सु चख-चख
विष कोप मुख सु मृणाल मन हरना।
नासा सुक दंत दारे, नाभि कूप कटि सिंह
किसन सुकवि कंज रंभ-खंभ चरना
अहो मेरे मन मृग चोर बेधि प्याल-दृग
रहे मन छोरि काहु और ठौर परना॥[4]

१६ भूधरदास

इनके सम्बन्ध में अभी तक इतना ही विदित हुआ है कि ये आगरा निवासी खंडेलवाल जैन थे और इन्होंने विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीन काव्यों की रचना की - १ पार्श्वपुराण २ जैनशतक ३ पदसंग्रह। नीतिकाव्य की दृष्टि से इनका जैन शतक ही उल्लेख्य है।

जैन शतक[5]—यद्यपि जैन शतक में १०७ पद्य होने का उल्लेख भी किया

---

१ प्रति संख्या क ९६१
२ किसन बावनी, पद्य ६२
३ 'इति श्री किसन बावनी समाप्तं संवत् १८५० वर्षे मीती फागुण वदि ६ दीने संपूर्णं (लिपतं) वेगि रत्न कुंअरि बासूपर मध्ये गुरु जी किसन लाल जि वांचनार्थं सार एनीगार (वही, पुष्पिका)
४ वही पत्र ७।२७
५. भूधरदास : जैन शतक, प्र० वीर सेवा मंदिर, दरियागंज दिल्ली, सं० २००७

गया है[1] तथापि दिल्ली से प्रकाशित संस्करण में पूरे एक सौ पद्य हैं जो 'शतक' नाम को सार्थक करते हैं। इस काव्य के प्रथम सोलह तथा अंतिम बीस पद्यों में जैनों के तीर्थंकरों की स्तुति-वन्दना तथा जैनधर्म की श्रेष्ठता का वर्णन है। मध्यवर्ती ६४ पद्यों में जैन-नीति के ऐसे सरस-सुन्दर पद्य हैं जिनके अभिप्राय को प्रत्येक धर्म का अनुयायी निस्संकोच ग्रहण कर सकता है। काव्य में छहों प्रकार की नीति का उल्लेख किया गया है। व्यक्तिगत नीति में शरीर की नश्वरता तथा मलिनता, देह की दुर्लभता, वार्धक्य में शरीर की शिथिलता, मधुर भाषण, स्वाध्याय की प्रशंसा, धैर्य, विवेक, संयम आदि की सराहना तथा मान-लोभ, तृष्णा, काम, क्रोध आदि की निन्दा का वर्णन है। पारिवारिक सम्बन्धों को झूठा और स्वार्थपूर्ण बताया गया है तथा परदारा-अभिगमन का प्रबल निषेध किया गया है। सामाजिक नीति में गुरु-सेवा, सज्जन-दुर्जन, कुकवि, वेश्यागमन निषेध, मित्रादिकों की स्वार्थपरायणता प्रभृति इने-गिने विषयों की ही चर्चा दिखाई देती है। धार्मिक नीति में धर्म के महत्त्व का वर्णन नहीं है परन्तु जूआ और चोरी का निषेध तथा दान की प्रेरणा खूब की गई है। प्राणि-नीति में आखेट, पशु-बलि, मांस, मद्य आदि के सेवन का घोर विरोध किया गया है। मिश्रित नीति के अंतर्गत वैराग्य, समय का मूल्य, भवितव्य की अनिवार्यता, मृत्यु की अपरिहार्यता आदि के सुन्दर उपदेश हैं। इस प्रकार यद्यपि विषयों का अधिक विस्तार नहीं है तथापि मानव व्यवहार से सम्बन्धित मुख्य मुख्य सभी विषयों की ओर संकेत कर दिया गया है।

वर्ण्य-विषयों की दृष्टि से काव्य में कोई विशेषता नहीं है। जैन और जैनेतर संस्कृत-कवि इन विषयों पर पर्याप्त लिख चुके थे। भूधरदास निस्सन्देह उनसे प्रभावित हुए हैं। जैसे—

> आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतम्,
> तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।
> शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
> जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥[2] (भर्तृहरि)
> सौ बरस आयु ताका लेखा करि देखा सब
> आधी तो अकारथ ही सोवत विहाय रे ।

---

१ कामताप्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (काशी, १९४७ ई०) पृ० १७८

२ मनुष्यों की आयु सौ वर्ष है जिसमें से आधी तो रातों में ही व्यतीत हो जाती है। शेष आधी का भी आधा बचपन और बुढ़ापे में निकल जाती है। शेष समय रोग-वियोग आदि से नाना दुःखों में बीत जाता है। इसलिए, जल की तरंगों के समान चंचल इस जीवन में प्राणियों को सुख कहाँ? (भर्तृहरि : वैराग्यशतकम् पृष्ठ १०७/४९)

आधो में अनेक रोग बालदुख बड़ा भोग,
और हु संयोग कैसे ऐसे बीत जायं रे ॥
बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही,
कारज की बात यही नीके मन लाय रे।
खातिर में आव तो खलासी कर इतने में,
भावै फंसि फंद बीच दीनों समुझाय रे ॥[1] (भूधरदास)

उक्त पद्यों की तुलना से विदित होता है कि कवि ने अपने कवित्त के पूर्वार्द्ध में तो भर्तृहरि का भाव ग्रहण किया है परन्तु उत्तरार्द्ध में वह स्वतन्त्र पथ पर अग्रसर हुआ है। इसके विपरीत कुछ पद्यों में तो अनुवाद ही कर दिया गया है। जैसे यज्ञिय पशुहिंसा के विरोध में सोमदेव ने लिखा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया।
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हन्तुं न युक्तं तव ॥
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो।
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥[2]

भूधरदास ने उक्त पद्य का हिन्दी रूपांतर इस प्रकार किया है—

कहै पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि
होमत हुताशन में कौन सी बड़ाई है।
स्वर्ग-सुख मैं न चहौं, देहु मुझे यौं न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है ॥
जो तू यह जानत है वेद यौं बखानत है
जग्य जलो जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है।
डारे क्यों न वीर यामें अपने कुटुंब ही कौं,
मोहि जिनि जारै जगदीश की दुहाई है ॥[3]

उपर्युक्त पद्यों की तुलना इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि भूधर द्वारा अनूदित पद्य भी मौलिक रचना की सरसता से अपेत हैं। वस्तुतः यह सरलता

---

१ भूधरदास : जैन शतक, पृष्ठ ११।२७

२ अर्थ—पशु का यज्ञ कर्ता से कहना है—"न मैं स्वर्ग सुखों के लिए लालायित हूँ और न मैंने तुमसे किसी वस्तु की याचना की है। मैं तो सदा तिनके खाकर भी संतुष्ट रहता हूँ इसलिए तुम्हारे द्वारा मेरा वध उचित नहीं है। जिन प्राणियों को तुम यज्ञ में मार डालते हो यदि वे स्वर्ग में जाते हैं तो तुम अपने माता, पिता, पुत्रों तथा बन्धुओं की यज्ञ में बलि क्यों नहीं देते? (सोमदेव यशस्तिलक, जनपदक पृष्ठ १८ पर उद्धृत)

३ भूधरदास : जैनशतक, [illegible]

और भावपूर्णता ही ऐसे गुण हैं जिनसे नैन-शतक का विशेष महत्त्व है। कुछ इने गिने दोहों को छोड़कर शेष सब पद्य पाठक को भावमग्न या रसलीन करने में समर्थ हैं।

नैनशतक की भाषा साफ़-सुथरी और मधुर साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें कहीं कहीं यार, सलाह, माफ़िक, गाफ़िल तथा आदि प्रचलित सुबोध विदेशी शब्द भी दिखाई देते हैं। कुछ पद्यों में समप्पे अप्पे रुक्के मुक्के आदि प्राकृताभास शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है। कुछ एक सूक्तियाँ तथा लोकोक्तियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं। जैसे—

ए ए यदुनन्दन की अँखियान में, झाँकत है रघु राम दुहाई।[1]
'रानी बिन राजी के बिचार में बड़ाई भैय
जैसे भटा पच काहू कहू को बयारें है।[2]
'खेलत खेल बिसारि गये
रहि जाइ बधो सतरंज की बाजी ॥[3]

नैनशतक एक मुक्तक काव्य है जिसमें प्रायः तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक व्याख्यात्मक और ऐतिहासिक शैलियाँ व्यवहृत की गई हैं। एक पद्य[4] में 'सप्तवार' शैली का भी प्रयोग किया गया है जिस का प्रयोग गोरखनाथ की वाणी में हम देख ही चुके हैं। इस काव्य में ३१ तथा ३२ मात्राओं का सवैया दुर्मिल और मत्तगयंद सवैया छप्पय (सिंहावलोकन) मनहरकवित्त दोहा और सोरठा छंदों का व्यवहार किया गया है। दोहों तथा सोरठों की अपेक्षा कवित्त सवैये और छप्पय अधिक सरस हैं। अनुप्रास तथा यमक ही कवि के प्रियतर अलंकार हैं। अन्य अलंकारों का प्रयोग विरल है। प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से रचना भरपूर है।

व्यावहारिक नीति की न्यूनता के रहते हुए भी नैनशतक अपने सरस भावनात्मक उपदेशों के कारण हिन्दी नीतिकाव्य में विशेष स्थान रखता है। एक उदाहरण लीजिए—

राग उर धाम न य भयो, सहजै कुल लोकन लाज गँवाई।
लोग सिखा नर सीख रहे बिसमादिक सेवन की सुघराई ॥
तासर और रच रसनाथ कहा कहिये तिन की निठुराई।
ए ए यदुनन्दन की अँखियान में झाँकत है रघु राम दुहाई ॥[5]

घाघ

जीवनी—कन्नौज निवासी दूबे ब्राह्मण घाघ का जन्म संवत् १७२१ कहा जाता है।[6] इनके पूर्वजों का तो कोई वृत्त प्राप्त नहीं है परन्तु इनकी आठवीं पीढ़ी के लोग इनके बसाये हुए सराय घाघ या चौधरी सराय नाम के ग्राम में अब तक विद्यमान हैं।

१, ४ मुनराज, नैनशतक, पृष्ठ : ९४।६४, ८।१८, १३।३९, १८।९६
२. वही पद्य २३।६४
६. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ ४६९

यह गाँव कन्नौज रेलवे स्टेशन से पश्चिम की ओर केवल आध मील पर बसा हुआ है। कुछ लोग इन्हें फतेहपुर जिले के किसी ग्राम का और कुछ छपरे का निवासी बताते हैं। इन्हें छपरा-निवासी बताने वालों का कथन है कि घाघ की पुत्रवधू कन्नौज की थी, कविता करती थी और घाघ की बातों का खंडन भी कर देती थी। इसीसे खीझकर ये कन्नौज में जा बसे थे। कहते हैं कि ज्योतिष-ज्ञान से इन्हें विदित हो गया था कि इनकी मृत्यु सरोवर में स्नान करने से होगी। इसलिए इन्होंने तालाब में नहाना ही त्याग दिया। परन्तु एक दिन इन्हें कुछ मित्र बलात् तालाब में खींच ले गये और वहाँ किसी कोने में चोटी उलझ जाने से ये डूब गये। उस समय इनके मुख से यह पद्य निकला—

जानत रहा घाघ निर्बुद्धि । आवै काल विनासै बुद्धि ॥[1]

कृति-परिचय—घाघ की लोकोक्तियों से विदित होता है कि इन्हें कृषि ज्योतिष और नीति का अच्छा ज्ञान था। यद्यपि उनकी अधिकतर रचना खेती-बारी से सम्बन्धित है तथापि नीति-विषयक एक सौ के लगभग जो लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे उनके गम्भीर अनुभव का जो खासा परिचय मिल जाता है। वे प्राचीन ग्रंथों से अनूदित प्रतीत नहीं होतीं कुछ कर्णकंठ-परम्परा से प्राप्त और कुछ कवि के आत्मानुभव पर आधृत प्रतीत होती हैं। उनमें अधिक साहित्यिक सौष्ठव की खोज निष्फल है तथापि स्वास्थ्य कौन भिखारी बन जायेंगे किस काम में कितने व्यक्ति चाहिएँ, तीन निष्फल कार्य चार मूर्ख किन पाँच का नाश अवश्यंभावी है सुखमय गार्हस्थ्य अभागिन माता अभागिन नारी पाँच मूर्ख जातियाँ पेट की भीत पर न रोये बड़ा वही जो काज सवारे, कैसी खाट पर न सोये आदि विषयों पर स्वाभाविक रीति से जो कहावतें रची गई हैं वे उपेक्ष्य नहीं हैं। इनकी भाषा पर पूरबी प्रभाव अनेक स्थानों पर लक्षित होता है। दोहा चौपई चौपाई आदि छंद प्रयुक्त किये गए हैं परन्तु दो-दो चरणों से भी काम चलाया गया है। अभिव्यक्ति के उत्कर्ष के अभाव के कारण भले ही वे सुपठित लोगों को महत्त्वपूर्ण न लगें ग्रामीण जनता के कंठ और जीभ का ये शताब्दियों एक शृंगार रही हैं और रहेंगी।

घाघ और लालचंद—लालचंद की 'छिनाल पचीसी' का परिचय हमने अन्यत्र दिया है। उसके एक पद्य से मिलता जुलता केवल एक पद्य घाघ की लोकोक्तियों में संगृहीत है—

पर मुख देख अपना मुख गोवे, मारण कासी सठक पोवै ।
नाभि मेखल को दिहैं दिखावै तो छिनाल क्या ढोल बजावै ।[2] (लालचंद)

---

१ रामनरेश त्रिपाठी कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५६६
२ लालचंद छिनालपचीसी, पृष्ठ १

और भावपूर्णता ही ऐसे गुण हैं जिनसे भूधर-शतक का विशेष महत्त्व है। कुछ इने गिने दोहों को छोड़कर शेष सब पद्य पाठक को भावमग्न या रसलीन करने में समर्थ हैं।

जैनशतक की भाषा शुद्ध-सुथरी और मधुर साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें कहीं कहीं यार, तमाशू, माफिक गाफिल तथा आदि प्रचलित सुबोध विदेशी शब्द भी दिखाई देते हैं। कुछ पद्यों में सम्पै पपै सम्पै सुन्पै आदि प्राकृताभास शब्दों का भी प्रयोग दिखाई देता है। कुछ एक कड़ियों तथा लोकोक्तियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं। जैसे—

> अब अनुभव की अँखियान में औंधत है रच राम बुहाई।[1]
>
> 'राती दिन रानी के विचार में बढ़ाई मेव
>
> जैसे घटा सब काहू काहू को बधारें है।[2]
>
> खेलत खेल खिलारि गये,
>
> रहि जाइ रुपी शतरंज की बाजी॥[3]

जैनशतक एक मुक्तक काव्य है जिसमें प्राय तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक व्याख्यात्मक और ऐतिहासिक शैलियाँ व्यवहृत की गई हैं। एक पद्य में सप्तवार शैली का भी प्रयोग किया गया है जिस का प्रयोग गोरखनाथ की वाणी में हम देख ही चुके हैं। इस काव्य में ३१ तथा ३२ मात्राओं का सवैया कुण्डलिया और मत्तगयंद सवैया छप्पय (सिंहावलोकन) मनहरकवित्त दोहा और सोरठा छन्दों का व्यवहार किया गया है। दोहों तथा सोरठों की अपेक्षा कवित्त सवैये और छप्पय अधिक सरस हैं। अनुप्रास तथा रूपक ही कवि के प्रियतर अलंकार हैं। अन्य अलंकारों का प्रयोग विरल है। प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से रचना प्रपूर्ण है।

व्यावहारिक नीति की न्यूनता न रहते हुए भी जैनशतक अपने सरस भावपूर्ण उपदेशों के कारण हिन्दी नीतिकाव्य में विशिष्ट स्थान रखता है। एक उदाहरण लीजिए—

> आप चढे धन धाम भयो, सह्यो नव सोवत माय पैराई।
>
> सीप दिया भर सीप रहे पिसनादिक सेवन की मुषराई॥
>
> सागर और रच रसनाय्य, बहुत चहिये तिन की निठुराई।
>
> अब अनुभव की अँखियान में औंधत है रच राम बुहाई॥[1]

घाघ

जीवनी—कन्नौज निवासी दूबे ब्राह्मण घाघ का जन्म संवत् १७५३ कहा जाता है।[4] *इनके पूर्वजों का तो कोई पता प्राप्त नहीं है परन्तु इनकी आठवीं पीढ़ी के लोग* नन्दू सराय हुए सराय घाघ या चौधरी सराय नाम के ग्राम में अब तक विद्यमान हैं।

---

१४ भूधरदास जैनशतक, पृष्ठ ३ ९४।६४ ८।१८ १६।३२, १८।१९

२ वही पृष्ठ २४।६४

६ रामनरेश त्रिपाठी कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ ४६९

यह गाँव कन्नौज रेलवे स्टेशन से पश्चिम की ओर केवल चार मील पर बसा हुआ है। कुछ लोग इन्हें फतहपुर जिले के किसी ग्राम का और कुछ छपरे का निवासी बताते हैं। इन्हें छपरा-निवासी बताने वालों का कथन है कि घाघ की पुत्रवधू कन्नौज की थी, कविता करती थी और घाघ की बातों का खंडन भी कर देती थी। इसीसे झेंपकर वे कन्नौज में जा बसे थे। कहते हैं कि ज्योतिष-ज्ञान से इन्हें विदित हो गया था कि इनकी मृत्यु सरोवर में स्नान करने से होगी। इसलिए इन्होंने तालाब में नहाना ही त्याग दिया। परन्तु एक दिन इन्हें कुछ भिन्न बसात तालाब में खोज में गये और वहाँ किसी खंभे में चोटी उलझ जाने से ये डूब गये। उस समय इनके मुख से यह पद निकला—

जानत रहा घाघ निर्बुद्धि। आवे काल विनासै बुद्धि ॥[1]

कृति-परिचय—घाघ की लोकोक्तियों से विदित होता है कि इन्हें कृषि ज्योतिष और नीति का अच्छा ज्ञान था। यद्यपि उनकी अधिकतर रचना खेती-बारी से सम्बन्धित है तथापि नीति-विषयक एक सौ के लगभग भी लोकोक्तियाँ प्राप्त होती हैं उनसे उनके गम्भीर अनुभव का भी यथेष्ट परिचय मिल जाता है। ये प्राचीन ग्रंथों से अनूदित प्रतीत नहीं होतीं, कुछ कण्ठ-परम्परा से प्राप्त और कुछ कवि के आत्मानुभव पर आधृत प्रतीत होती हैं। उनमें अधिक साहित्यिक सौष्ठव की खोज निष्फल है तथापि स्वास्थ्य, कौन भिखारी बन जायगी, किस काम में कितने व्यक्ति चाहिएँ, तीन निष्फल कार्य, चार मूर्ख, किस चीज का नाश अवश्यंभावी है, अधमाधम गार्हस्थ्य, अभागिन माता, अभागिन नारी, पाँच मूर्ख जातियाँ, पेट्टू की मौत पर न रोने, बड़ा वही जो काम सवारे, कभी खाट पर न सोये आदि विषयों पर स्वाभाविक ढंग से जो कहावतें रची गई हैं वे उपेक्ष्य नहीं हैं। इनकी भाषा पर पूरबी प्रभाव अनेक स्थानों पर लक्षित होता है। दोहा, चौपाई, चौपई आदि छन्द प्रयुक्त किये गए हैं परन्तु छोटे-छोटे चरणों से भी काम चलाया गया है। अभिव्यक्ति के उत्कर्ष के अभाव के कारण भले ही ये सुपठित लोगों को महत्त्वपूर्ण न लगें, ग्रामीण जनता के कंठ और ओठ की ये कहावतें एक शृंगार रही हैं और रहेंगी।

घाघ और लालचन्द—लालचन्द की 'छिनाल पचीसी' का परिचय हमने अन्यत्र दिया है। उसके एक पद्य से मिलता जुलता क्रम एक पद घाघ की कहावतों में संगृहीत है—

घर मुख देख अपना मुख गोवै, मारग जातो उलटि जोवै।
नाभि मेहन जो निहुरि दिखावै, सो छिनाल का ... ॥[2] (...)

---

१ रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ३११
२ लालचंद : छिनालपचीसी, पृष्ठ १

परमुख देखि अपन मुख गोवै, चूरी कंकन बेसरि टोवै।
ग्रोचर टारि के पेट दिखावे, अब छिनारि का ढोल बजावै ॥[1] (घाघ)

उक्त दोनों पदों के प्रथम तथा चतुर्थ चरण भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से और तृतीय चरण भाव-भाव की दृष्टि से समान है। द्वितीय चरण दोनों के भिन्न भिन्न हैं। इतने अधिक साम्य के होते हुए इन्हें पृथक-पृथक् कवियों की कृतियाँ मानना कठिन है। दोनों कवियों के काल भी अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। अनुमान से दोनों ही समसामयिक बताये गए हैं। ऐसी स्थिति में हमारा अनुमान यह है कि यह पद लालचंद का ही होगा क्योंकि उसी ने छिनाली नाम की कुलटा के आचरण से प्रेरित होकर छिनाल पचीसी की रचना की थी। लालचंद निश्चय ही घाघ से उच्च कोटि के कवि थे इसलिए उनका घाघ के पद से प्रेरणा पाकर छिनाल पचीसी की रचना करना भी युक्तिसंगत नहीं लगता। इसलिए ऐसे लगता है कि लालचंद का ही पद लोक में विकृत रूप में प्रचलित होकर घाघ की कविता में आ घुसा है।

अस्तु अब घाघ की कुछ लोकोक्तियाँ देखिये—

आठ कठौती महठा पीवै सोरह मकुनी खाय।
उसके मरे न रोइये, घर का दरिद्दर जाय ॥[2]
आंच वांस बिगड़ा दिया बारी बटा बैल।
ब्योहर बढ़ई बन बबुर बात सुनो यह छैल ॥
जो बकार बारह बसै सो पूरन गिरहस्त।
औरन को सुख दै सदा, आप रहै अलमस्त ॥[3]

१८ चाचा हित वृन्दावनदास

पुष्कर के गौड़ ब्राह्मण चाचा हित वृन्दावनदास (जन्म सं० १७६५) श्रीकृष्ण के परमभक्त थे और लोकप्रवाद के अनुसार एक लाख पदों तथा छन्दों के रचयिता। नीतिकाव्य की दृष्टि से इनकी 'कलिचरित बेली' एक अच्छी रचना है। इसकी समाप्ति सं० १८१२ की माघ कृष्णा नवमी को हुई थी—

बदि नौमी तिथि माह ठारह से बारह बरष।
कलि के चरित अथाह, तिन में इच्छा मजन सरूप ॥[4]

---

१ सं० श्रीकृष्ण शुक्ल घाघ और भड्डरी की कहावतें (प्र० पुस्तक सदन बनारस, पंचम संस्करण) पृ० १२।२१

२ वही पृष्ठ २०।६४

३ वही पृष्ठ २१।७१

४ हित वृन्दावनदास कलिचरित बेली (प्र० शिवलाल गोवर्धनदास, वृन्दावन, सं० २००६) पृष्ठ १३।१२६

बाबाजी ने स्वयं भी स्वीकृत किया है कि कलियुग के जिन धर्मों का व्यासजी ने महाभारत और श्रीमद्भागवत में वर्णन किया है वे प्रकट दिखाई दे रहे हैं।[1] इससे विदित होता है कि बेली रचना की प्रेरणा उन्हें उक्त ग्रंथों के अध्ययन तथा समकालीन परिस्थितियों के अवलोकन से प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ बेली के निम्नलिखित पद्यों पर भागवत का प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है —

(क) प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः ।
आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ॥
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ।
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः ॥[2]

लोभी निर्दय और डाकू राजा प्रजा की स्त्रियों और सम्पत्ति को अपहृत कर लेंगे जिससे लोग वनपर्वतों में भाग जाएँगे और कंद-मूलादि से उदरपूर्ति करेंगे। वे वर्षा के न होने से अकाल और राज-करों के भार से नष्ट हो जाएँगे।

नृप अन्यायी चोर, परजा को पालन तज्यौ।
लेहिं अनीति अथोर, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥
प्रजा कृपन कंगाल, अन्न बिना बिल बिल फिरैं।
पुनि पुनि परत अकाल, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥[3]

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भागवत के द्वादश स्कन्ध के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में कलियुग के प्रभाव का निरूपण कर तृतीय के अन्त में यह कहा गया है कि कलियुग का गुण यह है कि उसमें भगवन्नाम के कीर्तन-मात्र से मोक्ष हो जाता है उसी प्रकार बेली के पहले १०२ सोरठों में कलि का प्रभाव निरूपित कर अंतिम कुछ सोरठों में उसका उपर्युक्त ही गुण वर्णित किया गया है।

बेली में कुल १३० सोरठे हैं। प्रथम १०२ सोरठों का चतुर्थ चरण 'कलि प्रताप हरि कृपा बिनु' है परवर्ती १३ सोरठों का यह 'कलियुग संतन सिमी' और अंतिम १५ सोरठों का भिन्न भिन्न। वैसे तो सभी प्रकार की नीति का निरूपण इस रचना में दिखाई देता है परन्तु पारिवारिक और सामाजिक नीति पर बल अधिक है। विवाह के पश्चात् सास ससुर देवर जेठ ननद आदि के विरुद्ध पत्नी का पति के कान भरना पति का माता-पिता से रुष्ट होकर पृथक रहना तथा सास-ससुर, साला-साली आदि

---

१ वही, पृष्ठ १४।१२४

२ श्रीमद्भागवत, (गीताप्रेस गोरखपुर), १२।२।८-१०

३ कलि चरित्रबेली पृष्ठ ११।९१-९२
इसी प्रकार बेली के पृष्ठ १०।७६, ११।१०६, ३।४, १७।११९ पर क्रमशः भागवत द्वितीय खंड के पृष्ठ ९०३।१४, ९२०।३२, ९१८।४२, ९११।४८ का प्रभाव भी लक्षित होता है।

से प्रेम करना, पत्नी का निरंकुश होकर घर घर भ्रमण, अधिक सन्तान की उत्पत्ति, उन्हें भूख-त्रस्त देख दम्पती का दुखित होना आदि बातों का रोचक चित्रण किया गया है। सामाजिक दशा का वर्णन भी बहुत सच्चा और सुन्दर हुआ है। लोग कपटी की वाणी पर विश्वास करते हैं और सत्यवादी को मारने दौड़ते हैं। ऊपर से मित्रवत् हैं परन्तु हृदय कपट से प्रपूर्ण हैं। दुष्टों का सम्मान तथा सज्जनों का अपमान होता है चारों वर्ण कर्तव्यच्युत हो चुके हैं। वर्णसंकरों की बहुलता है और शूद्रवंशियों की चिर सदा विप्र आखेट करते हैं। और विधवाएँ श्रृंगार कपट-तपस्वी बाजारों में समाधि लगाते हैं तो पंच पक्षपात-परायण हैं। धनिक से पुण्य का बहुत ढिंढोरा पीटा जाता है इत्यादि सैकड़ों अनुभूत बातों का उल्लेख किया गया है।

सीधी-सरल ब्रजभाषा में रची हुई यह कृति उच्च कल्पनाओं के कारण न सही, सूक्ष्म पर्यवेक्षण के कारण रोचक बन पड़ी है। कुछ सोरठ देखिए—

> का कन्या के साज निगम बखानत कन्य फल।
> ताहि हनत अन्यान, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु॥
> टकी प्यारी भेड़, देवर स्याम बरन करौं।
> ससुर कौन बड़ सेट, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु॥[1]

इन्हीं की विवेकपत्रिका देखो म भक्ति के अतिरिक्त नीति के भी कुछ भाव पूर्ण दोहे दिखाई देते हैं। जैसे—

> हुत पर्मो लखि धीवरा बगुला मारत चोंचि।
> रह्यो भूप समय बिचारि क मानि मान की सोचि॥
> यों लोभी धिपन घरत नहिं जोग्हत गुन दुष्ट।
> डरौ कामना सप न नीबू मथत ज्यों लिष्ट॥[2]

१६ गिरिधर कविराय

कवि-परिचय—गिरिधर कविराय के जीवन चरित्र के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इनका जन्म सं० १७७० है। ये नाम से भाट अनुमित होते हैं। इनकी कुण्डलिया रचना के विषय में यह रोचक किंवदन्ती प्रचलित है कि इनके पड़ोसी बढ़ई ने एक ऐसा पलंग बनाया जिसके पायों पर लगे हुए परा मनुष्य के उस पर बैठते ही स्वयमेव चलने लगते थे। राजा ने बढ़ई को वैसे अनेक पलंग बनाने का आदेश दिया। बढ़ई की गिरिधर से खटपट थी। उसने सबसे के लिए गिरिधर के आँगन वाले बेरी के वृक्ष को माँग लिया। गिरिधर की अनुनय विनय को जब राजा ने स्वीकृत न किया तब खपलोक गिरिधर उस राज्य को

१ कलि चरित्र बली सोरठा ६५, ६६
२ विवेकपत्रिका बली (शिवलाल गोवर्धनदास पुस्तकालय, २००६ वि०), दोहा ११६, १४४

इधर-उधर भ्रमण करने लगे। कहते हैं, इसी पर्यटन काल में दम्पती ने कुंडलिया
ोग किया और जिन कुंडलियों में 'साईं' शब्द आया है, वे गिरिधर की पत्नी की
ता है।

काव्य-परिचय—इनकी रचनाएँ 'कुंडलिया' शीर्षक से प्रकाशित हो चुकी हैं।[1]
पद्य-संख्या तीन पाँच-सौ के लगभग है जिन में से मात्र चार सौ के लगभग तो
लिया हैं और शेष पद्य दोहा, सोरठा, कवित्त तथा छप्पय छन्दों में निबद्ध हैं।
ना तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में नीति की तथा द्वितीय में अध्यात्म की
लता है। अध्यात्ममय तृतीय भाग परिशिष्ट-सा प्रतीत होता है। इसमें केवल १८
हैं—८ दोहे, ३ कवित्त और ७ छप्पय, कुंडलि या एक भी नहीं है। हमें दो कारणों
स भाग के गिरिधर-कृत होने में संदेह है। प्रथम, इसके किसी भी पद्य में गिरिधर
छाप नहीं है। दूसरे, इस भाग के एक कवित्त में 'देवीदास' की छाप है—

देवीदास कहे कोई होनहार सोई ह्वै है,
मन में विचार देख दिन अनुसार ले।[2]

सम्भव है किसी लिपिकार ने कुछ अपने और कुछ दूसरों के अध्यात्मविषयक
लेकर इसे 'पद विलास' के नाम से गिरिधर के पद्यों के अन्त में जोड़ लिया हो और
उसी रूप में प्रकाशित कर दिये गए हों।

वर्ण्य-विषय—इनके वर्ण्य विषय सन्तों के नीति-काव्य के समान हैं, परन्तु
विशेषता यह है कि इनके काव्य में ऐहिकता की मात्रा सन्तों से अधिक है। वैयक्तिक
ति में गिरिधर ने शरीर को महागार तथा प्रेम के अयोग्य कहा है[3] और रोग को
 में औषध-सेवन की अपेक्षा पथ्य के पालन को विशेष महत्त्व दिया है—

सब के दवा हकीम की पाल करे परहार।
देहपात सों ना डरे पुनि पुनि कर विचार॥[4]

मांस, सुरा, अफीम, गांजा, चरस, भंग, हुक्का आदि से अपने शरीर तथा
द्धि के बल का विनाश करने वालों की गिरिधर ने अनेक पद्यों में खूब खबर ली है। एक
तम्बाकू का दम्भचित्र देखने योग्य है—

हुक्का से हुरमत गई नियम धर्म गयो छूट।
दाम खर्च लियो तम्बाकू, गई हिये की फूट॥
गई हिये की फूट, आग को घर-घर डोले।
जिस घर आग को आग, सोई दुरसातो बोले॥
कह गिरिधर कविराय' सबै यह मन को धक्का।
मारा जायेंगे छूट सहाय होवे नहिं हुक्का॥[5]

गिरिधर कविराय' कुंडलिया, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई २००६ वि०
२ १ पृष्ठ १५५।१ १२७।६८० ६४।२७७ १३५।८०४

गिरिधर की रचना से स्पष्ट होता है कि वे संस्कृत, फारसी और हिन्दी भाषाओं से तथा वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों से सुपरिचित थे। ऐसा होते हुए भी उन्होंने भाषा (हिन्दी), संस्कृत, अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं में लिखे ग्रंथों की बातों को गपोड़ा कहा है—

गपोड़ा भाषा का कोई अरु संस्कृत का कोय।
कोई गपोड़ा पारसी अंग्रेजी पुनि होय॥
अंग्रेजी पुनि होय, गपोड़ा कोई अरबी।
ब्रह्मज्ञान बिन पिता सब ज्यों पाक में बरबी॥
कह गिरिधर कविराय यात समझो कोई मोटा।
जा करि प्रातम नाम अथा है सोई गपोड़ा॥[१]

इसका कारण यही समझना चाहिए कि ब्रह्मविद् मनुष्यों के लिए पुस्तकीय ज्ञान का महत्त्व नहीं रह जाता—

अधिक अपानो पुरुष भात कब चाहै खायो?[२]

पारिवारिक नीति—पारिवारिक नीति के क्षेत्र में इन्होंने गार्हस्थ्य को झमेला कहा है क्योंकि दिन रात घृत, तेल, लवण आदि की चिन्ता से मनुष्य की विपुल बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और मनुष्य आत्मचिन्तन को विस्मृत कर बैठता है।[३] बेटा बेटी भाई पिता श्वसुर आदि सब मतलब के यार हैं फिर भी इन्होंने विभीषण प्रह्लाद आदि के उदाहरणों द्वारा भ्रातृप्रेम तथा पिता-पुत्र में सामञ्जस्य स्थिर रखने की प्रेरणा दी है।[४] विवाह के पश्चात् पुरुष का पत्नी से मोह, माता पिता से झगड़ा, पितृगृह को छोड़कर ससुराल में जा रहना आदि विषयों पर गिरिधर के पद्य गार्हस्थ्य जीवन का एक वास्तविक परन्तु विषम चित्र प्रस्तुत करते हैं।[५]

सामाजिक नीति—गुरु के प्रति श्रद्धा, वर्णाश्रम तथा स्त्रियों की निन्दा, संगति का भला-बुरा प्रभाव, पूजन, अतिथि-सत्कार आदि विषयों के प्रति गिरिधर का दृष्टिकोण सबों का-सा ही है परन्तु यथायोग्य व्यवहार और खान-पान के समय बात-चीत पूछ लेने की चर्चा उनका विशेषत्व है—

जो कुम्भ को तोसा भखे, तू भुक तेर पचीस
मरोर करे इक तसु भर, तू बीस हाथ बईस॥
बीस हाथ बईस रीति व्यवहारिक ऐसी।
पता-जैता देख जगत में पूरा तैसी॥

१ २ गिरिधर कविराय: कुंडलिया पृष्ठ ४५।१२२ ६५।१७८, ६०।२६२
४ " " ", पृष्ठ ८८।२४७ ६१३
५ " " ", पृष्ठ ६१४, ७१६

कहु गिरिधर कविराय रोवते के संग रोवे जो ।
हँसते संग हँस मिलो पुरुष हैं वे बोमे जो ॥[1]

आर्थिक नीति—यद्यपि इन्होंने

'तीनों' मूल उपाधि की नर जोरू जामीन ।[2]

कहकर भूमि और नारी के समान धन की भी निन्दा ही की है तथापि गृ
पदों में गृहस्थ के गौरव की रक्षा के लिए धन को अनिवार्य कहा है—

कौड़ी वाले सान को दौड़े मिले न दाम ।
कौड़ी बिना गृहस्थ का कोई लेय न नाम ॥[3]

गृहस्थ के लिए इन्होंने याचना को मृत्यु से भी बुरा कहा है परन्तु फकी
के लिए उसकी अनुज्ञा है। हाँ, फकीर को भी अन्न-जल की ही याचना करनी चाहि
अन्य पदार्थों की नहीं।

मिश्रित नीति—मिश्रित विषयों में गिरिधर ने आत्मा को परमात्मा से अभि
समझने तथा आत्मसाक्षात्कार पर बहुत बल दिया है। जीवन की नश्वरता गुरु गु
कर्मफल आदि विषय सन्त-काव्य के तुल्य ही हैं। इस क्षेत्र में मजहब (मतान्धता
का प्रस्तुत खण्डन इनकी अपनी विशेषता है। कारण यह कि मतान्ध व्यक्ति अ
मत के दोष तथा अन्य मत के गुण को नहीं देख सकता। इसलिए गिरिधर ने मज
को कूकर से भी कुत्सित कहा है और उसके संग से ऐसे ही बचने को कहा है
पागल कुत्ते से। उनके मत में पैगम्बर पीर औलिया सब मजहब के कुत्ते हैं मौला
एक वास्तविक धर्म है।[4] केदारनाथ बाबा के पुत्र घोटा खाखी सिपाही आदि विष
पर भी इन्होंने कौतुकपूर्ण पद रचे हैं।

रस और भाव—इनकी रचना में सर्वाधिक खटकने वाली बात है कल्पना
और भाव की न्यूनता। इसीलिए इनके अधिकांश छन्दों को काव्य न कहकर पद्य म
मानना ही उचित प्रतीत होता है। हाँ कुछ एक अन्योक्तियाँ अवश्य ऐसी हैं
हृदय को प्रभावित करती ही हैं।

भाषा—भाषा के विषय में इनका कोई विशेष सिद्धान्त नहीं लक्षित होता
यद्यपि इनकी रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं तथापि उसमें अरबी फारसी संस्कृत पंजा
आदि के शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है। वैरागी और ग्रामी कवि
ध्यान भावों पर था भाषा पर नहीं। इसीलिए जहाँ अश्लेष अशोच्य अवाङ् सुबे
वैयाकरण आदि संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग अनफब दिखाई देता है वहीं फना
दरकार सिफर, बिरादर फजीहत कुरमत आदि फारसी-अरबी शब्दों का भी प्रयोग

---

१ गिरिधर कविराय कुंडलिया, पृष्ठ ११०।३२६, २८।६६२
२, ३ " " " , पृष्ठ ८१।२३४ ८२।२३५
४ " " " , पृष्ठ ११० १११, ३१६ ३१७

कोस आदि पंजाबी शब्दों का। कुछ आध्यात्मिक पदों[1] में गिरिधर ने भाषा से ऐसी खिलवाड़ की है जिसे अदृष्टपूर्व ही कहना चाहिए। उनमें जहाँ अनुप्रास की बहुलता है वहाँ अनेक नवीन शब्द भी गढ़ लिये गए हैं। जैसे—

अकल मध्य मैं अकल हूं, ना मैं अकल सकल।
सकल मध्य मैं सकल हूं, ना मैं सकल असकल॥
ना मैं सकल असकल, जिस्म जिस्मैं अजिस्म।
इस्म मध्य मैं इस्मइस्म नाहिं अजिस्म॥
कहु गिरिधर कविराय अकल में अकल अनकल।
मेरे सम्मुख आई पुन्न हो जावे सकल॥[2]

फिर भी इनकी भाषा की एक विशेषता है स्पष्टता और इसीके कारण इनकी अनेक कुंडलियां लोगों को कंठस्थ हैं। प्रतिपाद्य विषयों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए इन्होंने लोकप्रचलित उक्तियों तथा कहावतों का प्रयोग बहुत अधिक किया है, जैसे—

'कहु गिरिधर कविराय विरोधी काहे पाली।'
अ परी पोसे पीसना कूकर चेंस-चेंस खात।
'कहु गिरिधर कविराय गुरु जिनका मन चंगा।
सो भोगत बहुतानंद कठौती तिन को गंगा।'
'हाथी मुख सों भीकस्यो, पूंछ रही कुछ शेष।
'जो गुड़ देने से मरे, क्यों जहर दीजिये तस।'
'आये मुस्सा कहूं तलक, है मसीद लग दौड़॥'[3]

विधान तथा शैली—गिरिधर का समग्र रचना मुक्तक रूप में ही है और उसमें तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक तथा आत्माभिव्यंजक शैलियों की प्रचुरता है। कथात्मक, अन्यापदेशात्मक ऐतिहासिक तथा व्याख्यात्मक शैलियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं परन्तु कुछ एक ही पदों में। मन और भास तथा पेड़ और पौधा के सवाद सुन्दर हैं।[4]

छन्द - गिरिधर ने अपनी भावाभिव्यंजना के लिए जिन छन्दों को लिया है उनका निर्देश ऊपर कर दिया गया है। यहाँ इतना ही और कहना है कि इनके अनेक पदों में मात्राओं की संख्या भी ठीक नहीं है जिससे छन्द की गति में बाधा पड़ती है। कहीं कहीं कुंडलियाँ आरम्भ तो एक शब्द से होती है और पर्यवसित उसके विकृत रूप

१ गिरिधर कविराय कुंडलिया पद ३२१ ३२७
२ गिरिधर कविराय कुंडलिया, पद ११८।३२४
३ गिरिधर कविराय कुंडलिया पद ६३, ११२ २७६, ३६८, ३७१ ३६७
४ गिरिधर कविराय कुंडलिया पद ३६०-६१ पद ८३-८४

से।[1] एक पद्य में तो आदि और अन्त के दो-दो चरण दोहा के हैं और मध्यम दो चरण रोला के।[2]

चमत्कार—गिरिधर का ध्यान न भाषा को अलंकृत करने की ओर था न भावों को। इसलिए उनकी रचना में अनुप्रास यमक उपमा उत्प्रेक्षा आदि की खोज व्यर्थ है। दृष्टान्तों के प्रयोग कहीं कहीं अवश्य हैं परन्तु वे भी प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि के लिए ही उपन्यस्त हैं चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं। हाँ कुछ एक पद्यों में अन्योक्ति तथा निरुक्ति चमत्कार अवश्य ही ध्यान आकर्षित कर सके हैं। जैसे—

भँवर भटक्या जाहु जनि काँट बहुत रस ओर।
भ्रमर न पूछ बावरा, ता सों प्रीति न जोर ॥[3] (अन्योक्ति)
रोइ रोइके पाइये रुपिया जिसका नाम।
जब आवे फिर रोइये, हर गुण जिसको नाम।[4] (निरुक्ति)

गुण—गिरिधर की रचना में प्रसाद गुण प्रधान है और इसी कारण उनकी कुण्डलियाँ लोकप्रिय बनी हुई हैं। ओज तथा माधुर्य की मात्रा अत्यन्त न्यून है। अनेक पद्य प्रहेलिका-से दिखाई देते हैं और उनमें प्रसाद की भी न्यूनता है।

दोष—छन्द की गति को अविकल बनाने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं शब्द को बहुत भद्दा रूप दे दिया है। जैसे—

तीनों मूल उपाधि की अरु शोक आमीन।[5]

कहीं पर अनेक शब्द भरती के भी दिखाई देते हैं—

कहु गिरिधर कविराय अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निशिदिन चारि रहत सब ही के दौलत ॥[6]

इसमें 'अरे यह सब घट तौलत' शब्दों का पूरे पद्य से कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता पूरी करने को भर दिये गए हैं। कहीं-कहीं पर [illegible] दोष भी दिखाई देता है।[7]

संस्कृत-नीतिकाव्य का प्रभाव—यद्यपि इन्होंने ब्रजभाषा के बिना सभी भाषाओं के साहित्य को त्याज्य कहा है तथापि व्यावहारिक क्षेत्र में ये भी उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। यह प्रभाव दो क्षेत्रों में लक्षित होता है—(१) भाव (२) भाषा।

(क) भावों का प्रभाव—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥[8] (भर्तृहरि)

१-५ गिरिधर कविराय, कुण्डलिया पद्य ५०।११८, १५।२६, १८।६६, ७२।२०७, ८१।२३४

६. गिरिधर कविराय कुण्डलिया पद्य १०।२५

७. वही, पृष्ठ १०८।३२१

८. [illegible] पृष्ठ २०।३४

कोम आदि पंजाबी शब्दों का। कुछ आध्यात्मिक पद्यों[1] में गिरिधर ने भाषा से ऐसी खिलवाड़ की है जिसे अदृष्टपूर्व ही कहना चाहिए। उनमें जहाँ अनुप्रास की बहुलता है वहाँ अनेक नवीन शब्द भी गढ़ लिये गए हैं। जैसे—

अकल मध्य मैं सकल हूँ, ना मैं सकल अकल।
सकल मध्य मैं अकल हूँ, ना मैं सकल असकल॥
ना मैं सकल असकल, जिस्म जिस्में अजिस्म।
इस्म मध्य मैं इस्माइस्म नाहिं अनिस्म॥
कह गिरिधर कविराय सकल में अकल असकल।
मेरे सम्मुख भई गुम्म हो जाये अकल॥[2]

फिर भी इनकी भाषा की एक विशेषता है स्पष्टता और इसीके कारण इनकी अनेक कुंडलिया लोगों को कंठस्थ हैं। प्रतिपाद्य विषयों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिए इन्होंने लोकप्रचलित रूढ़ियों तथा कहावतों का प्रयोग बहुत अधिक किया है, जैसे—

'कह गिरिधर कविराय बिलोयो काहे पानी।'
'अ मरी पीसे पीसना, कूकर घंस-घंस खात।'
'कह गिरिधर कविराय गुरु जिसका मन चंगा।
तो मोक्ष बहावत कठौती तिन को गंगा।'
'हाथी मुख सों नीकस्यो पूँछ रही कुछ शेष।'
'जो गुड़ देने से मरे क्यों जहर दीजिये ताम।'
'भागे मुल्ला कहूँ तलक है मसीद इक ठौर॥[3]

विधान तथा शैली—गिरिधर की समग्र रचना मुक्तक रूप में ही है और उसमें तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक तथा आत्माभिव्यंजक शैलियों की प्रचुरता है। संवादात्मक अन्यापदेशात्मक ऐतिहासिक तथा व्याख्यात्मक शैलियाँ भी प्रयुक्त की गई हैं परन्तु कुछ एक ही पद्यों में। मन और काल तथा पेट और चोला के संवाद सुन्दर हैं।[4]

छंद—गिरिधर ने अपनी भावाभिव्यंजना के लिए जिन छन्दों को लिया है उनका निर्देश ऊपर कर दिया गया है। यहाँ इतना ही और कहना है कि इनके अनेक पद्यों में मात्राओं की संख्या भी ठीक नहीं है जिससे छन्द की गति में बाधा पड़ती है। कहीं-कहीं कुंडलियाँ आरम्भ तो एक शब्द से होती हैं और पर्यवसित उसके विकृत रूप

१ गिरिधर कविराय कुंडलिया पद्य १२१, १२७
२ गिरिधर कविराय कुंडलिया, पद्य ११८।१२४
३ गिरिधर कविराय कुंडलिया पद्य ६१, ११६, २०६, १६८, १७१, १६७
४ गिरिधर कविराय, कुंडलिया, पद्य १६०-६१ पद्य ८३-८४

से।[१] एक पद्य में तो आदि और अन्त के दो-दो चरण दोहा के हैं और मध्यम दो चरण रोला के।[२]

चमत्कार—गिरिधर का ध्यान न भाषा को अलंकृत करने की ओर था, न भावों को। इसलिए उनकी रचना में अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की खोज व्यर्थ है। दृष्टान्तों के प्रयोग कहीं कहीं अवश्य हैं परन्तु वे भी प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि के लिए ही उपन्यस्त हैं, चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं। हाँ कुछ एक पद्यों में अन्योक्ति तथा निरुक्ति चमत्कार अवश्य ही ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। जैसे—

भंवर मडैया बाहु जनि चोट बहुत रस चोर।
चाह न पुष्प मालती ता सों प्रीति न जोर।।[३] (अन्योक्ति)
रोइ रोइके पाइये बनिया जिसका नाम।
घर आवे फिर रोइये इह सुत जिसको काम।[४] (निरुक्ति)

गुण—गिरिधर की रचना में प्रसाद गुण प्रधान है और इसी कारण उनकी कुण्डलियाँ लोकप्रिय बनी हुई हैं। ओज तथा माधुर्य की मात्रा अत्यन्त न्यून है। अनेक पद्य प्रहेलिका-से दिखाई देते हैं और उनमें प्रसाद की भी न्यूनता है।

दोष—छन्द की गति को अविकल बनाने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं शब्द को बहुत भद्दा रूप दे दिया है। जैसे—

तीनों मूल उपाधि की, घर जोरू जामीन।[५]

कहीं पर अनेक शब्द मराठी के भी दिखाई देते हैं—

कहु गिरिधर कविराय भरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निशिदिन चारि रहत सब ही के दौलत।।[६]

इनमें भरे यह सब घट तौलत शब्दों का पूरे पद्य से कोई सम्बन्ध नहीं है केवल अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता पूरी करने को भर दिये गए हैं। कहीं-कहीं पर अवर्त्त मतत्व दोष भी दिखाई देता है।[७]

संस्कृत-नीतिकाव्य का प्रभाव—यद्यपि इन्होंने ब्रह्मज्ञान के बिना सभी भाषाओं के साहित्य को भोंड़ा कहा है तथापि व्यावहारिक क्षेत्र में ये भी उनके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। यह प्रभाव दो क्षेत्रों में लक्षित होता है—(१) भाव (२) भाषा।

(क) भावों का प्रभाव—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।[८] (भर्तृहरि)

१-५ गिरिधर कविराय कुंडलिया पद्य ५०।१३८, १३।२६, १८।१६, ७२।२०७, ८१।२३४

६ गिरिधर कविराय, कुंडलिया पद्य १४।२५

७ वही पृष्ठ १०८।३२१

८. नीतिशतकम् पृष्ठ २०।१४

इस भावों को गिरिधर ने एक कुंडलिया में यों पल्लवित किया है—

खायो खाय जो खाय रे, दियो जाय सो देह।
इन दोनों से जो बचे, सो तुम जानो खेह॥
सो तुम जानो खेह लिखे (किसे ?) कुछ काम न आवै।
सर्व लोक को दीख कुछ पुनि तुम्हे दबावै॥
कह गिरिधर कविराय परम ये धन के भायी।
दान भोग बिन नाश होत जो किसी न खायो॥[1]

संस्कृत के समान फ़ारसी नीतिकारों का प्रभाव भी कहीं कहीं स्पष्ट दिखाई देता है—

तीनों मूल उपाधि की जर जोरू जमीन।[2]

(ख) भाषा का प्रभाव

(१) भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्। (संस्कृत सुभाषित)
भाग्य सर्वत्र फलत है न च विद्या पौरुष सरस।[3] (गिरिधर)

(२) 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। (संस्कृत सुभाषित)
अवश्यमेव भोगतव्य है, कृत कर्म शुभाशुभ जोय[4] (गिरिधर)

कहना न होगा कि उक्त भावापहरण की अपेक्षा भाषा का अपहरण अधिक खटकता है। कारण नवीन कवि प्राचीनों से यत्किंचित् भाव संकेत लेकर उन्हें पल्लवित पुष्पित किया ही करते हैं परन्तु भाव के साथ-साथ भाषा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लेना अधिक पाप समझा माना जाता है। अस्तु कुशल यही है कि यह अपहरण अधिक व्यापक नहीं है।

अन्त में इतना ही कथन अलं है कि यद्यपि हिन्दी के नीति के सुकवियों में गिरिधर का नाम नहीं रखा जा सकता तथापि वे अपने सरल-स्पष्ट व्यवहार-विधायक पद्यों के कारण अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं और रहेंगे।

२० विनय भक्ति

कवि परिचय—जैन मुनि विनय भक्ति का पहला नाम वस्ता या वस्तपाल था। ये खरतरगच्छ के मुनिवर जिनभद्र सूरि की शाखा में थे और भक्तिभद्र के शिष्य थे। ये सं० १८८० वि० के लगभग विद्यमान थे। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—१ जिन लाभ सूरि द्वावैत २ अन्योक्ति बावनी। प्रथम ग्रन्थ में जिनलाभ सूरि का स्तवन है और दूसरे में नीति-विषयक अन्योक्तियाँ।

---

१ २ गिरिधर, कुंडलिया पृष्ठ ४४।१२०, ८१।२३४
३ वही " " ३६।१०२
४ गिरिधर कविराय कुंडलियां पृष्ठ ४०।१०६

अन्योक्ति बावनी[1]—वर्णमाला के अक्षरों के क्रमानुसार रचित इस बावनी में ६२ कवित्त-सवैये हैं। आरम्भ में देवता गुरु साधु शारदा आदि की वन्दना के छह पद्य हैं और उसके बाद साहित्य में प्रचलित देव पशु पक्षी, सागर मरु, मारवाड़ आदि पदार्थों पर अन्योक्तियाँ हैं। विधाता और रामचन्द्र पर भी अन्योक्ति रचना की गई है। भावों की दृष्टि से कोई नवीनता न होने पर भी वाणी और भाषा की सुन्दरता के कारण रचना अच्छी बन पड़ी है। उदाहरण-रूप में वात्सल्य देश और भूमि से सम्बन्धित दो पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

हंस कैसे होत, एते बूझो काहू भांत तब,
विचारत पंछी मूल एक एक देस में।
बूझ देखो मेना तब चातर चलावें सना
बना कहूँ मन कैसा एसे तो परेस में ॥
ऐसे जिन देस बारे बसेवार लोग उनके
काक सब कोकिला को कछु न विशेष में।
कहें देस मरुथ तें भलो बनवास
परि कहूँ 'जिन' जिस ठौर कोउ सिस्यो लेख में ॥[2]
पहिले शरीर तेरो धीर मोह-लीरन सें
पावत कुदास लोप लगे उतपात के।
वई हुई सबी कह लई को उजार पुंज
कीच कीच वारि पीये कैसे रस पात के।
ऐसें करें लोक हास तो पें तु रसाल छू क,
करत निहाल देत मान बाल-बाल के
कहै 'जिन' धरा तेरे ये हैं उपगार गुन,
गिने कसें जात जसे तारे सब रात के ॥[3]

२१ योगिराज ज्ञानसार

जीवन परिचय—ज्ञानसार जी का जन्म बीकानेर के जांगल देश की राजधानी जांगलू से पांच कोस दूर जेगनेवास ग्राम में सं० १८०१ में हुआ। इनके पिता उदयचन्द्र सांड जैन थे और माता जीवन दे था। ज्ञानसार जी का दीक्षाग्रहण से पूर्व का नाम नराण या नाराण (नारायण) था। संवत् १८१२ के दुर्भिक्ष में ये अपने ग्राम को त्याग कर बीकानेर में मुनि जिनलाभ सूरि के पास पहुँचे और उन्होंने इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया। ये मुनिजी के साथ ६ वर्ष तक विचरण करते हुए व्याकरण काव्य कोश छन्द अलंकार, आगम प्रकरण वैद्यक ज्योतिष आदि विषयों का अध्य

---

१ अन्योक्ति बावनी की प्रतिलिपि बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में है।
२ ३ अन्योक्ति बावनी पृ० ५८, ४६

यन करते रहे। संवत् १८२१ में पाटन ग्राम में जब इन्होंने दीक्षा-ग्रहण की तब इनका नाम ज्ञानसार रखा गया।

अध्ययन के पश्चात् इन्होंने जैनधर्म का प्रचार आरम्भ किया और देश में दूर-दूर तक यात्राएँ कीं। इनकी विद्वत्ता तथा निस्पृहता से राजस्थान के अनेक शासक प्रभावित थे। कला कौशल में भी ये निपुण थे और बहुत सुन्दर अक्षर लिखा करते थे। कवि नवल राम ने इनके विषय में लिखा है—

करें चित्रकर्म सो सुन्दर सुधार जाके
अक्षर में ज्ञान सब, ज्योतिष यंत्र मंत्र को।

इनकी मातृभाषा तो राजस्थानी थी परन्तु इन्हें गुजराती ब्रजभाषा सिंधी और हिन्दी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था।

ग्रंथ परिचय—ज्ञानसार जी ने हिन्दी राजस्थानी और गुजराती में धर्म दर्शन भक्ति छंद आलोचना नीति आदि अनेक विषयों पर साहित्य रचना की। नीति पर इनके दो ही ग्रंथ हैं—संबोध अष्टोत्तरी तथा प्रास्ताविक अष्टोत्तरी। इनके अतिरिक्त नीति विषयक इनकी दो कुण्डलियाँ भी प्राप्त हैं एक कूप पर और दूसरी 'पक्षी और मुनि' पर।

संबोध अष्टोत्तरी—मुनि जी ने इस काव्य का रचना-काल सं० १८३८ दिया है—

हुयै उपजो बोध, अठार अड़तीसमें।
कें सुक्ल तिथि तीज निरखी जयतार मारखा॥[1]

जिस हस्तलिखित प्रति से श्री अगरचन्द नाहटा ने इसका सम्पादन ज्ञान ग्रंथावली में किया है उसे नागपुर निवासी गौड़ ब्राह्मण कालीनाथ ने रतलाम में सं० १९४ में लिपिबद्ध किया था।[2] राजस्थानी भाषा की इस मुक्तक रचना में केवल १०८ सोरठे हैं जिनमें लोभ से हानि धनचाह कंजूस असार संसार नश्वर शरीर भाग्यहीन जन पूर्व कृत पुण्य-पापों के परिणाम स्वार्थमय स्नेह ज्ञान दान तथा अकाम सेवा आदि अनेक उपयोगी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। कुछ सोरठे निस्सन्देह सरस हैं परन्तु अधिकतर सोरठे कल्पना तथा राग-तत्त्व की न्यूनता के कारण सूक्ति-मात्र हैं। यथा—

---

१ अगरचन्द नाहटा: ज्ञानसार ग्रन्थावली संबोध अष्टोत्तरी पृष्ठ १८८। सं० २०१६ में बीकानेर से इनके 'ज्ञानसार ग्रन्थावली' के मूल पाठ से पृष्ठ पद्यादि की संख्या उन्हीं के अनुसार दी गई है।

२ इति श्री संबोध अष्टोत्तरी परिपूर्ण ज्ञानसारस्य संवत् १९४१ वर्षे मिती अषाढ़ सुदि ७ रवि शुभं भवतु। लिखितं ब्राह्मण गौड़ कालीनाथ मेमपुत्र। नागपुर गौवासी लिखितं नगर रतलाम मध्ये समाप्तम्॥ (वही संबोध अष्टोत्तरी टिप्पणी)

> चौड़ा पर कपास, मासा ईसब मीसरे ।
> छठे फिर सेंठमास, नहीं पथ बिन मारणा ॥[1]
> सबला तरणो सनेह मिलसी सु सोही नहीं ।
> अविहर मोह जरे हु, मिले पुरुण नहीं मारणा ॥[2]
> पसिये जिण रे वास तिन सूं कदे न सोहिये ।
> प्रणधणियें आवास, नां रहि सखीयें मारणा ॥[3]

प्रास्ताविक अष्टोत्तरी—हिन्दी भाषा में प्रणीत इस मुक्तक-काव्य का प्रणयन-काल मुनि जी ने संवत् १८८० दिया है—

> सता अवयमनाप दुग त्यों आस्तास समास ।
> संवत मास मास पुर विक्रम दस चौमास ॥[4]

इसमें निःस्पृह नर की निडरता पूर्वकृत कर्मफलाप की प्रबलता इच्छा से फल की अप्राप्ति तथा अनिच्छा से प्राप्ति आयु की निश्चितता गुण से गुणी की ख्याति का विस्तार पराधीनता से अमीर की हत्या विदीर्ण हृदय का मृदु वचन से उपचार बड़ी बात बड़ों के ही पेट में पचती है आदि नीति के अनेक विषयों का प्रभावशाली रीति से प्रतिपादन किया गया है । रचना की तीन बातों पर पाठक की दृष्टि अनायास जा पड़ती है—(क) स्थानीय प्रभाव (ख) आत्मानुभूति (ग) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव ।

(क) स्थानीय प्रभाव—निम्नलिखित ढंग के दोहे एक राजस्थानी कवि ही लिख सकता है, दूसरा नहीं—

> बरसा जल सब देस सब, ऐंचत अपनी ओर ।
> जाके हुवे पतंग की सूझत सब पर जोर[5]
> पिंगल की कवितान में, पिंगल को न समेख ।
> डारिम में कबहुँ न हुवे, चंद किरन सी देख ॥[6]

(ख) आत्मानुभूति—अस्सी वर्ष के वय तक पहुँचे हुए कवि को विशाल तथा गम्भीर सांसारिक अनुभव हो चुका था इस बात का परिचय उनके अनेक दोहों से सहज ही हो जाता है । उन्हीं अनुभवों को मुनि जी ने नैतिक तथ्यों के समर्थन में बड़े रोचक ढंग से उपन्यस्त किया है । जैसे—

> बिन मदी सच हो जिम, काहू काठ न मिलत ।
> चमक गुण चोरासरी, माता भासा देत ॥[7]
> मन फाट फूं मृदु वचन, कह्यो परम उपचार ।
> टूक-टूक कर सुमन पूं, टांका देत सुनार ॥[8]

---

१ २ वही, पृष्ठ १८३। ३९, १८८। १०२, १८६। ८८

४ वही प्रास्ताविक अष्टोत्तरी, पृष्ठ २०१।१११। (सता=१ अवयमनाप=८, दुग च्यो यार (८), आस्तास=०(१८८० वि०) ।

५-८. वही पृष्ठ १८३।५, १९०।१०, १९०।१६, १९३।७४

(घ) संस्कृत-साहित्य का प्रभाव—अन्य कवियों के समान जहाँ इन के अनेक दोहों में नीति की कई शिक्षाएँ तथा दृष्टान्त संस्कृत साहित्य से लिये गए हैं वहाँ इन्होंने संस्कृत के अनेक लौकिक न्यायों—अंधगज न्याय घुणाक्षर न्याय अजाकृपाणी न्याय आदि—का भी अपनी रचना में सफल प्रयोग किया है। निम्नांकित दोहों से उक्त कथन का समर्थन हो जायगा—

चाहत कोई मिलत सब या सम सुखी न और ।
मेहागम सुनि गरज सुनि ज्यों खिल हरखत मोर ॥[1]
कोई कहू कोई कछू कहै आतमा ताय ।
जिन मत जिन सब मत कथन अन्ध गयंदे न्याय ॥[2]

कहना न होगा कि मेघागम पर मयूरनर्तन और विभिन्न व्यक्तियों के ज्ञान की अपूर्णता का संकेत करने के लिए अन्धगज-न्याय का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में नितान्त सुलभ है।

मुनि जी की इस अष्टोत्तरी की भाषा सरल सुबोध व्रजभाषा है। उसमें कहीं-कहीं रेजगारी दरजी, नफो (नफ़ह) रकम आदि प्रचलित विदेशी शब्द भी प्रयुक्त किये गए हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी कहीं-कहीं दिखाई देता है और दोहों को अविकल बनाने के लिए एकाध स्थल पर शब्दों को विकृत भी किया गया है। जैसे—

लघु मुख मोटी बात तें, नफो न देख्यौ और ।
मरणपखंठे आवहीं ज्यों चींटी के पांख ॥[3]

उक्त दोहे में 'मरणोपकंठे' के स्थान पर 'मरणपखंठे' रूप दोहे में मात्रा-संख्या को शुद्ध रखने के लिए किया गया है और चीटी के पंख जमना तथा लघु मुख मोटी बात मुहावरे भी प्रयुक्त हुए हैं। शब्दालंकारों में वीप्सा का तथा अर्थालंकारों में दृष्टान्त और काव्यलिंग का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। निस्संदेह यह रचना संबोधाष्टोत्तरी की अपेक्षा साहित्यक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उस युग में जब कि अधिकतर नीति कवि बत्तीसी छत्तीसी बावनी बहत्तरी और शतक लिखकर ही संतुष्ट हो जाते थे मोहिराम ने दो सुन्दर अष्टोत्तरियाँ लिखकर हिन्दी नीतिकाव्य की श्रीवृद्धि में स्तुत्य सहयोग दिया।

२२ मायूराम (मायिया)

इस कवि का जीवन चरित्र अभी तक अन्धकार में है। बीकानेर में श्री अगरचंद नाहटा से इतना ही विदित हुआ कि इनका स्फुरण-काल सम्भवतः विक्रम की उन्नीसवीं

१ २ वही मातावापित्र अष्टोत्तरी पृष्ठ ११२।११, ११७।७६
३ „ „ „ पृष्ठ ११४। २३

सदी का पूर्वार्द्ध था। बीकानेर के श्री मोतीचंद खजानची के ग्रंथ संग्रह में इनके दो नीतिकाव्य देखने में आए —(१) सिक्ष्यासार (२)कुंडलिया।

सिक्ष्यासार[1]—इस काव्य में कुल १५४ सोरठे हैं परन्तु प्रथम सोरठे के ऊपर लाल स्याही से 'दोहो' लिखा है, क्योंकि राजस्थानी में सोरठ को दोहे का भेद ही मानते हैं। सब सोरठों के अन्त में नाथिया और काव्य के अन्त में भी सिक्ष्यासार प्रथमयन नाथूराम कृत संपूर्ण लिखा हुआ है। इनकी 'कुंडलिया' में 'नाथकवि' शब्द विद्यमान है। इस से सिद्ध है कि नाथूराम काव्य में अपना नाम नाथिया या नाथ कवि लिखते थे। रचना का रंग-ढंग 'राजिया के सोरठे' के समान है और कुछ एक दोहों में तो आश्चर्यजनक समानता है। फिर भी जब तक नाथूराम के काल का निश्चित ज्ञान न हो यह कहना कठिन है कि कौन किस से प्रभावित है।

काली घणी कुरूप कस्तूरी काँटे तुलै।
सक्कर बडी सुरूप रोड़ां तुलै 'राजिया'॥ (कृपाराम)
काली लिपट कुरूप, कस्तूरी मौंहघी बिकै।
साकर मिपट सरूप, तुल न ढोंका नाथिया॥ (नाथूराम)

धन के गुण-दोष गुणों का महत्व मूर्ख की संगति जुए से हानि आदि अनेक नीति-विषयों पर इनके सोरठ दिखाई देते हैं। कृति सरल है और प्रसादयुक्त है कुछ पद्यों पर संस्कृत की छाया स्पष्ट लक्षित होती है। रचना इस प्रकार की है—

कारण गुण कहु कोम औगुण ही अरियो अनत।
छिक संपति पर होय, नमें सरस पग नाथिया॥
धड़ियो सोवन धार जड़ियो घट जैपहर सूं।
पिसु पुण की हर बार नीर न निकस नाथिया॥
मूरख संगर मंझार सिष सुधर सेहत मिली।
मिलग्यो मती सुधार माई मूरख नाथिया॥[2]

कुंडलिया[3]—केवल सात कुंडलियों की इस कृति का राम नारायण ने पौष सुदी २ सं० १९७७ में लिपिबद्ध किया था। रचना ब्रजभाषा में है कहीं-कहीं डिंगल तथा फारसी शब्दों के दिरदमन्द जाहिर आदि शब्द भी प्रयुक्त किये गए हैं। कुंडलियों की भाषा प्रवाह और प्रसाद से पूर्ण है। जैसे—

सरखा रखिये हृदय में नाहि चाहिये रीस।
नित प्रति लाउ सजातम बिसरख बिसवा बीस॥

१　यह संपूर्ण काव्य मोतीचंद खजानची संग्रह (बीकानेर) के गुटका सं० क—५ (१६) के २१४ २४२ पत्रों पर लिखित है।

२　वही पत्र २२३।१ २१२।७ २४२।१४४

३　कुंडलिया मोतीचन्द खजानची संग्रह (बीकानेर) के गुटका सं० क-१ (६) के २०५ २०६ पत्रों पर लिपिबद्ध है।

बिगरत बिसरा बोल, हाथ हुनर नहिं आवै ।
सोमत सभा न बोल, कोप पद कबहुं न पावै ॥
बहुत मान कवि बात होत याहू वाली दर या ।
छोर करन हू किये फेर सुधरत नहिं भरना ॥[1]

२५ महाकवि गणपति भारती

कवि-परिचय—मथुरामल के पुत्र गणपति माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और जयपुर-नरेश महाराजा सवाई प्रतापसिंह के सभाकवि थे। महाराज ने कुछ समय तक इनका शिष्यत्व स्वीकृत कर इन्हें एक गाँव पालकी पदवी तथा 'भारती' उपाधि से पुरस्कृत किया था। संवत् १८३२ ई० के मध्य में इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ बनाए जिनमें कुछ मौलिक हैं कुछ अनूदित और कुछ संकलित—१ भीष्मपर्व भाषा २ योगवासिष्ठ सार ३ नखपच्चीसी ४ विरहपच्चीसी ५ प्रीतिमंजरी ६ अन्योक्ति काव्य ७ शृंगार हजारा ८ वीर हजारा ९ नवरस १० चमत्कार सुधानिधि।[2]

अन्योक्ति वर्णन—श्री मोतीलाल मेनारिया ने जिस[1] ग्रन्थ को अन्योक्ति काव्य कहा है सम्भवतः वह अन्योक्ति वर्णन से अभिन्न है। 'अन्योक्ति वर्णन' की जो हस्तलिखित प्रति[3] हमें जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में मिली उसे विद्याभूषण पुरोहित हरिनारायण जी बी० ए० की प्रेरणा से पं० गोपीचन्द शर्मा ने सं० १९९२ वि० में लिखा था। फुलस्केप आकार के साढ़े छह पृष्ठों पर लिपिबद्ध प्रति के अन्त में लिपिकार ने यह टिप्पणी दी है—

'इस अन्योक्ति के केवल इकतीस छंद मिले सो लिखे गए। ग्रन्थ अधूरा मिला। अन्त की ओर के पद्य नहीं मिले।'

इस खंडित प्रति में केवल साढ़े तीस अन्योक्तियाँ हैं जिनमें सूर्य चन्द्र सिंह गज आदि सचेत एवं अचेत पदार्थों के द्वारा राजा तथा उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्ति वर्ग के व्यवहार की सुन्दर रीति से व्यंजना की गई है। जहाँ कवि ने प्रत्येक पद्य में अपने नाम की छाप लगाई है वहाँ प्रत्येक अन्योक्ति के पश्चात् गद्य में, एकाध पंक्ति में अन्योक्ति का आशय भी स्पष्ट कर दिया है। कवित्त और सवैया छन्दों का ही प्रयोग दिखाई देता है परन्तु सवैया को भी कवित्त नाम से ही अभिहित किया गया है। रचना अनुप्रासमयी ब्रजभाषा में है जिसमें राजस्थानी के भी कुछ शब्द दिखाई देते हैं। कृति में प्रसाद ओज तथा माधुर्य तीनों ही गुण विद्यमान हैं। आकार के विचार से रचना का महत्त्व कम ही है परन्तु गुण की दृष्टि से अच्छा है। यथा—

---

१ माणिक्य: कुंडलिया पद्य २०।१३
२ मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० १२४-२५
३ अन्योक्ति वर्णन विद्याभूषण पुस्तकालय जयपुर, प्रति क्रमांक १३६३

॥ सूर्यान्योक्तियथा ॥

दीपक उजेरे माँझ मेरे ही रह्यो हो छिपि
जिगनू प्रकास भास मेरु करि हौं गयो ।
चन्द के प्रकास माँझ भास तो रही ही मन्द
यद्यपि होत जामिनि भामि भूप सौं ठयो ।
भारती बहुत भमराम्रों सो फिरत क्यों व
पायो ही समाधि देखि बीज विष को गयो ॥
मानि न सकेयो छिन आय कै मुकुन्दै दौरि
ऐरे तम जानि अब भानु को उदय भयो ॥[1]
॥ इहाँ सूर्य करिके उत्तम नरेस जानिये
तम करिके छोटे स्थान वारो जानिय ॥१॥

२४ श्यामदास

बूँदी के पंडित मथुराराम मेहता के भानजे पंडित रामजीवन नागर को पूर्वजों के ग्रंथ-संग्रह में से श्यामदास-कृत 'हित-उपदेश'[2] नामक ग्रंथ प्राप्त हुआ था। उसमें ८६ पत्र हैं और प्रति-पृष्ठ सात पंक्तियाँ हैं। पुस्तक के आदि में गणेश, शिव तथा लक्ष्मी के सुन्दर रंगदार चित्र हैं। अक्षर अति सूक्ष्म तथा सुन्दर हैं। पत्रों का आकार ६ × २½ है परन्तु लिखित भाग ४½ × १ है। पुस्तक के दो पत्र लुप्त हैं। एक चवालीसवाँ तथा दूसरा इति श्री के बाद का। इसलिए यह नहीं कह सकते कि ११४ से १२० तक के दोहों में तथा 'इतिश्री' के बाद क्या सामग्री थी। ग्रंथ की समाप्ति के तेरह दोहों[3] में ग्रंथ रचना का जो इतिहास दिया गया है, उससे विदित होता है कि 'हिन्द के बादशाह आलम आलमगीर' ने अपरिचित बातें थीं उनका पत्र जो जामिनी (यावनी फारसी ?) भाषा में बताई और उनका भाषा दास श्यामदास[4] ने संवत् १८४४[5] के माघ मास में वसंत पंचमी का शाम (सोम ?) वार इस ग्रंथ को भाषा-रचित

१ अन्योक्ति वर्णन, पृष्ठ ११९
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका के आश्विन संवत् १९८७ के अंक में (पृ० १६८—१७५) इस पुस्तक को औरंगजेब का हित-उपदेश कहा गया है परन्तु संवत् १८४४ में औरंगजेब शासक नहीं, द्वितीय शाह आलम (आलम आलमगीर) का शासन था और सम्भवतः उन्हीं के उपदेशों को इस पुस्तक में लिपिबद्ध किया गया है। (मीरातससल्तनत मुगल एम्पायर इन इंडिया खंड ३ बम्बई १९४१ ई० पृष्ठ ६६६)
३ ना० प्र० पत्रिका (आश्विन १९८७ वि०) पृष्ठ १७० ।७१
४ श्यामदास या रीति तें समुझि दास जो सत्त । दोहा ८
५. एक आठ औ चार के आगे पैदहि पाम । सो संवत् यह जानिए मनिके कर परमान (दोहा ९)॥

… रामरेख तीर्थ भी है पूर्ण किया।

यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक बातों से सर्वथा मुक्त है और राजनीति लोकाचार तथा धर्म की बातों से युक्त। जिस प्रकार विदुर नीति में संख्याक्रम से नीति उपदिष्ट है उसी प्रकार इसमें भी दो बातें तीन बातें आदि शीर्षक देकर उपादेय तथा हेय बातों का उल्लेख किया गया है। स्वामी-शुनक-न्याय के अनुसार 'दो बात' शीर्षक के दो दोहे उद्धृत किये जाते हैं—

दोय वस्तु तें जगत में अति उत्तम कछु नांहि।
निश्चय ईश्वर नाम पै दया जीव के टांहि॥
है अधम तें अधम नर नाहीं जगत प्रसिद्धि।
अहंकार भगवान तें जन अपकारी बुद्धि॥[2]

विषय के विचार से रचना उपादेय है परन्तु साहित्यिकता की दृष्टि से इसे काव्य न कहकर तुकबन्दी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

२५. कृपाराम बारहठ

खिड़िया शाखा के चारण कृपाराम का जन्म जगराम के घर में उन्नीसवीं शती विक्रम के पूर्वार्द्ध में खराडी गाँव (जोधपुर राज्य) में हुआ था। ये सीकर के रावराजा लक्ष्मणसिंह के पास रहते थे जिन्होंने इन्हें खाली गाँव जागीर में दिया था। कहते हैं इन्होंने 'चालक नेची' नाटक और एक अलंकार-ग्रन्थ रचा था परन्तु ये दोनों अभी तक प्राप्त नहीं हुए। इनके बनाये हुए लगभग १७५ फुटकल सोरठे प्राप्त होते हैं जो "राजिया के सोरठे"[3] नाम से प्रसिद्ध हैं।

राजिया के सोरठे—अखिल भारतीय चारण राजपूत महासभा अजमेर का मत है कि ये दोहे राजाराम चौहान (राजिया) के हैं जिन का जन्म सं० १८२५ के लगभग मारवाड़ के कुचामण ठिकाने के जुसरी गाँव में हुआ था। इसके विपरीत चारणों का मत यह है कि राजिया स्वयं कृपाराम का नौकर था। जब १८५२ वि० में कृपाराम अत्यधिक रुग्ण और राजिया की सच्ची सेवा से स्वस्थ हुए तब उन्होंने प्रसन्न होकर राजिया को कहा—तुझे अमर कर दूंगा। कहते हैं इसी उद्देश्य से कवि ने लगभग ५०० सोरठों की रचना की थी। उनमें से आज पौने दो सौ के लगभग ही उपलब्ध हैं और प्रत्येक सोरठे में राजिया को सम्बोधित किया गया है। श्री मोतीलाल

---

१ सो गंग के तट बिसे बसत पांच सुहाय॥ दोहा १२
२ वही पृष्ठ १०४ दोहा १, २
३ सं० नरेन्द्र सिंह गहलोत : राजिया के सोरठे प्र० हिन्दी साहित्य मन्दिर, घंटाघर जोधपुर १६२७ ई०

मेनारिया भी इन्हें कृपाराम की रचना मानते हैं।[1] हमारे विचार में ये सोरठे इतने भावपूर्ण तथा सुन्दर हैं कि इन्हें किसी सामान्य लेखक की कृति मानने में संकोच होता है इसलिए इन्हें कृपाराम-कृत मानना ही उचित है।

लगभग एक शताब्दी तक ये सोरठे राजस्थानी जनता की जिह्वा पर रहे परन्तु पीछे १८८१ ई० में जोधपुर के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर कर्नल पी० डब्ल्यू० पौलेट ने इन्हें संगृहीत तथा अंग्रेजी में अनूदित किया। इन सोरठों में नीति तथा उपदेश की बातें डिंगल भाषा में बड़े मार्मिक ढंग से कही गई हैं। गुजराती सिन्धी अरबी और फारसी भाषाओं के भी अनेक शब्द दिखाई देते हैं। रचना प्रसाद-पूर्ण है। कुछ उदाहरण लीजिये—

मूसा ने मंजार, हित कर बैठा हेकठा।
सब जाणें संसार, रहै न रहसी राजिया॥[2]
काली घणों कुरूप, कसतूरी काँटे तुलै।
शक्कर बड़ी सुरूप, रोड़ा तुलै राजिया॥[3]
भाड़, कोस, मल, मेघ, बारन में मेला वसे।
इसकी अंकरो हेक, रस की बाप राजिया॥[4]

२६ बाँकीदास

जीवन-परिचय—आशिया शाखा के चारण दलितदान के पौत्र तथा फतहसिंह के पुत्र बाँकीदास का जन्म पंच भद्रा ग्राम (जोधपुर राज्य) में संवत् १८२८ में हुआ था। पन्द्रह वर्ष के वय तक पिता से काव्य-शिक्षा ग्रहण करने के बाद इन्होंने जोधपुर में अनेक गुरुओं से काव्यशास्त्रों का अध्ययन किया—

'बक इतेयक गुरु किये, जितरह सर पर केस।'

इनकी विद्वत्ता तथा गुणों से प्रभावित होकर जोधपुर-नरेश महाराज मानसिंह ने इन्हें जागीर प्रदान की और इनसे भाषा-साहित्य का अध्ययन भी करने लगे। महाराज ने इन्हें अपनी मुहर पर यह बरवै खुदवाने की अनुज्ञा दी हुई थी—

श्रीमान मानधरनिपति बहुगुन रास।
जिन भाषा गुरु कीनो बाँको दास॥

बाँकीदास संस्कृत फारसी ब्रज और डिंगल भाषाओं तथा इतिहास के विद्वान थे। इन की धारणा-शक्ति विलक्षण थी। किसी पद्य को एक ही बार सुनकर तुरन्त सुना देते थे और दो बार सुनकर तो उलटा भी सुना सकते थे। ये निर्भीक स्पष्टवादी आत्मसम्मानी और दानी थे। एक बार इन्होंने महाराज से स्पष्ट कह दिया

१ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य (प्रयाग, २००८ वि०) पृ० २२६

२-४ राजिया के सोरठे, पृष्ठ २१।८१ ३२।१३६, १६।६८

था—'ये आप के कुमार कुसुम निकलेंगे और हमारा अपयश होगा अतः इन्हें न पढ़ा ऊँगा।' उदयपुर के महाराणा से निमन्त्रण पाकर इन्होंने महाराजा मानसिंह से कहा था—'सिसोदी का राज्य मिलता हो तो भी आप जैसे स्वामी को त्याग कर नहीं जाना चाहता।' निस्सन्तान होने के कारण इन्होंने अपने भतीजे भारतदान को गोद लिया था। संवत् १८९० में ये स्वर्ग सिधारे।

रचनाएँ—इनकी २६ पुस्तकें तथा कुछ स्फुट रचनाएँ बांकीदास-ग्रंथावली के तीन भागों में[1] प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त इनके १३ ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं।[2] इनके प्रकाशित ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

(१) सूर छत्तीसी (२) सीह छत्तीसी (३) वीरविनोद (४) धवल पच्चीसी (५) दातार बावनी (६) नीति मञ्जरी (७) सुपह छत्तीसी (८) वैसक वार्ता (९) मावड़िया मिजाज (१०) कृपण दर्पण (११) मोह-मर्दन (१२) चुगल मुख चपेटिका (१३) वैसवार्ता (१४) कुकवि बत्तीसी (१५) विदुर बत्तीसी (१६) भुरजाल भूषण (१७) गंगालहरी (१८) जेहल जस जड़ाव (१९) कायर बावनी (२०) झमाल नखशिख (२१) सुजस छत्तीसी (२२) सन्तोष बावनी (२३) सिद्धराव छत्तीसी (२४) वचनविवेक पच्चीसी (२५) कृपण छत्तीसी (२६) हमरोट छत्तीसी (२७) स्फुट-संग्रह।

उक्त ग्रन्थों में से ७ १६ १७ १८ २० २१ २६, २७ संख्यक आठ ग्रन्थ विविध-विषयक हैं, शेष १९ का सम्बन्ध नीति है।

नीतिविषयक काव्यों का संक्षिप्त परिचय

१ सूर छत्तीसी—३८ दोहों का यह काव्य मुक्तक शैली में प्रणीत है। दोहों में वीरों की प्रशंसा, उनकी मौज मस्त-धारण, कवच युक्त वीरमणि वीरगति के अनन्तर विमानारोहण अप्सराओं का आलिंगन कायरों की निम्न गति का ओजस्वी वर्णन है। वीरपत्नी की अपनी सखियों के प्रति गर्वोक्तियाँ भी बहुत सुन्दर हैं।

---

१ बांकीदास ग्रन्थावली पहला भाग, ना० प्र० सभा०, काशी, सं० १९८१ दूसरा भाग, प्रकाशक, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग १९३१ ई०, तीसरा भाग ना० प्र० सभा, काशी १९३८ ई०

२ वे १३ ग्रन्थ ये हैं—१ दुर्गादत्त वाणिका २ विरह वाणिका ३ अलंकार वाणिका ४ मान ज्योमदन ५ नखरूपल दर्पण ६ वीरासम्वाली संग्रह ७. श्री दरबारदी कविता (श्री दरबार का कवित्त) ८. रस तथा अलंकार का ग्रंथ ९. पुस्त रत्नाकर भाषा का व्याख्या १० महाभारत छन्दोनुवाद ११ गीत या छन्दों का संग्रह १२ ऐतिहासिक बातों संग्रह १३ अमरसंहिता (बांकीदास ग्रन्थावली भाग, ३, भूमिका, पृष्ठ १-२)

२ सीह छत्तीसी—सिंहों के पराक्रम के विषय पर लिखे गए इस मुक्तक-काव्य में ३८ दोहे हैं। केसरी के साहस, निर्भीकता, एकाकिता, अप्रतिहत गति, गज मर्दन आदि का अन्योक्ति शैली में अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया गया है।

३ वीर विनोद—७१ दोहों के इस मुक्तक काव्य की रचना बांकीदास ने वीरों के मन में मानव की वृद्धि करने के लिए की थी।[1] कवि अधिकतर दोहों में सिंह की वीरता निर्भयता युद्धप्रियता अपने पराक्रम से अर्जित मृगेन्द्रता आदि का वर्णन करता है। युद्ध में वीरों के उत्साह, कवच, शत्रु संहार तथा शल्यचिकित्सकों के सत्कार का भी उल्लेख है। अन्योक्ति शैली का प्राधान्य है।

४ धवल पच्चीसी—इस काव्य की रचना कवि ने सं० १८८३ में की थी।[2] २४ दोहों की इस मुक्तक रचना में धवल अर्थात् श्वेत-वृषभ के अनेक गुणों का बखान किया गया है। वह अपने सुख की चिन्ता न कर असीम भार उठाता तथा भारी गाड़ी को खींचता है। वह धर्म का अवतार है, शिव का वाहन है, कामधेनु का वंशज है। काव्य में धवल के मिस से उस सेवक का गुणगान है जो अपने सुख-दुःख से विमुख होकर स्वामी को सुखी करने में लीन रहता है।

५ दातार बावनी—५१ दोहों की इस मुक्तक रचना में दानी मानव की महिमा वर्णित है। इसमें धन के अनुसार यश का विस्तार, दाता के देश में ही निवास का औचित्य, दाता ही मात-पिता और देवता है, सूर्योदय पर दाता के मुखदर्शन से मुखदर्शन, बड़े दानी से ही बोलना उचित है आदि विषयों का सविस्तर वर्णन किया गया है।

६. नीति मंजरी—३६ पद्यों के इस काव्य में २७ दोहे, १० सोरठे, १ बड़ो दूहो और १ 'दोहो दुमेलो' है।[3] इस काव्य में शत्रु से सदा सावधान रहने, उस पर विश्वास न करने और उसका येनकेन सर्वथा संहार करने की प्रेरणा की गई है।

७ वसक वार्ता—इस मुक्तक काव्य में केवल २९ पद्य हैं—२८ दोहे और एक सोरठा। चिरकाल से प्रचलित वेश्यावृत्ति की कुप्रथा से होने वाली मान धन,

---

१ बीरां दाय वणाबियो, कवि बीर-किसोर।
मसती मुक्तियां मारियां, मन में बीरां मोर॥ (वही, भाग १, पृष्ठ १६।७२)

२ अट्ठारे तेयासिये धवलास मन ध्यास।
रूपक बंध बणाडियो धवल पचीसी नाम॥ (बांकीदास ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ४५।२४)

३ 'बड़ो दूहो' में प्रथम अर्धाली सोरठे की और द्वितीय, दोहे की होती है। प्रथम और चतुर्थ चरणों में तुकसाम्य होता है। 'दोहो दुमेलो' में प्रथम अर्धाली दोहे की और द्वितीय सोरठे की होती है। द्वितीय तथा तृतीय चरण में अन्त्यानुप्रास रहता है।

स्वास्थ्य प्राप्ति की हानि का बड़ा ही चुभता हुआ वर्णन कवि ने किया है। सतीत्व की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने वेश्यागामी-पुरुषों की खूब खबर ली है।

८. मारूढ़िया मिजाज—जो पुरुष पुरुषत्व को विस्मृत कर सदा घर में माता या किसी अन्य स्त्री के समीप रहने के कारण स्त्री स्वभाव वाले बन जाते हैं उन्हें माव (?) किया कहा जाता है। कवि ने मुक्तक काव्य के ८८ दोहों में उन्हीं कापुरुषों का उपहास किया है जिससे वे जनानेपन को छोड़ फिर से पुरुषत्व को धारण कर जीवन का सदुपयोग करें।

९. कृपण-दर्पण—धन का सदुपयोग न करने वाले लोग कृपण कहे जाते हैं। जो धनवान् न अच्छा खाते-पीते हैं न पहनते ओढ़ते हैं जो अतिथि को देख द्वार बन्द कर लेते हैं जो भिक्षुओं से भी धन छीनने में संकोच नहीं करते जिन्हें 'देना' शब्द ही दुःख है उन कंजूसों-मक्खीचूसों को उनका वास्तविक मुख दिखाने के लिए ही बाँकीदास ने इस पुस्तक के हास्यव्यंग्यमय मर्मस्पर्शी ४५ दोहों की रचना की है।

१० मोहमर्दन—विवेक के अभाव के कारण मनुष्य संसार को स्थिर, शरीर को शाश्वत और सम्बन्धियों को सच्चा मानकर जगत् में मनमानी करता रहता है। कवि ने ऐसे लोगों के मोह के मर्दनार्थ तथा प्रभु भक्ति औचित्य काल की दुर्वारि दुष्टता आदि विषयों के प्रतिपादन के लिए इस मुक्तक काव्य के १६ पद्य रचे हैं। पुस्तक में १८ दोहे हैं और एक सोरठा।

११ चुगल मुख चपेटिका—पिशुन लोग राजाओं आदि के पास रहकर सकारण या अकारण ही उनके कान भरा करते हैं। कान के कच्चे लोग ऐसे नराधमों की बातों से प्रभावित होकर सज्जनों के विरुद्ध हो जाते हैं जिससे समाज की हानि होती है। ऐसे दुष्ट चुगलखोरों के लिए यह पुस्तक एक चपत है। कृति का नाम तो 'बावनी' नहीं परन्तु हैं इसमें बावन ही दोहे। एक-एक दोहा समझदार पिशुनों के लिए चपत से कम नहीं है।✓

१२ वैस-वार्ता—यह एक निन्दा-काव्य है जो लोभी कपटी अधर्मी धरोहर हड़प कर जाने वाले हलके बाट रखने वाले कम तोलने वाले पारद-पूर्ण थोलसी डण्डी रखने वाले पलड़ों में मोम चिपकाने वाले अधिक मोल लेने वाले व्यापारियों के उपहासार्थ रचा गया है। ७७ दोहों के इस व्यंग्य काव्य में मधुर व्यंग्य और उग्र कर्णकटुता दोनों ही विद्यमान हैं।

१३ कुकवि बत्तीसी—इस मुक्तक-रचना में केवल ३६ दोहे हैं जो उन तुक्कड़ों की हँसी उड़ाने के लिए लिखे गये हैं जो छन्द रस अलंकार आदि काव्य के विविध उपकरणों से परिचित न होकर भी महाकवियों से ईर्ष्या करते हैं और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए जैसी-तैसी रचना किये बिना रह ही नहीं सकते। कहीं-कहीं पर कवि ने काव्य का कुपाठ करने वालों पर भी छींटे कसे हैं।

१४ विदुर बत्तीसी—३६ दोहों के इस [illegible] कवि ने राजनीति [illegible]

के लक्षण स्वभाव व्यवहार रहन-सहन आदि का हास्यव्यंग्यमय चित्रण और उनकी संगति से उत्पन्न होने वाले दोषों का उल्लेख किया है।

१५ कायर बावनी—५४ दोहों के इस मुक्तक काव्य का रचना-काल कवि ने सं० १८७१ दिया है।[1] राजाओं का वास्तविक हित तो विद्वानों शूरवीरों आदि से होता है परन्तु कई चाटुकार कायर राजाओं की सभाओं और सेनाओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस काव्य में जहाँ उन कायरों के स्वभाव आदि का उल्लेख है वहाँ राजाओं को भी प्रेरणा की गई है कि वे भिन्न में पीठ दिखा जाने वाले कायरों को अपनी सभा, सेना आदि में स्थान न दें। इस में युद्ध से भागकर घर में आने वाले कायर और उसकी पत्नी का संवाद बहुत ही रोचक है।

१६ सुजस छत्तीसी—यश जीवन है और अपयश मृत्यु। यश की प्राप्ति वीरता दानशीलता तथा सुकृत्यों से होती है। इन्हीं विषयों पर कवि ने इस छत्तीसी के ३८ पद्यों की रचना की है जिसमें ३४ दोहे हैं तथा ४ सोरठे। दृष्टान्त रूप में जहाँ देश-विदेश के उदार जनों का नामोल्लेख हुआ है वहाँ कथन को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए रोचक तथा भयानक बातों का भी उल्लेख किया गया है।

१७ संतोष बावनी—इस कृति की रचना कवि ने सं० १८७८ में की थी।[2] इस बावनी के ५५ पद्यों में से ५१ दोहे हैं और ४ सोरठे। संतोष का महत्त्व तथा लोभ की निन्दा ही इस रचना का उद्देश्य है। इसमें संतोष की उपयोगिता निवृत्तिमार्गी लोगों के लिए ही नहीं प्रवृत्तिमार्गियों के लिए भी सम्यक दिखाई गई है।

१८ वचनविवेक पच्चीसी—इस रचना में कुल २८ पद्य हैं—२६ दोहे और २ सोरठे। रचना का उद्देश्य वाणी के सुप्रयोग की शिक्षा देना है। अशुभ असत्य और कटुभाषण से होने वाली हानियों तथा शुभ सत्य और मधुर वाणी से बन्य लाभों का सम्यक निरूपण किया गया है। दोहों के अनेक अंश लोकोक्तियों जैसा चुभीलापन लिये हुए हैं।

१९ कृपण पच्चीसी[3]—२९ पद्यों की इस कृति में एक सोरठा है और शेष

---

१ एरी तरै उठार सं सावरण दुतिपख स्वेत।
दर्पे पथ दसाणियो कायर कुजस निकेत॥ (बाँकीदास ग्रन्थावली भाग १, पृष्ठ ६६)

२ अष्टादशसै अठंतर भोळो फागण मास।
सुद तेरस संतोष गुण वरण्यो बाँकीदास॥ (बाँकीदास ग्रन्थावली भाग १ पृष्ठ ६४)

३ कुछ लोग इस पुस्तक को बाँकीदास कृत नहीं मानते। विस्तार के लिए बाँकीदास ग्रन्थावली भाग १ की भूमिका के ५६-६१ पृष्ठ देखिए।

स्वास्थ्य आदि की हानि का बड़ा ही चुभता हुआ वर्णन कवि ने किया है। सतीत्व की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने वेश्यागामी-पुरुषों की खूब खबर ली है।

८. भावड़िया मिजाज—जो पुरुष पुरुषत्व को विस्मृत कर सदा घर में माता या किसी अन्य स्त्री के समीप रहने के कारण स्त्री-स्वभाव वाले बन जाते हैं उन्हें भावड़िया कहा जाता है। कवि ने मुक्तक काव्य के ८८ दोहों में उन्हीं कापुरुषों का उपहास किया है जिससे वे जनानेपन को छोड़ फिर से पुरुषत्व को धारण कर जीवन का सदुपयोग करें।

९. कृपण-दर्पण—धन का सदुपयोग न करने वाले लोग कृपण कहे जाते हैं। जो धनवान् न अच्छा खाते-पीते हैं न पहनते ओढ़ते हैं जो अतिथि को देख द्वार बन्द कर लेते हैं जो भिक्षुओं से भी धन छीनने में संकोच नहीं करते जिन्हें 'देना' शब्द से ही डर है उन कंजूसों-मक्खीचूसों को उनका वास्तविक मुख दिखाने के लिए ही बांकीदास ने इस पुस्तक के हास्यव्यंग्यमय मर्मस्पर्शी ५१ दोहों की रचना की है।

१० मोहमर्दन—विवेक के अभाव के कारण मनुष्य संसार को स्थिर शरीर को शाश्वत और सम्बन्धियों को अपना मानकर जगत् में मनमानी करता रहता है। कवि ने ऐसे लोगों के मोह के मर्दनार्थ तथा प्रभु भक्ति औचित्य काल की अपरिहार्यता आदि विषयों के प्रतिपादन के लिए इस मुक्तक काव्य के ३९ पद्य रचे हैं। पुस्तक में ३८ दोहे हैं और एक सोरठा।

११ चुगल मुख चपेटिका—पिशुन लोग राजाओं आदि के पास रहकर सकारण या अकारण ही उनके कान भरा करते हैं। कान के कच्चे लोग ऐसे नराधमों की बातों से प्रभावित होकर सज्जनों के विरुद्ध हो जाते हैं जिससे समाज की हानि होती है। ऐसे दुष्ट चुगलखोरों के लिए यह पुस्तक एक चपत है। कृति का नाम तो बावनी नहीं परन्तु हैं इसमें बावन ही दोहे। एक-एक दोहा समझदार पिशुनों के लिए चपत से कम नहीं है।

१२ वैस-वार्ता—यह एक मिश्र-काव्य है जो लोभी कपटी अधर्मी धरोहर हजम कर जाने वाले हलके बाट रखने वाले कम तोलने वाले पारद-पूर्ण सोलसी डण्डी रखने वाले पलड़ों में मोम चिपकाने वाले अधिक मोल लेने वाले व्यापारियों के उपहासार्थ रचा गया है। ७७ दोहों के इस मुक्तक काव्य में मधुर व्यंग्य और उग्र भर्त्सना दोनों ही विद्यमान हैं।

१३ कुकवि बत्तीसी—इस मुक्तक-रचना में केवल ३१ दोहे हैं जो उन कुकवियों की हँसी उड़ाने के लिए लिखे गये हैं जो छन्द रस अलंकार आदि काव्य के विविध उपकरणों से परिचित न होकर भी महाकवियों से ईर्ष्या करते हैं और प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए ऐसी-वैसी रचना किए बिना रह ही नहीं सकते। कहीं-कहीं पर कवि ने काव्य का कुपाठ करने वालों पर भी छींटे कसे हैं।

१४ विदुर बत्तीसी—३१ दोहों के इस मुक्तक काव्य में कवि ने दासी-पुत्रों

लक्षण, स्वभाव, व्यवहार, रहन-सहन आदि का हास्य-व्यंग्यमय चित्रण और उनकी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले दोषों का उल्लेख किया है।

१५. कायर बावनी—५४ दोहों के इस मुक्तक काव्य का रचना-काल कवि ने सं० १८७१ दिया है।[1] राजाओं का वास्तविक हित तो विद्वानों, शूरवीरों आदि से होता है परन्तु कई चाटुकार कायर राजाओं की सभाओं और सेनाओं में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस काव्य में जहाँ उन कायरों के स्वभाव आदि का उल्लेख है वहाँ राजाओं से भी प्रार्थना की गई है कि वे विग्रह में पीठ दिखा जाने वाले कायरों को अपनी सभा, सेना आदि में स्थान न दें। इस में युद्ध से भागकर घर में आने वाले कायर और उसकी स्त्री का संवाद बहुत ही रोचक है।

१६. सुजस छत्तीसी—यश जीवन है और अपयश मृत्यु। यश की प्राप्ति वीरता, दानशीलता तथा सुकृत्यों से होती है। इन्हीं विषयों पर कवि ने इस छत्तीसी के ३८ पद्यों की रचना की है जिनमें ३४ दोहे हैं तथा ४ सोरठे। दृष्टान्त रूप में जहाँ देश विदेश के उदार जनों का नामोल्लेख हुआ है वहाँ अपने कथ्य को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए रोचक तथा भावात्मक बातों का भी उल्लेख किया गया है।

१७ संतोष बावनी—इस कृति की रचना कवि ने सं० १८७८ में की थी।[2] इस बावनी के ५२ पद्यों में से ४६ दोहे हैं और ६ सोरठे। संतोष का महत्त्व तथा लोभ की निन्दा ही इस रचना का उद्देश्य है। इसमें संतोष की उपयोगिता निवृत्तिमार्गी लोगों के लिए ही नहीं प्रवृत्तिमार्गियों के लिए भी सम्यक् दिखाई गई है।

१८. वचनविवेक पच्चीसी—इस रचना में कुल २८ पद्य हैं—२६ दोहे और २ सोरठे। रचना का उद्देश्य वाणी के सुप्रयोग की शिक्षा देना है। अशुभ, असत्य और कटुभाषण से होने वाली हानियों तथा शुभ सत्य और मधुर वाणी से प्राप्त लाभों का सम्यक् निरूपण किया गया है। दोहों के अनेक अंश लोकोक्तियों जैसा चुटीलापन लिये हुए हैं।

१९ कृपण पच्चीसी[3]—२९ पद्यों की इस कृति में एक सोरठा है और शेष

---

१ इक्योतरै अठार से सावण सुदि पख सेत।
दरसे ग्रंथ दसराविमो कायर बावन कियेत ॥ (बांकीदास ग्रंथावली भाग १, पृष्ठ २१)

२ अठ्ठारासै अठवर मोदी फागण मास।
सुद तेरस संतोष पुरा बरण बांकीदास ॥ (बांकीदास ग्रन्थावली भाग १, पृष्ठ ६४)

३ कुछ लोग इस पुस्तक को बांकीदास कृत नहीं मानते। विस्तार के लिए बांकीदास ग्रन्थावली भाग ३ की भूमिका के १६, १७ पृष्ठ देखिए।

दोहे। इसका विषय वही है जो उपर्युक्त कृपण-दर्पण का परन्तु दोहे नये हैं और चुटीले हैं।

बाँकीदास के नीतिकाव्य पर एक दृष्टि

उक्त रचनाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१ वैयक्तिक नीति—१ वचन विवेक पच्चीसी कुमत कुस कपोटिका ३ सूर छत्तीसी ४ सीह छत्तीसी ५ वीरविनोद ६ मावड़िया मिजाज ७ कायर बावनी ८ सुपह छत्तीसी।

२ सामाजिक-नीति—१ वैसक वार्ता २ बैस वार्ता ३ कुकवि बत्तीसी ४ विदुर बत्तीसी ५ धवल पच्चीसी।

३ आर्थिक नीति—१ संतोष बावनी २ दातार बावनी ३ कृपण-दर्पण ४ कृपण पच्चीसी।

४ मिश्रित नीति—१ नीतिमंजरी २ मोहमर्दन।

उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि बाँकीदास ने नीति के चार भेदों पर तो ग्रंथ रचना की है परन्तु पारिवारिक तथा इतर प्राणि-विषयक नीति के सम्बन्ध में किसी स्वतन्त्र ग्रंथ का प्रणयन नहीं किया। यद्यपि सीह छत्तीसी तथा धवल पच्चीसी में सिंह और बैल के गुण-कर्म-स्वभाव का उल्लेख किया गया है तथापि उनकी रचना का वास्तविक लक्ष्य उनके प्रति व्यवहार विधान का प्रतिपादन न होकर वीरता तथा स्वामिसेवा आदि का वर्णन है। इसी कारण हमने उन्हें क्रमशः वैयक्तिक तथा सामाजिक नीति के अन्तर्गत रखा है। पारिवारिक तथा इतर प्राणि-विषयक नीतिकाव्यों की उक्त उपेक्षा का कारण खोजना भी कठिन नहीं है। हम ऊपर कह चुके हैं कि बाँकीदास निस्संतान थे। प्रायः निस्सन्तान व्यक्ति की गृहस्थी नीरस हो जाती है यह भी सर्वविदित है। दूसरे उनके उक्त दर्शनों ग्रंथों तथा अन्यों ऐतिहासिक वार्ताओं से विदित होता है कि वे उत्तर वयों में साहित्यिक चर्चित थे और परिवार की ओर साहित्यिक कितना ध्यान दे पाते हैं यह भी साहित्यिक जनता से छिपा नहीं है। इसलिए यदि अन्य कवियों के समान ही इन्होंने भी पारिवारिक नीति पर स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी तो कोई आश्चर्य नहीं। जीव दया या मांसभक्षण निषेध पर स्वतंत्र ग्रंथ की आशा किसी जैन बौद्ध कवि से तो की जा सकती है परन्तु क्षत्रिय राजा के आश्रित कवि से नहीं। न बाँकीदास जैन थे और न किसी जैन नरेश के सभासद्। इसलिए उनका इस विषय पर ग्रंथ न लिखना भी विस्मयावह नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे इन विषयों पर नितान्त मौन रहे हैं। उनकी रचनाओं में इन विषयों पर फुटकर रूप से कई पद्य प्राप्त होते हैं। मावड़िया मिजाज में कवि जननी का महत्त्व या वर्णित करता है—

जनमे पोषू जगत में, जणणी पो से जीव।
जिण पुणगह पाही तलै सहु कहै हण सरीप॥

पेट भरे प्यायो पछै थयरायो मम थोय।
जिण कारण धणलोभ सूं धरणी धरयो दोय ॥[1]

प्राणियों पर दया करने वालों के तो सगा भी दुश्मन हैं और सेवक प्रत्य देखना—

चोर दया पाली जठै उदपाती रिव पाय।
धमकातो दीघो दगु पड़ी पुराणी पाय ॥[2]

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति पर कवि के जो पूर्वोक्त पाठ ग्रन्थ लिखे हैं वे दो वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) शारीरिक नीति से सम्बन्धित—(१) वचनविवेक पच्चीसी (२) चुगल मुख चपेटिका।

(ख) चारित्रिक नीति से सम्बन्धित—(१) सूर छत्तीसी (२) सिंह छत्तीसी (३) वीरविनोद (४) मावड़िया मिजाज (५) कायर बावनी (६) कुजस छत्तीसी।

(क) शारीरिक नीति से सम्बन्धित काव्य—वचनविवेक पच्चीसी तथा चुगल-मुख चपेटिका का सम्बन्ध वाग्व्यवहार से है। वचन विवेक पच्चीसी में कवि ने मधु-भाषण तथा गम्भीरता के और 'चुगलमुख चपेटिका' में पिशुनता के परित्याग की प्रबल प्रेरणा मनोहर ढंग से दी है। यथा—

वचण सदै गिरणमरण रीझ सामस राग।
पिण मुख मांमल एकूर ही, निवदियो बण नाग ॥[3]
काजम दीधै पास सिर, सीसा छटियां पास।
कुरदण चोडे गाम है, मीत सरोवर पास ॥[4]

कवि के मत में पिशुनता के समान कोई पाप नहीं है और इसीलिए वह पिशुन का निम्नलिखित मुख भी देखने का प्रतिषेध करता है। पिशुन उसी उत्सुकता से मूर्खों के कानों में मुँह लगाता है कानाफूसी करता है जिस उत्सुकता से शिशु माता के स्तनों में।[5] पिशुनों से तो बाँकीदास को इतनी अधिक घृणा थी कि वे 'वचनविवेक पच्चीसी' के अपने गाम्भीर्य के उपदेश को विस्मृत कर बैठे—

चगल मरो कीड़ो पड़ो सड़ो भड़ो दुख संग।
जग चुगला री जीभड़ी चाव्स मजो निशंग ॥[6]

यह बात ध्यान देने की है कि इन काव्यों में कवि का दृष्टिकोण आदर्शात्मक

---

१ बाँकीदास ग्रंथावली, भाग २ मावड़िया मिजाज पृष्ठ २७।७५, ३०।८८
२ वही, मोहनशी पृष्ठ ४७।१६
३-४ बाँकीदास ग्रंथावली भाग ३ वचन विवेक पच्चीसी पृष्ठ ७३।८, ७७।१२
५-६ " " " " २ चुगलमुख चपेटिका पृष्ठ ५१।२५, ५१।२८।

है व्यावहारिक नहीं। वचनविवेक पच्चीसी में अवसर विशेष पर असत्य भाषण या गाली-गान की वह छूट दिखाई नहीं देती जो वृन्द सतसई आदि में पाई जाती है।

२ प्रशस्तिक गीति—प्रशस्तिक गीति से सम्बन्धित उपर्युक्त छह काव्य तीन वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) वीरता प्रशंसा-विषयक—(१) सूर छत्तीसी (२) सीह छत्तीसी (३) वीर विनोद।

(ख) कायरता-निन्दा-विषयक—(१) मावड़िया मिजाज (२) कायर बावनी

(ग) सुभट प्राप्ति-विषयक—(१) सुभट छत्तीसी।

(क) वीरता प्रशंसा-विषयक काव्य—सूर छत्तीसी सीह छत्तीसी तथा वीरविनोद तीनों ही वीर रस की उत्तम कृतियाँ हैं। सूर छत्तीसी के वीर स्वामिधर्म का प्राण-पण से पालन कर खाया हुआ नमक हलाल करते हैं। वे युद्ध के समय न ज्योतिर्विद से मुहूर्त पूछते हैं और न शकुन की प्रतीक्षा करते हैं। उनके लिए सभी मह सरस होते हैं। वे कवच धारण कर तथा शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर रणभूमि को रुधिर से कर्दममयी बना देते हैं। उन के युद्धकौशल को देखकर नारद आदि कलहप्रिय मुनिराज हँसते हैं और उन्हें साधुवाद देते हैं। उनकी छातियाँ कपाटों के समान विशाल और सुदृढ़ होती हैं तथा मूँछें भौंहों का स्पर्श करती हैं। ऐसे वीरों की पत्नियाँ अपने पतियों की वीरता का अपनी सखियों के समक्ष सगर्व वर्णन इस प्रकार करती हैं—

सखी अमीणो, साहिबो, मयणमनोहर गात।
महाकाल मूरत रण, दरण प्रयंदा पात ॥[1]
सखी अमीणो साहिबो निरभै काळो नाग।
सिर राखै मिण सामध्रम, रीझै सिन्धुराग ॥[2]

सीह छत्तीसी तथा वीरविनोद में मुख्यतः सिंहों के ही गुण-कर्म-स्वभाव के वर्णन के व्याज से सिंहवत् वीर बनने की प्रेरणा की गई है। सिंह शिशु हो एकाकी हो तो भी बड़े-बड़े हाथियों के झुंडों से भीत नहीं होता सिंहनी का स्तन्यपायी कभी कायर नहीं होता इतर प्राणी सुप्त सिंह से भी भयत रहते हैं सिंह की मांद के पास पड़े हुए मोतियों तथा कस्तूरी की नाभि को कोई भी उठाने का साहस नहीं करता लोग गायक को सम्मुख देखकर भी नहीं डरते और सिंह के पदचिह्नों का देखते ही भय खा जाते हैं सिंहों के लिए देश-विदेश समान होते हैं सिंह के वन में पवन के बिना किसी का प्रवेश सम्भव नहीं शत्रु-संहार के बाद सिंह गुप्तपूर्वक गिरि-गुहा में शयन करता है परन्तु उसका प्रताप बाहर पहरा देता है सिंह पद-पद पर रक्त पात करता है पर मनुष्यगण इस कार्य की निन्दा करते हैं आदि वीरतापूर्ण भीतियों के वर्णन से कवि निर्जीव मानवों को भी सजीव बनाने में समर्थ है। यथा—

---

१ २ बांकीदास ग्रन्थावली भाग १ सूर छत्तीसी पृष्ठ ६।२६, ७।३३

धरतस जनक देखियाँ, कोय न जावे भाग ।
सींहाँ केरा कोम सूं, मांजीजे डर माय ।[1]
साहूलो वन साहियो, कांटे पग-पग सूल ।
कायरड़ा इण काम सूं, अंचक नहीं अचूक ॥[2]
के संती भृकुटी खिता, खिता नखो वन जस्त ।
समझाया है वे सखा, साहूले बलवत ॥[3]

इन काव्यों में दो बातों पर विशेष बल है—सेवकों की स्वामिभक्ति और राजाओं की युद्धप्रियता। सेवक वही सच्चा है जो प्रणपण से स्वामिहित साधे और स्वामी वही स्तुत्य है जो अन्य नरेशों से बैर-वृद्धि करे और एकच्छत्र शासन स्थापित करे। कवि की दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित है व्यवहार पर नहीं। भागकर भी प्राणों की रक्षा करना पीठ दिखाकर भागते हुए शत्रु को भी क्षमा न करना आदि नीति की प्रसिद्ध बातों का इनमें उल्लेख नहीं मिलता।

(ख) कायरता-निंदा-विषयक—वीरता और कायरता एक ही चित्र के दो पक्ष हैं। वीरता की प्रशंसा में कायरता का त्याग और कायरता की निन्दा में वीरता का ग्रहण व्यंग्य रहता ही है परन्तु कवि ने इन दोनों पर पृथक्-पृथक् काव्यरचना की है अतः विवेचन भी पृथक् करना ही उचित है। कविराज ने कायरता-विषयक दो मुक्तक काव्य रचे हैं—मावड़िया-मिजाज और कायरबावनी। क्षत्रिय नरेश के आश्रित कवि की दृष्टि में कायर का गर्हणतम माना जाना स्वाभाविक ही है। इसलिए जहाँ उसने मावड़िया में कायरों पर मर्मभेदी व्यंग्य बाण चलाये हैं वहाँ कटूक्तियों के प्रयोग में भी कोई कसर नहीं रहने दी। मावड़िया उल्लू के समान दिन भर घर में घुसा रहता है और तारों की छाया में ही बाहर निकलता है। युद्ध का चिह्न-मात्र देखकर ही वह हतप्रभ और मूर्च्छित हो जाता है। उसके मन का सब लोग वैसे ही निस्संकोच प्रयोग करते हैं जैसे गणिका के मांस का। युद्ध पर जाते समय उसके आँसू उसी प्रकार बहते हैं जैसे नवोढ़ा के आँसू ससुराल जाते समय। वस्तुतः वह पुरुष नहीं है जितनी नारी है कलमुँहा कुत्ता है—

प्रकटे नाम प्रवीरत रो नर निवाड़ियो नाम ।
नर मावड़िया नामर्दूं, बिना पयोधर बाम ॥[4]
सियां रही इस मौस सम, जबरजुओ उतराहं ।
युध जिण जाणणी भे दिये, काली मुं ह सुतराहं ॥[5]

मावड़िया मिजाज' में जहाँ मावड़ियों की खूब खबर ली गई है वहाँ 'कायर

१ बांकीदास ग्रन्थावली भाग १, सीह छत्तीसी पृष्ठ १३।२३
२-३ " " " वीरविनोद २३।६, २२।१६
४ ५ " " " २, मावड़िया मिजाज पृष्ठ १४।८, २८।७०

बावनी' में शासकों को उपदेश दिया है कि वे वैसे चाटुकार कायरों को न सभा में रखें न सेना में क्योंकि वे संकट के समय साथ नहीं देते। उन्हें तो काले बैल पर चढ़ा कर निर्वासित कर देना चाहिए क्योंकि वे अधम और अपख्याति के ही भागी हैं, शत्रु को सम्मुख देखकर भाग खड़े होते हैं। शासकों को चाहिए कि वे लाखों मूर्खों को देकर एक पण्डित और लाखों कायरों को देकर एक वीर खरीदें। इस काव्य में स्वामि-भक्ति पर बहुत बल दिया गया है तथा पत्नी और भगोड़ पति का संवाद तो बहुत ही मार्मिक है। पति को सर्वथा स्वस्थ सकुशल देखकर पत्नी व्यंग्यपूर्वक पूछती है कि आप के मूछ नाक सिर आदि पर तो घाव नहीं लगा। उत्तर में कायर पति कहता है कि ये सब तो स्वस्थ हैं परन्तु भागते समय पगड़ी गिर पड़ी है सो और मंगवा लूँगा। इस पर पति को लज्जित करने के लिए पत्नी कहती है पगड़ी तो बजाज से खरीद लोगे परन्तु प्रतिष्ठा कहाँ से लाओगे—

मोल बजाजाँ मुख पी लेसो मोल मंगाय।
ईज्जत किण विध लावसो पूछूं हँसा पाय ॥[1]

सत्य कथन की बात है कि कायरता की निन्दा के विषय में छिटपुट रूप से कई पद्य प्राचीन कवियों के उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु इस प्रकार की हास्यव्यंग्यमयी सम्पूर्ण रचनाएँ उस समय तक अदृष्टपूर्व ही थीं।

(ग) सुयश-प्राप्ति विषयक काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत एक ही काव्य है—'सुजस छत्तीसी'। इस काव्य में कवि ने यश के उपार्जन पर बहुत बल दिया है क्योंकि वही सर्वोत्तम आभरण और रत्न है। यश-प्राप्ति के साधनों में यद्यपि कवि ने प्रतिज्ञा पालन मधुर भाषण शरीर के मोह का त्याग वीरता अभ्यागत का सम्मान, निमक हलाली आदि कई गुणों का उल्लेख किया गया है तथापि अधिक बल दानशीलता पर है जो एक राजाश्रित चारण कवि के लिए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कवि ने ऊमड़ जगदेव पवार विक्रम वेहाभारामणी हातमताई आदि देश-विदेश के अनेक यशस्वी दानियों का उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। यद्यपि अधिकतर दोहे विशेष सरस नहीं हैं तथापि कुछ दोहे सुन्दर हैं—

मतो धन अवतार मन दया धन सरीरे न।
तन काली मिसरू तणो, कंचूक सेत रहे न ॥[2]
धारी रत यशुभन जिका राम धारियाँ शुहाय।
मर जीवै मरलोक में, जस अमरापुर जाय ॥[3]

सामाजिक नीति—सामाजिक विषयों पर कवि ने जिन पांच काव्यों की रचना की है वे दो प्रकार के हैं—

---

१ बांकीदास ग्रन्थावली भाग ३, कायर बावनी, पृष्ठ २६।३८
२ वही भाग ३ सुजस छत्तीसी पृष्ठ ४८।११
३ वही भाग ३ सुजस छत्तीसी, पृष्ठ ५१।३१

(क) निन्दात्मक (ख) प्रशंसात्मक।

(क) निन्दात्मक काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत कवि के ये चार काव्य आते हैं—(१) वेसक वार्ता (२) वैस वार्ता (३) कुकवि बत्तीसी (४) विदुर बत्तीसी।

१ वेसक वार्ता—इस काव्य में वेश्याओं तथा वेश्यागामियों की निन्दा है और वेश्याप्रसंग से उत्पन्न होने वाले दोषों का सविस्तर वर्णन। संस्कृत में क्षेमेन्द्र ने इसी विषय पर समयमातृका की रचना की थी और अमितगति भी सुभाषित रत्न संदोह का एक खण्ड इसे समर्पित कर चुके थे। संस्कृत और हिन्दी के कवियों का ध्यान युवकों को वेश्यागमन से बचाने की ओर तो अवश्य गया है परन्तु उन भाग्यहीन स्त्रियों की ओर नहीं जिन्हें सामाजिक कुपरिस्थितियों के कारण इस जघन्य व्यवसाय को विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है। वस्तुतः उस समय तक लेखकों में तथाविध सुधारक दृष्टिकोण का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। अस्तु बांकीदास ने वेश्यागमन से होने वाले तेज बल आयु यश धन बुद्धि प्रतिष्ठा स्वास्थ्य आदि के नाश का वर्णन तो खूब किया है परन्तु पर्याप्त दोहे इतिवृत्तात्मक हैं। फिर भी इस काव्य में शृंगार-रस की सुन्दर व्यंजना हुई है। उद्दीपन के रूप में सावन झूले तीज मोर पपीहे आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है। वेश्यागामी व्यक्ति की व्यथित नारी का वर्णन तो बहुत-ही मार्मिक है। कुछ दोहे देखिए—

रतियां रो इन रोग सूं, सड़ जावे नह खोय।
हेम रजत कातर हुवै, पाथर ओप पलोय॥[1]

वेश्यागामी की सती पत्नी की पुकार सचमुच हृदय विदीर्ण करने वाली है—

मैं जीवो सावे मते, नायक तोसूं नेह।
बरा आवें सो गेह बिन, दाहु विरह मम देह॥[2]

२ वैसवार्ता—जैसे क्षेमेन्द्र ने विविध व्यवसायियों की वंचनाओं से लोगों को सावधान करने के लिए 'कलाविलास' की रचना की थी वैसे ही वैश्यों से सतर्क रखने के लिए बांकीदास ने वैसवार्ता की। जीवन के लिए धन अनिवार्य है और धनोपार्जन का मुख्य साधन है व्यापार। व्यापार यदि सत्यता-पूर्वक किया जाए तो प्रशस्य है परन्तु वैसे व्यापार में लाभ का अधिक अवकाश नहीं रहता। इसलिए प्रायः देखा जाता है कि बनिये शीघ्र ही बहुत धनाढ्य बनने के लिए चरित्र तथा सदाचार के विचार को ताक पर रखकर प्रत्येक उचित-अनुचित साधन का निःसंकोच प्रयोग करते हैं—

जप अपजस देख नहीं देख स्वारथ दाय।
जिम तिम कर वणियो रहै, वणियो लेस बहाय॥[3]

एक तो बांकीदास को यह बात बहुत बुरी लगती थी और दूसरे कदाचित् उन्हें

१-२ बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, वैसिक वार्ता, पृष्ठ ५।११ ५।५२

३ वही, भाग २, वैस वार्ता पृष्ठ ५८।३

बावनी' में शासकों को उपदेश दिया है कि वे ऐसे चाटुकार कायरों को न सभा में रखें न सेना में क्योंकि वे संकट के समय साथ नहीं देते। उन्हें तो गधे पर चढ़ा कर निर्वासित कर देना चाहिए क्योंकि वे अधर्म और अपकीर्ति से डरते नहीं, आगत शत्रु को सम्मुख देखकर भाग खड़े होते हैं। शासकों को चाहिए कि वे लाखों मूर्खों को देकर एक पण्डित और लाखों कायरों को देकर एक वीर खरीदें। इस काव्य में स्वामि भक्ति पर बहुत बल दिया गया है तथा पत्नी और भगोड़े पति का संवाद तो बहुत ही मार्मिक है। पति को सर्वथा स्वस्थ और ... देखकर पत्नी व्यंग्यपूर्वक पूछती है कि आप के मुख नाक सिर आदि पर तो घाव नहीं लगा। उत्तर में कायर पति कहता है कि ये सब तो स्वस्थ हैं परन्तु भागते समय पगड़ी गिर पड़ी है सो और मंगवा लूँगा। इस पर पति को लज्जित करने के लिए पत्नी कहती है पगड़ी तो बजाज से खरीद लोगे परन्तु प्रतिष्ठा कहाँ से लाओगे—

पाघ बजाजां पूछ पी रोलो मोल मगाड़ ।
इज्जत किण किण हाटतो मुई हेला पाड़ ॥[1]

लक्ष्य करने की बात है कि कायरता की निन्दा के विषय में छिटपुट रूप से कई पद्य प्राचीन कवियों के उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु इस प्रकार की हास्यव्यंग्यमयी सम्पूर्ण रचनाएँ उस समय तक अदृष्टपूर्व ही थीं।

(ग) सुयश-प्राप्ति विषयक काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत एक ही काव्य है—सुजस छत्तीसी। इस काव्य में कवि ने यश के उपार्जन पर बहुत बल दिया है क्योंकि यही सर्वोत्तम आभरण और धन है। यश-प्राप्ति के साधनों में यद्यपि कवि ने प्रतिभा पालन मधुर भाषण शरीर के मोह का त्याग वीरता अभ्यागत का सम्मान, निरहंकारी आदि कई गुणों का उल्लेख किया गया है तथापि अधिक बल दानशीलता पर है जो एक राजाश्रित चारण कवि के लिए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कवि ने ऊदड़ जगदेव पंवार विक्रम चाहामाराणी हातमताई आदि देश-विदेश के अनेक यशस्वी दानियों का उदाहरण रूप में उल्लेख किया है। यद्यपि अधिकतर दोहे विशेष सरस नहीं हैं तथापि कुछ दोहे सुन्दर हैं—

मेंणी धन भरतार मन, धण जस तली रहै न ।
तन ढाली बिसहर तणो, कंचुक सीत रहै न ॥[2]
धारी धन अपभुर जिका सत पारियां सुहाय ।
नर पीव जसमोद में अमर अमरापुर जाय ॥[3]

सामाजिक नीति—सामाजिक विषयों पर कवि ने जिन पाँच काव्यों की रचना की है वे दो प्रकार के हैं—

१ बाँकीदास ग्रन्थावली भाग २, कायर बावनी, पृष्ठ २६।५८
२ वही, भाग ३ सुजस छत्तीसी पृष्ठ ४८।२१
३ वही भाग ३ सुजस छत्तीसी पृष्ठ ५१।११

(क) निन्दात्मक (ख) प्रशंसात्मक।

(क) निन्दात्मक काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत कवि के ये चार काव्य आते हैं—(१) वैसक वार्ता (२) वैस वार्ता (३) कुकवि बत्तीसी (४) विदुर बत्तीसी।

१ वैसक वार्ता—इस काव्य में वेश्याओं तथा वेश्यागामियों की निन्दा है और वेश्याप्रसंग से उत्पन्न होने वाले दोषों का सविस्तर वर्णन। संस्कृत में क्षेमेन्द्र ने इसी विषय पर समयमातृका की रचना की थी और अमितगति भी सुभाषित रत्न संदोह का एक खण्ड इसे समर्पित कर चुके थे। संस्कृत और हिन्दी के कवियों का ध्यान युवकों को वेश्यागमन से बचाने की ओर तो अवश्य गया है परन्तु उन भाग्यहीन स्त्रियों की ओर नहीं जिन्हें सामाजिक कुपरिस्थितियों के कारण इस जघन्य व्यवसाय को विवश होकर स्वीकार करना पड़ता है। वस्तुतः उस समय तक लेखकों में तथाकथित सुधारक-दृष्टिकोण का आविर्भाव ही नहीं हुआ था। अस्तु बांकीदास ने वेश्यागमन से होने वाले तन बल आयु यश धन बुद्धि प्रतिष्ठा स्वास्थ्य आदि के नाश का वर्णन तो खूब किया है परन्तु पर्याप्त दोहे इतिवृत्तात्मक हैं। फिर भी इस काव्य में शृंगार-रस की सुन्दर व्यंजना हुई है। उद्दीपन के रूप में सावन, कूजें तीज और पपीहे आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है। वेश्यागामी व्यक्ति की व्यथित नारी का वर्णन तो अत्यन्त-ही मार्मिक है। कुछ दोहे देखिए—

रतियां रो तन रोग ज्यूं जद आवे नह जोय।
हेम रजत आतर हुवै, पातर लोप पलीव ॥[1]

वेश्यागामी की सती पत्नी की पुकार पत्थर हृदय विदीर्ण करने वाली है—

मैं कीधो सखि मते, नायक तोसूं नेह।
मरण आवें सो नेह मित, बाह्य विरह मत देह ॥[2]

२ वैसवार्ता—जैसे क्षेमेन्द्र ने विविध व्यवसायियों की वंचनाओं से लोगों को सावधान करने के लिए 'कलाविलास' की रचना की थी वैसे ही वैश्यों से सतर्क रखने के लिए बांकीदास ने वैसवार्ता की। जीवन के लिए धन अनिवार्य है और धनोपार्जन का मुख्य साधन है व्यापार। व्यापार यदि सत्यता-पूर्वक किया जाए तो प्रशस्य है परन्तु वैसे व्यापार में लाभ का अधिक अवकाश नहीं रहता। इसलिए प्रायः देखा जाता है कि वणिये शीघ्र ही बहुत धनाढ्य बनने के लिए धर्म तथा अधर्म के विचार को ताक पर रखकर प्रत्येक उचित अनुचित साधन का निःसंकोच प्रयोग करते हैं—

धर्म अधर्म देखे नहीं, देखे स्वारथ दाय।
जिम तिम कर वणियो रहै, वणियो सेरह बहाय ॥[3]

एक तो बांकीदास को यह बात बहुत बुरी लगती थी और दूसरे कदाचित् उन्हें

१-२ बांकीदास ग्रंथावली, भाग २ वैसक वार्ता, पृष्ठ ३।२१ ३।४१

३ वही भाग २, वैस वार्ता, पृष्ठ ५।३

एकाधिक दुश्चरित्र बनिये से पाला पड़ा था इसलिए उन्होंने इस मुक्तक काव्य में वैश्य मात्र को आड़े हाथों लिया है। वैश्य सौ चोरों के समान होता है वह विश्वासघाती तथा ठग मित्र होता है, उसका प्रत्येक अंग सदोष होता है। वह ऊपर से भी तथा भीतर से व्याघ्र है। वह पिता बन्धु सास तथा बहू को भी ठगने से नहीं चूकता। उसके लिए पैसा ही गुरु इष्ट राजा और राम है। वह मरा हुआ हो तो भी पैसे का नाम सुन भी उठता है। कसम लोभ लकड़ी बीमल्य और ची-ची करना उसके धर्म हैं। वह सम्पदा को गहरी गाड़कर दीवाला निकाल देता है और कफ़न के विषय में भी लाभ उठाना नहीं चूकता। उसके पलड़े बट्टी बाट तराजू प्रत्येक वस्तु में धोखा-ही धोखा है। और तो और वह मौत के परवाने पर 'हताशु' का 'बनायु' बनाकर यमराज को भी धोखा देकर पुनः मर्त्यलोक में लौट आता है और विष्णु को भी चकमा देकर स्वर्ग-सुख भोगने लगता है।[1] ऐसा लगता है कि कवि ऐसे वैश्यों के हाथों खूब लुटकर उन्हें जलाने भूनने के लिए ही इस मिथ्याकाव्य की रचना की है। उन्हें कुत्तों से भी नीच और अश्लील वचन कहने में भी कवि ने संकोच नहीं किया। किसी भी व्यवसाय के सभी लोग एक-से नहीं हुआ करते परन्तु बांकीदास ने एक अच्छे बनिये-नगरसेठ के सिवा किसी की प्रशंसा नहीं की है। रचना हास्य रसपूर्ण है परन्तु इसके व्यंग तिलमिला देने वाले हैं। उदाहरण देखिये—

> कोई मांगो कागत में, कर कर करड़ा काम ।
> जिकनो पीवो बाणियो, मालो रो कुण नाम ॥[2]
> दगलक कहै दोवार विच दोखी गुप गु खोल ।
> झूट बुझो नहिं चोरतो, कायक ऊपर थोल ॥[3]
> मायक गायो बीस में, हुए लिया दीनी लाख ।
> झ कोड़ो पायो नहीं, लहर किसी है साख ॥[4]

१ कुकवि बत्तीसी—सज्जन-दुर्जन धनाढ्य-निर्धन और विद्वान्-मूर्ख के समान सुकवि-कुकवि में भी परस्पर कुछ ईर्ष्या-द्वेष का होना स्वाभाविक है विशेषतः उस युग में जब कवियों का निर्वाह होता ही राजाओं और रईसों के आश्रय पर था। सुकवि तो प्रतिभा के प्रसाद से गुरुओं की सेवा से और सतत परिश्रम से काव्यकला में कुशलता प्राप्त करने के बाद राज-सभाओं में धन-मान प्राप्त करते थे परन्तु कई सामान्य लोग गुरु-शिक्षा अभ्यास तथा काव्योपकरणों के ज्ञान के अभाव में भी धृष्टता, धूर्तता मद निर्लज्जता चाटुक्तियों आदि की सहायता से अपनी तुकबन्दी के कारण सुकवियों के समान सम्मान के इच्छुक रहते थे। सुकवि बांकीदास ने ऐसे ही लोगों की भर्त्सना के लिए इस हास्यात्मक मुक्तक-काव्य की रचना की है। बांकीदास ने त्रिविध

---

१ बांकीदास ग्रंथावली भाग २ ४था वार्ता, पृष्ठ ७१। ६७ ७३।६८
२-४ ,, ,, ,, पृष्ठ ६६।६४, ६७।२६, ७१। ६२

कुकवियों का उल्लेख किया है। उत्तम कुकवि एकाध शब्द मध्यम दोहा और अधम पूरा गीत ही चुरा लेता है।[1] उसे अर्थज्ञान छन्द रस अलंकार आदि की कोई चिंता नहीं होती। वह धनिया के द्वार पर धरना देता है और कुछ प्राप्त हुए बिना उठने का नाम नहीं लेता। उसके हाथ आई हुई पुस्तक के पन्ने ऐसे तितर-बितर हो जाते हैं जैसे बाज के पंजे में पड़े परेवा के पंख। वह परले दर्जे का मूर्ख होता है डिंगल-कवियों में पिंगल-कवि बन बैठता है और पिंगल-कवियों में संस्कृत-कवि। रूपक और श्लेषों की सुन्दर योजना के साथ सुकवि ने कुकवियों पर ऐसे तीखे व्यंग्य कसे हैं कि उन्हें पढ़कर आत्मसम्मानी कुकवि सुकवि-गुणज्ञ सभा में ठहरने का नाम न ले। यथा—

वानर री निरलज्जता उपल कठणता लीध ।
वायस तणौं कुकंठ ले कुकवि जिवाता कीध ॥[2]
पीगण इरानी पटक, कुकवि लावर साह ।
कायर हिरणी सम कहे, दसण सेप वसराह ॥[3]
माड़ षटरस अमरां, गांडी नवरस गंध ।
कुकवि चहै जिय सु कियो आय रची अपवंध ।[4]

कुकवियों की निन्दा पर प्राचीन संस्कृत-कवियों के जो पद्य उपलब्ध होते हैं, उनका प्रभाव बांकीदास के कुछ दोहों पर स्पष्ट लक्षित होता है। यथा—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा ।
भवेदद्य श्वो वा किमिति बहुना पापिनि कलौ,
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ।[5]
कविराजा सू मद कवि, अकस करे अविचार
भव लग करसी सु अपस करसी घट करतार ।[6]

४ विदुर बत्तीसी—यह निन्दा काव्य अवगुणों के आधार दासी-पुत्रों के विषय में लिखा गया है। प्रश्न होता है दासविषयक निन्दाकाव्य का नाम विदुर जैसे विद्वान् नीति-निपुण और धार्मिक मानव के साथ क्यों सम्बद्ध किया गया। उत्तर यह है कि विदुर का व्युत्पत्त्यर्थ तो विद्वान् है[7] परन्तु अनेक बार विद्वान् लोग भी विद्या का

१-३ बांकीदास ग्रंथावली भाग २ कुकवि बत्तीसी पृष्ठ ७८।११ ७९।१३, ८२।३१
४ " " कुकवि बत्तीसी पृष्ठ ८०।२४
५. सु० र० भां० पृष्ठ १८।२४। अर्थ—यदि हठपूर्वक कुछ पद रचने वाला व्यक्ति किसी कुशल कवि से स्पर्धा करने लगे तो इस पापी कलियुग में आज या कल कोई कुम्हार भी ब्रह्मा से कलह करने लग पड़ेगा।
६ बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, कुकवि बत्तीसी पृष्ठ ८०।२१
७ विदिभिदिच्छिदेः कुरच् (पाणिनि अष्टाध्यायी ३।२।१६२)। ज्ञाता तु विदुरो विन्दुः (अमरकोश)।

दुरुपयोग कर सीधे सादे लोगों को प्रवञ्चित करते हैं अतः यह शब्द धूर्त के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा।[1] यह बात तो सर्वविदित ही है कि विदुर-नीति के कर्ता महात्मा विदुर दासी-पुत्र थे। इसलिए सम्भव है कि धूर्त दासी-पुत्रों के लिए विदुर शब्द का प्रयोग हमारे कवि के काव्य में शिष्टता या व्यंग्य के कारण होता हो और इस काव्य के लिए भी अपना लिया गया हो।

दूसरा प्रश्न यह है कि दासी पुत्र को समाज में इतना निंद्य क्यों कहा गया है। माथा-पच्ची की आवश्यकता नहीं क्योंकि कवि ने कृति के प्रथम दोहे में स्वयं ही कह दिया है—

विदर विदर जाएी नहीं आदर विदरां मूल।
राखे अवरस रंग रा तिम री कुसी कुकूल॥

अवैध सन्तान को कहीं भी किसी भी युग में आदरणीय नहीं माना गया। उसे आदरणीय मानने का अर्थ होगा दुराचार का प्रोत्साहन। बात यह है कि तथाकथित कुलीन राजा और धनाढ्य लोग अपनी पत्नियों से सन्तुष्ट न होते थे और सामान्य अशिक्षित दासियों को भी कामजाल में फँसा लेते थे। इस प्रकार बेचारे दासीपुत्र न पिता का नाम बता सकते थे न गोत्र का। अन्यत्र घृणा की दृष्टि से देखे जाने के कारण घृणित आचार-व्यवहार को सहज ही स्वीकार कर लेते थे। विदुर क्षत्रिय-वीर्य से उत्पन्न होने के कारण अपने को क्षत्रिय कहने की लालसा तो रखते थे परन्तु बाँकीदास ने उनकी तुलना उन ग्राम-शूकरों से की है जो वाराहों या वन्य-शूकरों में सम्मिलित होना चाहते हों—

कुल कमी वाराह कुल घोरस थांकल पूर।
मिलिया जाहि क्या नहीं गोला ने गंडूर॥[2]

उच्च वंश या परिवार में उत्पन्न होना तो किसी के भी वश में नहीं परन्तु जिन घृणित दोषों के कारण विदुर उपहासास्पद कहे गए हैं उनका परित्याग असम्भव नहीं है। कविराज के मतानुसार विदुर आलस्य और ढोंग होता है वह मोछें रखना व्यर्थ समझता है परन्तु बाल लम्बे-लम्बे रखाता है वह पशी पर बाय (कुत्ता) है परन्तु युद्ध में गौ बन जाता है वह शस्त्रास्त्र धारण करते समय तो देर लगाता है परन्तु उतारते समय फुर्ती दिखाता है वह समझता है नहीं मानता डर से कि इसे पर ही काम करता है गाल बजाना बाल संवारना और आवारा घूमना उसके प्रिय कार्य हैं। सार यह कि जैसी वेशभूषा और चाल-ढाल आज के गुण्डों में पाई जाती है वैसी ही विदुरों की होती थी। यद्यपि सो गोना पर मूल महत्तर कवि ने उसके जीवन की

---

१ पी० एस० आपटे प्रक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (बम्बई १९२४) पृष्ठ ८४६

२ बाँकीदास ग्रंथावली भाग ५, विदुरबत्तीसी पृष्ठ ८०।२७

निरर्थकता का प्रतिपादन किया है तथापि एक उपयोगिता उन्हें भी स्वीकृत करनी ही पड़ी है। वह यह कि उन्हीं से तुलना करने पर असल नसल की पहचान हो सकती है। काव्य में यद्यपि कुछ दोहे नीरस भी हैं तो भी अधिकतर पद्य व्यंग्यपूर्ण होने के कारण मनोहर हैं। यथा—

> दायजियो असवेसियो मास केमियो भेव।
> यिदरा रे ऐ व्याकरण दिदरा रे ऐ भेव ॥[1]
> गोलो वह पलटावियो खिड़ कर्ड पठास।
> घण में साथी नहीं कुड़ी धोमा माफक गास ॥[2]
> बीछू वामर व्यास बिप मरवम मडक गोल
> ए मलयाइज राजरा, यो उपदेस पमोस ॥[3]

इसी काव्य के अन्तिम दोहे से अनुमान होता है कि इसके साथ-ही-साथ बँगाल में 'जतीरास' की भी रचना की गई थी जिसे कवि ने इस कृति का दूजा कहा है[4] और जो आज अप्राप्य है।

(ग) अश्वमाहात्म्य काव्य

इस वर्ग के अन्तर्गत बाँकीदास की एक ही कृति है—धवल पच्चीसी। धवल अर्थात् श्वेत बैल के असाधारण गुणों की ओर प्राचीन कवियों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ था।[5] उन्होंने इसके विलक्षण भार-धारण, धर्म-बहुल स्वामिभक्ति आदि गुणों को देखकर कई स्फुट पद्य रचे थे और उनके व्याज से सेवकों को स्वामिभक्ति का सुन्दर पाठ पढ़ाया था। परन्तु जहाँ बाँकीदास ने इस काव्य के मिष से सेवकों को स्वामिसेवा की शिक्षा दी है वहाँ उन्होंने स्वामियों का भी सेवकों से सद्व्यवहार करने की प्रेरणा दी है। जैसे—

> धरम सरीखो धवल है को धोरी के भार।
> बड़ो भार भलाविया लेतो खेंचण हार ॥[6]
> धंध न फेरे धुर बहे धवला एह धरम्म।
> राजव ज्यों र राम्ही सीगा तणी सरम्म ॥[7]
> मिथ पहीय चालतां भार घाल हद होय।
> साहेबी को रे हुवे धवल न धोळी होय ॥[8]

---

१ बाँकीदास ग्रंथावली भाग २ विदुरबत्तीसी पृष्ठ ८७।४ दायजियो असवेसिया सासकेसिया मारवाड़ के प्रदेशीय गीतों के नाम हैं।

२ ३ बाँकीदास ग्रंथावली भाग २ विदुर बत्तीसी पृष्ठ ८८।१८ ९१।३१

४ विदुर बतीसी बींदणी जतीरास वर जाण। ब्याह थयो बँगाल में, पूरण प्रेम प्रमाण ॥ बाँकीदास ग्रंथावली भाग २ विदुर बतीसी पृष्ठ ९२।३६

५ मु० र० भा० पृष्ठ २२४-२२५

६-८ बाँकीदास ग्रंथावली भाग १ पृष्ठ ३८।५ ४०।१३ ४२।२०

यद्यपि रचना अन्योक्तिमयी है तथापि अभिधार्थ के अधिक प्रबल होने के कारण विशेष सरस नहीं।

धार्मिक नीतिकाव्य—कवि ने धार्मिक नीति पर जिन काव्यों की रचना की है वे दो वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) प्रशंसात्मक (१) संतोष बावनी (२) दातार बावनी

(ख) निंदात्मक (१) कृपण दर्पण (२) कृपण पच्चीसी

(क) प्रशंसात्मक काव्य

संतोष बावनी—संतोष और संतोषियों की प्रशंसा तथा लोभ और लोभियों की निंदा ही इस कृति का विषय है जिस पर संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश सभी भाषाओं में पर्याप्त लिखा जा चुका था। लोभ के कारण मनुष्य दूसरों का गला काटता है और अपना भी कटवा बैठता है। वस्त्राच्छादित भी लोभी नग्न होता है और नग्न भी संतोषी आवृत। लोभ ऐसा विलक्षण गुरु है जो धनोपार्जन की अनेक कलाएँ सिखा देता है, अधीर कुक्कुर घर घर भटककर भी उतना खाद्य नहीं पाता जितना धैर्यशाली कुंजर अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ। लोभ की अग्नि संतोष के जल से ही शांत होती है और संतोष सत्संगति तथा शास्त्रों के पठन-श्रवण से उत्पन्न होता है आदि सुंदर उक्तियाँ तो काव्य की शोभावर्द्धक हैं ही, दो बातें विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। प्रथम सुन्दर सांग रूपकों का प्रयोग, द्वितीय लोभी मनुष्यों की कष्टपूर्ण यात्राएँ। तृष्णा के कारण लोभ हिम-वृष्टि को झेलकर तथा हिमाच्छादित पर्वतों को लाँघकर चीन, भूटान, हलब, यमन, हबश, तातार आदि देशों से स्फटिक, दर्पण, रूम, हाथी, कस्तूरी आदि पदार्थ लाता है। अनेक दोहों पर प्राचीन भारतीय कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और कहीं-कहीं विदेशी प्रभाव भी। कुछ उदाहरण लीजिए—

मन मत्त गज तरु माँहि लोभ पाश बस कर लियो।
दुरत दुराग्रह ताहि होय संतोष हरि हुमे ॥[1]
सर्वे को भगवान साय हैं गुरुतांग हैं।
नहीं लिखा है भीम हठि लेवा आदमी ॥[2]
गुरु प्रसाद संतोष गज जो मर घटा जाय।
खग लालच कूकर जियो लाल सकै न लगाय ॥[3]

२ दातार बावनी—यह पुस्तक गुजस छत्तीसी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। 'सुजस छत्तीसी' में कवि ने यश को सत्य मान कर दान को उस के प्रधान-साधन के रूप में वर्णित किया है और इसमें दान की प्रशंसा के साथ-साथ देश-विदेश के भाषा आश्रय कर्ता हातम आदि दानी व्यक्तियों का यशोगान सविस्तर किया गया है। अपने समकालीन नृप को सात सिंध प्रदान करने वाले आममगर-नरेश उमर की प्रशंसा कवि ने अनेक दोहों में की है। जैसे—

१ १ बांकीदास ग्रंथावली भाग ३ संतोष बावनी पृष्ठ ३१।१ ३८।२७ ११।३६

माई एहड़ा पूत जरण, जेहड़ा दातार जाम ।
बीजी सारूं सिप हम, जिम बीज इक धाम ॥[1]

कवि के विचार में दाता ही माता पिता और देवता है इसलिए वह प्रजापति से प्रार्थना करता है कि रोटी बाँटने वालों की मोटी नींद (मृत्यु) दूर ही रहे—

जम दातार बनारसन जिरिपायो गुण गहू ।
प्रजपत रोटी बाँटणां मोटी नींद मत देहु ॥[2]

कवि ने काव्य में याचक दाता और प्रतिग्रहीता के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें कही हैं जैसे—ब्राह्मण चारण स्वामी आदि को मोटे भाग्य और मोटे मन वालों से ही माँगना उचित है सूर्योदय पर दाता के मुखदर्शन से भूख भय, क्लेश आदि नष्ट होते हैं जैसे भिक्षु को माँगना वैसे दानी को देना अच्छा लगता है यशप्रिय लोग धन प्रिय नहीं होते अपने हाथों से दान देकर अपना यश अपने कानों से सुनना चाहिए अकेला दान अनेक रोगों का नाशक है उदारता वित्त की मात्रा पर निर्भर नहीं है दाता के हृदय पर निर्भर है दाताओं को दान देते देखकर कृपणों के हृदय विदीर्ण हो जाते हैं आदि । इस प्रकार की उक्तियां निस्सन्देह कवि के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा तत्कालीन लोकविश्वासों पर प्रकाश डालती हैं । इस भावपूर्ण रचना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दाता धन जेतो दियें, जस तेतो पर पीठ ।
जेतो गुन ले चाखियां तेतो चीमण मीठ ॥[3]
मोटो दाता माँगियो, छोटो भाव तेण ।
पीजें सायर पय किस, कूंड़ें अयाहुर कण ॥[4]
जसूं न सूको कदर न हातम हंतो हत्य ।
हातम से ढण हत्य सूं अपहथ बांटी अत्य ॥[5]

(ख) निन्दात्मक काव्य

१ कृपण दर्पण—कविराज ने स्वयं ही ग्रंथ रचना का उद्देश्य कृति के अन्त में यों स्पष्ट कर दिया है—

कृपणां नूं कृपणां तणों रूप दिखावण काज ।
ग्रंथ कृपण दर्पण कियो रीझ्योवण कविराज ॥[6]

दान प्रशंसा के समान कृपण-निन्दा भी भारतीय नीतिकवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है । इस विषय पर व्यास क्षेमेन्द्र त्रिमूक मूर्खशतक, रविगुप्त आदि अनेक कवियों की सुन्दर सूक्तियां संस्कृत-संग्रहों में दिखाई देती हैं । परन्तु बांकीदास की कृति की अधिकतर पद मौलिक हैं प्राचीन काव्यों से प्रभावित नहीं । रचना हास्य रस से

१-२ बांकीदास ग्रंथावली, भाग १ दातार बावनी पृष्ठ ८३।४८ ४५।३
३-५ " " " " " पृष्ठ ४६।१२ ५०।१७ ५४।३६
६ बांकीदास ग्रंथावली भाग २ कृपण दर्पण पृष्ठ ३६।८४

यद्यपि रचना अन्योक्तिमयी है तथापि अभिधार्थ के अधिक प्रबल होने के कारण विशेष सरस नहीं।

धार्मिक नीतिकाव्य—कवि ने धार्मिक नीति पर जिन काव्यों की रचना की है वे दो वर्गों में विभाज्य हैं—

(क) प्रशंसात्मक (१) संतोष बावनी (२) दातार बावनी

(ख) निंदात्मक (१) कृपण दर्पण (२) कृपण पच्चीसी

(क) प्रशंसात्मक काव्य

संतोष बावनी— संतोष और संतोषियों की प्रशंसा तथा लोभ और लोभियों की निंदा ही इस कृति का विषय है जिस पर संस्कृत पालि, प्राकृत और अपभ्रंश सभी भाषाओं में पर्याप्त लिखा जा चुका था। लोभ के कारण मनुष्य दूसरों का गला काटता है और अपना भी कटवा बैठता है। स्वर्णाच्छादित भी लोभी नग्न होता है और नग्न भी संतोषी आवृत्त। लोभ ऐसा विलक्षण गुरु है जो धनोपार्जन की अनेक कलाएँ सिखा देता है, अधीर कुक्कुर घर घर भटककर भी उतना खाद्य नहीं पाता जितना धैर्यशाली कुंजर अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ। लोभ की अग्नि संतोष के जल से ही शांत होती है और संतोष सत्संगति तथा शास्त्रों के पठन-श्रवण से उत्पन्न होते हैं आदि सुंदर उक्तियाँ तो काव्य की शोभावर्धक हैं ही, दो बातें विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। प्रथम सुन्दर सांग रूपकों का प्रयोग द्वितीय लोभी मनुष्यों की कष्टपूर्ण यात्राएँ। तृष्णा के कारण लोग हिम-वृष्टि को झेलकर तथा हिमाच्छादित पर्वतों को लाँघकर चीन भूटान इसब, यमन रूम तातार आदि देशों से स्फटिक दर्पण हय हाथी कस्तूरी आदि पदार्थ लाते हैं। अनेक दोहों पर प्राचीन भारतीय कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और कहीं-कहीं विदेशी प्रभाव भी। कुछ उदाहरण लीजिए—

मन गज जप सर माँहि लोभ पील वश कर लियो।
दुष्ट दुरारुष ताहि होय संतोष हरि हुमे ॥[1]
जाके जो सतभाव लाल हेक गुरलाल ए।
नहीं मिलता है भीम इन मिया आदमी ॥[2]
गुरु बताव संतोष पज जे नर पढ़ा जाय।
धन लालच झूमर जियो लाल लख न लगाय ॥[3]

२ दातार बावनी—यह पुस्तक 'गुनस छतीसी' से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। 'गुनस छतीसी' में कवि ने यश को लक्ष्य मान कर दान को उस के प्रधान-साधन के रूप में वर्णित किया है और इसमें दान की प्रेरणा के साथ-साथ देश-विदेश के नामी नामी कर्ण हातम आदि दानी व्यक्तियों का यशोगान सविस्तर किया गया है। अपने समकालीन नृप को लाख सिप प्रदान करने वाले जामनगर-नरेश कनक की प्रशंसा कवि ने अनेक दोहों में की है। जैसे—

१ १ जोधराज ग्रंथावली भाग १ संतोष बावनी पृष्ठ ५३।१ ५८।२७ ६१।३६

माई एहा पूत जण, जेहा कनक पाँम ।
दीपी दातूं सिम इम, सिम दोनें इक धाम ॥[1]

कवि के विचार में दाता ही माता पिता और देवता है इसलिए वह जगपति से प्रार्थना करता है कि रोटी बाँटने वालों की मोटी नींद (मृत्यु) दूर ही रहे—

जग दातार जनारदन गिरिधारी गुण गेह ।
जगपत रोटी बाँटणा मोटी नींद मत देह ॥[2]

कवि ने काव्य में दान, दाता और प्रतिग्रहीता के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातें कही हैं जैसे—ब्राह्मण चारण स्वामी आदि को मोटे भाग्य और मोटे मन वालों से ही माँगना उचित है सूर्योदय पर दाता के मुखदर्शन से भूख भय, क्लेश आदि नष्ट होते हैं जैसे शिशु को माँगना वैसे दानी को देना अच्छा लगता है यशप्रिय लोग धन प्रिय नहीं होते, अपने हाथों से दान देकर अपना यश अपने कानों से सुनना चाहिए अकेला दान अनेक दोषों का नाशक है उदारता वित्त की मात्रा पर निर्भर नहीं है दाता के हृदय पर निर्भर है दाताओं को दान देते देखकर कृपणों के हृदय विदीर्ण हो जाते हैं आदि । इस प्रकार की उक्तियां निस्सन्देह कवि के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा तत्कालीन लोकविश्वासों पर प्रकाश डालती हैं । इस भावपूर्ण रचना के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दाता धन जेतो दिये, जस तेतो जग पीठ ।
जेतो गुन न जाणियो, तेतो जीमण मीठ ॥[3]
मोटो दाता माँगियो, तोडो भागे तेण ।
कीर्ति सायर कोप किस, कुंई जवाहर जेण ॥[4]
कदूं न सुणी कवर मे हातम हंदो हत्थ ।
हातम ने उस हत्थ सूं, अणहद बांटी अत्थ ॥[5]

(ख) निन्दात्मक काव्य

१ कृपण दर्पण—कविराज ने स्वयं ही ग्रंथ-रचना का उद्देश्य कृति के अन्त में यों स्पष्ट कर दिया है—

कृपणां नू कृपणां तणो जस दिखावण काज ।
ग्रंथ कृपण दर्पण कियो बाँकीदास कविराज ॥[6]

दातृ-प्रशंसा के समान कृपण-निन्दा भी भारतीय नीतिकवियों का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है । इस विषय पर व्यास क्षेमेन्द्र शिशुक भूतिगोसम रविगुप्त आदि अनेक कवियों की सुन्दर सूक्तियां संस्कृत-संग्रहों में दिखाई देती हैं । परन्तु बाँकीदास की कृति के अधिकतर पद्य मौलिक हैं प्राचीन काव्यों से प्रभावित नहीं । रचना हास्य रस से

१ २ बांकीदास ग्रंथावली भाग १ दातार बावनी पृष्ठ ४३।१८ ४६।३
३ ५. " " " " " पृष्ठ ४६।१२ ५०।१७ ५१।३१
६. बांकीदास ग्रंथावली भाग २ कृपण दर्पण, पृष्ठ ६३।७४

अपूर्ण है। अनेक दोहों से कवि की उर्वर कल्पना शक्ति का सुन्दर परिचय प्राप्त होता। जैसे—समुद्र-यात्रा में कंजूस के साथ पोत पर न बैठना चाहिए क्योंकि उसने रत्नाकर की पुत्री को पृथ्वी में दबा रखा है कृपण के घर में यमराज के दूतों के बिना कोई जीव-जन्तु नहीं जा सकता सूम चारणों भट्टों और ब्राह्मणों से कहता है कि आप तो सम्मान से ही संतुष्ट हो जाते हैं दाम से तो डोम प्रसन्न होते हैं इत्यादि।

रचना में दो बातें विशेष रूप से उल्लेख्य हैं प्रथम कृपण-कृत कपाट-प्रशंसा और दूसरी कृपणों के भी प्रकार। कृपण के मत में याचक एक बला है और उससे बचाने के लिए ही विरंचि ने फाटक की रचना की है। नीतिकारों ने सदा ही माताओं तथा मित्रों को ही बाहु माना है परन्तु कृपण तो कपाटों को ही मित्र व बाहु समझता है। कवि ने कृपण के ये नव भेद गिनाये हैं— मीठा सूम हाजर-नाजर सूम चतुर सूम, धाम धूम सूम गर्दा-पोश सूम जोरू सूम उधारिया सूम मजाकी सूम दुष्ट सूम और मध सूम। कवि ने एक-एक दोहे में एक-एक सूम का ऐसा वर्णन किया है कि पाठक पढ़ कर लोट-पोट हो जाता है। कवि के कुछ दोहे देखिए—

कृपण बराटक पावियो नाटक कर निलज्ज।
सुख जाचक पातक करे सब दिन फाटक सज्ज॥[१]
मंगण मारे मंडिया भावे भाखो भाय।
सुजस-कुजस न संभले कंजुस सूम कहाय॥[२]
दियो उधार सुडियाँ दुसह लागे तन मन लाय।
सूंप दियो न करे सरम परम दिवाली पाय॥[३]
रत ज्यूं धन जाचक रसक आवे ले कर ओड़।
मनो भरो मन नार ज्यूं मूड कृपण मुख मोड़॥[४]

४ कृपण पच्चीसी—'कृपण दर्पण' के बाद इस ग्रन्थ पर दृष्टिपात करने से तुरन्त अनुमान होता है कि यह ग्रन्थ बांकीदास कृत नहीं है। उक्त अनुमान के आधार निम्नलिखित हैं—

१ कृपण-दर्पण के पश्चात् उसी विषय पर कवि को एक अन्य काव्य लिखने की आवश्यकता ही न थी।

२ बांकीदास ने छन्द, दोहा और गीत के अपहारक विविध कुकवियों का उल्लेख 'कुकवि-बत्तीसी' में किया है।[५] चोर-कवियों के निंदक सुकवि बांकीदास से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे पूर्ववर्ती कवियों की भाव व भाषा का अपहरण करेंगे। परन्तु 'कृपण पच्चीसी' के अनेक दोहे इस दोष से मुक्त नहीं हैं जैसे—

१-३ बांकीदास ग्रंथावली भाग २ कृपण दर्पण १३।१०, १८।३७, १६।२६
४ ,, ,, ,, पृष्ठ १७।१२
५ ,, ,, ,, कुकवि बत्तीसी पृष्ठ ७८।११

देख किसी उपमा दियाँ ते सरस्या सहु कोय ।
तुझ सरीखो तुहिज तू अवर न दूजो कोय ॥[1] (ईसरदास)
बरण किसी ओपम दियाँ तो सूं है सहु कोय ।
तो सारीखो तुहिज तू अवर न दूजो कोय ॥[2] (बाँकीदास)

ईसरदास ने जिस दोहे को प्रभु के सम्बन्ध में लिखा था उसे यहाँ कृपण के विषय में कह दिया गया है। भावों का अपहरण तो अप्रत्याशित है ही। इसी प्रकार कृपण-पच्चीसी का निम्नलिखित दोहा पीपा कृत है केवल पीपा के स्थान पर 'पापी' कर दिया गया है और एक पाण्डुलिपि में तो 'पीपा' पाठ मिलता भी है—

पापी पाप न कीजिए न्यारा रहिए आप ।
करणी आपो आपरी कुण बेटो कुण बाप ॥[3]

३ काव्य में उपदेशात्मक दोहे भी कई हैं[4] यह बात कृपण-दर्पण में दिखाई नहीं देती।

४ कृपण-पच्चीसी के पाँचवें दोहे में सावन में सुरापान न करने वाले को कृपण कहा गया है। इस प्रकार के निन्द्य कर्म की प्रेरणा कविराजा ने अन्यत्र नहीं की।

५ इस काव्य के कई दोहों की भाषा भी बाँकीदास की प्रतीत नहीं होती।

इसके विपरीत निम्नलिखित कारणों से रचना बाँकीदास कृत अनुमित होती है—

१ अर्थ से सम्बन्धित कूट-दोहा कृपण-दर्पण में भी है और कृपण-पच्चीसी में भी—

एक चरण में अपमा सूम कहै हलकार ।
सोखत हुवै दकारियो सोखत धन मकार ॥[5]
मूल बरण उणतीसमो, दूजक बीसम्य जान ।
साचहु जिम तुम जतन सो लिख्यउ सो भगवान ॥[6]

प्रथम दोहे का भाव यह है कि दकार (दान) धन को हरता है और मकार (धाम निपथ) धन को संचित करता है। दूसरे का आशय यह है कि पहले उन्तीसवें अक्षर (ध) को लिखें और बाद में बीसवें अक्षर (न) को। इस प्रकार लिखित 'धन' का परिश्रमपूर्वक संचय कर।

---

१ ईसरदास, हरि रस १४
२ बाँकीदास ग्रंथावली भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८७।१४
३ " " " " पृष्ठ ८६।२१
४ " " " " पृष्ठ ८२।६, ८४।१२, ८५।१६
५ बाँकीदास ग्रंथावली, भाग २, कृपण दर्पण पृष्ठ ३८।२१
६ " " भाग ३, कृपण पच्चीसी पृष्ठ ८५।१८

२. कृपण-दर्पण में दो भी प्रकार के सूमों का उल्लेख ही किया गया है परन्तु यह नहीं बताया गया कि उनमें से निम्नतम कौन-सा है। इस कमी को कृपण पच्चीसी का निम्नांकित दोहा पूर्ण करता है जो हमारे विचार में बांकीदास का है—

साता प्रवतारां मांही भाखो पड़वा पोस।
मूंह न दिखावै मंगणां वेणो उत्तर बोस ॥[१]

वस्तुतः यह दोहा 'कृपण-दर्पण' से ही सम्बन्धित है और किसी अज्ञात कारण से 'कृपण-पच्चीसी' में लिखा गया है।

३. कृपण के साथ मेल-जोल करने का निषेध 'कृपण-दर्पण' में भी किया गया है और कृपण-पच्चीसी में भी—

किता न दोषी कमम पर हैको कृपण कुष हरप।
महि पैसीजे मोब में सायर सूना सप्प ॥[२]
जौ हू सूंवा बांचियो सूंमां हुके सत्प।
नर बूब पहली नवी, सायर तरल सम्रय ॥[३]

४. भाषा और उनमें प्रयुक्त भारी-भरकम सबाब (सबाब = पुण्य), तफावत (तफावत = फर्क) आदि विदेशी शब्दों के प्रयोग से कई दोहे बांकीदास प्रणीत ही प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह कृति पूर्ण रूप से बांकीदास-कृत प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः उनके किसी शिष्य या सम्बन्धी ने कुछ उनके और कुछ अपने दोहे संगृहीत कर कृपण पच्चीसी नाम दे दिया है।

अस्तु दोहे किसी के भी हों इसमें सन्देह नहीं कि अधिकतर दोहे भावपूर्ण हैं। जहाँ वे कृपण की मनोदशा को सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं वहां कवि के कौशल के भी परिचायक हैं। जैसे—

उत्तर नू जासी दखै डर क्यों बको न घेर।
उत्तर दिसा सुमेर है उत्तर मांहि कुबेर ॥[४]
कर्ई करज कनकायसा, त्यागां वार न तुज्झ।
जिण दिण धो धन छोड़स्यां, उस दिन तोसूं कज्ज ॥[५]

मिश्रित नीति—इस वर्ग के अन्तर्गत कवि के दो ही ग्रंथ आते हैं—(१) नीति मंजरी (२) मोहमर्दन।

१. नीतिमंजरी—इस ग्रंथ में राजोपयोगी नीति का ही विशेष रूप से वर्णन

१ बांकीदास ग्रंथावली भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८७।२७
२ " भाग २ कृपण दर्पण, पृष्ठ ११।१४
३ ४ " " भाग ३, कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८६।२४, ८३।११
५ " " " " पृष्ठ ८७।१९

किया गया है और इसके भी एक अंग, शत्रु के प्रति व्यवहार का। काव्य का सार यह है कि शत्रु से अपनी तो सावधानता-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए और उसका छल कपट से भी संहार करना चाहिए। ध्यान देने की बात है कि 'सुर छत्तीसी' आदि में शत्रु के प्रति आदर्शात्मक व्यवहार का उल्लेख किया गया था परन्तु यहाँ दृष्टिकोण उदार नहीं है व्यावहारिक है। शत्रु राजाओं के ही नहीं होते सामान्य-जनों के भी होते ही हैं अतः काव्य सामान्य रूप से सामान्य-जनों के लिए भी उपयोगी है। कृति में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता और कल्पना-तत्त्व तथा रागतत्त्व की न्यूनता है अतएव रचना काव्यत्व की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है। यथा—

हुए विषधर विषधर कहो आप कुमाय अपार।
निकलन मार मुख निसरण री, असमझ लियो उबार।।[1]
दावण मार दाव सू, मीठ बात मिसधार।
पेख हिरण कीधौ प्रगट, मूं सं पेख संधार।।[2]

२ मोह मर्दन—इस कृति का स्वर सन्त-कवियों के नीति-काव्य के सदृश ही है। जब तक शरीर, परिवार, संपदा और संसार से प्यार बना रहता है तब तक मानव मोह के चंगुल से मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिए कवि ने शरीर को दुःखों, रोगों व्यसनों तथा मलों का आगार कहा है। वह रसना पर राम और मन पर नाम रखने की प्रेरणा करता है। वीरता, कीर्ति, बल तथा वित्त से जन्य अभिमान के त्याग तथा जप, तप और विवेक से अनुराग रखने की प्रेरणा की गई है। सब सम्बन्धी झूठे हैं इसलिए उनके प्रति प्रेम त्याज्य है। संपत्ति साथ नहीं जाती इसलिए उसका संग्रह व्यर्थ है। जीव हिंसा पाप है क्योंकि अन्य प्राणियों को भी प्राण हमारे ही समान प्रिय हैं तथा हिंसा से दया-धर्म का नाश होता है। काल-रूपी बिडाल से आयु-रूपी पय की रक्षा करना असम्भव है। मृत्यु की दृष्टि में कोई भी स्थान और व्यक्ति अगम्य नहीं है। यह मनुष्य को कृपण पशु बना देती है क्योंकि मृतक अरथी उठाने वाले चार सम्बन्धियों के आठ पावों से श्मशान को प्रस्थान करता है। संसार झूठा है और इसका प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण क्षीण होता जा रहा है। इसे मत अपनाओ क्योंकि सुख इससे दूर और दुःख ही इसके समीप रहता है। इसी प्रकार की वैराग्यमयी उक्तियों से रचना भरपूर है। रचना विशेष सरस तो नहीं है परन्तु अनेक सुन्दर रूपकों और सुन्दर उपमानों से समन्वित है। अनेक विदेशीय अभिमानी शासकों की चर्चा कवि के इतिहास ज्ञान का सम्यक परिचय देती है। संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन कवियों का प्रभाव भी अनेक दोहों पर स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ दोहे द्रष्टव्य हैं—

---

१ बाँकीदास ग्रंथावली भाग १ नीति मंजरी, पृष्ठ ६।१३
२ " पृष्ठ १७।२८

तन जुध मीर तजाय रोज जिहमम रूपड़ो।
पिसन सनीमुख घाग, घरा वरय उतार वमस ॥[1]
चरणां भ्राठां चालियो जंगम री बध चाम।
पुरष कृत पूर्ण पसु अतक दीधो धाम ॥[2]

आलोचना

दरबारी नीतिकाव्य—बाँकीदास के नीतिकाव्यों के अध्ययन के समय यह भावना बराबर बनी रहती है कि उनका अधिकतर सम्बन्ध राज-दरबार से है सामान्य जनता से नहीं। सुगन-सुध चपेटिका की रचना राज-सभासदों को पिशुनता के परित्याग की शिक्षा देने के लिए की गई प्रतीत होती है। सूर छत्तीसी सीह छत्तीसी वीरविनोद भावड़िया मिजाज कायर बावनी और वचन पच्चीसी का प्रणयन राज-सेवकों में वीरता और स्वामिभक्ति के भाव भरने के उद्देश्य से किया गया है। सुजस छत्तीसी, दातार बावनी कृपण दर्पण और कृपण पच्चीसी का उद्देश्य राजाओं आदि को कृपणता के त्याग और वदान्यता के अंगीकार द्वारा यशोविस्तार की प्रेरणा करना है। इसी प्रकार नीतिमंजरी धवमर्दन की विदुर बत्तीसी निकम्मे लोगों को दरबार से दूर रखने की वैसक वार्ता उपार्जित अभिजात वर्ग को वेश्याओं से और कुकवि बत्तीसी कुकवियों को राज-सभाओं से दूर रहने की शिक्षा देने के लिए रची गई है। शेष चार काव्य—वचनविवेक पच्चीसी वैस वार्ता संतोष बावनी और मोहमर्दन—दरबारी वातावरण से प्रभावित नहीं हैं और सर्वसाधारण के हितार्थ ही रचे गये हैं। बाँकीदास के उक्त १६ काव्यों में कुल ६१५ पद्य हैं और सामान्य जनता के लिए रचित उक्त चार ग्रन्थों में १६८। इस प्रकार काव्य-संख्या तथा पद्य-संख्या दोनों की दृष्टि से बाँकीदास के नीतिकाव्य का लगभग ८० प्रतिशत भाग मुख्यतः राज-दरबार से सम्बन्धित है और २० प्रतिशत जन-साधारण से। फिर भी इस काव्य को राजनीति विषयक काव्य कहना उचित नहीं क्योंकि यह राज-शासन से उतना सम्बन्धित नहीं जितना कि राज-दरबार से सम्बन्धित व्यक्तियों से। यहाँ प्रसंगवश इतना और कह देना उचित होगा कि रहीम आदि दरबारी कवि तो थे परन्तु उनका काव्य मुख्य रूप से साधारण जनता के हितार्थ रचा गया था और बाँकीदास का प्रधान लक्ष्य ऐसे काव्यों का निर्माण था जिनसे राजा और राजकवि दोनों का हित हो।

रस और भाव—बाँकीदास के नीतिकाव्यों की विशेषता यह है कि वे सरस और भावपूर्ण हैं नीरस पद्यों के संग्रहमात्र नहीं हैं। उनमें वीर रस और हास्य रस की प्रधानता है। वीर रस के दो ही भेदों—युद्ध वीर और दानवीर की व्यंजना हुई है। शान्त रस तथा संतोष स्वामिभक्ति और विवेक भाव एक एक कृति में प्रधान हैं। शेष रस और भाव छिटपुट रूप से दिखाई देते हैं। निम्नांकित तालिका से उनके

१-२ बाँकीदास ग्रंथावली भाग २, मोहमर्दन पृष्ठ ४१।६ ४३।१६

काव्यों का रसदृष्टि से वर्गीकरण स्पष्ट हो जाता है—

(क) रस

१ वीर रस

(क) युद्ध वीर—सूर छत्तीसी सीह छत्तीसी वीरविनोद नीति मंजरी।

(ख) दानवीर—दातार बावनी सुजस छत्तीसी।

२ हास्य रस—कृपण दर्पण, कृपण पच्चीसी वैसक वार्ता कायर बावनी मावड़िया मिजाज कुगस-मुख-चपेटिका बिदुर बत्तीसी कुकवि बत्तीसी बच वार्ता

३ शान्त रस—मोहमर्दन।

(ख) भाव

(१) संतोष—संतोष बावनी।

(२) स्वामिभक्ति—धवल पच्चीसी।

(३) विवेक—वचनविवेक पच्चीसी।

इन प्रधान रसों तथा भावों के उदाहरण ऊपर उद्धृत पद्यों में सहज ही देखे जा सकते हैं। स्फुट रूप से प्रायः कुछ अन्य रसों के उदाहरण निम्नवर्ती पद्यों में दिखाई पाते हैं—

कर कम्पै भीमण करै, मुख लसरावै जीह।
मावड़िया मुख में मिलै घुघरावण रा बीह॥[1] (भयानक रस)
जस री गत अद्भुत जिका सत धारियां सुहाय।
नर जीव नर लोक में, जस अमरापुर जाय॥[2] (अद्भुत रस)
नायक तीजी नार पै भो सुखदायक भार।
धरणीधर सोवत बठै धरणी कर पुकार॥[3] (करुण रस)

इसी प्रकार रौद्र तथा वीभत्स रस के उदाहरण भी वीरता-प्रतिपादक काव्यों में प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वात्सल्य-रस का अभाव ही प्रतीत होता है। स्वयं निस्सन्तान होने से और राज दरबारी वातावरण में व्यस्त रहने से ही कदाचित् कवि की कृतियों में इस रस का अभाव है।

भाषा—उक्त कृतियों में प्रौढ़ परिमार्जित तथा सरस डिंगल भाषा का प्रयोग किया गया है। इनकी रचनाओं में फ़ारसी-अरबी-शब्दों की विस्मयजनक अधिकता है। इसका कारण इनका प्रौढ़ फ़ारसी-ज्ञान तथा फ़ारसी-साहित्य का विस्तृत अध्ययन है। ऐसा लगता है कि ये काव्य-रचना के समय विदेशी शब्दों के परिहार का यत्न न करते थे और जो देशी विदेशी शब्द सूझ जाता था निस्संकोच लिख देते थे। इन्होंने

१ बांकीदास ग्रन्थावली भाग २, मावड़िया मिजाज, पृष्ठ १८ १८।२९
२ " " भाग ३, सुजस छत्तीसी, पृष्ठ ३१।११
३ " " भाग २ वैसक वार्ता, पृष्ठ ६।१४

सत कुल मीर तडाग रोज विहंगम कमदरो ।
बिसन सलीमुख बाम, परा तरफ उतार बयस ॥[1]
चारणां भाठों बासिनो, बंयम री वज बाय ।
पुरुष हुत दुर्ग पसु प्रतक कोमो बाय ॥[2]

मालोचना

दरबारी नीतिकाव्य—बांकीदास के नीतिकाव्यों के अध्ययन के समय यह भावना बराबर बनी रहती है कि उनका अधिकतर सम्बन्ध राज-दरबार से है सामान्य जनता से नहीं। कुगर-मुख चपेटिका की रचना राज-समासदों को पिशुनता के परित्याग की शिक्षा देने के लिए की गई प्रतीत होती है। सूर छत्तीसी सीह छत्तीसी वीरविनोद मावड़िया मिजाज कायर बावनी और धवल पच्चीसी का प्रणयन राज-सेवकों में वीरता और स्वामिभक्ति के भाव भरने के उद्देश्य से किया गया है। सुजस छत्तीसी दातार बावनी कृपण दपण और कृपण पच्चीसी का उद्देश्य राजाओं आदि को कृपणता के त्याग और वदान्यता के अंगीकार द्वारा यशोविस्तार की प्रेरणा करना है। इसी प्रकार नीतिमंजरी धवमर्दन का बिदुर बत्तीसी निकम्मे लोगों को दरबार से दूर रखने की वैसक वार्ता तथाकथित अभिजात वर्ग को वेश्याओं से और कुकवि बत्तीसी कुकवियों को राज-समाओं से दूर रहने की शिक्षा देने के लिए रची गई है। शेष चार काव्य—वचनविवेक पच्चीसी वैस वार्ता सतोष बावनी और मोहमर्दन-दरबारी वातावरण से प्रभावित नहीं हैं और सर्वसाधारण के हितार्थ ही रचे गये हैं। बांकीदास के उक्त १६ काव्यों में कुल ५१५ पद्य हैं और सामान्य जनता के लिए रचित उक्त चार ग्रन्थों में १२८। इस प्रकार काव्य-संख्या तथा पद्य-संख्या दोनों की दृष्टि से बांकीदास के नीतिकाव्य का लगभग ८० प्रतिशत भाग मुख्यतः राज-दरबार से सम्बन्धित है और २० प्रतिशत जन-साधारण से। फिर भी इस काव्य को राजनीति विषयक काव्य कहना उचित नहीं क्योंकि यह राज-शासन से उतना सम्बन्धित नहीं जितना कि राज दरबार से सम्बन्धित व्यक्तियों से। यहाँ प्रसंगवश इतना और कह देना उचित होगा कि रहीम आदि दरबारी कवि तो थे परन्तु उनका काव्य मुख्य रूप से साधारण जनता के हितार्थ रचा गया था और बांकीदास का प्रयास सदय ऐसे काव्यों का निर्माण था जिनसे राजा और राजकीय दोनों का हित हो।

रस और भाव—बांकीदास के नीतिकाव्यों की विशेषता यह है कि वे सरस और भावपूर्ण हैं नीरस पद्यों के संग्रहमात्र नहीं हैं। उनमें वीर रस और हास्य रस की प्रधानता है। वीर रस के दो ही भेदों—युद्ध वीर और दानवीर की व्यंजना हुई है। शान्त रस तथा सतोष स्वामिभक्ति और विवेक भाव एक-एक कृति में प्रधान हैं। शेष रस और भाव छिटपुट रूप से दिखाई देते हैं। निम्नांकित पंक्तियों से उनके

१-२ बांकीदास ग्रंथावली। भाग २ मोह मर्दन पृष्ठ ४१।६ ४३।१२

काव्यों का रसदृष्टि से वर्गीकरण स्पष्ट हो जाता है—

(क) रस

१ वीर रस

(क) युद्ध वीर—सूर छत्तीसी सीह छत्तीसी वीरविनोद नीति मंजरी।

(ख) दानवीर—दातार बावनी सुजस छत्तीसी।

२ हास्य रस—कृपण दर्पण कृपण पच्चीसी वैसक वार्ता कायर बावनी मावड़िया मिजाज चुगल मुख-चपेटिका विदुर बत्तीसी कुकवि बत्तीसी वस वार्ता।

३ शान्त रस—मोहमर्दन।

(ख) भाव

(१) संतोष—संतोष बावनी।

(२) स्वामिभक्ति—धवल पच्चीसी।

(३) विवेक—वचन विवेक पच्चीसी।

इन प्रधान रसों तथा भावों के उदाहरण ऊपर उद्धृत पद्यों में सहज ही देखे जा सकते हैं। स्फुट रूप से प्राप्त कुछ अन्य रसों के उदाहरण निम्नवर्ती पद्यों में दिये जाते हैं—

कर कम्पै लोयण फरै, मुख सरसावै जीह।
मावड़िया नृप में मिल पुसतामण रा बीह ॥[1] (भयानक रस)
बस री गल अवसुत जिका सत पातियां सुहाय।
नर जीव नर लोक में बस अमरापुर जाय ॥[2] (अद्भुत रस)
पावक लीवी मार री सो कुलदायक मार।
धरणीधर लोचन बहै धरणी कर पुकार ॥[3] (करुण रस)

इसी प्रकार रौद्र तथा बीभत्स रस के उदाहरण भी वीरता-प्रतिपादक काव्यों में प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वात्सल्य रस का अभाव ही प्रतीत होता है। स्वयं निस्संतान होने से और राज-दरबारी वातावरण में व्यस्त रहने से ही कदाचित् कवि की कृतियों में इस रस का अभाव है।

भाषा—उक्त कृतियों में प्रौढ़ परिमार्जित तथा सरस डिंगल भाषा का प्रयोग किया गया है। इनकी रचनाओं में फ़ारसी-अरबी-शब्दों की विस्मयजनक अधिकता है। इसका कारण इनका प्रौढ़ फ़ारसी ज्ञान तथा फ़ारसी साहित्य का विस्तृत अध्ययन है। ऐसा लगता है कि ये काव्य-रचना के समय विदेशी शब्दों के परिहार का यत्न न करते थे और जो देशी-विदेशी शब्द सूझ जाता था निस्संकोच लिख देते थे। हाँ इन्होंने

---

१ बाँकीदास ग्रन्थावली भाग २, मावड़िया मिजाज, पृष्ठ १८, १८।२६

२ " " भाग १, सुजस छत्तीसी, पृष्ठ ५२।११

३ " " भाग २ वैसक वार्ता, पृष्ठ ८।४४

विदेशी शब्दों को तत्सम रूप में रखने का उद्योग नहीं किया। तत्सम या तद्भव जिस रूप में भी शब्द प्रचलित था उसी रूप में ले लिया। यथा—

तत्सम शब्द—दीदार जंग दागदार खबर पिदर मादर आदि।

तद्भव शब्द—नफो (नफा) खारज (खारिज) मुलकम दुरवेस (दरवेश) पोशाक दुसमण दोजग (दोजख) आदि।

फिर भी विदेशी शब्दों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि इन्होंने तद्भव रूप ही अधिक ग्रहण किये हैं। यही बात संस्कृत के शब्दों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जैसे—मरुधा पुन्यता उपचार प्रकास निरबाह समापत तज (तज्ज), सुकर सुकव बिदर आदि। कहीं-कहीं इन्होंने संस्कृत के संधि-नियम के अनुसार ऐसे संहित रूप बना लिये हैं कि पाठक चौंक पड़ता है। जैसे न आवै के स्थान पर नावै और न आऐं के स्थान पर नाऐं। ऐसे रूपों का प्रयोग प्रायः पद्य की छन्द की दृष्टि से अविकल रखने के लिए ही किया गया है।

बाँकीदास की भाषा स्वभावतः ही प्रभावशाली है। उसे अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए रूढ़ियों और लोकोक्तियों की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी उनका प्रयोग स्वभावतः ही कहीं-कहीं किया गया है। विदेशी की अपेक्षा स्वदेशी रूढ़ियाँ और कहावतें ही अधिक प्रयुक्त की गई हैं जैसे—

(क) स्वदेशी — मरण दाँतों लेणा तुरत व्याह देणा पास।[1]
पिहर मूं फुलाती फरै घी चौका में हाथ।[2]
सुथ मुआ बिण मुकत नह धै बिन हुवै न प्रीति।[3]

(ख) विदेशी — दिन मूं रखणी दाढ़ियां, दाम तारमात।[4]

काव्य-विधान तथा छन्द—बाँकीदास के सभी काव्य मुक्तक कोटि के अन्तर्गत हैं। इन सब ग्रंथों में मुख्य रूप से दोहा छन्द का ही व्यवहार किया गया है। कहीं-कहीं सोरठा बड़ा दुहा और दूँहिरा दुहा भी दिखाई देते हैं जो वस्तुतः दोहे के ही विकृत रूप हैं।

शैली—बाँकीदास ने मुख्य रूप से तीन शैलियों का प्रयोग किया है १ तथ्यनिरूपक २ हास्यव्यंग्यमयी ३ अन्यापदेशात्मक। इनके अतिरिक्त भावाभिव्यंजक उपदेशात्मक ऐतिहासिक सम्बोधनात्मक पादावर्तक संवादात्मक और कूट शैलियों का प्रयोग भी कहीं कहीं दिखाई देता है। मत्स्यात्मक व्याख्यात्मक नखशिख बारहमासा तथा विविध उपमानों की शैलियाँ इनके काव्यों में प्रयुक्त नहीं की गईं। तथ्यनिरूपक शैली तो प्रत्येक

---

१ बाँकीदास ग्रन्थावली भाग १ कायर बावनी पृष्ठ २०।२१
२ " भाग १ वीरविनोद पृष्ठ ११।६२
३ " , भाग ३ कृपण पच्चीसी, पृष्ठ ८२।६
४ " भाग १ कायर बावनी पृष्ठ १६।१

पृष्ठ पर दिखाई पड़ती है। हास्यव्यंग्यमयी शैली का प्रयोग मावड़िया मिजाज आदि निन्दात्मक काव्यों में और अन्यापदेशात्मक शैली का सीहु छत्तीसी, अबस पच्चीसी आदि में प्रचुरता से किया गया है। उपर्युक्त शैलियों में से अधिकतर के उदाहरण ऊपर प्रसंगवश आ ही चुके हैं। कुछ अन्य शैलियों के उदाहरण लीजिए—

आद अंत दुय अक्ष नाम जिका बिन ओड पो ।
बात भली था बक, राख दूर निज रसण सू ॥[1]

(उपदेशात्मक तथा कूट शैली)

सहरयार लीनो सहर, लेकाफस लुहान ।
सुलेमान जमसेद सू, फेल भयो फुरमान ॥[2]

(ऐतिहासिक शैली)

भावावर्तक शैली का उदाहरण नीतिमंजरी के ४९ दोहों में अवलोकनीय है जहाँ प्रत्येक सोरठे का चतुर्थ चरण 'वैसा कर वाही विपण' है।[3]

अलंकार—कबीर, वृन्द आदि के नीतिकाव्यों में प्रायः यह देखा जाता है कि वे दोहे के एक दल में तो वर्ण्य विषय का उल्लेख करते हैं और दूसरे दल में दृष्टान्त आदि द्वारा कथ्य का समर्थन। इस प्रकार काव्य के विषय और अलंकार की मात्रा बराबर-बराबर होती है। पाठक अनुभव करता है कि कथ्य विषय में स्वभावतः इतनी शक्ति नहीं है कि सहृदय के हृदय में प्रविष्ट हो सके। परन्तु बांकीदास में प्रायः यह बात नहीं देखी जाती। इनके दोहों में भावों की इतनी प्रबलता रहती है कि उन्हें अलंकारों का अवलम्ब लेने की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसे लगता है कि इनका काव्य कवि हृदय से सहज सुन्दर रूप में निःसृत होता है ऐसा नहीं कि पहले वर्ण्य विषय उद्भूत हुआ हो और बाद में कवि ने उसे चमत्कृत करने के लिए उसे गहना पहना दिया हो। बांकीदास के काव्यों में इतने अधिक अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है कि आलोचक सोच में पड़ जाता है कि किसे लिखे और किसे छोड़े। हमारे विचार में ऐसे अलंकार विरले ही होंगे जो प्रयुक्त न हुए हों फिर भी शब्दालंकारों में वृत्त्यनुप्रास लाटानुप्रास यमक और वीप्सा की बहुलता दिखाई देती है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक अप्रस्तुत प्रशंसा अर्थान्तरन्यास उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त के अतिरिक्त उदात्त हेतु समुच्चय विशेषोक्ति विरोधाभास निरुक्ति विभावना निदर्शना आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। यथा—

---

१ आलय-'पयालय' के आदि और अन्त के अक्षर हटाने पर शेष बचे हुए शब्द (गाल= गाली) को अपनी जिह्वा से दूर रखो।
(बांकीदास ग्रन्थावली, भाग ३ वचनविवेक पच्चीसी पृ०७८।१६)

२ 〃 भाग २, मोहमर्दन, पृ० ४५।२१

३ 〃 भाग १ नीतिमंजरी पृ० ६१।४-९

वे मोह सेवा मू नणी रहे कुतो ही ज्ञान।
वेसे सेवा मू मणी, साहू करे सनमान ॥[1] (लाटानुप्रास)
हँसियो जग आसक हुए, असियो सोवरए मीत।
रसियो माणी रांड मू, फसियो होस्स फजीत ॥[2] (वृत्त्यनुप्रास)
केहूर फैम विचारियो मममौको सिरियाह।
आंले धामा पावत ए, ओमा धोसरियाह ॥[3] (उत्प्रेक्षा)
समर विमो कर सांम मू, मस भाव संबकूल।
मू छ मधो मू स्त जिके नाक मची विस नाक ॥[4] (विरोधाभास)

गुण—कुछ इने-गिने पदों के सिवा जिन में कवि ने कूट-शैली का आश्रय लिया है सर्वत्र प्रसाद गुण व्याप्त है। शेष दो गुणों में से माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा अधिक है क्योंकि अधिकतर कृतियाँ वीररस-व्यंजक और निन्दात्मक हैं तथा इन दोनों में ही ओज स्वभावतः अधिक आ जाता है।

दोष—बांकीदास उच्च कोटि के कवि थे। उनकी रचना उन दोषों से मुक्त है जो सामान्य कवियों में प्रायः दिखाई देते हैं। फिर भी कहीं-कहीं ऐसे स्थल आ जाते हैं जहाँ से पाठक निर्बाध रूप से आगे नहीं बढ़ सकता। जैसे—

बैरा रा मीठा बचन, पल मीठा विषपान।
वे जाणो वे मानियो हुया कुसीत सुराण ॥[5] (भग्नक्रम)

ऐसे स्थलों से भी अधिक आपत्तिजनक वे स्थल हैं जहाँ कवि ने अपने निन्द्य काव्यों में मारवाड़ियों कृपणों वैद्यों आदि के सम्बन्ध में नितान्त कटु ही नहीं अश्लील भाव का प्रयोग किया है।[6] कहीं-कहीं तो दृष्टान्त भी अत्यन्त अश्लील हैं। ऐसे असभ्य शब्दों तथा वाक्यों की आशा एक विद्वान् कवि से स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। फिर भी जैसे कबीर-से सत के मुख से भी विरोधियों के प्रति ऐसे वचन निःसृत हो ही गये थे वैसे ही स्वभाव से उग्र बांकीदास भी उनका परिहार न कर सके। परन्तु अच्छी बात यही है कि उनके लगभग एक सहस्र नीति-पद्यों में ऐसे पद्य उंगली पर गिनने योग्य ही हैं।

संस्कृत के कवियों का प्रभाव—बांकीदास ने जिन विषयों पर अपने मुक्तक काव्यों की रचना की है वे नवीन नहीं थे। उन पर प्राचीन कवि थोड़ी बहुत रचना

---

१ बांकीदास ग्रंथावली भाग ५ वैस वार्ता, पृष्ठ ६८।४२
२ „ २ वैसक वार्ता पृष्ठ ११८
३ „ भाग १, सीह छत्तीसी पृष्ठ १८।१२
४ „ भाग १ कायर बावनी पृष्ठ २६।११
५ „ भाग १, नीति मंजरी, पृष्ठ ६६। ९१
६ „ भाग २, पृष्ठ ६६।१६, १८।४० ६१।१०

कर ही चुके थे। फिर भी ऐसे स्थल विरल ही हैं जहाँ पर उन्होंने प्राचीन कवियों के भावों का अनुवाद मात्र कर लिया हो। जहाँ पर इनके और प्राचीन कवियों के पद्यों में साम्य दिखाई देता भी है वहाँ पर भी इन्होंने उन से संकेत-मात्र ही लिया है उसका विकास अपनी प्रतिभा के द्वारा ही किया है। जैसे—

(क) नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥[1] (नारायण पंडित)
अमर दूर्ब न सींह सिर, छत्र न धारै सींह।
हाथल रा बल सूं हुवो, औ मृगराज अबीह ॥[2] (बाँकीदास)

जिस प्रकार के नीति विषयक काव्यों की रचना बाँकीदास ने की है उसी प्रकार के काव्यों की रचना काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ग्यारहवीं शती में कर चुके थे। दोनों के अनेक पद्यों में कहीं-कहीं इतना अधिक साम्य है कि बाँकीदास पर क्षेमेन्द्र के प्रभाव को स्वीकृत करना ही पड़ता है। जिस प्रकार क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' के 'लोभवर्णन' शीर्षक द्वितीय सर्ग में बनियों पर व्यंग्य कसे हैं उसी प्रकार बाँकीदास ने 'बैस वार्ता' में। जैसे—

क्रयविक्रयकूटतुलालाघवनिक्षेपरक्षणव्याजैः ।
एते हि दिवसचौरा मुष्णन्ति मुदा जनं वणिजः ॥[3]
ठगै पाग्ड़ा डांडियाँ तोला मक्ख तणियांह ।
मुर सूं ही मूसरे मही, दणिक चोर वणियांह ॥[4]

इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने की है। वह यह कि क्षेमेन्द्र ने इसी सर्ग के अनेक पद्यों में बनियों की एक विशेष जाति 'किराट' का विशेष रूप से उल्लेख किया है। बाँकीदास ने भी इसी 'किराट' के विकसित रूप 'किराड़' का प्रयोग 'बैस वार्ता' के अनेक दोहों में किया है—

लोभो ऽथवं प्रविष्य कुटिलं हृदयं किराटानाम् ।[5] (क्षेमेन्द्र)
गीधी री मरणा गती, सम री चोर किराड़।[6] (बाँकीदास)

---

१ हितोपदेश (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४९ ई०) पृ० ८९
२ बाँकीदास ग्रंथावली भाग ?, पृ० २४।२५
३ भाग-क्रय विक्रय कूटतुला तराजू, हाथ की सफ़ाई तथा धरोहर रखने के बहाने से ये दिन में चोरी करने वाले चोर अर्थात् बनिये लोगों को प्रसन्नतापूर्वक लूटते हैं। (काव्यमाला गुच्छक १ पृ० ४३।४)
४ बाँकीदास ग्रंथावली भाग २ पृ० ५२
५ अब (शास्त्रों द्वारा परित्यक्त) लोभ किराटों के कुटिल हृदय गत में घुस गया। काव्यमाला गुच्छक १ पृ० ४३।३
६ बाँकीदास ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७०।३

कलाविलास के पंचम सर्ग में क्षेमेन्द्र ने कायस्थों को उपहास का विषय बनाते हुए लिखा है कि वे लेख में अक्षर की तनिक-सी-रेखा मिटाकर 'सहित' का 'रहित' बना देते हैं—

'रेखामात्रविनाशात् सहितं कुर्वन्ति ये रहितम् ।'[1]

बांकीदास ने इसी भाव को एक बनिये से सम्बन्धित कर दिया है जो 'इतायु' को 'घतायु' बनाकर यमराज को भी धोखा देकर धरा पर लौट आया था—

इकत्तर सब बहयूं इतो, लिख्यो इतायु लिलाय ।
घायो पाछो बलक इक, जमपुर सूं कर जाय ॥[2]

उक्त उद्धरण इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त प्रतीत होते हैं कि बांकीदास ने कहीं-कहीं प्राचीन कवियों से भाव ग्रहण तो किये हैं परन्तु उनका विकास अपने प्रतिभाबल से स्वतंत्र रूप में किया है ।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नीतिकाव्यों की संख्या और सरसता की दृष्टि से कोई भी प्राचीन कवि कविराजा बांकीदास की समता नहीं कर सका ।

२७ बैताल

नीति के अन्यतम कवि बन्दीजन बैताल का काल अभी तक विवादास्पद है । शिवसिंह सरोज में इनका जन्म-संवत् १७३४ दिया गया है । इनके छप्पयों में बैताल के विक्रम सुनो भी पांचवें या छठे चरण में नियमित रूप से दिखाई देता है । कुछ विद्वानों का अनुमान है कि किसी अज्ञात कवि ने प्राचीन विक्रमादित्य और बैताल की कथाओं से इन नामों को ग्रहण कर लिया है । दूसरा मत यह है कि बैताल चरखारी (बुंदेलखंड) के प्रसिद्ध गुणग्राही और सुकवि राजा प्रतापसाहि के सभाकवि थे जिनका शासनकाल १८३९ से १८८६ तक था । काल के अनिश्चित होते हुए भी इतना तो निश्चित ही है कि बैताल मध्यकाल के एक प्रसिद्ध नीति-कवि थे और उनके छन्द बहुत लोकप्रिय थे ।

बैताल का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ कुछ स्फुट पद ही उपलब्ध हुए हैं । इन पदों की शब्दावली तथा भावों में भी कहीं-कहीं पर्याप्त भेद है ।[1] यद्यपि बैताल के वर्ण्य विषय सब के जाने-बूझे हुए हैं तथापि उनके छप्पय नीरस नहीं लगते । इस का प्रधान कारण उन की भाषा और शैली की तीन विशिष्टताएं हैं । प्रथम प्राय प्रत्येक

---

१ काव्यमाला, गुच्छक १ पृ० ६०।११

२ बांकीदास ग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ७२।६७

१ ना० प्र० स० काशी के सभासंग्रह सं० १३३४।८४६ के पत्र ११० के प्रथम पद की कविता कौमुदी, भाग १ के पृष्ठ ४६२ पर उद्धृत 'मरे बैल' पद से तुलना कीजिए ।

पद्यमें वे किसी-न-किसी संज्ञा विशेषण या क्रिया पद का इतनी अधिक बार और इतने सुन्दर ढंग से व्यवहार करते हैं कि वह कर्ण तथा अन्तःकरण को एक-साथ ही प्रभावित करता है। द्वितीय विशिष्टता है प्रतिपाद्य विषय को परस्पर विरोधी तथ्यों द्वारा प्रभावशाली बनाना। छप्पय के प्रथम चार-पांच चरणों में तो वे एक ही प्रकार के तथ्यों को निहित करते हैं परन्तु षष्ठ चरण में एक ऐसा तथ्य प्रस्तुत कर देते हैं जो पूर्व तथ्यों का सर्वथा विरोधी होता हुआ हृदय में तीर की तरह धस जाता है। असल में वही उनका वास्तविक कथ्य विषय होता है। तीसरी विशिष्टता है विनोक्तियों का सुन्दर प्रयोग। इन विशेषताओं के कारण वे भव्य भावों तथा ऊँची उद्भावनाओं के अभाव में भी लोकप्रिय हो गये हैं। उन्होंने सुबोध ब्रजभाषा में तत्सम शब्दों को प्रधानता दिया है और खुवारी बेपीर मर्द मुलुक दद सायर आदि सरस विदेशी शब्दावली का भी निश्शंक प्रयोग किया है। दो छप्पय पढ़िए—

राजा चंचल होय मुलुक को सर करि लावै।
पंडित चंचल होय, सभा उत्तर दे आवै॥
हाथी चंचल होय, समर में सुंडि उठावै।
घोड़ा चंचल होय, झपट मैदान देखावै॥
ये चारों चंचल भले राजा पंडित गज तुरी।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो तिरिया चंचल अति बुरी॥[1]

ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदय सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र पत्र बिन तरवर सूनो॥
गज सूनो इक दंत ललित बिन सायर सूनो।
विप्र सून बिन वेद और बन पुहुप बिहूनो॥
हरिनाम भजन बिन संत अरु, घटा सून बिन दामिनी।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो पति बिन सूनी कामिनी॥[2]

२८. मनरंग लाल

कन्नौज-निवासी दिगम्बर जैन श्रावक मनरंगलाल जी के पिता का नाम कन्नौजीलाल और माता का नाम देवकी था। इनके जन्म-निधन के काल का तो निश्चित रूप से ज्ञान नहीं है परन्तु इनका साहित्य निर्माण काल विक्रमी उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) चौबीस तीर्थंकर का पाठ (सं० १८५७) (२) नेमचन्द्रिका (३) सप्त व्यसन चरित (४) सप्तर्षि पूजा (५) शिखर सम्मेदाचल माहात्म्य (सं० १८८९)। उक्त कृतियों में से 'सप्तव्यसन चरित' ही हमारे प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित है।

१ २ कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ ४६३। ४, ४६४। ८

सप्तव्यसन चरित—इस कथा-समूहात्मक अपूर्ण नीति-काव्य की हस्तलिखित प्रति हमें अलीगंज (जिला-एटा) के जैन विद्वान् श्री कामताप्रसाद के सौजन्य से देखने को प्राप्त हुई। काव्य के प्रथम २१ पद्यों में बीस तीर्थंकरों का स्तवन है तथा ग्रन्थों के विषय का संकेत है। परवर्ती कथाओं में पद्य-संख्या इस प्रकार है—

१ द्यूत व्यसन कथा (पद्य १० १४७)
२ मांसव्यसन कथा (पद्य १ ६५)
३ सुरापान व्यसन कथा (पद्य ६६ १२६)
४ वेश्या व्यसन कथा—
  (क) चारुदत्त कथा (पद्य १ १२८)
  (ख) सुदत्त सेठ की कथा (पद्य १ ४१)
५ चोरी व्यसन कथा (अपूर्ण) (पद्य १ ८४)

छठी और सातवीं कथाएँ जिनका उद्देश्य आखेट तथा परदारागमन की निंदा था लुप्त हो चुकी हैं। यद्यपि इस काव्य की रचना जैनधर्म में लिखित प्रसिद्ध सप्त व्यसनों के आधार पर की गई है तथापि यह सर्वसाधारण के लिए समान रूप से उपयोगी है। पाठकों को उक्त व्यसनों से विमुख करने के लिए कवि ने जिन कथाओं को चुना है वे प्रायः प्राचीन साहित्य से ली गई हैं कवि-कल्पित नहीं हैं। द्यूत-व्यसन की कथा के लिए कवि ने पाण्डवों के द्यूत-जनित वनवास का, मांस-व्यसन की कथा के लिए वत्स देश के कुसुमपुर के भूपाल नामक राजा के जिह्वालोलुप पुत्र बक के चरित्र का, सुरापान की कथा के लिए यादवों के मद्यपान द्वारा नाश की कथा का और वेश्या-व्यसन की कथा के लिए चारुदत्त तथा वसन्ततिलका की कथा का आश्रय लिया है। परन्तु ये कथाएँ अनुवाद रूप में नहीं हैं। कथाओं के बीज तो प्राचीन पुस्तकों से ले लिये गए हैं परन्तु उनका विकास कवि ने अपनी बुद्धि से किया है। कहीं-कहीं पात्रों के नाम भी परिवर्तित कर दिये गए हैं। जैसे चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कथा संस्कृत-साहित्य में सुविख्यात ही है। यहाँ कवि ने नायिका का नाम वसन्तसेना के स्थान पर वसन्ततिलका कर दिया है। विषय की दृष्टि से यह बात भी स्मरणीय है कि यद्यपि कवि का मुख्य लक्ष्य उपर्युक्त सप्त-व्यसनों का खण्डन है तथापि प्रसंगवश जो अन्य नीति-विषय या उपस्थित होते हैं कवि उन पर भी निर्बाध रूप से लिखता है। जैसे जब पाण्डव लाक्षागृह से सुरक्षित निकल भागते हैं तब कवि को पूर्वकृत पुण्यों के महत्त्व पर लिखने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

रस, भाव—चूँकि कथाओं के पात्र अनेक परिस्थितियों में पड़कर विविध कार्य-कलाप करते हैं इसलिए अनेक रसों और भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है। द्यूत व्यसन की कथा में करुण रस की, मांस-व्यसन की कथा में दया भाव की, वेश्यानिंदा तथा सुरापान की कथाओं में घृणा-भाव की प्रधानता है। परन्तु अनेक छन्द ऐसे भी हैं जो केवल कथा को अग्रसर करने के लिए ही लिखे गये हैं और पाठक को भाव या रस

विषय में मग्न करने में असमर्थ है।

भाषा शैली—कवि ने काव्य में स्वच्छ मधुर और प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। विदेशी शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग न होने के तुल्य ही समझना चाहिए। काव्य में मुख्य रूप से व्याख्यात्मक तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक तथा दृष्टान्त वर्णन शैलियों का व्यवहार किया गया है।

अलंकार—शब्दालंकारों में छेकानुप्रास लाटानुप्रास और वीप्सा तथा अर्थालंकारों में हेतु दृष्टान्त रूपक और उल्लेख का प्रयोग अधिक दिखाई देता है।

छन्द—इस काव्य में सवैया दोहा सोरठा चौपाई त्रिभंगी, अडिल्ल, छप्पय, मनहरण सवैया (कवित्त) गीतिका मोटक, नाराच, पद्धडि और पालि छन्द का प्रयोग किया गया है।[1]

गुण—रचना में प्रसाद गुण तो सर्वत्र ओत-प्रोत है माधुर्य और ओज भी प्रसंगवश अनेकत्र दिखाई देते हैं।

अन्त में सार रूप से यह कह सकते हैं कि मनरंगलाल की यह प्रबन्धात्मक रचना कल्पना-तत्त्व की कमी के होते हुए भी नीति-विषय की एक सुन्दर काव्यकृति है। एक उदाहरण लीजिए—

सठ करै मति शुद्धि सच सकना निरधारै।
सठ दिखावै कुन्थ, कहा अपयश विस्तारै॥
सठ पुण्य को दाबु करत सज्जनी धन पीवत।
सठ शौचता हरै, सठ कुलमान न छीवत॥
मनरंग कहूँ अधि बोध कुल के दर्शन महिमा घनी।
यहि बात मास ताके कथा, 'दमि ते धनि तें' यों भनी॥[2]

२६ रघुनाथ

रघुनाथ कवि का दुष्ट गजन पचासनी की हस्तलिखित प्रति[3] नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के याज्ञिक संग्रह में खण्डित रूप में विद्यमान है। २२ पत्रों की प्रस्तुत प्रति में चूँकि प्रथम पाँच पत्र लुप्त हो चुके हैं इसलिए १६ से ६८ तक ही पद्य प्राप्त हैं। अन्त में परिशिष्ट रूप में आठ पद्य और मिलते हैं जिनमें गणेश, शिव हनुमान आदि से दुष्ट-संहार के लिए प्रार्थना की गई है। काव्य की पुष्पिका इस प्रकार है—

'इति कवि रघुनाथ कीरचित दुष्टगजन पंचासनी सम्पूर्ण सम्वत् १८८१।'

---

१ त्रिभंगी ३२ मात्रा का छन्द है जिसमें १६ १० मात्राओं पर यति होती है और पद्धडि १४ मात्रा के सखी छन्द का ही नामान्तर है।

२ सज्जनव्यसन चरित पृष्ठ ३७। १२५

३ दुष्टगजन पचासनी याज्ञिक संग्रह प्रति-संख्या २१६। ३५

पुष्पिका में कवि-नाम और संवत् के उल्लेख से तथा लिपिकार के नाम के अभाव से अनुमान होता है कि कवि ने प्रति अपने ही हाथ से लिखी है।

दुष्टों के गुण-कर्म-स्वभाव के सम्बन्ध में प्रायः सभी नीति-कवियों ने थोड़ा बहुत लिखा है और इस विषय में यह कवि भी अपवाद नहीं है। परन्तु इस काव्य की विलक्षणता यह है कि इसके अधिकतर भाग में दुष्टों की निन्दा और उनके अमंगल की कामना की गई है। निर्मलों व उरगीकों विप्रों के वैरियों कृपणों परोपकार-रहितों और कटुभाषियों को यम-यातनाओं की विभीषिका दिखाई गई है। काव्य के अध्ययन से अनुमान होता है कि विप्र कवि दुष्टों से बुरी तरह सताया गया है और इसीलिए वह उन्हें राजयक्ष्मा पाण्डुरोग जलोदर शूल आमवात संग्रहणी गलितकुष्ठ अपस्मार भगंदर महामारी आदि भयंकर और घृणित रोगों से पीड़ित होने का शाप देता है। अपना वश न चलने के कारण कवि महावीर हनुमान् को भी रामचन्द्र तथा अंजना के दूध की दुहाई देकर दुष्ट-विनाश का अनुरोध करता है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति एक निन्दा-काव्य है जिसमें कवि ने वाणी द्वारा जी का बुखार निकालने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ दी। सुन्दर प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा में रचित इस कृति में अनुप्रास तथा उपमाओं का सुरुचिपूर्ण प्रयोग दिखाई देता है। प्रायः कवित्त सवैया तथा छप्पय छन्दों का व्यवहार किया गया है। लिखाई की अशुद्धि से वर्णित चरणों की मात्राओं में न्यूनाधिकता के कारण कहीं-कहीं गतिभंग भी दिखाई देता है। बीभत्स और भयानक रसों की व्यंजना अच्छी हुई है। रचना में प्रसाद तथा ओज गुण का बाहुल्य है। अपने विषय और प्रकार का यह एक ही ग्रंथ दिखाई देता है। एक सवैया देखिए—

> मर्दे मराल चुगै मुकताहल चंद-मयूख चकोर ज्यों पावै।
> मनग पान करे पदमान की ... की घड़ि भवे करि राव॥
> दीरघ-दिवाकर तामस की गिति जात निसंक कहूं नहिं रावे।
> दुष्ट को भजन काल करै ततकाल हि रो न मिटे अभिलाषे॥[1]

२० बुधजन

बुधजन का वास्तविक नाम भदीचन्द या बिरधी चंद था। ये जयपुर-निवासी ब्रजभाषा निहालचन्द जी खण्डेलवाल (जैन) के तृतीय पुत्र थे। इनके जन्म-संवत् तथा मृत्युकाल का पता अभी तक अन्धकार में आवृत है। इन्होंने पं० मांगीलाल जी से विद्याध्ययन किया था। ये दीवान अमरचन्द के पास मुख्य मुनीम का कार्य करते थे। जैनधर्म के ग्रंथों के स्वाध्याय में ये विशेष रुचि रखते थे तथा धर्मोपदेश और शंका समाधान में कुशल थे। इनके चार काव्य ग्रंथ प्राप्त हुए हैं—(१) तत्त्वार्थ बोध (२) बुधजन सतसई (३) पंचास्तिकाय (४) बुधजन विलास।

---

१ दुष्टगंजन पंचासा हो० हस्तलिखित संग्रह ग्रन्थ ६१२६

बुधजन सतसई—नीति-काव्य की दृष्टि से बुधजन सतसई विशेष महत्त्व की कृति है। इस पुस्तक की रचना बुधजन ने सं० १८७९ वि० में नृप जयसिंह के शासन काल में की थी—

संवत् ठारा से असी एक बरस ते घाट।
जेठ कृष्ण रवि अष्टमी, हुयो सतसई पाठ॥[1]

रचना के उद्देश्य तथा सार को कवि ने पुस्तक के अन्त में स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

भूप सही वारिज सही सही लोक व्यवहार।
निज काम तुम मत करो, यही ग्रन्थ को सार॥
ना काहू की प्रेरना, ना काहू की आस।
अपनी मति तीखी करन, बरन्यो बरनविलास॥[2]

द्वितीय दोहे का 'बरनविलास' पद कृति के नाम के सम्बन्ध में कुछ संदेह उत्पन्न करता है। जैन-साहित्य के इतिहासकारों ने इस रचना का नाम बुधजन सतसई ही लिखा है।[3] कवि ने स्वयं भी सात सौ दोहों की रचना का उल्लेख किया है—

कीने बुधजन सात से सुगम सुभाषित हेर।
सुनत पढ़त समझे सरब हरे कुबुधि का फेर॥[4]

परन्तु इतने ही आधार पर कृति का नाम 'बुधजन सतसई' मानना अनुचित प्रतीत होता है। सम्भव है कवि ने इसका नाम 'बरनविलास' ही रखा हो और इतिहासकारों ने ७०० दोहे देखकर सतसई नाम प्रचलित कर दिया हो। पर विचारणीय बात यह है कि बरनविलास नाम भी विशेष सार्थक प्रतीत नहीं होता। यदि कृति की रचना में कोई विशेष वर्णक्रम दिखाई देता तो नाम का औचित्य स्वीकार्य होता। परन्तु बुधजन ने रचना को 'सतसई' न कहकर 'बरनविलास' कहा है। इसलिए जब तक किसी पक्ष के अधिक और पुष्ट प्रमाण न मिलें पुस्तक के नाम के विषय में कोई मत निर्धारित नहीं करना चाहिए।

आकार-प्रकार—सतसई में कुल ७०२ दोहे हैं जो चार विभागों में निम्नलिखित

---

१ बुधजन सतसई : (प्र० जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, तृतीयावृत्ति), पृष्ठ ७४।६९९

२ वही, पृष्ठ ७४।७००, ७०२

३ (क) कामता प्रसाद जैन : हिन्दी जैन साहित्य (काशी, १९४७ ई०) पृ० १९७
(ख) नेमिचंद्र शास्त्री : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (काशी, १९५६ ई०) पृष्ठ २१२
(ग) बुधजन सतसई भूमिका पृष्ठ ७

४ बुधजन सतसई पृष्ठ ७४।६९७

रीति से विभक्त हैं—

विभाग	दोहा-संख्या
१ देवानुराग शतक	१००
२ सुभाषित नीति	२००
३ उपदेशाधिकार	२००
४ विरागभावना	२०२
योग	७०२

उक्त चार विभागों में से देवानुराग शतक भक्ति प्रधान है तो विराग-भावना विरक्ति प्रधान। नीति काव्य की दृष्टि से सुभाषित-नीति तथा उपदेशाधिकार ही विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। सुभाषित नीति में तो विविध विषयों का प्रायः कोई विशेष क्रम लक्षित नहीं होता परन्तु उपदेशाधिकार के दोहे विद्या-प्रशंसा मित्रता और संगति द्यूत-निषेध मांस-निषेध मद्य-निषेध शिकार की निंदा चोरी-निंदा और पर-स्त्री संगनिषेध शीर्षकों में विभाजित हैं।

वैयक्तिक नीति—प्रायः जैन रचनाओं में शारीरिक सुखों की उपेक्षा ही दिखाई है परन्तु बुधजन ने दुःखों से बचने की प्रेरणा ही नहीं की रोग-निवारण के उपायों का उन्मेष भी किया है—

पथ पथहीं बहु-धीर गो औषधि बीज अहार।
ज्यों लाभै त्यों कीजिये, कीज दुख परिहार ॥[१]
कोढ़ मांस, घृत ज्वर दिये, दुख छिवस सौ हार।
दृगरोगी मैथुन तजो, नरो धान अतिसार ॥[२]

वाणिविषयक नीति में दो बातें विशेषतः ध्यान आकर्षित करती हैं। प्रथम यह कि यावज्जीवन दैन्यपूर्ण वचन मुख से नहीं निकालने चाहिएँ[३] और द्वितीय यह कि परोपकारक असत्य भी सत्य है—

असत बैन नहिं बोलिये तातैं होत बिगार।
वे असत्य नहिं सत्य हैं जातैं ह्वै उपकार ॥[४]

विद्या और विवेक के महत्त्व पर इन्होंने दर्जनों दोहों की रचना की ही है। विद्या की प्राप्ति के उपायों तथा विवेकहीनों के दोषों का भी उल्लेख किया है—

पुस्तक गुरु थिरता जतन मिलै सुथान सहाय।
तब विद्या पढ़िवो बन, मानुष गति परजाय ॥[५]
सींग पूंछ बिन बैल हैं मानुष बिना विवेक।
भक्ष्य अभक्ष्य समझे नहीं, भगिनि भामिनी एक ॥[६]

१-४ बुधजन सतसई पृष्ठ, २६।२३८ ३०।२८२, २७।२४६, ७२।६७८
५-६. बुधजन सतसई पृष्ठ ४६।४३० ४७।४३८

इन्होंने बालकों के लिए पाँच से सोलह वर्ष तक की अवस्था को अध्ययन-काल कहा है और उस काल में उनसे लाड़-प्यार करने का निषेध किया है।[1]

दया क्षमा उदारता आदि गुण ग्रहण करने पर कवि ने जहाँ कई दोहे रचे हैं वहाँ मन को चिन्ताओं से मुक्त रखने का एक सुन्दर योग भी प्रस्तुत किया है—

सुन्दर हाथ प्रनामसौं पढ़िवौ करिवौ सीर।
सील पंथ निधि में सुपथ तातें रह्यो नचीत ॥[2]

पारिवारिक नीति—यद्यपि 'विराग भावना' में कवि ने पुत्र-कलत्र को झूठा और परिवार को ठग तथा मधुर भाषण द्वारा प्राणापहारक कहा है तथापि 'सुभाषित नीति' में अनेक उपयोगी बातों का उल्लेख किया है। माता पिता की सेवा तथा पाति व्रत पर तो सभी नीति कवियों ने थोड़ा-बहुत लिखा है परन्तु बुधजन ने भाई के प्रति पुत्र और पत्नी से भी अधिक प्रेम[3] तथा भानजे के प्रति सावधानता का भी उल्लेख किया है—

निज भाई निरगुन भलौ पर गुनजुत किहि काम।
आँगन तरु निरफल जदपि छाया राखत धाम ॥[4]
विद्या दय गुनिजन कौं करै सुगुन उपकार।
ताप भड़ाभो भानजा, जोखिं लेय अधिकार ॥[5]

सम्भवतः भानजे के प्रति सतर्कता की यह भावना हमारे समाज में इसलिए है कि वह दूसरे कुल का होता है। इनके अतिरिक्त वार्धक्य में पत्नी के निधन का धन के पुत्र के अधिकार में चले जाने को तथा भोजन के बहू-आधीन हो जाने को तो मरने से भी बुरा कहा है।[6]

सामाजिक नीति—पातिव्रत पर तो प्रायः सभी रीति-कवि बल देते हैं परन्तु पत्नीव्रत पर विशेष बल जैन-कवियों की विशेषता है। उसी के अनुसार बुधजन ने भी सामाजिक यौन पवित्रता की रक्षा के लिए परदाराभिगमन तथा वेश्यागमन के निषेध पर अनेक भाव-पूर्ण दोहे रचे हैं—

अपनी परतिय देखि कै जैसा अपनै दर्द।
तैसा ही पर नारि का दुखी होत है मर्द ॥[7]
हीन दीन तैं लीन ह्वै, सेतौ मद विसराय।
सेठी एरदस संपदा करी रोप सपाय ॥[8]

यद्यपि प्रारम्भ में जैनधर्म जात-पाँत का विरोधी था तथापि धीरे-धीरे जाति, वंश और कुल का विचार इसमें भी प्रबल होता गया। सुन्दर-सुयोग्य स्त्री के सम्बन्ध में नीतिकारों ने 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि' कहकर उदारता का जो परिचय दिया था

१-८ बुधजन सतसई पृष्ठ ४६।४५४, २६।२६७ २०।१८० २०।१८१, २४।२१५, २४।२२६ ३१।४६२, ४३।६७४

उसका बुधजन ने सामाजिक भय के कारण निषेध कर दिया है—

> बरज्यो कुल की बालिका व्यय कुरूप न कोय।
> कपी अध्रूसी परसतां हीन कहै सब कोय ॥[1]

गुरु और शिष्य गुरु का महत्त्व सभी गृहागतों का सम्मान, अत्यन्त मायावी जन प्रीति के छह साधन भव्य जन, चित्रकार्य जन मित्रता संगीत आदि विषयों के अतिरिक्त इन्होंने शिष्टाचार-सम्बन्धी बातें भी कही हैं—

> जो हँसता पानी पिये चलता खावै खान।
> है अतरापत बात जो सो सठ ढीठ अजान ॥[2]

आर्थिक नीति—यद्यपि बुधजन ने धनजन्य सम्मान तथा दारिद्र्य-जन्य अपमान का अनेक दोहों में सविस्तर उल्लेख किया है तथापि इन्होंने चोरी, अन्याय जुआ आदि साधनों से धन-संग्रह को बहुत बुरा कहा है। इनके मत में वित्त के लिए नीति का भी त्याग नितान्त अनुचित है—

> नीति तजै नहिं सत पुरुष जो धन मिलै करोर।
> कुल तिय बनै न कंचनी भुगतै विपदा घोर ॥[3]

इतर-प्राणि-विषयक नीति—प्राण सब को प्यारे होते हैं और अहिंसा जैनों का मुख्य सिद्धान्त है इसलिए बुधजन ने मांस भक्षण तथा आखेट का प्रबल निषेध किया है। इनके अतिरिक्त मदिरा-पान के प्रत्याख्यान के ये हेतु प्रस्तुत किये गये हैं कि उसके नशे में मनुष्य गोप्य बातें प्रकट कर देता है सुध-बुध भूल गलियों में गिर पड़ता है मुख कुत्ता चाटता है और मद्य निर्माण में होने वाली हिंसा के पाप का भागी बनता है।[4]

विविध नीति—उद्यम प्रशंसनीय है परन्तु दैव के समक्ष उसकी चाल नहीं चलती।[5] उसमें यह शक्ति नहीं कि उद्यमी को सुख विद्या आयु धन आदि से प्रसन्न कर सके। पूर्वजन्म के कर्म इतने प्रबल हैं कि शिशु जब गर्भ में होता है तभी से उसके लिए ये वस्तुएँ निश्चित हो जाती हैं—

> सुख दुख विद्या आयु धन, कुल बल वित अधिकार।
> साथ गर्भ में अवतरें, देह धरी जिहिं बार ॥[6]

अन्य विषयों में राजनीति धर्म की सर्वोच्चता अति की सर्वत्र त्याज्यता, समय की प्रबल शक्ति हानिकर स्थानों का परिहार आदि अनेक विषयों का उल्लेख सतसई में दिखाई देता है।

१-२ बुधजन सतसई पृष्ठ १४।११६, १८।१६०
३ " पृष्ठ १४।११८
४ पृष्ठ १०।५६७, ४६८, ४७
५. पृष्ठ २१।१८६, १६१
६ , पृष्ठ ६७।२४६

सतसई पर एक दृष्टि—सतसई के नीति-सम्बन्धी अर्थों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि कवि ने जन प्रिय विषयों का ही उल्लेख नहीं किया, सामान्य नीति की भी अनेक उपयोगी बातें समाविष्ट की हैं। इस प्रकार पथ प्रदर्शन की दृष्टि से कवि की महत्ता में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु इस रचना में जो बात सब से अधिक खटकती है वह है सरसता का अभाव। वृन्द सतसई में भाषा की सरलता तथा दृष्टान्तों की उपयुक्तता इस कमी को कम कर रही थी। परन्तु प्रस्तुत सतसई के अधिकतर दोहों का किसी प्रकार भी काव्य कहने का साहस नहीं होता। ऐसे लगता है कि सामान्य बातें सामान्य रीति से कही जा रही हैं। अधिकतर दोहों में न भाषा में विशेष चमत्कार है न अर्थ में। दृष्टान्तों का प्रयोग तो हुआ है परन्तु थोड़े ही दोहों में। इस प्रकार रचना का नीति-काव्य की अपेक्षा नीति की पद्यावली कहना अधिक युक्तिसंगत जँचता है।

भाषा—सतसई में ब्रजभाषा प्रयुक्त की गई है परन्तु कहीं-कहीं उसमें राजस्थानीपन आ गया है। जैसे—

जातो पीतो सोवतो करतो सब व्योहार।
धनिका पर बसिबो कर्यौ करतब करै असार॥[१]

फ़ारसी आदि के तद्भव रूप—हुन्नर माफिक जिहाज मुस्ताक दबार हुकमी आदि भी कहीं-कहीं व्यवहृत हुए हैं। एकाध स्थल पर 'अबजूद' जम रूप भी मिलते हैं जिनमें अरबी-हिन्दी का मिश्रण लक्षित होता है। भाव या भाषा में छोटे-छोटे प्रचलित तत्सम रूपों का ही प्रयोग किया गया है परन्तु कहीं कहीं अस्तुपवित्र दया मिलाप आदि शब्द कुछ खटकते-से हैं। सूक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग भी दिखाई देता है परन्तु बहुत कम।

बहुते बारि परवार कर, फेरि न लागे बारि।[२]
लेवा पाँउ पसारिये जेती लांबी सौर॥[३]

अलंकार—सतसई में दोनों ही प्रकार के अलंकार दिखाई देते हैं। शब्दालंकारों में छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास वीप्सा और लाटानुप्रास का और अर्थालंकारों में उपमा दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास रूपक यथासंख्य उल्लेख तुल्ययोगिता आदि का और उभयालंकार में संसृष्टि का प्रयोग अधिक दृष्टिगत होता है। यथा—

शब्दालंकार—

गिरि गिरि प्रति मानिक नहीं वन वन चंदन नाहिं।[४] (वीप्सा)
सुघर सभा में यौं लसै, जसै राजत भूप॥[५] (छेकानुप्रास)
धन सम पुन्न धन धरम सम, धन दय मैं उ प्रमाय।[६] (लाटानुप्रास)

---

१ ३ बुधजन सतसई, पृष्ठ ५१।७०६, ५५।५१७, २८।२९१
४ ६ वही पृष्ठ ९८।५६४, ३१।२८९, ४०।६८२

दुराचारि तिय कलहिनी, किंकर क्रूर कठोर ।।[1] (वृत्यनुप्रास)

अर्थालंकार—

अवसर हित उद्यम करैं वे हैं चतुर विसेखि ।[2] (उपमा)
सत्य दीप बाती क्षमा सील तेल सजोय ।।[3] (रूपक)
भला किये करि है बुरा दुर्जन सहज सुभाय ।
पय पायें विष देत है, फणी महा दुखदाय ।।[4] (दृष्टान्त)
जैसी संगत कीजिये तैसा ह्वै परिनाम ।
तीर गहैं ताके तुरत माला त ले नाम ।।[5] (अर्थान्तरन्यास)

यह बात ध्यान देने की है कि उपमा दृष्टान्त आदि अलंकारों से युक्त दोहे अधिकतर पूर्ववर्ती काव्यों से प्रभावित हैं मौलिक नहीं।

उभयालंकार—

नीतिवान मोहि न तजै तहैं भूख लिख जास ।
ज्यों हंसा मुक्ता बिना अनसर करै निवास ।।[6]
(लाटानुप्रास छेकानुप्रास दृष्टान्त की संसृष्टि)

विधान छन्द आदी—समग्र रचना मुक्तक दोहों में है और छन्द शास्त्र की दृष्टि से दोहे प्रायः निर्दोष हैं। सामान्यतः तथ्यनिरूपक शैली का प्रयोग प्रचुर है। उपदेशात्मक तथा सम्बोधनात्मक शैलियाँ दिखाई तो देती हैं परन्तु बहुत कम। चाणक्य-नीति के समान पशु-पक्षियों से शिक्षा-ग्रहण की शैली का व्यवहार खूब किया गया है।

गुण-दोष—प्रसाद ही रचना का प्रधान गुण है। माधुर्य और ओज की मात्रा न्यून है। छन्द को निर्दोष बनाने के लिए कहीं-कहीं शब्दों को विकृत कर दिया गया है जैसे—

गृह मईथुन धन वचन संग्रह सबै निदान ।।[7]

इस पद में एक मात्रा की कमी को पूर्ण करने के लिए 'मैथुन' को 'मईथुन' बना दिया गया है। कुछ स्थानों पर च्युतसंस्कृति दोष भी दिखाई देता है जैसे—'मतिमान' के स्थान पर 'मतिवान' ।[8] कहीं-कहीं पर असमर्थत्व दोष भी दृष्टिगत होता है जैसे—

पायो कहा अपमान निज मार्थ नाहिं विचिन ।।[9]

इस पद में 'विचिन' का प्रयोग 'बुद्धिमान्' के अर्थ में किया गया है। परन्तु ये सब सामान्य स्खलित हैं जिनसे सर्वथा मुक्त रहना कदाचित् किसी भी कवि के वश में नहीं। मुख्य दोष तो नीरसता है जिसके कारण विषय की दृष्टि से उत्तम होती हुई भी रचना वृन्द-सतसई के समान लोकप्रिय न हो सकी।

१-५. बुधजन सतसई पृष्ठ २७।२११ १७।१४२ २३।२००, १२।१०४, ३४।३१६
६. „ पृष्ठ ३४।३१०
७-९. पृष्ठ १७।१३४, १७।१४४ १७।१४७

५१ बाबा दीनदयाल गिरि

जीवन-परिचय—गोसाईं दीनदयाल का जन्म काशी के गाय घाट मुहल्ले में सं० १८५९ वि० की बसन्तपंचमी के दिन पाठक-कुल में हुआ था। इनके अज्ञातनामा जनक इन्हें केवल पाँच-छः वर्ष के वय में महन्त कुशागिरि को सौंपकर स्वर्ग सिधारे। अनेक मठों के स्वामी कुशागिरि के तीन शिष्य थे—दीनदयाल गिरि, शंकर गिरि और रामदयाल गिरि। ऋणी गुरु के गोलोकवास पर उनकी अधिकतर सम्पत्ति तो नीलाम हो गई और दाय के लिए शिष्यों में कलह आरम्भ हो गया। दीनदयाल को दुःखित देख अमेठी-नरेश ने इन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया परन्तु स्वतन्त्रता-प्रिय दीनदयाल ने—

पराधीनता दुख महा, सुख जग में स्वाधीन।
सुखी रमत सुक बन विषे, कनक पींजरे दीन॥[1]

कहकर काशी से बाहर जाना उचित न समझा और जीवन भर वहीं रहे। दीनदयाल शैव संन्यासी थे परन्तु साम्प्रदायिक संकीर्णता से सर्वथा मुक्त। ये संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। हिन्दी-काव्य के प्रति रुचि इनमें भारतेन्दु जी के पिता बाबू गोपालचन्द्र की संगति से उत्पन्न हुई थी। बाबा जी अत्यन्त सरल-स्वभाव, विनोदप्रिय, दयालु, सच्चरित्र, गुणग्राही तथा आत्माभिमानी व्यक्ति थे। ये स्वयं कभी किसी से कुछ माँगते न थे इसलिए काशी-नरेश आदि समृद्ध जन गुप्त रूप से इन्हें सहायता भेज दिया करते थे। इनका स्वर्गवास सं० १९१५ में हुआ था।

काव्य-परिचय—गिरि जी ने निम्नलिखित काव्य-ग्रन्थों की रचना की—(१) दृष्टान्त तरंगिणी (सं० १८७९) (२) अनुराग बाग (सं० १८८८) (३) वैराग्य दिनेश (सं० १९०६) (४) अन्योक्ति-कल्पद्रुम (सं० १९१२) (५) विश्वनाथ नवरत्न। 'दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली' में इनकी 'अन्योक्ति-माला' भी संकलित है परन्तु इसे 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' का पूर्ववर्ती संक्षिप्त संस्करण ही मानना चाहिए। 'शिवसिंह सरोज' में 'बागबहार' को भी इन्हीं की रचना बताया गया है परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।[2] बाबू श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'बागबहार' 'अनुराग बाग' का ही दूसरा नाम है। अस्तु, उपर्युक्त पाँच काव्यों में नीतिकाव्य केवल दो हैं—दृष्टान्त तरंगिणी और अन्योक्ति कल्पद्रुम और वही यहाँ पर हमारे विवेच्य हैं।

दृष्टान्त तरंगिणी—२०९ दोहों की इस कृति का रचना-काल संवत् १८७९ है—

निधि मुनि वसु ससि साल में फागुन मास प्रकास।
प्रतिपद मंगल दिवस को कीन्यो ग्रन्थ विकास॥[3]

---

१ सं० श्यामसुन्दर दास दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, (ना० प्र० सं० काशी, १९७६ वि०) पृ० ७७।५५

२ शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ३९१

३ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, दृष्टान्ततरंगिणी पृष्ठ ९०।२०९

गिरि जी ने अपनी इस प्रथम कृति को केवल बोध वय के भय में बुद्धि का मल धोने तथा जड़ता और तापों को नष्ट करने के लिए लिखा।[1] नीति-काव्यों में प्रायः प्राप्य सामान्य विषयों के अतिरिक्त इसमें अनेक ऐसी बातों का उल्लेख है जिनकी चर्चा सामान्यतः नीति-काव्यों में नहीं मिलती और न जिनकी आशा एक संन्यासी कवि से की जाती है; जैसे दुर्जन को विपत्ति से मत बचाओ, लोग पुनीत मन की नहीं मलिन मन की पूजा करते हैं, पुरुष का भी समुद्र के समान सम्मान होता है, नाम सदा सुन्दर रखना चाहिए, समर्थ व्यक्तियों की बुद्धि तथा धाम-धाम लोक विरुद्ध होती है, मूर्ख के समक्ष विद्वान् अशक्त हो जाता है, पत्नी-व्रत, पराधीनता और स्वाधीनता, लोग सुसाध्य वस्तु की अपेक्षा दुःसाध्य को अधिक महत्त्व देते हैं, मनुष्य अपना दोष न देखकर दूसरों को अपराधी ठहराते हैं, सज्जन रुक्ष भरमना हितकारिणी होती है, कार्य की सम्पन्नता श्रम और खोज पर निर्भर है, पढ़े या छापे पर नहीं इत्यादि।[2] इससे सिद्ध है कि गिरि जी गिने-चुने विषयों पर ही लिखकर सन्तुष्ट हो जाने वाले व्यक्ति न थे। वह अपनी असाधारण पर्यवेक्षण-शक्ति और प्रखर प्रतिभा से ऐसी बातों को भी अपने काव्य का विषय बनाने में समर्थ थे जो सामान्य कवियों से प्रायः उपेक्षित रह जाती हैं।

'दृष्टान्त तरंगिणी' का अध्ययन करते समय इसके अनेक दोहे भाव की दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यह भाव इस कारण से और भी अधिक खटकती है कि वे दोहे साथ-साथ दिखाई देते हैं; जैसे—

दुष्ट मलीन सों बुधि करै मिलता सुमति अपार।
यह तिन तैं गुन ग्रहन तैं, कुंजर बाँधे बाल॥
यह दुर्जन के मिलन तैं, हानि भली की नाहिं।
धूम फम्बुकन तैं कहौं केहरि नासे जाहि॥[3]

परन्तु आपाततः दिखाई देने वाले इस दोष के लिए कवि को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। संसार में दोनों बातें सत्य दिखाई देती हैं। कभी अनेक निर्बल व्यक्ति संघटित होकर सबल को पराजित करने में सफल होते हैं और कभी विफल। नीतिकार दोनों घटनाओं को सत्य मानकर उनका उल्लेख करना अपना कर्तव्य समझता है। इसके पश्चात् यह कर्तव्य पाठकों का रह जाता है कि वे अवसर-विशेष पर विचार कर लें कि उस समय पर संगठन सफलतादायक होगा या विफलताजनक।

'दृष्टान्त तरंगिणी' की भाषा प्रायः शुद्ध परिष्कृत और व्यवस्थित है। विदेशी शब्दों का प्रयोग विरल है। कहीं-कहीं पर लोकोक्तियों का प्रयोग भी दिखाई

---

१ दीन दयाल गिरि ग्रन्थावली दृष्टान्त तरंगिणी, पृ० ६ ।२०४
२ वही दोहा १० १४ १८ १६, ८८ १२३ ४० ५५, ६८ ६० १४६ १९६
३ वही, पृष्ठ ७६। दोहा ४४ ४५, और भी देखें पृष्ठ ८०।१४४ ५

देता है जो भाषा की अभिव्यंजना शक्ति तथा प्रभाव का वर्द्धक है। जैसे—

स्वान अपर को देखि कै करैं परस्पर कोप।
वहै गरा पशु भुजग को जथा लिखे लखपाम।
पूरन मत मरो पक्षी ज्यों मन गरजन हार।[1]

समाहार गुण भी इसकी भाषा की एक उल्लेख्य विशिष्टता है जैसे—

इक बाहर इक भीतर इक मृदु दुहुँ दिसि पूर।
सोहत नर त्यों त्रिविधि ज्यों बेर बदाम अंगूर॥[2]

एकाध ही स्थल ऐसा है जहाँ लिंग या शक्ति-सम्बन्धी त्रुटि दिखाई देती है जैसे निम्नलिखित दोहों में 'हाल' का स्त्रीलिंग में और 'जस' के साथ 'जाना' का प्रयोग—

सखियन देती सोर में सम्पत है की हाल।
छोड़त देहरि प्यारा हरु तजि के राम बुलाय॥[3]
जाये जौगन एक के पुन ... ...।
यश पात ... नाहिं ... ...॥[4]

इसी प्रकार एक दोहे में मात्रा-संख्या को ठीक रखने के लिए इन्होंने 'समीप' को 'सामीप' कर लिया है।[5] संस्कृत के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ समस्त और क्लिष्ट रूप भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं जैसे—पद्मनाकर, मधुप ... आदि। 'भगवान्' के अर्थ में 'भगमान' का प्रयोग भी अशुद्ध है।[6]

विधान तथा शैली—दृष्टान्त प्रधानी दोहाबद्ध मुक्तक-काव्य है। प्रायः दोहे के पूर्व दल में प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख रहता है और उत्तर दल में निहित दृष्टान्त द्वारा उसकी पुष्टि की जाती है। एकाध स्थल पर दृष्टान्त पहले है और प्रतिपाद्य पीछे यथा—

जैसे धूम प्रभाव तें गगन न होत मलीन।
तथा कुसंगति पाय के मलिन न होंहि प्रवीन॥[7]

पहले हों या पीछे दृष्टान्त अत्यन्त सुन्दर हैं और विषय को हृदयंगम कराने में पूर्ण समर्थ। इसके अतिरिक्त पद्यों में तथ्यात्मक शैली प्रयुक्त की गई है; उपदेशात्मक तथा ऐतिहासिक शैलियों का व्यवहार बहुत ही कम दिखाई देता है।

अलंकार और गुण—शब्दालंकारों में से छेकानुप्रास तो प्रायः प्रत्येक पद्य में दिखाई देता है और वृत्त्यनुप्रास तथा वीप्सा कहीं-कहीं। अर्थालंकारों में दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग का प्रयोग बहुत है। क्रम तुल्ययोगिता विनोक्ति आदि भी कहीं-कहीं प्रयुक्त किए गये हैं। रचना प्रसाद गुण से ओतप्रोत है माधुर्य तथा ओज विरल हैं।

---

१ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली पृष्ठ ८१।१००, ८१।१०२, ८३।११८
२-६ ,, , पृष्ठ ८५।१५४, ८०।११, ८७।११४ ८७।१२२ ७६।७६
७ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, पृष्ठ ८५।१४४

प्राचीन कवियों का प्रभाव—कबीर, रहीम, वृन्द और दीनदयाल के दोहों में पर्याप्त सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस सादृश्य का कारण गिरि जी द्वारा हिन्दी-कवियों का भावापहार नहीं है, मूलस्रोत की एकता है। कबीर ने तो संस्कृत-कवियों के पद्यों को सत्संगति में अर्थ-सहित सुना ही होगा परन्तु रहीम, वृन्द और दीनदयाल संस्कृत के विद्वान् थे। मूल संस्कृत-पद्यों के साथ इन कवियों के दोहों की तुलना करने पर भी हम उपर्युक्त ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जैसे—

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥[1] (चाणक्य)
सिंहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥[2] (कबीर)
साधु रहैं नहिं सकल थल, कवि मन कहँ बखानि।
बन बन चन्दन होहि नहिं, गिरि गिरि मानिक खानि॥[3] (गिरि)

संस्कृत के श्लोक में माणिक्य, मोती, साधु और चन्दन की दुर्लभता का उल्लेख है। कबीर ने मोती और चंदन के स्थान पर तो 'सिंह' और 'हंस' शब्द रख दिये हैं, शेष दो पदार्थ यथापूर्व रहने दिये हैं। गिरि जी ने संस्कृत-श्लोक के तीन पदार्थ लिए हैं—साधु, चंदन और माणिक्य। कबीर ने 'माणिक्य' के स्थान पर 'लाल' कर दिया था परन्तु गिरि जी ने 'मानिक' ही ले लिया है। अब वृन्द के दोहे से तुलना कीजिए—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥[4] (चाणक्य)
चतुर सभा में कूर नर, सोभा पावत नाहिं।
जैसे बक सोभित नहीं हंस-मंडली माहिं॥[5] (वृन्द)
नहिं पढ़ायो पुत्र कौं, सो पितु शत्रु प्रमान।
सोहत मूढ़ सो बुध-सभा, ज्यों हंसन में काग॥[6] (गिरि)

चाणक्य ने बालक को शिक्षा न दिलाने वाले माता-पिता को शत्रु और उस अशिक्षित बालक को हंसों के मध्य में बगले के सदृश कहा था। वृन्द ने अपने दोहे में माता-पिता का नाम तक नहीं लिया, शेष विषय पूर्ववत् रहने दिया। गिरि जी ने माता

---

१ चाणक्य नीति, पृष्ठ २।९
२ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ १६।७४
३ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७।१४०
४ चाणक्य नीति, पृष्ठ २।११
५ सतसई सप्तक, पृष्ठ १०७।२३१
६ गिरि ग्रन्थावली, पृष्ठ ८२।११९

को दोषी ठहराना अनुचित समझा और पिता को ही अनाम ठहराया तथा 'बपुरे' के स्थान पर काम कर दिया। इस उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम गिरि जी हिन्दी-कवियों से नहीं संस्कृत-कवियों से प्रभावित हैं। दूसरी कबीर बृन्द आदि की अपेक्षा वे कम मौलिक हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि बृन्द, रहीम आदि की रचनाएँ प्रौढ़ अवस्था की कवितायें हैं और दृष्टान्त-तरंगिणी नवयुवक कवि की।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दृष्टान्त-तरंगिणी निस्सन्देह एक सुन्दर सूक्तिमयी रचना तो है परन्तु रस भाव तथा कल्पना का विशद स्वरूप न होने के कारण इसे उत्तम काव्य की कोटि में रखना कठिन है।

अन्योक्ति-कल्पद्रुम—इस काव्य की रचना कवि ने दृष्टान्त-तरंगिणी के ११ वर्ष बाद सं० १९१२ में की—

कर छिति निधि ससि साल में माघ मास सित पच्छ।
तिथि बसंत शुभ पंचमी रवि बासर शुभ स्वच्छ॥[1]

ऐसा लगता है कि कवि को दृष्टान्त-तरंगिणी से सन्तोष नहीं हुआ और उसने काव्य-कला में प्रौढ़ता प्राप्त करने के पश्चात् पुनः उसी विषय पर एक सुकाव्य रचना का बीड़ा उठाया जिसमें उसे स्तुत्य सफलता मिली।

यह काव्य चार भागों में विभाजित है जिन्हें कवि ने 'कल्पद्रुम' नाम को सार्थक करने के लिए शाखा नाम से अभिहित किया है। प्रत्येक शाखा के अन्त में दोहे तथा गद्यवाक्य में कवि ने अपना तथा शाखा का उल्लेख किया है। जैसे —

यह अन्योक्ति सुकल्प द्रुम साखा प्रथम बखानि।
बिरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि॥[2]

'इति श्री काशीवासी दीनदयाल गिरि विरचित अन्योक्तिकल्पद्रुम प्रथम शाखा समाप्ता।" प्रथम दो शाखाओं में व्यावहारिक विषयों का अधिक सन्निवेश है तो अंतिम दो में आध्यात्मिक विषयों का।

वर्ण्य विषय—पूर्वोक्त त्रिविध नीति में से बाबा जी ने वैयक्तिक सामाजिक धार्मिक और मिश्रित नीति पर ही अधिक लिखा है; पारिवारिक तथा प्राणिविषयक नीति उपेक्षित-सी है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि बाल्यकाल में ही जनक विहीन तथा विरक्त हो जाने के कारण उन्हें माता-पिता अपत्य-कलत्र आदि के विषय में कर्तव्य-निर्देश करने की नहीं सूझी।

वैयक्तिक नीति—वैयक्तिक नीति के अन्तर्गत इन्होंने शरीर की नीरोगता दीर्घायु आदि के सम्बन्ध में नहीं लिखा क्योंकि सन्त-कवियों के समान इन्हें भी संसार एक स्वप्न की सराय और इसके पदार्थ कामद के फूल से अधिक मूल्यवान् नहीं प्रतीत

---

१ २ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २६०।८०, २१०।६६

होते हैं। हाँ सिंह की अन्योक्ति में इन्होंने पराजय और कुत्तों का तथा अन्य स्थलों पर पिशुनता की निन्द्यता, मूढ़ की वाचालता तथा मूर्खमंडली में मौन की उपादेयता का उल्लेख किया है। विद्या और विवेक के महत्त्व पर इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से अधिक नहीं लिखा परन्तु धैर्य तेज प्रेम क्षमा मद आदि के कारण और छल काम, क्रोध, मद कृतघ्नता आदि के निवारण पर अति सुंदर रचना की है। अन्य अनेक कवियों के समान इन्होंने भी निधन के पश्चात् कीर्ति की स्थिरता तथा जीवितावस्था में यश-विस्तार को ही पर्याप्त नहीं समझा अपनी कीर्ति को अपने कार्यों से अक्षय करने की भी प्रेरणा की है—

सुनिये मीत गुलाब अलि, क्यों मन रहिहै रोकि।
रहित न नीरस रसिक चित, कुसुमित कली विलोकि॥
कुसमित कली विलोकि, कहूँ किमि मरत भांवरी।
ताहि न कंटक वेधि करो मत विकल बावरी॥
बरनै दीनदयाल पालि हित अपनो गुनिये।
रस पराग जुत राग, सुयश कहि है जस सुनिये॥[1]

सामाजिक नीति—सामाजिक नीति के अंतर्गत यद्यपि गिरि जी ने गुणी मूर्ख, सुसंग कुसंग सामान्य जन स्त्री प्रेम बैरी का सहवास आदि अनेक विषयों पर लिखा है तथापि जितना कि स्वामी सेवक गुणी और गुणग्राहक पर है उतना किसी पर नहीं। कारण यह कि यद्यपि बाबा जी किसी राज सभा के सभासद् न थे तथापि इस बात को भली भाँति अनुभव करते थे कि गुणियों कवियों और कलाविदों को यदि राजाओं और धनाढ्यों का आश्रय न मिलेगा तो जहाँ वे लोग भूखों मरेंगे वहाँ उनके साथ ही कला भी मर जायगी। दीनदयाल स्वयं उच्च कोटि के कवि होने के कारण कला का ह्रास नहीं देख सकते थे और इसीलिए इन्होंने अन्य पद्यों का तो कहना ही क्या, षट् ऋतु-परक पद्यों का विषय भी शृंगार न बनाकर हितपरता ही बनाया है—

पावस ऋतु सुखदानि जय तुम सम कोऊ नाहिं।
चपलायुत घनस्याम नित, विहरत हैं तव माहिं॥
विहरत हैं तव माहिं, नीलकंठहु सुखदाई।
मकर देत सुहाय, हिअन की करत सहाई॥
बरनै दीनदयाल, सकल सुख तो सुषमा-बस।
एक हंस उदास रहे काहे है पावस॥[2]

यहाँ राजाओं को अनेकत्र गुणग्राहक तथा उदार बनने की प्रेरणा दी गई है

---

१ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली अन्योक्ति कल्पद्रुम पृष्ठ २२।१४१
२ " " " पृष्ठ १६४।१६, और भी देखें पृष्ठ १६१।१६९

[ज]हाँ यह भी स्मरण कराया गया है कि वे सुकवियों को ही आश्रय दें कुकवियों को [न]हीं जिससे सत्काव्य का ही विकास हो।[१] गुणियों को यह शिक्षा दी गई है कि [ना]टकशाला का बबरी-नगरी में आदर नहीं होता उदार और धनी स्वामी ही सेव्य [है], कृपण निर्धन और कपटी नहीं मुख से पलायन उचित नहीं भ्रमर-कृत उपेक्षा से [चम्प]क की मानहानि नहीं होती इत्यादि। दीनदयाल के मत में यद्यपि सांसारिक लोग [कप]ट के साथी नहीं तथा विवेकहीन होने के कारण सरस का नहीं, कुटिम का आदर [कर]ते है तथापि उनके साथ प्रेम-पूर्वक रहने का ही उद्योग करना चाहिए।[२] वर्ण-व्यवस्था [के] बन्धन-मण्डन करने की इन्होंने आवश्यकता नहीं समझी तो भी वंश पर इन्होंने [जो] अन्योक्ति लिखी है उससे अनुमित होता है कि वे ऊँच-नीच के भेद को सर्वथा [मि]टिया-मेट करने के पक्षपाती न थे।

यहाँ एक बात और भी उल्लेख्य है। वह यह कि इन्होंने पाँड (ब्राह्मण) [क्ष]त्रिय बनिक (वैश्य) माली कुम्हार दरजी आदि अनेक व्यवसायियों पर मनोरम [अ]न्योक्तियाँ रची हैं परन्तु उनकी रचना का उद्देश्य किसी को उपालम्भ कहना नहीं, [व्य]वसाय-विशेष से प्राप्य शिक्षा की ओर संकेत है। जैसे—

हे पाँडे यह बात को, को समुझे या ठाँव।
इतै न कोऊ हैं सुधी यह ग्वारन को गाँव ॥
यह ग्वारन को गाँव, नाँव नहिं सुने वोलैं।
बसैं पसुन के सम मग ऐंडे करि डोलैं ॥
बरनै दीनदयाल, छाँड़ भरि लीजै भाँड़े।
कहा कहौ इतहास सुनै को इत है पाँडे ॥[३]

स्त्रियों के सम्बन्ध में इनकी नीति संकीर्ण ही है। ये उन्हें आत्मा की शाश्वत [या]त्रा में बाधक तथा विष की बल्ली कहते हैं। इन्होंने प्रेम-पथ में पड़ने वाले प्रत्यवायों [क]ा बहुत ही सरस वर्णन प्रेमपचक के पाँच सवैयों में किया है और वास्तविक प्रेम [उ]सी को कहा है जिसका निर्वाह अंत तक किया जा सके। यद्यपि परम्परा-निर्वाह के [लि]ए चातक के प्रेम की अनन्यता का वर्णन इन्होंने भी किया है तथापि आत्म-सम्मान [क]ी भावना की अधिकता के कारण वे एक-पक्षीय प्रेम की सराहना नहीं कर सके—

कै तो मानत तोहि नहिं तै चित भयो उमंग।
नहिं दीपहि कछु दरद क्यों, जरि-जरि मरै पतंग ॥[४]

आर्थिक नीति—दान के बिना मान और यश नहीं मिलता कुपात्र को दान [दे]ना अनुचित है चंचल लक्ष्मी के अधीन होकर कृपणता नहीं, उसका उत्सर्ग करके यश

---

१ दीनदयाल गिरि : ग्रंथावली अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ २१५।१८
२ ३ ,, ,, ,, ,, पृष्ठ २४२।५ २३१।१
४ ,, ,, ,, ,, पृष्ठ २२६।८५

लेना चाहिए संपत्ति-नाश पर दर्प अयुक्त है बाहुल्य में लोभ अच्छा नहीं कृपण बनी निष्कार्य है आदि सुन्दर व्यावहारिक नीतियाँ इनके पद्यों में बिखरी हैं। तत्वतः अर्थ को माया और माया को ठगिनी मानते हुए भी और संन्यासी होते हुए भी इनका उपर्युक्त नीतियों का प्रतिपादन इनकी व्यावहारिक बुद्धि का परिचायक है।

जीव-दया पर इन्होंने अधिक नहीं लिखा परन्तु मेढक और मयूर की अन्योक्तियों में जीवहिंसा तथा अभक्ष्य भक्षण का सुन्दर ढंग से निषेध कर दिया है।[1]

मिश्रित नीति—मिश्रित नीति के अन्तर्गत आडम्बरमय नाम से सावधान रहने की तथा वह नाम की अपेक्षा मनुष्य के गुणों की ओर अधिक ध्यान देने की चर्चा कई कुण्डलियों में की गई है। काव्य में पुरुषार्थ पर विशेष बल कहीं भी दिखाई नहीं देता। भाग्य समय का फेर तथा बुरे दिनों का वर्णन अनेक पद्यों में किया गया है। प्रभु ही सब नाच नचाने वाला है हम तो उसके हाथ की दारुमटी (कठपुतली) मात्र हैं—

तेरी है कछु गति नहीं, दारु चीर की नैस।
करै कपट पट ओट में, वह नट सब ही खेल॥[2]

जब मन में प्रभु-वशता इतनी पैठी हुई है तो उत्साहपूर्वक उद्योग करने की शिक्षा लेखनी से निकल ही कैसे सकती है? ऐसी दशा में संसार के कार्यों को वारि मंथन और उसकी वस्तुओं को 'कागद का फूल' मानने वाले सन्यासी कवि ने यदि अपनी वस्तुओं की सँभाल कर रखने तथा सांसारिक भोगों को चारा-सा चखने की भी अनुमति दे दी तो उसे पर्याप्त ही समझना चाहिए।[3]

इस प्रकार इनके नीति के प्रतिपाद्य विषयों में सन्तों और गृहस्थों की नीति का विलक्षण मिश्रण है। इसका कारण है इनका मठाधीश का जीवन। मठधारी होने के कारण वे संसार व सम्पत्ति का मोह सर्वथा त्याग भी न सकते थे परन्तु तात्त्विक दृष्ट्या उसकी निरर्थकता से भी अपरिचित न थे। इसी कारण उनके काव्य में ऐहिकता और आध्यात्मिकता दोनों ही का सुन्दर मिश्रण है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ता है कि नीति के उपदेशों में उनकी दृष्टि व्यावहारिकता और स्वार्थ सिद्धि की अपेक्षा भावना पर कुछ अधिक टिकी हुई है।

रस और भाव—'अन्योक्ति कल्पद्रुम' अत्यन्त सरस और भावपूर्ण रचना है। वात्सल्य के अतिरिक्त सभी रसों के उदाहरण इसमें प्राप्य हैं। अन्य रसों की अपेक्षा शृंगार शान्त वीर तथा करुण की व्यंजना अधिक हुई है। चातक भ्रमर गुलाब आदि की अन्योक्तियों में शृंगार के संयोग तथा विप्रलम्भ दोनों भेदों के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। प्रायः शृंगार की व्यंजना सुन्दर संयत रूप में हुई है। उसको

---

१ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली अन्योक्ति कल्पद्रुम पृष्ठ ९०।१६७ २२६।६०
२ " , " , पृष्ठ २३४।११
३ " , " , २३३।१२ २३३।१५ २०७।४५

ईषत् स्फुटता चतुर्थ भाषा के कुछ पदों में ही दृष्टिगत होती है परन्तु वहाँ भी वह, एकाध कुण्डलिया को छोड़कर कहीं भी अरुचिकर दशा को नहीं पहुँची। 'विधि की करनी' में हास्यरस[१] की, बुरे दिनों के वर्णन में करुण रस[२] की, तुरग[३] तथा क्षत्रिय[४] की अन्योक्तियों में वीर रस की, सूकर की अन्योक्ति में वीभत्स रस[५] की तथा वैश्य, रजक दारुलटी आदि की अन्योक्तियों में शान्त रस[६] की साधु व्यंजना हुई है। रसों की अपेक्षा भावों का क्षेत्र यहाँ अधिक विस्तृत है। सारी रचना में पुष्पिकात्मक पदों को छोड़ एक भी ऐसा छन्द न मिलेगा जो एक या दूसरे भाव से ओत प्रोत न हो। दया निर्वेद धृति उदारता स्वतन्त्रता शरणागत रक्षा कतज्ञता परोपकार आत्म सम्मान विवेक नम्रता प्रेम सहिष्णुता निष्कपटता विरोध नामक भाव अन्य भावों की अपेक्षा अधिक व्यंजित किये गए हैं।

भाषा—इस काव्य की भाषा कोमल मधुर तथा स्वच्छ है। कठोरतामनक टवर्ग तथा संयुक्त अक्षरों का प्रयोग बहुत ही कम दिखाई देता है। दृष्टान्त-तरंगिणी की अपेक्षा विदेशी शब्द इसमें कुछ अधिक दिखाई देते हैं परन्तु हैं वे सब प्रचलित, जैसे—थोरा बहादुर कीमत सही ऐब आदि। शब्द अरबी-फ़ारसी के हों या संस्कृत के इन्होंने उनके तत्सम रूपों की अपेक्षा तद्भव रूपों का ही अधिक प्रयोग किया है जैसे—शान (शान) मिरियाति (मीरास) कागद (काग़ज़) खलक (ख़ल्क़) कदवन (कदम्न) ततकाल (तत्काल) कृतारथ (कृतार्थ) ब्रह्म ड (ब्रह्मांड) गलानि (ग्लानि)। संस्कृत के तत्सम शब्द प्राय इन्होंने वहीं रखे वहाँ उनके तद्भव रूप देने से छन्द की गति में शिथिलता आने की सम्भावना थी। रूढ़ियों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग इस काव्य में दृष्टान्त-तरंगिणी की अपेक्षा अधिक है। जैसे—

(क) रूढ़ियाँ — 'हूँ है तन के फूल भूल मति तु गुनि राखा।'
'हैं उनमत मन के भ्रमत ए कागद के फूल।'
'पछतैहै री भ्रम स कत हिय मारि बिसोर्ध।'[८]

(ख) लोकोक्तियाँ—'घरने दीनदयाल कहाँ कारिख कहँ केसर।'
'सो तें बहुत कठोर ओर इन भले बनाये।'

---

१ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम पृष्ठ २४७-२५०
२ " " " पृष्ठ २३३।२६
३ " " " पृष्ठ २०६।२९
४ ५. " " " पृष्ठ २३०।७६, २३२।२
६ " " पृष्ठ २३१।८०
७ " " पृष्ठ २३२।२ २३५।६ १०
८. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली अन्योक्ति कल्पद्रुम पृष्ठ २३४।१२, २०७।२६ २१७।१५

परबाहु को तब साथ न चाहिये मिल कर छेम।'
'घर की आप भुमाय सबें बाहिरे भुभावें।'
'यह कायर की प्रोवरी मिकरो प्रम बनाय।'
'चार दिना यह चाँदनी फिरि न पियारी रैन।'[1]

विधान तथा छन्द—अन्योक्ति-कल्पद्रुम मुक्तक काव्य है और इसमें मात्रिक तथा वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है—

(क) मात्रिक छन्द—दोहा कुण्डलिया

(ख) वर्ण-वृत्त—घनाक्षरी सवैया मालिनी।[2]

काव्य में कुल २७२ पद्य हैं जिनमें से २४७ पद्य कुण्डलिया ११ दोहा २ कवित्त २ मालिनी और ५ सवैया छन्द में निबद्ध हैं। दृष्टान्त-तरंगिणी की रचना से, सम्भवतः इन्हें अनुभव हो गया था कि दोहे-से लघ्वाकार छन्द में नीति-काव्य की रचना में विशेष सफलता नहीं मिल सकती और इसीलिए इन्होंने अपनी अन्योक्तिमयी कृति के लिए मुख्यतः कुंडलिया का आश्रय लिया जिसका सफल प्रयोग गिरिधर राय इसी प्रकार की रचना के लिए पहले कर ही चुके थे। इसी सम्बन्ध में लक्ष्य करने की एक बात यह भी है कि सवैया छंद में जो पाँच पद्य इन्होंने रचे हैं वे सब के सब प्रेम विषयक नीति के हैं। चूंकि रीति-काल में अधिकतर रचनाएँ प्रेम-विषयक तथा कवित्त सवैया छन्दों में हुई इसलिए इस काव्य में प्रेम-नीति के लिए सवैया का प्रयोग तत्कालीन साहित्यिक रुचि का ही प्रभाव माना जा सकता है। छन्दशास्त्र की दृष्टि से पद्य निर्दोष हैं और अन्त्यानुप्रास आदि को यथिकल रखने के लिए कवि को शब्द में तोड़ मरोड़ की आवश्यकता नहीं पड़ी।

शैली—इस काव्य में मुख्य रूप से अन्यापदेशात्मक शैली का व्यवहार किया गया है जिसका प्रयोग संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक कवि चिरकाल से करते आए थे। परन्तु इतना तो स्वीकृत करना ही पड़ता है कि जो काव्यनार्य इनकी अन्योक्तियों में प्रस्फुटित हुआ है वह हिन्दी-नीतिकाव्य में अन्यत्र अप्राप्य है। तथ्यनिरूपक और उपदेशात्मक शैली का प्रयोग भी कुछ इने-गिने पद्यों में दिखाई देता है। फिर भी ये एक अन्य विलक्षण शैली का व्यवहार भी किया है जिसे सम्बोधनात्मक शैली कह सकते हैं। इस शैली का उपदेशात्मक शैली से कुछ भेद है। उपदेशात्मक शैली में तो व्यक्ति-विशेष को विशेष प्रकार का व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है परन्तु इस शैली में काम क्रोधादि को ही सम्बोधित कर उनके स्वरूप का वर्णन किया जाता है तथा उन्हीं को विशेष नीति अपनाने की शिक्षा दी जाती है। जैसे—

१ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम पृष्ठ २४०।११ २४०।१४, २०१।३२ २१८।२७ २१३।२८ २२६।६४

२ कुंडलिया व घनाक्षरी गुप्तक गु दोहा वृत्त। हरे सवया मालिनी मिलि पंचामृत वित्त। " " " पृ० २२१।७८)

जिहि मग तें उदभव भयो जिहि मग जग में सूर ।
तिहि निसि दिन जारत अहो दुसह कोप गति कूर ॥
दुसह कोप गति कूर, भयो कृतघन जग मों है ।
प्रथम बहुत है पाप, बहुरि दाहत सब को है ॥
बरनै दीन दयाल, कोप ! तू सुनि सब जन तें ।
अजस होत जनि यही भयो उदभव जिहि मन तें ॥[१]

अलंकार—अलंकारों की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। प्राय प्रत्येक पद्य उभयालंकार के उदाहरण रूप म प्रस्तुत किया जा सकता है। कारण लगभग सभी पद्य अन्योक्ति-रूप में रचे गये हैं और अन्योक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अर्थालंकार का ही सारूप्यनिबन्धना नामक भेद है। इस दृष्टि से इसमें अर्थालंकार का ही प्राधान्य है। इसके अतिरिक्त शब्दालंकारों म से छेकानुप्रास वृत्त्यनुप्रास यमक श्लेष और वीप्सा का तथा अर्थालंकारों म से उपमा विरोधाभास अपह्नुति अतिशयोक्ति रूपक निदर्शना विषम सूक्ष्म मुद्रा व्याजस्तुति आदि का भी प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। दृष्टान्ततरंगिणी तथा 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' के अलंकार प्रयोग की आधारभूत मनोवृत्ति मे भी अन्तर लक्षित होता है। जहाँ पूर्वोक्त ग्रंथ में अलंकार प्रयोग का मुख्य उद्देश्य नीति के कथन को स्पष्ट और समृद्ध करना है वहाँ अपरोक्त कृति में काव्य को चमत्कृत करना। कुछ पद्य तो कवि ने अलंकार प्रयोग में अपनी कुशलता प्रदर्शित करने को लिखे हैं।[२] पर कुशल है कि ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं। अन्योक्ति के उदाहरण ऊपर उद्धृत पद्यों में सुलभ हैं कुछ अन्य उदाहरण लीजिए—

शब्दालंकार—
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरसो[३] (छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास)
सखि सखि लाल प्रसून सून लोहृत ता माहीं ॥[४] (वीप्सा यमक)
नृपहि आदर उचित है नहीं गुनिन को हेय ।
म तर गुन को ग्रहन करि, फिरि फिरि कीरत देय ॥[५] (शब्दश्लेष)
अर्थालंकार—
सुनिये भूप विवेक तुम वासुदेव अवतार ।
किय मन पितु वसुदेव को बंधन ते उद्धार ॥[६] (रूपक)
बरनै दीन दयाल भुंग मिस तो जस छाये ॥[७] (कैतवापह्नुति)
सारस हैं, सारस न हैं त, तें रस न हंस ॥(विरोधाभास)[८]

१ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृ०२५१।४२ और भी देखें पृ० २५०-२५४
२ वही पृष्ठ २५६-२५८
३-८. दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, पृ० २०२।३५, २२१।४२, २५६।६३, २५३।५१, १८६।१२, २०१।४३

गुण—अन्योक्तिकल्पद्रुम में प्रसाद माधुर्य तथा ओज तीनों ही गुण विद्यमान हैं परन्तु ओज की अपेक्षा प्रसाद तथा माधुर्य बहुत अधिक है। माधुर्य को स्थिर रखने के लिए कवि ने कर्णकटु अक्षरों तथा शब्दों के परिहार का निरन्तर ध्यान रखा है।

दोष इस सरस सुन्दर रचना में भी कुछ स्थलों पर च्युतसंस्कृति न्यूनपदत्व, ग्राम्यत्व आदि दोष दिखाई देते हैं। जैसे—

'सब की समता गुनाह नाहु तुम सब के भूतन ॥'[1]

'बरन्यो पायनी भाग्य अहो मुक्ता गुन दिस्यो ।'[2]

उक्त चरणों में 'गुनाह' तथा 'भाग्य' को स्त्रीलिंग माना गया है, अतः च्युत-संस्कृति दोष है।

दीने ही चोरत अहो इन सम चोर न और ।

इन समीर से चोर ! तुम रावय रहो या ठोर ॥[3]

उक्त दोहे में 'कपाट' पद की न्यूनता होने के कारण न्यूनपदत्व दोष है।

पति के हित धनि धार पै मार नयन के बान ।

जानत तब विभिचार तब पुनत न नाहु सुजान ॥[3]

उपर्युक्त दोहे में गँवारी भाषा का प्रयोग होने के कारण ग्राम्यता-नामक अर्थ दोष है। एकाध स्थल पर पुनरुक्त दोष भी विद्यमान है।[4] परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे खटकने वाले स्थल अत्यल्प हैं और अतएव उपेक्ष्य हैं।

संस्कृत का अन्योक्ति काव्य और अन्योक्तिकल्पद्रुम—इस बात का उल्लेख ऊपर[5] कर ही चुके हैं कि संस्कृत-साहित्य में अन्योक्ति शैली में पर्याप्त नीतिकाव्य की रचना हुई है जिसमें से कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में और कुछ स्फुट पदों के रूप में संग्रहग्रंथों में प्राप्त होता है। संस्कृत के अन्योक्ति-काव्य से अन्योक्ति-कल्पद्रुम की तुलना करने पर निम्नलिखित पाँच बातें दृष्टिगत होती हैं—

(क) अन्योक्ति कल्पद्रुम में अनेक परम्परागत अप्रस्तुतों का त्याग।

(ख) कुछ नवीन अप्रस्तुतों का उपादान।

(ग) अप्रस्तुत और प्रस्तुत की समानता।

(घ) अप्रस्तुत की समानता में प्रस्तुत का विषय-विस्तार।

(ङ) अप्रस्तुत की समानता होने पर भी प्रस्तुत विषय का संकोच।

(क) अनेक अप्रस्तुतों का त्याग—यद्यपि अन्योक्ति कल्पद्रुम में सूर्य, चन्द्र

---

१ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम पृष्ठ १६८।१६ २११।५

२ " " " " पृष्ठ २०४।४७

३ " " " " पृष्ठ २४८।११

४ " " " " पृष्ठ २१७।२१ की २२२।४८ से तुलना कीजिए

५. प्रस्तुत प्रबंध पर ७१ पृष्ठ देखिए

पृथ्वी पत्र समुद्र पवन सिंह गज हंस भ्रमर चन्दन रसाल गेंदा गुलाब ब्राह्मण क्षत्रिय आदि अनेक ऐसे अप्रस्तुतों पर अन्योक्तियाँ रची गई हैं जिनका उल्लेख संस्कृत अन्योक्ति काव्य में विद्यमान है तथापि हार कुंडल चपल रासभ राम सीता वणिक श्याम मरकत स्नपाल मरु विन्ध्य गंगा कोकिल मकर खद्योत कस्तूरी तुला आदि अनेक पदार्थ ऐसे भी हैं जिनकी गिरि जी ने उपेक्षा की है। परन्तु इस उपेक्षा के लिए गिरि जी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि संस्कृत-साहित्य में भी उक्त सब अप्रस्तुतों का उल्लेख किसी एक ही काव्य में नहीं मिलता। हाँ 'कल्पद्रुम' नाम को देखते हुए यदि इस कृति का आकार कुछ बड़ा होता तो अधिक संगत था।

(ख) नवीन अप्रस्तुतों का उपादान—गिरि जी ने कुछ ऐसे अप्रस्तुतों पर भी अन्योक्ति-रचना की है जिनका उल्लेख प्रायः संस्कृत अन्योक्ति काव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होता जैसे—पोत मकरी पंग उड़ायक चौसर खिलाड़ी छैल पनिहारी न पाहुन बनबी आदि। इनके अतिरिक्त इन्होंने अन्योक्ति कल्पद्रुम की चतुर्थ शाखा के आरम्भ में पथिक विषयक जिन २१ अन्योक्तियों की रचना की है वे मार्मिकता की दृष्टि से हिन्दी के नीतिकाव्य में अनुपम ही कही जायेंगी।

(ग) अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत की समानता—अन्योक्ति कल्पद्रुम में मेघ भ्रमर कोकिल वृक्ष आदि पर जिन अन्योक्तियों की रचना हुई है उनमें अनेक ऐसी हैं जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों दृष्टियों से संस्कृत की अन्योक्तियों से प्रभावित हैं। फिर भी गिरि जी की भाषा और शैली में कुछ ऐसी नवीनता और सरसता है कि वे स्वतन्त्र काव्य-सी ही प्रतीत होती हैं अनुवाद-मात्र नहीं जैसे—

यस्यांशुः शिरसा न केन विधृतः पृथ्वीभृतां मण्डलम्
तस्मिन् ग्रस्तवति राहुणा त्वरित लोकत्रयीचक्षुषि ।
खद्योतैः स्फुरितं तमोभिरुदितं ताराभिरुज्जृम्भितम्
घूकैरप्यसमा किमत्र करवै किं किं न सञ्चेष्टितम् ॥[1] (सू० र०)

जिनें माथा नावती हैं अम्बक आधार।
सोई दरसत ग्रसित के तम गुन करो पसार ॥
तम गुन करो पसार निसाचर गाजि रहे हैं।
भूत दीप खद्योत उलूक बिराजि रहे हैं।
बरनै दीन दयाल कोउ अब केतु दीने।
कहाँ गये हो हरि उदय तुम जिन सोउ नमीने।[2]

---

१ भावार्थ—हाय! जिसकी किरणों को सभी पर्वतों ने सिर पर धारण किया था उस त्रिलोकी के नेत्र-रूप सूर्य के राहुग्रस्त होने पर अन्धकार, सितारे, जुगनू, उल्लू आदि स्वच्छन्द विहार करने लगे। (संस्कृत सुभाषित सूक्तिमुक्तावली, इन्दौर १९२८ ई०, पृष्ठ ६२)

२ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली, अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृष्ठ १८८।२०

हमारा अनुमान है कि गिरि जी की कुंडलिया भृंग की अन्योक्ति से प्रभावित परन्तु कुंडलिया में आशय को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया गया है कि वह स्वतन्त्र प्रतीत होती है। भृंग के पद्य में इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि किसी तेजस्वी नरेश के हृतप्रभ हो जाने पर अधम जन ऊधम मचा रहे हैं। परन्तु, कुंडलिया में उपग्रहियों के उद्दाम कृत्यों का उल्लेख कर प्रतापी पृथ्वीपति से प्रकट हो कर जगवलम्ब की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार दोनों भेद ही नहीं किया गया बल्कि भावनाओं में भी वृद्धि की गयी है।

(ख) अप्रस्तुत की समानता में प्रस्तुत का विषद विस्तार—अन्योक्ति कल्पद्रुम में अनेक कुंडलियाँ इस प्रकार की भी हैं जिन का अप्रस्तुत तो संस्कृत की अन्योक्तियों के समान है परन्तु प्रस्तुत भिन्न है। जैसे पवन को अप्रस्तुत बना कर संस्कृत में जिन अन्योक्तियों की रचना की गई है उनमें उससे क्षीण नौका को नदी में न डुबोने की वृक्षों का उन्मूलन न करने की प्रदीप्त दीपक को न बुझाने की कस्तूरी की सुगंध को पामरों तक न पहुँचाने की तथा अधम धूलि को पर्वत शिखरों पर न ले जाने की प्रार्थना तो की गई है परन्तु इस प्रकार की कल्पना द्वारा दिनों के फेर का वर्णन अभी तक हमारे देखने में नहीं आया—

जहं धरि पीत पराग पट वर सम कियो बिहार।
तिहि बन पवन सती मयो, रमत रमावे छार॥
रमत रमावे छार, घोर ग्रीषम जब आवें।
द्रुम में मधुकर सदा, संग सब ही तजि जावें॥
बरन 'दीनदयाल' रही छवि कुसुमाकर भरि।
भूसह मध्यो समीर रम्यो पट पीरो जहं धरि॥[1]

(ग) अप्रस्तुत की समानता होने पर भी प्रस्तुत विषय का संकोच—हम अभी ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत की अपेक्षा अन्योक्ति कल्पद्रुम में अप्रस्तुतों की संख्या बहुत कम है। परन्तु जिन अप्रस्तुतों को गिरि जी ने ग्रहण भी किया है उन पर भी इतनी विस्तृत रचना नहीं की जितनी कि संस्कृत के कवियों ने की है। उदाहरणार्थ, संस्कृत-कवियों ने मृगेन्द्र पर रची गई अन्योक्तियों में सिंह के पराक्रम, स्वयमेव मृगेन्द्रता बाल्यावस्था में भी तेजस्विता गज की विद्यमानता में मृगों पर अनाक्रमण धर्मरत सिंह शावक की धीरता जातमात्र सिंह शिशु का साहस, विपत्ति में भी उच्च संकल्प उसकी मृत्यु पर तुच्छ पशुओं की उच्छृंखलता सिंह तथा शृगाल की भावों पर सम्य पदार्थों में अन्तर आदि अनेक बातों की चर्चा की है। परन्तु, गिरि जी ने मृगराज पर एक ही कुंडलिया लिखी और उसमें भी सिंह की पराक्रम्य पशुता के उल्लेख से वार्धक्य जन्य विवशता को ही प्रतिपादित किया है।[2] माना कि एक विरक्त

१ सुभाषित रत्नभांडागार, पृष्ठ २४५, पुष्पितपुष्पावली, पृष्ठ ९८

२ ३ दीनदयाल गिरि ग्रंथावली अन्योक्तिकल्पद्रुम, पृष्ठ १६६।१४, २२८।७०

वीरता के विषद वर्णन की आशा न रखना ही उचित है तथापि सिंह के सम्बन्ध में एक ही अन्योक्ति रची जाय और उसमें भी उसके सहज पराक्रम की उपेक्षा की जाय, यह कुछ जँचता नहीं।

दीनदयाल और हिन्दी-कवि—यद्यपि अन्योक्ति-कल्पद्रुम पर संस्कृत के अन्योक्ति-ग्रन्थ का ही प्रभाव अधिक है तथापि इसकी कुछ अन्योक्तियों पर कबीर तथा बिहारी का भी यत्किञ्चित् प्रभाव लक्षित होता है। कबीर का प्रभाव तो उन पदों में अधिक दिखाई देता है जिनमें गिरि जी ने शान्त तथा शृंगार का मिश्रण करते हुए नायके का मोह छोड़ ससुराल जाने पति से अनन्य प्रेम करने और पातिव्रत के पालन की शिक्षा दी है और बिहारी का प्रभाव भ्रमर आदि की अन्योक्तियों पर। परन्तु यह विस्मरण न करना चाहिए कि दीनदयाल अपनी सतर्कता के कारण अन्योक्तियों की रचना करते समय भाव में ऐसा परिवर्तन कर देते हैं कि उन पर भाव-अपहरण का दोष आरोपित करने का साहस नहीं होता। पूर्ववर्ती कवियों के कुछ शब्दों या वाक्यांशों से ही उक्त प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरणों से हमारे कथन का समर्थन हो जायगा—

(क) घूँघट का पट खोल रे तोहे पीव मिलेंगे।
घट-घट में वह साईं रमता कटुक बचन मत बोल रे॥
धन जोबन को गरब न कीजै, झूठा पँचरंग चोल रे॥[1] (कबीर)
खरे हो अनुकूल पिय किन बिलखै प्रिय बोलि।
घट में खटपट मति करे घूँघट को पट खोलि॥
घूँघट को पट खोलि, देखि आनन की सोभा।
परम रम्य सुखधाम जासु छवि लखि जग लोभा॥
बरन 'दीन दयाल' कपट तजि रहु प्रिय नेरे।
विमुख कहावनि हार तोहि सनमुख बहुतेरे॥[2] (गिरि)

(ख) माली आवत देखि के, कलियाँ करीं पुकार।
फूली-फूली चुनि लिये, कालि हमारी बार॥[3] (कबीर)
इहि आसा अटक्यौ रहै अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारनि वे फूल॥[4] (बिहारी)
रे मन एक सुमन प्रति, अपनो आनि न भूल।
मैं है साँझ सबेर में वह माली यह फूल॥

---

१ कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ १७३
२ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३।१४
३ कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ १५७।२२
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४००।१००

यह माली यह फूल किते दिन सौरभ भायो ।
फूले फूले मेत भली सब सोर मचायी ॥
बरने 'दीन दयाल' लाल लखि फंसे न है छल ।
लगी थाम में आप, भाय रे संपहि मैं चल ॥[1] (गिरि)

अन्त में इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि अन्योक्ति-कल्पद्रुम विषय की व्यापकता भावों की मार्मिकता भाषा की व्यंजकता तथा पदविन्यास की मनोहरता के कारण हिन्दी-नीतिकाव्य की उत्तम रचना है और इसी के कारण गिरि जी नीति-कवियों की प्रथम पंक्ति में विराजमान हैं ।

३२ गुपाल कवि

गुपाल कविराय ने 'दंपतिवाक्य विलास' के प्रारम्भिक पद्यों में अपना जो परिचय प्रस्तुत किया है उस से विदित होता है कि इनके पूर्वज बुगराज राय परम प्रतापी कवि थे । उनके तनुज मुरलीधर के यशस्वी पुत्र घनस्याम कहीं बाहर से आकर वृन्दावन में रहने लग पड़े । घनस्याम के पुत्र प्रवीनराय कवि हुए जिन्होंने 'विगास रस रास' और कार्तिक एकादशी माहात्म्य नामक ग्रंथों की रचना की । इन्हीं प्रवीनराय के गृह में गुपाल कवि का जन्म हुआ । गुपाल वृन्दावन में ही रहते थे और द्विजों के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि गोपाल कवि ने बलभद्र मिश्र के 'नखसिख' पर एक टीका भी सं० १८९१ में लिखी थी ।[2] सम्भव है, ये गोपाल कवि हमारे गुपाल कवि से अभिन्न हों क्योंकि 'दंपति वाक्य विलास' का रचना-काल (सं० १८८६)[3] उक्त टीका के रचना-काल के समीप ही है ।

दम्पति वाक्य विलास—इस काव्य की पांडुलिपि जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है ।[4] ५२ पत्रों की इस पूर्ण प्रति का लिपि-काल सं० १९१२ है ।[5] कवि ने पहले सुख-दुःख-विषयक दो पद्य रच कर कुशल कवियों को दिखाए और उन्हीं से प्रोत्साहित हो कर पाठकों के बुद्धि-विकास के लिए इस काव्य को रचा—

तिन की आज्ञा पाय मैं, कीना ग्रंथ प्रकास ॥
पढ़त सुनत या कि सदा होइ बुद्धि परकास ॥[6]

बुद्धि के प्रकाश के लिए जो काव्य रचे जाते हैं वे प्रायः विशेष सरस नहीं होते

१ दीन दयाल गिरि ग्रंथावली पृष्ठ २०६।५५
२ हिं० सा० इ०, पृष्ठ २०९
३ दारह स पिच्यासिया पुन्यौं अगहन मास
दंपति वाक्य विलास को तब कीनौं परयास ॥ (दंपति वाक्य विलास पत्र २।१२)
४ क्रमांक २२६२, पत्र-संख्या ५२, आकार ८½ × ६¼
५ "संवत् १९१२ माद्दिनमाद्यष्णानवम्या ६ गुरौ जयरामेन लिखित कृष्णगढ़ मध्ये"
वही, पुष्पिका ।
६ वही पत्र ११८

परन्तु गुपाल कवि ने इस काव्य को दम्पति के संवाद रूप में लिख कर विशेष सरस बना दिया है। पति धनोपार्जन के लिए विदेश जाने का इच्छुक है। पत्नी के प्रश्न पर पति अपने अभीष्ट व्यवसाय के गुणों का उल्लेख करता है और फिर पत्नी उस व्यवसाय के दोष प्रकट कर देती है। इस प्रकार पति क्रमशः अनेक देशों के कार्यों का बखान करता है और भार्या उनका प्रत्याख्यान करती है। इस प्रकार के वाक्य-विलास में समय व्यतीत होता जाता है और वे दाम्पत्य-विलास के सुख भी अनुभव करते जाते हैं—

नारि निषेध कियो रतिनागर त्यों प्रीतम को परनो पहुरायो।
प्यार ही प्यार में प्यारी प्रवीन नें चातुरीसों पिय कों बिरमायो॥
रैन दिनों बिछुरे नहिं एकहू भोगविलास करें मन भायो।
दास गुपाल कों पास ही राख के कीयो भली अपनों मन भायो॥[1]

यह काव्य २१ प्रबन्धों में विभक्त है और प्रत्येक प्रबन्ध अनेक वर्णों में। प्रबन्धों में वर्णों की संख्या न्यूनाधिक है, जैसे कलह प्रबन्ध में केवल 'कलह पचीसी' नामक एक ही वर्ण है और राज प्रबन्ध में २१। कवि दृष्टि की व्यापकता विस्मयावह है। जहाँ उसने विप्र-व्यवसाय प्रबन्ध में वेदान्ती, व्याकरणी, ज्योतिषी, मिश्र, पुरोहित आदि के गुण-दोषों की चर्चा की है वहाँ अधम धम प्रबन्ध में भण्डिया, भडुआ, छिनरा, छिनारी, सोंहैबाजी, कुटनी आदि को भी विस्मृत नहीं किया। जहाँ वयस्-प्रबन्ध में बाल्य, यौवन तथा वार्धक्य के गुण-दोषों का वर्णन है वहाँ परमार्थ प्रबन्ध में नवधा भक्ति, निर्गुन उपासक आदि का। काव्य के शहर प्रबन्ध, राज प्रबन्ध, फिरंगी प्रबन्ध आदि शीर्षकों से कुछ भ्रम हो सकता है कि इनमें शासन-सम्बन्धी नीरस विषयों का प्रतिपादन होगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। वस्तुतः इन में विविध राज-कर्मचारियों के व्यवसायों के गुण-दोषों का ही उल्लेख किया गया है ताकि पाठक जिस भी व्यवसाय में पड़े हानि न उठाए—

दंपति वाक्य विलास कों पढ़ै गुनै चित लाय।
व्यापारन के करत ही हार न आवै हाथ॥[2]

चूंकि हिन्दी में गृहीत नीति-विषयों का जितना ब्यौरेवार वर्णन इस काव्य में किया गया है अन्य किसी में नहीं, अतएव उचित प्रतीत होता है कि संपूर्ण विषय-सूची को यहाँ उद्धृत कर दिया जाय। जहाँ इस से गुपाल कवि के विशाल अनुभव तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय प्राप्त होता है वहीं इस बात का भी प्रमाण मिल जाता है कि हिन्दी कवियों ने उन तत्कालीन विषयों का भी अपने काव्य की परिधि में समाविष्ट कर लिया था जिन पर पुरातन कवि प्रायः मौन थे।

---

१ वही पद १।१५
२ वही पद २१।२७

दम्पति-वाक्य-विलास की विषय-सूची[1]

१ प्रथम प्रबन्ध
- १ मंगलाचरण
- १ कविवंस
- १ मनीयारो वर्णन
- १ ग्रंथ प्रयोजन
- १ ग्रंथ प्रबंध
- १ ग्रंथ समय
- १ पुरुष बचन
- १ धन सुपतुप

२ प्रदेश प्रबंध
- २ प्रदेस सुपतुप
- २ पूरब दिसा के
- २ दक्षन के
- २ उत्तर के
- २ पच्छम के

३ मिश्र देस प्रबंध
- ३ बरात के
- ३ बेटा को ब्याह
- ३ बेटी को ब्याह
- ३ समझ्याने के
- ४ ससुरार के
- ४ मिजमानी के
- ४ तीरथ यात्रा
- ४ दरसन यात्रा
- ५ कथाकीर्तन
- ५ मेला-तमासा
- ५ पचारी के

४ अमल प्रबंध
- ५ भांग के
- ५ अफीम के
- ६ पोस्त के
- ६ मद के
- ६ हुलास के
- ६ चरस के
- ७ हुक्का के
- ७ पानि तमापू के
- ७ गांजे के

५ खेल प्रबंध
- ७ चौपर के
- ७ सतरज के
- ८ गंजफा के
- ८ सतोष के
- ८ कनमार के
- ८ भर के

६ मिश्र रुजगार प्रबंध
- ९ वेदान्ती
- ९ व्याकरनी
- ९ जोतिसी
- ९ मिश्र के
- १० वैद्य के
- १० पण्डिताई
- १० कविताई
- १० भाटपने के
- १० सिपाई के
- ११ राजगारी
- ११ गवया बजवैया
- ११ भिषारी
- ११ मोहिताई
- ११ मझुनाई क
- १२ चौबेन
- १२ प मंगा तिलकिया
- १२ पुसामद
- १२ रोजीना

७ मंदिर प्रबंध
- १३ गुसाई के
- १३ महन्त के
- १३ अधिकारी
- १३ छिरकार के
- १३ फौजदार
- १४ भंडारी के
- १४ पुजारी के
- १४ रसोइया के
- १४ छरीदार के
- १४ कोठवाल के

८ संत प्रबंध
- १५ महताई
- १५ महन्त को चेलो
- १५ महन्त की चेली
- १५ संतन को
- १६ नागान को
- १६ परमहंस
- १६ सिद्ध को
- १६ तपस्सी
- १६ विरक्त
- १७ फकीर के
- १७ जोगीराज
- १७ जती क
- १७ स्वान पति के
- १७ मोडा साप
- १७ संजोगी

---

[1] दम्पतिवाक्यविलास, पत्र ५१ ५२

१८ घसा करिबो
१८ गहस्थी
१८ ब्रह्मचारी
१८ बानप्रस्थ
१६ संन्यासी
२ सहर प्रबन्ध
१६ सिरदारी
१६ चौकदारी
१६ मुहम्मदारी
१६ कुमन्गरी
२० जाति चौधर
२० बहुनग के चौधर
२० पचन की
२० जमींदारी
२० इजारदारी
२१ खेती क
२१ पटवारी
२१ कानूगोइ
२१ तहसीलदार
२१ आसनी
२२ महन्तों के
२२ ग्वारन के
१० राज प्रबन्ध
२२ राजा के
२२ दिवान के
२३ मुसद्दीगरी मुसाहब
रसालदार
२३ बक्सी के
२३ फौजदार
२३ फौजदारी
२३ दरोगाई
२४ खजानची
२४ सिरहदारी
२४ दाना दस
२४ मसी के
गामवाज
सहबन्दिनामी
२४ वकील
२५ मस्त के
२५ मुखबीर
२५ चौबदार
२५ हुनकारी
२५ माळन के
२६ पोळा के
२६ गुलाम के
२६ पखास के
२६ सिमसनि
२६ गडनाम के
२७ मुत्सा के
२७ हकीम के
२७ कमानगर
२७ मोनी के
मवादार
११ फिरंगी प्रबन्ध
२७ फिरंगी के
२८ मालन के
२८ दानदार
२८ भनरासी
२८ बकागार
२९ परमट
२९ दिमानी की
मामिम
२९ फौजदारी की
नामिदा
२९ मवाई के
२९ जेलखान के
३० पादरी के
३० बहु पादरी के
१२ वनिय प्रबन्ध
३० बनियाँ के
३० बनिज के
० बहु बनिज
३१ मढी के
३१ हाट के
३१ किराने के
३१ बहुर गति के
३२ गाम के बोहरे
३२ सदनिया
३२ बाइस
३२ बोहरी
३२ कोठी के
३३ हुँडियारो
३३ दलाली
३३ बुझनदारी
३३ कलाबतू
३३ तमोली
३४ गंधी के
१३ स्वामि प्रबंध
३४ सराफी
३४ दलाली
३४ परचूना
३४ पसारठ
३५ हलवाई
३५ बसुरट
१४ जाति प्रबन्ध
५ सुनार
३५ दरजी
३६ रंगरेज
३६ मानी
३६ कूँजरे
३६ कहेरे
३६ घोरिया

सम्पत्ति-सागर विलास की विषय-सूची[1]

---

१ सम्पत्तिसागरविलास, पत्र ५१ ५२

१८ ऐसा करिबो
१८ गृहस्थी
१८ ब्रह्मचारी
१८ बानप्रस्थ
१९ सन्यासी
२ सहुर प्रबंध
१९ गिरदागी
१९ चोकदारी
१९ मुहल्लेदारी
१९ पुन्नेदारी
२० जाति चौधर
२ जनूतगन का चौधर
२० पचन की
२ जमींदारी
२० इजारेदारी
२१ खेती के
२१ पटवारी
२१ कानूगोह
२१ तहसीलदार
२१ आमनी
२२ सहुणों क
२२ न्यारन के
२० राज प्रबंध
२२ राजा के
२२ दिमान के
२३ मुनसगिरी मुसाहब रसालदार
२३ मक्सी के
२३ फौजदार
२३ फौजदारी
२३ दरोगाई
२४ पजानची
२४ खिसहदारी
२४ दाना दस

२४ मनी के गार्सदाव सहजदिमागी
२४ वकील
२५ मस्स के
२५ सूरवीर
२५ चोबदार
२५ हलकारो
२५ धावन के
२६ पोजा के
२५ गुलाम के
२६ पवास के
२६ पिममान
२६ गजमान के
२७ मुल्ला के
२७ हकीम के
२७ करामात
२७ मोदी के मवादार
११ फिरंगी प्रबंध
२७ फिरंगी के
२८ गाजर के
२८ बानदार
२८ चपरासी
२८ जमादार
२९ परमट
२९ सिपाही की मासिक
२९ फौजदारी की मासिक
२९ मनाई के
२९ पेसखाने के
३० चाकरी के
३० बहु चाकरी के

१२ बैस्य प्रबन्ध
३० बनियाँ के
३ बनिज के
३ बहु बनिज
३१ मंडी के
३१ हाट के
३१ किराने के
३१ चतुर गति के
३२ गाम के बोहरे
३२ सर्वेनिया
१२ आढ़त
३२ बोहरी
३२ कोठी के
३३ हुँडियारो
३३ दलाली
३३ दुकानदारी
३३ कलावन्तू
३३ तमोली
३४ गंधी के
१३ एकादि प्रबंध
३४ सराफी
३४ बजाजी
३४ परचूना
३४ पसारठ
३५ हलवाई
३५ कसेरट
१४ जाति प्रबंध
३५ सुनार
३५ दरजी
३६ रंगरेज
३६ मसारे
३६ कूँबरे
३६ कहरे
३६ कोरिया

३७ बढ़ई	४१ भंगा के	४५ दाता के
३७ लुहार	४१ हराम के	४६ सूम के
३७ संगतरास	४२ ग्वाला	४६ सपूत के
३७ राज-मजूर	४२ सगाई बिचौली	४६ बेटा के
३७ चित्रकार	१६ अधमाधम	४६ बेटी के
३८ तेली	४२ भंडिया	१८. परमारथ के
३८ सक्का के	४२ भड़ुआ	४७ नवधा भक्ति
३८ नाऊ के	४२ किसबी	४७ निर्गुन उपासक
३८ रजक	४३ भवैया कथक	४७ बहु उपदेश उपासना
३९ मल्लाह	४३ छिनरा	४७ स्त्री के सुख
३९ मेहतर	४३ छिनारि	१९. कलहा प्रबन्ध
३९ स्वपच	४३ लौंडेबाजी	४७ कलह पचीसी
१५ अधम व्यापार	४४ कुट्टनी	२० शांति रस प्रबन्ध
३९ जुगली	१७ जगत प्रबन्ध	४९ कवि पछितानि
३९ मसखरा	४४ बालावस्था	५० करुणाष्टक
४० उचक्का	४४ तरुनावस्था	२१ ग्रन्थ फल स्तुति प्रबन्ध
४० चोर	४४ वृद्धावस्था	५० ज्ञान उपदेश
४० सवार	४४ गुन के सुपयुप	५१ कलि प्रभाव
४० हरामजादे	४५ संस्कृत गुन	५१ फलस्तुति ।
४० डिम्भचारी	४५ भाषा गुन	इति सूची सम्पूर्णम् ।
४१ बेसरम	४५ फारसी इलम	
४१ हैपीपोरा	४५. हुरमत के	

नीति के उपर्युक्त छह भेदों की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि यद्यपि इसमें प्राणिनीति के बिना पाँचों प्रकार की नीति का उल्लेख विद्यमान है, तथापि प्राधान्य आर्थिक नीति का है। वैयक्तिक नीति में बाल्यादि अवस्थाओं का सम्बन्ध शारीरिक नीति से संस्कृत गुण भाषा गुण फारसी इलम आदि विषयों का मानसिक नीति से और गुण सुख-दुख का आत्मिक नीति से है। पारिवारिक नीति के अन्तर्गत बेटा बेटी सपूत स्त्री के सुख आदि का उल्लेख है। सामाजिक नीति में बेटे का विवाह, बेटी का विवाह समधियाना ब्रह्मचारी गृहस्थी वानप्रस्थ और संन्यासी विप्र क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि से सम्बन्धित पद्य रखे जा सकते हैं। आर्थिक विषय में कवि ने अधिकतर नीति कवियों के समान धन के गुण-दोष दानी कृपण आदि की ही चर्चा नहीं की प्रायः उन सभी व्यवसायों को गिना दिया है जिनके द्वारा तत्कालीन लोग अपना निर्वाह किया करते थे। कृति के छठे से लेकर सोलहवें प्रबन्ध तक का विषय विविध व्यवसायी हैं जिनकी संख्या सौ से भी अधिक है। कवि ने व्यवसाय-मात्र

को प्रशंसनीय नहीं कहा है। कुछ व्यवसायों को अधम तथा कुछ को अधमाधम माना है जैसे कुटासी मसखरा उचक्का चोर, जुआर हरामजादे बेसरम सेखीखोरा ग्वाला सुनार-बिसाती आदि के काम अधम रोजगार कहे गये हैं। उक्त प्रबन्धों की वर्ग-सूची पर दृष्टिपात करने से ऐसे दर्जनों विषय दिखाई देते हैं जिन पर प्राचीन कवियों ने कुछ लिखना उचित नहीं समझा। संस्कृत के ग्रन्थों में वैश्य कायस्थ नापित आदि के सम्बन्ध में कुछ स्फुट पद्य भले ही मिल जाएँ परन्तु फिरंगी नाजर, थानेदार, चपरासी अखबार आदि परवर्ती विषयों पर तो लिखना असम्भव ही था। मिश्रित नीति में ज्ञान उपदेश तथा कलियुग के प्रभाव से सम्बन्धित पद्यों को गिनाया जा सकता है।

यह काव्य सरल मधुर, प्रवाहपूर्ण ब्रजभाषा में लिखित है। अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकारों का चमत्कार कहीं अधिक है। अनुप्रास कवि का सबसे प्रिय अलंकार है और प्रत्येक पद्य में उसकी सुन्दर छटा देखी जा सकती है। विधान की दृष्टि से रचना को प्रबन्ध-मुक्तक कहा जा सकता है। जहाँ दंपती के संवाद रूप में होने के कारण यह कुछ प्रबन्धात्मक है वहाँ प्रत्येक पद्य अर्थ की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण होने के कारण मुक्तक है। प्रायः कवित्त सवैया और दोहा छन्दों का प्रयोग किया गया है। सार यह कि विषय भाव भाषा सभी दृष्टियों से यह एक सुन्दर नीतिकाव्य है। निदर्शनार्थ कुछ पद्य दिये जाते हैं—

(क) जाय जाय लोग घर बैठे ही सिरामें हाथ,
    टेटे को किमाव के सु उठत सुपन्त को
सुकवि "गुपाल" ज्ञान उर में विचार अब
    करि कै करेजी मान साधत सुपन्त को।
रात्रि दिन कूक सरकार में रहत कर,
    मान्यों करै लोग ऐसो जसो न गुपाल को।
मानें छमासिक कहू परत भवन सदा,
    मानें यह भलो दस्तगार है गुपाल को।[1]
(ख) सब ही को या में चोटी फहुनी परति बात
    कहूँ चुरवार कर चले तन छीजिये।
पारी गरा न की बहु कोसल रहत लोग,
    कामसे में जाइ कै बिचारि काज कीजिये।
बाहर भए में यह दिपरत हाल या तैं
    कहत "गुपाल" मेरी बात हि पतीजियै।
भूप रहि कीजिय कि बिन साइ पीजियै,
    पै कुलि रजगार चुगली को नहि कीजिये[2]।

१-२ दम्पति वाक्य विलास पद्य २४।२, २४।४

नीति के स्वनिर्दिष्ट छह भेदों की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि यद्यपि इसमें प्राणिनीति के बिना पाँचों प्रकार की नीति का उल्लेख विद्यमान है, तथापि प्राधान्य आर्थिक नीति का है। वैयक्तिक नीति में बाल्यादि अवस्थाओं का सम्बन्ध शारीरिक नीति से संस्कृत गुण भाषा गुण फारसी इलम आदि विषयों का मानसिक नीति से और गुण सुख-दुख का आत्मिक नीति से है। पारिवारिक नीति के अन्तर्गत बेटा बेटी सपूत स्त्री के सुख आदि का उल्लेख है। सामाजिक नीति में बेटे का विवाह, बेटी का विवाह समधियाना ब्रह्मचारी गृहस्थी वानप्रस्थ और संन्यासी विप्र क्षत्रिय, वैश्य शूद्र आदि से सम्बन्धित पद्य रखे जा सकते हैं। आर्थिक विषय में कवि ने अधिकतर नीति कवियों के समान धन के सुख-दुख कामी कृपण आदि की ही चर्चा नहीं की प्रायः उन सभी व्यवसायों को गिना दिया है जिनके द्वारा तत्कालीन लोग अपना निर्वाह किया करते थे। कृति के छठे से लेकर सोलहवें प्रबन्ध तक का विषय विविध व्यवसायी हैं जिनकी संख्या सौ से भी अधिक है। कवि ने व्यवसाय-मात्र

३५ मानिकदास

ये अहमदाबाद के विद्वान् पाटीदार थे परन्तु पीछे साधु बनकर उज्जैन में आ बसे थे। मिश्रबन्धुओं ने इनकी पाँच पुस्तकों का उल्लेख किया है—सन्तोष-सुरतरु, सत्संग प्रभाव, राम-रसायन, कवित्त प्रबन्ध, आत्मविचार।[1] इनके 'सन्तोष-सुरतरु' की हस्तलिखित सटीक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में विद्यमान है।[2] पुस्तक की रचना सम्भवतः रीतिकाल में हुई होगी क्योंकि पुष्करणा-ज्ञातीय रंगीलदास व्यास ने इसे सं० १९१६ में अधिकारी बालमुकुन्द के अध्ययन के लिए लिपिबद्ध किया था।[3] पुस्तक में कुल १११ दोहे हैं। श्री गणेश तथा श्री राम को प्रणाम करके बाद कवि ने रचना का उद्देश्य यों लिखा है— प्रथमम मन की पूरणकामता की सिद्धि के अर्थ पूर्णकाम रूप सन्तोष ताके निरूपण के अर्थ पूरण काम करण वारे ईस्वर ताको नमस्कार करिये है। कहना न होगा कि दोहों की टीका भी कवि ने इसी प्रकार की पण्डिताऊ गद्य में की है। सामान्यतः दोहे साधारण कोटि के हैं और उनमें कहीं-कहीं गतिभंग तथा मात्राओं की न्यूनाधिकता भी दिखाई देती है। कुछ दोहे देखिये—

ज्यों भानु के आवे तें, धूप अति बढ़ती जाय।
त्यों द्रव्य अर्थ के लाभ तें, बढ़े तृस्ना की लाय॥
भूख है तन की तनक सी, मन की भूख महान।
जगत विभ (?) सौं न मिट, मिटै न अमृतपान॥[4]

३६ मनराम

जीवन-परिचय—मनराम का जीवन चरित अभी तक अन्धकार में है। 'मनराम-विलास'[5] नामक एक काव्य हमें जयपुर में ठोलियों के जैनमन्दिर में देखने का अवसर मिला था। उसके प्रायः सभी पद्यों में 'मनराम' की छाप है परन्तु अन्तिम दोहे से प्रतीत होता है कि 'मनराम-कृत मनराम प्रकाश' का इसका संग्रह किसी बिहारीदास ने किया था।

---

१ मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, सं० १९९१ पृष्ठ ३३०

२ ग्रंथ की संख्या १७ थ। ४३ है। प्रति पूर्ण है और ३६ पत्रों पर लिखित है

३ इति श्री मानिकदास विरचित सुरतरु नामक पुस्तक सम्पूर्णम् संवत् १९१६ आषाढ़ वदि १ गुरौ दिने लिपीकृतं रंगीलदास व्यास पुष्करणाज्ञातीय व्यासेन, पठनार्थ श्री अधिकारी बालमुकुन्दस्य। (वही, पुष्पिका)

४ सन्तोष सुरतरु, पृष्ठ १३।४७, २१।७३

५ वेष्टन-संख्या १६५, पद्य १०, आकार १२ × ५½

१३ कंसीदास

'दीपक-बत्तीसी' के रचयिता कैसीदास के सम्बन्ध में अभी तक कुछ विदित नहीं हुआ। फिर भी ये सत्रहवीं शती के गाहरण चारण केशवदास तथा केशव-बावनी के प्रणेता जैन कवि केशवदास से भिन्न ही प्रतीत होते हैं। दीपक-बत्तीसी की जो हस्तलिखित प्रति जयपुर के पुरातत्त्व मंदिर में सुरक्षित है उसका लेखन-काल १६ वीं शती अनुमित किया गया है।[1] पुस्तक में राजस्थानी भाषा के केवल ३२ दोहे हैं। संस्कृत-साहित्य में दीपक पर जो अनेक अन्योक्तियाँ प्राप्त होती हैं उनसे यह विशेष प्रभावित प्रतीत नहीं होती। इस अन्योक्ति-प्रधान रचना में दीपक के गुण-दोषों का भी उल्लेख है और पतंग के अनन्य प्रेम का भी। व्यंग्यार्थ की प्रधानता और भाषा-सौष्ठव के कारण रचना मनोरम है। निदर्शन के लिए कुछ दोहे लीजिये—

दीपक तूं चिरजीवजे नित-नित वधो उजास।
याव वरठे मंदिर तो आवे पुविलास॥
तिमिर फटै गुण प्रगटै उलटै घण उजास
जरह काजल जगमिले तिण नावै वैसास॥[2]

१४ भड्डरी

भड्डरी की जीवनी के विषय में अभी तक कुछ विदित नहीं हुआ। इतना ही पता चला है कि ये राजस्थान के एक ज्योतिषी थे तथा वृष्टि और कृषि के सम्बन्ध में विशेष अनुभव रखते थे। जैसे उत्तर प्रदेश तथा बिहार में घाघ की कहावतों का ग्रामीण लोगों में विपुल प्रचार है वैसे ही राजस्थान तथा पंजाब में भड्डरी की कहावतों का। इनकी दो सौ के लगभग कहावतें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से अधिकतर के विषय वर्षा सुकाल अकाल महंगी विनाश-लक्षण आदि हैं। दिकशूल शकुन आदि विषयों पर भी इनकी कुछ कहावतें विद्यमान हैं। घाघ के समान इनकी कहावतें भी दोहा चौपाई चोपई आदि छन्दों में निबद्ध हैं परन्तु उन्हें सरसता-रहित होने के कारण पद्य-मात्र ही मानना होगा काव्य नहीं। जैसे—

अपनी छींक महा दुखदाई। कह भड्डर जोसी समुझाई।
अपनी छींक राम बन गयऊ। सीता हरन तुरंते भयऊ॥[3]
सोम सनीचर पुरब न चालु। मंगर बुध उत्तर दिसि कालु।
जो बिहर्फ को दक्खिन जाय। बिना मुगाहे पनहीं धाय॥[4]

---

१ प्रति संख्या १२५५ (१), पत्र १४ पर लिपिबद्ध है।
२ दीपक बत्तीसी, दोहा-संख्या २, ६
३ सं० श्रीराम घुक्ल घाघ और भड्डरी की कहावतें पृष्ठ १०६।११०
४ " " " " पृष्ठ १०६।१७७

१५ मानिकदास

ये महमदाबाद के निवासी पाटीदार थे परन्तु पीछे साधु बनकर उज्जैन में आ बसे थे। मिश्रबन्धुओं ने इनकी पाँच पुस्तकों का उल्लेख किया है—सन्तोष-सुरतरु सत्संग प्रभाव राम-रसायन कवित्त प्रबन्ध आत्मविचार।[1] इनके सन्तोष-सुरतरु की हस्तलिखित सटीक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में विद्यमान है।[2] पुस्तक की रचना सम्भवतः रीतिकाल में हुई होगी क्योंकि पुष्करणा-जातीय रंगीलदास व्यास ने इसे सं० १८१९ में अधिकारी बालमुकुन्द के अध्ययन के लिए लिपिबद्ध किया था।[3] पुस्तक में कुल १११ दोहे हैं। श्री गणेश तथा श्री राम को प्रणाम करने बाद कवि ने रचना का उद्देश्य यों लिखा है— प्रथमम मन की पूरणकामता की सिद्धि के अर्थ पूर्णकाम रूप सन्तोष ताके निरूपण के अर्थ पूरण काम करणे वारे ईश्वर ताको नमस्कार करिये है। कहना न होगा कि दोहों की टीका भी कवि ने इसी प्रकार के पण्डिताऊ गद्य में की है। सामान्यतः दोहे साधारण कोटि के हैं और उनमें कहीं-कहीं मतिभ्रम तथा मात्राओं की न्यूनाधिकता भी दिखाई देती है। कुछ दोहे देखिये—

ज्यों धातु के खाये तें, भूख अति बढ़ती जाय।
त्यों द्रव्य अर्थ के लाभ तें, बढ़े तृस्ना की दाय॥
भूख है तन की तनक सी, मन की भूख महान।
जगत बिन (?) सों न मिटे, मिटे न अमृतपान॥[4]

१६ मनराम

जीवन-परिचय—मनराम का जीवन-चरित अभी तक अन्धकार में है। 'मनराम-विलास'[5] नामक एक काव्य हमें जयपुर में ठोलियों के जैनमन्दिर में देखने का अवसर मिला था। उसके प्राय सभी पद्यों में 'मनराम' की छाप है परन्तु अन्तिम दोहे से प्रतीत होता है कि मनराम-कृत मनराम प्रकाश से इसका संग्रह किसी बिहारीदास ने किया था।

---

१ मिश्रबन्धु विनोद चतुर्थ भाग, सं० १९९१, पृष्ठ ११०

२ प्रति की संख्या १७ स। ४१ है। प्रति पूर्ण है और ३६ पत्रों पर लिखित है

३ इति श्री मानिकदास विरचित सुरतरु नामक पुस्तक सम्पूर्णम् संवत् १८१९ आषाढ़ बदि १ गुरौ दिने लिखीतं रंगीलदास व्यास पुष्करणाजातीय व्यासेन, पठनार्थं श्री अधिकारी बालमुकुन्दस्य। (वही, पुष्पिका)

४ सन्तोष सुरतरु पृष्ठ १३।६७, २१।७१

५ वेष्टन-संख्या १६५, पत्र १०, आकार १२×५½

मेरे चित में ऊपजी, गुन मनराम प्रकास।
सोधि बीन ए एकठे कीए बिहारीदास ॥[1]

यद्यपि कृति का रचना-काल अज्ञात है तथापि कागज की बनावट और लिखाई से अति पुरानी प्रतीत होती है। रचना के ६६ वें पद्य में कवि ने जैन कवि बनारसीदास का स्मरण किया है—

'बनारसी दास सौं प्रणति करै मनराम,
जाकी बानी सुन कै प्रकास होत ग्यान कौ ॥

जैनों में बनारसी दास नाम के दो हिन्दी कवि हुए। प्रथम आगरा के प्रसिद्ध अध्यात्मी बनारसी दास जो तुलसीदासजी के समकालीन थे और दूसरे 'भविष्यदत्त चरित' के रचयिता बनारसीदास जिनकी उक्त कृति का लिपिकाल सं० १८११ है। हमारी समझ में मनराम का संकेत आगरावासी बनारसीदास की ओर है जिनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी इसलिए मनराम को रीतिकालीन कवि ही माना जा सकता है अधिक प्राचीन नहीं।

कृति-परिचय— मनराम विलास में केवल ९६ पद्य हैं जिनमें दोहा सवैया इकतीसा सवैया बत्तीसा सवैया तेईसा कुण्डलिया और कवित्त (सवैया) छन्दों का प्रयोग किया गया है। गुण-ग्रहण अवगुण-त्याग क्रोध लोभ परोपकार, आत्मश्लाघा की निन्दा क्षमा जीवदया स्त्रीनिन्दा आदि जैनों के प्रसिद्ध प्रिय विषयों की अधिक चर्चा है। इस पर भर्तृहरि के नीति-शतक तथा वैराग्य-शतक का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। इस विषय में कवि ने स्पष्ट कह कर अपनी विनम्रता यों व्यक्त की है—

सुगति पुराणी बूझ करि किए कवित्त बनाय।
कछू न मेरी जाति की, आगहु मन बच काय ॥[2]

यद्यपि भावों के लिए कवि प्राचीनों का ऋणी है तो भी उन्हें सुन्दर दृष्टान्तों से उपबृंहित करने में उसने विशेष कौशल दिखाया है। काव्य में सामान्य ब्रजभाषा का व्यवहार हुआ है जिसमें कहीं-कहीं राजस्थानी के भी शब्द दिखाई देते हैं। एकाध पद्य में कवि ने शब्दों के आधार पर चमत्कार लाने का भी उद्योग किया है। कला की दृष्टि से रचना सूक्तिकाव्य में गणनीय है। कुछ उदाहरण देखिए—

होत धार बुध पान गुण, सज्जन मन अनुसार।
नयन नारि तन आपनी भोजन करत गुवार ॥[3]

'बीन' एक पद अधिक नहिं 'हीन' कहावत नाम।
'धीर' सीस रहित भए 'बीर' होत मनराम ॥[4]

१ मनराम विलास, पद्य ६६
२ ,, ,, पद्य ६४
३ ४ ,, ,, पद्य ५०, ६१

सिसु के साथ यहाँ तिय की कछु मगन होत तिहू सौं न रचावै ।
कोई निरदित पुरुष पुरुषन सौं अपनो धन निपजावै ॥
ऐसे मर्वानि लोभवतनि की मिथ संगति कहुँ निजर न आवै ।
है मनराम महंत मयछिन्द, सिन्धु का मारग विधि दरसावै ॥[1]

१७ मूर्खभेद चौपई

प्रायः सभी भारतीय नीति-कवियों ने विद्वानों के साथ-साथ मूर्खों का भी उल्लेख किया है। विदुर नीति के प्रथम अध्याय के अनेक श्लोकों में मूढ़-जनों का सविस्तर उल्लेख पाया जाता है।[2] भर्तृहरि के नीतिशतक का प्रारम्भ ही मूर्खों के वर्णन से होता है।[3] पालि प्राकृत तथा अपभ्रंश के नीति पद्यों में भी मूर्ख-वर्णन कई स्थलों पर किया गया है।[4] हिन्दी में भी मूर्खों को शिक्षा देने के लिए मूर्खाधिकार मूर्खभेद-कारा मूर्ख-बहत्तरी आदि पुस्तकें गद्य में उपलब्ध होती हैं। हिन्दी-पद्य में ऐसी रचनाओं की परम्परा बुद्धि रास से आरम्भ होकर बार सिखामण रास तथा छौहीत तथा अन्य बुद्धि रासों के रूप में चलती आई है।[5] मूर्खभेद चौपई इसी परम्परा के अन्तर्गत आती है और बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में एक जैन गुटके[6] में संकलित है जो लगभग ढाई सौ वर्ष पुराना है।

मूर्खभेद चौपई, में केवल ८१ पद्य हैं। आरम्भ में तीन तथा अन्त में चार दोहे हैं और मध्य में ७४ चौपाइयाँ। प्रारम्भिक दोहों में कवि ने बुद्धि-विस्तार तथा सुगुण प्रकाश को रचना का उद्देश्य बताया है। कवि ने उद्यम के बिना धन चाहने वाले वेश्या के वचन पर विश्वास करने वाले अपने धन को त्याग कर दूसरे की आशा रखने वाले पराधीन होकर अहंकार करने वाले तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों को मूर्खों में परिगणित किया है। बातें निस्सन्देह शिक्षाप्रद हैं परन्तु विषय तथा अभिव्यक्ति में विलक्षणता के अभाव के कारण रचना पद्य-कोटि में ही गणनीय है। कहीं-कहीं तो संस्कृत के श्लोकों का अक्षरशः अनूदित कर दिया गया है। जैसे नारायण पण्डित का वचन है—

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥[7]

---

१ मन राम विलास, पद्य ४१
२ विदुर नीति प्रथम अध्याय, श्लोक ३५-४४
३ भर्तृहरि नीतिशतकम् पृष्ठ १-६
४ प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय देखिये।
५ 'मरुभारती' (पिलानी जनवरी १९५५ ई०) में श्री अगरचन्द नाहटा का 'मूर्ख भेद चौपई' शीर्षक निबन्ध देखें।
६ गुटका सं० ६६ अप्रा०
७ हितोपदेश (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४६ ई०) पृष्ठ ५३।१११

प्राज मित्त गुहछित्र तप मधुन भीयण दाम ।
मंत्र प्रकास मुढ नर महुत भनै भपमान ॥[1]

रचना साधारण राजस्थानी भाषा में है और अनेक चौपइयाँ हतवृत्तत्व से दूषित हैं । एक उदाहरण लीजिए—

मूढ़ापण हुइ चाहै मार, पराधीन कर भहंकार ।
भलमुत पम्म पचारउ कड़, प्रगट मर्म खोलवे मूढ़ ॥[2]

३८ शीयाविनोद चरित्र

यद्यपि इस अज्ञात-कर्तृक कथाकाव्य का रचना-काल अज्ञात है तथापि इसमें तो सन्देह नहीं कि यह सं० १६०० के पूर्व की रचना है । इसकी जो सं० १६११ की हस्तलिखित प्रति हमने उदयपुर के साहित्यसंस्थान विद्यापीठ में देखी, उसकी प्रतिलिपि संवत् १६०० में राजभीम श्री सूरजमल की हस्तलिखित प्रति से की गई थी ।[3] कथा की शैली पंच-तन्त्र के समान है, कथाओं के मध्य में से अन्य कथाएँ उद्भूत होती जाती हैं ।

सभावीत नाम का एक पूर्वदेशीय विप्र राजा भोज की सभा में आता है । भोज उससे प्रश्न करते हैं और वह उन के उत्तर प्रस्तुत करता जाता है जैसे नृप के गुणों के सम्बन्ध में भोज के प्रश्न के उत्तर में विप्र कहता है—

राजा होय न मार बस जाकर बस न होय ।
जो राजा पर बस परै सो राजनीत न्ही कोय ॥[4]

यह काव्य स्त्रियों को पातिव्रत की शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखा गया है । इसकी एक कथा इस प्रकार है—

श्रीपाल नाम का एक गृहस्थ अपनी पत्नी से कहता है कि सूरत नगर में धन मान साह नाम का एक धनी निवास करता था । जब वह व्यापार के लिए विदेश में गया तब पीछे उसकी कुलटा पत्नी कोतवाल के साथ भोगविलास में मग्न हो गई । वह व्यापारी प्रभूत धनोपार्जन के पश्चात् लौटा तब वह पत्नी के चरित्र की परीक्षा के लिए भिक्षुक-वेष में कहीं छिप गया । जब रात को कोतवाल उसके घर न पहुँचा तो वह आधी रात के समय बरसते मेह में कोतवाल के घर जा पहुँची । अन्त में जब

१-२ मूर्ख भेद चौपई, पद्य १८, ८

३ इति श्री शीलविनोद चरित्र सम्पूर्णम् वार्तायाम् । लीपीतं राजभीम श्री सूरजमल समत १६०० रा, पोस वदि ६ गुरुवारः तिन प्रति सों प्रतिलिपि कर्ता बसवन्तसिंह दसोन्धी स्वस्थान कुराबड़, ता० १६।४।३६ वि० ९-१३, पत्र पुष्पसा ६ (साहित्य संस्थान की प्रति की पुष्पिका)

पति ने उसका कुकृत्य प्रकट कर दिया तो शील-सज्जित होकर गिर कर मर गई।

रचना राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में है। शृंगार-से विषय को भी सरस बनाने में कवि को सफलता नहीं मिली।

छंद दोहा-चौपाई छन्दों में है परन्तु बीच-बीच में भ्रष्ट संस्कृत के श्लोक भी विद्यमान हैं। जैसे—

रूपावती समो नारी रूपसेनो च भूपती।
रूपरंभा समो नार न भूतो न भवीष्यती ॥[1]

रचना इस प्रकार की है—

कहै महेस सुनो सब प्रान, पतीव्रता री कहीं बीयांन ॥
एक पतीव्रता हसो सप कयो तिम थी ठरस मधुर उपयो ॥[2]

यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से कृति का कुछ अधिक महत्त्व नहीं है, तथापि इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि रीतिकाल में स्त्रियों को सच्चरित्र की शिक्षा देने के लिए तथा पुरुषों को स्त्रियों के मायावी चरित्र से सावधान रखने के लिए ऐसे काव्यों की रचना की प्रवृत्ति का अभाव न था। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी कथा-कहानियों की प्राचीन कथा-साहित्य में कमी नहीं है।

३१ दातार सूर नो संवाद

इस पुस्तक के कर्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। इसकी हस्तलिखित प्रति जिसका लिपिकाल सं० १८८८ है, जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है।[3] काव्य में केवल ५२ पद्य हैं जिन में छप्पय, पद्धरि और दूहा छन्दों का प्रयोग किया गया है। दाता को अपनी वदान्यता का और सूर को अपनी वीरता का अभिमान है। दोनों ही अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इतिहास-पुराण आदि से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जब वे किसी समझौते पर नहीं पहुँचते तब राजा तिलक रायसिंह के पास निर्णयार्थ जाते हैं जो दाता को सूर से उत्तम निर्णीत करता है। राजस्थानी भाषा में रचित वीर रस की यह रचना अच्छी रोचक है। दो पद्य लीजिए—

प्रथम दातार कहै—बलि मगों जिहं भरण राइ कर हस्त पसारे।
करण इंद्र अप्पीयो कवच तन हूत उतारे।
धीरोचन तन विहुर दियो विप्रह निकारे।
मधि कपोत सीबीम भो सिर सरण सारे।

१ वही पृष्ठ २५
२ वही पृष्ठ १३
३ दातार सूर नो संवाद गुटका का क्रमांक ११२२, ग्रंथांक ६८

मात पिता गुरु मित्र तप मैथुन औषध दान ।
मंत्र प्रकास मुख मर महत अनै अपमान ॥[1]

रचना साधारण राजस्थानी भाषा में है और अनेक चौपइयाँ छन्दभंगत्व से दूषित हैं। एक उदाहरण लीजिए—

बुड्डापण हुइ चाहै नार परम्पीन करै अहंकार ।
अनभुत ग्रन्थ बखाणै कइ, प्रगट अर्थ चोपयै भूढ ॥[2]

३८ भोजाविनोद चरित्र

यद्यपि इस प्रज्ञात-कर्तृक कथाकाव्य का रचना-काल अज्ञात है तथापि इसमें तो सन्देह नहीं कि यह सं० १६०० के पूर्व की रचना है। इसकी जो सं० १९११ की हस्तलिखित प्रति हमने उदयपुर के साहित्यसंस्थान विद्यापीठ में देखी, उसकी प्रतिलिपि संवत् १९ ० में राजभीम जी सूरजमल की हस्तलिखित प्रति से की गई थी।[3] कथा की शैली पंच-तन्त्र के समान है कथाओं के मध्य में से अन्य कथाएँ उद्भूत होती जाती हैं।

सभाजीत नाम का एक पूर्वदेशीय विप्र राजा भोज की सभा में आता है। भोज उससे प्रश्न करते हैं और वह उन के उत्तर प्रस्तुत करता जाता है जैसे, नृप के गुणों के सम्बन्ध में भोज के प्रश्न के उत्तर में विप्र कहता है—

राजा होय न नार बस जाकर बस न होय।
ज्यों राजा मन बस परे तौ राजनीत न्हों कोय ॥[4]

यह काव्य स्त्रियों को पातिव्रत की शिक्षा देने के उद्देश्य से लिखा गया है। इसकी एक कथा इस प्रकार है—

श्रीपाल नाम का एक गृहस्थ अपनी पत्नी से कहता है कि सुरठ नगर में धन माल साह नाम का एक धनी निवास करता था। जब वह व्यापार के लिए विदेश में गया तब पीछे उसकी कुलटा पत्नी कोतवाल के साथ भोगविलास में मग्न हो गई। जब व्यापारी प्रभूत धनोपार्जन के पश्चात् लौटा तब वह पत्नी के चरित्र की परीक्षा के लिए भिक्षुक-वेष में कहीं छिप गया। जब रात को कोतवाल उसके घर न पहुँचा तो वह मानी रात के समय बरसते मेह में कोतवाल के घर जा पहुँची। अन्त में जब

१-२ भूप भेद चौपई पद्य ३८ ८

३ इति श्री भोजाविनोद चरित्र सम्पूर्णम् पठनार्थम् । श्रीवीर्ज राजभीम जी सूरजमल समत १९ ० रा पोस मदि ६, शुक्रवार तिण प्रति सों प्रतिलिपि कर्ता बसन्तसिंह रसोग्री स्थान ढूंढाड़ सा० १९।४।२६ दि० ९०।१, पंच मुख्ता ६ (साहित्य संस्थान की प्रति की पुष्पिका)

४ भोजाविनोद चरित्र साहित्यसंस्थान उदयपुर की प्रति, पृष्ठ १।१६

पति ने उसका कुकृत्य प्रकट कर दिया तो भीत-लज्जित होकर गिर कर मर गई।

रचना राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में है। शृंगार-से विषय को भी सरस बनाने में कवि को सफलता नहीं मिली।

ग्रंथ दोहा-चौपाई छन्दों में है परन्तु बीच-बीच में भ्रष्ट संस्कृत के श्लोक भी विद्यमान हैं। जैसे—

रूपायुक्तो समो नाही रूपसेनो च भूपती।
रूपरंभा समो नार न भूतो न भवीस्यती ॥[1]

रचना इस प्रकार की है—

कहै महल सुनो सब बात, पतीव्रता रो बड़ी अविख्यात ॥
एक पतीवृता सती सब कह्यौ तिण पी राउल सहर ठयपी ॥[2]

यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से कृति का कुछ अधिक महत्त्व नहीं है तथापि इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि रीतिकाल में स्त्रियों को सच्चरित्र की शिक्षा देने के लिए तथा पुरुषों को स्त्रियों के मायावी चरित्र से सावधान रखने के लिए ऐसे काव्यों की रचना की प्रवृत्ति का अभाव न था। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी कथा-कहानियों की प्राचीन कथा-साहित्य में कमी नहीं है।

२१. दातार सूर रो सवाद

इस पुस्तक के कर्त्ता का नाम अभी तक अज्ञात है। इसकी हस्तलिखित प्रति जिसका लिपिकाल सं० १८८८ है, जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है।[3] काव्य में केवल २१ पद्य हैं जिन में छप्पय पद्धरि और दूहा छन्दों का प्रयोग किया गया है। दाता को अपनी वदान्यता का और शूर को अपनी वीरता का अभिमान है। दोनों ही अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए इतिहास-पुराण आदि से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जब वे किसी समझौते पर नहीं पहुँचते तब राया रिसक रायसिंह के पास निर्णयार्थ जाते हैं जो दाता को शूर से उत्तम निर्णीत करता है। राजस्थानी भाषा में रचित वीर रस की यह रचना अच्छी रोचक है। दो पद्य लीजिए—

प्रथम दातार कहै —बलि बावनें मिलै भयरा राइ कर हस्त पसारे।
करण हंस अप्पीयौ कवच तन हुंत उतारे।
पीरोचन तन विहर दियो विप्रह निकारे।
भजि कपोत सींचाण मी सिव सरण आरे।

1 वही, पृष्ठ २५
2 वही पृष्ठ १३
3 दातार सूर रो सवाद, गुटके का क्रमांक ११२२, पत्रांक ६८

यह सभा ऊठि इन अमरा प्रति सुर नर मो उच्चरै ।
दातार धरवै मोतियो कवरा मुक्त सग चढ़ करै ।[1]

य सूर वाक्यम्—संचा रावरा राम चमा षटमास पचाए ।
पाईव पांच कुरखेपमां बनवास भमाए ।
कासजवन अम्मगे चीया हरि वडह पयाराां ।
जरा सिंधु सिशुपाल सो तो जाति माँहि समांराां ।
जालंधर जीतो जिहुं भुवरा गयी सामर सरणे हरि ।
कहै सूर दातार न तो मो किसी बराबरी ॥[2]

४ नीतिग्रन्थों के अनुवादक कवि

उपर्युक्त मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त रीतिकाल में अनेकों कवियों ने नीति के ...चीन प्रख्यात ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये । उन अनुवादों में से कुछ गद्य में कुछ पद्य में और कुछ गद्यपद्य-मिश्रित । चूंकि हमने प्रस्तुत प्रबन्ध में गद्यमयी ...तियों की चर्चा नहीं की अतएव यहाँ भी ऐसी ही रचनाओं का परिचय दिया जायगा ...ो पद्यमयी हैं अथवा पद्य प्रधान ।

बर्षसिंहदास—इन्होंने संवत् १७८२ में सारंगढ़ कोट के मन्त्री बाबू देवकीनन्दन ...की आज्ञा से हितोपदेश का अनुवाद 'हितोपदेश के कथा' नाम से किया । अनुवाद ...छप्पय घनाक्षरी चौपाई, दोहा तोमर सवैया पद्धरिका आदि छन्दों में है । अनुवाद ...की हस्तलिखित खंडित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा काशी के पुस्तकालय में सुर...क्षित है ।[3] कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक भी दिये गये हैं जिनकी अक्षरी अनेकत्र अशुद्ध है । अनुवाद साधारण है और उसकी भाषा इस प्रकार है—

अष्टदशहिं पुराण में वचन व्यास के दोय ।
पर उपकार जो पुण्य है, परदुख पाप जु होय ॥[4]

नयनसिंह—खरतरगच्छ के मुनि नयनसिंह या नयनचन्द ने संवत् १७८६ में ...विक्रमपुर अर्थात् बीकानेर के महाराज अनूपसिंह के पुत्र आनन्दसिंह के आदेश से ...भर्तृहरि की शतकत्रयी का सवैया-बद्ध अनुवाद किया । इस अनुवाद की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में मिली ।[5] अनुवाद के पूर्व भूमिका-रूप में भर्तृहरि का संक्षिप्त वृत्तान्त गद्य में दिया हुआ है अनुवाद में ऊपर मूल श्लोक हैं नीचे हिन्दी के पद्य । अनुवाद की भाषा सुन्दर है परन्तु अनुवाद कहीं कहीं व्याख्या की झलक देता है । जैसे—

१ २ दातार सूर को संवाद पृष्ठ ८७।१ ८७।२
३ सभासंग्रह सं० १६६।४७८
४ हितोपदेश के कथा पत्र ४१
५ प्रति संख्या ८३ । इसकी एक प्रति पुरातत्त्व मंदिर, जयपुर, में भी विद्यमान है, क्रमांक १६७४

मूल— दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥[1]

अनुवाद— पर के गुन देखत दोष धरे पर चोर्इ करे बिन अदर दीव ।
सठ बैर बढ़े हठ बुद्धि गहे कोउ कसें करो पुनि सो नहीं रीझै ।
यम ऐसो कोऊ गुन है तु एक मनि भूषित नाग सों संग न कीजै ।
अब यों जु बिचारि ए छांड़ि के दूर ते भी मिल रामपुर टार ही दीव ॥[2]

कृष्ण कवि—बिहारी के पुत्र-रूप में प्रसिद्ध माथुर चौबे कृष्ण कवि ने महाराजा जयसिंह के मन्त्री राजा आया मल्ल के आदेश से बिहारी सतसई के अतिरिक्त विदुरनीति की टीका भी लिखी—

राजा आया मल्ल की आज्ञा अति हित जानि ।
बिदुर प्रजागर कृष्ण कवि भाषा कह्यौ बखानि ॥[3]

संवत् १७९२ में रचित इस टीका की पूर्ण प्रति ७२ पत्रों पर लिपिबद्ध है। इसमें दोहा पद्धरि सोरठा कवित्त रोला आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। विदुरनीति में तो आठ ही अध्याय हैं परन्तु कुरुवंश के इतिहास के उल्लेख से इसे नवाध्यायी बना दिया गया है। टीका तो सुन्दर है परन्तु पद्यानुवाद प्रस्तुत नहीं की गई। अनेक मूल पद्यों का आशय एक-एक भाषापद्य में समूहीत कर दिया गया है, जिससे मूल की कई बातें छूट गई हैं। यथा—

मूल क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥
यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति, स वै पंडित उच्यते ॥[4]

टीका— जा के मन की हृदय मंत्र कोऊ नहिं जानें ।
भयो काज सब देखि प्रगट सब जगत बखानें ॥
मान्य मान कै मानि गरब मन में नहिं लावै ।
ए लच्छिन लच्छियें नाम पंडित जु कहावै ॥[5]

हरदत्त नाम सरस्वती (भट्ट)— हितोपदेश भाषा अष्टोत्तरशत' की रचना भट्ट जी ने कूर्मवंश-शिरोमणि जसीसिंह के आदेश से संवत् १८२८ में की। ' हितोप-

---

1 हितोपदेशम् पृष्ठ १३।४२
2 भर्तृहरिशतक भाषा, सवैयाष्ठ पत्र ११।२६
3 बिदुर प्रजागर भाषा, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, याज्ञिक संग्रह सं० २४।७५ (लिपिकाल सं० १८२१) पत्र ७२
4 विदुरनीति पृष्ठ ६।२२ २३
5. विदुरप्रजागर भाषा, पत्र १७।१४

देश" के इस पद्यमय अनुवाद की प्रतिलिपि संवत् १८८१ में रामलाल ने की और उस प्रति से पुरोहित हरिनारायण जी ने सं० १९९२ में प्रतिलिपि कराई, जो जयपुरीय विद्याभूषण पुस्तकालय में सुरक्षित है।[1] अनुवाद पूर्णतया पद्य में है जिसमें दोहा, चौपाई कवित्त तथा सवैया छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनुवाद में साहित्यिक सौष्ठव तो लक्षित नहीं होता परन्तु मूल के भावों की सुरक्षा सावधानता से की गई है। संस्कृत के जो श्लोक कहीं-कहीं उद्धृत हैं उनमें लिपिकारों के प्रमादवश गई भूलें दिखाई देती हैं। अनुवाद का निदर्शन देखिये—

मूल— "यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति।
वयोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥"

अनुवाद— 'जा के जीवत बहु जियें सही जीवई एह।
वयहु कहा न चोंच सौं उदर भरे बन गेह॥[2]

देवीचन्द—इन द्वारा अनूदित 'पंचाख्यान' में पांच कथासंग्रह हैं—मित्रलाभ सुहृद्भेद विग्रह सन्धि तथा लब्ध-प्रणाश। इसकी हस्तलिखित प्रति[3] बीकानेर के अनूपसंस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसमें १४८ पत्र हैं। इसे महात्मा सवाई राम ने बीकानेर में सं० १८४४ में फलोधी के निमलसी के पुत्र धर्मसी के अध्ययनार्थ लिपिबद्ध किया था। ग्रंथ गद्य-पद्य-मिश्रित ग्वालेरी भाषा में है और दूहा सोरठा छप्पय और कवित्त छन्दों में है। अनुवादक मूल के भावों की रक्षा पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक कर पाया है परन्तु वह गद्य भी अत्यन्त अव्यवस्थित है। अनुवाद का एक उदाहरण लीजिए—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥[4]
सबके नैन जु ग्रंथ हैं पढ़े ग्रन्थ कछु नाहि।
ते नर अन्ध पुरुष हैं सब संसार जुग माहि॥[5]

व्रजनिधि—जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह ने सं० १८५२ में भर्तृहरि के तीनों शतकों का अनुवाद नीतिमंजरी शृंगारमंजरी तथा वैराग्यमंजरी नाम से प्रस्तुत किये। इनकी हस्तलिखित प्रतियां राजस्थान से वाराणसी तक अनेक पुस्तकालयों में प्राप्त होती हैं और अनुवाद की लोकप्रियता का पुष्ट प्रमाण हैं। अनुवाद भाव-रक्षा और भाषा की सुन्दरता दोनों दृष्टियों से सफल है भावों में हेरफेर बहुत ही कम हुआ है। उदाहरण—

१ पत्रा सं० १२ प्रतिलिपि का क्रमांक ११७९
२ हितोपदेश भाषा अनुवाद पृष्ठ ५४।६६ ८०
३ प्रति संख्या ४२८।६
४ हितोपदेश (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४६), पृष्ठ ३।१०
५ पंचाख्यान पत्र २।६

३

मूल— याती विगतसुधरो गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वामिनः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो,
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥[1]

अनुवाद— फीको है ससि दिवस को कामिनि जोबन-हीन ।
सुन्दर मुख अच्छर बिना, सरवर पदम बिहीन ॥
सरवर पदम-बिहीन, होइ प्रभु लोभी धन कौं ।
नित जु कपटी होय नृपति ढिग वास रतन कौं ।
ये सातौं हैं सल्य मरमछेदन या जी कौं ।
धर्मनिधि इनको देखि होत मेरो मन फीको ॥[2]

परसराम—परसनराम या परशुराम कवि ने सं० १८६७ में 'प्रश्नोत्तरी विदग्धमुखमंडन' की रचना की। इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संग्रह में सुरक्षित है।[3] कृति का नाम कुछ भ्रामक है क्योंकि यह धर्मदासमूरि प्रणीत संस्कृत के विदग्धमुखमंडन का अनुवाद नहीं अपितु—

विद्यापति गुरुमुनि रचित सुरबानी में दोइ ।
प्रश्नोत्तरमणिमालिका ताको सारक होइ ॥[4]

प्रश्नोत्तरमणिमालिका का सार है। ४१ पदों की इस कृति में कुंडलिया तथा सवैया का प्रयोग अधिक है। बीच-बीच में दोहा तथा सोरठा छन्द भी हैं। दोहों की अपेक्षा सवैया-रचना सुन्दर है। यथा—

सवैया— कौन जु ठौर सदा डरिये, भव कानन दुस्तर को अविचारी ।
लोचनवन्त पै अन्ध भयानक ता न दिखे है सदा अविचारी ॥
कौन सुबन्धु सदा कविवर विपत्ति सहाइ करे सहचारी ।
मातपिता पुनि कौन कहौ कोई प्रतिपालक धीर मुरारी ॥[5]

उम्मेदराम—श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके लिखे 'राजनीति चाणक्य'[6] का उल्लेख किया है सम्भवतः उसी का नाम 'भाषा चाणिक्य' भी है। भाषा चाणिक्य'

---

१ शारङ्गधरपद्धति पृष्ठ २६।४५॥
२ ना० प्र० स० के याज्ञिक संग्रह में सं० १२७।१६ की हस्तलिखित नीतिमंजरी की प्रति। धर्मनिधि ग्रन्थावली (ना० प्र० स० काशी, सं० १९९०) में सातों शतकों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।
३ प्रति-संख्या १०२४।१९१६
४ प्रश्नोत्तरी विदग्धमुखमण्डनम् पद ४७
५ " " ४०
६ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २५०

देश' के इस पद्यमय अनुवाद की प्रतिलिपि संवत् १८८१ में रामलाल ने की और उस प्रति से पुरोहित हरिनारायण जी ने सं० १९९२ में प्रतिलिपि कराई जो जयपुर में विद्याभूषण पुस्तकालय में सुरक्षित है।[1] अनुवाद पूर्णतया पद्य में है जिसमें दोहा, चौपाई कवित्त, तथा सवैया छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनुवाद में साहित्यिक सौष्ठव तो लक्षित नहीं होता परन्तु मूल के भावों की सुरक्षा सावधानता से की गई है। संस्कृत के जो श्लोक कहीं-कहीं उद्धृत हैं उनमें लिपिकारों के प्रमादवश कई भूलें दिखाई देती हैं। अनुवाद का निदर्शन देखिये—

मूल— "यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवति।
काकोऽपि किं न कुरुते चंच्वा स्वोदरपूरणम्॥"

अनुवाद— "जा के जीवत बहु जिय, वही जीवई एह।
अपनू कहा न कौन सौं, उदर भरे बन गेह॥"[2]

देवीचन्द—इन द्वारा अनूदित 'पंचाख्यान' में पांच कथासंग्रह हैं—मित्रलाभ सुहृद्भेद विग्रह संधि तथा लब्ध प्रणाश। इसकी हस्तलिखित प्रति[3] बीकानेर के अनूपसंस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित है जिसमें १४८ पत्र हैं। इसे महात्मा सवाई राम ने बीकानेर में सं० १८४४ में फलोधी में बिमलसी के पुत्र पदमसी के अध्ययनार्थ लिपिबद्ध किया था। ग्रंथ गद्य-पद्य-मिश्रित ग्वालेरी भाषा में है और दूहा सोरठा छप्पय और कवित्त छन्दों में है। अनुवादक मूल के भावों की रक्षा पद्य की अपेक्षा गद्य में अधिक कर पाया है परन्तु वह गद्य भी अत्यन्त अव्यवस्थित है। अनुवाद का एक उदाहरण लीजिए—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥[4]
सबके नैन जु ग्रंथ हैं पढ़े अन्य कछु नाहिं।
ते अंध परे पुरुष हैं सब संसार मूम माहिं॥[5]

ब्रजनिधि—जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह ने सं० १८५२ में भर्तृहरि के तीनों शतकों के अनुवाद नीतिमंजरी शृंगारमंजरी तथा वैराग्यमंजरी नाम से प्रस्तुत किये। इनकी हस्तलिखित प्रतियां राजस्थान से वाराणसी तक अनेक पुस्तकालयों में प्राप्त होती हैं और अनुवाद की लोकप्रियता का पुष्ट प्रमाण हैं। अनुवाद भाव-रक्षा और भाषा की कुशलता दोनों दृष्टियों से सफल है भावों में हेरफेर बहुत ही कम हुआ है। उदाहरण—

१ बस्ता सं० १२ प्रतिलिपि का क्रमांक, ११७२
२ हितोपदेश भाषा अनुवादम, पृष्ठ ५७।११ ८७
३ प्रति संख्या ४२८।६
४ हितोपदेश (निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४६), पृष्ठ ३।१०
५ पंचाख्यान पत्र २।६

मूल— वाणी विवसपूसरी गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृते ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतिः सज्जनो,
नृपांगणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥[1]

अनुवाद— फीको है ससि दिवस मी, कामिनि जोबन-हीन ।
सुन्दर मुख अच्छर बिना सरवर पंकज दीन ॥
सरवर पंकज-दीन, होइ प्रभु लोभी धन कौं ।
नित्र जु कपटी होय नृपति ढिंग वास खलन कौं ।
ये सातौं हैं सल्य मरमहृदन या जी कौं ।
वजनिधि हरजो देखि होत मेरो मन फीको ॥[2]

पन्नगराम—पन्नगराम या "पंथ कवि" ने सं० १८६७ में 'प्रश्नोत्तरी विदग्धमुखमंडन' की रचना की । इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संग्रह में सुरक्षित है ।[3] कृति का नाम कुछ भ्रामक है क्योंकि यह धर्मदासमूरि प्रणीत संस्कृत के विदग्धमुखमंडन का अनुवाद नहीं अपितु—

विद्यानिधि गुरुमुखि रचित सुरबानी में दोइ ।
प्रश्नोत्तरमणिमालिका ताको सारक होइ ॥[4]

प्रश्नोत्तरमणिमालिका" का सार है । ४६ पदों की इस कृति में कुण्डलिया तथा सवैया का प्रयोग अधिक है । बीच-बीच में दोहा तथा सोरठा छन्द भी हैं । दोहों की अपेक्षा सवैया-रचना सुन्दर है । यथा—

सवैया— कौन जु दौर सदा करिये भव कानन दुस्तर को पर दिपारी ।
लोचनहा ये ध्याम भयानक ता न दिपो है कहा अविचारी ॥
कौन सुबन्धु कह्यो कविचंद विपत्ति सहाइ करै सहचारी ।
मातपिता पुनि कौन कहौ कोई परिपालक और मुरारी ॥[5]

घनश्यामराम—श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके लिखे 'राजनीति-भाषावचन'[6] का उल्लेख किया है सम्भवतः उसी का नाम 'माया माणिक्य' भी है । माया माणिक्य'

---

१ शारङ्गधरपद्धति पृष्ठ २३।४५॥
२ ना० प्र० स० के याज्ञिक संग्रह में सं० ३३७।३६ की हस्तलिखित नीतिमंजरी की प्रति । वजनिधि ग्रन्थावली (ना० प्र० स० काशी, सं० १९९०) में सातों शतकों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं ।
३ प्रति-संख्या ३०२३।१६१६
४ प्रश्नोत्तरी विदग्धमुखमण्डनम् पद ४७
५ " " " ४०
६ मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २५०

की हस्तलिखित प्रति जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में सुरक्षित है।[1] कवि ने इसकी रचना सं० १८७२ में अलवर-नरेश विनयसिंह के आदेश से की थी। २४६ पद्यों के इस अनुवाद में दोहे को युग्मक छंद तथा द्विपदम् कहा गया है। अनुवाद सुन्दर है। यथा—

मूल—दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो, मृत्युरेव न संशयः ॥[2]

अनुवाद—तिय दुष्टा शठ मित्र सठ, भृत उत्तर देवाल ।
सर्पसहित घर को सदन, विना काल ही काल ॥[3]

विष्णुगिरि—अज्ञातकालीन गोसाईं विष्णु गिरि ने लघु तथा वृद्ध चाणक्य-नीति के दोहों तथा सोरठों में अनुवाद किये जो बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में विद्यमान हैं।[4] अनुवाद ११ पत्रों पर लिपिबद्ध है और अच्छा है। इस प्रति से चाणक्य-नीति के पाठभेदों का भी कुछ पता चल जाता है। अति सर्वत्र वर्जयेत् के प्रतिपादक पद्य का पाठ प्रायः इस रूप में है और सार्थक है—

अति रूपेण वै सीता अति गर्वेण रावणः ।
अतिदानाद् बलिर्बद्धो, ह्यति सर्वत्र वर्जयेत् ॥[5]

परन्तु गोसाईं जी की प्रति में श्लोक इस प्रकार है—

अति रूपवती सीता अति गर्वित रावण ।
अतीव बलवान् रामो लंका येन हतं मता ॥[6]

इस श्लोक का अर्थ कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि गोसाईं जी ने स्मृति-मात्र से ही इसका उक्तरूप में उल्लेख कर दिया होगा क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह में अविदित-कालीन देवमुनिकृत लघुचाणक्य (लघुचाणक्य) में उक्त श्लोक निम्नांकित रूप में दिखाई देता है—

अति रूपे हृता सीता अति गर्वे च रावणः ।
अति दानी महा रामो सदा दीनप्रियंकरी ॥[7]

अस्तु गोसाईं जी के अनुवाद की तुलना में देवमुनि-कृत अनुवाद जैसा कि निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट है नगण्य है—

---

१ अप्राप्य ११४८
२ चाणक्यनीति पृष्ठ ३।४
३ भाषा चाणक्य पद्य ३
४ अप्राप्य हिन्दी ४९३।१
५ चाणक्य नीति पृष्ठ १३।१९
६ लघु चाणक्य नीति शास्त्र, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, पत्र ३।२
७ याज्ञिक संग्रह सं० १२३।३१ पत्र २।९

सीय हरी अति रूप तें, हन रावण अति गर्व।
अति बल रावण लंक सौं नगर बन्यो क्षय सर्व ॥[1] (विष्णुगिरि)
सीय हरी अति रूप ने दस सिर गये जु मात।
दुरजोधन गये अभिमान ते अति बरजी क्षय जात ॥[2] (देवमुनि)

अनुवाद की सरसता या नीरसता मूलग्रन्थ की सरसता या नीरसता पर भी निर्भर होती है और अनुवादक के काव्य-कौशल पर भी। नीति-ग्रन्थों के अनुवादकों ने प्रायः चाणक्य नीति हितोपदेश पंचतन्त्र अर्थ एवं नीतिप्रधान विदुरनीति आदि का आश्रय लिया है जो काव्यत्व की दृष्टि से उत्तमकाव्यों में परिगणित नहीं होते। दूसरे, जिन विद्वानों ने उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुवाद का बीड़ा उठाया उनमें से अधिकतर काव्यकौशल-विहीन थे। यही कारण है कि अधिकतर उपलब्ध अनुवादों को सुकाव्य कहने में संकोच होता है। तो भी अनुवादकों को जनता में नीति की उत्तम बातें थोड़ बहुत रोचक ढंग से प्रसारित करने का श्रेय देना ही उचित है।

४. शृंगारी कवियों का नीतिकाव्य

पीछे उन कवियों और काव्यग्रन्थों का विवरण दिया गया है जिनका मुख्य विषय नीति था। अब रीतिकाल के कुछ ऐसे कवियों पर भी दृक्पात कर लिया जाए जिनका प्रधान विषय शृंगार था। इस कवि दो वर्गों में विभाज्य हैं। प्रथम वर्ग सना पति बिहारी घनानन्द ग्वाल आदि कवियों का है जिन्होंने सामान्य रूप से शृंगारिक रचनाएँ कीं। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत केशव मतिराम देव भिखारीदास, पद्माकर आदि कवि आते हैं जिन्होंने आचार्यत्व की दृष्टि से रीति-काव्यों का प्रणयन किया। प्रथम वर्ग के कवियों की रचनाओं में नीति के पद्य स्वतन्त्र रूप से दृष्टिगत होते हैं और द्वितीय वर्ग के कवियों की कृतियों में रीति-विषयों के लक्षणों के स्पष्टीकरण के लिए उनकी रचना की गई है। परन्तु ये नीति-पद्य स्वतन्त्र हों या सम्बन्ध से प्रस्तुत उनमें कवियों के मुख्यरूप से शृंगारी होने के कारण कोई विशेष अन्तर लक्षित नहीं होता। यहाँ पर इतना और स्मरणीय है कि अनेक शृंगारी कवियों ने धर्म अध्यात्म आदि विषयों पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा स्फुट पद्य रचे हैं। कृपाराम की विज्ञान गीता देव की जगद्दर्शन-पच्चीसी पद्माकर का प्रबोध-पचासा आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इनमें भी कहीं-कहीं नीति के सुन्दर पद्य दिखाई देते हैं परन्तु वह इन कवियों का प्रधान स्वर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये ग्रन्थ या पद्य भोग विलास का जीवन व्यतीत करने के बाद मानो पश्चात्ताप के रूप में प्रणीत हुए हैं। इन ग्रन्थों की नीति यहाँ सन्त तथा भक्त कवियों की नीति से अधिक सादृश्य रखती है वहाँ शृंगारिक रचनाओं की नीति का स्वर भिन्न है। यहाँ मुख्यतः शृंगारिक रचनाओं में

---

१ अनूपसंस्कृत पुस्तकालय, हिन्दी ४२१११, पत्र ३१२
२ याज्ञिक संग्रह सं० ३२४।११, पत्र २१२

उपलब्ध नीतिकाव्य का विवरण प्रस्तुत किया जायगा ।

वैयक्तिक-नीति—यद्यपि इन कवियों की आध्यात्मिक कृतियों में शरीर को निस्सार और मल-मूत्र की थैली तथा तरुणों को मांसग्रन्थि आदि कहा गया है[1] तथापि इनकी सांसारिक रचनाओं में प्रायः इन धारणाओं का खण्डन है। उनमें तो यौवन-जन्य शारीरिक सुषमा का अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता का तथा शारीरिक सुखों के उपभोग का विस्तृत और मनोज्ञ वर्णन ही मिलता है। तरुणाई जनित निकाई का वर्णन चिन्तामणि ने यों किया है—

सरद तें जल की ज्यों दिन तें कमल की ज्यों,
धन तें ज्यों धन की लिखट सरसाई है ।
धन तें सावन की ज्यों आप तें रतन की ज्यों
गुन तें सुजन की ज्यों परम सुहाई है ।।
'चिन्तामनि' कहै आछे अच्छरन छन्द की ज्यों,
निसागम चन्द की ज्यों दृग सुखदाई है ।
नग तें ज्यों कंचन बसन्त तें ज्यों बन की,
यौं जोबन तें तन की निकाई अधिकाई है ।।[2]

यह निकाई नेत्रों की तृष्णा शान्त करने के लिए ही नहीं है यौन सुखों के उपभोग के लिए है। जो व्यक्ति यौवन में भी उनसे वंचित रहता है वह डूबा हुआ है—

तन्त्रीनाद कवित्त-रस सरस राग रतिरंग ।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग ।।[3] (बिहारी)

उक्त सुखों का उपभोग करते समय यदि यौवन में कोई व्यक्ति सामाजिक मर्यादाओं का भी अतिक्रमण कर जाता है तो इन कवियों के मत में वह अक्षम्य नहीं है—

इक भीजें चहलें परें बूड़ें बहैं हजार ।
किते न औगुन जग करै बै नै चढ़ती बार ।।[4] (बिहारी)

यौवन ही जीवन का सुवर्णमय काल है क्योंकि इसी में सब इन्द्रिय-शक्तियाँ पूर्णता को प्राप्त करती हैं। इसलिए जो मनुष्य तारुण्य में यौवनोचित सुखों की अवहेलना करेगा उसे पश्चाताप करना पड़ेगा—

१ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र: पद्माकर पंचामृत (काशी सं १९९२), प्रबोध पचासा, पद्य, २५, २६, २७ वैराग्यशतक, पद्य ४५ कुलपति मिश्र रस रहस्य, पंचमवृत्तान्त पद्य १०७

२ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ४०९

३ जगन्नाथदास रत्नाकर: बिहारी रत्नाकर (सन् १९५१), पृष्ठ ४३।१४

४ " " " पृष्ठ १९१।४९१

समय पाइ के एप घन मिलत सबैई आइ ।
बिलस न जाने याहि जो समय गए पछताइ ॥[1] (रसनिधि)

वाणी के सुप्रयोग के विषय म इन कवियों की लेखनी विशेषरूप से सचेष्ट रही है। सत्य भाषण का महत्त्व[2] प्रणपालन की प्रशसा प्रतिज्ञा भग की गर्हा कटु भाषी के मुख में मृगमद रखने का औचित्य रहस्य-गोपन आदि वाणी विषयक नीतियों का अनेकश उल्लेख दिखाई देता है। जैसे

कस्तूरी अपि नाभि बिधि, नाभि दियो मृग मोच ।
मैं बिधि होउ तो बहि धरौं, जस जीभन के बीच ॥[3] (दास)
सज्जन मुख मीठे बचन, सहज न कहुत बनाय ।
भलो कौन सुगन्ध को लेबरन देत सिखाय ॥[4] (कुलपतिमिश्र)

उचित व्यवहार के लिए लोगों के हार्दिक भावों से परिचित होना नितान्त आवश्यक है परन्तु लोग प्राय मन की बात जिह्वा तक नहीं आने देते। ऐसे अवसरों पर नीतिमान् मानव उनके नेत्रों से ही हृद्गत भाव को भांप जाते हैं क्योंकि आंखों के नाम की सार्थकता मनोगत भावों के आख्यान में ही है—

जो कछु उपजत आइ पर सो वे आँखैं देत ।
रसनिधि आँखैं नाम इन, पायौ अरथ समेत ॥[5] (रसनिधि)

शृंगारी कवि सरस्वती के आराधक थे और उसी की सेवा द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। इसलिए इनकी कृतियों में विद्या और साहित्य की वह उपेक्षा दिखाई नहीं देती जो अधिकतर सन्त कवियों की रचनाओं में हम देख ही चुके हैं।

भिखारीदास के शब्दों में अनेक सम्बन्धी हमारी उतनी हितसाधना करने में समर्थ नहीं, जितनी एकाकिनी विद्या कर देती है—

मित्र ज्यों नेह निबाह करै, कुलनारि ज्यौं परलोक सुधारन ।
संपति दान को साहिब ज्यों, गुरु लोगन सों गुरु ध्यान पसारन ॥
दास जू आतम सी सुखदाइनि मातु सी है वह दुखनिवारन ।
या जग में बुधिवंतन को बर विद्या बड़ी नित ज्यों हितकारन ॥[6]

अन्यान्य विद्याओं की अपेक्षा कवियों का ध्यान काव्य-कला की ओर जाना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि इनकी कृतियों में काव्य-कला की भूरि भूरि

---

१ सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृष्ठ २२३।६५९
२ सं० मिश्रबन्धु वेदसुधा (लखनऊ, सं० २००५) पृष्ठ २४।१२
३ भिखारीदास काव्य निर्णय (वेलवेडियर प्रेस प्रयाग, १९३७ ई०) पृष्ठ १४६।२६
४ कुलपति मिश्र रसरहस्य द्वितीय वृत्तान्त पद्य २१॥
५. सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई पृष्ठ १९६।१४४
६ भिखारीदास; काव्यनिर्णय, पृष्ठ ७८।५२

प्रशंसा दिखाई देती है। परन्तु उसमें प्रवीणता प्राप्त करने के लिए कठोर साधना अपेक्षित होती है। जो लोग साधना के अभाव में 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' के अनुसार तुकबन्दी करके ही सुकवियों की समता करने का साहस करते हैं उनको दास जी ने खिल्ली उड़ाई है—

जुगनू भानु के आगे जती बिधि आपनी जोतिन्ह को गुन पैहैं।
माछियो जाइ खगाधिप सों उड़िबे की बड़ी-बड़ी बात चलैहैं॥
दास भये तुक जोरनहार कबिन्द उदारन की सरि पैहैं।
सौ करतारहु सों जो कुम्हार सों एक बिना झगरो अनि ऐहैं॥[1]

विलासी नरेशों तथा सामन्तों के आश्रित रहने वाले इन रसिक कवियों की शृंगारिक रचनाओं में यदि काम की कुत्सा कम ही दिखाई देती है तो कोई आश्चर्य नहीं। परोपकार तथा नम्रता की प्रशंसा और लोभ तथा अभिमान की निन्दा अनेकत्र की गई है।[2] स्वभाव की अपरिवर्तनशीलता तथा गुणों के महत्त्व का वर्णन कई कवियों ने किया है। आत्मसम्मान की रक्षा की भावना भी अनेक कवियों ने व्यक्त की है परन्तु इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि गौरव का अत्यधिक ध्यान रखने पर दुःख-प्राप्ति की भी सम्भावना है। यथा—

(क) घर घर डोलत दीन ह्वै जनु जनु जाचतु जाइ।
दियें लोभ-चसमा चखनु लघु पुनि बड़ो लखाइ॥[3] (बिहारी)

(ख) प्यास सहत पी सकत नहिं औघट घाटनि पान।
गज की गरुवाई परी, गज ही के गर आन॥[4] (रसनिधि)

पारिवारिक नीति—शृंगारिक कवियों की कृतियों का वातावरण दाम्पत्य पवित्रता के अनुकूल नहीं दिखाई देता। जिस विलासमय समाज का यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है उसमें स्त्रियाँ और पुरुष अपने ही परिवार में सन्तुष्ट नहीं हैं। वे अनेक उपायों से पारिवारिक मर्यादाओं को भंग कर कामवासना की तृप्ति के लिए उद्योगशील हैं। ऐसे वातावरण में भी कुशल यही है कि शृंगारी कवि विलासी सामन्तों के आश्रय में रहते हुए भी स्वकीया प्रेम की प्रशंसा परकीया-प्रेम की विषमता तथा गणिका प्रेम की महाँ कहीं-न-कहीं कर ही देते हैं। जैसे—

सुख सम्पति संतति सुमति, स्वकिया सुख संजोग।
परकीया अपपति विपति, लघुसुख गर्भवियोग॥

---

१ भिखारीदास, काव्यनिर्णय, पृष्ठ ८३।७५
२ भिखारीदास ग्रंथावली प्रथम खंड (ना० प्र० स० काशी, सं० २०१३), रस सारांश, पृष्ठ ८०।५४२
३ बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ६७।१२१
४ सतसई सप्तक, रसनिधिसतसई, पृष्ठ २२३।६४६

प्रगट भये परकीय अरु, सामान्या को संग ।
धर्म हानि धन हानि सुख, थोरो दुख इकंग ॥[1] (देव)

तत्कालीन परिस्थितियों में पुरुषों को स्त्रियों से प्रेम करने का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि वे तो पहले ही कामान्ध हो रहे थे। आवश्यकता थी तो उन्हें स्त्रैणता से बचाने की जिससे वे कलंदर के बंदर के समान स्त्रियों के संकेत पर नर्तन न करने लगें। इसी विषय में कुलपति का कथन है—

तिय रत होहि न चतुर नर ते दुर्लभ तिहुँ लोक ।
कुलपति कामिनि पग परस, आनन्द मगन अशोक ॥[2]

पत्नी के शील सौन्दर्यादि गुणों तथा जीवन की सार्थकता इसी बात में निहित है कि उसका पति उससे परितुष्ट रहे। देव की सखी नायिका को यों सीख देती है—

नारियै दस बड़ी चतुरै हो बड़े गुन देव बड़ीयै बनाई ।
सुन्दरै हो सुघरै हो सलोनी हो सील भरी रस रूप सनाई ॥
राजबधू बनि राजकुमारि अहो, सुकुमारि न मानौ मनाई ।
नैसिक नाह के नेह बिना चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ॥[3]

जैसे सुन्दर व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्रेम या लोभ का स्फुरण स्वाभाविक है वैसे ही प्रिय व्यक्ति को सुन्दर रूप में देखने की इच्छा सहज है। इसी इच्छा के फल स्वरूप कभी-कभी पति अपनी प्रियतमा का प्रसाधन भी करने लगता है। परन्तु जब अन्य अंगों के अलंकरण के बाद वह प्रिया के चरणों में महावर तक लगाने को उद्यत हो जाता है तब पत्नी अत्यधिक सम्मान की भावना की भी उपेक्षा कर पति की प्रतिष्ठा को भंग नहीं होने देती। निम्नलिखित कवित्त द्वारा सेनापति इसी पारिवारिक मर्यादा की रक्षा की व्यंजना करते हैं—

फूलन सों बाल की बनाई गुही बेनी लाल
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है।
अङ्ग-अङ्ग भूषन बनाइ ब्रजभूषन जू
बीरी निज कर के खवाई अति हित है॥
ह्वै कै रस बस जब दीबे कौं महावर के
सेनापति स्याम गह्यौ चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौं,
कही प्रानपति यह अति अनुचित है॥[4]

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इन काव्यों का वातावरण प्रायः पातिव्रत तथा

---

१ देव प्रेमतरंग, दोहा ७-८
२ कुलपति मिश्र रसरहस्य, तृतीय वृत्तान्त पद्य ११८
३ मिश्रबन्धु, देवसुधा, पृ० १४८।२३४
४ सेनापति कवित्तरत्नाकर, द्वितीय तरंग, पृष्ठ ४३।३६

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हित
हित को न जानै ताको हितू न विसाहिये।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निवाहिये।
"बोधा कवि" नीति को नवेरो यही भांति अहै,
आप को सराहै ताहि आपहू सराहिये।
दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा,
आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिये ॥[1]

इन काव्यों में स्त्री का नारीत्व मातृत्व आदि की दृष्टि से तो प्रायः कोई सम्मान सहित नहीं होता परन्तु स्वकीया परकीया व सामान्या नायिका के रूप में उसके रूप-सौन्दर्य के वर्णन से प्रायः सभी काव्यग्रन्थ प्रपूर्ण हैं। जब तक वह यौवन सुमन रूप-लावण्य से युक्त है और कवि तथा उनके आश्रयदाता भी वृद्ध नहीं होते तब तक वह मदन की वाड़ी फूलों की माला कपूर की पाव आदि विशेषणों से सम्मानित की गई है। परन्तु उसके वलित-यौवना तथा इनके वृद्ध हो जाने पर वही नारी परमार्थ-पथ में कण्टक-रूप हो जाने के कारण छाया-ग्राहिणी राक्षसी से कम प्रतीत नहीं होती। परन्तु स्मरण रहे कि शृंगारी रचनाओं में उसका अप्सरा-रूप राक्षसी रूप की अपेक्षा कहीं अधिक चित्रित किया गया है। क्रमशः दोनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

सोभा सब जोबन की, निधि है मुकुत्ता की
राजै नव नारी मानों मदन की बारी है॥[2] (सेनापति)
या भव-पारावार कौं, उलँघि पार को जाइ।
तिय-छवि छायाग्राहिनी, ग्रसै बीचहीं आइ ॥[3] (बिहारी)

वस्तुतः दोनों ही रूप मान्य नहीं हैं प्रथम में वह वासना-पूर्ति का साधन मात्र है और द्वितीय में मोक्षमार्ग की बाधिका। गार्हस्थ्य के धर्मों का सम्यक निर्वाह करने वाली और तप त्याग दया क्षमा आदि गुणों से समन्वित सती स्त्री की ओर इन कवियों का ध्यान कम हो गया है।

यद्यपि शृंगारी कवियों का प्रेम-वर्णन पति-पत्नी तक ही सीमित न रहने के कारण और समाज में व्यभिचार का परोक्षतः प्रचारक होने के हेतु गर्ह्य ही कहा जायगा तथापि उसमें प्रेम के विभिन्न पक्षों पर जो सुन्दर काव्य रचना हुई है वह प्रेम-विषयक नीति की दृष्टि से उपेक्ष्य नहीं। उस से प्रेमी जीवों को कई सुन्दर शिक्षाएँ

---

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५१६।८
२ सेनापति कवित्तरत्नाकर, प्रथम तरंग, पृष्ठ ३।११
३ बिहारी रत्नाकर पृष्ठ १७८।४३१

प्राप्त होती हैं जैसे—प्रेमपथ पर चलना तलवार की धार पर चलना है, प्रेम में धर्म तथा जातपात की बाधा नहीं पड़नी चाहिए, आरम्भ किये हुए प्रेम को लोकलाज या प्राणभय के कारण अधबीच ही छोड़ना अनुचित है, पाषाणहृदय प्रियतम से किया हुआ प्रेम दुःखदायक होता है, जिससे प्रेम हो जाय वह सदोष होता हुआ भी प्रिय लगता है, सच्चे प्रेमी को दुखी करना उचित नहीं आदि। इन्हीं नीतियों से सम्बन्धित कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

(क) "कवि बोधा" अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥[1]

(ख) प्यारो जो सुजान कहा हिन्दू औ मुसलमान,
जाते कियो नेह फेर ताते अचनो कहा।
या तो रंग काहू पै न रंगिये सुजान प्यारे
रंगे तो रंगेई रहौ फेर तजनो कहा॥[2] (ग्वाल)

(ग) उयें सीस सम सेत है, बिना उयें दुख देत।
कठिन कुचै विधि कमल को, दयें सीस को हेत॥[3] (रसनिधि)

चूँकि शृंगारी कवि प्रायः राजाओं आदि के आश्रय में रहते थे इसलिए इन्हें स्वामी तथा सेवकों के सम्बन्ध में बहुत कुछ देखने-सुनने का अवसर अनायास ही मिल जाया था। इस विषय की आत्मानुभूति इनके अनेक काव्यों में प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है। पराश्रित व्यक्ति प्रायः चिन्तित रहता है, उसे अनेक खरी-खोटी भी सुननी पड़ती है, पद च्युत होने की आशंका भी उसके मन में बराबर बनी रहती है, इसलिए इन कवियों ने परमुखापेक्षा की निन्दा ही की है। भिखारीदास उस स्वतन्त्र मृग के भाग्य की भी सराहना करते हैं जिसे जीवननिर्वाह के लिए पराया मुँह नहीं ताकना पड़ता—

काहू धनवंत को न कबहूँ निहार्यों मुख,
काहू के न आगे दीठि को नैन लियो है।
काहू को न रिन कर काहू के दिये ही दिन,
हर्यो तिन असन बसन छोरि लियो है।
"दास" निज सेवक सखा सों अति दूर रहि,
लूटै सुख भूरि को हरष पूरि लियो है॥
सीखत सुबुधि आदि जीवतो सुरधि धन्य
धन्य कुरंग कहु कहा तप कियो है॥[4]

१ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५१४।१
२ " " " " , ५१२।१
३ सातसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृष्ठ ५९३।६७२
४ भिखारीदास काव्यनिर्णय, पृष्ठ १२४-२५

उदरपूर्ति के निमित्त पर-सेवा निस्सन्देह निम्न कर्म है। परन्तु सब पर दैव की दयादृष्टि एक-सी नहीं पड़ती। इसलिए विवशत: कभी-कभी सेवा वृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ती है। ऐसी दशा में सेवक का यह कर्तव्य हो जाता है कि स्वामी की तन-मन से सेवा करे और स्वामी पर कुछ संकट आ पड़ने पर उ का साथ न छोड़े आवश्यक हो तो प्राण-त्याग करने में भी संकोच न करे—

कहा भयौ जो तजि परत दिन दस कुसुमित माँहि।
समुझि देखि मन में मधुप ए गुलाब के आहि॥[1] (विक्रमसिंह)

साथ ही आश्रयदाता की खोज के समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह विवेक-शून्य न हो क्योंकि अविवेकी राजा आश्रितों के गुणदोष की परीक्षा में असमर्थ होने के कारण गुणी सेवकों के हृदय में शूल के तुल्य खटका करता है। घनानन्द के मत में तो ऐसे हृदयांध स्वामी की सेवा स्वप्न में भी अच्छी नहीं—

मही दूध सम गनै, हंस-बक भेद न जानै।
कोकिल काक न ज्ञान, कांच मनि एक प्रमानै॥
चन्दन-ढाक समान रांग-रूपौ सम तोलै।
बिन विवेक गुन-दोष मूढ़-कवि व्यौरि न बोलै॥
प्रेम नेम हित चतुरई जे न विचारत नेकु मन।
सपने हूं न विलंबिये छिन तिन ढिग "आनन्दघन"[2]॥

जो लोग मूर्खों से कड़ा परिश्रम कराते हैं जो गुणी का अनादर और निर्गुण का आदर करते हैं जो निर्दय तथा स्वार्थी हैं, जो आडम्बरमय जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु आश्रितों की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं करते उनकी इन कवियों ने अपनी व्यंग्यमयी उक्तियों और अन्योक्तियों द्वारा खूब खबर ली है। जैसे—

(क) पावक में बसि जाय लगे न, बिना छत लागे कि पार दै पावै,
मीत सों मीत, अमीत अमीत सों, दुख दुखी, सुख में सुख पावै।
जोगी ह्वै जात हु काम लगें, अरु कामिन कामनि सों मन लावै।
आगिलो पाछिलो सोचि सबै करा हृदय कर तब भृत्य कहावै।[3] (देव)

(ख) कीरत हाथ न गूह बसि, मूल तूल फल भूर।
तजिए सुक सेमर भयौ, भई आस-चकचूर॥[4] (विक्रमसिंह)

(ग) कहा भयौ "मतिराम" हिय जो पहिरी मन्द भाल।
लाल मोल पावै नहीं लाल गुंज की माल॥[5]

---

१ सतसई सप्तक, विक्रमसतसई पृष्ठ १९८।१२६
२ सं० विश्वनाथ प्रसाद, 'घनानन्द' सुजानहित पृष्ठ ११।२८२
३ मिश्रबन्धु : देवसुधा पृष्ठ ९७।९३
४ सतसई सप्तक : विक्रमसतसई, पृष्ठ १९६।३११
५ " " मतिराम " " १२०।४९

समाज में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, उच्च जातियों के लोग भी थे और नीच जातियों के भी। इन कवियों ने इन जन्म-मूलक भेदों को प्रश्रय नहीं दिया। इनमें वह संकीर्णता दिखाई नहीं देती जिसे कुम्भनदास ने एक पद में यों व्यक्त किया है—

जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करिये परी सलाम।[1]

साम्प्रदायिक तथा जातीय भेद भावों को ये दूर करने के ही पक्षपाती प्रतीत होते हैं—

(क) हिन्दू में क्या और है, मुसलमान में और।
साहिब सबका एक है, व्याप रहा सब ठौर॥[2] (रसनिधि)

(ख) ह्वै उपजे रज-बीज ही ते, बिनसे हू सबै छिति छार कै छांड़े।
एक-से देखु कछू न बिसेखु ज्यों एकै उन्हार कुम्हार के भांड़े।
तापर ऊँच औ नीच बिचारि, वृथा बकि बाद बढ़ावत गाढ़े।
बेदन मूंदि कियो इन दूंदु, कि सूदु अपावन पावन पांड़े॥[3] (देव)

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों की नीति जात-पात और साम्प्रदायिक भेदभाव के विषय में संत कवियों के समान ही है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि ये समाज के सभी लोगों को सर्वथा समान समझते थे। इनकी दृष्टि में मनुष्यों के गौरव या लाघव का कारण उनकी समृद्धि, वदान्यता तथा अन्य गुणों का भाव या अभाव था। इस आधार पर भेद भाव को स्वीकार कर इन कवियों ने नीति के अनेक छन्द रचे हैं। जैसे—

अति अगाधु अति औथरो नदी कूप सरु बाइ।
सो ताको सागरु जहां, जाकी प्यास बुझाइ॥[4] (बिहारी)
कहा भयो जो सिर धनी, कान्ह तुम्हें करि भाव।
मोरपखा बिन और तुम, जहां न पैहौ नाव॥[5] (रसनिधि)

अधिकतर शृंगारी कवियों का व्यवसाय ही काव्य-निर्माण था। काव्यकला में कौशल प्राप्त करने के पश्चात् ये धनी-मानी नरेश-सामन्तों की खोज में निकलते थे और उन्हीं के आश्रित रहकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के इच्छुक थे। कई भाग्यशाली कवियों को उदार आश्रयदाता मिल जाते थे और कई भ्रम से व्यर्थ ही इधर उधर मारे मारे फिरते थे। अनेक आश्रयदाता ऐसे ही होते थे जिन्हें हीरे और कंकर की पहचान नहीं थी। उनके यहां सुकवियों का तो सम्मान नहीं होता था परन्तु कुक-

१ रामचन्द्र शुक्ल हि० सा० इ० पृ० १७८
२ सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई, पृ० १७८।६७
३ मिश्रबन्धु देवसुधा पृष्ठ २११६
४ सतसई सप्तक बिहारी सतसई, पृष्ठ ९१।४११
५ „ „ रसनिधि सतसई पृष्ठ २२२।६४१

गुणियों की अच्छी आवभगत की जाती थी। कहीं पर गुणी कवियों के पहुँच जाने पर सामान्य तुकक्कड़ों की उपेक्षा कर दी जाती थी तो कहीं पर अगुणज्ञ लोग सुकवियों की अवहेलना कर देते थे। ऐसी परिस्थितियों से प्रेरित होकर इन शृंगारी कवियों ने गुणी, निर्गुण और अगुणज्ञों के विषय में पर्याप्त और सुन्दर सूक्तियाँ रची हैं। जैसे—

कर लै, सूँघि, सराहि हूँ रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध गुलाब कौ, गँवई गाहकु कौनु॥[1] (बिहारी)

स्वादी कछू फल मीठो बिचारिकै, दूरि तें दौरे सब ललचाने।
हाथ लै चाखि कै नाखि सबी निसवादिल दोसि सब अलगाने॥
दास जू गाहक चीन्ह्यो न कीन्ह्यो तू नाहक ही ह्याँ पसारि दुकाने।
रे मन जौहरी गाँव गँवारे में कौन जवाहिर के गुन जाने॥[2]

बुध जन सौंस मिलाइ कै गुन इकठौ कर हेर।
ये मोहू कब दावरे परे जाल में फेर॥[3] (रसनिधि)

नहिं जानत गुन जासु को सो तिहि निरत घटाइ।
गज मुक्ता तजि कै भयल गुंजा लेत उठाइ॥[4] (विक्रमसिंह)

इन कवियों ने सज्जन और दुर्जन के भेद के विषय में भी खूब लिखा है। दुर्जन सत्संगति के प्रभाव से भी नहीं सुधरते, वे शरणागत को भी विश्वासघात द्वारा मार डालते हैं, वे दुष्टता का परित्याग कर दें तो भी उनसे अनिष्ट की सम्भावना बनी रहती है, आदि विषयों पर इनकी सुन्दर उक्तियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा होते हुए भी और सज्जनों के अनेक गुणों की प्रशंसा करते हुए भी अपनी प्रशंसनीय व्यावहारिक दृष्टि के कारण ये कवि सौजन्य में 'अति' का निषेध ही करते हैं क्योंकि जगत में पूजा बुरों की और उपेक्षा सज्जनों की होती है जैसे—जंगल में रहा वक्र वृक्षों की और काट-छांट सरल वृक्षों की ही की जाती है। अस्तु इस विषय में अधिक न कहकर भिखारी दास का ही एक कवित्त उद्धृत करना पर्याप्त होगा जिसमें उन्होंने श्लिष्ट शब्दावली का आश्रय लेकर सज्जन और दुर्जन दोनों के ही स्वभाव का संक्षेप में वर्णन कर दिया है—

सुजस कमावै सज्जन ही से प्रेम करै,
चित्त अति उजरे भजत हरि नाम हैं।
दीन कै दुजन देवी आपनो सुजन सीवे,
विप्र पाप रस सब भेम मोहैं धाम हैं।

१ बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ५४७।६२४
२ भिखारीदास ग्रंथावली प्रथम खंड रससारांश, पृष्ठ ८०।२४३
३ सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई पृष्ठ २९१।६४८
४ ,, विक्रमसतसई पृष्ठ ५६८।३९९

जग पर जाहिर है बरक मिताहि धर्यो,
    देन बसन ते सहुल विसराम हैं ।
'दास जू' पलाये ये असज्जन के काम हैं,
    समुझि देखो एई सब सज्जन के काम हैं ।[1]

आर्थिक नीति—धन के विषय में इन कवियों का दृष्टिकोण सन्त-कवियों के सर्वथा विपरीत है । यद्यपि सम्पत्ति-जन्य दोषों की इन्होंने उपेक्षा नहीं की तथापि सम्पत्ति के महत्त्व को इन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है । सम्पत्ति से प्राप्त प्रतिष्ठा तथा उसके प्रभाव के कारण सभ्य पक्षपातता का सुन्दर दृश्य देव ने इस प्रकार चित्रित किया है—

संपति में पूँछि बैठि चौतरा अदालत के,
    बिपति में पैन्हि बैठे पांय झुनझुनियां ।
जेतो सुख संपति सकोई दुख बिपति में
    संपति में मिरजा बिपति परे धुनियां ।
संपति ते बिपति बिपति हू ते संपति है,
    संपति औ बिपति बराबर के गुनियां ।
संपति में कांय कांय बिपति में भांय भांय,
    कांय कांय भांय भांय देखी सब दुनियां ।।[1]

जब तक मनुष्य जीवित है तब तक तन और पेट की आवश्यकतायें उसे किसी न-किसी रूप में चिन्ताग्रस्त रखती ही हैं । इन्हीं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह विविध वेष धारण करने पर विवश हो जाता है । देव जीवन में अर्थ की अनिवार्यता और कतिपय वेषों का यों वर्णन करते हैं—

कहूँ जोगी भेष के पखारत प्रकार कहूँ,
    सन्यासी न्हाय रुद्र सन्यासी छयो फिरै ।
बैरागी के रूप कहूँ बंगरू अनूप रस,
    स्वांग हू बनाय संग रंग उमयो फिरै ।
सुधा लोभ लीन कहूँ पंडित प्रवीन कहूँ
    कहूँ हरि रंग लीन तापस तयो फिरै ।
लोभ की लपेट काम क्रोध की दपेट पेट,
    पेट की चपेट सबै चेटक भयो फिरै ।।[2]

परन्तु जहाँ लक्ष्मी मनुष्य को विभिन्न चिन्ताओं से मुक्त रखने में समर्थ है, वहाँ इस बात की भी सम्भावना विद्यमान रहती है कि मनुष्य उसके आधिक्य के कारण अविवेक और मद के गर्त में गिरकर जीवन को नष्ट भ्रष्ट कर बैठे । इसलिए

---

१ कविता कौमुदी, भाग १ पृष्ठ ५०६।१

२ १ देवशतक, पद्माकर पञ्चोली पद १०, ९४

ये कवि पाठकों को इस ओर भी सतर्क रहने की प्रेरणा करने से नहीं चूकते—

अद्भुत या धन को तिमिर मो पै कह्यौ न जाय।
ज्यों ज्यों मनिगन जगमगत त्यों त्यों अति अधिकाइ ॥[1] (मतिराम)
कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय।
उहिं खाएँ बौराइ इहिं पाएँ हीं बौराइ ॥[2] (बिहारी)

कई अविवेकी लोग धनसंग्रह को ही जीवन का उद्देश्य बना बैठते हैं। न वे अच्छा खाते पहनते हैं और न जीवन को सुख-सुविधाओं से सम्पन्न करते हैं। उनकी दृष्टि लखपति और करोड़पति बनने पर ही केन्द्रित रहती है। ऐसे लोगों को बिहारी यों मधुर उपदेश देते हैं—

मीत न नीति गलीत ह्वै, जो धरियै धनु जोरि।
खाएँ खरचैं जो जुरै, तौ जोरियै करोरि ॥[3]

अर्थात् करोड़पति होना भी बुरा नहीं परन्तु उसकी अपेक्षा भी जीवन-स्तर तथा प्रतिष्ठा को ऊँचा रखना कहीं श्रेष्ठ है।

उदारता की प्रशंसा तथा कृपणता की निन्दा इन राजाश्रित कवियों का अत्यन्त प्रिय विषय था। ये अपनी कविता द्वारा इस बात की प्रेरणा करते रहते थे कि जिनके पास सम्पत्ति हो उन्हें गुणियों की संगति से गुण-धारण तथा यशोपार्जन अवश्य करना चाहिए।[4] जो लोग सम्पत्तिशाली होकर भी सत्कार्यों में धन का सद्व्यय न करते थे, उनका निर्मम परिहास करने में इन कवियों ने विशेष निपुणता दिखाई है, जैसे—

बलि सरबस दै हिरनाच्छ मारि राखे बिष्नु
अति उच्च ताको जस बढ़ि सरसात है।
संकर को सीस दै के रावन बने संकर न,
भयो तिहूँ पुर को भयंकर बिख्यात है।
"ग्वाल कवि" राम ह्वै बिभीषण को लंकराज,
तोर दई लंक जाको भजो अंक घात है।
सूमन की भाव धनहू पै फाटि दूध जाउ,
दान्न की नवढा पहार चढ़ि जात है ॥[5]

इतर-प्राप्ति-विषयक नीति—ये कवि प्रायः इन राजाओं तथा सामन्तों के आश्रय में रहते थे जो युद्ध आखेट आदि में मग्न रहा करते थे। इसलिए इनके

---

१ सतसई सप्तक, मतिराम सतसई पृष्ठ १२२।६४
२ बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ८२।१९२
३ „ „ „ १९८।४८१
४ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ ५१२।६
५. सं० प्रभाशंकर ग्वालरत्नावली प्रयाग १९४५ ई०, पृष्ठ ४५।७६

शृंगारिक काव्यों में तो अहिंसा जीवदया आदि पर विशेष बल सम्भित नहीं होता, परन्तु इनकी आध्यात्मिक कृतियों में इन विषयों का अभाव नहीं है। ऐसा होते हुए भी इन विषयों के वर्णन की जो प्रचुरता जैन कृतियों में हम देख चुके हैं वह यहाँ दृष्टिगत नहीं होती। जीवदया तथा क्रूरता-निन्दा के विषय में इनके कुछ पद द्रष्टव्य हैं—

मीता मसक मसाव को, कहि हिसाव कह कौम।
मसके हिये कसाय जो, छुरी पसावे कौम।
होते को पै मसत क्यूँ, सदा पाम के काम।
रहन न देते बे-परख क्यूँ तन में पाम॥[1] (रसनिधि)

प्राणिमात्र के मन पर मोह का इतना घना आवरण छाया हुआ है कि अपने प्राणों को अत्यन्त प्रिय मानता हुआ भी अन्य जीवों के प्राण लेने में संकोच नहीं करता—

खाने चहावत है जग में जम खान नहीं दम खांति धरी को।
आपुन काल के गाल पयो अब चाहत और की राउखिरी को।
देव गु दौरत दूरि त नीच मयीच न देखत मीच दिरी को।
हौं तकौं स्वाम ज्यौं स्वान विली को विली तक मूहा ज्यों मूहा दिरी को॥[2] (देव)

मिथ्या नीति—इन कवियों ने निस्सन्देह अपनी आध्यात्मिक रचनाओं में ही नहीं शृंगारी रचनाओं में भी कई स्थलों पर ब्रह्म को सत्य और संसार को मिथ्या कहा है। जैसे—

(क) तुम भर फस मिमर सिहक कीर तूं काहे को होत बमाने।
पास लिये मधि कवो पै हूँ वहू मूखे गिरात पये लिखलाने॥[3] (भिखारीदास)

(ख) मैं समुझ्यौ निरधार यह जगु कांचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥[4] (बिहारी)

तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे यहाँ के आमोद प्रमोद तथा भोग विलास को हेय समझते थे। वस्तुतः इनका मन तो ऐहिक विषयों में ही अधिक रमता था उपर्युक्त प्रकार के पद तो इन्होंने निर्वेद भाव शान्तरस आदि के उदाहरणों के रूप में ही लिये प्रतीत होते हैं। कुछ एक कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने स्वर्ग, नरक मोक्ष आदि का मखौल उड़ाते हुए इसी लोक में उनकी विद्यमानता का प्रतिपादन किया है। केशवदास के शब्दों में वैशेषिक मुक्ति का स्वरूप यह है—

---

१ सतसई सप्तक, रसनिधि सतसई पृष्ठ २९१।६७८, ६७९
२ देवशतक, जगदर्शन पच्चीसी पद १५
३ भिखारीदास ग्रन्थावली खण्ड १, रससारांश, पृष्ठ ८०।४४१
४ बिहारी रत्नाकर पृ० ७८।१८१

पच्छिम पुत सपूत सुधी पतिनी पति-प्रेम-परायन भारी।
जाने सबै गुन मानें सब जन दानविधान दया उरधारी ॥
'केसव' रोगनि ही सों वियोग संजोग सुभोगन सों सुखकारी।
सांच कहै जग माहि लहै बस मुक्ति यहै चहुं वेद विचारी ॥[१]

इसी प्रकार केशवदास ने उस मनुष्य को नरकस्थ कहा है जिसका वाहन कुचाली चाकर चोर, मित्र चपल मित्र मतिहीन स्वामी कृपण और भोजन पराधीन हो।[२] चाहे उक्त पद्यों का अपवाद के रूप में भी स्वीकार किया जाए तदापि इस बात का प्रतिवेध तो कठिन ही है कि केशवदास ऐहिक सुखपूर्ण जीवन को स्वर्ग से और दुःखपूर्ण जीवन को नरक से कम न मानते थे। महाकवि देव की तो स्वर्ग-नरक पाप पुण्य भाग्य-तर्पण पुनर्जन्म आदि में कोई आस्था ही नहीं थी। वे तो इनमें आस्था रखने वालों तथा इनका प्रचार करने वालों को स्पष्ट शब्दों में ही मूढ़ और लबार कहते हैं—

(क) पापु न पुन्य न नर्क न स्वर्ग मरो सु मरो फिरि कौनें बुलायो।
गूढ़ ही वेद पुरानन बांधि लबारनि लोग भले भुरकायो ॥
(ख) जीवत तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सुरस्वर्ग हरे को।
ऐसी अभागु अभागुन की बुधि साधन बैत सरिय मरे को ॥[३]

ग्वाल भी उसी जीवन को अच्छा समझते हैं जिसमें मनुष्य खाए पिए, घूमे फिरे और यथेष्ट आमोद प्रमोद में मग्न रहे क्योंकि बार बार तो जन्म नहीं मिलता—

किया है पुरा ने पूव सुखी करि ग्वाल कवि,
खाय पियो देव लेय यही रहु आना है।
आये परवाना पर चले न बहाना इहां,
नेकी करि जाना फेरि आना है न जाना है ॥[४]

जहां ग्वाल कवि ने सुखमय जीवन के लिए व्यय से दुगनी या कम-से-कम सवाई आय सुन्दर नारी विद्वान् की संगति आदि को[५] आवश्यक ठहराया है वहां रस निधि हुक्के को भी विस्मृत नहीं कर पाये हैं, क्योंकि वह सच्चा सगा अन्तिम सांस तक साथ देता है—

हुक्का हौं कहु कौन प, साथ निबाहो सात।
प्यारी स्वासा रहत है सगी स्वास के साथ ॥[६]

---

१ केशव ग्रन्थावली खण्ड १, कविप्रिया, पृष्ठ १२२।१०
२ „ „ „ „ १२३।१४
३ देवसुधा, पृष्ठ २९।११, १०
४ कविता कौमुदी भाग १, पृष्ठ २२३।१४
५ कविता कौमुदी, भाग १, पृष्ठ २२३।१०
६ रतनहजारा, रसनिधि सतसई, पृष्ठ २२०।६ २

मृत्यु, कलियुग, समय का फेर, अवसर का महत्त्व आदि विषयों पर इन कवियों के विचार, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट होता है, प्राचीन कवियों के समान ही हैं—

(क) या जग नीच मरे नहिं मीचु न, जे उपजे ते मही में मिलाने ।
धन कुम्भ गुनी निगुनी जे जहाँ उनमें न तहाँई दिखाने ॥[1] (देव)
(ख) देखो कलिजुग के राजनीति को तमासो यह,
धासो कियो दाय हर एक की अपन पै ।
कालवान धारे पालपान लिए दौलत है
ताम गाम धारे बडे दोवत महल पै ॥[2] (ग्वालकवि)
(ग) मरत प्यास पिंजरा पर्यो सुआ समय के फेर ।
आदर दै दै बोलियतु बाइसु बलि की बेर ॥[3] (बिहारी)
(घ) बिन औसर न सुहाइ तन [illegible] गार ।
औसर की नीकी लगै मीठा सी सी मार ॥[4]

भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनों ही विषयों पर इन कवियों ने कविता की है, परन्तु अदृष्ट की प्रबलता में जितनी आस्था दिखाई देती है, पुरुषार्थ में उतनी नहीं। ऐसे लगता है कि वैदिक काल के पश्चात् उद्योग में विश्वास का क्रमशः ह्रास होता गया। जहाँ वेद तो कहते हैं कि—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।[5]

वहाँ केशवदास, पद्माकर आदि कवि कलियुग में ही नहीं, चारों युगों में भाग्य की प्रबलता को इन शब्दों में स्वीकृत करते हैं—

(क) [illegible] दसरथ [illegible] सुखी के सुख [illegible] बसी है ।
काम पर्यो जप, फास पर्यो मति, सेष परे विष हालाहली है ॥
[illegible] "केसव" इन्द्र [illegible] बसी है ।
राम हू की हरी रावन वाम कहूँ युग एक अदिष्ट बली है ॥[6]
(ख) हानि अरु लाभ [illegible] जीवन अजीवन हू
भोग हू वियोग हू संयोग हू अपार है ।

---

1. देवसुधा पृष्ठ १५।१७
2. कविता कौमुदी भाग १ पृष्ठ ५११।७
3. बिहारी रत्नाकर पृष्ठ १७६।७१२
4. सतसई सप्तक पद्मावली सतसई पृष्ठ २२०।६२१
5. अर्थ—मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है और बाएँ में विजय—(अथर्ववेद ७।५०।८)
6. केशवग्रंथावली खंड १ रामचन्द्रिका पृ० १२८।१४

कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर,
कौन जाने कौन को कहाँ धौं होनहार है ॥[1] (पद्माकर)

इसी प्रकार अदृष्ट के भय से थरथराने वाले इन कवियों का विश्वास यह था कि निर्लोभ वेगी क्रोध रहित पंडित लोभ-पराग-हीन तपस्वी अचल गेह निष्कपट स्नेह, अकलंक वधू दंभहीन विद्या आमस्य-काम्य पूत निर्व्यसन पूत और नीरोग काया इस जन्म के पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होती पूर्वसंचित पुण्यों के प्रताप से ही मिलती है ।[2]

इन विषयों के अतिरिक्त कुराज्य में प्रजा के दुस्सह दुःख[3] न्याय व सत्य से जनता का वशीकरण[4] राजा पाप और रोग द्वारा निर्बल का ही दमन[5] नई वस्तु का पुरानी होना और पुरानी का नई बना रहना[6] जिसके बिना क्या शोभा नहीं देता[7] निष्कार्य कार्य[8] आदि अनेक विषयों का इन काव्यों में सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ निम्नांकित सवैया द्रष्टव्य है जिसमें केशवदास ने अनेक गर्हित बातों का उल्लेख किया है—

पाप की सिद्धि सदाशिव बुद्धि सुकीरति आपनी आप कही की ।
दुष्ट को दान जु मूतक न्हान जु दासी की संतति संतत फीकी ॥
बेटी को भोजन, भूपन राँड कौं केशव प्रीति सदा, पर-स्त्री की ।
कूप में लाज दया अरि को अरु ब्राह्मण जाति सों जीति न नीकी ॥[9]

संक्षिप्त आलोचना

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव—उपर्युक्त विवरण तथा उद्धरणों से स्पष्ट है कि शृंगारी कवियों का नीतिकाव्य मात्रा में अधिक न होता हुआ भी अपने ऐहिक दृष्टिकोण तथा सरलता के कारण श्लाघ्य है । अब इसकी मौलिकता पर भी दृष्टिपात कर लिया जाए। इस में सन्देह नहीं कि इन शृंगारिक कवियों के स्फुट नीति-पद्यों में आत्मानुभूति की मात्रा अत्यधिक है तथापि इस बात का प्रत्याख्यान सम्भव नहीं कि इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों से भी सहायता ली है । जैसे—

(क) संस्कृत-कवियों का प्रभाव—अधिकतर शृंगारी कवि संस्कृत के विद्वान् थे और उन्होंने संस्कृत-साहित्य का अवगाहन किया था । साथ ही यह भी स्मरणीय

---

१ पद्माकर पद्मामृत, प्रबोधपचासा पृ० २११
२ भिखारीदास काव्यनिर्णय, पृ० ११२।२१
३ बिहारीरत्नाकर पृ० १४८।३५७
४ कुलपति मिश्र रस रहस्य, तृतीय वृत्तान्त, पद्य ३०
५ बिहारी रत्नाकर, पृ० १७६।४२९
६ [डॉ० केदारनाथ गुप्त : कवियों की झाँकी, मतिराम पृ० १४१।१०
७-९ [केशवग्रन्थावली, खंड १, कविप्रिया, पृष्ठ १६०।३, १६०।२, १७४।७७

है कि सुकवि होने के नाते वे दूसरों के भावों तथा भाषा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करना भी उचित नहीं समझते थे। यही कारण है कि इनके स्फुट गीति-पदों में जहाँ कहीं पूर्ववर्ती कवियों से कुछ भाव लिये गए हैं वहाँ इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि उनके पद अनुवाद-मात्र ही न बन जाएँ। जैसे किसी संस्कृतकवि की सूक्ति है—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मो न स यत्र न नास्ति सत्यम् सत्यं न तद्यच्छलनानुविद्धम् ॥[1]

केशवदास ने इसी पद के भाव को क्रमालंकार के उदाहरण में एक सवैये में इस प्रकार उपन्यस्त किया है—

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं ।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित, दीह दया न दिपै जिन माहीं ॥
सो न दया जु न धर्म धरै धर, धर्म न सो जहँ दान वृथाहीं ।
दान न सो जहँ साँच न केसव, साँच न सो जु बसै छल छाहीं ॥[2]

दोनों पदों की तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि केशवदास कुछ सीमा तक भाव और भाषा दोनों में संस्कृत-कवि के आभारी हैं। परन्तु केशवदास ने अपने भाव को सभा वृद्ध धर्म और सत्य तक ही सीमित नहीं रखा सवैये में विद्या, दया दान आदि का भी समावेश कर दिया है।

हिन्दी-कवियों का प्रभाव—हिन्दी-कवियों का प्रभाव तीन प्रकार का है—(क) भावों का प्रभाव (ख) भाव तथा भाषा का प्रभाव (ग) शैली का प्रभाव। क्रमशः तीनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

(क) भावों का प्रभाव

बिगरी बात बनै नहीं लाख करौ किन कोय ।
"रहिमन" फाटे दूध को मथे न माखन होय ॥[3]
कोटि-कोटि मतिराम" कहि जतन करौ सब कोइ ।
फाटे मन अरु दूध में नेह न कबहु होइ ॥[4]

उपर्युक्त दोहों की तुलना से स्पष्ट है कि मतिराम ने अपने दोहों में रहीम के दोहे के 'लाख' के स्थान पर 'कोटि कोटि' कर दिया है और 'दूध' तक ही अपने को सीमित न रखकर मन" को भी साथ संयुक्त कर दिया है। इस प्रकार मतिराम ने रहीम से संकेत लेकर उसको विकसित और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

---

१ अर्थ—वह सभा ही नहीं जिस में वृद्ध न हों, वे वृद्ध ही नहीं जो धर्म का उपदेश न दें वह धर्म ही नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य ही नहीं जिसमें छल विद्यमान हो। (सु० र० भा० पृष्ठ १७४।८८४)

२ केशवग्रन्थावली, खण्ड १, कविप्रिया, पृ० १६०।१

३ डॉ० ब्रजरत्नदास, रहिमनविलास पृष्ठ १३।१४२

४ सतसई सप्तक, मतिराम सतसई पृष्ठ १९९।७०

(ख) भाव तथा भाषा का प्रभाव

रहिमन छोटे नरन सों होत बड़ो नहिं काम।
मढ़ो दमामो ना बने सौ चूहे के चाम॥[1]
कैसे छोटे नरनु तें सरत बड़नु के काम।
मढ़्यो दमामो जात क्यों कहि चूहे के चाम॥[2] (बिहारी)

बिहारी ने अपने दोहे में उत्कर्ष लाने के लिए दो युक्तियों का प्रयोग किया है। प्रथम 'बड़ो' के स्थान पर 'बड़न' कर देने से 'छोटे नरन' के साथ विरोध स्पष्टतर हो गया है और दोहे के प्रभाव में वृद्धि हो गई है। द्वितीय 'सौ चूहे के चाम से' तो कभी दमामे के मढ़े जाने की सम्भावना हो भी सकती है परन्तु एक चूहे के चाम से तो त्रिकाल में भी असम्भव है। ऐसा होते हुए भी यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भाव और भाषा दोनों के विचार से बिहारी स्पष्टतया रहीम के आभारी हैं।

(ग) शैली का प्रभाव—यह तो तथ्य निरूपक अन्यार्थधारक आदि शैलियों का प्रयोग इन कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों के समान किया ही है तथापि जो शैली विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है वह है नवीन उपमानों की शैली जिसे गोस्वामीजी ने 'रामचरित-मानस' के किष्किन्धा-काण्ड में विशेष रूप से प्रयुक्त किया है जैसे—

बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ।
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें॥[3]

कदाचित् उन्हीं से प्रेरणा लेकर इन कवियों ने भी कहीं-कहीं इस शैली का प्रयोग किया है। जैसे—

कुचराई गिरि जानु है कंचन कामिनि माँह।
चपरेत न ठहरात ज्यों, दुरजन के उर माँह।[4] (मतिराम)
सोच तें रूप कुम्हिलात है सुमन हास निताप गये घर बास ज्यों।
नेह घटे जिमि जोति दिया ससि की छबि देखत ही रवि पास ज्यों॥
मौन तें धर्म बड़ाई प्रतीति ते होते सनेह विवेक विराम ज्यों।
नैकु वियोग में हो तन प्यारी को छीन ह्वै जात है साँझ के घाम ज्यों॥[5]

निष्कर्ष—रीतिकालीन शृंगारी कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के सम्बन्ध में इतना अधिक लिखा जा चुका है कि हम उसकी पुनरावृत्ति करना समीचीन नहीं समझते। हाँ उपसंहार रूप में उनके नीति-काव्य की प्रमुख विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है—

---

१ रहिमन विलास पृष्ठ १६।१८६
२ बिहारी रत्नाकर पृष्ठ ५६।१११
३ रामचरित मानस किष्किन्धा (गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०१२), पृष्ठ ४५४
४ सतसई सप्तक, मतिराम सतसई पृष्ठ ११०।१७२
५. कुलपति मिश्र रसरहस्य अष्टम वृत्तान्त, पृ० १७

१ इन कवियों के शृंगारी काव्यों में शरीर, बुद्धि तथा आत्मा तीनों के विकास पर उचित बल दिया गया है।

२ इनमें पारिवारिक जीवन की प्रशंसा दृष्टिगत होती है और पारिवारिक जीवन के सुखों के भोग की प्रेरणा मिलती है।

३ प्रेम-विषयक नीति का वर्णन सविस्तर किया गया है।

४ इन कवियों ने सुकवि, कुकवि, सुकविता, कुकविता आदि पर विशेष रूप से लिखा है।

५ राजाओं तथा सामन्तों को गुणग्राही बनने और कृपणता का परित्याग करने की प्रेरणा पर्याप्त मात्रा में है।

६ प्राय: वर्ग, धर्म, जाति आदि से उत्पन्न भेदभाव को दूर करने की प्रेरणा दी गई है।

७ स्त्री का महत्त्व तो वर्णित है परन्तु वह स्त्रीत्व के कारण नहीं भोग्यत्व के कारण है।

८ इन कृतियों में आमुष्मिक जीवन की अपेक्षा ऐहिक जीवन को सुखी बनाने पर बल अधिक है।

९ कुशल कवियों की कृति होने के कारण यह नीति-काव्य अधिकतर नीति रचनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक सरस व भावपूर्ण है।

१० ये रचनाएँ मुक्तक-शैली में ही हैं। प्राय: कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय छन्दों का प्रयोग दिखाई देता है।

११ इनमें प्राय: परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है जिसमें अरबी, फारसी आदि के शब्दों की संख्या भी पर्याप्त है।

१२ इन काव्यों की भाषा अलंकृत है और उसमें यथास्थान प्रसाद, माधुर्य और ओज तीनों ही गुण दृष्टिगत होते हैं।

१३ इन कवियों की कृतियाँ स्वतन्त्र नीति-ग्रन्थों के रूप में न होती हुई भी अधिकतर स्वतन्त्र नीति-काव्यों की अपेक्षा अधिक कवित्वपूर्ण हैं।

(४) संग्रह-ग्रन्थों में नीति-काव्य

रीतिकाल में मौलिक तथा अनुवादात्मक रचनाओं के साथ-साथ संग्रहग्रन्थों के संकलन की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। हस्तलिखित ग्रन्थों के प्राय: सभी संग्रहालयों में भक्ति, शृंगार आदि विषयों के अनेक संग्रहों के साथ-साथ नीतिकवियों के उत्तमोत्तम पद्यों के संग्रह भी पर्याप्त दिखाई देते हैं। कभी-कभी तो उन में ऐसे कवियों के पद्य भी दिखाई देते हैं जिनके नाम तथा कृतियों से हम अनभिज्ञ होते हैं। ऐसे नीतिविषयक संग्रहों को प्राय: प्रास्ताविक संग्रह भी कहा गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने ''भामिनी विलास' के नीतिविषयक अन्योक्तिपरक प्रथम विलास को प्रास्ताविक विलास नाम से

अभिहित किया है। सम्भवतः तभी से इस शब्द का प्रयोग नीतिविषयक कविता के लिए होने लगा हो। अस्तु दिग्दर्शनमात्र के लिए दो-चार नीति-संग्रहों का उल्लेख पर्याप्त होगा।

बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय के एक संग्रह में अनेक कवियों के नीति पद्य संगृहीत हैं जिन में सेउ और सम्मन मुख्य हैं।[1] इसी गुटके मे बिहारीसतसई भी संगृहीत है जिस का लिपि-काल सं० १७४४ दिया गया है। अतः संग्रह पौने तीनसौ वर्ष प्राचीन है। इसके दो दुर्लभ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

> आदर ही आदर नहीं देही भोजु कराइ।
> 'सेऊ' सहा न जाइये जो कंचन परसाइ॥
> "मधुसूदन" कोउ दुरित सुं, सरन करो मति हेत।
> नेह मनुष के सुरत ही, दान मान हर लेत॥[2]

फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक पं० लल्लूलाल ने भी संवत् १८७० में 'सभाविलास'' नाम से नीति-काव्यों का संग्रह किया था। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित इस संग्रह के प्रारम्भिक १५ दोहे तो भक्ति-विषयक हैं और बाद में क्रमशः वृन्द रहीम रसनिधि आदि के दोहे संगृहीत हैं।[3] इस संग्रह में दोहे सोरठे, कुंडलिया बरवै अरिल्ल छप्पय सवैया पहेली मुकरी सभी कुछ विद्यमान है।

उक्त सभा में ही 'गुणगजनामा''[4] शीर्षक संग्रह भी सुरक्षित है जिसे सं० १८८७ में जगन्नाथ ने संकलित किया था। इसमें कबीर दादू रज्जब आदि की नीति तथा उपदेशविषयक साखियों का संग्रह है।

जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में 'प्रास्ताविक दोहरा'[5] नाम से एक अन्य संग्रह विद्यमान है जिसमें वृन्द-सतसई के ७६ तथा स्फुट छन्द ७१ हैं। स्फुट छन्द हितोपदेश आदि के पद्यों के अनुवाद प्रतीत होते हैं। उनकी भाषा राजस्थानी है और अशुद्धि अत्यन्त अधिक है। जैसे—

> गीत विनोद विलास रस पण्डीत दीह सहंत।
> के निद्रा के कलह करि मुरख दीहस गमंत॥[6]

---

१ संग्रह-संख्या ७२।७२ क; पत्र ११२ ११०
२ ,, ,, ११२।५ ११५।१
३ सभासंग्रह सं० ४४१।२७। "सभाविलास" प्रथम बार तो संग्रहीता के जीवन-काल में और द्वितीय बार १९४६ में प्रकाशित हुआ था।
४ सभासंग्रह सं० २४२१।१४७६
५ क्रमांक ४८०६
६ ,, ,, पत्र २।५

कहना न होगा कि उक्त दोहा हितोपदेश के एक दोहे का विफल अनुवाद है।[1] इस संग्रह का लेखन-काल १६ वीं शती अनुमित किया गया है।

पुरातत्त्व मन्दिर का ही एक अन्य संग्रह भाषा की विभिन्नता की दृष्टि से उल्लेख्य है।[2] पात्रपत्रों के इस संग्रह में केवल ६२ पद्य हैं जिनमें अधिकतर दोहे हैं। अनेक दोहे सज्जन के हैं और अनेक अज्ञातकर्तृक। कुछ दोहों की भाषा ऐसी है जिसे न हिन्दी कहते बनता है न संस्कृत। जैसे—

रत्न निकरे वसति काको, अमृत भोजन भव्यति।
पशुमते मधुर वैराग्य स्व स्वभाव न मुंचति॥[3]

अधिकतर पद्य राजस्थानी भाषा के हैं। यथा—

सील सरीरा आभरण सोवन भारो अंग।
मुख मंडण सच्चा वचण विन तंबोले रंग॥[4]

इस संग्रह का भी लिपिकाल १६ वीं शती है।

यहीं पर और उसी शताब्दी का 'कवित्त प्रसंगोक्ति' शीर्षक एक अन्य संग्रह भी सुरक्षित है जो अपनी सरसता के कारण उल्लेख्य है।[5] दस पत्रों पर लिपिबद्ध प्रस्तुत संग्रह में ११० पद्य हैं जिन में अधिकतर कवित्त हैं और कुछ छप्पय। कुछ कवित्त देवीदास के हैं और कुछ मकरन्द आदि अन्य कवियों के। कवियों के आत्म-सम्मान, सरदारों की कृपणता नीति का महत्त्व क्षत्रियों की वीरता आदि पर अनेक सुन्दर पद्य इसमें संकलित हैं। हास्य रस का एक व्यंग्य-पूर्ण कवित्त देखिए—

सावन हू मत देत बासन सुमेर देत
रिम मांग रोय देत कहां लौं कहतु हैं।
थाहि ताहि कुप देत भीख परे दया देत
सावन की दौत देत ध्यान न लहत हैं।
घर मांझ गारी देत रन मांझ पूठ देत
छांक री किवारी देत एसे निबहत हैं।
एते पर कहैं सब भैया कछू देत नाहि
भैया जू तो आठौं जाम देवोई करत हैं।[6]

---

१ हितोपदेश पृष्ठ १२११
२ क्रमांक ४६१२
३ ,, पत्र १
४ ,, पत्र १७
५ संग्रह क्रमांक ९११८, आकार ६½ × ४"
६ ,, पत्र ११९

इन संग्रहों के द्वारा जहाँ हम जयदेव प्राणनाथ, बलदेव प्रधान मनसेरी बुधिसेन, कृष्ण प्रमुख निहाल चैन पुखी भरमी आदि अनेक कवियों के नामों से परिचित होते हैं वहाँ हमें इनके अत्यन्त मधुर काव्यों के रसास्वादन का भी अवसर प्राप्त होता है। इन संग्रहों में जो पद्य नीतिविषयक प्राप्त होते हैं उनसे संग्रहकारों की मनोवृत्ति पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। यद्यपि इनमें नीति के प्राय सभी विषयों का उल्लेख छिटपुट रूप से मिल जाता है तथापि इनमें राजसभाओं में पिशुनता करने वालों की निन्दा कृपण राजाओं तथा सरदारों को उपालम्भ तथा उन पर व्यंग्य सूम की सपरा कर्कशा नारी, राजाश्रय से वंचित कवियों की खीझ, घूसखोरों और कायस्थों की गर्हा यश की महिमा, कलि का प्रभाव कवियों का आत्मसमान, राजाओं पर कवियों का सहज दावा सेवकों में योग्यतानुसार कार्य वितरण न करने वाले राजाओं की कुत्सा वृद्धों की कामुकता विधि की विवेकहीनता दान में दिये गए बेकार पदार्थ निकम्मे सेवक गुणा भक्ति सूम जजमान की निन्दा अच्छे पंथों की प्रशंसा तथा बुरों की निन्दा कवि के बिना सभा का फीकापन आदि विषयों की चर्चा अधिक है। यह बात विशेष रूप से उल्लेख्य है कि जो नीरसता प्राय अनुवादात्मक कृतियों में दिखाई देती है उसका यहाँ अभाव है। कारण यह है कि इन संग्रहों में प्राय जिन कवियों के पद्य संगृहीत हैं वे वस्तुत ऐसे कवि थे जो भाव या रस में मग्न होकर काव्यरचना करते थे सामान्य पंडित मुनि या लोक-हितैषी न थे जो विशेष योग्यता के न रहते हुए भी चाणक्य-नीति हितोपदेश आदि का अनुवाद करने पर कटिबद्ध हो जाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि भाव भाषा रस अलंकार आदि सभी दृष्टियों से संग्रहों का नीतिकाव्य प्रशंसनीय है।

(५) फुटकर नीति कवि

१ अक्षमल या अक्खू—इनकी 'चौसबत्तीसी' जयपुर के पुण्यकरण मंदिर में सुरक्षित है। रचना का लिपिकाल संवत् १७२१ है। ३४ कुंडलिया छन्दों की इस राजस्थानी भाषा की रचना का विषय है, शील जिसमें पातिव्रत और पत्नीव्रत दोनों ही समाविष्ट हैं।

२ प्रवीण कविराय—इनका जन्म संवत् १६६२ था। संग्रह-ग्रंथों में इनके नीति के स्फुट सुन्दर पद्य प्राप्त होते हैं। इनकी शान्त रस की कविता भी अच्छी है।

३ महेश मुनि—इनकी अक्षर बत्तीसी' की रचना संवत् १७२५ में उदयपुर में की गई थी। प्रति अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर, में विद्यमान है। प्रति-संख्या ८१११ है और कुल दोहे ३४। वर्णमाला क्रम से रचित दोहों में गव छम पाप भ दि से दूर रहने की प्रेरणा की गई है।

४ भरमी कवि—इनका जन्म संवत् १७०८ में हुआ था। इनके नीति के रोचक कवित्त कालिदास हजारा में द्रष्टव्य हैं।

५. लक्ष्मीवल्लभ पठित उपाध्याय—इनकी "कवित्त बावनी" में कुल ५८ छप्पय हैं जिन्हें संवत् १७४१ में मेसुड़ा ग्राम में उपाध्यायजी के शिष्य मुनि हीरा नन्द ने लिपिबद्ध किया था। राजस्थानी में रचित इस कृति में भाव-महिमा लज्जा-महत्त्व आदि पर सुन्दर पद्य हैं। सम्भवतः ये लक्ष्मीवल्लभ वही हैं जिनका विवरण प्रमुख नीति-कवियों में दिया जा चुका है।

६ महाराज जसवन्तसिंह—मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज जसवन्तसिंह ने अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रबोध चंद्रोदय नाटक का सुन्दर अनुवाद किया।

७ जगन्नाथ—इन्होंने गुरुमहिमा' नाम की एक पुस्तिका संवत् १७६० में रची जिसे अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर में देखा। हस्तलिखित प्रति की संख्या ६१/६१ क है। ४१ पद्यों की यह चौपाई प्रधान रचना पद्मपुराण के पुरुषोत्तम नामक संदर्भ के आधार पर रची गई है। कृति में गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा तो प्रकट की गई है परन्तु रचना साहित्यिकता से शून्य है।

८ पद्‌—राजस्थानी के इस कवि के स्फुट नीति-छन्द संग्रह-ग्रंथों में देखे जाते हैं। इनका रचना-काल संवत् १७७० के लगभग है।

९. प्रश्न पुण्य पाप—किसी अज्ञाता-नामा जैन कवि की यह रचना जयपुर के काले छाबड़ों के मन्दिर [गुटका संख्या ८२ (क)] में सुरक्षित है। लिपि-काल संवत् १७७२ है और पद्य संख्या २१। दोहा चौपाई में निबद्ध इस रचना में प्रश्नोत्तर शैली प्रयुक्त की गई है। वैमन्य वेदनात्व दारिद्रय आदि के कारणों के विषय में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

१० प्रेमचन्द—इनकी 'मृत्यु महोत्सव पच्चीसी' का लिपिकाल सं० १७७८ है। दो पत्रों पर लिखित इस रचना में १७ दोहे तथा ८ सोरठे हैं। मृत्यु सुख का कारण है क्योंकि जीव पुराना घर त्यागकर नव-गृह में प्रविष्ट होता है यही इस रचना का विषय है। हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है।

११ अमरसी—अमरसिंह की गुरुचेला री बतबड़' का रचना-काल तो विदित नहीं परन्तु लिपिकाल १८वीं शती निर्धारित किया गया है। इसकी हस्तलिखित प्रति (क्रमांक १७४२) जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में विद्यमान है और १७ पत्रों पर लिपिबद्ध है। रचना प्रश्नोत्तर शैली में है। पहेलियाँ तथा नीति विषयक सुभाषित सामान्य राजस्थानी भाषा में निबद्ध हैं।

१२ भीम—इनकी 'सप्त व्यसन दूहा कुंडलिया' पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर में सुरक्षित है। प्रति का क्रमांक २२१७ है और लिपिकाल १८वीं शती। राजस्थानी की इस रचना में मांस मदिरा आदि सप्त व्यसनों का निषेध किया गया है।

१३ नागरीदास—इनके 'इश्कचमन' की हस्तलिखित प्रति बीकानेर में मोतीचन्द खजानची के पुस्तक-संग्रह (गुटका सं० ३) में देखी। ४५ दोहों की उस पूर्ण प्रति में प्रमदिपमा नीति पर ब्रजभाषा में सुन्दर दोहे हैं जिनमें फारसी-अरबी

के शब्दों की भी कमी नहीं।

१४ मुनि मान—मुनि जी की सवैया 'मानबावनी' की प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है। इस प्रति को घोघूवा ग्राम में भगवानचन्द ने सं० १८१२ में लिपिबद्ध किया था। स्वामी सेवक मित्र पुत्र आदि नीति के प्रचलित विषयों पर रचित सामान्य कृति है।

१५ बारहखड़ी—किसी अज्ञात जैन कवि की एक 'बारहखड़ी' बारी छावड़ों के मन्दिर (जयपुर) में सुरक्षित है। संवत् १८१४ में लिपिबद्ध इस खंडित रचना में कुल २४ पद्य हैं जिनमें मोह मान लोभ पाप आदि से बचने की प्रेरणा अनुप्रासमयी भाषा में दी गई है।

१६ मानचन्द—१८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में उक्त नाम के तीन जैन कवि हुए हैं। 'छिनाल पच्चीसी' तथा 'मूरख सोलही' सम्भवतः उस मानचन्द की हैं जिसका दीक्षा नाम मानवर्द्धन था। छिनाल पच्चीसी की २५ चौपाइयों में कुलटाओं के और 'मूरख सोलही' के सोलह चान्द्रायण छन्दों में मूर्खों के लक्षणों का उल्लेख है। दोनों की प्रतियाँ बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं।

१७ ब्रजवासीदास—वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी वृन्दावनवासी इस कवि ने १६ वीं शती के पूर्वार्द्ध में संस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का विविध छन्दों में सुन्दर अनुवाद किया था।

१८. उम्मेदराम—जयपुर राज्य में दूर्धविया ग्राम के वासी उम्मेदराम का जन्म सं १८ ० में हुआ और निधन सं० १८७८ में। इनकी 'सन्पोपदेश' नाम की नीति कृति जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में विद्यमान है। ३५ मात्रामुक्तक छन्दों की इस पुस्तिका को कवि ने जसवन्त नृप के लिए रचा। नीति के साधारण विषयों का सामान्य रीति से उल्लेख किया गया है।

१९ भीखार—इनकी 'उपदेश सतरी' जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है। राजस्थानी की इस रचना में बार्द्धक्य जनित विवशता तथा सन्तान की स्वार्थपरता का करुणात्मक चित्रण है। रचना का लिपि काल सं० १८३८ है और क्रमांक २२११।

२० क्षमाकल्याण—खरतरगच्छ के वाचक अमृत धर्म के शिष्य क्षमाकल्याण का रचना-काल सं॰ १८ ६ से १८७२ तक है। इनकी 'हित-शिक्षा द्वात्रिंशिका' बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है। 'बत्तीसी' के आदि तथा अन्त में एक-एक सवैया है और मध्य में ३१ बाहे। इन्द्रियसंयम विषयनिन्दा अलंकार तृष्णा आदि पर रचित इन पद्यों में यत्र-तत्र साहित्यिक भाषा भी विद्यमान है।

२१ रसिकगोविन्द—वृन्दावन वासी तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री रसिक गोविन्द ने सं० १८६५ में कलियुग रासो की रचना की। ६९ कवित्तों की इस रचना में कलि-जनित दोषों का उल्लेख है और उनसे त्राण के लिए श्री गोविन्द से

५ लक्ष्मीवल्लभ गणि उपाध्याय—इनकी 'कवित्त बावनी' में कुल ५८ छप्पय हैं जिन्हें संवत् १७४१ में मेमुड़ा ग्राम में उपाध्यायजी के शिष्य मुनि हीरानन्द ने लिपिबद्ध किया था। राजस्थानी में रचित इस कृति में भाव-महिमा सज्जा-महत्त्व आदि पर सुन्दर पद्य हैं। सम्भवतः ये लक्ष्मीवल्लभ वही हैं, जिनका विवरण प्रमुख नीति-कवियों में दिया जा चुका है।

६ महाराज जसवन्तसिंह—मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज जसवन्तसिंह ने सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रबोध चन्द्रोदय नाटक का सुन्दर अनुवाद किया।

७ जगन्नाथ—इन्होंने 'गुरुमहिमा' नाम की एक पुस्तिका संवत् १७६० में रची जिसे अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर में देखा। हस्तलिखित प्रति की संख्या ६५/६५ क है। ४१ पद्यों की यह चौपाई प्रधान रचना पद्मपुराण के गुरुगीता नामक खण्ड के आधार पर रची गई है। कृति में गुरु के प्रति यथार्थ श्रद्धा तो प्रकट की गई है परन्तु रचना साहित्यिकता से शून्य है।

८. मदू—राजस्थानी के इस कवि के स्फुट नीति छन्द संग्रह-ग्रंथों में देखे जाते हैं। इनका रचना-काल संवत् १७७० के लगभग है।

९. प्रश्न पुण्य पाप—किसी अज्ञात-नामा जैन कवि की यह रचना जयपुर के काले छाबड़ों के मन्दिर [गुटका संख्या ८२ (क)] में सुरक्षित है। लिपि-काल संवत् १७७२ है और पद्य संख्या २१। दोहा-चौपाई में निबद्ध इस रचना में प्रश्नोत्तर शैली प्रयुक्त की गई है। वैधव्य वैराग्य दारिद्र्य आदि के कारणों के विषय में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

१० प्रेमचन्द—इनकी 'मृत्यु महोत्सव पच्चीसी' का लिपिकाल सं० १७७८ है। दो पत्रों पर लिखित इस रचना में १७ दोहे तथा ८ सोरठे हैं। मृत्यु सुख का कारण है क्योंकि जीव पुराना घर त्यागकर नव-गृह में प्रविष्ट होता है यही इस रचना का विषय है। हस्तलिखित प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है।

११ अमरसी—अमरसिंह की 'पुरुषेसा री बावड' का रचना-काल तो विदित नहीं परन्तु लिपिकाल १८वीं शती निर्धारित किया गया है। इसकी हस्तलिखित प्रति (क्रमांक १४७२) जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में विद्यमान है और १७ पत्रों पर लिपिबद्ध है। रचना प्रश्नोत्तर शैली में है। पहेलियाँ तथा नीति विषयक सुभाषित सामान्य राजस्थानी भाषा में निबद्ध हैं।

१२ भीम—इनकी 'सप्त व्यसन दूहा कुंडलिया' पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित है। प्रति का क्रमांक २२१७ है और लिपिकाल १८वीं शती। राजस्थानी की इस रचना में मांस मदिरा आदि सप्त व्यसनों का निषेध किया गया है।

१३ कामरीदास—इनके 'इश्कचमन' की हस्तलिखित प्रति बीकानेर में मोतीचन्द खजानची के पुस्तक-संग्रह (गुटका सं० १) में देखी। ४२ दोहों की इस ग्रंथ मणि में प्रेमविषयक नीति पर ब्रजभाषा में सुन्दर दोहे हैं जिनमें फारसी-अरबी'

के छन्दों की भी कमी नहीं।

१४ मुनि मान—मुनि जी की सवैया 'मानबावनी' की प्रति बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है। इस प्रति को जोधपुर दान में मयाचन्द ने सं० १८१२ में लिपिबद्ध किया था। इसमें सेवक मित्र पुत्र आदि नीति के प्रचलित विषयों पर रचित सामान्य कृति है।

१५ बारहखड़ी—किसी अज्ञात जैन कवि की एक 'बारहखड़ी' ठोलिया दादाजी के मन्दिर (जयपुर) में सुरक्षित है। सम्वत् १८१४ में लिपिबद्ध इस लघु रचना में कुल ३४ पद्य हैं जिनमें मोह, मान, लोभ, पाप आदि से बचने की प्रेरणा प्रभुभावमयी भाषा में की गई है।

१६ लालचन्द—१८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में उक्त नाम के तीन जैन कवि हुए हैं। 'छिनाल पच्चीसी' तथा 'मूरख सोलही' सम्भवतः उस लालचन्द की हैं जिसका दीक्षा नाम लाभवर्धन था। 'छिनाल पच्चीसी' की २५ चौपाइयों में कुलटाओं के और 'मूरख सोलही' के सोलह चान्द्रायण छन्दों में मूर्खों के लक्षणों का उल्लेख है। दोनों की प्रतियाँ बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं।

१७ ब्रजवासीदास—वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी वृन्दावनवासी इस कवि ने १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में संस्कृत के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का विविध छन्दों में सुन्दर अनुवाद किया था।

१८ उम्मेदराय—जयपुर राज्य में हुलेंथिया ग्राम के वासी उम्मेदराम का जन्म सं० १८०० में हुआ और निधन सं० १८७८ में। इनकी 'उम्मेदरञ्जन' नाम की नीति कृति जयपुर के विद्याभूषण पुस्तकालय में विद्यमान है। ५१ मात्रापूरक छन्दों की इस पुस्तिका को कवि ने लालचन्द नृप के लिए रचा। नीति के साधारण विषयों का सामान्य रीति से उल्लेख किया गया है।

१९ भीखार—इनकी 'उपदेश सतरी' जयपुर के पुरातत्व मन्दिर में सुरक्षित है। राजस्थानी की इस रचना में वार्तमान जनित विश्वासों तथा मन्तान की स्वार्थपरता का करुणात्मक विवरण है। रचना का लिपि काल सं० १८३८ है और क्रमांक २२११।

२० धर्मवर्धनदास—खरतरगच्छ के वाचक अमृत धर्म के शिष्य क्षमाकल्याण का रचना काल सं० १८ २ से १८७२ तक है। इनका 'हित-शिक्षा द्वात्रिंशिका' बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। 'बत्तीसी' के आदि तथा अन्त में एक-एक सवैया है और मध्य में ३२ दोहे। इसमें अनेक विषयनिन्दा धर्मशील कृपणा आदि पर रचित इस बत्तीसी में कहीं-कहीं साहित्यिक आभा भी विद्यमान है।

२१ रसिक गोविन्द—वृन्दावन वासी तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री रसिक गोविन्द ने सं० १८६१ में 'कलियुग रासो' की रचना की। १६ कवित्तों की इस रचना में कलि जनित दोषों का उल्लेख है और उनसे त्राण के लिए श्री गोविन्द से

प्रार्थना की गई है।

२२ शिवदास दूबे—शिवसिंह सरोज में इनका जन्म संवत् १८११ दिया गया है और जन्म-स्थान डौंग्याखेरा। इन्होंने नीति विषयक स्फुट सुन्दर पदों की रचना की थी।

२३. वेयाब्रह्म या वेया पांडे—इनके तीन नीति-ग्रंथ प्राप्त हैं—डालमधुवृन्द, गुरसीय और सास बहू का झगड़ा। प्रथम दो तो जयपुर के काले छावड़ों के मंदिर में सुरक्षित हैं और अन्तिम वहीं के ठोलियों के मन्दिर में। डालमधु वृन्द में ग्रन्थकूप तथा मधुबन्दु' की प्रसिद्ध कथा ११ पदों में निबद्ध है। गुरसीय' के ११ पदों में नीति की सामान्य बातें हैं। सास-बहू का झगड़ा का लिपिकाल सं० १८७२ है और विषय नाम से ही स्पष्ट है।

२४ सुरत—इनकी बारहखड़ी जैन की बारहखड़ी के नाम से भी प्रसिद्ध है और राजस्थान के अनेक पुस्तक-भंडारों में प्राप्य है। जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर (क्रमांक १४०३) की प्रति में ४२ पद्य हैं और वहीं के छाबड़ों के मंदिर की खंडित प्रति (गुटका सं० १२) में ७९। प्रयुक्त छन्द को अविकसित कुंडलिया कह सकते हैं क्योंकि दोहे के चतुर्थ चरण को रोला के आरम्भ में दोहराया गया है परन्तु कुंडलिया के समान आदिम तथा अन्तिम शब्द समान नहीं है। विषय सप्त व्यसन आदि है। गुटके का लिपिकाल सं० ८८० है।

२५ बीको रीषी (ऋषि)—जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित इनकी कक्का बत्तीसी (क्रमांक २०२६) दो पत्रों पर १९वीं शती में लिपिबद्ध की गई थी। परनारी परद्रव्य परनिंदा आदि से बचने के उपदेश वर्णमाला क्रम से दिये गए हैं। भाषा राजस्थानी है।

२६ पारसीदास—इनकी बारहखड़ी' जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में विद्यमान है। १९वीं शती में लिपिबद्ध इस कृति का क्रमांक १८४८ है और भाषा ब्रजभाषा। कुल पद्य ३२ हैं जिनमें साम्प्रदायिकता-रहित नीति उपदेश हैं।

२७ बणारस सुन्दर दास—प्रज्ञातकालीन इस कवि की बावनी' बीकानेर के अभय जैन ग्रंथालय में सुरक्षित है (प्रति सं० ८०७२)। तीन पत्रों की खंडित प्रति में २८ पद्य (छप्पय कवित्त तथा सवैये) हैं। गुणों से महत्त्व माता का गौरव गुरु-महिमा आदि विषयों पर अच्छे पद्य हैं।

२८. मुरलीदास—अज्ञातकालीन मुरलीदास का विहसत-सत-सार बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय के गुटका सं० १६०।१६० में सुरक्षित है। ३६ पदों की इस प्रति में ७ दोहे २६ चौपाइयाँ और ३ सोरठे हैं। सत्यभाषण अहिंसा रामा परधन तथा परस्त्री का त्याग सत्संगति मादक द्रव्यों का निषेध आदि इनके वर्ण्य विषय हैं। जोधपुर के बागोरा नामक स्थान में गोविन्द राम ने इसकी प्रतिलिपि की थी।

२९ सिद्ध या सोम कवि—शिवसिंह सेंगर तथा मिश्र बन्धुओं ने इनके फुटकर

दोहा कवित्त छप्पय पहेली आदि का समावेश किया है। शिवसिंह सरोज तथा हस्तलिखित संग्रह-ग्रंथों में इनके नीति के कुछ पद्य प्राप्त होते हैं। जिनमें अवसर का महत्व प्राणिमात्र की नश्वरता आदि का वर्णन है। कवि-समय अभी तक अज्ञात है।

१० भगवानदास निरंजनी—इस अज्ञातकालिक कवि ने भर्तृहरि शतक का कवित्तों में सुन्दर अनुवाद किया था।

११ [illegible]—इस अज्ञातकालीन कवि ने चाणक्य नीति का सोरठों में ब्रज भाषा में अनुवाद किया।

रीतिकालीन नीतिकाव्य की समीक्षा

वर्ण्य-विषय—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नीति-विषयक जितनी मौलिक अनुवादात्मक संग्रहात्मक तथा स्फुट रचनाएँ रीतिकाल में की गईं उतनी आलोच्य युग के किसी अन्य काल में नहीं। उनका विषय-क्षेत्र इतना व्यापक है कि देखकर आश्चर्य होता है। पूर्वोक्त छह प्रकार की नीति में [illegible] विषयक नीति को छोड़ सभी पर अनेक स्वतन्त्र मौलिक काव्य इस काल में प्रणीत हुए। परन्तु वह भी सर्वथा उपेक्षित नहीं रही। फिर यह बात भी नहीं कि नीति के विभिन्न प्रकारों में परम्परागत बातों का ही उल्लेख किया गया हो। देश और काल के अनुसार नव-नव कर्तव्यों व व्यवहारों का वर्णन इस काल की कृतियों की उल्लेख्य विशिष्टता है।

वैयक्तिक नीति—यद्यपि शारीरिक स्वास्थ्य दीर्घायु आदि पर इस काल में भी कोई स्वतन्त्र-काव्य दिखाई नहीं देता तथापि काया की वह उपेक्षा भी अभिमत नहीं होती जो प्रायः जैन बौद्ध तथा भक्तकवि करते आये थे। ध्यान देने की बात है कि जैन बुधजन ने 'सतसई' में स्वास्थ्य-रक्षा के विविध उपचारों का वर्णन किया है।[1] गिरिधर कविराय भी काया को स्वस्थ तो रखना चाहते हैं परन्तु उनकी आस्था औषधियों की अपेक्षा सुरसरिता के सलिल पर अधिक है। 'निबल के बल राम' की अपेक्षा वृन्द स्वयं बलवान् बनकर कार्यसिद्धि करने की प्रेरणा करते हैं। मूँछों की सार्थकता मुख-श्री-वर्धन में नहीं अपितु [illegible] उपकार, दया-दाक्षिण्यादि गुणों में है। सुन्दर रूप भी उत्तम गुणों के समान मान्य होता है।

आदि काल तथा भक्तिकाल में धार्मिक नीति के विषयों पर किसी स्वतन्त्र-काव्य की रचना नहीं हुई परन्तु रीतिकाल में राजाश्रित [illegible] ने 'धर्मविवेक पच्चीसी' तथा '[illegible]' दो काव्य प्रस्तुत किये। [illegible] होने के कारण वे पिशुनों की कुचालों से सम्यक् परिचित थे और वाणी के संयत व्यवहार का महत्त्व भी खूब अनुभव करते थे। इसलिए उन्होंने इन कृतियों में बहुभाषण, चापलूसी तथा पैशुन्य के विरुद्ध खूब लिखा। ध्यान देने की बात है कि जहाँ भक्तिकालीन कवि धर्म [illegible] नहीं '[illegible] बराबर पाप' का [illegible] देते थे वहाँ रीतिकालीन कवियों ने

---

१ बुधजन सतसई पृष्ठ २५।२३८ ३०।२८२

अवसर पर कुछ झूठ भी बोल देने की अमृत के सत्यवत् भाषण की यथार्थ कथन के समय मार्मभेदी बन जाने को हाथ से बिगड़ी बात को वाणी द्वारा सँवार लेने की तथा विदीर्ण हृदय का उपचार मधुर वाणी से करने की प्रेरणा की है। और आश्चर्य तो यह है कि जैन कवि बुधजन ने परोपकारार्थ असत्यभाषण को भी सत्य कह दिया है।

मानसिक नीति के क्षेत्र में विद्या आदि के महत्त्व पर कोई स्वतन्त्र कृति इस काल में भी दृष्टिगत नहीं होती। लालचन्द की 'मूर्ख सोलही' तथा अज्ञातकर्तृक 'मूर्ख भेद चौपई' में लोकव्यवहार से अपरिचित लोगों का तो निर्देश कर दिया गया है परन्तु विद्या उसके साधन विद्वान् आदि पर विशेष नहीं लिखा गया। फिर भी यह बात स्मरणीय है कि रीतिकालीन अधिकतर काव्यों में छिटपुट रूप से पोथी-पत्रे और पाण्डित्य की प्रशंसा ही अधिक लक्षित होती है। वृन्द तथा बुधजन ने विद्या-सम्बन्धी अनेक उपयोगी बातों की चर्चा अपनी सतसइयों में की है। यद्यपि भैया भगवती दास भूधरदास आदि जैन कवियों ने शृंगारी काव्यों के प्रणयन की निन्दा तथा गिरिधर कविराय ने ब्रह्मज्ञान से रहित विभिन्न भाषाओं के ग्रंथों को 'गपोड़ा' कहा है तथापि अधिकतर कवियों ने विद्या की प्रशंसा पिंगल-डिंगल की तुलना शून्य-मस्तक व्यक्ति की निन्दा बासी रोटी से बुद्धि का नाश वेशानुकूल आचरण की स्तुति आदि विषयों पर पर्याप्त रचना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि युग के ऐहिकता प्रधान तथा अनेक कवियों के राजाश्रित होने के कारण रीतिकालीन नीतिकाव्यों में विद्या का महत्त्व ही अधिक प्रदर्शित किया गया है और वह धार्मिक अपेक्षा दिखाई नहीं देती जो आदि काल तथा भक्तिकाल में सुलभ है।

धार्मिक नीति पर प्रचुर पुस्तकों का प्रणयन किया गया। मन तथा इन्द्रियों के वशीकरण पर भैया भगवतीदास ने 'मन बत्तीसी' और 'पंचेन्द्रियसंवाद' की पुण्य और पाप के विवेक पर अज्ञात कवि ने 'प्रश्न पुण्यपाप' की गोपालचानक ने 'पुण्य पचव' की वीरता की प्रशंसा पर बाँकीदास ने 'सीहछत्तीसी' 'सूर छत्तीसी' तथा 'वीर विनोद' की कायरता की कुत्सा पर इसी कवि ने 'कायर बावनी' और 'मावड़ियामिजाज' की कीर्ति प्राप्ति पर गोपाल चानक ने 'कीर्ति-शतक' की और बाँकीदास ने 'सुजसछत्तीसी' की और प्रेम पर देवीदास ने 'प्रेमरत्नाकर' मायरीदास ने 'इश्कचमन' और केशीदास ने 'दीपक-बत्तीसी' की रचना की। काम क्रोधादि के वशीकरण पर जैन कवियों ने छिट पुट रूप से बहुत लिखा है परन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ बाँकीदास-कृत 'मोहमर्दन' ही उपलब्ध होता है। लक्ष्य करने की बात है कि दान दयादि विषयों पर तो अधिक स्वतन्त्र रचनाएँ जैन समाज की हैं और वीरता कायरता सुयश आदि विषयों पर राजाश्रित अनेक कवियों की। धर्म-विषयक नीति के प्रतिपादन में भ्रमर और कमलादि के पुराने अप्रस्तुत ही प्रयुक्त नहीं हुए सुयश और पराक्रम समुद्र तथा बड़वानल के उपमान भी प्रस्तुत किये गए हैं। इनके अतिरिक्त मनमर्कट ब्रह्मचर्यमहत्त्व निर्विषयता के चौपाये आदि चित्रों पर अपूर्व पद्य भी बहुत दिखाई देते हैं।

पारिवारिक नीति—इस काल की अधिकतर कृतियों में पारिवारिक जीवन प्रायः हेय नहीं माना गया। यद्यपि योसार ने 'उपदेश गतरी' में सन्तान की स्वार्थपरता का उल्लेख किया है तथापि भक्तमल ने 'शीलवर्तमी' में पातिव्रत और पत्नीव्रत की और मुरलीदास ने 'विद्वन्मनतमार' में गार्हस्थ्योपयोगी अनेक सुन्दर नीतियों की चर्चा की है। बाबा हितवृन्दावनदास ने कलिचरित्र बेली में संयुक्तपरिवार प्रथा की प्रशंसा की तथा देवाराम ने 'सास-बहू का झगड़ा' में एक परम्परागत पारिवारिक समस्या का अच्छा चित्रण किया है। इन स्वतन्त्र कृतियों के अतिरिक्त अनेक उपयोगी पारिवारिक नीतियों का उल्लेख भी जहाँ-तहाँ किया गया है। उदाहरणार्थ स्त्री-हत्या की निन्दा, विवाह के पश्चात् पुरुष का माता-पिता से अलग होना और ससुराल वालों से प्रेम, लाड़ से सन्तान का बिगाड़ तथा ताड़ना से सुधार, सन्तान के प्रति सतर्कता की आवश्यकता, पत्नी तथा पुत्र की प्रशंसा, भाई की स्नेहकामना, सास-ससुर, देवर, ननदादि के विरुद्ध पत्नी का पति के कान भरना, वृद्धावस्था में पत्नी की मृत्यु, धन का पुत्राधीन तथा भोजन का वधुओं के अधीन होना मृत्यु से भी दुःखद, घर की फूट से हानि, बासी पेटों द्वारा पितरों का श्राद्ध, कुलक्षण गृहस्थी की अपेक्षा मृगचर्मधारण की श्रेष्ठता इत्यादि। तात्पर्य यह कि उन अनेक बातों के प्रति गृहस्थों को सतर्क कर दिया गया है जिनके कारण गृहस्थी प्रायः नरकमयी बन जाया करती है।

सामाजिक नीति—रीतिकालीन सामाजिक नीति निम्नांकित वर्गों में विभाज्य है—(१) सुकवि और कुकवि, (२) स्वामी और सेवक, (३) दुष्ट और साधु, (४) विद्वान् और मूर्ख, (५) गुरु और शिष्य, (६) स्त्री, (७) वर्ग, जाति-पाँति, (८) फुटकर।

१—सुकवि और कुकवि—यद्यपि इस विषय पर बाँकीदास की 'कुकवि बत्तीसी' के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र काव्य तो दिखाई नहीं देता तथापि फुटकर पद्यों की संख्या पर्याप्त है। इसके दो कारण हैं एक तो यह कि रीतिकाल में काव्य-रचना की शिक्षा का विधिवत् प्रचार होता था, इसलिए कुशल कवियों के कानों में कुकवियों की भद्दी कविताएँ बुरी तरह खटकती थीं। दूसरा, अनेक सुकवि राजाओं की सभाओं में रहते थे और उनके निर्वाह का साधन ही कविता थी। इसलिए क्षुद्र कवियों का सामन्त-सभाओं में समादृत होना और उनका उपेक्षित रह जाना उनके जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता था। इस विषय की रचनाओं में निम्नांकित प्रकार के भाव मिलते हैं—कवियों का महाराजों पर महत्त्व दाता ... पर कवित रचना करने में पश्चात्ताप स्वाभाविक है, कुकवि की कविता को कोई मानता नहीं, कवि कीर्ति के विस्तारक होते हैं। अनेक पद्यों में उन कवियों की खीझ भी व्यक्त हुई है जिन्हें उचित गुणग्राहक के अभाव में इधर-उधर भटकना पड़ता था।

२—स्वामी और सेवक—इस विषय पर भी बाँकीदास की एक 'सेवक पच्चीसी' उल्लेख्य है जिसमें स्वतः सुजान की ... सेवकों का ...

भक्ति की सुंदर सीख दी गई है। इसके अतिरिक्त अनेक कवियों ने ऐसे पर्याप्त फुटकल पद्य रचे हैं जिनमें गुणग्राही स्वामी की प्रशंसा चुगलिया चाकरों की निन्दा सेवकों में कार्यों का यथायोग्य वितरण निर्गुण स्वामी को रिझाने के उपाय राजदरबारों में व्याप्त विषमता आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है।

३ दुष्ट और साधु दुष्टों और सज्जनों पर नीतिकाव्य की न्यूनाधिक रचना तो प्रत्येक काल में होती रही है परन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण रीतिकाल में ही दिखाई देता है। रघुनाथ की 'दुष्ट गंजन पचासली' रघुराम के सभासार नाटक' तथा गुलाब कवि के धर्मनिकाय विलास में विविध दुष्टों का विवरण सविस्तर देखा जा सकता है। परन्तु स्मरणीय बात है दुष्टों के प्रति व्यवहार में परिवर्तन। जहाँ भक्तिकालीन कवि दुष्टों को क्षमा करने को या चुप-चाप उनसे दूर हट जाने को उत्तम नीति समझते थे वहाँ ये कवि उनकी ताडना के पक्षपाती हैं तथा उन्हें अनेक प्रकार के अभिशाप भी देते हैं। इनके मत में विपद्ग्रस्त दुष्ट की रक्षा अनीति है। इन काव्यों में पारखी साधुओं के अभाव की प्रेरणा की गई है तथा सच्चे साधुओं की परीक्षा के बाईस चिह्न भैया भगवतीदास ने बाईसपरीक्षा" में वर्णित किये हैं।

४ विद्वान् और मूर्ख इस काल में मूर्खों के विषय पर लालचंद ने "मूरख-सोलही' तथा किसी अज्ञात-नामा कवि ने मूर्ख भेद चौपई" नामक दो छोटी-छोटी पुस्तकें तो लिखी हैं परन्तु विद्वानों के महत्त्व पर कदाचित आत्मविज्ञापन को अनुचित मानते हुए उन्होंने मौन रहना ही उचित समझा। फिर भी उक्त काव्यों गुरु चेला की चड्डड कुकवि बत्तीसी आदि पुस्तकों से विद्वानों तथा सुकवियों की प्रशंसा व्यंजित हो ही जाती है। विद्या और विद्वानों के महत्त्व के विषय में स्फुट पद्य तो अनेक काव्यों में देखे जा सकते हैं।

५. गुरु तथा शिष्य गुरु-महिमा के विषय पर भक्ति-काल में स्फुट पद्यों की रचना ही नहीं हुई थी सद्गुरु महिमा श्रीसानी" पुस्तक भी लिखी जा चुकी थी। भाशा तो की जाती थी कि रीतिकाल में गुरु के प्रति दृष्टिकोण में भेद हो जायगा सद्गुरु पूज्य माने जायेंगे और कुगुरु उपेक्ष्य। परन्तु जगन्नाथ की 'गुरु महिमा' के अवलोकन से विदित होता है कि गुरु चाहे कामी क्रोधी लोभी, कपटी और लंपटी भी हो तो भी शिष्य उस हरि से हीन न माने उसकी अटपटी बातों का भी प्रत्याख्यान न करे उसका गुण गान और चरणामृत पिये। शिष्यों के विषय में कोई स्वतन्त्र काव्य तो दृष्टिगत नहीं होता परन्तु 'गुरुचेला की चड्डड़' में मूढ़ या पुण्यपुस्तक की पुस्तक पढ़ाने का निषेध और स्फुट पद्यों में पात्रानुसार विद्या-दान का उपदेश कई नीतिकाव्यों में किया गया है।

६ स्त्री यद्यपि हम कह चुके हैं कि गुणग्राही कवियों ने, योग्या होने के कारण स्त्री की पर्याप्त प्रशंसा की है परन्तु स्त्री होने के नाते उसके महत्त्व पर कोई स्वतन्त्र काव्य इस काल में नहीं लिखा गया। जैन मुनियों तथा निर्गुण कवियों ने अध्यात्म मार्ग

में विघ्नरूप होने के कारण रत्री को निंद्य कहा है। प्रतापकृत "श्रीयविनोद चरित्र" में एक कुलटा की कथा है जो रहस्य प्रकट हो जाने पर आत्मघात कर लेती है। लाल चन्द ने "छिनाल पच्चीसी" में उन हाव-भावों का उल्लेख किया है जिनके द्वारा कुछ रिम कामिनियां मुग्ध और कामुक जनों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। बांकी दास ने 'वैसक वार्ता' में वेश्याओं के प्रेम की अविश्वसनीयता का उल्लेख करते हुए धनागमन के दोषों का सविस्तर वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि पातिव्रत और पतिव्रता के प्रशंसा विषयक स्फुट पद तो उपलब्ध होते हैं परन्तु स्वतन्त्र काव्य एक भी नहीं दिखाई देता।

७ वर्ण-व्यवस्था और जातिपांति—नीतिकवियों ने ब्राह्मणों और शूद्रों के विषय में तो किसी स्वतन्त्र काव्य की रचना नहीं की परन्तु सूर छत्तीसी सीह छत्तीसी वीर-विनोद आदि उपयुक्त ग्रंथ क्षत्रिय-विषयक ही हैं। जहां इन काव्यों में क्षत्रियों की वीरता की प्रशंसा है वहां बांकीदास-कृत 'वैसवार्ता' में वैश्यों की उनके कपट पूर्ण वणिज व्यापार के कारण अत्यधिक गर्हा की गई है। शूद्रों के व्यवसायों की चर्चा तो "दंपतिवाक्य विलास" में खूब की गई है परन्तु स्वतन्त्र काव्य एक भी दिखाई नहीं देता। असवर्ण क्षत्रिय और दासी के संयोग से जात विदुरों को जो वर्णसंकर, कायर और धूर्त होकर भी क्षत्रियों में परिगणित किये जाने की अभिलाषा रखते हैं बांकीदास ने 'विदुरछत्तीसी' में आड़े हाथों लिया है। जैन कवि जन्म मूलक वर्णव्यवस्था का विरोध करते हैं परन्तु हिन्दू नीतिकवियों की उसमें आस्था दिखाई देती है। जात-पांत के भूत से जैन कवि भी मुक्त दिखाई नहीं देते। जहां संस्कृत कवि "स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" कह कर सुरूप और सुगुण कन्या को कहीं से भी लेने के समर्थक थे वहां बुधजन वर्जित कुल की बाला से ब्याह का निषेध करते हैं। इसी प्रकार गिरिधर कविराय भी जहां ब्रह्म के जिज्ञासुओं के लिए वर्णाश्रम विवेक की आवश्यकता नहीं समझते वहां खान-पान के समय जात बरन और कुल का विचार कर लेने की प्रेरणा करते हैं।

फुटकर सामाजिक नीति पर लिखित उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक विषयों पर छिटपुट रूप से पद्य भी रचे गए। उदाहरणार्थ कायस्थ-निन्दा मुन्शी कसाई की कलम, सुपथों की स्तुति, कुपथों की कुत्सा, बिन रसोइए की गर्हा, मूर्ख के समक्ष विद्वान् की विवशता, समय की चाल-ढाल की लोक-विपरीतता, सुन्दर भामों की वांछनीयता तथा आडम्बरमय नामों का परित्याग, स्वाधीनता पराधीनता, चाकरी भिन्न मभाविगाड़ कैफी (शराबी) घर में नारी प्रधान, रोवती सूरत आदि। भूपाल कवि के "दंपतिवाक्य-विलास" तथा रघुराम के "समासार नाटिक" से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि सामाजिक नीति के क्षेत्र में भी ये नीति-कवि पूर्णतः जागरूक थे।

धार्मिक नीति—अन्य कवियों का तो कहना ही क्या इस काल की जैन गृहस्थों

और मुनियों द्वारा रचित कृतियों में भी वित्त का महत्त्व मुक्तकंठ से स्वीकृत किया गया है। धनोपार्जन प्रधानतः कृषि, वाणिज्य तथा कलाकौशल द्वारा होती है और इन तीनों ही पर स्वतन्त्र रचनाएँ इस काल में प्राप्त हैं। कृषि के विषय में घाघ की पद्यात्मक लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध ही हैं। शुकदेव ने वाणिज्यनीति में धन की प्राप्ति और रक्षा के उपायों का सविस्तार उल्लेख किया है। गुपाल कवि के दम्पति-वाक्यविलास में दर्जनों व्यवसायों के गुणदोषों को सरस रीति से प्रकट किया गया है। आश्चर्य और प्रशंसा की बात यह है कि इस ऐहिकता प्रधान काल के कवियों ने भी धन को चोरी घूस झूठ आदि अनुचित उपायों से प्राप्त करने की प्रेरणा प्रायः नहीं की। जहाँ कई स्थलों पर धनप्रद विद्याओं का उल्लेख भी किया गया है वहाँ संतोष की प्रशंसा भी। बाँकीदास ने 'सन्तोषबावनी' तथा मानिकदास ने 'सन्तोष तरंग' नाम की स्वतन्त्र काव्यकृतियों की रचना की है। जो धनाढ्य होकर भी अपनी सुख-सुविधा के लिए न व्यय करते हैं और न दान-पुण्य द्वारा दूसरों की सहायता, उन्हें इन कवियों ने बुरी तरह कोसा है। बाँकीदास के 'कृपणदर्पण' तथा 'कृपणपच्चीसी' में कृपणों का खूब उपहास किया गया है तथा उन्हीं की 'दातार बावनी' में दानियों की प्रचुर प्रशंसा है। किसी अज्ञात कवि ने 'दातार सूर की सवाद' में दानी को वीरों से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इन स्वतन्त्र काव्यों के अतिरिक्त दान न देने के दुष्परिणाम याचक-निन्दा धन प्राप्ति के लिए क्वचित् अनुचित उपायों का प्रयोग जप सवार, विवेकी और कलियुग के दानी धन ही सर्वोत्तम गुण घूसखोरी, कीमत के अनुसार वस्तु, जीर्ण-शीर्ण वस्तुओं के दानी उपवास तथा विरेचन के बाद कुभोजन करनेवाले व्यक्ति आदि धार्मिक विषयों पर भी बहुत मार्मिक काव्य रचना स्फुट पद्यों के रूप में प्राप्त होती है। इससे सिद्ध होता है कि रीतिकालीन कवियों की दृष्टि धन-सम्बन्धी विषयों पर अनायास ही जा पड़ती थी।

इतरप्राणि-विषयक नीति—जैन कवियों की कृतियों में जीवदया मांसभक्षण तथा मद्यपानादि का प्रश्न निषेध होना स्वाभाविक है। राजपूत नरेशों के आश्रित हिन्दू कवियों ने इस विषय पर प्रायः मौन धारण ही उचित समझा है। इन विषयों पर कोई स्वतन्त्र काव्य तो लक्षित नहीं होता अमरपाल के 'सप्तव्यसन चरित' भीम की 'सप्तव्यसन छुहा-कुंडलिया' सूरत की "बारहखड़ी" आदि में स्फुट पद्य दर्शित दिखाई देते हैं। सुरा भांग अफीम चरस पोस्त, हुक्का गाँजा आदि मादक द्रव्यों के दोष भी अनेक कवियों ने स्फुट पद्यों के रूप में लिखे हैं।

मिश्रित नीति—रीतिकालीन नीतिकाव्यों में देश काल भेद, भाग्य सदार सगुन ज्योतिष मृत्यु धर्म परलोकादि अनेक विषयों की चर्चा की गई है। भूमि के उपकारों का भी उल्लेख किया गया है और निवास-योग्य स्थान का भी। प्रवास के गुण-दोषों की भी चर्चा उपलब्ध होती है और मरुभूमि में वर्षा बस के लिए होड़ की भी। काल-विषयक नीति में जहाँ समय के मूल्य का स्वीकार किया गया है वहाँ अवसर

के महत्त्व को भी। सत्ययुग से लेकर कलियुग पर्यन्त धर्म और सत्य क्रमशः क्षीण होते जाते हैं, इस परंपरागत भावना का त्याग ये कवि भी नहीं कर सके। बाबा हित वृन्दावनदास की 'कलिचरित बेलि' तथा रसिकगोविन्द के "कलियुग रासो' में अनेक पारिवारिक तथा सामाजिक कुरीतियों का कारण कलियुग कहा गया है और उनसे रक्षा के लिए कृष्ण का आह्वान किया गया है। आदिकाल तथा भक्तिकाल की अपेक्षा इस काल में भाग्य की निरवठ उदम पर बांकीदास ने अपने नीति-परक काव्यों में अधिक बल दिया है। गोपाल बालक ने 'कर्मप्रताप' में भाग्य को कर्म के अधीन भी कहा है परन्तु कर्म रेखा की अमार्जनीयता को स्वीकार किया है। आशय यह है कि उद्योग और पुरुषार्थ के महत्त्व की जितनी अधिक आशा इस युग से अपेक्षित थी उतनी लक्षित नहीं होती। परम्परा से तो भाग्यवाद प्राप्त था ही शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता भी उसे अक्षुण्ण रखने में सहायक हुई हो तो आश्चर्य नहीं। सांसारिक सुख भोगने की जितनी प्रेरणा शृंगारिक कवियों में है उतनी हिन्दू नीति कवियों में नहीं जैन नीति-कवियों में तो उसकी मात्रा और भी कम है। एक भी ऐसा पद्य दिखाई नहीं देता जिसमें जीवन की अवधि को अनिश्चित मानकर दीर्घजीवी बनने की प्रेरणा दी गई हो। जो भी कुछ रोगोपचार किये जाते हैं वे दुःख-निवारण मात्र के लिए हैं आयु तो न तिल भर घटती है और न राई भर बढ़ती है। शृंगारिक कवियों की अपेक्षा इनमें ईश्वर धर्म और परलोक में आस्था अधिक है परन्तु परिहास के रूप में विधाता की कई भूलें इन्होंने पकड़ कर ही दी हैं। मजहब के लोभ और 'मजहबी' लोगों की, मतान्धता का जो खंडन गिरिधर कविराय ने किया है वह तो अनुपम ही माना जायगा। बांकीदास की 'नीतिमंजरी' में 'राजनीति' प्रधान है परन्तु सामान्य लोगों का भी उससे "शत्रु के प्रति हट का जवाब पत्थर' से देने की तथा उसे जैसे-तैसे परास्त करने की प्रेरणा अनायास ही प्राप्त होती है। शकुन और फलित-ज्योतिष में जैसा विश्वास आदिकाल और भक्तिकाल में क्रमशः जायसी तुलसीदास आदि की रचनाओं में पाया जाता था वैसा ही इस काल में भड्डरी की कहावतों में देखा जा सकता है परन्तु अन्य कवियों में वह अपेक्षाकृत कम है।

वर्ण्य विषय के प्रसंग में अन्त में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि यद्यपि रीतिकालीन नीतिकवियों में आदर्श व्यवहार के पक्ष भी विद्यमान हैं तथापि इस काल की प्रमुख विशेषता है व्यावहारिकता की अधिकता जो निम्नांकित प्रकार की नीतियों से स्पष्ट हो जाती है—सरल और कुटिल में मिलाप नहीं होता शत्रु छल-बल से वेध्य है अति घनिष्ठता अनादर का कारण है बलवान् निबल का सहज शत्रु है लोकापवाद से डरना ही उचित है बुरे से भी कभी हित हो ही जाता है जहाँ जाओ वहाँ से लौट कर आ सको निबल के पास उत्कृष्ट गुण का होना आपत्ति-जनक होता है भलाई का फल भी बुरा हो जाता है जैसे-तैसे स्वार्थ सिद्ध करना चाहिए यथा-सम्भव किसी को रुष्ट न करना चाहिए मूढ़ ही सज्जन दुर्जन में समदर्शी होते हैं

निस्तेज व्यक्ति की अवज्ञा होती ही है, उन्नति कठिन है और अवनति सहज इत्यादि। कहना न होगा कि इस प्रकार के ऐहिक विषयों की बहुलता तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और कवियों की आत्मानुभूति का ही परिणाम है।

रस और भाव—रसों और भावों की व्यंजना की दृष्टि से भी रीतिकाल की अधिकतर रचनाएँ उपेक्ष्य नहीं हैं। यद्यपि वात्सल्य रस को छोड़ सभी रसों की व्यंजना हुई है तथापि प्रमुख स्थान हास्य वीर और शान्त रस का है। बाँकीदास ने कृपण-पच्चीसी तथा कृपणदर्पण में कृपणों को मावड़िया मिजाज में स्त्री-स्वभाव के पुरुषों को कुकवि बत्तीसी में कुकवियों को कायर बावनी में भीरु व्यक्तियों को और वैद वार्ता में वैद्यों को हास्य का आलंबन बनाया है। गुपालकवि ने दंपतिवाक्यविलास में विविध अधम व्यवसायियों को रघुराम ने सभासारनाटिक में विभिन्न दुर्जनों तथा लहरी मिश्र को बाबा हितवृन्दावन दास ने कलिचरित बेली में और देवपाण्ड ने सास बहू का झगड़ा में परस्पर बहू को उपहासास्पद चित्रित किया है। वीर रस के भेदों में से युद्धवीर तथा दानवीर की व्यंजना ही अधिक दिखाई देती है। बाँकीदास की सूरछत्तीसी सीहछत्तीसी और वीर विनोद में तथा गोपाल चारण के वीर छत्तक में युद्धवीर सम्यक व्यंजित हुआ है। बाँकीदास की दातारबावनी तथा सुपस-छत्तीसी और अज्ञातनामा कवि के दातार सूर नो सुजस में दानवीर अच्छा प्रस्फुटित हुआ है। दीनदयाल गिरि गिरिधर कविराय तथा जन सेवकों में शान्त रसका आधिक्य है। रघुनाथ की दुष्टदमन पचावनी में रौद्र रस तथा बाँकीदास की वीरआम्भर कृतियों में रौद्र वीभत्स अद्भुत और भयानक रस भी अभिव्यंजित यत्र-तत्र हुई है। भावों में से जसराज, भगवतीदास गिरिधर कविराय आदि की रचनाओं में निर्वेद "बाईस परीक्षा" में धृति बोधक बत्तीसी वीसबत्तीसी प्रेमरत्नाकर आदि में रति सन्तोष बावनी सतोष-सुरतरु आदि में सन्तोष पंचेन्द्रिय संवादादि में ईर्ष्या गुरु महिमा में गुरुभक्ति और चमक-पच्चीसी में स्वामिभक्ति आदि भाव पुष्ट अभिव्यक्त हुए हैं।

गुण-दोष—इस काल की नीति विषयक रचनाएँ प्रसाद ओज और माधुर्य तीनों ही गुणों से युक्त दिखाई देती हैं। प्रसाद तो प्रायः सार्वत्रिक है। बाँकीदास गोपालचारण रघुनाथ आदि की रचनाओं में ओज तथा दीनदयाल गिरि भैया भगवतीदास भूधरदास गुपाल कवि आदि की रचनाओं में माधुर्य की मात्रा पर्याप्त है। नीति के फुटकर कवियों में प्रमुख कवियों की अपेक्षा इन गुणों की न्यूनता है। प्रमुख कवियों ने तो अपनी रचनाओं को यथा-सम्भव शास्त्रीय दोषों से मुक्त रखने का उद्योग किया है। परन्तु फुटकर कवियों में हतवृत्तत्व अधिक-पदत्व न्यूनपदत्व आदि दोष यत्र तत्र पाये ही जाते हैं।

भाषा—रीतिकालीन नीतिकवियों की कृतियाँ दो भाषाओं में प्राप्त हैं—ब्रज भाषा और राजस्थानी। दीनदयाल गिरि भूधर दास भगवती दास रघुराम आदि

राजस्थान से बाहर रहने वाले कवियों की कृतियाँ ब्रजभाषा में हैं। राजस्थान-वासी वृन्द देवीदास आदि कुछ कवियों ने अपनी रचनाएं ब्रजभाषा में लिखीं और बाँकीदास आसिया कृपाराम आदि ने राजस्थानी में। लक्ष्मीवल्लभ धर्मसिंह आदि जैन मुनियों की रचनाएँ राजस्थानी और ब्रजभाषा दोनों में प्राप्त होती हैं। उनकी पिंगल-रचनाओं में भी राजस्थानी का पुट विद्यमान रहता है। राजस्थान के कवियों की कृतियों में विशेषतः राजाश्रित कवियों की कृतियों में फारसी अरबी आदि के नफो (नफा) खारज (खारिज) पोशाक आदि तद्भव शब्द अन्यप्रान्तीय लेखकों की कृतियों की अपेक्षा कुछ अधिक ही लक्षित होते हैं। राज-दरबारों में यवन-संस्कृति का प्रभाव ही इसका कारण प्रतीत होता है। कुछ मुनियों की भाषा में उनके देशाटन के कारण पंजाबी आदि के भी शब्द दृष्टिगत होते हैं। रण स्म दरण आदि के स्थान पर रन्न स्सम ससम्न आदि में द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग भी राजस्थान के कवियों की रचनाओं में पंजाबी की परम्परा के अनुसार दिखाई देता है। अधिकतर कवियों ने अपनी भाषा को सुबोध ही रखने का यत्न किया है परन्तु कई कवियों ने बीच-बीच में हास्यास्पद टूटी-फूटी संस्कृत के श्लोक भी रख दिये हैं। प्रमुख कवियों की भाषा साफ सुथरी तथा सुगठित है परन्तु अधिकतर फुटकर कवियों में अरबी के तथा विकृत शब्द भी अनवरत देखे जा सकते हैं। कुशल कवियों ने भाषा को प्रभविष्णु बनाने के लिए रूढ़ियों और लोकोक्तियों का भी यथास्थान ग्रहण किया है।

काव्य-विभाग—यद्यपि इस काल में रघुराम-कृत 'सभासार नाटक' नाम से दृश्य काव्य का आभास देता है परन्तु आधुनिक दृष्टि से वह श्रव्य काव्य ही है। प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के अनुवाद किये गये परन्तु वे श्रव्य-रसप्रधान हैं। नीति की शेष रचनाएँ तीन वर्गों में विभाज्य हैं—१ मुक्तक २ प्रबन्ध ३ निबन्ध।

१ मुक्तक-काव्य—इस काल में नीति-विषयक जो रचनाएँ प्रस्तुत की गईं उनमें संख्या और कवित्व की दृष्टि से मुक्तक का ही स्थान श्रेष्ठ है। जसराज भैया भगवतीदास वृन्द धर्मसिंह गोपाल वानक भूधरदास गिरिधर कविराय गणपति भारती कृपाराम बारहठ बाँकीदास बुधजन दीनदयाल आदि के नीति-मुक्तक हमारे साहित्य के भीगहक हैं। वस्तुतः नीति की बात जितने मार्मिक रूप से मुक्तक में कही जा सकती है कदाचित् उसी ढंग से प्रबन्धकाव्य में नहीं। नीति-विषयक प्रबन्ध-काव्य की रचना भी असम्भव तो नहीं परन्तु ऐसा प्रतिभाशाली कवि इस काल में कोई दिखाई नहीं देता। अस्तु मुक्तकों के रचयिताओं ने अपनी रचनाएँ संग्रह-रूप में की और संगृहीत पदों की संख्या के अनुरूप उन्हें पच्चीसी बत्तीसी छत्तीसी बावनी पंचासनी, सतरी बहत्तरी शतक अष्टोत्तरी (१०८ पदों की रचना) और सतसई नाम दिये। पद, कथा आदि की संख्या के अनुसार कृतियों का नामकरण भारत में चिरकाल से प्रचलित है। ललितापंचकम् गंगाष्टकम् ज्ञानदशकम् बैतालपंचविंशतिका सिंहासन-द्वात्रिंशिका, चौरपंचाशिका शुक-सप्तति नीतिशतकम् गाहा-सतसई आदि

संस्कृत और प्राकृत की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इन्हीं के अनुकरण पर नीतिकाव्य-कारों ने भी अपनी पच्चीसी बत्तीसी छत्तीसी बावनी सतक आदि की रचना की। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसे संग्रहों में पद्य न्यूनाधिक भी दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ गोपाल चालक के पूर्वोक्त चारों शतकों में से किसी एक की भी पद्य-संख्या स्वनाम को सार्थक नहीं करती।

१ प्रबन्ध काव्य—इस वर्ग के अन्तर्गत गुपाल कवि के दंपति वाक्य विलास, रघुराम के 'सभासार नाटक' मनरंग लाल के 'सप्तव्यसन चरित्र' और प्रज्ञातकर्तृक 'सीमाविनोद चरित्र' को रखा जा सकता है। ये कृतियाँ आकार तथा प्रबन्ध की दृष्टि से निम्नलिखित निबन्धकाव्यों से उत्तम हैं।

२ निबन्ध काव्य—भैया भगवतीदास का 'पंचेन्द्रिय संवाद', देवा ब्रह्म का 'काम मधु बूंद', और 'सास-बहू का झगड़ा' आदि रचनाएँ इस वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

सामान्य रूप से कह सकते हैं कि प्रबन्धात्मक और निबन्धात्मक रचनाओं की अपेक्षा मुक्तक रचनाएँ अधिक कवित्वपूर्ण और प्रभविष्णु हैं परन्तु उपर्युक्त दंपति-वाक्य विलास और सभासार नाटक' अपवाद-स्वरूप हैं।

शैली—रचनाओं की संख्या के समान ही शैली की दृष्टि से भी नीतिकाल पूर्ववर्ती कालखण्ड की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। इसमें निम्नांकित शैलियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है—१ वर्णनात्मक २ उपदेशात्मक ३ ऐतिहासिक ४ सम्वादात्मक ५ संख्यात्मक ६ संवादात्मक ७ कथात्मक ८ रूपक काव्य शैली ९ अन्याप देशात्मक १० व्याख्यात्मक ११ सम्बोधनात्मक १२ व्यंग्यात्मक १३ ककहरा शैली।

इनमें से प्रथम चार शैलियों के निदर्शन तो वृन्द गोपाल चालक आदि कवियों की रचनाओं में सुलभ हैं। त्यागदास के हितोपदेश में संख्यात्मक शैली, गुपाल कवि के दंपतिवाक्यविलास में संवादात्मक शैली मनरंगलाल के 'सप्तव्यसन चरित्र' में कथात्मक शैली, भगवतीदास के पंचेन्द्रियसंवाद' में रूपक शैली बांकीदास की सीह छत्तीसी' में अन्यापदेशात्मक शैली दीनदयाल गिरि के अन्योक्ति कल्पद्रुम' में संबोधनात्मक शैली बांकीदास की 'कृपण पच्चीसी' में व्यंग्यात्मक शैली सूरत की 'बारह खड़ी' में ककहरा शैली आदि का प्रयोग सहज ही देखा जा सकता है। प्रायः इन सभी शैलियों का न्यूनाधिक प्रयोग संस्कृतादि प्राचीन भाषाओं में नीतिकाव्य में देखा जा चुका है। आश्चर्य तो यह है कि इन कवियों का पन्द्रह तिथि सप्तवार आदि शैलियों में रचित कोई ग्रंथ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया।

छंद—रीतिकालीन नीति कवियों ने मुख्यतः दोहा सोरठा कवित्त सवैया, छप्पय और कुंडलिया छन्दों का प्रयोग किया है। चौपाई चौबोला त्रिभंगी मालिनी हाग पद्धरि आदि छन्दों का भी कहीं-कहीं प्रयोग दिखाई देता है। अधिकतर प्रयोग मात्रिक छन्दों का ही किया गया है परन्तु रघुराम ने मालिनी' वर्णवृत्त का भी व्यव-

व्यवहार किया है। कई कवियों ने एक-एक कृति में अनेक छन्दों का व्यवहार किया है कई ने एक-एक कृति में एक ही छन्द का। जैसे, धर्मसिंह की छप्पय बावनी में केवल छप्पय छंद प्रयुक्त किया गया है तो समसार नाटिक' में अनेक छन्दों का। फिर कई कवियों के नाम से छन्दों में भ्रम होने की भी सम्भावना है क्योंकि काल और प्रदेश के कारण छन्दों के नाम भी परिवर्तित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय तथा जिनहर्ष (जसराज) की कवित्त-बावनियों में छप्पय का प्रयोग दिखाई देता है। पृथ्वीराज रासो में छप्पय' के अर्थ में 'कवित्त' का प्रयोग देख ही चुके हैं। इसी प्रकार जिनहर्ष की मातृका-बावनी में सवैये को कवित्त तथा अनेक कवियों की रचनाओं में कवित्त को इकतीसा सवैया कहा गया है। धर्मसिंह की कुंडलिया-बावनी में कुंडलिया की समाप्ति पर सातवें चरण के रूप में प्रथम चरण के कुछ शब्दों की आवृत्ति टेक के समान की गई है। इससे अनुमान होता है कि कुंडलिया के सस्वर पाठ के पश्चात् प्रथम चरण को दोहराया जाता होगा। गोपाल बालक के कीतिग्रतक' में अन्त्यानुप्रास चौबोला के चारों चरणों में न होकर, केवल प्रथम और द्वितीय में तथा तृतीय और चतुर्थ में है। बांकीदास ने नीतिमंजरी में 'बड़ो दूहो' और दोहो दुवैरो' का भी प्रयोग किया जिनके लक्षण बांकीदास के विवरण में दिये जा चुके हैं।

अलंकार—चूँकि नीति-कवियों का मुख्य उद्देश्य भावोन्मेष नहीं पाठकों के मन पर नैतिक मर्मों को अंकित करना होता है इसलिए इनकी रचनाओं में अर्थालंकारों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। तो भी अनुप्रास लाटानुप्रास वीप्सा तथा यमक का व्यवहार यत्र-तत्र दिखाई देता ही है। अर्थालंकारों में से दृष्टान्त और अन्योक्ति का प्रयोग अन्यों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है क्योंकि दृष्टान्त-समर्थित नीति अधिक हृदयग्राही हो जाती है और अन्योक्ति व्यंग्यार्थ के विशेष चमत्कार से हृदय को तुरन्त आह्लादित कर देती है। वैसे तो अधिकतर कृतियों में दृष्टान्त और अन्योक्तियाँ यत्र-तत्र दिखाई देती ही हैं परन्तु भगवतीदास की दृष्टान्त-पच्चीसी वृन्द सतसई और दीनदयाल की दृष्टान्त-तरंगिणी में दृष्टान्तों की तथा गणपति भारती के अन्योक्ति-वर्णन बांकीदास की सीह-छत्तीसी और धवल-पच्चीसी तथा दीनदयाल के कल्पद्रुम में अन्योक्तियों की छटा देखते ही बनती है। शेष अर्थालंकारों में से उपमा रूपक उत्प्रेक्षा, आवृत्ति दीपक निदर्शना और अर्थान्तर-न्यास का प्रयोग अधिक दिखाई देता है।

रीतिकालीन नीति-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ

१ नीति के जितने कवि इस काल में प्रस्फुटित हुए उतने न आदि काल में न भक्ति काल में।

२ नीतिविषयक जितनी मौलिक, अनूदित संग्रहात्मक तथा स्फुट कृतियाँ इस काल में प्रस्तुत की गईं उतनी किसी अन्य काल में नहीं।

३ इतर प्राणिविषयक नीति को छोड़कर सब प्रकार की नीति पर अनेक

स्वतंत्र काव्यों का प्रणयन किया गया ।

४ शारीरिक स्वास्थ्य, रोगनिवारणादि पर यथेष्ट बल दिया गया तथा वाचिक नीति पर स्वतंत्र काव्यों की रचना हुई ।

५ वीरता, कायरता, कीर्ति, श्रम और संयम पर अनेक काव्यों का निर्माण हुआ ।

६ पारिवारिक जीवन उपेक्ष्य नहीं रहा, काव्य बन गया ।

७ स्वामी, सेवक, सुकवि और कुकवि पर अत्यधिक रचना हुई ।

८ दुष्ट जन उपेक्ष्य और क्षम्य नहीं रहे, ताड़न और अभिशापों के पात्र बने ।

९ शृंगारी कवियों को छोड़कर प्रायः सभी कवियों का जन्ममूलक वर्णव्यवस्था तथा जात-पाँत में विश्वास पाया जाता है ।

१० वेश्यावृत्ति तथा कुमटात्व के विरोध में तो काव्य लिखे गये परन्तु स्त्री के महत्त्व का परिचायक कोई स्वतंत्र काव्य दिखाई नहीं देता ।

११ धन के महत्त्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकृत किया गया परन्तु अनैतिक उपायों से उसके उपार्जन का प्रायः निषेध किया गया ।

१२ वदान्यता की प्रशंसा तथा कृपणता की निन्दा पर कई काव्य प्रणीत हुए ।

१३ मांस, सुरा, अफीम आदि मादक द्रव्यों का अराजाश्रित कवियों विशेषतः जैन कवियों ने उग्र खण्डन किया ।

१४ आदर्श की अपेक्षा दृष्टि व्यावहारिकता पर अधिक केंद्रित रही । देश, काल, पात्रादि को देख कर उचित व्यवहार की शिक्षा दी गई ।

१५ उद्यम के महत्त्व का तो पर्याप्त वर्णन किया गया परन्तु भाग्य को अभिभूत करने की शक्ति उस में नहीं दिखाई गई ।

१६ जैन कवियों की अपेक्षा अजैन कवियों ने सांसारिक सुखों को अधिक भोग्य कहा ।

१७ शकुन, ज्योतिष, कलियुग आदि के प्रभाव में आस्था इस काल में भी क्षीण नहीं हुई ।

१८ प्रमुख कवियों की रचनाएँ प्रायः सरस और भावपूर्ण हैं तथा उन में हास्य, वीर और शान्त रस प्रमुख हैं ।

१९ अधिकतर रचनाएँ ब्रजभाषा और राजस्थानी में की गईं । कुछ एक रचनाओं में गुजराती, पंजाबी आदि के भी शब्द विद्यमान हैं ।

२० यद्यपि प्रबन्ध और निबन्ध रूप में भी काव्य-रचना हुई तथापि प्राधान्य मुक्तक रचनाओं का ही है ।

२१ अधिकतर रचनाएँ पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी आदि के रूप में की गईं परन्तु छन्दों की संख्या अधिकतर नामानुसारिणी नहीं है ।

२२ अन्य छन्दों की अपेक्षा दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय और कुंडलिया

छन्दों का प्रयोग बहुत अधिक किया गया ।

२३ अन्य अलंकारों का तो प्रयोग हुआ ही दृष्टान्त और अन्योक्ति पर तो स्वतंत्र काव्यों की भी रचना हुई ।

२४ सप्तवार और पन्द्रह-तिथि शैलियों के अतिरिक्त प्राय: पूर्वोक्त सभी शैलियाँ व्यवहृत की गईं । सम्बोधनात्मक शैली तो इसी काल में दिखाई दी ।

२५. ऐहिकता की प्रधानता के कारण सामान्य जनों के लिए जितना उपयोगी इस काल का नीतिकाव्य है, उतना किसी अन्य काल का नहीं ।

— • —

षष्ठ अध्याय

पूर्ववर्ती नीति-काव्य का हिन्दी-नीतिकाव्य पर प्रभाव

प्रायः प्रत्येक साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्यों का किसी-न-किसी रूप में स्वाभाविक मात्रा में ऋणी होता है। जहाँ वह पूर्ववर्ती साहित्यों से भाव, भाषा, शैली, छन्द, अलंकार आदि कई बातें ग्रहण करता है, वहाँ परवर्ती साहित्यों को अपनी कतिपय विशेषताओं से प्रभावित भी करता है। हिन्दी का नीति-काव्य भी उक्त नियम का अपवाद नहीं है। वह भाव, भाषा, रस, अलंकार, विधान, शैली और छन्द सभी बातों में पूर्ववर्ती साहित्यों का थोड़ा-बहुत ऋणी है ही।

(१) भाव—वैयक्तिक नीति के क्षेत्र में वैदिक तथा संस्कृत-नीतिकाव्य में शरीर की पवित्रता, दीर्घायु, स्वास्थ्य तथा आत्म-रक्षा पर बहुत बल दिया गया है। सम्पत्ति, पत्नी और पृथ्वी का परित्याग करके भी अपनी रक्षा की प्रेरणा की गई है। पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के नीति-काव्यों में प्रायः शरीर को मलिन, दुर्गन्धमय और नश्वर बताकर उसकी उपेक्षा पर ही बल दिया गया है। हिन्दी नीतिकाव्य इन दोनों ही विचारों से प्रभावित है। वीर-काव्यों के रचयिताओं ने यश की तुलना में शरीर को नगण्य कहा है, भक्तिकाल के अधिकतर कवियों ने काया को कलुषित और नश्वर कह कर उसकी उपेक्षा पर बल दिया है और रीति-कालीन कवियों ने उसे स्वस्थ तथा चिरायु बना कर सुख भोगने की प्रेरणा दी है।

मानसिक नीति के क्षेत्र में भी इसी प्रकार का प्रभाव भेद दृष्टिगत होता है। जहाँ वैदिक तथा संस्कृत-नीति-काव्य विद्या-माहात्म्य का बखान करते-करते नहीं थकते और सन्तान को निरक्षर रखने वाले जनकों को वैरी और शत्रु कहते हैं वहाँ आत्म साक्षात्कार पर अत्यधिक बल देने वाले प्राकृत व अपभ्रंश के कवि पोथी-पंडितों की उपेक्षा ही हितकर समझते हैं। इस क्षेत्र में हिन्दी-सन्त-कवि प्राकृत तथा अपभ्रंश कवियों के अधिक ऋणी हैं और अन्य कवि संस्कृत-नीतिकाव्य के।

धार्मिक क्षेत्र में सच्चरित्रता और सद्गुणों के महत्त्व पर उपर्युक्त सभी साहित्य सहमत हैं। हिन्दी-नीतिकाव्य इस क्षेत्र में उक्त सभी साहित्यों का समान रूप से ऋणी है।

२ पारिवारिक नीति—पारिवारिक नीति के क्षेत्र में यद्यपि हिन्दी के पूर्ववर्ती सभी साहित्यों में माता-पिता को पूज्य, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य, बहिन भाइयों को स्नेह-भाजन तथा पत्नी को जीवन-सखा कहा गया है तो भी पालि आदि के नीतिकाव्य

में इन सभी सम्बन्धों को मोक्ष-मार्ग का बाधक और बन्धन कह कर आत्मसाधना को ही श्रेयस्कर माना है। हिन्दी का पारिवारिक नीतिकाव्य अधिकांश में पालि आदि से ही प्रभावित है। वह इन सम्बन्धों को सत्यतः झूठा मानता हुआ भी इनके निर्वाह की यत्किंचित् प्रेरणा करता है। वीरकाव्य रामकाव्य तथा रीतिकालीन काव्यों में पारिवारिक कर्तव्य निबाहने की प्रेरणा अधिक दिखाई देती है।

३ सामाजिक नीति—वैदिक नीतिकाव्य तो गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानने और चारों वर्णों से प्रेम करने की शिक्षा देता है परन्तु परवर्ती संस्कृत काव्य में वर्ण-व्यवस्था उत्तरोत्तर जन्म मूलक होकर जात-पात का रूप धारण कर गई। ब्राह्मण अत्यन्त पूज्य हो गये तथा शूद्र अत्यन्त हेय और अछूत। जन्म से ऊँच-नीच मानने के सिद्धान्त का खण्डन पालि तथा प्राकृत नीतिकाव्यों में उपलब्ध होता है। अपभ्रंश-नीतिकाव्य में फिर जात-पात अपना सिर उठाती हुई दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी के सामाजिक नीतिकाव्य में दोनों ही विचारधाराएँ लक्षित होती हैं। नाथों तथा सन्तों ने जन्म-मूलक भेद भाव का तीव्र खण्डन किया तो तुलसी आदि ने जन्म मूलक व्यवस्था तथा ऊँच-नीच का पुनः प्रतिपादन। कर्म-प्रधान और जन्म प्रधान दोनों ही विचारधारा का प्रभाव हिन्दी-नीति-साहित्य में यत्र-तत्र लक्षित होता है।

स्त्री का स्थान—वैदिक नीति-काव्य में स्त्री सम्मान्य थी परन्तु उत्तरोत्तर उनका आदर कम होता गया। संस्कृत-नीति-काव्य की अपेक्षा भी उसका मान पालि प्राकृत तथा अपभ्रंश में न्यून हो गया। कारण पालि आदि के साहित्य अधिकतर वराग्य प्रवण बौद्ध-जैन कवियों द्वारा रचित हैं और आध्यात्मिक साधनाओं में बाधक होने के कारण नारी उनमें निन्द्य मानी गई। हिन्दी नीति-काव्य में भी नारी का स्थान स्पृहणीय नहीं है। रीतिकालीन शृंगारी-काव्य में उसके रूप-लावण्य की प्रशंसा तो बहुत है परन्तु वहाँ वह भोग-सामग्री के रूप में प्रशंसा की पात्र बनी है देवी के रूप में श्रद्धेय नहीं।

वेश्या—वेश्या-प्रथा चिरकाल से भारतीय समाज का एक कलंक रही है। मानुष धन प्रतिष्ठा आदि का नाशक होने के कारण वेश्यागमन का जैसा उग्र विरोध संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं के नीति-कवियों ने किया वैसी ही अभिव्यक्ति प्रायः समूचे हिन्दी-नीतिकाव्य में भी हुई। यह बात दूसरी है कि कहीं-कहीं उनसे अनेक कलाओं की शिक्षा ग्रहण करने की भी प्रेरणा दिखाई देती है क्योंकि उनका अनेक कलाओं में कुशल होना अनिवार्य माना जाता था।

गुरु—आध्यात्मिक और लौकिक पथ प्रदर्शक होने के कारण गुरु और आचार्य भारतीय समाज में सदा ही विशिष्ट स्थान तथा सम्मान के अधिकारी रहे हैं। इसी कारण संस्कृत पालि आदि के नीतिकाव्यों में उन्हें अनन्त प्रत्यक्ष पूज्य कहा गया है। अक्षर ज्ञान के दाता गुरु की अपेक्षा आध्यात्मिक रहस्य अवगत कराने वाला गुरु श्रेष्ठतर माना गया है। हिन्दी-नीतिकाव्य में गुरुपूजा की परम्परा तो पूर्ववर्ती काव्यों से ही

परन्तु इसमें गुरु को कहीं तो भगवान् के समान मान्य कहा गया है और कहीं उससे भी अधिक पूज्य।

राजा—प्राचीन भारत में राजा वंश-क्रमानुगत भी होते थे और प्रजा द्वारा निर्वाचित भी। वैदिक काव्य में नागरिकों को तेजस्वी तथा गुणी राजा निर्वाचित करने तथा उसे सहयोग देने की शिक्षा मिलती है। अत्याचारी राजाओं को सिंहासन-च्युत करने के सन्देश भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु जहाँ शासक वंश-क्रमानुगत होते थे, वहाँ प्रजा को उनका आदर-सम्मान करने की प्रेरणा ही दिखाई देती है क्योंकि राजा देवताओं के अंशों से निर्मित माना जाता था। उससे कुछ दूर रहने में ही मंगल माना जाता था क्योंकि कृद्ध काल एक को ही कवलित करता है परन्तु कुपित नरेश समग्र वंश का ही उच्छेद कर देता है। अधिकतर हिन्दी-साहित्य की रचना विदेशीय स्वच्छन्द शासकों के काल में हुई अब 'राजा करे सो न्याव' की उक्ति चरितार्थ होती थी। अतः उसमें राजाज्ञा के पालन पर विशेष बल दिया गया। शासक की निरंकुशता के कारण उस पर विश्वास न करने की शिक्षा भी दी गई।

४ आर्थिक नीति—वैदिक काव्य में धन की उपादेयता की बार-बार अभिव्यक्ति हुई है परन्तु पापार्जित धन को नष्ट करने की उदात्त भावना भी लक्षित होती है। संस्कृत-नीति-काव्य में धन की महत्ता की तो प्रचुरता है परन्तु उपार्जन रक्षण व्यय आदि में दुःखकर होने से कहीं-कहीं उसे निन्द्य भी कहा गया है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में कहीं-कहीं धन की प्रशंसा भी है परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होने के कारण वह प्रायः बन्धन-रूप ही माना गया है। इन दोनों विचारधाराओं से प्रभावित हिन्दी नीति-काव्य में धन की प्रशंसा और निन्दा दोनों ही मिलती हैं। भक्तिकाल के कवि जहाँ सम्पत्ति की निन्दा करते नहीं अघाते वहाँ रीतिकालीन कवि प्रायः इसका गुणगान करते ही दिखाई देते हैं। लक्ष्मी की चंचलता और याचना की निन्दा करने में हिन्दी के नीति-काव्यकार पूर्ववर्ती साहित्यकारों से प्रभावित हैं।

५. इतर प्राणि विषयक नीति—वैदिक काव्य में जो आदि उपयोगी प्राणियों की रक्षा तथा सर्प आदि हानिकारक जीवों की हिंसा की प्रेरणा मिलती है। प्राणि मात्र को मित्र की आँख से देखने का उपदेश भी विद्यमान है तो युद्ध में शत्रु-संहार भी कर्तव्य कहा गया है। संस्कृत-नीतिकाव्य में मांस को मांस-वर्धक कहकर अनिवार्यता की अवस्था में मानव-जीवन के मूल्य को उनके जीवन से अधिक मूल्यवान् भी बताया गया है। पालि प्राकृत आदि के साहित्यों में जीव-दया विशेष कर्तव्य, अहिंसा परम धर्म तथा मांस भक्षण अत्यन्त निन्द्य हो गया है। हिन्दी का अधिकतर नीति काव्य इस क्षेत्र में पालि आदि से ही विशेष प्रभावित है।

६. विविध नीति—विविध नीति के क्षेत्र में वैदिक काव्य उद्यम का ही प्रवर्तक है भाग्यवाद का नहीं। परन्तु परवर्ती संस्कृत-काव्य में उद्यम की प्रशंसा होते हुए भी दैव की अपरिहार्यता पर भी बल दिया गया है। आलस्य-परित्याग तथा उद्योग की

वर्णन पालि आदि के नीतिकाव्य में बहुत उपलब्ध होती है परन्तु "भाग्य की अमिट रेखा" का उल्लेख उनमें भी कम नहीं है। सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं का कारण पूर्वकृत कर्म माना गया है। संसार के मिथ्या नश्वर और त्याज्य होने का विशेष उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। परन्तु परवर्ती संस्कृत पालि आदि के साहित्यों में यह भावना बढ़ती गई है और सांसारिक भय दुःख भास गए हैं। स्थान और काल के महत्त्व का निरूपण संस्कृतादि के नीतिकाव्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। हिन्दी नीतिकाव्यों पर इन सभी बातों का थोड़ा-बहुत प्रभाव निस्सन्देह लक्षित होता है।

इसके अतिरिक्त कई नैतिक सुविचार समान रूप से संस्कृत प्राकृत और हिन्दी भाषाओं में उपलब्ध होते हैं और बरबस यह मानने की प्रेरणा करते हैं कि एक सुन्दर विचार को विभिन्न भाषाओं के कवियों ने उत्तरोत्तर कुछ एक पहचान का सामान्य उपयोग किया है। याचने से मनुष्य लघुता पाता है इस नैतिक तथ्य को कवियों ने विष्णु-वामन की कथा द्वारा यों व्यक्त किया है—

याचना हि पुरुषस्य महत्त्वं नाशयत्यखिलमेव तथा हि।
सद्य एव भगवानपि विष्णुर्वामनो भवति याचितुमिच्छन्॥[1]

बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुई हुआ सोइ।
जइ इच्छहु बड्डत्तणउ देहु म मग्गहु कोइ॥[2]

मांगे घटत रहीम पद, कितो करो बढ़ि काम।
तीन पग वसुधा करी, तऊ बावनै नाम॥[3]

(७) भाषा—हिन्दी के नीति-कवि भाषा के क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती साहित्यों के आभारी हैं। इनके नीतिकाव्यों में से ऐसे सैकड़ों पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनकी भाषा पर संस्कृतादि प्राचीन भाषाओं की अमिट छाप दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—

(क) भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।
समुद्रमथनाल्लेभे हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम्॥[4] (अज्ञात कवि)

भाग्य सर्वत्र फलत है, न च विद्या पौरुष सरल।
हरि हर मिल सागर मथ्यो हरको मिल्यो गरल॥[5]
(गिरधर कविराय)

(ख) हियडा संकुडि मिरिय जिम इंदिय पसरु निवारि।
जित्तिउ पुज्जइ पंगुरणु, तित्तिउ पाउ पसारि॥[6] (सोमप्रभ)

---

१ सुभाषित रत्नाकर, पृष्ठ ७१।२८
२ पुरानी हिन्दी पृष्ठ १३४।६२
३ रहिमन विलास पृष्ठ १२।१४६
४ सु० र० भा०, पृष्ठ ६१।१०
५ गिरिधर कविराय कुंडलिया पृष्ठ १६।१०२
६ हि० का० धा०, पृष्ठ ४१०।१११

अपनी पहुँच बिचारि कै, करतब करिये दौर ।
तेते पाँव पसारिये जेती लांबी सौर ॥[1] (वृन्द)

(८) रस—कवि का कौशल वर्ण्य-विषय को रसपूर्ण या भावपूर्ण ढंग से कहने में ही होता है। अच्छी बात भी नीरस और सामान्य ढंग से कही जाय तो उक्ति-मात्र रहती है काव्य नहीं बन पाती। यही कारण है कि प्राचीन नीति-कवियों ने नित्य नैतिक उक्तियों को सरस बनाने का भरसक उद्योग किया था। हिन्दी-कवियों पर उन की सरस अभिव्यंजना का प्रभाव निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है। संस्कृत के महाकवि माघ भाव और रस की अभिव्यंजना यों करते हैं—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥[2]

मिट्टी को भी पाँव से ठुकराओ तो सिर पर सवार हो जाती है। अपमान को चुप चाप सह लेने वाले से तो मिट्टी ही श्रेष्ठ है। इसी भाव को वृन्द ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

हीन जानि न विरोधिये, यह तो तन दुखदाय ।
रजहू ठोकर मारिये, चढ़ै सीस पर आय ॥[3]

अपभ्रंश-काव्य में काया-वर्णन में बीभत्स रस की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। कबीर ने सम्भवतः उन्हीं भावों को परंपरा से ग्रहण किया होगा। जैसे—

माणुसु देहु होइ विरिवि-विद्दरगु । सिरेहि णिम्मदव हड्डह पोट्टलु ।
अण्हो पोट्टलु परिपूर्णहि भोयण । णाडिहि भणय रुहाणहो भायण ॥[4]
(स्वयंभू)

'कबीर' कहा गरबियौ, चाम लपेटे हड्ड ।
हैवर ऊपर छत्र सिरि, ते भी देवा खड्ड ॥[5]

(९) अलंकार—अलंकारों के क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती नीति-काव्यों ने हिन्दी के नीति-काव्य को कम प्रभावित नहीं किया। यह प्रभाव अर्थालंकारों में ही अधिक दृष्टि गत होता है। जैसे आसन की अपेक्षा गुणवत्ता की महत्ता एक संस्कृत कवि ने यों व्यक्त की है—

गुणैरुत्तुंगतां याति नोच्चैरासनसंस्थितः ।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते ॥[6]

1 सतसई सप्तक, वृन्द सतसई पृष्ठ २२८।१८
2 शिशुपाल-वध सर्ग २।४६
3 सतसई सप्तक वृन्द सतसई पृष्ठ २२१।४५१
4 हिन्दी-काव्यधारा, पृष्ठ १२९
5 कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१।११
6. सु० र० भा०, पृष्ठ ६१

ऊँचे बैठे ना लहै, गुन बिन बड़पन कोइ ।
बैठो देवल सिखर पर, वायस गरुड़ न होइ ॥[1] (वृन्द)

दोनों पद्यों में अर्थान्तरन्यास अलंकार है और काक-गरुड़ के दृष्टान्त द्वारा प्रतिपाद्य का समर्थन किया गया है।

कुसंगति के कारण होने वाले गुणों के नाश तथा विपत्तियों के आगमन का वर्णन जोइन्दु ने इस प्रकार किया है—

भल्लाहँवि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेहिं ॥[2]

बाबा दीन दयाल गिरि ने गुण-नाश का स्थान 'मान-हानि' को देकर उसी अलंकार को इन शब्दों में ले लिया है—

नीच संग तें सुजन को मानि-हानि ह्वै जाय ।
लोहू कुटिल के संग तें सहै अगिन घन घाय ॥[3]

(१०) काव्य विधान— हिन्दी का पूर्ववर्ती नीतिकाव्य चार वर्गों में विभाज्य है— १ प्रबन्ध २ मुक्तक ३ निबद्ध-मुक्तक ४ पद।

१ प्रबन्ध — इस वर्ग के अन्तर्गत हम संस्कृत प्राकृतादि की उन कथाओं को लेते हैं जो नैतिक शिक्षा के लिए ही लिखी गईं उदाहरणार्थ महाभारत के शान्ति पर्व में मत्स्योपाख्यान तथा कपोतोपाख्यान और प्राकृत की ज्ञानपंचमी कथा आदि। हिन्दी में ठक्कुरसी का कृपणचरित्र जान कवि का सतवन्ती सत आदि रचनाएँ इस वर्ग में सन्निवेश्य हैं।

२ मुक्तक—संस्कृत में तो चाणक्य-नीति नीतिद्विषष्ठिका आदि अनेक स्वतंत्र नीति-काव्य उपलब्ध होते हैं परन्तु पालि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में एक भी नहीं। संस्कृत में मुक्तक रचनाएँ दो प्रकार की दिखाई देती हैं। प्रथम में तो एक ही कवि के विभिन्न-विषयक मुक्तक बिना किसी क्रम के संगृहीत रहते हैं और दूसरे में अनेक कवियों के नीति-सुभाषितों का संग्रह होता है। चाणक्य-नीति प्रथम कोटि के अन्तर्गत आती है तो जल्हण की 'सूक्ति मुक्तावली' द्वितीय कोटि में। हिन्दी में वृन्द सतसई कृपाराम सतसई आदि प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आती हैं तो पीविलाल के संग्रह-ग्रन्थ के नीतिशय द्वितीय वर्ग में। हिन्दीकवियों को इस प्रकार की रचनाएँ करने की प्रेरणा संस्कृत से ही प्राप्त हुई।

३ निबद्धमुक्तक—निबद्ध मुक्तक उन रचनाओं को कहा गया है जिनमें प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र अर्थ भी रखता है और सम-विषयक अन्य पद्यों के साथ विशिष्ट रूप में सम्बद्ध भी रहता है। इस प्रकार की रचनाओं के दो रूप हैं। पहला एक ही

१ सतसई सप्तक, वृन्द सतसई, पृष्ठ १००।१६८
२ हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ २४८
३ दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली, पृष्ठ ७८।१७

विषय पर सम्पूर्ण ग्रन्थ, जैसे संस्कृत के मोहमुद्गर दर्पदलन आदि। हिन्दी में बांकीदास की सूर छत्तीसी कायर बावनी आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। दूसरा एक ग्रन्थ के विभिन्न परिच्छेदों में विषयों के अनुसार श्लोक-संग्रह जैसे धम्म पद, नीतिशतक वज्जालग्ग आदि में। हिन्दी में भी भूधर का जैन शतक रज्जब की सर्वांगी आदि ऐसे कई विषय-युक्तक विद्यमान हैं।

४ पद—भारतीय साहित्य में पदों की रचना सर्वप्रथम अपभ्रंशकाल में हुई। सिद्धों ने जिन पदों की रचना की उनमें से कई पद नैतिक विषयों के हैं। अपभ्रंश की परम्परा की इस प्रवृत्ति का प्रभाव कबीर सूर तुलसी आदि पर भी पड़ा।

इस प्रकार काव्य-विधान की दृष्टि से भी पूर्ववर्ती नीति-काव्यों का हिन्दीनीति काव्य पर प्रभाव स्पष्ट सिद्ध होता है।

(ख) शैली—प्रथम खण्ड के द्वितीय अध्याय म हम कह चुके हैं कि हिन्दी के पूर्ववर्ती नीति-काव्यों में प्राय तथ्यनिरूपक उपदेशात्मक आत्माभिव्यंजक संवादात्मक, प्रश्नोत्तरात्मक ऐतिहासिक कथात्मक संख्यात्मक व्याख्यात्मक अन्यापदेशिक हास्य व्यंग्यात्मक और बारह खड़ी शैली का प्रयोग दिखाई देता है। हिन्दी के नीति काव्य पर भी जैसा कि द्वितीय खण्ड म देखते आये हैं प्राय इन सभी शैलियों का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा ही है।

(ग) छन्द—छन्दों की दृष्टि स भी हिन्दी-नीति-काव्य पर जितना प्रभाव अप भ्रंश-नीति-काव्यों का पड़ा है उतना संस्कृत प्राकृत आदि का नहीं। संस्कृत में तो प्राय वर्णवृत्तों का प्रयोग होता था और प्राकृत में गाथा का। हिन्दी में अधिकतर प्रयोग दोहा सोरठा, छप्पय कवित्त सवैया, कुण्डलिया और चौपाई छन्दों का किया गया है। इनमें से कवित्त और कुण्डलियों को छोड़कर शेष सभी छन्द कभी-कभी कुछ परिवर्तित रूप में अपभ्रंश से ही लिये गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव, भाषा रस, अलंकार शैली छन्द आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दी का नीति-काव्य पूर्ववर्ती भाषाओं से प्रभावित है। परन्तु यह प्रभाव पालि और प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत और अपभ्रंश का अधिक पड़ा। कारण जिस युग म हिन्दीसाहित्य की रचना हुई उसमें संस्कृत का ही पठन-पाठन अत्यधिक होता था और हिन्दी की जननी होने के कारण हिन्दीकवि विशेषत जैन कवि अपभ्रंश के साहित्य से परिचित होना भी आवश्यक समझते थे।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

क्रमिक विकास—पूर्ववर्ती अध्यायों के परिशीलन से हिन्दी में नीतिकाव्य के विकास का सहज ही परिचय हो जाता है। आदिकाल में नीति का कोई स्वतन्त्र काव्य प्राप्त नहीं होता। नीति के जो कुछ पद्य उपलब्ध होते हैं वे धार्मिक मनोविनोदात्मक या वीरता-व्यंजक काव्यों में ही। भक्ति-काल में हमें नीति के कुछ स्वतन्त्र काव्य दिखाई देते हैं परन्तु उनमें धार्मिक नीति की मात्रा भी पर्याप्त है। हाँ अकबरी दरबार के कवियों ने नीति-विषयक स्फुट पद्यों की रचना पर्याप्त मात्रा में की। इसी काल में संस्कृत के कुछ नीति-ग्रन्थों के अनुवाद भी किये गये। नीति काव्य की दृष्टि से रीतिकाल सुवर्णयुग है क्योंकि जितनी अधिक और सुन्दर नीति-काव्य-रचना इस काल में हुई उतनी पूर्ववर्ती कालों में नहीं हुई। इस प्रकार हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास स्वाभाविक क्रम से हुआ है मण्डूक-प्लुति-न्याय से नहीं।

मूल्यांकन—नीतिकाव्यों का उद्देश्य ऐसे आचार व्यवहार की सरल रीति से शिक्षा देना है जिससे मनुष्यों का ऐहिक जीवन सुखी, समृद्ध और गौरवपूर्ण बन सके, उन बातों का उपदेश देना नहीं जिनसे उन्हें स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो। जो नीति-काव्य इस लक्ष्य की सिद्धि में जितना अधिक सहायक हो वह उतना ही अधिक सफल समझा जायगा और विपरीतावस्था में विफल। इस दृष्टि से समग्र हिन्दी-नीति काव्य को सर्वथा सफल या विफल कहना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि विभिन्न कालों और प्रवृत्तियों के कवियों ने अलग-अलग प्रकार की कृतियाँ प्रस्तुत की हैं।

नाथ-काव्य—उक्त निकष पर कसने से नाथ-पंथी नीति काव्य का कोई विशेष महत्त्व प्रतीत नहीं होता। यद्यपि उसमें पवित्र आचरण, आडम्बर-खण्डन और धार्मिक सामंजस्य आदि के विषय में कुछ उपयोगी बातें अवश्य लिखित हैं तथापि वह गार्हस्थ्य, स्त्री और धन-सम्पत्ति का घोर विरोध करता है। इस नीति पर आचरण मनुष्य जाति के लिए कदाचित् सामुदायिक रूप में श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। इधर कला की दृष्टि से भी उस नीति-काव्य का कोई मूल्य नहीं।

वीर-काव्य—वीरगाथाओं का नीति-काव्य मात्रा में अल्प होता हुआ भी अपनी ऐहिक दृष्टि के कारण महत्त्वपूर्ण है। वह भूमि, धन, स्त्री, स्वतन्त्रता, यश, साहस आदि की प्राप्ति कर जीवन को आनन्द-पूर्वक व्यतीत करने की प्रेरणा करता है। परन्तु उसमें त्रुटि यह है कि वह सुरापान, वेश्या-गमन, बहुपत्नी-विवाह एवं अफ़ीम,

ज्योतिष, कलियुग भवितव्य, यन्त्र-मंत्रादि कुप्रथाओं तथा मिथ्या विश्वासों का खण्डन नहीं करता। तथापि वीररस से प्रपूर्ण होने और जीवन-संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करने के कारण वह प्रशंसनीय है।

भक्तिकालीन प्रमुख नीति-कवि—तुलसीदास वेणीदास बालकवि बनारसीदास आदि भक्तिकालीन प्रमुख नीति कवियों के नीति-काव्यों में धर्म और नीति का मिश्रण दिखाई देता है। जहाँ इनमें मांस आखेट सुरा द्यूत स्तेय व्यभिचार वेश्या-गमन आदि व्यसनों का खण्डन किया गया है वहाँ स्वास्थ्य विद्या यश-प्राप्ति स्वाधीन-संयोग हिन्दू-मुस्लिम-सामंजस्य सज्जन-दुर्जन उपहासास्पद जन मैत्री रक्षा के उपाय मति आदि विषयों पर सुन्दर भावपूर्ण रचनाएँ की गई हैं।

अकबरी दरबार के कवि—नरहरि रहीम गंग आदि कवियों के नीति काव्यों का ऐहिक दृष्टिकोण और आत्मानुभूति के कारण महत्त्व बहुत अधिक है। अपने समकालीन प्रमुख नीति-काव्यों की अपेक्षा दरबारी वातावरण के कारण इनमें ऐहिकता अधिक और धार्मिकता कम है। इनमें शूरता गुणोपार्जन विद्यामहत्त्व स्वामिभक्ति सम्मानपूर्ण जीवन कुलीन और ओछे याचकता निन्दा धनक्षय से गौरव-नाश द्यूत आदि पर पर्याप्त लिखा गया है। पराधीनता के कारण ये कवि मांस मदिरा आदि का खंडन नहीं कर सके। कला की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ सुन्दर हैं।

संत कवि—सन्तों का नीति-काव्य सामान्य गृहस्थों के लिए विशेष उपयोगी नहीं। संसार को सेमल-सुमन के समान निस्सार शरीर और विद्या को उपेक्ष्य तथा कंचन और कामिनी को कुत्सित समझने वालों की नीति जन-साधारण के लिए कितनी उपयोगी हो सकती है यह कहने की आवश्यकता नहीं। यद्यपि इन्होंने जन्ममूलक वर्णव्यवस्था जात-पाँत ऊँच-नीच हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य को दूर कर समता का सुन्दर उपदेश दिया है और मिथ्या विश्वासों का खण्डन किया है तथापि इनकी नीति पाठक को संसार की ओर प्रवृत्त नहीं करती उससे विमुख ही करती है। कवित्व की दृष्टि से भी इनकी अधिकतर कृतियाँ उपेक्ष्य ही हैं।

सूफी कवि—यद्यपि सन्तों के समान सूफियों का भी प्रधान लक्ष्य प्रभु प्राप्ति ही है तथापि इनकी प्रेम-कथाओं के नीतिकाव्य का मूल्य सन्तों के काव्य से अधिक है। कारण इनमें शरीर यौवन जीवन सुखभोग पठन-पाठन धन स्त्री की वह उपेक्षा लक्षित नहीं होती जो सन्त-काव्य में सुलभ है। यद्यपि इनमें भाग्यवाद शकुन ज्योतिष, जादू-टोना यन्त्र-मन्त्रादि में विश्वास लक्षित होता है तथापि धर्म साहस दृढ़ संकल्प, स्निग्धता आदि इन गुणों पर भी पर्याप्त बल दिया गया है जो सफल जीवन के साधन हैं। इनका दृष्टिकोण प्रायः तो सन्तों के समान ही है परन्तु प्रेम-कथाओं का नीति-काव्य दोनों ही दृष्टियों — दृढ़ता और साहित्यिक सौष्ठव दोनों दृष्टियों से उत्तम है।

राम कवि—यद्यपि इस काव्य का मुख्य उद्देश्य सगुण राम की भक्ति का प्रचार है नीति-शिक्षा नहीं तथापि पारिवारिक जीवन को स्वर्गमय बनाने के लिए इस काव्य

का महत्त्व सम्पूर्ण हिन्दी-नीति-काव्य में अद्वितीय है। इसमें सत्य-वचन प्रतिमा-पालन वेद शास्त्र के प्रति श्रद्धा माता-पिता पत्नी पति तथा अन्य पारिवारिक कर्त्तव्य आदि से सम्बद्ध नीति का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था शकुन-ज्योतिष ऊँच-नीच कलियुग प्रभाव आदि में विश्वास रखता हुआ भी यह काव्य अपनी सुन्दर पारिवारिक नीति तथा काव्य-सौष्ठव के कारण महत्त्वपूर्ण है।

कृष्ण कवि—नीति काव्य की दृष्टि से कृष्ण-काव्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं। उसमें आराध्यों के सुखमय जीवन का तो सरस वर्णन किया गया है परन्तु आराधकों के लिए धन और सांसारिक सुख त्याज्य माने गये हैं। भी की पूज्यता तथा प्रेम-विषयक नीति का वर्णन पर्याप्त है। पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा और जीवन में साफल्यदायिनी नीति की कमी के कारण सरस होता हुआ भी कृष्ण-काव्य नीति-काव्य की दृष्टि से विशेष उपयोगी नहीं।

रीतिकाल का नीति काव्य—नीति-काव्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य का रीति काल अद्वितीय है। इस काल की प्रमुख विशेषता है नीति-काव्यों में धार्मिकता का प्रायः अभाव और ऐहिकता का प्राधान्य। जितने अधिक और जितने सरस नीति कवि इस काल में उत्पन्न हुए उतने न आदिकाल में न भक्तिकाल में। लक्ष्मीवल्लभ वृन्द धर्मसिंह देवीदास भूधरदास गोपाल बालक गिरिधर कविराय बाँकीदास मनरंगलाल रघुराम गणपति भारती बुधजन दीनदयालगिरि गुपाल कवि आदि के नाम नीति काव्य के इतिहास में अमर रहेंगे। इन कवियों ने राजकुमारों की शिक्षा व्यवसायों में सफलता बुद्धि के विकास तथा लोकहित के लिए जिन पच्चीसी बत्तीसी बावनी, पचावनी सतसई बहत्तरी ग्रंथ सतसई तथा कथा-काव्यों आदि की रचना की उनमें कान्ता-सम्मितोपदेश का अपूर्व समावेश है। इस काल में पद्यविध नीति पर स्फुट पदों या स्वतन्त्र नीति-काव्यों का प्रणयन हुआ। जहाँ वीरों स्वामिभक्तों दानियों आदि की प्रशंसा में स्वतन्त्र काव्य रचे गये वहाँ कायरों कृपणों मावड़ियों वेश्याओं और कुलटाओं की निन्दा पर भी। कृषि-नीति और वाणिज्य-नीति पर तो रचनाएँ हुई ही विविध व्यक्तियों व व्यवसायों के गुण-दोषों पर रघुराम और गुपाल कवि ने जो रचनाएँ कीं वे हमारे विचार में विषय-वैविध्य की दृष्टि से अद्वितीय हैं। यह भी स्मरणीय है कि उक्त प्रमुख नीति-काव्यों की अधिकतर रचनाएँ सरस और भावपूर्ण हैं तुकबन्दी मात्र नहीं।

इसी काल की शृंगारी कृतियों में शिक्षा सुकवि कुकवि गुणग्राही मूढ़ स्वामी आदि पर पर्याप्त रचना हुई। मात्रा में अल्प होता हुआ भी यह स्फुट काव्य सरसता से ओत-प्रोत है क्योंकि अधिकतर राजाश्रित शृंगारी कवि नीति-कवियों की अपेक्षा काव्य-कला में अधिक निपुण थे।

सार रूप में कह सकते हैं कि वीरकवियों भक्तिकालीन प्रमुख नीति-कवियों अकबरी दरबार के कवियों सूफी प्रेमकथाकारों रामकवियों और रीतिकालीन प्रमुख

गीतिकवियों का गीतिकाव्य मात्रों सन्तों कृष्णकवियों फुटकर कवियों तथा अनुवादकों की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सुन्दर है।

तुलनात्मक मूल्यांकन—प्रथम खण्ड के द्वितीय अध्याय में हम देख चुके हैं कि हिन्दी में गीति-काव्य का आरम्भ होने के पूर्व संस्कृतादि भाषाओं के अधिकतर गीति-काव्य की रचना हो चुकी थी। अब प्रश्न में यह देख लेना भी अनुचित न होगा कि उन भाषाओं के गीतिकाव्य की तुलना में हिन्दी के गीतिकाव्य का क्या स्थान है। यह तुलनात्मक अध्ययन पाँच शीर्षकों के नीचे किया जा सकता है—(क) परिमाण (ख) वर्ण्य विषय (ग) मौलिकता (घ) उपयोगिता (ङ) काव्यसौष्ठव।

(क) परिमाण—परिमाण की दृष्टि से यदि हिन्दी के गीति-काव्य की तुलना कोई पूर्ववर्ती गीति काव्य कर सकता है तो संस्कृत का ही। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने अपने प्रबन्ध में संस्कृत के साठ प्रमुख गीतिकाव्यों की सूची दी है।[1] सम्भव है, साधारण गीतिकाव्यों को जोड़ देने से यह संख्या सौ तक पहुंच जाए। हमने द्वितीय खण्ड में हिन्दी के १११ कवियों की १२२ कृतियों का विवरण दिया है जिनमें से ५१ कवि और १०१ काव्य प्रमुख हैं। इस प्रकार कृति-संख्या की दृष्टि से हिन्दी और संस्कृत के गीतिकाव्य लगभग समकक्ष ही हैं। धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण पालि प्राकृत और अपभ्रंश में ऐहिक गीति का कोई स्वतन्त्र काव्य प्रणीत ही नहीं हुआ। फिर भी पालि के धम्मपद और अपभ्रंश के सावयधम्मदोहा उपदेश-रसायन रास, संयममंजरी आदि के कुछ अंशों को गीतिकाव्य के अन्तर्गत मान सकते हैं। ऐसी दशा में इनकी हिन्दी के गीतिकाव्य से तुलना का विचार ही व्यर्थ है।

(ख) वर्ण्य विषय—वर्ण्य विषय की दृष्टि से भी हिन्दी का गीतिकाव्य संस्कृतादि के गीतिकाव्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक और समृद्ध है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि हिन्दी इन सब से परवर्ती भाषा है और इसके अधिकतर गीतिकाव्यों को पूर्ववर्ती भाषाओं के गीतिकाव्यों के अध्ययन का अवसर सहज सुलभ था। इसलिए ऐसे विषय विरल ही हैं जिन्हें हिन्दी कवियों ने अनूदित या न्यूनाधिक परिवर्तित रूप में हिन्दी में उपन्यस्त न किया हो। द्वितीय जिस काल में हिन्दी के गीतिकाव्य की रचना हुई उसमें केवल भारतीय संस्कृति का ही प्रचार नहीं था बरन् वह भारत अरब और योरप की संस्कृतियों के मिश्रण का युग था। इसलिए हिन्दी गीतिकाव्यों में ऐसे विषय भी अनायास समाविष्ट हो गए जिनका वर्णन प्राचीन गीतिकाव्यों में असम्भव था। यहाँ पर लक्ष्य करने की बात यह भी है कि संस्कृत के गीतिकाव्य में देव्य-देवकोपदेश, समयमातृका कलाविलास दर्पदलन जैसे काव्यों की कमी है जो गीति के विशिष्ट विषयों पर ही प्रणीत हुए हों। अधिकतर रचनाएँ तो गीतिशतक आर्यासप्तशतक आदि नामों से ही की गई हैं जिनमें प्रत्येक कवि ने अपनी विविध-विषयक गीति सूक्तियों को संगृहीत कर दिया है। यद्यपि हिन्दी में इसी ढंग पर बत्तीसी, छत्तीसी,

[1] हिन्दी नीतिकाव्य, पृष्ठ ३७-३८

बावनी आदि की रचना भी पर्याप्त हुई है तथापि वचन विवेकपच्चीसी बुधसमुद्र चपेटिका, रूपगुण-संवाद सूरपच्चीसी वीरशतक कीर्तिशतक भागदिया मिजाज कायर बावनी आदि दर्जनों काव्य विशिष्ट विषयों पर लिखे गये हैं।

(ग) मौलिकता—प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड में हम अनेक स्थानों पर लिखा चुके हैं कि जहाँ प्रत्येक काल और प्रवृत्ति के कवि कुछ बातों के लिए संस्कृतादि के नीतिकाव्यों के ऋणी हैं वहाँ उन्होंने अपनी अनुभूति पर्यवेक्षण तथा परिस्थितियों से प्रेरित होकर भी सैकड़ों नई बातें लिखी हैं। उदाहरणार्थ आदिकाल में जब विदेशी आक्रान्ताओं या पड़ौसी शासकों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा आवश्यक थी तब कवियों ने मातृभूमि की रक्षा स्वतन्त्रता की महत्ता शत्रु-संहार यशस्वी जीवन स्वामिधर्म और वीरगति के महत्त्व पर बहुत बल दिया। जब कवियों ने अनुभव किया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को यहीं रहना है तब उन्होंने राम-रहीम के द्वैत धार्मिक असहिष्णुता अस्पृश्यता जाति-पाँति चौका-चूल्हा बाह्याडम्बर, हराम-हलाल आदि का उग्र खण्डन कर राम रहीम की भक्ति पवित्र जीवन मानव-मात्र की एकता और परस्पर प्रेम का प्रचार किया। ऐहिकतामय रीति-काल में कवियों का ध्यान परमार्थ से हटकर ऐहिक जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की ओर गया। फलतः कवि की दृष्टि आदर्श से उतरकर व्यवहार पर केन्द्रित हो गई। इसीलिए विविध व्यवसायों और व्यवसायियों का जितना विस्तृत वर्णन इस काल में दिखाई देता है उतना अन्य किसी काल में नहीं। दुष्ट भजन पंचावनी छास बहू का झगड़ा, दम्पति वाक्य-विलास आदि काव्य उक्त दृष्टिकोण के ही परिणाम हैं।

(घ) उपयोगिता—हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि लोक-व्यवहार की दृष्टि से हिन्दी के विभिन्न कालों तथा प्रवृत्तियों के नीतिकाव्य का मूल्य पृथक्-पृथक् है। जो महत्त्व वीरकवियों भक्त तथा रीतिकाल के प्रमुख कवियों अकबरी दरबार के कवियों और राम-भक्तियों के काव्यों का है वह अन्यों का नहीं। फिर भी सामूहिक रूप से कह सकते हैं कि लोकोपयोगिता की दृष्टि से हिन्दी-नीति-काव्य की समानता वैदिक संस्कृत और अपभ्रंश के ऐहिक तथा सिद्धसाहित्य ही कर सकते हैं पालि और प्राकृत के नीतिकाव्य तथा अपभ्रंश के जैन काव्य नहीं। कारण बौद्धों तथा जैनों की रचनाएँ आध्यात्मिक अधिक हैं ऐहिक कम। एक अन्य कारण से भी हिन्दी का नीति काव्य पालि आदि के नीतिकाव्यों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। आज का वैज्ञानिक युग आध्यात्मिकता का नहीं भौतिकता का है। अधिकतर लोगों का ध्यान इसी जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने की ओर है क्योंकि परलोक स्वर्ग नरक मोक्षादि में आस्था की ही कमी हो गई है। इसलिए हिन्दी के रीतिकालीन व्यावहारिक नीतिकाव्य का जो महत्त्व हमारे लिए हो सकता है वह अधिकतर पालि प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं का नहीं।

नीतिकवि प्रायः समकालीन परिस्थितियों को देखकर ही नीतिकाव्यों के प्रण-

मन में अग्रसर होते हैं। इस दृष्टि से भी प्राचीन भाषाओं के नीतिकाव्यों की अपेक्षा हिन्दी-नीतिकाव्यों का महत्त्व अधिक है क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम छूत-छात आदि की कई समस्याएँ आज भी लगभग उसी रूप में विद्यमान हैं जिस रूप में तत्कवियों के काल में थीं। इस उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी यह बात बड़ी चिन्त्य है कि उसमें मनुष्य के कर्तृत्व की स्वतन्त्रता का अधिक उल्लेख नहीं हुआ। प्रमुख कवि भी प्रायः मानव को विधाता के हाथ की कठपुतली स्वीकार करते हैं। उद्यम की प्रशंसा भी विद्यमान है परन्तु भाग्य का हाथ अधिक प्रबल प्रतीत होता है। वह उत्साह प्रायः दृष्टि गोचर नहीं होता जो बुरे दिनों को अच्छे दिनों में परिवर्तित कर सके। कलिकाल में पापों के आधिक्य की मान्यता ने भी नीतिकाव्यों का पीछा नहीं छोड़ा। जब से कलि युग आरम्भ हुआ है तभी से वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न हो गई हैं और जब तक वह समाप्त न होगा तब तक उन कलहक्लेशों का पर्यवसान भी इन कवियों को असम्भव ही दिखाई देता है। परन्तु इन बातों के लिए इन कवियों पर दोषारोपण वृथा है। जो विचार संस्कृतादि में सहस्राब्दियों से चले आते हों उनका सर्वथा परित्याग अत्यन्त दुष्कर होता ही है।

(ङ) काव्य-सौष्ठव—प्रथम खण्ड के प्रथमाध्याय में हम कह चुके हैं कि नीति की रचनाएँ रागतत्त्व कल्पनातत्त्व बुद्धि-तत्त्व, शब्दार्थ-चमत्कार और व्यंग्यार्थ की प्रधानता गौणता या अभाव के कारण उत्तम, मध्यम या अवर काव्य अथवा सूक्ति या पद्य-मात्र मानी जाती हैं। इस दृष्टि से जब हम संस्कृत पालि प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के नीतिकाव्यों पर दृक्पात करते हैं तो विदित होता है कि सभी भाषाओं में सब प्रकार की रचनाएँ न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। तथापि, तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जितना काव्य-सौष्ठव संस्कृत के नीतिकाव्य में लक्षित होता है उतना किसी अन्य भाषा में नहीं। इसका मुख्य कारण संस्कृत नीति-कवियों की व्युत्पन्नता ऐहिकता और मौलिकता है। उन्होंने अपनी अधिकतर रचनाएँ भाव मग्न होकर की हैं और अपने भावों की अभिव्यक्ति परिष्कृत भाषा विभिन्न शैलियों विविध छन्दों तथा उपयुक्त अलंकारों की सहायता से की है। संस्कृत की नीति रचनाओं के उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव का अनुमान इस तथ्य से भी सहज ही किया जा सकता है कि जहाँ पालि आदि में विशुद्ध नीति का एक भी स्वतन्त्र काव्य उपलब्ध नहीं होता और हिन्दी में भी अन्योक्तिमयी नीति-कृतियाँ दो-चार ही हैं वहाँ संस्कृत अन्यापदेशिक नीतिकाव्यों की संख्या बीस के लगभग है। पालि का नीतिकाव्य निस्सन्देह अपनी सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों के कारण प्रख्यात है किन्तु वह राग तत्त्व कल्पनातत्त्व, और परिमाण की न्यूनता के कारण हृदय को स्थायी आह्लाद प्रदान करने में असमर्थ है। प्राकृत का नीतिकाव्य भी यद्यपि अभिव्यक्ति की सरसता, भाषा की सुकुमारता और अलंकारों की सुन्दरता के कारण श्लाघ्य है तथापि अपनी अल्पपरिमाणता के कारण संस्कृत का समकक्ष नहीं हो सकता। आध्यात्मिक ग्रन्थों में

समाविष्ट अपभ्रंश का अधिकांश नीतिकाव्य तो विशेष सरस नहीं परन्तु जो ऐहिक नीतिकाव्य स्फुट पद्यों के रूप में अन्यविषयक ग्रन्थों में बिखरा है, उसकी सरसता चमत्कार और प्रभविष्णुता में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसे सरस नीति-पद्यों की संख्या अत्यल्प है, इसलिए अपभ्रंश का नीतिकाव्य भी संस्कृत की समता करने में असक्त है। हिन्दी का नीतिकाव्य यद्यपि रचनाओं की संख्या, परिमाण विषय-वैविध्य और उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृत के नीतिकाव्य से कम नहीं तथापि यह मानना ही पड़ता है कि विशेष प्रतिभाशाली कवियों की कमी के कारण वह संस्कृत नीतिकाव्य के समान सरस चमत्कारपूर्ण और प्रभविष्णु नहीं बन सका। फिर भी पालि प्राकृत और अपभ्रंश के नीतिकाव्यों से तो वह प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ ही है।

निष्कर्ष—अन्त में हिन्दी के नीतिकाव्य के विषय में संक्षेपतः हमारी धारणा यह है कि जहाँ वह परिमाण की दृष्टि से विपुल, विषयों की दृष्टि से व्यापक, मौलिकता की दृष्टि प्रशंसनीय और उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है वहाँ कला की दृष्टि से भी उसका अधिकतर भाग उपेक्ष्य नहीं है। भले ही उसका अधिकांश राग तत्त्व कल्पना-तत्त्व और व्यंग्यार्थ की अप्रधानता के कारण उत्तमकोटि के काव्य में परिगणनीय न हो तो भी उसका पर्याप्त अंश काव्य की मध्यम या अवर कोटि में सहज ही रखा जा सकता है। ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं है जो नितान्त अकाव्य की कोटि में आते हों

यन में अग्रसर होते हैं। इस दृष्टि से भी प्राचीन भाषाओं के नीतिकाव्यों की अपेक्षा हिन्दी-नीतिकाव्यों का महत्त्व अधिक है क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम, छूत-छात आदि की कई समस्याएँ आज भी लगभग उसी रूप में विद्यमान हैं जिस रूप में सतकवियों के काल में थीं। इस उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी यह बात बड़ी विस्मय है कि उसमें मनुष्य के कर्तृत्व की स्वतन्त्रता का अधिक उल्लेख नहीं हुआ। प्रमुख कवि भी प्रायः मानव को विधाता के हाथ की कठपुतली स्वीकार करते हैं। उद्यम की प्रशंसा भी विद्यमान है परन्तु भाग्य का हाथ अधिक प्रबल प्रतीत होता है। वह उत्साह प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता जो बुरे दिनों को अच्छे दिनों में परिवर्तित कर सके। कलिकाल में पापों के आधिक्य की मान्यता ने भी नीतिकाव्यों का पीछा नहीं छोड़ा। जब से कलि युग आरम्भ हुआ है तभी से वैयक्तिक पारिवारिक और सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न हो गई हैं और जब तक वह समाप्त न होगा तब तक उन कलहजनकों का पर्यवसान भी इन कवियों को असम्भव ही दिखाई देता है। परन्तु इन बातों के लिए इन कवियों पर दोषारोपण वृथा है। जो विचार संस्कारादि में सहस्राब्दियों से चले आते हों उनका सर्वथा परित्याग अत्यन्त दुष्कर होता ही है।

(ङ) काव्य-सौष्ठव—प्रथम खण्ड के प्रथमाध्याय में हम कह चुके हैं कि नीति की रचनाएँ रागतत्त्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धि-तत्त्व वाच्यार्थ-चमत्कार और व्यंग्यार्थ की प्रधानता गौणता या अभाव के कारण उत्तम, मध्यम या अधर काव्य अथवा सूक्ति या पद्य-मात्र मानी जाती हैं। इस दृष्टि से जब हम संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के नीतिकाव्यों पर दृक्पात करते हैं तो विदित होता है कि सभी भाषाओं में सब प्रकार की रचनाएँ न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। तथापि, तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर जितना काव्य-सौष्ठव संस्कृत के नीतिकाव्य में लक्षित होता है उतना किसी अन्य भाषा में नहीं। इसका मुख्य कारण संस्कृत नीति-कवियों की व्युत्पन्नता, ऐहिकता और मौलिकता है। उन्होंने अपनी अधिकतर रचनाएँ भाव मग्न होकर की हैं और अपने भावों की अभिव्यक्ति परिष्कृत भाषा विभिन्न शैलियों, विविध छन्दों तथा उपयुक्त अलंकारों की सहायता से की है। संस्कृत की नीति रचनाओं के उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव का अनुमान इस तथ्य से भी सहज ही किया जा सकता है कि जहाँ पालि आदि में विशुद्ध गीति का एक भी स्वतन्त्र काव्य उपलब्ध नहीं होता और हिन्दी में भी अन्योक्तिमयी नीति-कृतियाँ दो चार ही हैं वहाँ संस्कृत के अन्यापदेशिक नीतिकाव्यों की संख्या बीस के लगभग है। पालि का नीतिकाव्य, निस्सन्देह अपनी सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों के कारण प्रख्यात है किन्तु वह राग तत्त्व कल्पनातत्त्व, और परिमाण की न्यूनता के कारण हृदय को स्थायी आह्लाद प्रदान करने में असमर्थ है। प्राकृत का नीतिकाव्य भी यद्यपि अभिव्यक्ति की सरलता, भाषा की सुकुमारता और चमत्कारों की सुन्दरता के कारण श्लाघ्य है तथापि अपनी

समाविष्ट अपभ्रंश का अधिकांश नीतिकाव्य तो विशेष सरस नहीं परन्तु जो ऐहिक नीतिकाव्य स्फुट पद्यों के रूप में अन्यविषयक ग्रन्थों में बिकीर्ण है, उसकी सरसता चमत्कार और प्रभविष्णुता में कोई सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसे सरस नीति-पद्यों की संख्या अत्यल्प है इसलिए अपभ्रंश का नीतिकाव्य भी संस्कृत की समता करने में असमर्थ है। हिन्दी का नीतिकाव्य यद्यपि रचनाओं की संख्या, परिमाण विषय वैविध्य और उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृत के नीतिकाव्य से कम नहीं तथापि यह मानना ही पड़ता है कि विशेष प्रतिभाशाली कवियों की कमी के कारण वह संस्कृत नीतिकाव्य के समान सरस चमत्कारपूर्ण और प्रभविष्णु नहीं बन सका। फिर भी पालि प्राकृत और अपभ्रंश के नीतिकाव्यों से तो वह प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ ही है।

निष्कर्ष—अन्त में हिन्दी के नीतिकाव्य के विषय में संक्षेपतः हमारी धारणा यह है कि जहाँ वह परिमाण की दृष्टि से विपुल, विषयों की दृष्टि से व्यापक, मौलिकता की दृष्टि प्रशंसनीय और उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है वहाँ कला की दृष्टि से भी उसका अधिकतर भाग उपेक्ष्य नहीं है। भले ही उसका अधिकांश राग तत्त्व कल्पना-तत्त्व और व्यंग्यार्थ की अप्रधानता के कारण उत्तमकोटि के काव्य में परिगणनीय न हो तो भी उसका पर्याप्त अंश काव्य की मध्यम या अवर कोटि में सहज ही रखा जा सकता है। ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं है जो नितान्त अकाव्य की कोटि में आते हों

प्रथम परिशिष्ट

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

अक्षर बत्तीसी : महेश मुनि; अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर
अक्षर बावनी : जयपुर के तेरहपंथियों के मन्दिर में
अन्योक्ति बावनी : विनय भक्ति; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
अन्योक्ति वर्णन : महाकवि गणपति भारती; विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर
इश्कचमन : नागरीदास; मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
ईसर सिखा : ईसर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
उदैराज रा दूहा : उदैराज; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
उपदेश बत्तीसी : जसराज (जिनहर्ष) अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
उपदेश शतक : हेमराज; बधीचन्द जैन का मन्दिर, जयपुर
उपदेश सत्तरी : श्रीसार; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
ककका बत्तीसी : जीवो ऋषि; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कर्म छत्तीसी : समय सुन्दर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कर्म बत्तीसी : अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
करुणाष्टक : गोपाल नानक; ना० प्र० स० काशी
कलि चरित्र : बान कवि; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
कवित्त बावनी : जसराज; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
कवित्त प्रसंगीक : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
किसन बावनी : किसन; मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
कीर्ति शतक : गोपाल नानक; ना० प्र० स० काशी
कुंडलिया : साधूराम; मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
कुंडलिया बावनी : धर्मसिंह; अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
कृपण चरित्र : ठक्कर सी; दिगम्बर जैन मन्दिर, बम्बई
केशव बावनी : अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
क्षमा छत्तीसी : समय सुन्दर; पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
गुरु सीख : दया ब्रह्म; बाबे छाबड़ों का मन्दिर, जयपुर
गुरु पैता री चन्दर : पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
गुरु महिमा : गणनाथ; अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर

चिहुसत सत सार : मुरलीदास : अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर
छप्पय बावनी : धर्मसिंह : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
छिनाल पच्चीसी : लालचन्द : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
छीहल बावनी : छीहल : सूरण करण पांडे का मन्दिर, जयपुर
जगदर्शन पच्चीसी : देव : हस्तलिखित प्रति डॉ० नगेन्द्र के पास
ज्ञान मधुकर : देवा ब्रह्म (देवा पांड) : काले छाबड़ों का मन्दिर जयपुर
दलजीत तन भावना संवाद : पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
दूहा बावनी : लक्ष्मी वल्लभ : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
देवशतक : प्रति डा० नगेन्द्र के पास
द्विपंचाशिका : क्षमाहंस (क्षेम) : सूरणकरण पांडे का मन्दिर, जयपुर
धर्म बावनी : धर्मसिंह : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
पंथ बड़ाई : ना० प्र० स० काशी के संग्रह सं० ११९४ । ८२६ में संगृहीत
पंचाख्यान (अनुवाद) : देवीचन्द : अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर
पंचेन्द्री वेली : ठक्कर सी : बधीचन्द का मन्दिर, जयपुर
पुण्य छत्तीसी : समय सुन्दर : पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
पुष्प शतक : गोपाल नागर : ना० प्र० स० काशी
प्रश्नोत्तरी विदग्ध मुखमंडन (अनुवाद) : चन्दनराम (चन्द कवि) ना० प्र० स०, काशी
प्रश्न पुण्य पाप : काले छाबड़ों का मन्दिर, जयपुर
प्रस्तावित दोहरा : पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
प्रेम तरंग : देव : हस्तलिखित प्रति डॉ नगेन्द्र के पास
प्रेम रत्नाकर : देवीदास : विद्याभूषण पुस्तकालय जयपुर
फुटकल पद : धर्मसिंह : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
बारहखड़ी : अज्ञात कवि : काले छाबड़ों का मन्दिर जयपुर
बारहखड़ी : सूरत : पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
बारहखड़ी : पारसीदास : पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
बावनी : बनारसी सुन्दरदास : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
भर्तृहरिशतक भाषा सवैया-बद्ध : नयनसिंह : अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर
भाषा वाणिज्य (अनुवाद) : उम्मेदराम : विद्याभूषण पुस्तकालय, जयपुर
मातृका बावनी : यशराज : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
मूरख सोलही : लालचन्द : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
मृत्यु महोत्सव पच्चीसी : प्रेमचन्द : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
रंग बहुत्तरी : जिनरंग सूरि : अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
रस रहस्य : कुलपति मिश्र
रामनीति के कवित्त : देवीदास : ना० प्र० स० काशी याज्ञिक संग्रह

रूपगुण संवाद मान (?) अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर
लघुचाणक्य (लघुचाणक्य अनुवाद) देवमुनि ना० प्र० स०, काशी याज्ञिक संग्रह
लघु तथा वृद्ध चाणक्य नीतिशास्त्र (अनुवाद) विष्णुगिरि: अनूप संस्कृत पुस्तकालय
बीकानेर

वारहखड़ी दोहा नेमीचन्दजी बड़ा मन्दिर जयपुर
विदुर प्रजागर भाषा (अनुवाद) : कृष्णकवि ना० प्र० स० काशी, याज्ञिक संग्रह
वीर शतक गोपाल चालक ना० प्र० स० काशी
शील छत्तीसी चरणमल (मल्लू) सूरणकरण मन्दिर जयपुर
संग्रह ग्रन्थ (सं० १२६। ९२) ना० प्र० स० काशी
संग्रह सं० २५२१। १४७६ ना० प्र० स० काशी
संग्रह सं० ४४६। ३२७ : ना० प्र० स० काशी
संग्रह सं० ७२। ७९ क० : अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर
संग्रह क्रमांक ४६१२ पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
संतोष छत्तीसी समय सुन्दर पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
सतवंती सत थानकवि अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
सत्योपदेश उम्मेदराम विद्याभूषण पुस्तकालय जयपुर
सप्त व्यसन दूहा कुंडलिया भीम पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर
समयसार नाटिक रघुराम मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
सवैया बावनी लालचन्द अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
सवैया बावनी : लक्ष्मीवल्लभ अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
सवैया मानबावनी : मानमुनि अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
साखी पारिख अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर
सास बहू का झगड़ा देवाब्रह्म ठोलियों का मन्दिर, जयपुर
सिक्या सार नाथूराम (नाभिया) मोतीचन्द खजानची का संग्रह, बीकानेर
सिख्या सागर : मानकवि अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर
सीतारामण दास (?) पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर
सुभाषित भाषा सटीक : त्रिपाठी
स्फुट पद वैताल ना० प्र० स० काशी के सभा-संग्रह में
स्फुट पद संग्रह : उदयराज अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
हित-उपदेश स्यामदास ना० प्र० प० भाग ए १६८७ वि०
हित-शिक्षा द्वात्रिंशिका : लघा कल्याण; अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
हितोपदेश के कथा (अनुवाद) : जगतसिंहदास ना० प्र० स० काशी, सभा-संग्रह
हितोपदेश भाषा ग्रन्थो मंगल (अनुवाद) द्वारकानाथ सरस्वती भट्ट विद्याभूषण
पुस्तकालय जयपुर

द्वितीय परिशिष्ट[1]

प्रमुख प्रकाशित ग्रंथों की सूचियाँ

(क) संस्कृत

अथर्व वेद (सायण भाष्य)
आर्यासप्तशती निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३४ ई
ऋग्वेद (सभाष्य) अरविंद आश्रम पांडचेरी
ऐतरेय ब्राह्मण आनंदाश्रम पूना १९३१ ई०
कलिविडंबन काव्यमाला गुच्छक ५
कालिदास ग्रंथावलि उ सीताराम चतुर्वेदी काशी २० १ वि०
काव्यप्रकाश मम्मट चौखम्बा विद्या भवन १९५५ ई०
काव्यानुशासन वाग्भट द्वितीय निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९१५ ई०
काव्यानुशासन हेमचन्द्र निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३४ ई०
काव्यालंकार भामह चौखंबा संस्कृत सीरिज काशी १९८२ वि०
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति वामन कलकत्ता १९२२ ई०
कुमारसम्भव : कालिदास
कौटिलीय अर्थशास्त्र सं शाम शास्त्री मैसूर १९२४ ई०
चन्द्रालोक जयदेव वेंकटेश्वर प्रेस एंड सन्स काशी १९५४ ई०
चम्पू भारत : निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९२० ई०
चाणक्य नीति दर्पण गोवर्धन पुस्तकालय मथुरा प्रथम संस्करण।
चाणक्य राज्य सूत्र आर्य प्रकाशन मंडल दिल्ली
चाणक्य सूत्र : कौटिलीय अर्थ शास्त्र के परिशिष्ट में मैसूर १९२४।
ध्वन्यालोक आनन्दवर्धन चौखंबा संस्कृत सीरिज काशी १९४० ई०
नल चम्पू चौखंबा संस्कृत सीरिज बनारस १९३२ ई०
नाट्य शास्त्र भरत चौखंबा संस्कृत सीरिज, काशी
निरुक्त : यास्काचार्य बम्बई संस्कृत एंड प्राकृत सीरिज १९१८ ई०
नीतिमंजरी : द्या द्विवेदी हरिहर मंडल बाराभरत काशी १९३३ ई०
पंचतंत्र पंडित पुस्तकालय, काशी १९५९ ई०

१ कई पुस्तकों के प्रकाशनादि का परिचय प्रबन्ध में दिया चुका है।

बुद्ध चरित अश्वघोष
भगवद् गीता (सभाष्य) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई०
भागवत महापुराण गीता प्रेस गोरखपुर
भामिनी विलास : पं० जगन्नाथ; पूना १९३८
मनुस्मृति : चौखम्भा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९१५ ई०
महाभारत, भाग ३, (उद्योग पर्व) चित्रशाला प्रेस पूना, १९३१ ई०
मुग्धोपदेश जल्हण: काव्यमाला गुच्छ ८, निर्णयसागर प्रेस, १९११ ई०
मुद्राराक्षस (सटीक) : निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९१६ ई०
मेघ दूत कालिदास
यशस्तिलक चम्पू सोमदेव
रघुवंश कालिदास
रस गंगाधर जगन्नाथ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९४७
रामायण (तिलक-सहित) निर्णयसागर प्रेस, १९३० ई०
लोकोक्ति मुक्तावली काव्यमाला गुच्छक ११ १९१३ ई०
वाचस्पत्य कोश १८७३ ई०
विक्रमांकदेव चरित : बिल्हण ज्ञानमण्डल ग्रंथालय काशी, १९७८ वि०
विदुर नीति गीताप्रेस गोरखपुर २०११ वि०
व्याख्यान-माला सं० अच्युतानन्द लाहौर १९२७ ई०
शतकत्रयम् भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९४६ ई०
शुक्र नीति (सटीक) वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, १९८२ वि०
संक्षिप्त महाभारत सं० सी० वी० वैद्य बम्बई, १९१२ ई०
साहित्य दर्पण विश्वनाथ वाचस्पत्य यंत्र कलकत्ता १९४१ ई०
सुभाषित रत्नभाण्डागार निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३५
सुभाषित रत्नसन्दोह अमितगति निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९०९
सुभाषित रत्नाकर गोपालनारायण एंड० को बम्बई १९११ ई०
सूक्तिकर्णामृत श्रीधरदास प्र० मोतीलाल बनारसी दास लाहौर, १९३३
सूक्तिमुक्तावली जल्हण ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा १९३८ ई०
स्तोत्र रत्नावली : गीताप्रेस गोरखपुर २०११ वि०
हितोपदेश : निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४६ ई०

(ख) पालि

खुद्दकपाठ (सटीक) प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ
धम्मपद अनु० अवधकिशोर, महाबोधि सभा सारनाथ १९९५ वि०
सिगाल सुत्त अनु० भिक्षु [illegible] बर्मी बौद्ध विहार सारनाथ, १९५० ई०
सुत्तनिपात प्र० महाबोधि सभा सारनाथ

(ग) प्राकृत

अर्धमागधी कोश मुलाबचंद १९३० ई०
अर्धमागधी कोश रत्नचंद १९२७ ई०
कंत वहो हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई १९४० ई०
कर्पूरमंजरी राजशेखर निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९४९ ई०
गाथा सप्तशती निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३३ ई०
दहमुहवहो (सेतुबन्ध) निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९५ ई०
नाणपंचमी कहाओ भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९४९ ई०
पाइअ सद्द महण्णवो हरगोविन्द दास कलकत्ता १९८७ वि०
प्राकृत व्याकरण हेमचंद्र मोतीलाल मुद्रा की पूना १९२८ ई
प्राकृत सुभाषित संग्रह सं० बी० एम० शाह सूरत १९३२
मूलाचार वट्टकेर जैन ग्रंथमाला समिति बम्बई
सूक्ति सरोज भमन्तराम जैन मित्र मंडल रतलाम वि० १९९६

(घ) अपभ्रंश

अपभ्रंश काव्यत्रयी ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा १९२७ ई०
अपभ्रंश पाठावली गुजरात वर्नेक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद १९३२ ई०
कीर्तिलता डा० बाबूराम सक्सेना इंडियन प्रेस प्रयाग १९८६ वि०
पाहुडदोहा रामसिंह करंजा १९३३ ई०
संदेशरासक भारतीय विद्या भवन बम्बई २००१ वि०
सावय धम्म दोहा देवसेन सं० हीरालाल जैन करंजा

(ङ) हिन्दी

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल लखनऊ, सं० २००७ वि०
अणभै वाणी स्वामी रामचरण शाहपुरा १९२५ ई०
अनुराग बांसुरी नूर मुहम्मद हि० सा० सं० प्रयाग
अपभ्रंश दर्पण जगन्नाथ राय शर्मा पटना १९९८ वि०
अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़ भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली २०११ वि०
असली चाहलच्छ स० सी० ए० ईसियट फर्रुखाबाद २००६ वि०
ऐतिहासिक काव्यसंग्रह प्र० शंकरदास शुभैराज नाहटा सं० १९९४ वि०
कबीर ग्रन्थावली ना० प्र० स० काशी १९४७ ई०
कबीर वचनावली ना० प्र० स० काशी, सं० २००३ वि०
कवित्तरत्नप्रबोधी बाबा हितवृन्दावनदास वृन्दावन सं० २००९ वि०
कवित्त रत्नाकर सेनापति

कविता कौमुदी (भाग १) नवनीत प्रकाशन, बम्बई १९५४ ई०
कवितावली गो० तुलसीदास
कवियों की झाँकी छात्रहितकारी पुस्तकमाला प्रयाग १९४८ ई०
काव्यनिर्णय भिखारीदास बेलवेडियर प्रेस प्रयाग १९३७ ई०
"कुंभनदास" विद्या विभाग, कांकरोली २०१० वि
कुंडलिया गिरिधर कविराय; वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई, २००९ वि०
केशवग्रन्थावली (भाग १, २) हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग १९५४, १९५५ ई०
केशवपंचरत्न सं० भगवानदीन रामनारायण लाल, प्रयाग १९८९ वि०
गुलेरी की हिन्दी कविता ना० प्र० स० काशी २०१० वि०
गोरखबानी प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग २००३ वि०
गोराबादल की कथा प्रयाग सं० १९९१
"गोविन्दस्वामी" विद्याविभाग कांकरोली २००८ वि०
ग्वालरत्नावली सं० कविकिंकर प्रयाग १९५४ ई०
"घनानन्द" वाणीवितान प्रेस बनारस, २००९ वि
घाघ और भड्डरी की कहावतें सं० श्रीकृष्ण शुक्ल पुस्तक सदन बनारस
चतुर्भुजदास : विद्याविभाग कांकरोली २०१४ वि०
चित्रावली ना० प्र० स० काशी १९१२ ई०
छंदसिता : पं० परमेश्वरानन्द लाहौर १९४१ ई०
छीतस्वामी विद्याविभाग कांकरोली २०१२ वि०
जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य डॉ० सरला शुक्ल लखनऊ, २०११ वि०
जायसी ग्रन्थावली सं० रामचन्द्र शुक्ल काशी २००६ वि०
जायसी ग्रंथावली सं० डा० माताप्रसाद गुप्त प्रयाग १९५२ ई०
जैनशतक : भूधरदास वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज दिल्ली २००७ वि०
ज्ञानार्णव प्र० नन्दाराम इटावा १९१२ ई०
ज्ञानसार ग्रंथावली सं० अगरचन्द नाहटा बीकानेर २०११ वि०
डिंगल में वीररस डा० मोतीलाल मेनारिया हि० सा० सं० प्रयाग २००३ वि०
डूंगर बावनी पद्मनाभ अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर
तुलसी और उनका काव्य : रामनरेश त्रिपाठी; दिल्ली, १९५१ ई०
तुलसी ग्रन्थावली (दूसरा खंड) ना० प्र० स० काशी २००४ वि०
तुलसी और उनका साहित्य डा० विमलकुमार जैन
तुलसी सतसई सरस्वती भंडार, पटना १९२९ ई
तुलसी सूक्तिसुधा : सं० वियोगी हरि साहित्य सेवासदन बनारस १९८९ वि०
दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण १९२५ ई०

दीनदयालगिरि ग्रन्थावली ना० प्र० सभा० काशी १९७६ वि०
देवसुधा सं० मिश्रबन्धु लखनऊ २००५ वि०
दोहावली गो० तुलसीदास गीताप्रेस, गोरखपुर; सं० २००० वि०
नन्ददास ग्रन्थावली सं० ब्रजरत्नदास
निर्भररातक पद्माकर मनस्य ना० प्र० पत्रिका वर्ष ५२ अंक १।
पंचामृत प्र० स्वामी लक्ष्मी राम ट्रस्ट जयपुर १९४८ ई०
परमानन्द सागर विद्या विभाग कांकरोली
परशुराम सागर उदय कार्यालय उदयपुर
पद्माकर पंचामृत सं० विश्वनाथ प्रसाद काशी १९९२ वि०
पृथ्वीराज रासो (भाग १) साहित्य संस्थान उदयपुर सं० २०११
प्रेमप्रकाश बरकत उल्लाह पेमी (फक बदर्स दिल्ली १९६१ ई०)
प्राकृत विमर्श डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल लखनऊ २००९ वि
बखनाजी की वाणी जयपुर, सं० १९९३
बनारसी विलास सं० भंवरलाल कस्तूरचन्द जयपुर २०११ वि०
बांकीदास ग्रन्थावली (भाग १ ३)
बिहारी रत्नाकर ग्रन्थकार प्रकाशन बनारस १९५१ ई०
बीसलदेव रासो ना० प्र० स० काशी सं० १९८२ वि०
बुधजन सतसई जैन ग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई (तृतीयावृत्ति)।
बृहद् हिन्दी कोश ज्ञानमंडल काशी
ब्रह्म विलास भैया भगवतीदास प्र० जैन बुक डिपो सोलापुर १९२६ ई०
भारतीभूषण अर्जुनदास केडिया भारतीभूषण कार्यालय, काशी १९८७ वि०
भिखारीदास ग्रन्थावली ना० प्र० स० काशी सं० २०१३ वि०
भूषण ग्रन्थावली हिन्दी भवन लाहौर १९३८ ई
मतिराम रसावली भारतवासी प्रेस प्रयाग १९४१ ई०
मिश्रबन्धु विनोद मिश्रबन्धु
मीराबाई की पदावली सं० परशुराम चतुर्वेदी हि० सा० स० प्रयाग, २०११ वि०
रत्नावली सं० नाहरसिंह सोलंकी सं० १९९५ वि०
रसखानि वाणीवितान बनारस
रहिमन रत्नावली सं० मयाशंकर सं० १९८५ वि
रहिमन विलास : सं० ब्रजरत्नदास रामनारायण लाल, प्रयाग १९८७ वि०
राजस्थान का पिंगल साहित्य डा० मोतीलाल मेनारिया उदयपुर, १९५२ ई०
राजस्थानी भाषा और साहित्य मोतीलाल मेनारिया हि० सा० सं० प्रयाग २००८ वि०
राजिया के सोरठे कृपाराम बारहठ; हिन्दी-साहित्य मन्दिर जोधपुर १९२७ ई०

रामचन्द्रिका केशवदास
रामचरितमानस (गुटका) गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २०११ वि०
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय डा० भगवती प्रसाद सिंह बलरामपुर, २०१४ वि०
रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता डा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९४९ ई०
वात्सल्य गीति सुखदेव आधुनिक प्रेस दतिया, १९५२ ई०
विनय पत्रिका गो० तुलसीदास गीताप्रेस, गोरखपुर सं० २००७ वि०
विवेक पत्रिका वैष्णव बाबा हितवृन्दावनदास; वृन्दावन २००६ वि०
वीरकाव्य उदयनारायण तिवारी प्रयाग १९४८ ई०
वीरसतसई सूर्यमल्ल प्र० बंगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता, २००५ वि०
वैदिक साहित्य रामगोविन्द त्रिवेदी १९५० ई०
व्यासवाणी प्र राधाकिशोर वृन्दावन १९९४ वि०
व्रजनिधिग्रन्थावली महाराजा प्रतापसिंह; ना० प्र० स० काशी सं० १९९०
व्रजविलास व्रजवासीदास वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९६४ वि०
शिवसिंह सरोज नवलकिशोर प्रेस लखनऊ चतुर्थ संस्करण
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो : डॉ० हजारीप्रसाद इलाहाबाद १९५२ ई०
संक्षिप्त रामस्वयंवर रघुराजसिंह; ना० प्र० स० काशी, १९८१ वि०
सन्त दादू और उनकी वाणी : हितकारक प्रेस बलिया
संन्यासी संग्रह (भाग २) बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद १९१८ ई०
संतवाणी सं० वियोगी हरि १९३८ ई०
सन्तसुधासार सं० वियोगी हरि सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली १९५३ ई०
सतसई सप्तक : सं० श्यामसुन्दरदास हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग १९३१ ई०
साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोष आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली १९५५ ई०
सिद्धान्तरत्नाकर : निम्बार्क शोधमण्डल, वृन्दावन २ ११ वि०
सिद्धसाहित्य डा० धर्मवीर भारती प्रयाग १९५५
सुन्दरसार : सं० श्यामसुन्दरदास ना० प्र० स० काशी १९२८ ई०
सुन्दररत्नावली : सं० सत्यप्रिय भारतवाणी प्रेस प्रयाग
सूफीकाव्य संग्रह : सं० परशुराम चतुर्वेदी
सूरराम चरितावली गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१४
सूरसागर : सं नन्ददुलारे वाजपेयी ना० प्र० स० काशी
सेवकवाणी : (हितामृतसिन्धु के साथ मुद्रित)
हंस जवाहिर कासिमशाह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९१७ ई०
हनुमन्नाटक : हृदयराम, वेंकटेश्वर मुद्रणालय बम्बई, १९४२ ई०
हम्मीररासो : ना० प्र० स०, काशी, २००५ वि०
हितामृतसिन्धु : हित हरिवंश वृन्दावन २००६ वि०

हिन्दी काव्य धारा (हि० का० धा०) राहुल सांकृत्यायन किताब महल प्रयाग, १९४५ ई० ।
हिन्दी के कवि और काव्य सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी १९३६ ई०
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग नामवरसिंह प्रयाग १९५५ ई०
हिन्दी के सपूत डॉ० सूर्यकान्त लाहौर १९४५ ई०
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास कामताप्रसाद जैन काशी १९४७
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (भाग १, २) भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५६ ई०
हिन्दी नीतिकाव्य डॉ० भोलानाथ तिवारी आगरा १९५८ ई०
हिन्दी पुस्तक साहित्य हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग १९४५ ई०
हिन्दी प्रेमगाथा काव्यसंग्रह सं० गणेशप्रसाद द्विवेदी प्रयाग प्रथम संस्करण
हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य डॉ कमलकुलश्रेष्ठ अजमेर १९५३ ई०
हिन्दी शब्द सागर : ना० प्र० स० काशी
हिन्दी साहित्य डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (दिल्ली १९५२ ई०)
हिन्दी साहित्य श्यामसुन्दरदास प्रयाग १९५३
हिन्दी साहित्य का इतिहास प० रामचन्द्र शुक्ल ना० प्र० स० काशी २००९
हिन्दी साहित्य की भूमिका डॉ हजारीप्रसाद बम्बई, १९४८ वि०

(च) पंजाबी

ग्रन्थसाहब (भाग १) प्र० जवाहरसिंह कृपालसिंह अमृतसर
दशमग्रन्थ गुरु गोविन्दसिंह; अमृतसर २०११ वि०

(छ) अंग्रेजी

एन्थालोजी ऑफ क्रिटिकल सेईंग्स डॉ० अमरनाथ झा प्रयाग १९३१ ई०
एंसेन्ट इण्डिया आर० सी० मजूमदार, १९५२ ई०
एपिक्स ऑफ इण्डिया ई० डब्ल्यू० हाफकिन्स येल युनिवर्सिटी प्रेस यू० एस० ए०
ए शार्ट हिस्टरी ऑफ एपिक्स आर० ए० पी० रायर्स, लन्दन
कौटिलीय अर्थशास्त्र (अंग्रेजी अनुवाद) अनु० शामशास्त्री मयूर १९२९ ई०
गीतारहस्य (अंग्रेजी अनुवाद) अनु० भालचन्द्र सीताराम पूना १९३५ ई०
चासिकीसिन डिक्शनरी आर० डेविड्स लन्दन १९२५ ई
पुराणिक वर्ल्ड ऑफ हिन्दुइज्म भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४७ ई०
प्रेक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी स० वी० एस० आप्टे बम्बई, १९२१ ई०
भगवद्गीता (अंग्रेजी अनुवाद) डॉ० राधाकृष्णन् लन्दन १९४९ ई०
मुगल एम्पायर इन इंडिया श्रीरामशर्मा खण्ड ३ बम्बई १९४१ ई०
हिन्दू पालिटी के० पी० जायसवाल बंगलोर १९५५ ई०
हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिट्रेचर विन्टरनिट्ज भाग २

हिस्टरी ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर एम० कृष्णम् माचार्यर १९३७ ई०
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर ए० बी० कीथ १९४८ ई०
होली बाइबल

(ख) पत्र-पत्रिकाएं

आलोचना दिल्ली
जर्नल ऑफ डिपार्टमेन्ट ऑफ लेटर्स (जे० डी० एल०) कलकत्ता यूनिवर्सिटी, भाग २८, ३०
राजस्थान भारती
राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (भाग १ ४)
राजस्थानी प्र० राजस्थानी साहित्य परिषद् कलकत्ता
नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी
हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज ना० प्र सभा, काशी २००१ वि०



संकेत-सूची

एच० एस० एल० हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिट्रेचर (कीथ)
एच० सी० एस० एल० हिस्टरी ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (कृष्णमाचार्यर)
ए० सी० एस० एंथालोजी ऑफ क्रिटिकल सइंस (अमरनाथ झा)
जे० डी० एल० जर्नल ऑफ डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
ना० प्र० प० नागरी प्रचारणी पत्रिका काशी।
ना० प्र० स० नागरी प्रचारणी सभा काशी।
पी० डब्ल्यू० डब्ल्यू० *पुराणिक वर्ड स आफ विजडम (बम्बई)*
सु० र० भा० सुभाषित रत्न भाण्डागार (बम्बई)
हि० का० धा० हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन)
हि० सा० सं० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

अनुक्रमणी

(क) ग्रन्थकार

न

प

ब

भ

(ख) ग्रन्थ

(ख) ग्रंथ